ISSN 2321-1288

RAJASTHAN HISTORY CONGRESS

Chief Editor
Professor S.P. Vyas
Ret. Professor & Head, Jai Narain Vyas University, Jodhpur
Emeritus Fellow, UGC ; SAF, ICHR, New Delhi

Editor
Dr. Manorama Upadhyaya
Principal, Mahila P.G. Mahavidyalaya, Jodhpur

Managing Editors
Dr. T.V. Vyas
Dr. Ravindra Tailor
Dr.Anil Purohit

PROCEEDINGS VOLUME XXXII

DEPARTMENT OF HISTORY
S.S. JAIN SUBODH P.G. COLLEGE (AUTONOMOUS), JAIPUR

DECEMBER - 2017

www.rajhisco.com
rajhisco@gmail.com

Editorial Board takes no responsibility for inaccurate misleading data, opinion and statement appeared in the articles published in this Proceedings. It is the sole responsibility of the contributors. No part of this Proceedings can be reproduced without the written permission of the Secretary, who also holds the copyright © of the 'Proceedings Rajasthan History Congress'.

❏ *Published by :*
Prof. S.P. Vyas
Secretary, Rajasthan History Congress
Department of History
J.N.V. University, Jodhpur

❏ *To be had from* :
Dr. Manorama Upadhyaya
Hony. Treasurer, Rajasthan History Congress
Mahila P.G. Mahavidyalaya, Jodhpur

❏ ISSN 2321-1288

The Publication of this Proceedings' Volume has been financially supported by the Indian Council of Historical Research, New Delhi. The responsibility for the facts or opinions expressed in the articles is entirely of the authors and not of the ICHR.

❏ Price :
Rs. 250/- only

❏ *Printed at :*
Jangid Computers, Jodhpur
M. : #91-9414308049

Preface

I feel honoured and proud, to present before the readers and scholars, the proceedings of 32nd session, organized by S.S. Jain Subodh P.G. College (Autonomous), Jaipur from 22-24 December, 2017. In placing the learned, scholarly papers, chronology has been adhered to, as far as possible. A number of papers of outstanding merit were presented in this session, breaking new ground and adding new research areas and elements to the history and culture of Rajasthan.

I am grateful towards Prof. Saiyid Zaheer Husain Jafri for delivering the Presidential Address and I believe that under his presidentship we will be able to make more improvements in the institution of Rajasthan History Congress.

My thanks are due to Dr. Manorama Upadhyaya, Tresurer, Rajasthan History Congress for undertaking the responsibility of preparing and bringing out this volume. Despite all care, mistakes are bound to creep in. I hope readers will overlook them.

I also extend my thanks to all those who have made the publication of this proceeding possible. I humbly acknowledge the guidance of Prof. P.R. Arya. I appreciate the hard-work and sincere efforts of Dr. Tejendra Vallabh Vyas, Dr. Anil Purohit, Dr. Ravindra Tailor in the publication of the proceedings. Thanks are also due to Mr. Bhanwarlal Suthar and Mr. Sunil of M/s. Jangid Computers for the printing of the proceedings.

Prof. S.P. Vyas
Secretary,
Rajasthan History Congress

सचिव प्रतिवेदन

राजस्थान इतिहास कांग्रेस के 32 वें अधिवेशन का उद्घाटन दिनांक 22.12.2017 को प्रात: 10:30 बजे एस.एस. जैन सुबोध पी.जी. महाविद्यालय में हुआ। उद्घाटन सत्र में प्रो. जहीर हुसैन जाफरी ने 31 वें अधिवेशन के अध्यक्ष प्रो. सोभाग माथुर के स्थान पर 32वें अधिवेशन के अध्यक्ष का दायित्व ग्रहण किया। इस सत्र में राजस्थान इतिहास कांग्रेस के सचिव प्रो. एस.पी. व्यास ने 31वें सत्र का प्रगति प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। उद्घाटन सत्र में एस.एस. जैन सुबोध पी.जी. महाविद्यालय द्वारा इस अधिवेशन की स्मारिका का विमोचन किया गया।

उद्घाटन सत्र में प्रो. जहीर हुसैन जाफरी ने अपने अध्यक्षीय उद्बोधन में कहा कि इतिहास की समग्र जानकारी तभी स्पष्ट हो सकती है, जब उपलब्ध साक्ष्यों को सही तरीके से प्रचारित एवं प्रसारित किया जाए एवं इसके लिये पलायनवादी व्यवस्थाएं और अध्ययन सबसे सशक्त माध्यम है। इसी से इतिहास एवं स्थानीय मूल्यों का विकास हो सकता है।

इस के पश्चात् राजस्थान इतिहास कांग्रेस की ओर से प्रोफेसर के.जी. शर्मा का सम्मान किया गया। इसके पश्चात् अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग के सहायक आचार्य डॉ. जिब्राइल की पुस्तक का विमोचन किया गया। इसके बाद जयपुर से प्रकाशित अन्तर्राष्ट्रीय शोध पत्रिका 'शोध श्री' के 25वें संस्करण का विमोचन किया गया, इसमें इसके संपादक डॉ. रवीन्द्र टेलर भी उपस्थित थे। इसी सत्र में 31वें अधिवेशन के Best Prize Papers हेतु Dr. Gajanand Choudhary Prize- Dr. Sumestha को और Rao Ganpat Singh Chitalwana Prize-Dr. Anil Purohit को दिया गया।

प्रथम तकनीकि सत्र में - प्रोफेसर डी.बी. क्षीरसागर ने प्रोफेसर जी.एन. शर्मा मेमोरियल लेक्चर में 'राजस्थान: संगीत गौरव गाथा' विषय पर अपना व्याख्यान प्रस्तुत किया, जिसमें राजस्थान की संगीत परम्परा के विषय के विभिन्न आयामों को स्पष्ट किया। प्रोफेसर के.जी. शर्मा ने प्रोफेसर आर.पी. व्यास स्मृति व्याख्यान में 'महाराणा प्रताप एवं हल्दीघाटी का युद्ध एक पुर्नसंधान विषय पर अपना व्याख्यान प्रस्तुत किया, जिसमें हल्दीघाटी युद्ध पर नवीन शोध संभावनाएं प्रस्तुत की।

दिनांक 23.12.2017 को दोपहर 12:30 बजे आयोजित कार्यकारिणी समिति की बैठक में निम्नांकित प्रस्ताव पारित किये गए-

1. सर्वप्रथम जोधपुर में आयोजित 31वें अधिवेशन के प्रस्तावों का सर्वसम्मति से

अनुमोदन किया गया। समिति सदस्यों द्वारा सरदार पटेल पुलिस, सुरक्षा एवं दाण्डिक न्याय विश्वविद्यालय के प्रति आभार प्रकट किया गया।

2. समिति सदस्यों द्वारा 32वें अधिवेशन के अध्यक्ष प्रोफेसर जहीर हुसैन जाफरी का करतल ध्वनि से स्वागत किया गया और यह आशा व्यक्त की गयी कि, उनके नेतृत्व में राजस्थान इतिहास कांग्रेस विकास की नवीन ऊंचाइयों को प्राप्त करेगा।

3. प्रोफेसर जाफरी ने सुझाव दिया कि, राजस्थान इतिहास एवं संस्कृति पर लिखी गयी मौलिक पुस्तकों को उनके मूल स्वरूप में (प्रथम संस्करण) के रूप में शोधार्थियों को उपलब्ध करवाने हेतु राजस्थान इतिहास कांग्रेस की Website पर एक Online Portal प्रारम्भ किया जाये। इसके अतिरिक्त Jstor एवं Internet Archive जैसी Online Libraries पर राजस्थान इतिहास कांग्रेस की प्रासेडिंग्स Online जोड़ने के भी प्रयास किये जाये।

4. प्रो. जाफरी ने सुझाव दिया कि, कांग्रेस के विभिन्न वर्षों की प्रोसेडिंग्स में से Theme-wise शोध-पत्रों का चयन करके कांग्रेस के द्वारा विषय-विशेष संबंधी शोध-पत्रों का प्रकाशन पुस्तक रूप में करना चाहिये।

5. प्रोफेसर मीना गौड़ ने प्रस्ताव रखा कि जिस स्थान पर राजस्थान इतिहास कांग्रेस का अधिवेशन हो, वहां एक से अधिक इतिहासकारों का सम्मान किया जाना चाहिये। प्रोफेसर एस.पी. व्यास ने यह कहा कि, कार्यकारिणी यह तय करें कि किसी स्थान पर कितने इतिहासकारों का सम्मान होना चाहिये।

6. राजस्थान इतिहास कांग्रेस के आजीवन सदस्य प्रो. सी.पी. माथुर ने प्रो. एस.पी. व्यास के माध्यम से एक प्रस्ताव रखा कि, स्मृति व्याख्यानों के दौरान प्रो. जी.एन. शर्मा एवं प्रो. एस.पी. व्यास के चित्र उस स्थान पर रखें जायें, ताकि युवा शोधार्थी उनसे परिचित हो पायें। इस प्रस्ताव को कार्यकारिणी ने सर्वसम्मति से स्वीकार किया।

7. प्रो. जाफरी ने यह सुझाव दिया कि, राजस्थान इतिहास कांग्रेस के मुख्य अध्यक्ष के अतिरिक्त सत्रीय अध्यक्ष (प्राचीन, मध्यकालीन एवं आधुनिक राजस्थान) बनाये जाये, ताकि सत्रों में प्रस्तुत किये जाने वाले शोध पत्र अधिक विषय केन्द्रित एवं मूल स्रोतों पर आधारित हो पायें। उन्होंने कहा कि राजस्थान इतिहास कांग्रेस को और अधिक प्रतिष्ठित करने हेतु यह किया जाना चाहिये। कार्यकारिणी ने इस प्रस्ताव को पूर्ण करने हेतु आवश्यक प्रयास करने का विश्वास दिलाया है।

8. प्रो. जाफरी ने यह प्रस्ताव दिया कि विभिन्न सत्रों में प्रस्तुत किये जाने वाले शोध पत्रों में जो शोध-पत्र प्रकाशन के मानकों पर खरे नहीं उतरते, उनका सारांश अवश्य छापा जाना चाहिये। कार्यकारिणी ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। प्रो. जाफरी ने एक संपादक मण्डल को स्थापित करने का भी सुझाव दिया।

9. प्रो. एस.पी. व्यास को कार्यकारिणी ने 33वें अधिवेशन के लिये स्थान चयन करने हेतु अधिकृत किया।

10. 32वें अधिवेशन के अध्यक्ष सैय्यद जहीर हुसैन जाफरी ने 33वें अधिवेशन के अध्यक्ष हेतु प्रोफेसर शशि देवड़ा का नाम प्रस्तावित किया, जिसका प्रोफेसर विनीता परिहार ने समर्थन किया एवं कार्यकारिणी ने सर्वसम्मति से सहमति प्रदान की। प्रो. जाफरी ने स्मृति व्याख्यानों हेतु प्रो. याकूब अली और Prof. G.N. Sharma Memorial Lecture हेतु Prof. Meena Gaur के नामों का सुझाव दिया।

11. कार्यकारिणी ने सर्वसम्मति से राजस्थान इतिहास कांग्रेस की वार्षिक सदस्यता शुल्क 200/- वार्षिक से बढ़ाकर 300/- वार्षिक कर दी गयी एवं Delegate Fee को 700/- से बढ़ाकर 800/- कर दिया गया।

12. राजस्थान इतिहास के आजीवन सदस्य डॉ. राजेश कुमार ने प्रस्ताव रखा कि राजस्थान इतिहास कांग्रेस की Proceedings में अन्तिम पृष्ठ पर गत वर्ष दिवंगत हुए इतिहासकारों की श्रद्धांजलि भी छापी जाये। इसे कार्यकारिणी ने सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया।

13. कार्यकारिणी सदस्यों द्वारा अधिवेशन के आयोजन हेतु ICHR द्वारा दिये जा रहे आर्थिक अनुदान हेतु ICHR के प्रति आभार प्रकट किया गया। Proceedings के प्रकाशन हेतु भी ICHR में apply किया गया है, जिसे भी प्राप्त होने की आशा है।

14. 32वें अधिवेशन के भव्य एवं सफल आयोजन हेतु एस.एस. जैन सुबोध शिक्षण संस्थान के सचिव श्री सुमेरसिंहजी बोथरा एवं समस्त पदाधिकारियों तथा सुबोध महाविद्यालय के प्राचार्य प्रो. के.बी. शर्मा, स्थानीय सचिव डॉ. अंशुल शर्मा एवं समस्त शैक्षणिक, प्रशासनिक एवं अशैक्षणिक सदस्यों के प्रति कार्यकारिणी सदस्यों द्वारा हृदय से आभार व्यक्त किया गया।

15. प्रो. डी.एन. आसोपा एवं प्रो. सतीश चन्द्रा एवं श्रीमती एस. भट्टाचार्य के दुखद अवसान पर शोक प्रकट किया गया और यह प्रस्ताव रखा गया कि कार्यक्रम समाप्ति पर दो मिनट का मौन रखकर उन्हें श्रद्धांजलि दी गई।

अन्त में कार्यकारिणी के सदस्यों द्वारा अध्यक्ष प्रो. जाफरी के प्रति आभार व्यक्त किया गया।

प्रो. एस.पी. व्यास

सचिव, राजस्थान इतिहास कांग्रेस

अनुक्रमणिका

1. Presidential Address
- Saiyid Zaheer Husain Jafri … 1

2. प्रोफेसर जी.एन. शर्मा स्मृति व्याख्यान
– डॉ. डी.बी. क्षीरसागर … 26

3. प्रोफेसर आर. पी. व्यास स्मृति व्याख्यान
– प्रोफेसर कृष्णगोपाल शर्मा … 48

4. Buddhism and Urban Settlements in Rajasthan, Gujarat up to 700 A.D.
- Pooran Lal Meena … 61

5. Sculptural Evidence for the culture of Rajasthan : C. 9th century A.D to 12th century A.D.
- Dr. Manu Jayas … 65

6. Patronage Issues in Shakambhari under the Cahamanas - A Brief Discussion Based on Epigraphic Sources
- Mrs. Raveena Meena … 76

7. Sufistic traditions in Marwar prior to Rao Jodha
- Dr. Yaqub Ali Khan … 84

8. **Prof. Pemaram Prize Paper**
Recruitment, Role and Hierarchy of Khojas-Nadars in the Amber-Jaipur State: A study of the rise of eunuchs
- Dr. Manisha Choudhary … 94

9. Economic Condition of Darazi (Tailor) in the 18th Century Rajasthan
- Dr. Sumit … 127

10. Narratives of the Lives of Sants in Medieval Rajathani Higiography
- Rameshwar Prasad Bahuguna … 139

11. Bhakti and Gender in Medieval Rajasthan: Vaishnava and Santic Representations of Mirabai during the Seventeenth and Eighteenth Centuries
- Renu Bahuguna … 146

12. Bishnois – The Eco-Warriors of Rajasthan
- Mamta Yadav … 156

13. Travels of Guru Gobind Singh in Rajputana
- Kulbeer Singh Badal … 170

14. Khatu : A Heritage Town of Marwar
- Jibraeil … 176

15. Emergence and Growth of Ladnun as an Urban Centre (13th–17th c. A.D.)
- Ms. S.S. Arif … 186

16. Water Reservoirs in Jaipur during 18th-19th Centuries
- Ritika Meena … 189

17. **Dr. Gajanand Choudhary Prize Paper**
Historical Significance of *Nirakh Bazar* Document of Amber State
- Mohammad Shahnawaz … 196

18. Administering the *Dargah* of Khwaja Muin ud-din Chishti of Ajmer : *Khuddam* and other hereditary Stake holders
- Yusra Farooqui … 207

19. Development of Mughal Architecture at Ajmer : An Archaeological Satudy of the Mosques of Dargaha Complex
- Prof. M. K. Pundhir … 219

20. Craftsmen and the State : A case study of Jaipur Kharkhana
- Syed Shahid Ashraf … 235

21. Marwaris' Migration and Their Trading Activities in Bengal During 16th to 18th Centuries
- Abdul Motleb Shaikh … 239

22. Friends or Foes : The Maratha-Rajput Relations
- Kalpana Malik … 249

23. British policy towards the Abolition of Slavery in Rajputana States
- Prof. V.K. Vashishtha … 258

24. Acquisition of Lands for the Construction of Railways in Jaipur State during late 19th Century: An Economic Fallout
- Khalid Ahmad ... 265

25. Enonymous Rudaali : Dying Emotions, Ailing Trend (with especial reference to Western Rajasthan)
- Dr. Anju Suthar ... 277

26. Creating Identities in Hindi Cinema : In Context of Rajasthan
- Persis Latika Dass ... 284

27. The Historiography of Professor K.S. Lal
- Professor Shankar Goyal ... 291

28. Folk Dance of Marwar - *'Terahtali'*
- Dr. Sadhana Meghwal ... 302

29. चाम्बला नाला के शैलाश्रयों में मानव चित्रण
– डॉ. तेजसिंह मावई एवं डॉ. विजयसिंह मावई ... 307

30. आरम्भिक काल में राजस्थान की आर्थिक व्यवस्था (भूमिदान पत्रों के विशेष संदर्भ में)
– डॉ. रजनी शर्मा ... 311

31. कागा स्थित ठाकुर राजसिंह की छतरी एवं शिलालेख–एक अध्ययन
– डॉ. ज्योत्सना व्यास ... 315

32. राजस्थान में मूर्तिकला का विकास
– डॉ. संजीव कुमार ... 319

33. राजस्थान के मूर्तिशिल्प में यक्ष प्रतिमाओं का योगदान
– डॉ. ममता यादव ... 325

34. कृष्ण लीला का कथात्मक अंकन–ओसियाँ के मंदिरों के विशेष संदर्भ में
– डॉ. रितु पूनिया ... 330

35. प्राचीन आस्था के केन्द्र 'देवरे'
– रुचि सोलंकी ... 337

36. उमरकोट–जैसलमेर सम्बन्ध (धाट–माड़ सम्बन्ध)
– पंकज चाण्डक ... 344

37. थार का कुंभ सुंईया मेला
– डॉ. भंवर सिंह ... 349

38. पूर्वमध्यकालीन राजस्थानी समाज में धार्मिक मान्यताएं एवं अंधविश्वास
–डा. निर्मला कुमारी मीणा ... 354

39. मेहरानगढ़ में प्राचीन जल संरक्षण तकनीक–टाँकों के सन्दर्भ में
– डॉ. विमलेश राठौड़ ... 358

40. मध्यकालीन जालौर के प्रमुख शिलालेख एवं सिक्के – एक सांस्कृतिक अध्ययन
– ओमप्रकाश भाटी ... 364

41. गुरुकुल संग्रहालय झज्जर में ढाणा (पटनशहर) से प्राप्त जैन प्रतिमाओं का अध्ययन
– डॉ. यशवीर सिंह ... 369

42. मेवाड़ के स्थापत्य स्मारक एवं पर्यावरणीय अवबोध : 15वीं से 18वीं शताब्दी
– डॉ. जे.के. ओझा ... 373

43. जयपुर की स्थापत्य कला में प्रयुक्त संगमरमर का तकनीकी पक्ष
– डॉ. आशा कुमारी सिंह ... 380

44. राजस्थान में कलात्मक मीनाकारी हस्तशिल्प : विविध स्वरूप
– डॉ. पूजा सिरोला ... 384

45. ऐतिहासिक धरोहर उदयपुर की प्रमुख हवेलियों का अध्ययन
– डॉ. सुशीला शक्तावत ... 389

46. जैन ग़ज़ल साहित्य में धार्मिक जीवन
– निर्मला दैय्या ... 397

47. राजस्थान की संत परम्परा में पीपा और उनकी प्रासंगिकता
– डॉ. (श्रीमती) सज्जन पोसवाल ... 405

48. मारवाड़ के लोक देवताओं का उपाश्रयी चिन्तन
– डॉ. संदीप प्रजापत ... 411

49. पुष्टिमार्गीय–वल्लभ सम्प्रदाय एवं अष्टछाप : एक ऐतिहासिक विवेचन
– डॉ. दिनेश राठी ... 420

50. लोक देवी–देवताओं की अवधारणा में सामाजिक समरसता
– प्रो. दिग्विजय भटनागर ... 424

51. पूर्ववर्ती उत्तर पश्चिमी राजस्थान में जाट जमींदारी का स्वरूप
– डॉ. कनिका भनोत ... 432

52. बीकानेर के ठिकानेदार (सामंत) एवं उनके किले –
महाजन, बीदासर (ठिकाने के किले के विशेष संदर्भ में)
– डॉ. गोपाल कृष्ण व्यास ... 440

53. मेवाड़ में शिकार परम्परा एक विश्लेषण
– डॉ. प्रियदर्शी ओझा ... 450

54. पद्मिनी – इतिहास या मिथक
– प्रोफेसर मीना गौड़ ... 455

55. भित्ति चित्रों से सुसज्जित महामंदिर (जोधपुर)
– डॉ. भरत देवड़ा ... 463

56. मारवाड़ सनद परवाना बहियों में पंचायत व्यवस्था
विषयक संदर्भ (1700–1800 ए.डी.)–एक अध्ययन
– प्रो. शिव कुमार भनोत ... 470

57. 18वीं सदी में मारवाड़ के व्यापारिक कस्बों का विकास
एक पुरालेखीय अध्ययन
– डॉ. ताराचन्द बैरवा ... 477

58. साहूकारी व्यवसाय : रियासतों एवं ठिकानेदारों के
ऐतिहासिक दस्तावेजों का महत्त्व
– डॉ. कुलवन्त सिंह शेखावत ... 488

59. मारवाड़ रियासत के मालाणी परगने की कृषि एवं
भू–राजस्व व्यवस्था : सन् 1707 से1818 तक
– शंकरसिंह पोटलिया ... 490

60. कृषि और जल प्रबंधन : बीकानेर के संदर्भ में विश्लेषण
– डॉ. मीना कुमारी ... 494

61. राजस्थान में मेघवाल जाति का ऐतिहासिक आधार एवं
सामाजिक स्वरूप : एक दृष्टिकोण
– प्रो. अरविन्द परिहार ... 502

62. उन्नीसवीं सदी के मेवाड़ की राजनीतिक–आर्थिकी के
कतिपय पहलू : गोगुन्दा की ख्यात पर आधारित अध्ययन
– विक्रम सिंह अमरावत ... 507

63. रावराजा विनय सिंह का अलवर राज्य में स्थापत्यकला में योगदान
– डॉ. अंशुल शर्मा ... 511

64. महाराजा मानसिंह और हरियाणा में नाथ सम्प्रदाय
– डॉ. जगदीश प्रसाद ... 515

65. जोधपुर राज्य में देशज बैंकिंग एवं ऋण व्यवस्था
(19वीं सदी के विशेष संदर्भ में)
– डॉ. सुखाराम ... 523

66. राजस्थान से आए औद्योगिक घरानों का इन्दौर रियासत में ,
योगदान : महाराजा तुकोजीराव होल्कर (द्वितीय) के संदर्भ में
– डॉ. रश्मि सिंह ... 529

67. जयपुर राज्य के व्यापारिक मार्ग : एक अध्ययन (20वीं शताब्दी में)
– डॉ. रश्मि मीना ... 535

68. व्यावसायिक समुदाय और बीकानेर का आधुनिक स्वरूप : एक
अध्ययन (आंग्ल–शासन काल के विशेष संदर्भ में)
– डॉ. राजशेखर पुरोहित ... 543

69. मारवाड़ राज्य में महिलाओं से सम्बद्ध सामाजिक विवादों के प्रति
समाज व राज्य का दृष्टिकोण (18वीं शताब्दी के विशेष सन्दर्भ में)
– डॉ. राजेन्द्र कुमार ... 550

70. राजस्थान में प्रारम्भिक अंग्रेजी शिक्षा का संक्षिप्त परिचय
– डॉ. एकता व्यास ... 558

71. बीकानेर राज्य में संगीत व नृत्य का विकास (1885 से 1942 तक)
– डॉ. महेन्द्र पुरोहित ... 561

72. बड़वा अमरचन्द का मेवाड़ की सुरक्षा में योगदान
– डॉ. गिरीश नाथ माथुर ... 566

73. ब्रिटिश काल में अजमेर का पुलिस प्रशासन
– डॉ. लता अग्रवाल एवं डॉ. जितेन्द्र मारोठिया ... 571

74. 44 मेरवाड़ा बटालियन की स्थापना और उसका मेरों (रावत, मेरात)
के जन–जीवन पर प्रभाव
– जलालुद्दीन काठात ... 577

75. बीकानेर राज्य के महाराजा डूंगरसिंह के शासनकाल में सैन्य संगठन (1872-1887 ई.)
- डॉ. मोहम्मद फारूक चौहान एवं डॉ. शारदा शर्मा ... 581

76. हाड़ौती क्षेत्र के सामाजिक जागरण में 'कालाबादल' का योगदान
- डॉ. प्रणव देव ... 587

77. पूर्ववर्ती बीकानेर राज्य में राजनीतिक जागृति एवं चेतना के अभिप्रेरक घटक - एक अध्ययन
- डॉ. (श्रीमती) बेला भनोत ... 594

78. ऊपरमाल की नजरों में श्री विजयसिंह पथिक (ऊपरमाल किसान गायनों के संग्रह से)
- डॉ. शिल्पी गुप्ता ... 601

79. समाजसुधारक एंव स्वतन्त्रता सेनानी चिमनलाल मालोत
- डा. हेमेन्द्र चौधरी ... 606

80. राष्ट्रीय चेतना के संवाहक - शंकर दान सामोर
-डॉ. (श्रीमती) चन्द्रप्रभा पारीक ... 617

81. 19वीं से 20वीं शताब्दी में कोटा दरबार एवं भारतीय सरकार के मध्य शिक्षा सम्बन्धों पर ऐतिहासिक समीक्षा
- प्रभावती मालव ... 621

82. अलवर रियासत में राशन व्यवस्था, रिश्वत एवं बेगार प्रकरण 1947 के समाचार-पत्रों के आइने से
- डॉ. फूलसिंह सहारिया ... 628

83. युग युगीन विलक्षण अजमेर (आधुनिक काल के विशेष संदर्भ में)
- डॉ. विधि शर्मा ... 635

84. शिक्षा के विकास में अनुकरणीय प्रयास-सेवा मंदिर (1997-2002)
- डॉ. कैलाश जोशी ... 643

85. मरु क्षेत्र की परम्परागत हस्तकला-अजरख : एक ऐतिहासिक अध्ययन
- डॉ. सुरेश कुमार ... 648

86. सांगानेर : राजस्थान के पारंपरिक ब्लॉक प्रिंटिंग का ऐतिहासिक संधान
डॉ. अंजु शर्मा ... 653

87. स्वतन्त्रता संघर्षकालीन कोटा की पत्रकारिता के पुरोधा : श्री अभिन्नहरि
- डॉ. अर्चना द्विवेदी ... 662

सारांश/Summary

1. The Trial of Bahadur Shah Zafar - Re-examining of Colonial Judicial 'Frameworks : Witnesses, Guarantees and Privileges'
- Shaheen Islamuddin ... 671

2. Social Evils and Evolution of Social Reform in Rajputana during Nineteenth Century
- Pratyusha Dasgupta ... 672

3. Tourism in Rajasthan : An Overview
- Dr. Suman Dhanaka ... 673

4. राजस्थान रियासत में सामाजिक जागृति में समाचार पत्रों का प्रभाव
- डॉ. राधाकिशन ... 674

5. जयगढ़ दुर्ग एक स्वर्णिम विरासत
- अशोक कुमार यादव ... 675

6. इतिहास के वंशावली लेखन की प्रारम्भिक अवस्था
- सुनीता स्वामी ... 676

7. केसरीसिंह बारहठ : एक क्रान्तिकारी व्यक्तित्व
- डॉ. सुमेर ... 677

8. बीकानेर राज्य में नारी विरुद्ध अपराध तथा दण्ड (1700-1950 ई.)- एक अध्ययन
- रामलाल परिहार ... 678

9. अलवर व भरतपुर रजवाड़ों में जन आन्दोलन (1930-1940 ईसवी)
- मो. वसीम ... 679

10. अजमेर की ऐतिहासिकता के भौगोलिक आयाम
- बनवारी लाल यादव ... 680

11. वागड़ के संत मावजी का आदिवासियों के उत्थान में योगदान: एक विश्लेषण
- दिनेश चन्द्र शर्मा ... 682

12. देवली तहसील के ऐतिहासिक अध्ययन
– विशाल कांटिया ... 684

13. मारवाड़ में शकुन परम्परा
– निशा ... 686

14. नीमकाथाना में निम्बार्क सम्प्रदाय की छत्तरी के भित्ति चित्र
– मनीषा वर्मा ... 687

15. मध्यकालीन राजस्थान के संत और सामाजिक चेतना :
एक समसामयिक विश्लेषण
– डॉ. विष्णु प्रसाद शर्मा ... 689

16. जयपुर रियासत में रेल परिवहन सेवा का सामाजिक व आर्थिक प्रभाव
– शिव प्रसाद कुण्डारिया ... 690

17. मेवाड़ की चित्रांकन परम्परा में 'प्रतीक' संयोजन
– डॉ. जयश्री रावल ... 691

18. बीकानेर में स्थित सोलहवीं शताब्दी का नमिनाथ
जैन मंदिर – एक परिचय
– डॉ. राजेश पंवार ... 692

19. सांभर के संस्कृत स्त्रोत
– रिंकू जैन ... 693

20. पर्यटन के क्षेत्र में नागौर के मैलों एवं दर्शनीय स्थलों का योगदान
– संतोष कुमार ... 694

21. भील आदिवासी के मुख्य पर्व एवं मूल्यांकन
– कालूराम मीणा ... 695

22. राजस्थान में सामन्ती व्यवस्था : एक ऐतिहासिक अध्ययन
– अजीत सिंह चौधरी ... 696

23. दुर्ग स्थापत्य का धनी : करौली राज्य
– डॉ. गोविन्द पुरी ... 697

24. अभिलेखीय साक्ष्यों में जयपुर रियासत का
धार्मिक-सांस्कृतिक जीवन
– मुकेश कुमार शर्मा ... 698

25. हाड़ौती : बूंदी स्कूल के विशेष संदर्भ म
– डॉ. ज्योत्सना श्रीवास्तव ... 699

26. महाराजा जयसिंह : आधुनिक अलवर के निर्माता
– हंसराज सोनी एवं मानसिंह मीणा ... 700

27. बिजौलिया की स्थापत्य कला मंदिरों के विशेष संदर्भ में
– योगराज सिंह पंवार ... 701

28. भरतपुर का गंगा मंदिर एक ऐतिहासिक एवं कलात्मक विश्लेषण
– डॉ. दिलीप कुमार गर्ग ... 702

29. लोक देवता बाबा रामदेव के साहित्य में आत्म तत्व (आत्म ज्ञान)
– तमेघ पंवार ... 703

30. अलवर की लोक संस्कृति एवं लोक संगीत
– डॉ. राजेश आर्य ... 704

31. राजस्थान का भौगोलिक पर्यावरण एवं पारम्परिक हस्तकलाएँ
– अजय यादव ... 705

32. राजस्थान में जैन धर्म के साक्ष्य
– डॉ. जगदीश नारायण ओझा ... 706

Audit Report ... 708

List of Members ... 709

Presidential Address

Migration, Settlements and Adaptations Making of the 'elite culture' and the Dissemination of Knowledge in Rajputana up to Pre-Colonial times

Saiyid Zaheer Husain Jafri

It is an honor that the executive committee of the XXXI Session of Rajasthan History Congress has invited me for presiding over the deliberations of this annual session as General President and to deliver the Presidential Address. I feel humble in presence of galaxy of scholars with whom I have discussed lot many things to understand the complexities of Religion and Society during the pre-colonial times. I especially need to mention Prof. Ghan Shyam Lal Devra, Dr. Mrs. Shashi Arora, Professor Yaqub Ali Khan and Dr. Maulavi Mohammad Shuja-Uddin Khan Naqshbandi and many other scholars have kept my engagement with the history of Rajputana alive. I also wish to make it clear that I have been mainly using the data in Persian and English European sources throughout my researches. So for, I have not benefited from the rich collection of the records (in the scripts other then Persian) from the Bikaner State Archives and other similar collections. It is some of these researches that I will be sharing with this august audience.

With some satisfaction, I can say that I have examined the Archival records and other data, related to the affairs of the famous Chishti Dargah of Ajmer almost up to the modern times. A study of the similar records from other Sufi centers in northern India has provided me an opportunity to situate Sufi Dargah in the agrarian milieu that existed around it. These aspects are generally missing from the modern studies. Over the period of time I have been thinking that such perspectives will bring out further complexities in the triangular affiliations. An understanding of the intricate relationship between the State, Society and the mystic establishments offers a window to understand numerous societal developments through the prism of these centers of popular veneration. On the other hand, the title/succession disputes at these places lead to creation of massive documentation in the colonial times. The files of the Revenue and Civil litigations contain enough data from the pre-colonial period. Such material, though provide the limited perspective of the litigants, give sufficient matter to a student looking for the research questions which cannot be addressed through the Chronicles or the hagiologies. In fact there are fewer competent studies, which have used such material in their researches / monographs.

The records related to the Dargah of Ajmer survive with the individual families, especially with the articulate community of the khuddams, the hereditary attendants of the tomb of Khawaja Muin-ud din Chishti (d.1235), the founder of the Sufi order of the Chishtis in India. The documents known as the Vakalatnamah (the power of attorney) is quite unique. The notables, princes, businessmen and jagirdars have authorized these hereditary attendants of the tomb to 'pray for them during the especial hours for their welfare and wellbeing'. Apart from the notion of the efficacy of the prayers, the important aspect which needs to be highlighted is the class of the people who are issuing these letters of attorney; they included Maratha chiefs, Sambha Ji, Rajput princes, Jain and Bania merchants. The dates of these Vakalatnamah synchronize with the some of the battles they were engaged in with the Mughals. In the recent times Professor Syed Liyaqat Husain Mo'ini has brought the importance of this material. No doubt this is a rich store house for understanding the complexities of the 'inter-community as well intra-community relations' during the pre-colonial times.

In the recent past the history of Nagaur has been compiled using a variety of sources. While, Mehardad Shokoohy and Natalie H. Shokoohy have traced the architecture of Nagaur .Didwana and Khatu from the times of Delhi Sultans to the Mughal times in the most imaginative manner. They have integrated the local history of the town ship, using all possible sources, with the history of the empire. Similarly, Mohammad Haleem Siddiqi has re-examined the data used by the earlier scholars to attempt a socio-cultural profile of the region in a most comprehensive manner. One would especially like to mention the work of Pir Sufi Mohammad Ayyub Tarik Chishti Farooqi, the Sajjada Nasheen of the Dargah of Sufi Hameed Uddin Nagauri on the History of the Sufis of Nagaur and the Contemporary Rulers. In addition to the known Chronicles, he has used the documents and the material

created by the Dargah over the period of time. Such rare material gives an altogether new perspective, which is almost missing from the known sources of history. Using such material as the basic, many works can be done on the family records.

However when we look at the process/es of making of the 'elite culture' in the Indian sub-continent, we find that the migrant elites from the Arabian peninsula of Hejaz, Khurasan, and Central Asia have played a major role in to its making. The conditions in the Central Asia, Khurasan and Arabian Peninsula have become quite volatile over the period of time, thus forcing the people to look for the opportunities and safe places for survival elsewhere. The Indian subcontinent was naturally considered as the land of plenty and opportunity and also it has seen various State formations by the Arabs and Turks in Sind, Thatta and Multan. The Ghaznavid in Punjab, Delhi Sultans in northern India, and latter on, numerous provincial dynasties have emerged in the various chronological periods during India's medieval past. They were ready to offer asylum and to welcome the fleeing fugitives and refuge seekers. Consequently we notice that the Indian cities and towns like Behmanabad, Thatta, Multan, Lahore, Nagaur, Ajmer, Patan and many others emerge as the major settlements of the migrant elite population from the western neighborhoods. Numerous, individuals and the families of these migrants were the people of excellence, academically and professionally. They were almost ensured respectable livelihood in the emerging political structures, commensurate with their familial background, professional and academic accomplishments Some of the Indian cities have almost emerged as the 'mini Islamic east', especially the city of Delhi, Lahore, Ajmer and Nagour acquired the position of primacy throughout the Islamic East.

The newly settled elite, undoubtedly propagated the Arabic and Persian based studies, but at the same time they have adopted and even incorporated the elements of local culture, tried to understand the Sanskrit based studies; even have adopted the local dilates and promoted the elements of composite culture. On the other hand the major element of their elite culture was also adopted by the existing elite politically and culturally. The ongoing exchanges/ adaptations between the migrants elites and the local elite was an important process and needs to be contextually understood under the terms of pre-colonial discourse. They enjoyed almost an equal share in the nobility and agreed to become partners in the ruling dispensation in every

regime .The bondages and affiliations became so strong, through numerous strategies, like matrimonial ties, personal relations or simply due to political expediency , that by the late 17th century , it has become quite proverbial ,'the honor of the Chaghtai was equated with the honor of the Rajputs'('Ismat-e Chaghtaiya wa 'ismat-e Rajputia yak ast; imroz agar 'ismat-e Chaghtaia raft, 'ismat-e Rajputia awwal raft) !

Centers of Ismaieli dawah were also established in various parts of western India, including Rajputana. These missionaries preferred to remain incognito for their own safety and the safety of their creed. Generally they employed local dialects for the propagation of their faith. It is not for nothing that still they teach, preach and practice their creed in the local languages. Their shrines are extremely popular among the local people. The pioneer works of S.C Misra and Samira Shaikh has brought some of these aspects to focus. There are possibilities to carry forward this aspect further. With linguistic expertise, one can really do wonders in this fantastic field of socio-religious aspects of our surviving legacy from our medieval past.

Migration, Settlement and the Dissemination of Knowledge

'Migration' of the individuals or the group/s of people from their places of origin to the newer regions pre- supposes extreme social constraints, political instability or the economic deprivations. It can be quite painful as well as traumatic experience for the migrants when it is undertaken as result of mass massacres, totally putting the life and the honor of the people upside down. Such a 'saga' of migration always remains as a 'permanent scar' in the memory of the migrants, as quite nostalgically they would remember their horrifying experiences, their legacies of the 'bygone era' in their homes of origin. Preserving 'their past' through memories and documents was the need of the hour for them as, their familial background and/or scholarly pursuits of their ancestors, would ensure some respectability for them and for their descendants in their new found homes/settlements. For the migrants, it was the question of honorable survival to remember their past affiliations. In whatever fashion they could preserve, remember and perpetuate this 'memory'.

However, one should not forget that the time is a 'great healer of wounds', hence people tend to forget their miseries in the wake of 'new found opportunities'. However, what they never forgot was their nisbah (familial/geographical affiliation) with the place/s of their

ancestral origin. Therefore, we see that the migrants at every stage had a memory of their familial past as a part of their larger world view. Even in cases of not so prominent familial past, they often invoked the geographical nomenclatural suffices derived from their hometowns such as Nishapuri, Isfahani, Kashani, Sabzawari, Yemeni, Hamadani, Herati, Safavi, Kirmani, Khwafi and Chishti etc. It is interesting to point out that later on, these groups were accommodated within the Mughal nobility under the broader category of Iranis and Turanis, but in reality, they represented the family groups from the places of their origin, falling within the broad geographical units of Khurasan and Central Asia. The famous river Oxus (Amu Darya), being a rough dividing line between these two regions. However, the region east of Amu Darya was mainly inhabited by the Turkish and Afghan tribes and was described as Transoxiana.[1]

The magnitude of the devastation and havoc caused by the Mongol conquest can be understood better by highlighting some data of the contemporary accounts of important towns of Khurasan region. For example, the famous city of Nishapur, which was one of the most important cities of the area, was thoroughly and systematically destroyed by the Mongols during their second campaign. It is vividly described by Minhaj us Siraj Juzjani in the following manner:

> "Nishapur, which after much fighting, he {Tuli, the youngest son of Changez Khan}captured and in order to take vengeance because the son-in-law of the Changez Khan have been slain at that place, he martyred every person in Nishapur, desolated it, raised the walls of the city and having a pair of oxen, yoked (to a plough), he had them driven over {the area on which} the city {stood} in such wise that not a wastage of buildings of remain having finished with them {the inhabitants} and the city and territory, Tuli advanced towards Herat, and pitched his camp before the gate of that city, and the attack began and catapults were placed in position in every direction'.[2]

Similar was the fate of other famous towns of Khurasan and Central Asia under the command of the Mongol generals. The city of Delhi became a natural place of asylum for the refugees, fleeing from the cities devastated by the Mongols, during the reign of Sultan Shams ud-din Iltutamish (1210-36). The same historian, Minhaj-us-Siraj Juzjani, who also served as the chief Qazi during the reign of Illtutmish's son Muizuddin Bahram Shah (1240-42), very specifically says:

> 'The kingdom of Hindustan, by the grace of Almighty God, and the favor of fortune under the shadow of the guardianship of the Shamsi race, and the shade of the protection of Illtutmishs' dynasty became the focus of the people of Islam, and the orbit of the possessors of religion'.[3]

While Isami, writing in the mid-14th century, in his Futuh us Salatin says, that the Delhi Sultanate has become a 'miniature' of the Islamic east, a place of refuge for the scholars, theologians, craft persons and everybody who was anybody in the region, prior to the Mongol devastation. He says:

> 'Many genuine Saiyids have arrived from Arabia, the traders of Khurasan, many learned men from Bukhara and numbers of Sufis and ascetics from every town and every race have gathered here. Scholars well versed in the Unani system (of medicine) have also arrived from Rum. These people have gathered in the city of Delhi like the moths gather around the candle.'[4]

These people arriving from the various Central Asian cities and towns have brought the elements of 'Islamic Culture' with them. Due to their presence in the city of Delhi and various parts of the Indian sub-continent, a number of maktab and madrasa were established in these towns and other centers to cater the need of emerging Muslim population. Shaikh Rizqullah Mushtaqi, while writing about the reign of Sultan Sikandar Lodi, very specifically says that:

> "In each town and region, where the forces of Islam have gained an upper hand and have become popular, masajid, jam'at khana and khanqah were established and the capable people were appointed in the maktabs and the madrasa as the mu'allim and muddarris. In these institutions, the umra' and their sons and the sons of the soldiers acquired knowledge and busied themselves in the prayer and meditations. Those who could afford discharged their duties in the way of God. The institution so established trained the inmates for the emerging needs of the administration and the bureaucracy, the Qazis (judicial officers), the expert accountants, scribes and other state functionaries were the products of these institutions".[5]

The strong intellectual and academic tradition of the region became quite proverbial and people nostalgically recalled it even after its heydays were over. Ghulam 'Ali Azad Bilgrami (d. 1761), while

paying glowing tribute to the cultural life in the Upper Gangetic Valley, has said that "this region since the olden days (qadim-ul ayyam) has been the cradle of knowledge and center for the scholars (ma'adan-e 'Ilm wa maskan-e 'Ulema)". According to him the Mughal suba of Awadh and Allahabad enjoyed special status as compared to other provinces of the empire in the sphere of intellectual activities. There were innumerable intellectual centers and numerous scholars, that these two suba had 'a major settlement of Muslim intellectual elite (shurufa wa najaba) at every 5 to 10 kroh'. They had been well-provided by the earlier salatin with cash and madad e maash grants.

This had facilitated the establishment of mosques, madrasas, and khanaqahs all over the province, where the teachers of all disciplines were busy in the dissemination of knowledge. The students trained at these institutions went to other parts of the country and established and strengthened this intellectual tradition further. It is important to note that Azad Bilgrami specifically says that the well-provided a section of the society took extra care of the requirements of these scholars and considered serving them an act of great benefit (sa 'adat-e 'uzma) for themselves.[6] It becomes clear that the diffusion of the Medieval Persianate culture owes much to the migration of the numerous families from Central Asia and Khurasan. This is not to say that the region has not witnessed migration prior to the rise of Chengiz Khan, but the fact that the mass migration of the families of the notables and scholars has taken place after this great catastrophe. There are numerous local histories (compiled only in 18th and 19th centuries) and the historical documents available in the Colonial records tracing the 'saga of migration' of the families of the scholars and Sufis in every part of Northwestern India and even in Deccan, that invariably links their arrival in the regions of their settlement from this period only. A deeper understanding of the process/es of migration from the Persianate cultural worked to the Indian subcontinent might open up a window to trace the fortunes of the numerous families from this region. Undoubtedly, they have made use of the local dialects and the pre-existing rituals and traditions of the region in the most imaginative manner, so much so that some of these rituals were incorporated as a part of the Sufi rituals, especially of the Chishtis, who were considered as one of the 'most Indianised Sufi orders'.

Tasawwuf and the Indian subcontinent

Among the important intellectual and imaginative contributions of the Muslims, tasawwuf, as a philosophy and a practicing creed

occupies seminal place. For, besides considering the State as a sinful entity, the early sufis ('quietists' of Reynald Nicholson) maintained a distance from the Umayyad as well as the Abbasid regimes. They considered, 'Ali, as the repository and fountain of all knowledge and acknowledged him to be the inheritor of all 'secrets', which the Prophet has received from the God during the night of ascension (Shab-e M'iraj), hence they always traced their 'spiritual genealogy' from him only. Yet, they never identified themselves with the shi'as politically or theoretically. They were deadly opposed to the extreme sect of the kharijites and murjiets, (the pro establishments). Still they maintained a distinct identity. Ultimately, the creed of tasawwuf emerged as the 'post-graduate creed of Islam' (Mohammad Habib), as it has attracted some of the noblest and pious souls, which provided them a sort of public legitimacy.

The creed of tasawwuf kept on incorporating the newer ideas from the time of Bayazid Bustami's (d.AD 822) Subhani ma azam us shani (praise be to me as I am Thay); to Mansur Hallaj's (d. AD 922) Anal Haq (I am Thay) and finally, to Shaikh Mohi Uddin Ibn Al Arabi's(d.AD 1240) Wahdat ul Wujud (Unity of existentialisms) .Such philosophies tend to allow diversity and plurality in society. Hence the creed emerged as extremely relevant for the regions with vast non-Muslim population. Therefore the Indian sub-continent was an ideal place for the acceptance, development and the growth of this phenomenon. One notice that soon after the arrival of Arabs, Turks and other migrant's from Khurasan and Central Asia, various Sufi orders were also introduced in a big way in the Indian sub-continent. They had an audience which required the knowledge of its principles, its theory and the practice in the best manner. Hence, we encounter the first ever treaties were written in Persian and that too at Lahore in the early eleventh century.

The political renaissance in Persia during the tenth century led to the revival of the Persian language. Shaikh Usman B. Ali Hujwiri's (d. AD 1072) Kashf ul Mahjub was the first treatise on the doctrine of Sufism. The orthodox reaction against the highly individualistic approach of some mystics is well reflected in the book when the author writing about the organization of the mystic orders says, 'the whole body of aspirants of Sufism composed of twelve sects or schools (garoh/mazhab), two of which are condemned (mardud), while the rest ten are approved (maqbul)'[7] Among the former, the author has listed, the hululis or trans-migrations, who believed in the notion of

the spirit of one preceptor passing into the body of his successor. Probably, they were influenced by the doctrines of the Ismailis who held similar beliefs about their Imams. The other condemned sect was the hallajis, who probably believed either in the extreme individualistic version of the self or in the validity of Mansur's proclamation of anal haq.

Among the sects approved by Hujwiri was that of the Junaidis, the followers of Shaikh Junaid Baghdadi (AD 910). They preferred the path of sahw (sobriety) over that of sukr (intoxication) and avoided externalism (zahiriat). His influence on his contemporaries as well as on the succeeding generations was immense.[8] The credit of consolidating the philosophy of Shaikh Junaid goes to Shaikh Shihabuddin Suharawardi (d.1234) in his famous 'Awarif ul Ma'arif, which is a measured, balanced and scholarly text. It was accepted by a majority of the mystics all over the world of Islam. Within a decade or two of its author's death, it was being taught at Delhi.[9]

The Kashf ul Mahjub had a readership in the city of Lahore itself, where there were enough people to understand the issues rose in the book. The city was a part of the Ghaznavid dynasty, but in creating such an intellectual milieu, the efforts of one Saiyid Ismail of Bukhara are evident, he settled in Lahore in AD 1005. It is said that he was one of the most powerful preachers and his sermons were attended by a large number of people, and many of them were swayed by the power of his argument so much that they embraced Islam.[10]

With the expansion of Ghaznavid power in Panjab during the 11th century, Lahore became an important center of intellectual pursuit. In fact, Abdul Karim Samani described Lahore as 'the blessed one' (ba barkat) and a place 'giving much benefit' (khair-i kathir), because it boasted of having a large number of mystics and scholars.[11]

This tradition of acquiring excellence in the theological sciences and other branches of Islamic knowledge remained a hallmark of the province throughout the medieval times. Knowledge continued to be transmitted from other towns as well. We specifically told about the town of Sialkot, which emerged as one of the major centers during the seventeenth century. Sujan Rai Bhandari specifically mentions that it has become such a center which attracts the scholars and the learned (m'adan-i Fazal wa maskan-i Fuzla), ever since Maulana Kamaluddin Husain Khan, one of the chief scholars from Kashmir had migrated to the town during the reign of Emperor Akbar. Similarly, during the reign of Emperor Shahjahan, Maulvi Abdul Hakim wrote a number of

commentaries on the important texts, his fame had reached far and wide and students keep on coming to him from far off places. Similarly after his death, his son Maulvi Abdullah was the chief scholar of town and his madrasa had become a center for learning and scholarship.[12]

Apart from Ghaznavid Punjab, Multan and Lahore emerged as important centers of intellectual and cultural pursuits of scholars and mystics, some Muslim settlements had already been established at places like Badaun, Bahraich, Banaras, and Kannauj in the present day Uttar Pradesh and Nagaur, an important medieval town in Rajasthan. There are references in the later sources and when they are taken together, they give an idea of activities of Muslim cultural groups in the transmission of knowledge before the establishment of Ghurid power. The evidence for the other places is meager but for places like Badaun, Bahraich and Nagaur it is possible to surmise the extent of intellectual life prior to the establishment of Turkish rule in north India.

The 'Intra-regional' transmission of 'Islamic Sciences'

Between the various settlements of the 'migrant elite' there was considerable mobility of the ideas, books, scholars and the people at large. This connectivity made the exchange of knowledge quite easy .The scholars spent their time at the distance places to teach them theological and other texts of philosophy and religion. Hence, it is important to recollect the emerging tradition of Islamic learning at the various settlements in the Upper Gangetic valley and north-western parts of the sub-continent. One such example relates Badaun and Kol (Aligarh), the place associated with some of the top important scholar like Allama Zia Uddin Nakshbi and Shaikh Nizamuddin Auliya (d.AD 1325) and the well known scholar Maulana Razi al-Din Hasan al-Saghani, the compiler of important collections of hadith, who was born in AD 1181 at Badaun. He received his initial education and training here. By this time arrangements existed for the pursuit of higher branches of Islamic studies. An early incident in his life is a pointer in this direction, once he wanted to borrow a copy of the Mulakhkhas (a textbook of hadith) from his teacher, who refused to give it to him. Saghani rose to be an eminent scholar of hadith in the entire Islamic east. His compilations of the collections of hadith, namely Mashariq ul Anwar and the Misbah ul-Duja, were used as standard texts throughout the region. He used to describe his compilation of Mashariq ul Anwar as the ultimate proof (hujjat) between him and God. He was appointed to teach the son of the ruler of Kol (Aligarh) and used to get a remuneration of 100 tankas. When he reached Baghadad and attended

the dars (lectures) of the renowned scholar of hadith, 'Allama Ibn Zuhri. He impressed the audience so much with his erudite scholarship and when his fame reached the Caliph, he was invited by him and was shown great respect. It is quite likely that the region around Badaon and Kol (Aligarh) has developed the tradition of higher learning much prior to the establishment of Turkish rule. Hence, we find scholars of such stature who could invite the attention of the great scholars in the Islamic East as well as the Abbasid Caliph.[13]

A similar intellectual milieu existed at Nagaur. Here, Sufi Hamiduddin Sihalwi, (d.1240's) the famous disciple of Shaikh Muin Uddin Chishti had established his khanqah, and because of his austerities and his preference for a life of poverty (faqr), he came to be known as Sultan ut-tarikin (prince of recluses).[14] The family of Qazi Hamiduddin had also migrated from Central Asia and settled here. When Maulana Raziuddin Saghani reached Nagaur, Qazi Hamiduddin and Qazi Kamaluddin requested him to teach hadith. He taught the Misbah al-Duja to scholars of Nagaur and also issued certificates.[15] One of his pupils requested Maulana to teach him 'ilm-i tasawwuf, Maulana told that he accompany him during the journey to the countryside which he was going to undertake shortly, it is reported that during this journey when Maulana reached the countryside, he removed the dress of the scholars and put on the dress of the dervish (peerahni) and n'alain-i-chubi (wooden sleepers) and also had a kuza (hanging jug) filled with water in his hand. With such 'disguise' he continued his onward journey throughout concentrating on prayers and meditations, when the person accompanying Maulana, reminded him of his promise of lecture on the theme of tasawwuf, his response was quite instructive as he told him, 'tasawwuf cannot be taught by words (baqal nist); it is learned in action (bahal ast)', you must imitate me in my actions'.[16]

The intellectual and philosophical basis of all religious studies in Islam is undoubtedly Quran. For this purpose, the textual study of the book was very crucial. This branch attained a high degree of sophistication following the compilation of the basic text on classical Arabic grammar, Al-Mufassal by Imam Jarullah Zamikhshari (d. AD 1144). He wrote the Quranic commentary from an allegedly mu'tazalite point of view, the famous Tafsir-e Kashshaf. Theologians severely criticized him for his heretical views. In India, these works of Zamikhshari became immensely popular among scholars of higher learning. But the orthodox ash'arite sentiments always led to his being

denounced for his beliefs. Sheikh Nizamuddin Auliya expressed his reservations about him in the following words, 'despite the fact that he was extremely knowledgeable, he held false belief ('aqida-e batila)' and added, 'there is unbelief (kufr), there is innovation (bid'at), there is sin (m'asiyat). Innovation is worse than sin, and unbelief is still worse, innovation and unbelief are closer to each other'.[17] In addition to these harsh comments, he has cited two anecdotes quite approvingly which describe the hostility and extreme hatred of the Indian Sufis towards Zamikhshari for his 'heretical' views.[18] Even al Mufassal invited such harsh censors. It might look ironical that in spite of such hostility towards the works of Zamikhshari, both his works, namely Tafsir-i Kashshaf and the classical Arabic grammar, al Mufassal continued to be taught throughout the Islamic World as the most standard and authentic text in a discipline.[19]

The works of Zamakhshari continued to be the part theological curriculum throughout the subcontinent in the subsequent centuries, and it was believed that nobody can master the Arabic grammar (nahw wa sarf) without acquiring an expertise of his work, al Mufassal. Ali Mohammad Khan writing for the suba of Gujrat tells about the Imperial order that all the teachers who teaches the students, the books beginning from 'al Mizan to Kashashf was entitled for wajh-e' ulufa grants from the state treasurary.'

As far as Sheikh Nizamuddin Auliya (d.AD.1325) is concern, we have detailed information about his early education the academic milieu at Badaon, which he recalls quite nostalgically after he has settled at Ghayaspur in Delhi and the way he acquired knowledge and the way knowledge was transmitted during his lifetime. He has provided detailed information about three scholars of Badaon namely Maulana Raziuddin Hasan Saghani, Shaikh Jalaluddin Tabrizi, both of them have predeceased him, and Maulana Alauddin Usuli, who was his own teacher. The way he describes these three persons and takes notice of few others, help us to understand the then system of education and the manner in which it was transmitted. When Shaikh completed his early education with Maulana Alauddin Usuli, and finished with a text Quduri, he was asked by his teacher for the ceremony of dastaarbandi. Graphic details are provided by the author of Siyar ul Auliya about the manner in which the preparation of the ceremony by the mother of the Shaikh. The final ceremony of dastaarbandi was performed by the special invitee one 'Ali Maula Buzurg, who was not his teacher.[20] When he arrived at Delhi he had already become a sort

of celebrity and was nick named as Nizamuddin bahath and mahfil shikan and his friends considered him intellectually and academically superior. He was taught the famous collection of hadith, namely Mashariq ul Anwar of Raziuddin Hasan Saghani by Maulana Kamaluddin Zahid, who issued him certificate for the same on 23rd July 1280. He was also permitted to carry on the teaching of this book.[21]

However, when he reached at the jam'at khana of Baba Farid at Pakpatan, he was taught by his pir few more texts especially Tamhid-ul Muhtadi of Abu Shakur Salemi. The important thing to notice here, he was also taught 'five parts of Quran again'. Perhaps, one can argue that, it was meant to give particular insight into the different interpretation, which was not a part of the regular curricula in the orthodox system of the transmission. Baba Farid also issued him a certificate and permitted him to continue giving instruction of this book to his students. The relevant portion of the said certificate reads:

> I now permit him to teach this book to students, provided he avoids mistake in teaching, writing and explaining it and utilizes his energy and knowledge in discussion, correcting the manuscripts and purification of the language……I also permit Nizam- ul Millat wad Din to narrate things which he has learnt from me and has collected and preserved…..May God be kind to them who show respect and honor to Nizam-ud din, whom I honor and for whom I have great regard.[22]

The jam'at khana of Shaikh Nizamuddin Auliya became a center for the transmission of advance knowledge in the fields of theology, ethics, and tasawwuf. Ziauddin Barani, the historian pays glowing tribute to the efforts of the Shaikh in furtherance of these studies and says:

> Most of the scholars and learned men, who frequented the Shaikh's company, applied themselves to books on devotion and mysticism. The books like Qut ul Qulub, Ihya ul Ulum and its translation, 'Awarif ul M'aarif, Kashf ul Mahjub; Sharh-i Ta'arruf, Risala-i Qoshairi, Mirshad ul 'Ibad, Maktub 'Ain ul Quzzat and the Lawaih and Lawama of Qazi
>
> Hamiduddin Naguri found many purchasers, as also did the Fawaid ul Fuad of Amir Hasan owing to the sayings of the Shaikh which it contains. People asked the book sellers about books of devotion…'[23]

In the jam'at khana of the Shaikh Nizamuddin Auliya there was

great insistence on acquiring knowledge as a prerequisite for being initiated into the higher stages of mystic life. Therefore, when it was suggested to Shaikh that a senior disciple Shaikh Sirajuddin Usman (known as Akhi Siraj) be given khilafat nama by the Shaikh, he observed 'education is the first stage in the field of Sufism, and he has not received any education' thereupon, Maulana Fakhruddin Zarradi, another senior inmate in the jam'at khana of the Shaikh, offered him to educate him within six months in the required fields. Only after this formal session of education was complete, he was bestowed with the khilafat nama of the Shaikh.[24] Amir Khurd mentions that Maulana Sirajuddin was able to acquire the required knowledge within six months in spite of his advanced age, his teacher Fakhruddin Zarradi specially prepared a text for him and named it as 'Usmani. After the conferment of the khilafat nama, while going back to Lukhnauti, Maulana Siraj took some books from the kutub khana of Shaikh Nizamuddin Auliya for study and teaching.[25] Hence, it is perhaps most appropriate to describe tasawwuf as the 'post graduate' creed of Islam.

Muslim Scholarships and the other 'World Religions'

Muslim tradition of acquiring expertise in the Semitic religions is quite old. The study of Old and New Testament as well the Talmudic literature was an established tradition. During the early Abbasid times, the tradition of religious debates (munazira) was a recognized field of study. This tradition was carried forward by Muslim sectarian debates, among the religious and philosophical sect. In the Indian sub-continent this tradition continued, with the further addition of acquiring expertise in the non-Semitic religions as well. Hence, it was expected that the inmates of the khanqah/sufi jama'at khana, in addition to their acquiring knowledge in the tenets of theology and higher discipline of 'Islamic Sciences', also acquired the knowledge of other religions/scriptures of the other religions and had some interest in the natural sciences as well. It is said that the founder of Madariya order Shaikh Badruddin Madar has memorized Taurah and Ingil (Old and New Testament) and has also learned kimiya, simiya, himiya and rimiya (chemistry and other natural science?). In fact, it was said of him that he was the only person expert in so many branches of knowledge in his times.[26]

Whether the study of the Indian scriptures and the literally works in Sanskrit were also studied at the Sufi centers, we have no direct reference to that. However, the interaction with the yogis and other holy men was very much there at the jam'at khana of famous

Chishti Shaikh Baba Farid (d.1265). It is quite likely that the text on Indian yogic tradition were also consulted by the Sufis especially of the order of the Shattaris, established by Shaikh Ghaus of Gawalior, who has appropriated so many yogic practices in his teachings. As is apparent from his Jawahir- i Khamsa, a text which describes the yogic practices in Persian and the manner in which the Sufis were supposed to practice them. Similarly, Shaikh Abdul Quddus of Gangoh's (d.1537) Rushd Nama and Mir Abdul Wahid Bilgrami's(d.1608) Hakayat-I Hindi were the early attempts to present Indian classics in Sanskrit to the Persian knowing audience. Akbar must have laid the foundation for his translation project to carry on the translations of the religious and non-religious text in Sanskrit to Persian. In his scheme, Mahabharata was quite central; hence it is quite likely that the vaishnavite face of Hinduism was more prominent at Akbar's court, than the shaivaite. Similarly, the Upanishads and the works of Shankracharya were not represented at all. It was left to Dara Shakoh to add the Upanishads to the Brahminical literature through his Persian translation, Sirre Akbar.[27]

Pre-existing rituals, Practices and Dialects & the Chishti Sufis

After the establishment of the Turkish rule in parts of the Indian subcontinent, certain vital changes took place in the cultural life of the people. Some dialects were now spoken from Multan in the north to the Gujarat in the west, down to the Deccan. These dialects were the major vehicle for the transmission of ideas, but they were yet to become full-fledged literary languages, as they had no formal recognized system of script/s. The Sufi intervention contributed in the development of these dialects into literary language, especially during the 13th century, when Baba Farid (d. 1265), the famous Chishti Sufi, started writing poetry in Multani/Saraiki (which was later incorporated in the Adi Granth compiled by the fifth Sikh Guru namely Guru Arjan Dev). Similarly, Amir Khusrau (d. 1325) is also said to have written some compositions in the Awadhi dialect. A number of Chishti-Nizami Sufi centers were established in various parts of the Indian Subcontinent; the Sufi masters at these centers were adopting local dialects and using Persian scripts to compile their writings and poetry.

A major exercise was undertaken by the Chishti Sufis in the area where Awadhi dialect was predominant. The genre of premakhyan in line with the Persian Mathnavi tradition was practiced and developed by these Sufi poets in the Awadhi dialect, mainly by those who were

associated with the Chishti-Nizami tradition of Sufis in Awadh. The characters they have used in their poetic narrations are mainly those who were popular in the countryside and were remembered as the 'the heroes of certain caste groups'. This new genre was used to propagate the Islamic-Sufic ideology in the local dialects. Perhaps, it is too obvious to point out that such tradition became extremely popular in the localities like Dalmau, where Mulla Daud (d.1370?) composed Chandayan, using Lorik and Chanda as the main characters of the story, while Malik Mohammad (d.1540) wrote Padmavat at Jais using Padmawati and Ratansen as the main protagonists of his narration. This tradition continued through out, with poets like Shah Qasim (d.1731) composed Hans Jawahir at Dariyabad, while Hafiz Najaf Ali Shah wrote Prem Chingari at Rewa in around AD 1860.

The use of local dialects for the propagation of the Sufi ideas, as well as singing of these compositions at the sama' gatherings, were often disapproved by non Chishti Sufis and the Orthodoxy. An incident, attributed by Mulla Nizamuddin (d.1748), the founder of the house of Firangi Mahal to Shaikh Muhammadi (d.1696) confirms this opposition and plurality of views existing within the Sufi orders. Shaikh Muhammadi was a well-known wujudi scholar of his time and was ideologically associated with the famous Shaikh Muhibullah of Allahabad (d.1648).[28] Mulla Nizamuddin reports the matter as it was said to have been reported to Saiyid Abdul Razzaq of Bansa (d. 1724), the famous Qadiri Shaikh:

> Once in the khanaqah of Shaikh Pir Muhammad of Salon (d.1687), Sama was in progress and compositions in Hindvi [Awadhi?] were being sung. Those present were in the state of ecstasy [hal]. Sheikh Muhammadi also reached there. When the raqs and the wajd of the Sufis was over, he stood up and recited a few Quranic verses in the best of accent, but it had no impact on any of those present; neither raqs nor wajd overcame them. [Observing this] Shaikh Muhammadi said;
>
> 'It is strange that on listening to the Quran none became excited while the compositions in Hindvi, which contradict Quranic themes (emphasis mine), get you excited'. Upon hearing this, Saiyid Abdul Razzaq expressed his pleasure and approval of the conduct of Shaikh Muhammadi.[29]

While the original narrator of the story remains unnamed, it is highly unlikely for Shaikh Muhammadi, who himself was a wujudi, to

have made such an incomparable comparison between the recitation of Quranic verses and Sufi Awadhi poetry when sung with instruments, for both were supposed to have a different impact on the audience. Hence, the reported incident per se becomes secondary. However, it is quite clear that a section of the literary elite was definitely against the use of Hindavi by the Chishti Sufis even for their own specific rituals.[30]

The adoption of particular customs, rituals and other prevalent practices by the Sufi institutions can be described as an ongoing process, especially at places where large landed properties were attached by the way of waqf or madad-i mash, more particularly in matters of succession and inheritance.[31] Moreover, in the adoption of rituals and ceremonies observed during public gatherings and other solemn occasions, an eclectic attitude was generally displayed, for it was 'this sphere' that brought about a sense of belonging among the participants of such events. Such 'innovative flexibilities' were aimed at capturing the imagination of the masses and ensured sustained participation for a longer duration as well. The elaborate details of these rituals lent a 'sanctified halo' to them, while somehow, a punctual religiosity in their observance created an 'aura' around these ceremonies. Apart from the ceremony of gagar,[32] another 'Indianised' ceremony which was very popular at the Chishti centers in northern Indian is the practice of sandal. It involves the pouring of sandalwood paste over the grave of the Shaikh whose death anniversary was being celebrated. Sandalwood is an important substance used by the Indian yogis and sadhus in their religious rituals and practices and its paste is believed to be a cooling agent. It is also used to relieve irritations and for other medicinal purposes. Such a practice was generally adopted by those khanaqahs which were situated in the midst of overwhelming Hindu population.[33]

It should not be assumed that such 'innovative flexibilities' met the approval of the 'ulema, whose disapproval ranged from mild criticism to an all-out denouncement, often bracketing them with bid'at (innovations in religion). But the orthodoxy never or seldom targeted the intrusion of local customs in matters of inheritance or succession of the landed properties, confining their attack to the 'external displays' popular among the masses. This was mainly because the class of 'ulema too were appealing to popular sentiments in order to win over the same constituency from the hold of the Sufi institutions. Their opposition to certain practices and rituals may not have been without

some merit, but it is to the credit of the Sufi institutions that they could withstand such persistent onslaught from many quarters. The Sufi institutions neither thought of abandoning their allegedly 'un-Islamic' practices under the pressure of the orthodoxy nor retaining that part of their constituency which was certainly going over to the 'other side'. Here lies the crux of the matter: the Sufi institutions firmly believed that the rituals and rites at the elaborate ceremonial details adopted by them were representatives of their ideological commitment to the philosophy of Wahdat-ul wujud, rather than just expediency or catering to popular demand or sentiments.

Sama' had been one of the major issues of contention between the Sufis and the orthodoxy in India, ever since the days of Shaikh Nizamuddin Auliya (d.1325). Neither had the orthodoxy reconciled itself to the very idea of sama' nor did the Chishti Sufis ever give up this practice. They have been using the compositions in the local dialects quite freely even Vishnupads were recited at the khanaqah of Shaikh Noor Qutb e Alam (d.1415), an important Chishti-Nizami sufi at Pandua in Bengal. This he carried on in spite of the objections of the orthodoxy, to which the Shaikh reportedly observed that when the 'Quran has verses having a description of Namrud and Firaon (Pharoh) and they are recited with equal reverence, why anybody should object to the singing of the Vishnupads in my khanaqah?[34]

It was in the Pandua tradition of Chishti branch that another notable from Manikpur, Shaikh Husamuddin wal Haq (d.1470), the chief Khalifa of Shaikh Nur Qutb-e Alam emphatically argued that the earliest Sufi was Prophet Shish and Sufism as a creed existed since the time of the creation i.e. from the time of Hazrat Adam.[35] This way he has predated the history of Sufism to that of Islam. Hence, by implication, he was trying to incorporate all the pre-existing traditions and idioms of the Indian sub-continent as legitimate expressions and the forms of worship. Therefore, the Sufis whose creed predates the Islamic creed could become the inheritors and upholders of the earlier traditions of the Indian subcontinent as well without any condition. Thus, we find that Chishti Nizami branch in the Upper Gangetic valley, from Pandua (in modern West Bengal) to Awadh, has adopted most of these traditions as a part of the rituals and irrespective of the criticism by their contemporaries, they have carried with these traditions.[36]

The study of the Indian scriptures and the literary works in Sanskrit was also undertaken at the Sufi centers, although we have no direct reference to this. Still, the interaction with the yogis and

other holy men was a known established fact. We have clear evidence that at the jam'at khana of famous Chishti Sufis namely Shaikh Baba Farid (d.1265) the yogis were very much present and they used to interact with no less a person than Shaikh Nizamuddin Auliya himself. It is quite likely that the text on Indian yogic tradition were also consulted by the Sufis, especially of the order of the Shattaris, established by Shaikh Ghaus of Gwalior, who has appropriated many yogic practices in his teachings. As is apparent from his Jawahir- i Khamsa, a text which describes the yogic practices in Persian and the manner in which the Sufis were supposed to practice them. Similarly, Shaikh Abdul Quddus of Gangoh's (d.1537) Rushd Nama and Mir Abdul Wahid Bilgrami's(d.1608) Hakayat-I Hindi were the early attempts to present Indian classics in Sanskrit to the Persian knowing audience. Akbar must have laid the foundations of these translations projects by sultans to an example through this translation bureau. For Akbar, Mahabharata was quite central; hence it is quite likely that the Vaishnavite face of Hinduism was more prominent at Akbar's court than the Shaivaite. Similarly, the Upanishads and the works of Shankaracharya were not represented at all. It was left to Dara Shikoh to add the Upanishads to the translated-Brahminical literature, through his Persian translation, Sirre Akbar.[37]

The inmates of the khanaqah/Sufi jama'at khana, in addition to their acquiring knowledge in the tenets of theology and higher discipline of 'Islamic Sciences', also acquired the knowledge of other religions/ scriptures of the other religions and had some interest in the natural sciences as well. It is said that the founder of Madariya order Shaikh Badruddin Madar has memorized Taurah and Ingil (Old and New Testament) and has also learned kimiya, simiya, himiya and rimiya (Chemistry and other Natural Science?). In fact, it was said of him that he was the only person expert in so many branches of knowledge in his times.[38]

Thus, we see that, it was mainly the migrant elite from outside, which promoted, developed and carried forward elements of Greco-Arab cultural and intellectual tradition in the Indian sub-continent. Along with they also incorporated the elements from the existing linguistic and cultural practices. The classical Sanskrit based studies were utilized by senior scholars like Abu Rehan Al-Beruni Mir Abdul Wahid Bilgirami, Abul Fazl Allami, Dara Shikoh and others. While the others depended on the translations and commentaries of these of Sanskrit works by these senior scholars. These factors were the major

influence in the organization and dissemination of knowledge in India's pre-colonial past. It is out of our preview to examine as how the colonial rulers have systematically destroyed this 'glorious past'? The manner in which existing elite was marginalized by the colonial policies offers a painful as well as disparaging picture of the Eurocent racism and Occidental discourse.

However, it needs to be admitted that often the pre-colonial system of knowledge transmission was not as systematic and institutionalized as the Greco- Arab tradition. It was based more on the individuals than on institutions, yet, it produced over the centuries, intellectuals and ideologues of the caliber of people like, the famous muhaddis Raziuddin Hasan Saghani (d. 1252), the celebrated Sufi Shaikh Nizamuddin Auliya (d. A.D. 1325) and his disciples like the multifaceted genius Amir Khusro (d. A.D.1325), the poet Amir Hasan Sijzi (d. 1330s) and Zia ud din Barni (d.1360's). Then there were those who represented the tradition of rational and natural sciences like Shaikh Fatehullah Shirazi (d. 1589),[39] who is praised by no less a person than the ruthless critic Mulla Abdul Qadir Badauni, for 'his scholarships in the fields of ilahiyat, riyaziat, tabiyat and all other fields of m'aqulat and manqulat'. He further adds that, 'he was such an erudite scholar that nobody could match him,' and he was even invited by the Emperor Akbar in AD 1582 to the Mughal court from the court of Adil Shah at Deccan. The famous ideologue of the Mughal Empire, Abul Fazl 'Allami (d. 1602), the astronomer Mirza Raja Jai Singh (d. 1667), the socio-religious reformer Raja Ram Mohan Roy (d.1833), the famous poet Mirza Asadullah Khan Ghalib (d.1869), Sir Syed Ahmad Khan, (d.1898), the educationist and reformer, are only some of the names which have left a lasting impact on the socio-cultural landscape of the Indian subcontinent. It is pertinent to point out that they were all trained and taught in a system which owed its origin to India's medieval past. One can very well argue that education was not that neglected a field that the colonial administrators, and even some modern apologists, would have us believe.

Friends, I have taxed your patience beyond the time allotted to me. Still, I feel that if some of these points are taken up for further enquiry, and detailed researches taken up by some students, it would be worth it. With the hope that, our shared past, which the forefathers have built with some efforts will not go waste in the wake of contrary propaganda by the radical elements and rabble rousers of our society. I would like to end this address by quoting a verse of Bahadur shah

Zafar, the last Mughal who after losing almost everything: including an eye witness to the slaughter of his near and dear ones by Major Hodson. And seeing his owns servants turning British agents and was exiled to Rangoon. In spite of such trauma he has never lose the hope. Hope in the capacity in Indian nation to survive all the happenings. Thus he expresses his hope in the following verse.

Aye Zafar, qayam rahegi jab talak Iqlim-e Hind

Akhter-e Iqbal is gul ka Chamakta jayega

He had great hope in the survival on the Indian nation in spite of the massacre hardships devastations by the colonial masters, in the same manner, I have immense faith in India's composite culture, its share past and its pluralistic ethos, and communal harmony will survive in spite of the radical propaganda against it.

Thank You

References

1. *Perhaps it is relevant to point out that this divide was not merely a geographical one, but it also represented some sort of cultural and sectarian divide also. As late as in the mid- nineteenth century, the famous Urdu/ Persian poet Mirza Asad Ullah Khan Ghalib (d. 1869) boosts his Sunni affiliations by asserting this identity. For he says:*
   Shi'i kyun kar Howun; Jabki hun maen Mawra-un Nahari
   (How can I be a Shi'a, when I hail from the region of Mawra-un Nahar?)
2. *Minhaj-us-Siraj, Tabaqat-i Nasiri, vol.II, (Eng.trans. by H.G. Raverty) pp. 1028-1037. A contemporary couplet captures the event in the following manner:*
   "In three months, the world-seizing Tuli
   Captured these all to the gate of Sistan
   He razed and he slew, and he swept, and he clutched;
   Not a person remained, neither great nor small."
   It is necessary to remember that the second attack on Nishapur was led by the daughter of Chengiz Khan, who was the wife of the deceased general killed during the first attack, a year earlier. This attack was to take the revenge of the first attack, when the Mongol forces under the command of Chengiz's own son-in-law, Nuh-yan/ Nurka were killed as a result of the massive resistance offered by the people of Nishapur under the leadership of Majir-ul Mulk, the Kafi, 'Umr-i-Raji, and Ziya-ul-Mulk, and the Zauzani. Therefore, one can very well imagine the ferocity and savagery which was now unleashed on the people and city of Nishapur. In this context, the traditional accounts say that 'no living being including cats and dogs were left alive in the city'. Therefore, whoever could flee from the site of massacre, tried to find asylum, wherever they could reach with safety.
3. *Mihaj-us Siraj Juzjani Tabaqat-i- Nasiri, ed. Abdul Haiy Habibi, Lahore, 1954, vol. II, p.642*
4. *Isami, Futuh us Salatin, ed. M. Usha,Madras,1948, pp.114-115*
5. *Waq'iat Mushtaqi, Add.11633, f.18.*
6. *Ghulam Ali Azad Bilgram, Mathirul Kiram, ed. by Shaikh Shams ul Haq, Maktab'Ihyaul ulum e Sharqiya, Lahore, 1971, pp. 213-14. Often these grants are described as charitable grants. However, the official documents and the chronicles have never used the words/expressions, especially meant to describe/convey the sense for charity or for the charitable uses, while making these grants. The terms which are used to describe the charity in the Islamic literature, like sadqah, khairat, fitrah, or zakat have never been employed either in the Chronicles or in the Archival papers to describe the madad-i mash grants. Thus, to place madad-i mash under the category of 'charity' is inappropriate. Instead, common neutral terms like Suyurghal, a'imma and madad-i mash or inam and in the later period ma'afi is invariably used to describe these grants in the official papers of Mughal and Nawabi periods. Such nomenclature is used invariably irrespective of the religious affiliation of the recipient unlike our modern Indian State which makes a distinction not only on the basis religious affiliation but also on the basis of sectarian affiliations.*
   See Shireen Moosvi, 'Charity, Objectives and Mechanism in Mughal India (16th and 17th Centuries)', PIHC (73rd Session), Mumbai, 2012, Pp. 335-346
7. *Ali b. Uthman Al Hujwiri, The Kashf ul-Mahjub, tr. Reynold A. Nicholson, Delhi (reprint), Taj Company, 1991, rpt, pp- 176. (hereafter Al Hujwiri)*
8. *Op. cit., Al Hujwiri, see especially chap. XII, pp. 176-266; see also K.A.Nizami, ed., Collected Works of Muhammad Habib, titled as Politics and Society during the Early Medieval Period, vol. I, Delhi, 1974, pp. 52-3, 283-7.*
9. *Ibid, p- 288.*
10. *Shaikh Muhammad Ikram, op. cit., pp 74-5.*
11. *Ibid, pp- 75-6.*
12. *Sujan Rai Bhandari, Khulasat-ut Twarikh, ed. Zafar Hasan Dehalvi, 1918, p.73.*
13. *Fawaid ul Fuad, vol.3, majlis no. 9, pp. 178-181, see also, Muhammad Habib, Hazrat Nizamuddin Auliya: Hayat aur Ta'alimat,, Nizam Urdu Lecture Series, Department of Urdu, University of Delhi, 1970, pp- 24-8 . (hereafter Hazrat Nizamuddin Auliya)*
14. *Maksud Ahmad Khan, 'Surur-us Sudur wa Nur ul-Budur', PIHC, 54th*

Session, 1993, Mysore, pp. 231-40.

15. *Muhammad Habib and K.A. Nizami, (ed.) A Comprehensive History of Indian, V, 1970, pp-140-1; Mumtaz Ali Khan, op. cit.*
16. *Suru s Sudur wa Nur al Budur , ff. 61-62, c.f. Maksud Ahmad Khan, op. cit. p. 235.*
17. *Fawaid ul Fuwad, vol. 3, majlis no. 11, pp- 186-8.*
18. *Ibid.*
19. *Ali Mohammad Khan, Mirat-i Ahmadi, vol.1, Nawab Ali & Charles N. Seldon (eds.), Baroda Oriental Institute, p. 258.*
20. *Amir Khurd Kirman, Siyar ul Auliya, Delhi, 1885, pp. 95-96, see also, Hazrat Nizamuddin Auliya, pp. 47-8.*
21. *The text of this certificate is preserved by Amir Khurd in Siyar ul Auliya, pp 104-5; also compare K.A. Nizami, Life and Times of Shaikh Nizamuddin Auliya, Delhi, 1991, pp 189-90.*
22. *Ibid. pp. 187-88.*
23. *Ziauddin Barani, Tarikh -I Firuz shahi, (ed.) Shaikh Abdul Rashid, Aligarh, Vol. II pp. 346-347.*
24. *Siyar ul Auliya, pp.288-9;*
25. *Ibid*
26. *Maksud Ahmad Khan, 'Chroniclising The Miraculous: Hagiology in the Mirat-i Madari' in PIHC, (55th, Session), Aligarh, 1994,p 304.*
    This tradition of acquiring expertise in the religious scripture of other Semitic religion survived in the Mughal times later on. Khafi Khan tells same thing about Saiyid Sa'sadullah (d. A.H. 1138/A.D.1725) of Salon, the grandson of Shaikh Pir Muhammad (d.1687), the founder of a Khanqah belonging to the Chishti -Nizami order of the Sufi at Salon(Rae Bareli, UP), was his earliest teacher as Azad Bilgrami (d.1761) says that: He acquired knowledge, while he was very young and in a very short time became an expert in the various disciplines, in his youth he started teaching and he could compare very well with the senior scholars who have spent years in teaching and worthy authors of scholarly works" Azad further adds that, he acquired expertise in the orthodox and spiritual sciences, Logic, Philosophy, simiya, himiya wa kimiya were the sciences in which nobody could match him. He also acquired expertise in matters related to Ingil and Taurah as much that even [Christian] monks took lectures from him. Khafi Khan, Muntakhab ut Twarikh, vol. 2, p. 559; see also, Ghulam Ali Azad Bilgrami, Mathir ul Kiram, pp. 217-18. The Saiyid Sa'adullah also established his madrasa at Surat in a haveli assigned to him by Emperor Aurangzeb and maintained the madrasa with the madad-i ma'ash with rupees nine thousand per annum. He was held in the high esteem by the emperor, but after some times he migrated to the holy city of Madina and established his seminary there as well. By the latter contemporaries he

is described as one of the most 'erudite scholars from the East'. Shaikh Bahadur, Haqiqat e Surat/Guldasta Sulha e Surat, transl. in Urdu by Mahbub Husain Ahmad Husain Abbasi, Gandhinagar, 2005, pp.83-86.

27. *M. Athar Ali, 'Translations of Sanskrit Works at Akbar's Court', in Iqtidar Alam Khan (ed.) Akbar and His Age, ICHR Monograph Series, New Delhi, 1999, p.78*
28. *Shaikh Mohammadi's fame is attributed to his courage in defending, in front of Emperor Aurganzeb, the allegedly controversial points from the famous book Al-Taswiya, authored by his Pir Shaikh Muhibullah of Allahabad.*
29. *Mulla Nizamuddin Ansari, Manaqib-i Razzaqia, Lucknow, AH 1313, pp. 14-15; see also Muhammad Raza Ansari, Tazkira Hazrat Saiyid Saheb Banswi, Lucknow, 1986, pp.70-71.*
30. *What is more relevant is the way in which it is used by Mulla Nizamuddin, the biographer of Saiyid Abdul Razzaq, and later commentators on this namely Mulla Qiyamuddin Abdul Bari (d.1926) and Mufti Raza Ansari (d.1990). Irrespective of the fact that they themselves were initiated into the principle of Qadiri and Naqshbandi orders respectively, they have compared the wajd and raqs of Sufis to tazwir (simple lies) and makr wa hila (hypocrisy).*

Also See my, 'Religious Plurality in the Chishti Tradition: A Case Study of the Khanqah at Salon in Awadh' in Jamal Malik and Helmut Reifeld, Religious Pluralism in South Asia and Europe, OUP, 2005, pp. 219-244. For the specific reference see, pp. 233-234.

31. *Rawaj-i a'am of pargana Parshadepur, Tehsil Salon, District Pratapgarh, included in the Jild-i band wa bast-i awwal (First volume of the Revenue Settlements) of 1860, recording among other things, the Kayfiyyat-i abadi wa husul-i milkiyyat (the details of the Settlement and the Acquisition of the Superior Land Rights).*
32. *Literary a small earthen pot, but when used technically, it involves going in to a procession from the Khanqah of a Sufi Shaikh to some nearby pond/river accompanied by the musicians and disciples. The participants carrying the empty gagars on their head and reciting the fatiah on water filled their gagars with the water. For further discussion on this practice and the way the orthodoxy had dubbed it as a bid'at (an innovation in the religion), see my, "Religious Plurality in Chishti Tradition", pp234-6.*
33. *For a discussion on this ritual see Claudia Lebeskiend, Piety on its Knees: Three Sufi Traditions in South Asia in Modern Times, OUP 1998, pp. 152-153*
34. *See, Shaikh Mohammad Ikram, Rud-i kauthar, (1991 reprint, Delhi), p. 498.*

35. *Shaikh Husam-al Haque wa Din, in Anis-ul'Ashiqin' has discussed this question in four sections. Section one begins with such diverse issues as the origins of the creed of tasawwuf; the earliest Sufi with whom the concept of khirqa is associated; on the notion of 'ishq (love) and the definition of 'ashiq. Here, while taking a note of the different sayings, he shows a clear preference for the opinion that Prophet Shish happens to be the earliest Sufi. Anis-ul'Ashiqin, Ms. ff 2a-4a, Subhanullah Collection, Maulana Azad Library, Aligarh Muslim University, Aligarh.*
36. *For an initial understanding of this argument see my 'Sufi Tradition and Popular literature: Chishti ideology, Awadhi dialect and local practices', in 'Popular literature in pre- Modern Societies in South Asia', ed. Surinder Singh and Ishwar Dayal Gaur, Pearson, Delhi 2008 pp.271-280 (for this reference see p.272)*
37. *M. Athar Ali, 'Translations of Sanskrit Works at Akbar's Court', in Iqtidar Alam Khan (ed.) Akbar and His Age, ICHR Monograph Series, New Delhi, 1999, p.78*
    It will be of some interest to point out that in spite of the fact that Islam as a religion was introduced in the Indian subcontinent since the time of its birth. But its only holy scripture, namely Quran was never translated into Sanskrit, either full or in parts or any other Indian language. Similarly, there are fewer authentic quotations from the authoritative works of Islamic theology. It is only during the twentieth century that full translation of Quran in Hindi (Devanagari script) was done under the aegis of Jamat-e Islami-e Hind by one Maulana Muhammad Farooq Khan as late as in 1970's.
    Similarly, one finds the text like Satyarth Prakash of famous Arya Samajist, Daya Nand Saraswati, having chapters on Christianity and Islam as late as in AD 1862.Besides being highly tenacious and provocative; these chapters are factually inaccurate as well.
38. *Maksud Ahmad Khan, 'Chroniclising The Miraculous: Hagiology in the Mirat-i Madari'in PIHC, (55th, Session), Aligarh, 1994,p 304.*
39. *See, vol. 2, p. 315-16.*

प्रोफेसर जी.एन. शर्मा स्मृति व्याख्यान

राजस्थान : संगीत-गौरव-गाथा

डॉ. डी.बी. क्षीरसागर

माननीय अध्यक्ष, अतिथिगण एवं इतिहासविद् मित्रों,

सुप्रतिष्ठित इतिहासज्ञ प्रोफेसर गोपीनाथ शर्मा राजस्थान विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग में आचार्य व ऐमिरेट्स प्रोफेसर के पद पर कार्यरत रहे। आपने विशेषकर राजस्थान इतिहास लेखन को पुरातत्व, पुरालेख, ऐतिहासिक साहित्य, स्थापत्य, चित्रकला, तक्षणकला के साथ-साथ ऐतिहासिक प्रकाशित ग्रन्थों, पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से एक नयी दृष्टि व नयी सोच के साथ, नवीन अनुसंधानों के माध्यम से बहुआयामी क्षितिज तक पहुंचाया। एक ओर कर्नल टॉड, कवि राज श्यामलदास, डॉ. ओझा, पण्डित रेऊ आदि गणमान्य लेखकों के ऐतिहासिक घटनाओं के विवेचनात्मक वर्णन से आगे बढ़ कर नयी खोज के अन्तर्गत राजनीतिक तथ्यों व तत्कालीन उथल-पुथल को एक नवीन दिशा प्रदान की। इससे भी अधिक, दूसरी ओर एक साहसिक कदम उठाते हुए उन्होंने 'Social life in Rajasthan' नामक पुस्तक का लेखन किया। यह वह दौर था जब सारे इतिहास जगत में राज्य, प्रशासन, प्रशासनिक-व्यवस्था, राजस्व व भू-राजस्व पर आधारित आर्थिक इतिहास लिखने पर बल दिया जा रहा था, परन्तु आपने विपरीत इसके सामाजिक, धार्मिक व सांस्कृतिक दृष्टिकोण से अभिलेखागारीय व साहित्यिक सामग्री को भी सम्मिलित करते हुए 'Social life' का चित्रण किया। समाज, परिवार, पारिवारिक व्यवहार एवं त्योहार, सामाजिक-धार्मिक परम्पराओं, रीति-रिवाजों, संस्थाओं, दैनिक जीवन, खान-पान, वेशभूषा, मनोरंजन, उत्सव, पर्व, शिक्षा जैसे विषयों को रोचक ढंग से प्रस्तुत कर समाज वैज्ञानिकों के समक्ष एक नया आयाम प्रस्तुत कर भावी अनुसंधानों के लिए द्वार खोल दिये। यह उनकी महत्ती देन है।

भारतीय संगीत मुख्यत: तीन धाराओं में विकसित हुआ है—वेदों की गान-परंपरा जो ब्राह्मण वर्ग ने सुरक्षित रखी, पौराणिक-तांत्रिक परम्परा जो मंदिरों में पल्लवित हुई तथा तीसरी, आर्षेय जो विद्वान्-विशेष और उसकी शिष्य-परम्परा की साधना से अपने परवान चढ़ी। देश के इस कलाचित्र में जो दृश्य दिखाई देता है, वही राजस्थान के इतिहास में परिलक्षित हुआ-सा प्रतीत होता है। सदियों से भरे गये रंगों से चितराम, राजस्थान की गीत-वादित्र-नृत्य की कला से सुधी श्रोताओं को, संक्षेप में ही क्यों न हो, रूबरू कराना हमारा अभिप्राय है।

ऋग्वेदादि चारों वेदों तथा विशिष्ट वैदिक सामगान को समस्त भारत की भांति राजस्थान के भी कतिपय भागों में मौखिक परम्परा में सुरक्षित रखते हुए प्रतिदिन उसकी आवृत्ति किये जाते रहने के प्रमाण हमें 399-415 ई. में भारत आये चीनी यात्री फाह्यान के यात्रा-विवरण से प्राप्त होते हैं। भीनमाल की, उसने वेद-विद्वानों की नगरी के रूप में प्रशंसा करते हुए नित्य होने वाले यज्ञों, चारों वेदों के गान तथा सामवेद के गान के लिये गये उल्लेख हमारे उक्त कथन की पुष्टि करते हुए प्रतीत होते हैं। सामगायन से पवित्र हुए वातावरण के साथ-साथ भीनमाल के वैभव और समृद्धि के उल्लेख सामाजिक और आर्थिक इतिहास के परिप्रेक्ष्य की दृष्टि से कम महत्वपूर्ण नहीं हैं।

पौराणिक परम्परा

संगीत की पौराणिक/तंत्र की धारा में अपने आराध्य को संगीत के माध्यम से प्रसन्न करने की पुराणोक्त विचारधारा संभवत: कारण रही है। भगवद्गीता में—**मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद** कहकर भगवान् श्रीकृष्ण ने भक्ति संगीत का सूत्रपात ही किया है। इस संदर्भ में सर्वत्र समादृत याज्ञवल्क्यस्मृति में भी कहा गया है कि श्रुति-जाति और लय-ताल में दक्ष व्यक्ति बिना अन्य प्रयास के मोक्षमार्ग पर प्रस्थान करता है—

वीणावादनतत्वज्ञ: श्रुतिजातिविशारद:।
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं निगच्छति।।

(3/114)

इन्हीं याज्ञवल्क्य ने शिव-मंदिरों में संगीत पूजा को संकेतित किया है जो भागवत-धर्म के उदय से पूर्व की होने से महत्वपूर्ण है। भागवत पुराण से श्रीकृष्ण-लीलाएं लोकप्रिय हुईं, मंदिरों में भागवत और अन्य पुराणों की कथाओं पर नाट्य-मंचन का प्रारंभ हुआ। भगवान् के विग्रह की अष्टाविध पूजा में गीत-वादित्र-नृत्य तीनों प्रकारों का समावेश हुआ, साथ-साथ नाट्य का भी। यह स्थिति कश्मीर से कन्याकुमारी तक सर्वत्र दिखाई देगी। शासकों ने इन मंदिरों की पूजा-अर्चा, धार्मिक उत्सवों के लिये अग्रहार में प्रभूत मात्रा में भूमि और ग्राम दान दिये। भारत के किसी भी प्रदेश में स्थित मंदिरों के उपलब्ध अभिलेखों पर यदि हम एक दृष्टि डालें, तो सर्वत्र यही दृश्य दिखाई देगा। इन मंदिरों/मठों में शास्त्र और शस्त्र तथा कलाओं की विभिन्न शाखाओं का सदियों तक अध्ययन-अध्यापन हुआ, कलाओं ने नये आयाम विकसित किये। उसी का परिणाम साहित्य और कला की विविध विधाओं के रूप में, हजारों-लाखों ग्रंथों/टीकाओं की रचनाओं के रूप में हुआ जो आज हमारी थाती है, हैरिटेज है, ऐसी विरासत जो अन्य किसी देश के पास नहीं है तथा जिस पर हम गर्व कर सकें। राजस्थान इस विकास यात्रा का भागीदार हुआ है, गीत-वादित्र-नृत्य से भक्ति की लौ जगाने का, उसे 'जागती ज्योत' बनाये रखने का उसका अपना इतिहास है।

शिलादित्य गुहिल के वि. 703 के सामोली अभिलेख से चर्चा का प्रारंभ करते हैं जिसमें वटनगर से निकले जेक-प्रमुख श्रेष्ठियों ने नगर को समृद्ध बनाया और जस्ते की खान खुदवाई। इसी शिलालेख में ध्यान रहे, अरण्यवासिनी देवी के मंदिर का निर्माण भी संकेतित है। यहां एक पंक्ति है—

नानादिदेशमागत अष्टादश वैतालिक लोकविख्यातम् (वटनगरम् अथवा मंदिरं अभिप्रेत है)।

यहां वैतालिक का अर्थ कतिपय विद्वानों ने भूगर्भज्ञ या तांत्रिक किया है। आगर का अर्थ है खान इसलिये भूगर्भज्ञ अर्थ किया और मंदिर है इसलिए तांत्रिक अर्थ किया। भगवती की तांत्रिक पद्धति से पूजा का अपना अलग इतिहास है। परन्तु वैतालिक शब्द गायक/स्तुतिगायक के रूप में संस्कृत नाटकों में कई बार प्रयुक्त हुआ, मंच खाली हो तो पृष्ठमार्गी (Background) संगीत में वैतालिक गाया करता था। भास और कालिदास के नाटकों में इसी अर्थ में यह आया है। इस संबंध में यह सोचना चाहिए कि नया मंदिर बनेगा तो देश-विदेश के साधकों, धर्मशास्त्रियों, संगीतज्ञों को बाहर से ही बुलाना पड़ेगा। खान खुदवाने के बाद फिर भूगर्भज्ञों का क्या काम बाकी रहता है। अत: इस शब्द-प्रयोग का अर्थ निश्चय ही गायक स्वीकारना श्रेयस्कर रहेगा, खासकर मंदिर के संदर्भ में। गायक के अर्थ में 'वैतालिक' का प्रयोग यह भरतार्थ सूचित करता प्रतीत होता है कि बिना गीत का नृत्य/वाद्य शुष्क वाद्य/नृत्य कहलाता है। अत: यह भी संभावना प्रकट की जा सकती है कि अष्टादश गायकों में कुछ वादक भी होंगे, कुछ नृत्याचार्य भी रहे होंगे क्योंकि ये तीनों ही विधाएं कमोबेश परस्पराश्रित हैं। गीत-नृत्य के लिये ताल चाहिए और वादन-नृत्य के लिये गीत तो चाहिए ही चाहिए, साथ में अभिनय-प्रधान नाट्य हो तो और भी अच्छा होगा।

1147 वि. के नाडोल अभिलेख में लक्ष्मण स्वामी आदि देवताओं की यात्रा के संबंध में निर्देश अंकित है जिसमें यह कहा गया है जिस दिन देवता की यात्रा (च्तवबमेपवद) हो सभी सत्कप्रमदाकुल उत्तम वस्त्रालंकारों से सुशोभित होकर विद्वानों और शूलपालों के साथ आकर वाद्य-नृत्य-गीत के आविष्कार के साथ यात्रा में सम्मिलित हों संबद्धांश इस प्रकार है—

'यत्र घस्रे यत्र (दे) वे यात्रा भवति तत्र समस्तदेवानां सत्प्रमदा-कुलैराकल्पसंयुक्तै: सुवस्त्रैर्विद्यावद्भिश्च सशूलपालैरागत्य वाद्यनृत्य(गीत)।-दिविधिना यात्रा करणीया।'

यहां प्रमदाकुल का अर्थ डॉ. भांडारकर ने गणिका किया है तो बेनी गुप्ता ने देवदासी। 'सत्क' शब्द पर एक विद्वान् आपत्ति करते हैं, उनकी राय में वहां 'सक्त' जुड़े हुए के अर्थ में उपयुक्त होगा। शूलपाल का विक्रय से संबंध बताकर उसे गणिकाध्यक्ष के रूप में समझा गया है।

वस्तुत:'सत्प्रमदाकुल'का प्राचीन/मध्यकालीन अभिलेखों में प्रयोग हुआ है और वह भी केवल मंदिर के संदर्भ में। गणिका का जनसंपर्क रहता था अत: उन्हें मंदिर के योग्य नहीं माना जाता था। मंदिर की सेवा में संलग्न नर्तकी आदि का बाह्य पुरुषों से संपर्क निषिद्ध था इसीलिए उन्हें 'सत्क' कहा गया है।

मूल अभिलेख के 'च' अव्यय पर किसी ने विचार नहीं किया इसलिये शूलपाल को **विद्यावद्भि** से जोड़ा है, सही अर्थ होगा विद्वानों और शूलपाल के साथ। अर्थात् इन प्रमदाओं के गुरुओं तथा शूलपाल यानी रक्षकों, भालैतों के साथ यात्रा में गाते-बजाते वे चलती थीं। मंदिर की या राजदरबार की गायिकाओं/नर्तकियों की आने-जाने, सुरक्षा-प्रहरियों और प्रकाश के लिये मशालची की व्यवस्था राज की तरफ से ही होती आयी है—19वीं शती तक। कम से कम राजस्थान का यही परिदृश्य है। एक बात और। किसी भी देवता का जुलूस निकलेगा तो उसमें उस स्थान पर विद्यमान् सभी मंदिरों की प्रमदाओं को सम्मिलित होना था।

यहां यह तथ्य स्वीकारना होगा कि जन-सामान्य के क्रय-विक्रय योग्य गणिका को मंदिरों की सेवा के लिये उपयोगी मानना हमारी भूल होगी।

देवालयों में गान-नृत्य सेवा के लिये राज्य की आरे से की जाने वाली व्यवस्था के क्रम में आल्हणदेव कालीन कॉपर प्लेट्स के विवरण को उपस्थित किया जा सकता है जिसमें सेवारत कलाविज्ञ महिलाओं को द्रम्म नामक मुद्राओं अथवा द्रोण/कुमरद्रोण गोधूम (गेहूं) नियमित रूप से दिये जाने की आज्ञा अंकित है। झींटलवाड़ा ग्राम के त्रिपुरुषदेव मंदिर तथा चंदलेश्वर में नियुक्त विलासिनियों के नाम तथा उन्हें देय द्रम्म/द्रोण धान्य को इस प्रकार दिखाया जा सकता है—

1.	विलासिनी पद्मा की कन्या व जिला तथा अन्य संभवत: संगतिकार	षोडशपर्व
2.	मेहरी मेहनिका	नंदाग्राम के भोग से 5 द्रोण गोधूम
3.	मेहरी बिगड़ा, सीतदा, पेमली, रतना श्रीयादेवी आसदेवी सूरवाल जसरा, पणव-वादक वडियार मृदंग वादक महिमतिहास वंशवादक रिसिदास गोविन्दसुत	देवनंदित ग्राम के अरघट्ट से 5 कुमर द्रोण गोधूम झीटलवाड़ा ग्राम के अरघट्ट से 5-5 कुमरद्रोण

देवनंदित ग्राम में मठपति की उपस्थिति दर्शायी गयी है तथा उसे सत्कप्रमदाकुल की तरह सत्कमठपति कहा गया है। अभिलेख में उल्लिखित मेहरियां निश्चय ही गायिकाएं/नर्तकियां हैं क्योंकि उनके साथ ही पणव, मृदंग और वेणु वादकों के नाम जुड़े

हुए हैं।

इन कलाविद् महिलाओं में शोभिका/शोभनिका के विषय में निम्न पंक्तियां उद्धृत करना उचित होगा जिसमें कहा गया है कि 'मेहरी शोभिका के गृह-निरीक्षण के लिये आये हुए महाराजाधिराज (आल्हणदेव) ने शोभिका को पिछवल्ली ग्राम इनाम दिया, जिसका भोग वह स्वयं करें या अन्य किसी को करावें, कोई भी व्यक्ति दखल नहीं देगा—

''पौष वदि दशम्यां महाराजाधिराजेन महरिसो(भि) काया गृहनिरीक्षणायागतेनास्या पिछवल्ली-ग्राम स्वसीमापर्यन्तो ज्ञातमर्यादप्रसादीकृतोऽस्या भुंजयन्त्या भुंजापयन्त्या केनापि...परिपन्थना कार्या।''

उपर्युक्त अभिलेख का यह विवरण 1171 वि., 1173 वि. तथा 1205 वि. का है तथा जोजलदेव के 1147 वि. के अभिलेख में संदर्भित विवरण के परिप्रेक्ष्य में इसे देखना उपयुक्त होगा।

आल्हणदेव की 1219 वि. की कॉपर प्लेट यह सूचित करती है कि मंदिर में गान-नृत्य के अलावा नाट्य का मंचन भी होता था। त्रिपुरुषदेव मंदिर में आल्हणदेव द्वारा विधिवत् पूजा, अभिषेक और नैवेद्य समर्पण करने के बाद पुण्यदायिनी रात्रि में प्रेक्षणक/नाट्य देखने का संदर्भ देखिये—

नैवेद्यं सरसं प्रदाय बहुधा पुण्यप्रदारात्रके।
पश्चात् प्रेक्षणकं मनोधृतिकरं तौर्यत्रिकालंकृतम्।।

यहां प्रयुक्त तौर्यत्रिक का अर्थ-गीत, वाद्य, नृत्य तथा अभिनय से अलंकृत नाट्य है। इन चारों को समवाय रूप से भरत मुनि ने तौर्यत्रिक कहा है। दक्षिण भारत के कतिपय मंदिरों के सभागार में अभी नाट्य के मंच विद्यमान् हैं। कश्मीर में भी नाट्य मंचन की प्रथा थी। ये नाटक पौराणिक कथाओं पर आधारित थे जो विग्रह के उत्सवों पर मंचित किये जाते। इस संदर्भ से यह जानना कि राजस्थान में भी मंदिरों में नाट्यमंचन होता रहा है, हमारे लिये कितना सुखद है।

उदयसिंहदेव (चाहमान) के काल का भीनमाल शिलालेख (1306 वि.) किन्हीं ठाकुर उदयसिंह के पुत्र महणसिंह (महासिंह) तथा उसके भाई द्वारा संयुक्त रूप से जगत्स्वामी मंदिर की अश्विन वद 14, 1306 वि. को देवताओं की यात्रा (धार्मिक उत्सवों पर आयोज्य) के निमित्त 40 द्रम्म निक्षेप किये जाने की सूचना देता है। इसके अतिरिक्त दोनों भाइयों ने आत्म-कल्याणार्थ माघ मास में वदि 5 के बलि आदि के लिये इसी मंदिर के भाण्डागार में 15 द्रम्म निक्षेपित किये। गोधूम, घृत आदि हर वस्तु पर कितना खर्च किया जाना है इसका भी अभिलेख में निर्देश है। कहने की जरूरत नहीं है कि बजट के अलग-अलग हैड्स में सत्प्रमदाकुल भी एक है—

'प्रमदाकुलप्रतयं द्र 1 एतत्सर्वं प्रति(व)र्षं देवेन कारापनीयम्।'

इन अभिलेखों में उल्लिखित तथ्य इस बात के स्पष्ट प्रमाण के रूप में स्वीकार किये जा सकते हैं कि देश के अन्य भूभागों की तरह राजस्थान में भी मंदिरों ने गीत-नृत्य-वाद्य-प्रेक्षणक को न केवल संरक्षण दिया है, अपितु नित्य सेवा तथा नैमित्तिक अवसरों पर प्रस्तुति करने के अवसर उपलब्ध कराये हैं और गीत-वाद्य से जनता-जनार्दन के लिये भक्ति मार्ग को प्रशस्त किया है।

सगुण-निर्गुण परंपरा

इसके बाद का समय राजनीतिक उथल-पुथल का है, भारत की जनता के काफिर बन जाने का, मंदिरों के उध्वस्त होने का, बलात् धर्म-परिवर्तन का, आत्मोत्सर्ग का, अपनी संस्कृति और परम्पराओं का सर्वनाश देखने का। तारीखे फिरोजशाही के लेखक ने लिखा है—

''जब कि मेरी थोड़ी-सी सांसें शेष हैं तो उपर्युक्त महफिलों की प्रशंसा लिखते समय मेरी यह इच्छा हुई कि मैं उन नृत्य सुंदरियों, युवतियों, रमणियों तथा युवकों को याद कर लूं जिनमें नाज और अंदाज और कृत्रिम भाव भरे पड़े थे... मैंने उनमें कुछ का गाना और नृत्य देखा है..... खतात, कातीब, मुहब्बिक, नबीस, कव्वाल, गायक, चंग, रबाब, कुमान्या और नौबत बजाने वाले जितने अताई थे, उतने योग्य और किसी समय में न थे।''

यह समय अमीर खुसरो का। कहते हैं इस वक्त इरानी संगीत का हमारे संगीत पर प्रभाव पड़ा, पर उसकी शुरूआत धार्मिक आस्था से ही हुई। ईरानी, विशेषकर सूफियाना गायकी का भारत में सूत्रपात अजमेर से ही हुआ है ऐसा प्रतीत होता है—ख्वाजा मोईनुद्दीन चिश्ती के कारण। यहीं से सूफी संगीत का प्रचार-प्रसार प्रारंभ हुआ। सूफी गायकों में कव्वाली गाने वालों का कव्वाल-बच्चों का घराना कायम हुआ। इसी घराने से ख्याल-गायन के ग्वालियर-आगरा इत्यादि घराने बने, इन्हीं से टप्पा-ठुमरी जैसी मन लुभावन गायकियों का प्रादुर्भाव हुआ, उनके भी बनारस-लखनऊ-पंजाब घराने बने।

12-14वीं शती तक देरावर के रास्ते नाथ-संप्रदाय के अनुयायी राजस्थान में आने लगे। उन्होंने बलात् धर्म-परिवर्तन रोकने के प्रयास तो किये ही है परन्तु इस संदर्भ में महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि 14वीं-15वीं सदी में नाथों का भक्ति की ओर झुकाव होने लगा, कबीर से वह अपने परवान चढ़ा और निर्गुणी भक्ति-साधना में फिर संगीत ने ही आस्था बनाये रखने का काम किया, रज्जब, दादू, दरिया, लालदास, चरणदास कई सन्तों के राजस्थान में पंथ बने। पर कबीर से भी पहले रावल मल्लीनाथ और रानी रूपांदे ने मारवाड़ में भक्ति का सूत्रपात किया। बाबा रामदेव प्रसिद्ध है। इनके 'जागरण' या रातीजोग एकतारा-ढोलक के बिना कैसे होते? भक्ति आन्दोलन में न जाने कितने पद बने, राग-ताल में निबद्ध हुए, उसके शास्त्रीय स्वरूप को नया आयाम मिला—भक्ति संगीत का। सगुण भक्ति कभी समाप्त हो ही नहीं सकती थी। 'मीरा कहे प्रभु गिरधर

नागर'-मीरा के भजनों की गूंज सारे भारतवर्ष में अब भी सुनाई देगी।

वल्लभाचार्य के प्राकट्य ने पुष्टिमार्ग द्वारा सगुण भक्ति की इस धारा को सुदृढ़ ही नहीं किया, उसमें चार चांद लगा दिये। औरंगजेब की नीति के कारण जब प्रभु के विग्रहों को स्थानान्तरित करना पड़ा तब राजस्थान के शासकों ने ही तो उन विग्रहों को जोधपुर, कांकरोली, नाथद्वारा, कोटा, भरतपुर में प्रतिष्ठापित किया, उनमें वीणावादकों, कीर्तनियों ओर पखावज-वादकों को नियुक्त किया, मंदिरों को खर्च के लिये गांव-जमीनें जागीर में दीं। जोधपुर के चौपासनी मंदिर को मारवाड़ के हर गांव पर एक रुपया पाने की सनद दी गयी थी। मेवाड़ में प्राचीन/नये बने मंदिरों में नित्य कीर्तन की व्यवस्था थी ही, रामस्नेही संप्रदाय के मठों में भी महाराणाओं ने भजन-गायकों की नियुक्तियां की थीं। जोधपुर के विजयसिंह अपने सिंहासन पर 'श्रीकृष्णचरणशरण' लिखते थे, उन्होंने बालकिसनजी का मंदिर बनाया। नाथानुयायी मानसिंह ने नाथ-मंदिरों में नित्य कीर्तन की व्यवस्था की थी। जयपुर के डागर-गायकों की साधना राधागोविंद जी के मंदिर में होती रही, उदयपुर के जगदीश मंदिर की रथ यात्रा उ. जाकिरुद्दीन की हाजिरी के बिना यात्रा पूरी ही नहीं होती थी। जयपुर के प्रतापसिंह ने अपने ग्रंथ का नाम ही राधागोविंदसंगीतसार रखा। मंदिरों के गायकों के उत्तराधिकारियों ने विश्व- भर में नाम किया—जयपुर का भट्ट परिवार या बीकानेर का गोस्वामी परिवार इस तथ्य का उदाहरण है।

अब तक की चर्चा संभवत: यह संकेत करती प्रतीत होती है कि संगीत के संरक्षण और विकास में तत्-तत् कालीन सत्ताधिकारियों का समर्थन प्राप्त होता रहा अत: उन सत्ताधीशों/उनके आश्रितों की संगीत के शास्त्र/प्रयोग के प्रति रही अभिरुचि के दर्शन कराना यहां अपेक्षित होगा। शुरू वहीं से करना होगा जहां से अभिलेखीय साक्ष्य उपलब्ध हैं।

शासकों की सांगीतिक अभिरुचि

जोधपुर के वि. 894 के अभिलेख में प्रतीहार बाउक को अन्य विशेषताओं के साथ कलान्वित कहा गया है जबकि 918 वि. का घटियाला अभिलेख कक्कुक के वीणावादन का भी संकेत करता है—

वल्लकी काकलीगीतं शरच्चंद्रश्च मालती।
विनीता स्त्री सतां गोष्ठी कक्कुकस्य प्रियाणि षट्।।

कक्कुक को वीणा-वादन प्रिय था ही, वह उस गीत को सुनना पसन्द करता था जिसमें काकली निषाद का प्रयोग होता है। काकली का प्रयोग मंद्रसप्तक के आलाप में अत्यधिक सुखद लगता था। इस प्रकार एक अन्य भी संकेत उपलब्ध हैं जिनमें 1319 वि. के सूंधा पर्वत अभिलेख के एक श्लोक को उद्धृत करना उचित होगा जिसमें समरसिंह के पुत्र चाहमान उदयसिंह को भरतनाट्यशास्त्र जैसे विशाल ग्रंथ का तत्त्ववेत्ता

कहा गया है–

धीरोदात्त (स)तुरुष्काधिपमददलनो गूजरिन्द्रैरजेयः।
सेवायातक्षितीशोचितकरणपटुः सिन्धुराजान्तको यः।।
प्रोद्दाम न्यायहेतुः भरतमुखमहाग्रंथतत्वार्थवेत्ता।
श्रीमज्जाबालिसंज्ञापुरि शिवसदनद्वन्द्वकर्ता कृतज्ञः।।6।।

इन संकेतों या विशेषणों को कोई गुणानुवाद कह सकते हैं, पर ऐसा नहीं है। संगीत इन शासकों के जीवन की दैनिक प्रक्रियाओं से जुड़ा हुआ था। इस तरह का एक संदर्भ माघ के शिशुपालवध से प्रस्तुत किया जा सकता है–

श्रुतिसमधिकमुच्चैः पंचमं पीडयन्तः।
सततमृषभहीनं भिन्नकीकृत्य षड्जम्।।
अभिजगदुरकाकि श्रावकस्निग्धकण्ठाः।
परिणतिमिति रात्रेः मागधा माधवाय।।

–माघकाव्य, सर्ग 11

'श्रुतिसमधिक (षड्जग्राम में चतुःश्रुति), पंचम को पीडित करते हुए, ऋषभरहित, गेय दोषों से मुक्त, स्निग्धकंठ से भिन्नषड्ज राग गाते हुए मागधों ने माधव को रात्रि की समाप्ति से अगवत कराया।'

उनका दिन का प्रारंभ ही संगीत से शुरू हुआ करता था तो उनकी अभिरुचि जागृत होनी ही थी। यह रिवाज राजस्थान की प्रायः सभी रियासतों में रहा है, इस काम को 'सेज रो ढोली' किया करता रहा है। उदयपुर–जोधपुर के अभिलेखों से इसके कई प्रमाण उपस्थित किये जा सकते हैं। एक बात और, भिन्नषड्ज में आज भी रे–प को वर्जित कर रात के तीसरे प्रहर में गाने का प्रचलन है। अतः उपरि–संदर्भित विशेषणों को महज गुणानुवाद या प्रशंसा कहना उपयुक्त नहीं होगा। राजस्थान के कई शसकों ने भरत–शार्ङ्गदेव का अनुशीलन कर स्वयं ग्रंथरचना की है तथा अन्यों को भी प्रेरित किया है। आशा है इसकी चर्चा आपको रुचिकर प्रतीत होगी।

रणथम्भौर के यशस्वी शासक राणा हमीरदेव चौहान (1282–1301 ई.) ने संग्रहहार या संगीतसंग्रहहार नामक एक ग्रंथ लिखा है जो 'गान्धर्वा– मृतसागर' पर आधारित है। हमीरदेव के राजपंडित राघवभट्ट भी संभवतः संगीताचार्य रहे हो। उनके पौत्र शार्ङ्गधर ने मानसोल्लास की तरह शार्ङ्गधर– पद्धति लिखी जिसका एक भाग तत्कालीन संगीत के स्वरूप को उपस्थित करता है जो भरत–संगीत से हटकर है। अशोकमल्ल एक और चहुआन– मही–महेंद्र शासक संगीताचार्य हुए हैं। वीरसिंह उनके पिता थे। उन्होंने संगीतकल्पतरु ग्रंथ लिखा है जिसका अब तक एकमात्र नृत्याध्याय उपलब्ध था। जयपुर में उपलब्ध 7 अध्यायों के ग्रंथ की 1551 वि. की प्रतिलिपि से अनुमान कर सकते हैं कि हमीर के कुछ ही समय बाद इसकी रचना हुई है। ग्रंथ की

उपलब्ध एक ही प्रतिलिपि राजस्थान में मिलने से भी शासक के एतद्देशीय होने का अनुमान किया जा सकता है। नृत्याध्याय को पं. वाचस्पति गैरोला ने हिन्दी अनुवाद के साथ विगत सदी के 8वें दशक में प्रकाशित किया है।

उदयपुर के महाराणा कुम्भकर्ण का संगीतराज भारत–प्रसिद्ध, बहुचर्चित, अधिकांश प्रकाशित एवं कई दृष्टियों से समीक्षित ग्रंथराज है। वाद्यरत्नकोष, रसरत्नकोष छपे नहीं है। रसरत्न कोश पर यहीं जयपुर से शोध कार्य हुआ था। कुम्भा ने सभी पूर्ववर्ती ग्रंथों का आलोडन किया है जिससे यह संकलन–स्वरूप का हुआ है। अनेक अज्ञात ग्रंथकारों, टीकाकारों और संस्कृत–लेखकों के इसमें संदर्भ/उद्धरण होने से इतिहास–दृष्टि से यह बहुत मूल्यवान् है, परन्तु समकालीन उत्तरी भारत में परिवर्तनशील संगीत की इसमें कोई चर्चा न होना तथा 84 प्रबंधों के उदाहरण एकलिङ्गमाहात्म्य में मिलना ये दोनों तथ्य ग्रंथकर्तृत्व को प्रश्नांकित तो करते ही हैं।

कुम्भा के बाद बहुत समय तक मेवाड़ में कोई संगीत–ग्रंथ नही लिखा गया। बनेड़ा के शासक सरदारसिंह ने अपने आश्रित गुनिजनों की प्रार्थना पर 'सुरतरंग' की रचना की है–इसमें राग–वर्गीकरण और उनका वर्णन रागमाला के आधार पर किया गया है। काव्य अच्छा है, लेकिन तब तक रागस्वरूपों में कई परिवर्तन हो गये थे।

मेवाड़ के देवगढ़–मदारिया निवासी रागसागर कृष्णानंद व्यास (1851– 1945 ई.) बहुत बड़े संगीताचार्य हुए हैं जिनके 'संगीतरागकल्पद्रुम' को विश्व संगीत कोश की मान्यता प्राप्त हुई है। कलकत्ता और लखनऊ से 1914 ई. में दो भागों में प्रकाशित इस ग्रंथ में करीब साढ़े बारह हजार से अधिक रचनाओं का संग्रह है। पूरे 32 वर्ष भारत–भ्रमण कर अनेक संगीतज्ञों से प्राप्त ये रचनाएं आज के संगीत की अमूल्य निधि है–रचनाओं की दृष्टि से और प्रबंध–प्रकारों की दृष्टि से भी।

मेवाड़ के नाथद्वारा में पखावज–वादन पर लिखा एक और ग्रंथ है–मृदंगसागर जिसका प्रारंभ खेमलाल ने किया, परन्तु उसे पूरा करना पड़ा उनके पुत्र घनश्यामदास को। जयपुर की ही उनकी पखावज–शैली थी जो नाथद्वारा घराने के नाम से विख्यात हुई। घनश्यामदास के पुत्र स्वनामधन्य पं. पुरुषोत्तमदास पखावजी भारत–विख्यात पखावज वादक हुए हैं जिन्हें भारत सरकार ने 'पद्मश्री' से नवाजा है।

जयपुर–अलवर में संगीत ग्रंथों की रचना का प्रारंभ प्रायः मुगल सम्राट् अकबर के समय से मान सकते हैं। मानसिंह और माधोसिंह के आश्रय में पुण्डरीक/पुण्डरी/पण्डरी विट्ठल नामक संगीताचार्य रहे हैं जिन्हें मेल पद्धति का उद्गाता कहा जाता है। उन्होंने माधोसिंह के संरक्षण में आगरा में रागनिर्णय, नर्तनमंजरी आदि 6 ग्रंथ लिखे हैं जो पहले गायन समाज पुणे से और बाद में पुरातन ग्रंथमाला में जोधपुर से छपे हैं। इन्हीं के शिष्य श्रीकण्ठ का रसकौमुदी प्रसिद्ध ग्रंथ है। सवाई जयसिंह के आश्रय में सीताराम भट्ट पर्वणीकर ने नाट्यशास्त्र पर लिखी लक्षणचंद्रिका या अलवर में विद्याभूषण कृष्णानंद ने

लिखी साहित्य कौमुदी टीका को प्राचीन संगीतशास्त्र के प्रति रुझान के रूप में यहां संकेतित करना उचित प्रतीत होता है।

जयपुर शासकों के औरंगाबाद शिविर में किन्हीं ठा. रामसिंह शेखावत के पुत्र किशनसिंह के अध्ययन के लिये ठाकुर साहब ने संगीत-रत्नाकर पर रसप्रदीप टीका लिखवायी थी, वह भी मराठी में और उसके टीकाकार कोई नूरखां है! संगीत रत्नाकर का नृत्याध्याय सचित्र है जिसमें विभिन्न मुद्राओं में नर्तकियों का अंकन किया गया है। ग्रंथ यहीं पर जयपुर में खासमुहर संग्रह में है। इसी प्रकार अलवर में गंगाराम माथुर ने लिखी संगीत-रत्नाकर की ब्रजभाषा की 'सेतु' टीका है जो लगभग 800 पृष्ठों में उपलब्ध है।

मिर्जा राजा जयसिंह के पुत्र रामसिंह की सेवा में नियुक्त मोहनराय पातुर-नर्तकी ने 'क्रीडाविनोद' लिखा तो उणियारा ठा. भीमसिंह की आज्ञा से राधाकृष्ण संगीताचार्य ने रागरत्नाकर नाम के विशाल ग्रंथ की रचना की है।

जयपुर के सवाई प्रतापसिंह संगीतानुराग और राधागोविंद की भक्ति के लिये प्रसिद्ध है। वे उस्ताद चांदखां के शिष्य थे। प्रतापसिंह ने 'राधा- गोविंदसंगीतसार' की सात अध्यायों में रचना की, रचना में जयपुर के दरबारी कवियों नंदकिशोर तिवाड़ी, श्रीकृष्ण तैलंग, चुनीलाल भट्ट और रामराय मिश्र ने सहायता की थी। इन्हीं प्रतापसिंह की आज्ञा से गणपति भारती ने (1791 ई.) संगीत सागर की रचना की। जयपुर में लिखे गये अन्य ग्रंथों में नृत्यविनोद, गीतप्रकाश, सिंगारदर्पण और रसराशि रामनारायण के लिखे राग संकेत, शृंगारदर्पण का यहां उल्लेख करना समीचीन होगा।

शाहजहां के समकालीन महाराजा गजसिंह ने भी संभवत: एक ग्रंथ की रचना की है—नागेन्द्रसंगीत जिसके कर्ता नागेन्द्र है। नागेन्द्र गजसिंह का पर्यायवाची कवि नाम होने की संभावना की जा सकती है। जोधपुर दरबार की दो नर्तकियों की नृत्य-शिक्षा के लिय लिखा यह ग्रंथ कत्थक के इतिहास के लिये महत्वपूर्ण सिद्ध होगा। जोधपुर के अन्य शासकों में महाराजा मानसिंह संगीतज्ञ कवि हुए हैं जिन्होंने अनेक नवीन प्रयोग किये हैं जिसकी चर्चा भाषण के समापन में करना उचित होगा। विगत सदी में पं. बुद्धिप्रकाश आचार्य का लिखा 'संगीताम्बुज भास्कर' अभी अप्रकाशित है।

बीकानेर के अनूपसिंह को संगीत-नृत्य से लगाव था। मुगल-सम्राट् औरंगजेब की सेवा में जर्नादन भट्ट संगीताचार्य थे। अनूपसिंह इन्हें अपने साथ बीकानेर लिवा लाये थे। जर्नादन भट्ट के भावभट्ट और संगीतराय भट्ट दो पुत्र हुए। भावभट्ट के भी दो पुत्र थे—महादेव भट्ट और रघुनाथ भट्ट। भावभट्ट प्रखर विद्वान् थे, उनके अनूपसंगीतरत्नाकर व अनूपसंगीतविलास ग्रंथों में गीत-वाद्य के अलावा नृत्य और नाट्य का भी समावेश है। संगीतराय और महादेव भट्ट ने आलापमंजरी आदि ग्रंथ संयुक्त रूप से लिखे हैं। रघुनाथ भट्ट ने अनूपसंगीतांकुश' लिखा। पिछली सदी में चूरु के पं. जयचंद्र शर्मा ने बीकानेर में रहते हुए कत्थक नृत्य पर विविध ग्रंथ रचना की है।

आबू-चंद्रावती के आसपास पक्षधर (1673 ई.) ने संगीतकल्पतरु की रचना की जिस पर किन्हीं पं. गणेशदेव ने सुबोधिनी टीका लिखी है। सूचीपत्र बनाने वाले ने लेखक के रूप में रुद्रदास नाम दिया है। संभवत: पक्षधर और रुद्रदास में से किसी एक ने अन्य के लिए उसे लिखा हो।

करौली-नरेश राजा गोपालदास की रागसमूह नामक लघुकाय रचना है। धौलपुर के आणंदराम ने औरंगाबाद में मुगल शिविर में रहते हुए 1682 ई.में रागमंजरी लिखी। इसी तरह सीकर-झुंझनूं के कायमखानी कवि जान ने संगीतगुणदीप की ब्रज भाषा में रचना की है।

उपर्युक्त ग्रंथ अनूप संस्कृत लाईब्रेरी, बीकानेर, सवाई मानसिंह प्प संग्रहालय, जयपुर तथा राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर एवं उसके संभागीय कार्यालयों में आप कभी भी देख सकते हैं। इस विवरण से शासक और शासितों की कलाभिरुचि का अनुमान हम लगा सकते हैं क्योंकि प्रायोगिक क्षमता के अभाव में किसी भी व्यक्ति की शास्त्राध्ययन अथवा शास्त्रलेखन की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार की अभिरुचि के परिणाम स्वरूप ही राजस्थान की प्राय: सभी पूर्व रियासतों में गुनीजनख़ानों की शुरूआत हुई। रियासतों के स्वतंत्र भारत में विलय होने तक अनेक दिग्गज गुनीजनों ने इन गुनीजनख़ानों की शोभा बढ़ाई, साधना की, अपनी समृद्ध शिष्य-परम्पराएं बनायी, अनेक गायनशैलियों का अवतरण किया और हिन्दुस्तानी संगीत को अमूल्य अवदान दिया। अब उसकी चर्चा करना उपयुक्त होगा।

गुनीजनख़ाना जयपुर

मिर्जा राजा जयसिंह (1622-67 ई.) की सेवा में रहे खान मुहम्मद, हुसैन खां, निजाम खां, अब्दुल्ला और छद्दू खां प्रमुख कलाकार माने जाते थे जिन्हें बारह से बीस रुपये तक वेतन था। सवाई जयसिंह के काल में, जिन्हें 36 कारखानों की स्थापना का श्रेय है, गुनीजनख़ाना कायम किया गया। उनके समय में ब्रजभूषण भट्ट, रामकृष्ण, सेवाराम और नाथूराम तिवाड़ी के कलाकारों के रूप में उल्लेख मिलते हैं। सवाई प्रतापसिंह ने, जो स्वयं चांद खां के शिष्य थे, राधागोविन्दसंगीतसार की रचना की थी। जुगनूं, छाजू खां और लल्लू या लल्लन खां इनके समय में नामी कलाकार थे। सवाई रामसिंह का काल कलाओं का 'स्वर्णयुग' कहा जाता है जब जयपुर में 161 कलावंत और नक्कारखाने के 38 कलाकार हुआ करते थे। इन्होंने घासीखां के पुत्र समनु को अखेपुर का वास और अमीर बख्श को चावण्ड का मण्ड गांव इनायत किया था।

जयपुर के प्रसिद्ध कलाकारों में रज्जब अली खां बीनकार, धृपद गायक बहराम खां, सितार वादक रहीमसेन-अमृतसेन और वाग्गेयकार मुहम्मद अली उर्फ हररंग ने काफी नाम कमाया। जयपुर के कुतुब अली, मुशर्रफ खां, मुसाहिब अली, सादिक अली तथा असद अली तानसेन के सेनिया घराने के प्रतिनिधि कलाकार हुए हैं। गोहरजान तो

भारतप्रसिद्ध रही है। तमाशा के प्रसिद्ध कलाकार गोपीचंद-फूलचंद भट्ट को परगना निवाई का 'भातड्या' गांव इनायत किया गया था।

जोधपुर का तालीमख़ाना

जयपुर के गुनीजनख़ाने की तरह जोधपुर में तालीमख़ाना बनाया गया। 1650 ई. से पूर्व शासकों की सेवा में गान-नृत्य के लिये गायण-गायिकाओं को नियुक्त किये जाने के बहुत उल्लेख उपलब्ध हैं। यह तालीमख़ाना महाराणी के नियंत्रण में रखा गया था। कलावंतों के संदर्भ म. अजीतसिंह के समय से मिलने शुरू होते हैं।

म. विजयसिंह (1750-93 ई.) के समय में किसनगढ़ से जुगनूं, घासीखां, उसके पुत्र हक्कानी बख्श आये थे। बाद में अतरोली के मानतौल खां, भूपतखां, अमानीबख्श, किसनगढ़ के कव्वाल मुहम्मद पना, सिकन्दराबाद के रमज़ान खां, आगरा के शेरखां, पंजाब के रसूल बेग-गुलाम हुसैन, मेवाती घराने के घघ्घे नजीरखां, कालपी के ठुमरी गायक हसनखां, ग्वालियर के हिम्मत खां जोधपुर आ गये थे। मानसिंह स्वयं संगीतज्ञ थे। इनके समय में 20 कव्वाल, 25-26 कलावंत, 15-16 संगतिकार जोधपुर में नियुक्त थे। ये सभी कलाकार महीनदार-मासिक वेतन पाने वाले थे। गायकों को 30 रु. तक और वादकों को 7-15 रु. तक वेतन था। बिना छुट्टी लिये अनुपस्थित रहना संभव नहीं था। कुछ कलाकारों को यथा पीरबख्श, रमज़ान खां, इमाम बख्श को जनाना ड्यौढ़ी में जाने की 'म्हाली छूट' थी। रमज़ान खां को अहमदपुरा गांव इनायत किया गया था। कई कलाकारों को पालकी का 'कुरब' दिया हुआ था।

मुस्लिम कलाकारों के अलावा 100 के लगभग पुष्करणा और दाधीच ब्राह्मण गाने वाले थे। थानवी बलदेव तालीमख़ाने के अध्यक्ष थे। इनमें से कुछ की जोधपुर और आसपास के क्षेत्र के मंदिरों में नियुक्ति थी। थानवी बलदेव के अलावा हरदेव, जयदेव, जलतरंग वादक पं. वीरमदत्त, व्यास सनेईलाल, पुरोहित बच्छराज, तिवाड़ी रिधकरण, सुरतराम और किसनराम अच्छे गायक थे।

जोधपुर में साध-भगत कलाकारों की बड़ी संख्या में उपस्थिति दिखाई देती है। ईसरी गिरधारी, कीरतराम, कुशालदास, गणेशदास आदि कई नाम यहां उदाहृत किये जा सकते हैं। रियासत के बीन-रबाब-सारंगी वादकों में सदाराम, बोहरा सैजराम, पीतांबरदास, रमजू अली, मनुखां, रैझू मिरासी, ईश्वरी प्रसाद जैसे कलाकार महफिलों में कलावंतों की संगति किया करते थे।

जोधपुर में हुई महफिलों में से कतिपय की समीक्षा लिखी गई है जिसे आदर्श समीक्षा कहा जा सकता है, वह कोरी प्रशंसा नहीं है।

उदयपुर

मेवाड़ के महाराणा कुम्भकर्ण की बात हम पहले कर आये हैं। मेवाड़ और

संगीत के सम्बन्ध में एक बात स्पष्ट है कि यद्यपि मेवाड़ का संगीत मुगल शासन का ऋणी नहीं है तथापि राजसभा में कलावंतों की उपस्थिति 18वीं शती से पूर्व की नहीं है, हालांकि कुम्भा के पश्चात् प्रतापकालीन रागमाला का चित्रांकन शासकों की कलाभिरुचि का द्योतक माना जा सकता है। दस्तावेजी साक्ष्य के तौर पर महाराणा जगतसिंह की राजसभा में 'गायनगनगंधर्व' और 'वादित्रिक' पदों का यहां उल्लेख किया जा सकता है। इसी तरह 'भीमविलास' और 'राजविलास' में संगीत की अनेक महफिलों के वर्णन देखे जा सकते हैं।

उत्तर मध्यकाल में उदयपुर में गुनीजनख़ाने की तर्ज पर संगीतज्ञों के प्रशासन के लिये संगीत-प्रकाश नामक विभाग की स्थापना की गयी थी जिसके अध्यक्ष को **म्हासानी** कहा जाता था। महफिलों के आयोजन के अलावा संगीतज्ञों की सेवा से संबद्ध कार्य इन्हीं के द्वारा किये जाते। 19वीं शती में संगीत-प्रकाश का अधिकांशतः बजट रु. 11500 रहा है। इस समय मेवाड़ से ही उठे कलावंत दिलदार खां और उसके पुत्र मान खां, सूरसिंगार वादक वणीवाले नन्हे खां का उल्लेख यहां पर करना उचित होगा। शम्भूसिंहजी के काल में सितारवादक मंगलू खां, गायक खाजु खां, क़ानून-वादक इलाही बख्श और उसके पुत्र अहमद बख़्श, बीनकार पं. अनंतराम, दायेमखां, जयलाल गौड़, गुलाम भीखू और दायरे खां की महफिलों के हकीकत बहीड़े में बार-बार उल्लेख उपलब्ध होते हैं।

पं. बहराम खां की शिष्य परम्परा के प्रतिनिधियों ने उदयपुर में ध्रुपद- गायन और वीणावादन की बड़ी साधना की है। खां साहब के पुत्र सद्दू खां तथा पौत्र अकबर खां और इरादत खां कुछ समय तक उदयपुर रहे। बहरामखां के भतीजे मुहम्मद जान के पुत्र जाकिरुद्दीन, पौत्र जियाउद्दीन और प्रपौत्र जिया मोइउद्दीन संगीत-प्रकाश के सूर्य ही थे। मुहम्मद अली के पुत्र अलाबंदे खां भी उदयपुर रहे लेकिन अल्पकाल तक। उनके पुत्र इमामुद्दीन ने भूपालसिंह की 40 वर्ष तक सेवा की।

उदयपुर के पखावज-वादकों में देवा, जाफर अली-अमानअली, तबला वादकों में हुसैन बख्श, पीरा, इलाही बख़्श तथा सारंगी वादकों में बालू खां, इरादत खां और चंदो के नाम महत्वपूर्ण है। उदयपुर के स्थानीय सारंगी वादकों में गिरधारीलाल, उनके शिष्य लक्ष्मणगंधर्व और कालकाप्रसाद की सुदीर्घ शिष्य-परंपरा बनी। दिलरुबावादक नाथूजी के पुत्र पं. रामनारायण और पं. चतुरलाल ने भारत ही नहीं, सारे विश्व में अपनी धाक जमायी।

नाथद्वारा-कांकरोली के मंदिरों में संगीतज्ञों को संरक्षण देकर पुष्टिमार्गी-संगीत के उत्थान के लिये मेवाड़ शासकों के द्वारा किये गये सत् प्रयासों की जितनी प्रशंसा की जाए, कम होगी।

टौंक

टौंक को 1817 ई. में रियासत का दर्जा मिला। यहां संगीत की दृष्टि से इब्राहीम खां का समय विशेष महत्वपूर्ण माना जाता है। इनके काल में अब्दुल कादिर खां, अलाही बख्श और नन्हें खां बेजोड़ सारंगिये थे, अहमद जान खां और बुन्दू खां गायक और कल्लू हाफिज सितारवादक थे। यहां के अली बख्श और फतह खां ने ही आगे चलकर पटियाला घराने की स्थापना की।

टौंक के नवाबों ने शास्त्रीय संगीत के साथ-साथ कव्वाली को भी बहुत प्रश्रय दिया। यहां के कव्वालों में जहूर खां, बुन्दू खां, अहमद नूर और मोहम्मद दीन खां को काफी प्रसिद्धि मिली।

अलवर

अलवर में प्रतापसिंह के समय में गुनीजनख़ाना कायम हुआ। इनके पुत्र विनयसिंह ने इस विभाग को व्यवस्थित कर गुनीजनों को प्रश्रय देना प्रारंभ किया। रहीम सेन और हिम्मतसेन इनके समय में ही गुनीजनख़ाने से जुड़े। जयसिंह के काल में 70 कलावंत, 22 गायिकाएं और बेला बैंड में 45 कलाकार नियुक्त थे। राजस्थान की और रियासतों की तुलना में अलवर में कलाकारों का वेतन अधिक था—कलावंतों को मासिक 70-100, बीनकारों को 50 और संगत करने वालों को 30 रुपये वेतन दिया जाता रहा।

अलवर के भारतभर में प्रसिद्ध हुए कलाकारों में ध्रुपद-गायक अल्ला बन्दे खां, सितार वादक कालेखां और जमीरुद्दीन, वीणावादक सादिक अली खां के अलावा ध्रुपदिये हुसैनुद्दीन, आसिफ अली, असगर अली, मुश्ताक अली और अब्दुल बहाव का उल्लेख यहां उपयुक्त रहेगा। अलवर के ढोलकिये मुहम्मद जान ने मंदिर में बजाने के लिये ढोलक पर चमड़े की जगह कपड़े की पुडियां चढाकर बजाने का अभिनव उपक्रम किया था।

जयसिंह के बाद टप्पागायक कुबडे उस्ताद, गायक यासीम खां तथा लच्छा उस्ताद सारंगी वादक के रूप में प्रसिद्ध रहे हैं।

भरतपुर-धौलपुर

मुगलों से संघर्ष की समाप्ति पर भरतपुर के शासकों को कला-संरक्षण की ओर ध्यान देना संभव हो पाया था, इसी कारण जसवंतसिंह के समय से कलाकारों की वहां उपस्थिति को हम देख सकते हैं। 'सरसपिया' नाम से प्रसिद्ध हुए रचनाकार-गायक काले खां, ध्रुपदिये अलाबख्श, आगरा के नन्हें खां और सलीम, सीकरी के मदार बख़्श, नदियावाले केसर खां और धन्ने खां ने विशेष रूप से नाम कमाया। बहादुर शाह जफर के दरबारी गायक तानरस खां की शिष्य परम्परा के अहमद खां, पंचम खां और उनके पुत्र

मस्सू खां धौलपुर की राजसभा के भूषण थे। पं. मनमोहन सितार वादक के साथ धौलपुर के ही उस्ताद विलास खां, रणधीर खां और हंसधीर खां ने अखिल भारतीय सम्मेलनों में काफी प्रशंसा प्राप्त की।

करौली

करौली वैसे बहुत ही छोटी-सी रियासत थी फिर भी यहां के गुनीजनखाने में लगभग 20 कलावंत थे। यहां के भंवरपाल, भोमपाल और गणेशपाल तीनों ही शासकों की संगीत के प्रति अभिरुचि रही है। करौली में मदनमोहन जी के विग्रह की स्थापना के बाद मंदिर में गाने बजाने वालों की तादाद बढ़ गयी थी।

करौली के ध्रुपद गायक जम्मन-सम्मन, ग्वालियर के ध्रुपदिये पं. वामन बुवा फलटणकर देशपांडे, परमानन्द, पूसाराम और लटूरराम आदि कलावंतों का यहां पर उल्लेख करना समीचीन होगा।

मदनमोहनजी का मंदिर पुष्टिमार्गीय नहीं है फिर भी वहां की गायक-वादकों की परम्परा व्यापक रही है।

किसनगढ़

कलाकारों का आगरा-दिल्ली से बिखरना जब शुरू हुआ तो पहले वे जयपुर आये और फिर किसनगढ़। 1760 ई. के आसपास कलावंत जुगनू और घासीखां यहां नियुक्त थे। बाद में ये जोधपुर गये। फिर 1790 ई. तक जमाल खां, लालखां, जुम्मा, कायम बख्श और मुहम्मद खां किसनगढ़ रहे। वे भी भीमसिंह के समय तक जोधपुर पहुंच गये थे।

किसनगढ़ के नागरीदास स्वयं अच्छे संगीतज्ञ थे। इनके समय में वहां के मंदिरों में गिरधारी, देवीलाल और उसके पुत्र अमरलाल-नाथूलाल कीर्तनिये थे। म. पृथ्वीसिंह और कल्याणसिंह की सेवा में बीसियों गायिकाएं रहीं— तालप्रवीण, तालकेसरी, गुणशोभा, सरसराय आदि। मोहकमसिंह के समय में महताबराय, गुणप्रवीण, तानप्रवीण विशेष रूप से प्रसिद्ध हुईं गायिकाएं थीं। किसनगढ़ में गुनीजनख़ाने के अलावा नौपतखाने में कई भाट, भांड, नायक और ढाढी कलाकार नियुक्त रहे हैं।

हाडौती

हाडौती के कोटा, बूंदी और झालावाड़ रियासतों ने भी कलाकारों को पर्याप्त प्रश्रय दिया। सितारवादक मीरां बख्श और मेहताब खां बूंदी नरेश के आश्रय में थे। बूंदी के चित्रकारों ने 1625 ई. में बनायी रागमाला विश्वप्रसिद्ध है। रंगीला घराने के मुहम्मद अली बूंदी राजसभा के अलंकार थे।

झालावाड़ के भवानीसिंह नाट्यप्रेमी थे, उन्होंने भवानी नाट्यशाला का गठन

किया और 1940 ई. में एक संगीत विद्यालय भी कायम किया।

इस क्षेत्र के प्रसिद्ध गुनीजनों में रंगीला फैयाज हुसैन, सुरैया, इब्राहीम खां, उस्ताद मुनीरखां, नर्तकी कूकी, सिणगार वाद्य बजाने वाले रामनाथ, उ. छीतर, बारां के रामनारायण, काले भैय्या, टप्पा गायिका मुमताज वहीदन और पखावजी गणपतजी का यहां उल्लेख करना आवश्यक है।

बीकानेर

1574 ई. में रामसिंह के समय में कुछ कलावंतों की उपस्थिति के संदर्भ मिलते हैं। म. अनूपसिंह की अभिरुचि के कारण ही जनार्दन भट्ट गोस्वामी जैसे प्रख्यात-संगीतज्ञ बीकानेर में स्थायी हुए और महादेव भट्ट, रघुनाथ भट्ट, संगीतराय और भावभट्ट जैसे उनकी परम्परा के प्रतिनिधियों ने समकालीन प्रायोगिक संगीत की चर्चा को शास्त्रबद्ध किया।

पूर्व से चली आ रही बीकानेर की संगीतशाला में म. गंगासिंह के समय में 25 छात्र संगीत-शिक्षा ग्रहण करते रहे। बीकानेर के नामचीन कलाकारों में शमसुद्दीन, मिरची खां, लंगड़े हुसैन बख्श, कासिम खां और कादिर खां प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त कृष्णभट्ट, शिवभट्ट, लाभूजी, जेठा महाराज, आसकरण और ढूंढा महाराज का उनकी संगीत साधना के लिये यहां उल्लेख करना आवश्यक होगा।

शेखावाटी

सीकर और झुंझनूं क्षेत्र शेखावाटी के नाम से जाना जाता है। यहां से उठे तबला वादकों और सारंगी वादकों में मिरासी ज्यादा हैं। सीकर के गायक अब्दुल खां, तबला नवाज मुबारक अली, घसीट खा, हिदायत खां, शमीम खां और सारंगी वादक नजीर खां, हिदायत खां, मदारी खां, मुनीर खां, सुलतान खां और महबूब खां तथा लक्ष्मणगढ़ के विष्णुराम, खरादी बंधू, मुकुन्द और रामपाल प्रसिद्ध कलाकार हुए हैं।

इसी तरह झुंझनूं के अन्नु खां, रहमान खां-बशीरखां, कादरखां, स्वामी नारायणदास और बाबा भगवानदास लोकप्रिय गायक थे। बिसाऊ के संगीत-पारखी ठा. विष्णुसिंह के आश्रय में रहकर मोहम्मद बख्श, इनायत खां, अमीर खां, याकूब खां, मिश्रीसिंह, इंद्रचंद्र और जमालुद्दीन भारती ने अपना नाम अमर किया है। हो न हो, दिल्ली घराने के संस्थापक सिद्धार खां ढाढी यही के हों?

कत्थकनृत्य

राजस्थान की सबसे बड़ी सांस्कृतिक विरासत होने के बावजूद इसका इतिहास बहुत कुछ अज्ञात है और जो ज्ञात है वह बिखराव भरा, मतभेदों में उलझा है। उसे सुलझाने के प्रयास पं. जयचंद शर्मा और पं. गौरीशंकर ने किये है।

बीदासर क्षेत्र में चूरु, सुजानगढ़, लाडनूं में कई गांव कत्थकों के ही कहे जाते हैं—चाड़वास, भालेरी, गोपालपुरा, बोरावाटी, पलास, बंडवा, खूड़ी, कनवारी, बीकासर,

हरासर आदि गांवों से उठे चुन्नीलाल, जानकीप्रसाद, सुखदेवप्रसाद, शंकरलाल, गणेश, भानुजी, चतुरलालजी और देवीलाल की शिष्य परम्पराएं बहुत विस्तृत हैं। किसी के मत में बोरावाटी के कत्थक जयपुर गये तो किसी के मत में चाड़वास के।

कत्थक का जयपुर घराना मूलत: जयपुर क्षेत्र के कलाकारों से ही बना। मायाराम चौहान और उनके पुत्र फकीरचंद का नाम यहां पहले लेना होगा जो आमेर के ही हैं। गिरधारी महाराज के पूर्वज, कहा जाता है कि चौमू गांव से ही जयपुर आये थे। जयपुर के गुनीजनख़ाने में गोविंदराम, तोताराम, नन्हा, हनुमान और उसका पुत्र दुलेराम, गंगासहाय, श्यामलाल और उसके पुत्र जीवन के गुनीजनख़ाने में नियुक्त होने के प्रमाण मिलते हैं।

जयपुर की दूसरी शाखा बीदावाटी के कनवारी गांव के चुन्नीलाल के वंशज जयलाल, सुंदरप्रसाद, रामगोपाल और देवीलाल के पुत्र गौरीशंकर की है। यह जयलाल का घराना कहलाता है। कत्थक नृत्य में तबले की बंदिशों का प्रयोग इन्होंने ही शुरू किया था। जयलाल जी ही वे व्यक्ति थे जो स्वयं अपनी कन्या को मंच पर लाये थे जो विलक्षण नर्तकी थी। उसके बाद ही संभ्रांत घर की लड़कियां कत्थक की ओर आकर्षित हुईं। इसी घराने के शोभासर गांव के कत्थकों की परंपरा जयपुर की तीसरी शाखा है जिसमें राधेलाल, रमनलाल, मुकुन्दलाल आदि कत्थक हुए हैं।

चूरु नगर के जानकीप्रसाद बनारस चले गये थे, उनका जानकी प्रसाद घराना बाद में बनारस घराना कहलाया जिसमें मोतीराम, बिहारीलाल और हनुमानप्रसाद आदि प्रसिद्ध कत्थक हुए हैं।

लखनऊ घराने के कालका-बिन्दादीन के पूर्वज जोधपुर के कोलू गांव से गये थे ऐसा उल्लेख भाट स्वरूपदान की बही में मिला है। इस घराने के प्रगासजी और हरजी भुज के महाराव लखपतसिंह की सभा में चले गये थे।

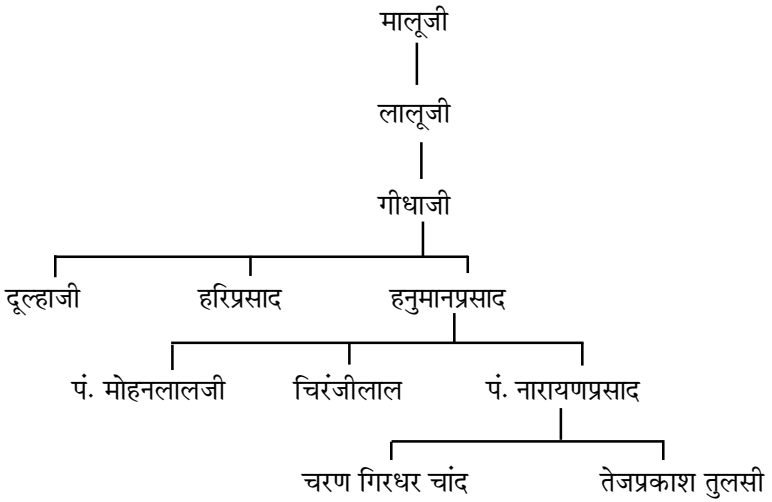
जयपुर की भानुजी और चुन्नीलाल की परंपराएं वस्तुत: सांवलदास के घराने की मानी जाती हैं। बीकानेर के म. अनूपसिंह के समय में उत्कृष्ट कत्थक के रूप में विख्यात सांवलदासजी की नृत्यसाधना पं. भावभट्ट के सान्निध्य में हुई थी। बीकानेर के म. डूंगरसिंहजी की नरूका रानी ने रास नृत्य संबंधी 108 तोड़ों की एक रचना तैयार करायी जो बीकानेर के गोस्वामी कोटि महाराज के पास थी।

इनके अतिरिक्त अजमेर के दुर्गाप्रसाद और उनकी परंपरा दुर्गालाल, देवीलाल, डॉ. पुरु दाधीच, उदयपुर के मथुराप्रसाद, बद्रीप्रसाद, जगन्नाथ प्रसाद, भीलवाड़ा के लक्ष्मणप्रसाद वैष्णव, जोधपुर के प्रकाश और अलवर के मिरचू प्रसिद्ध कत्थक हुए हैं। मथुराप्रसाद जी तो कत्थक सम्राट् कहे जाते थे।

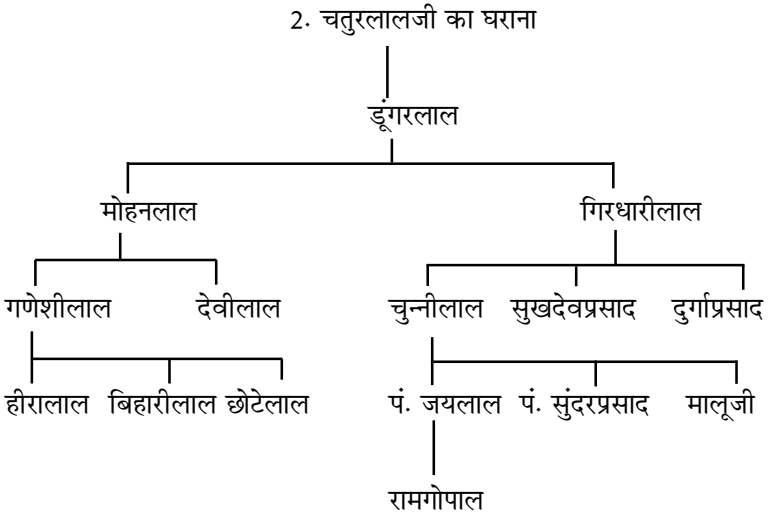
कत्थकों के नाम से उनके घराने चलते रहे जिसमें काफी अव्यवस्था हुई। उसे दूर करने के लिए जयपुर में 1865 ई. में एक सभा आयोजित कर बिंदादीन जी को बुलाया

था, इसमें जयपुर और लखनऊ का स्पष्ट विभाजन हुआ। कत्थकों ने एक दूसरे को गुरु महाराज, नायक और पंडित की उपाधियां दी थीं। 101 शिष्य तैयार करने वाले को महाराज, नई शोध करने वाले को नायक और नई रचना करने वालों को पंडित की उपाधि दी गयी थी। बिंदादीनजी का समर्थन करने वाले कलाकारों को पं. गौरीशंकर जी ने अपने एक लेख में इस प्रकार दर्शाया है–

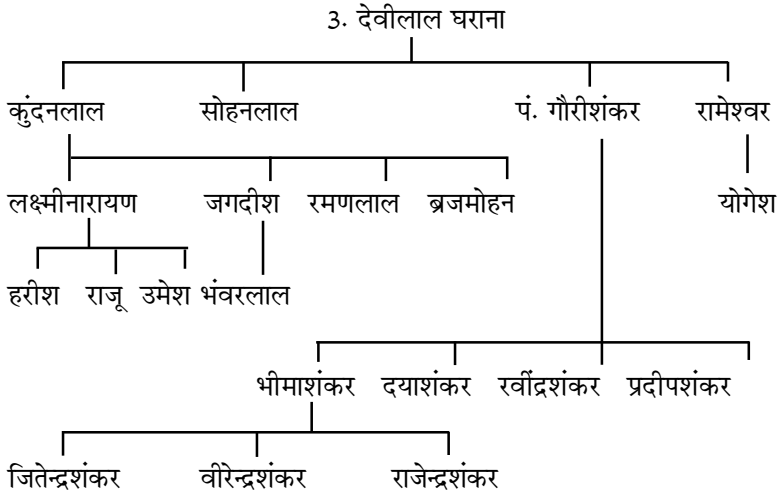
1. भानुजी का घराना



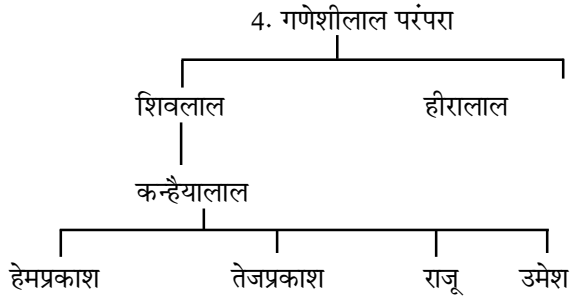
2. चतुरलालजी का घराना



3. देवीलाल घराना



4. गणेशीलाल परंपरा



पं. बिंदादीन जी की इस नई व्यवस्था का विरोध जानकीप्रसाद, सुखदेवप्रसाद तथा हनुमानप्रसाद बंडवा वालों ने तथा बलदेवप्रसाद और पं. शंकरलाल ने किया था। अस्तु। इस विरोध और समर्थन के द्वन्द्व में परम्परा के प्रति आदर और परस्पर सम्मान को किंचित् भी ठेस नहीं पहुंची यह सबसे बड़ी बात है।

रायगढ़ महाराजा चक्रधरसिंह की सभा में पं. जयलाल और पं. अच्छन महाराज के बीच प्रतिस्पर्धा में लखनऊ और जयपुर की सीमारेखा तय हुई–विकट लयकारी और वैचित्र्यपूर्ण प्रदर्शन जयपुर की विशेषता हुई। नृत्य के लास्य स्वरूप का नजाकत भरा विलास लखनऊ की विशेषता हुई हालांकि जयपुर के पं. गौरीशंकर जी ने 1944 ई. में नृत्य-नाटिकाओं के बम्बई में प्रयोग कर वैचित्र्य के साथ जयपुर शैली में अभिनय अंग जोड़ दिया था।

अवदान

राजस्थान ने देश को जैसे श्रेष्ठ कलाकार और रचनाकार दिये हैं, वैसे कुछ संगीत शैलियां या घरानों का उद्‌गम स्थान होने का भी इस प्रदेश को गौरव प्राप्त है। हिन्दुस्तानी

संगीत के जयपुर, पतियाला और मेवाती घरानों का विकास यहीं से है। टौंक नवाब इब्राहीम खां के आश्रय में रहे अलीबख्श और फतह अली ने जयपुर में रहकर पं. बहराम खां से तालीम ली और वह पूरी होने के पश्चात् वे जाकर पतियाला बसे।

उनके द्वारा आविष्कृत गायकी अलिया-फत्तू घराना कहलाया जो बाद में पतियाला/पंजाब घराने के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अंतरौली के अधिसंख्य कलाकार आगरा-दिल्ली-मेरठ छोड़कर जयपुर आ बसे थे सवाई जयसिंह के समय से। धीरे-धीरे इनकी शैली जयपुर घराना कहलायी। उणियारा ठाकुर भीमसिंह के गायक ख्वाजा बगस के पुत्र अल्लादिया हुए। इन्होंने अपने पिता के अलावा चिम्मन खां-जहांगीर खां से भी तालीम ली जो उनके चाचा थे। ये दोनों भाई जोधपुर में नियुक्त थे। जयपुर घराने की तालीम देकर महाराष्ट्र में इस गायकी को पेश करने वाले कलाकारों और सुधी श्रोताओं का एक बड़ा वर्ग तैयार करने का श्रेय अल्लादिया खां को है। गायकी की तीसरी मेवाती शैली जोधपुर से ही उठी है। जसवन्तसिंह द्वितीय की सेवा में घघ्घे नजीर खां (मृत्यु 1910 ई. आगरा) बड़े नामी गायक मेवात से जोधपुर आकर रहे। उन्होंने नाथूलाल नामक एकमात्र शिष्य को तैयार किया। उन्होंने मोतीराम- ज्योतिराम को तालीम दी। इन दोनों की मणिराम, जसराज, प्रताप और पूरणचंद्र ये 4 संतानें हुईं। ये चारों ही गाने वाले थे, पर मेवाती गायकी को नये अन्दाज में पेश कर पं. जसराज ने अपना और घराने का नाम अमर कर दिया।

कत्थक की लखनऊ-बनारस शैलियां किस तरह राजस्थान की ऋणी हैं इसकी चर्चा हम पहले कर आये हैं। इनके अतिरिक्त राजस्थान के पखावज-वादन के दो घराने प्रसिद्ध रहे हैं—हालूका घराना और जावली घराना। हालूका जयपुर से संबद्ध है और जावली मारवाड़ जंक्शन के पास एक गांव है। हालूका मतलब कुम्भकार। म. अभयसिंह के समय में हालूका रूपराम को जोधपुर बुलाया गया। अपनी उत्तरावस्था में हुए पुत्र वल्लभदास को जोधपुर के पहाडसिंह, जवारसिंह नामक पखावज-वादकों के संरक्षण में रखकर रूपरामजी नाथद्वारा चले गये। जावली के पखावज वादक पं. भवानीराम औरंगजेब की सेवा में थे, उन्हीं की परंपरा में पहाडसिंह थे। वल्लभदास की जोधपुर में शिक्षा होने पर वे भी नाथद्वारा चले गये। इन्हीं की परंपरा में पद्मश्री पुरुषोत्तमदास पखावजी हुए हैं। इस प्रकार पखावज-वादन के दो घरानों का राजस्थान से ऋणानुबंध रहा है।

स्वातंत्र्य-पूर्व सम्मेलन

पं. विष्णु नारायण भातखण्डे के सत्प्रयासों से अखिल भारतीय संगीत सम्मेलनों का आयोजन 1916 ई. से शुरू हुआ बड़ौदा में। तत्पश्चात् 1918 ई. (दिल्ली), 1919 ई. (बनारस), 1925 ई. (लखनऊ), 1936 ई. (अजमेर) और 1946 ई. (जोधपुर) में सम्मेलन आयोजित हुए। इनमें उदयपुर के जाकिरुद्दीन-अलाबन्दे, जयपुर के कल्लन खां, सितारिये निहालसेन, झालावाड़ के सादिक खां, धौलपुर के मनमोहन, अलवर के

बीनकार सादिक अली, नसीरुद्दीन, जियाउद्दीन, उस्ताद विलास खां, रणधीर-हंसधीर खां, जयपुर के करामत खां, फिदा हुसैन, नाजू खां आदि नामी कलाकारों ने शिरकत की। दिल्ली के सम्मेलन में जाकिरुद्दीन की प्रस्तुति पर अंग्रेजी अखबारों की रिपोर्टिंग का कुछ अंश इस तरह का था—

Zakiruddin of Udaipur and his brother, Alla Bande Khan of Alwar commenced together their slow and majestic Alap on Raga Kedar. They sang alternately and their performance kept the audience spell-bound for over an hour. Zakiruddin's art was distinct proof that an artist was born, not made and that the human voice was indeed a divine gift which few singers prossessed. Then they sang two lknjk in fg.Mksy and ekydksl with a rich exhibition of their striking xed·.

The /kzqin style of music is becoming a rare acquisition, may God bless these living exponents of the art with long life, for there is no doubt that when those renowned artists pass away, they will leave a void in Indian art, which it will be impossible to fill.

चौथे अ.भा. सम्मेलन में नवाबसेन, नसीरुद्दीन, रियाजुद्दीन, करामत खां और जियाउद्दीन को एक-एक स्वर्ण-पदक तथा अल्ला बन्दे को तीन स्वर्ण-पदकों से विभूषित किया गया था। अजमेर सम्मेलन में वीणावादक फिदा हुसैन और पं. पुरुषोत्तमदास पखावजी की मुक्तकंठ से प्रशंसा हुई। पांचवें सम्मेलन का जोधपुर में अली अकबर खां साहब ने ही संयोजन किया था। इसमें राजस्थान के मुश्ताक हुसैन, अली अकबर, अली अहमद और गुलाम साबीर ने सफल शिरकत की थी।

स्वातंत्र्योत्तर कलाविष्कारक

भारत में स्वातंत्र्य-सूर्य की किरणों के साथ कलाओं की रियासती व्यवस्था समाप्त हुई। जयपुर के कुछ कलाकार संगीत संस्थान से जुड़ गये, कुछ काबराजी के संगीत कला केन्द्र, जोधपुर से। संगीत नाटक अकादमी और बाद में जवाहर कला केन्द्र बना। संगीत की अकादमिक शिक्षा के कई केन्द्र खुले, गुरु-शिष्य परंपरा को संरक्षण नही मिल सका, परिवार विशेष की परंपराएं बनीं। जयपुर में मनमोहनजी भट्ट, उनके पुत्र विश्वमोहन, शशिमोहन, चंद्रमोहन और मंजु भट्ट मेहता, पौत्र कृष्णमोहन, सलील भट्ट एक ओर, तो दूसरी ओर लक्ष्मण भट्ट, मधु भट्ट आदि ने साधना कर नाम कमाया। जोधपुर के दामोदरलाल काबरा, ब्रजभूषण और बसन्त काबरा, पं. बी.एन. क्षीरसागर और उनके पौत्र दीपक क्षीरसागर, बीकानेर के जसकरण गोस्वामी और उनके पुत्र असित-अमित गोस्वामी, भीलवाड़ा के पं. नंदलाल शर्मा और उनके पुत्र प्रेमनारायण-सत्यनारायण, कुन्दनलाल गांगानी-सोहनलाल, उदयपुर के कथक सम्राट् मथुराप्रसाद- बद्रीप्रसाद-जगन्नाथप्रसाद, जयपुर अमीर बख्श, जोधपुर के रामलाल माथुर व उनके पुत्र सुधीर माथुर आदि कुछ नाम और भी गिनाये जा सकते हैं जिन्हें प्रदेश/देश में लोग पसन्द करते हैं।

फिर भी इस बात को स्वीकारना होगा कि घरानेदार तालीम के बिना परफोर्मिंग आर्टिस्ट नहीं बन सकता। रही बात शोध की, तो जोधपुर–उदयपुर की रियासतों पर काम हो चुका है, शेष रियासतों पर काम करने/कराने का जिम्मा आप उठा लें, तो राजस्थान के संगीत का समग्र चित्र रेखांकित किया जा सकेगा।

सन्दर्भ

1. *जोधपुर रियासत के दरबारी संगीतज्ञ, डॉ. डी.बी. क्षीरसागर, 1990*
2. *राजस्थान : संगीत व संगीतकार, प्रतापसिंह चौधरी, 1995*
3. *रंगयोग : सृजनशताब्दी विशेषांक, 1997*
4. *राजस्थान के दरबारी संगीतज्ञ, कौमुदी बर्डे, 2003*
5. *खुसरो, तानसेन तथा अन्य कलाकार, सुलोचना यजुर्वेदी व आचार्य बृहस्पति*
6. *Indian History Congress 38th Session, 1977*
7. *राजस्थान के अभिलेख, गोविंदलाल श्रीमाली, 2000*
8. *Epigraphia Indica, Vol. 11, 1981 (Reprint)*
9. *राजस्थान के अभिलेख, सुखीरसिंह गहलोत, सोहनकृष्ण पुरोहित एवं नीलकमल शर्मा, 1988*
10. *राजस्थान की संगीत परम्परा, डॉ. मंजुश्री क्षीरसागर, 2004*

प्रोफेसर आर. पी. व्यास स्मृति व्याख्यान

महाराणा प्रताप एवं हल्दीघाटी का युद्ध : एक पुनर्सन्धान

प्रोफेसर कृष्णगोपाल शर्मा

राजस्थान हिस्ट्री कांग्रेस के 32वें सत्र में प्रोफेसर आर.पी. व्यास स्मृति व्याख्यान प्रस्तुत करते हुए मुझे हर्ष एवं गौरव की अनुभूति हो रही है। मैं राजस्थान हिस्ट्री कांग्रेस के पदाधिकारियों के प्रति आभार व्यक्त करता हूं कि यह महत्वपूर्ण अवसर उन्होंने मुझे प्रदान किया। सर्वप्रथम मैं श्रद्धेय प्रोफेसर आर.पी. व्यास की पुण्य स्मृति को प्रणाम करता हूं। प्रोफेसर आर.पी व्यास एक समर्पित शिक्षक एवं सृजनशील इतिहासविद् थे। उन्होंने अपनी कृतियों से न केवल इतिहास को वैचारिक अवदान दिया, बल्कि राजस्थान हिस्ट्री कांग्रेस के पुरोधा पुरुष के रूप में उसे एक संगठनात्मक शक्ति–पुंज भी प्रदान किया। वे एक श्रेष्ठ मानव थे, सहृदय एवं मूल्यनिष्ठ। उनका व्यक्तित्व एवं कृतित्व हम सभी के लिए प्रेरणा का स्रोत है।

इतिहास का अभिज्ञान स्वत: सिद्ध एवं अंतिम नहीं होता है। इतिहास के अनेक विषय–उपविषय हैं जिनके पुनरीक्षण की आवश्यकता एकाधिक नहीं, अनेक बार महसूस की जाती है, विशेषकर सामयिक जिज्ञासाओं के सन्दर्भ में। ऐसे ही एक विषय पर आज मैं अपना पत्र प्रस्तुत कर रहा हूं – 'महाराणा प्रताप एवं हल्दीघाटी का युद्ध : एक पुनर्सन्धान।' पिछले कुछ अरसे से महाराणा प्रताप के व्यक्तित्व एवं हल्दीघाटी के युद्ध के परिणाम के सम्बन्ध में पुनर्विचार किए जाने की बात की जा रही है। यह प्रश्न किसी भी स्तर से उठा हो, इसकी वजह कुछ भी रही हो, लेकिन इतिहास की स्थापित मान्यताओं को चुनौती देना और उसके प्रत्युत्तर में इतिहासकारों द्वारा सम्बन्धित विषय पर उपलब्ध प्राथमिक एवं आनुषंगिक साक्ष्यों का पुन: परीक्षण, स्वस्थ इतिहास लेखन की प्रक्रिया का हिस्सा है। पुनर्सन्धान के क्रम में, इतिहास कई बार संशोधित या परिमार्जित भी हो जाता है, या यह भी हो सकता है कि पूर्वविदित इतिहास अधिक प्रखरता से पुन: स्थापित हो जाए। दोनों ही स्थितियों में विजय इतिहास की होती है ।

मध्यकालीन भारतीय इतिहास लेखन की अपूर्णता की ओर अनेक इतिहासकारों ने ध्यान आकृष्ट किया है, इस अर्थ में कि इस काल का इतिहास प्रधानत: फारसी

तवारीखों के आधार पर लिखा गया जो निष्पक्ष एवं दोषमुक्त नहीं हैं। इस काल के इतिहास लेखन में देशज साहित्य एवं स्रोतों का प्रयोग बहुत कम किया गया है। मध्यकालीन भारतीय इतिहास के अनेक पक्षों का पुनर्लेखन अपेक्षित है, उपलब्ध बहुविध साक्ष्यों की परिपुष्टि के आधार पर।

18 जून 1576 ईस्वी के दिन हल्दीघाटी का युद्ध लड़ा गया। यह युद्ध हल्दीघाटी दर्रे के उत्तर-पूर्व में तथा बनास नदी के दक्षिण में स्थित खमनोर गाँव के पश्चिमी मैदान में हुआ था जो बाद में 'रक्त-ताल' या 'खून की तलाई' के नाम से मशहूर हो गया। राणा प्रताप एवं अकबर के मध्य हुए युद्ध को अधिकांश समकालीन एवं अनुवर्ती साक्ष्यों में 'खमनोर युद्ध' के नाम से अभिहित किया गया है एवं खमनोर गाँव को हल्दीघाटी के मुहाने के पार स्थित बताया गया है। हल्दीघाटी उस सँकड़े पहाड़ी दर्रे का नाम है जो कुंभलगढ़ की पहाड़ियों में दक्षिण में बलीचा गाँव से उत्तर-पूर्व दिशा में लगभग दो किलोमीटर के तंग रस्ते से खमनोर गाँव के दक्षिण में उतरता है। अब तो इस मार्ग को विस्तृत करके उस पर पक्की सड़क बना दी गयी है, लेकिन उस समय यह रास्ता इतना सँकडा था कि उस मार्ग से एक घोड़ा बड़ी असुविधा से ले जाया सकता था और दो सैनिक साथ-साथ नहीं चल सकते थे। खमनोर गाँव हल्दीघाटी दर्रे के उत्तर-पूर्व में, वहाँ से 4.2 किलोमीटर की दूरी पर अवस्थित है तथा रक्त-तलाई, खमनोर गाँव के पश्चिम में, हल्दीघाटी से 3.6 किलोमीटर की दूरी पर है। बनास नदी खमनोर गाँव के उत्तर एवं पश्चिम में वहाँ से लगभग 1 किलोमीटर की दूरी पर है।

खमनोर (हल्दीघाटी) युद्ध का विवरण तीन समकालीन फारसी ग्रन्थों में मिलता है। प्रथमत: अब्दुल कादिर बदायूँनी कृत 'मुन्तख़ब-उत-तवारीख' में जो कि एक ऐसे प्रत्यक्षदर्शी लेखक का आंखों देखा विवरण है जिसने अकबर की सेना में स्वयं एक सैनिक के रूप में युद्ध में भाग लिया।[1] दूसरा समकालीन लेखक है अबुल फजल जिसने अपनी कृति 'अकबरनामा' में युद्ध का वर्णन किया है।[2] अबुल फजल युद्ध के दौरान स्वयं उपस्थित नहीं था; उसने अपना विवरण युद्ध क्षेत्र से मुगल सेनानायक द्वारा दरबार में भेजे गए प्रतिवेदन के आधार पर लिखा है। तीसरा समकालीन विवरण निजामुद्दीन अहमद की पुस्तक 'तबकात-ए- अकबरी' में मिलता है।[3] निजामुद्दीन अहमद मुगल प्रशासन में मीर बक्शी के पद पर कार्यरत था; उसके द्वारा दिया गया युद्ध का वर्णन भी मुगल दरबार में प्राप्त सूचनाओं पर आधारित है।

महाराणा प्रताप के समकालीन स्थानीय स्रोतों में कवि दुरसा आढ़ा कृत राजस्थानी काव्य 'बिरद छिहत्तरी' की गणना की जा सकती है । दुरसा आढ़ा, महाराणा प्रताप के स्वाभिमान एवं स्वातंत्र्य-प्रेम से अत्यधिक प्रभावित थे । महाराणा प्रताप की प्रशस्ति में उन्होंने 'बिरद छिहत्तरी' काव्य की रचना की। महाराणा प्रताप भी दुरसा आढ़ा के प्रशंसक थे। लेकिन महाराणा प्रताप एवं दुरसा आढ़ा की प्रत्यक्ष भेंट नहीं हो पायी।[4] 'बिरद

छिहत्तरी' के सोरठा संख्या 30 से 33 के मध्य हल्दीघाटी के युद्ध का वर्णन किया गया है।[5] 'खमनोर युद्ध' को 'हल्दीघाटी युद्ध' की संज्ञा कर्नल जेम्स टॉड ने दी तथा तदनुसार उसका वर्णन 'एनल्स एंड एंटीक्विटीज़ ऑफ राजस्थान' में प्रस्तुत किया। जेम्स टॉड अपने कथन को किसी उपमा से अलंकृत करना चाहते थे। यूनान की पहाड़ी घाटी थर्मोपल्ली के युद्ध से इस युद्ध की तुलना करने के उत्साह में उन्होंने 'खमनोर युद्ध' को 'हल्दीघाटी युद्ध' के नाम से अभिहित किया। बाद में आधुनिक इतिहासकार इसी नाम का प्रयोग करने लगे ।

डॉ. गोपीनाथ शर्मा के अनुसार, युद्ध दो स्थलों पर, दो चरणों में घटित हुआ। प्रथम स्थल था हल्दीघाटी के उत्तरी मुहाने पर, खमनोर गाँव के दक्षिण में स्थित भूमि का वह हिस्सा जो परवर्ती काल में 'बादशाह बाग' के रूप में जाना जाने लगा। वे लिखते हैं कि ''मुगल सेना चार हजार आदमियों के साथ बादशाह बाग के स्थल तक आ पहुंची थी।''[6] इसी स्थल पर आरंभ में दोनों दल एक दूसरे से भिड़ गए और घमासान युद्ध हुआ। युद्ध के इस चरण में राजपूतों की विजय हुई। ''राणा प्रताप के केंद्रीय दल और अग्रगामी दल के आक्रामक तेवर से मुगलों के वाम पार्श्व और हरावल की फौजें, जिसमें गाज़ीखाँ, आसफखाँ और मानसिंह के राजपूत थे, भाग खड़ी हुईं। कुछ एक तो ऐसे भागे कि वे नदी तट से 10-12 मील आगे चले गए।''[7] मुगलों की हार लगभग निश्चित हो गयी थी। इसी समय मिहतर खाँ जो चंदावल में था, आगे की ओर बढ़ा और चिल्लाया कि बादशाह सलामत स्वयं आ पहुंचे हैं। इस घोषणा से भागते हुए मुगल सैनिकों में जोश आ गया और वे लौट पड़े। ''पुन: मुगल और राजपूतों का युद्ध आरंभ हुआ । इस बार भिड़ते-भिड़ते वे 'रक्त-ताल' नामक स्थल पर जमा हो गए।''[8] 'रक्त-ताल' बनास नदी के दक्षिण-पूर्व में तथा खमनोर गाँव के उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र में स्थित मैदानी भाग है। युद्ध का द्वितीय एवं अंतिम चरण यहीं पर सम्पन्न हुआ जिसके अंत में प्रताप एवं उसकी सेनाएँ हल्दीघाटी के क्षेत्र में वापिस चली गईं। उल्लेखनीय है कि युद्ध के दोनों कथित स्थल - 'बादशाह बाग' एवं 'रक्त-ताल' एक दूसरे से 2.4 किलोमीटर की दूरी पर स्थित हैं ।

डॉ. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव ने बादशाह बाग में युद्ध होने की संभावना से असहमति व्यक्त की है।[9] वे लिखते हैं कि ''बादशाह-बाग दोनों सेनाओं की संख्या की दृष्टि से बहुत छोटा युद्धस्थल है। दोनों सेनाओं में कम से कम आठ हजार पैदल सैनिक तथा उतनी ही संख्या में अश्वारोहियों तथा हाथियों की संख्या मिलाकर रही होगी। इस सीमित क्षेत्र में सेना का वैसा नियोजन एवं संचरण संभव नहीं है जिसका वर्णन बदायूँनी ने किया है। युद्ध के प्रत्यक्षद्रष्टा बदायूँनी ने स्पष्ट लिखा है कि शाही सेना का बायाँ पार्श्व, दर्रे के मुहाने (दर दहना-ए-घाटी) पर तैनात था जो खमनोर से दो से तीन मील दक्षिण-पूर्व में है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि मुगल सेना का केन्द्रीय भाग एवं दायाँ

पार्श्व पूर्व में दर्रे के प्रवेश मुख से लेकर पश्चिम में बनास नदी तक विस्तीर्ण था।''[10] युद्ध-स्थल के सम्बन्ध में डॉ. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव अपना निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं कि ''बदायूँनी के विवरण से स्पष्ट होता है कि युद्ध हल्दीघाटी दर्रे के मुहाने के बाहर हुआ एवं दर्रे तथा खमनोर गाँव के मध्य स्थित मैदानी भाग में हुआ।''[11]

अबुल फजल ने लिखा है कि ''दोनों सेनाएँ खमनोर गाँव में मिली जो कि हल्दी दर्रे का मुहाना है एवं गोगुंदा के अधीनस्थ है।''[12] बदायूँनी ने इसे 'कोकन्दा (गोगुन्दा) की विजय' के रूप में उल्लिखित किया है।[13] युद्ध का वर्णन करते हुए वह लिखता है कि ''जब मानसिंह एवं आसफ खान अपनी सेनाओं के साथ दर्रा के कस्बे में आए जो कि कोकन्दा से सात कोस की दूरी पर था, उस समय राणा उनका विरोध करने सामने आया।''[14] बदायूँनी ने इस प्रसंग में न दर्रे के नाम का उल्लेख किया है, न कस्बे के नाम का । वह आगे लिखता है कि ''राणा कीका (प्रताप) दर्रे के पीछे से 3000 घोड़ों की सेना के साथ आगे आया और उसने अपने आदमियों को दो टुकड़ियों में बाँट दिया। एक टुकड़ी जिसका नेता हाकिम सूर अफगान था, सीधे पहाड़ों की दिशा से आई और उसने हमारी अग्रिम पंक्ति पर आक्रमण कर दिया।''[15] निजामुद्दीन अहमद 'तबकात-ए-अकबरी' में लिखते हैं कि ''जब कुँअर मानसिंह कोकन्दा (गोगुन्दा) के पास आया, राणा कीका ने हिंदुस्तान के सभी राजाओं को अपनी सहायता के लिए बुलाया एवं अपने शत्रुओं का विरोध करने के लिए वह एक मजबूत सेना के साथ हल्दी घाटी से बाहर आया। कुँअर मानसिंह ने, अपने अमीरों की सहमति के साथ, अपनी सेना को व्यूहबद्ध किया तथा युद्धक्षेत्र की ओर प्रस्थान किया।''[16]

युद्ध के घटनाक्रम का जो विवरण बदायूँनी एंव अबुल फजल ने प्रस्तुत किया है, उसके आधार पर कहा जा सकता है कि उन्होंने यह दो टूक शब्दों में स्वीकार किया है कि युद्ध की अंतिम स्थिति से पूर्व राजपूतों की सेना मुगलों पर बहुत भारी पड़ी और मुगल सैनिक मैदान छोड़ कर भागते रहे। बदायूंनी लिखते हैं कि ''राणा प्रताप की सेना की एक टुकड़ी ने, जिसका नेतृत्व हाकिम खान सूर कर रहे थे, मुगलों की अग्रिम पंक्ति पर आक्रमण कर दिया। भूमि की भग्न एवं विषम स्थिति, कांटों की संख्या, एवं रास्ते के सर्पीले घुमावों के कारण, मुगलों की अग्रिम पंक्ति और उनके अग्रनायक उलझ गए और पूरी तरह पराजित हुए। हमारी सेना के राजपूत, जिनका नेतृत्व राजा लूणकरण कर रहे थे, और जिनमें से अधिकांश वाम भाग में थे, भेड़ के झुण्डों की तरह भाग निकले और हमारी अग्रिम पंक्ति के बीच में से निकलकर दांये पार्श्व की ओर सुरक्षा के लिए भागे।''[17] ''इस अवसर पर लेखक (बदायूंनी) ने, जो अग्रिम पंक्ति की विशिष्ट सैनिक टुकड़ियों के साथ था, आसफ खां से पूछा कि 'हम इन परिस्थितियों में मित्र एवं शत्रु राजपूतों में कैसे भेद करें?' आसफखां ने उत्तर दिया-'जो भी हो, वे हमारे तीरों की

सनसनाहट का सामना करेंगे। उनमें से किसी भी पक्ष का व्यक्ति मरे, इस्लाम के लिए तो फायदा ही होगा।' अत: हम लोग गोलाबारी करते रहे, और सामने विद्यमान सैनिकों के पहाड़ जैसे समूह में, हमारा निशाना कभी खाली नहीं गया।''[18]

बदायूंनी आगे लिखते हैं कि ''मुगलों की ओर से सैयद अभी भी मैदान में डटे हुए थे और वीरता के करतब दिखा रहे थे। उसी समय राणा कीका (प्रताप) की दूसरी सैनिक टुकड़ी, जिसका नेतृत्व स्वयं राणा कर रहे थे, दर्रे से बाहर निकल कर आयी। दर्रे के मुहाने पर उसकी मुठभेड़ काजी खान (जो सीकरी के शेखों के बेटों के दल के साथ मुगल सेना के वाम पार्श्व में था) से हुई, और काजी खान के सामने ही राणा की सेना ने काजी खान के सैनिकों का सफाया कर दिया और आगे बढ़ते हुए वे उसके केन्द्र को भेदने में सफल रहे। ऐसे में सीकरी के सभी शेखपुत्र एक साथ भागे। भागते हुए शेख मंसूर (शेख इब्राहीम का दामाद), जो इस दल का नेता था, तीर से घायल हो गया, और उसे इस घाव को लम्बे समय तक झेलना पड़ा। काजी खान मैदान में डटा रहा लेकिन कुछ समय बाद उसके दांये हाथ में चोट लगी जिसकी वजह से उसका अंगूठा जख्मी हो गया। ऐसे में वह अधिक समय तक अकेला मैदान में नहीं रुक पाया और यह कहते हुए कि 'सामने भारी विपत्ति को देखकर भाग जाना मसीहा की शैलियों में से एक है', वह भी भागते हुए सैनिकों के साथ शामिल हो गया। जो मुगल सैनिक राणा के प्रथम आक्रमण के दौरान भाग गए थे, उन्होंने उस समय तक अपने घोड़ों की लगाम नहीं खींची जब तक कि वे नदी के पार, पांच या छ: कोस दूर तक नहीं चले गए।''[19]

अबुल फजल ने भी लिखा है कि ''राणा की सेना के दाहिने पार्श्व ने शाही सेना के वाम पार्श्व को भगा दिया और राणा की सेना का अग्र भाग भी मुगलों पर हावी हो गया। ऐसे में शाही सैनिकों के हौंसले पस्त हो गए। शत्रुओं (राणा) का वाम पार्श्व भी शाही सेना के दाहिने पार्श्व पर भारी पड़ गया। ....दोनों ओर के लड़ाकों ने अपनी जान गंवायी एवं अपने सम्मान की रक्षा की।''[20]

अबुल फजल आगे लिखता है कि ''जैसे युद्ध में सैनिकों ने कमाल दिखाया, वैसे ही हाथियों ने भी चामत्कारिक प्रदर्शन किया।''[21] गजयुद्ध का वर्णन करते हुए उसने दोनों पक्षों के हाथियों-लोना, गजमुक्त, राम प्रसाद, गजराज और राम मदार-द्वारा किए गए शौर्य-प्रदर्शन एवं विध्वंस का उल्लेख किया है। वह लिखता है कि ''शाही सेना का हाथी घायल हो गया था और भागने ही वाला था, तब तकदीर के खेल से शत्रु पक्ष के हाथी का महावत गोली से ज़ख्मी हो गया, और शाही हाथी वापिस लौट आया। उसी समय, राणा प्रताप का सुप्रसिद्ध हाथी राम प्रसाद सामने आया और उसने शत्रु पक्ष के अनेक बहादुर योद्धाओं को उठाकर फेंक दिया। मुगलों की तकदीर जोर पर थी, अत: राम प्रसाद का महावत तीर से घायल हो गया और शाही सेना ने राम प्रसाद को पकड़

लिया।''[22]

इसके बाद का विवरण देते हुए अबुल फजल लिखते हैं कि ''दोनों पक्षों के योद्धा संघर्षरत थे एवं हताहत हो रहे थे; युद्ध क्षेत्र में रक्त बह रहा था। इसी दौरान कुंअर मानसिंह और राणा एक दूसरे की ओर बढ़े और उन्होंने बहादुरी के अनेक कार्य किए। ऊपर से देखने पर शत्रु (राणा प्रताप) का पलड़ा भारी था लेकिन उसी समय यकबयक दैविक सहायता की कृपा से मुगलों की विजय का रास्ता दिखाई देने लगा। इसका एक बाह्य कारण यह था कि युद्ध में अफरा-तफरी के दौरान मुगलों की सेना का अग्रिम भाग पुन: सशस्त्र होकर मैदान में आ गया। उसी समय यह समाचार भी फैल गया कि विश्व के राजा (बादशाह) हवा की द्रुत गति से आ गए हैं और युद्ध क्षेत्र पर उनका प्रभाव दृश्यमान है। मुगल योद्धाओं की ओर से इस प्रकार का उद्घोष होने लगा और शत्रु (राणा) जो कि अधिक से अधिक प्रभावशाली होता जा रहा था, हिम्मत हार गया। दैविक कृपा का ऐसा योग हुआ कि विजय की हवा बहने लगी। शत्रुओं के लिए विनाश की घड़ी आ गयी। युद्ध क्षेत्र में 150 गाज़ी मारे गए, तथा शत्रुओं के 500 प्रमुख व्यक्ति धूल-धूसरित हो गए। लगभग दोपहर तक युद्ध चला। राणा भागकर पहाड़ी क्षेत्र के दर्रे में चले गए। अत्यधिक गर्मी एवं युद्ध की थकान के कारण शाही सेना ने शत्रुओं का पीछा नहीं किया। उधर मानसिंह दूसरे दिन गोगुन्दा चले गए और शाही सेना ने वहाँ विश्राम किया। वहां से मुगल दरबार में युद्ध का प्रतिवेदन प्रेषित किया गया जिसमें युद्ध के नायकों की सेवाओं एवं शत्रुओं के पराक्रम का उल्लेख किया गया। साथ ही मुगल दरबार में युद्ध के उपरांत लूट में प्राप्त सामग्री तथा राणा के हाथी राम प्रसाद को, अबुल कादिर बदायूंनी के साथ भेज दिया गया।''[23]

बदायूंनी ने भी युद्ध के अपने पूर्व विवरण को आगे बढ़ाते हुए लिखा है कि ''राणा के आक्रमण के पश्चात् नदी की ओर भागते हुए मुगल सैनिकों को देखते हुए, मुगल सेना के पृष्ठ भाग से मिहतर खान मुगलों की सुरक्षित सेना के साथ आगे आया, और रणभेरी बजाकर शाही सेना को पुन: एकत्र होने के लिए चिल्ला-चिल्लाकर बुलाने लगा। इससे भागते हुए मुगल सैनिकों में कुछ हिम्मत बंधी और वे लौटने लगे। ग्वालियर के राजा रामशाह ने, जो स्वयं को राणा की अग्रिम पंक्ति में रखते थे, मानसिंह के राजपूतों के विरुद्ध पराक्रम का ऐसा अद्भुत कौशल प्रदर्शित किया जो वर्णन से परे है। मानसिंह की सेना के राजपूत जो कि अग्रिम पंक्ति के वाम भाग में थे, मैदान छोड़कर भागे, और उनकी वजह से आसिफ खान भी भागा और भाग कर उन्होंने सैयदों के पास शरण ली जो सेना के दाहिने भाग में थे। यदि सैयद मैदान पर मजबूती से खड़े नहीं रहते तो मुगलों की भागती हुई अग्रिम सेना ने ऐसा कोहराम मचा दिया था कि उसकी परिणति मुगलों की शर्मनाक हार में निश्चित थी।''[24]

इसके बाद बदायूंनी शाही सेना एवं राणा की सेना के हाथियों के मध्य हुए युद्ध का वर्णन करता है। इसी क्रम में वह लिखता है कि ''बादशाह के एक निजी हाथी तथा राणा के अत्यधिक मजबूत कद-काठी के हाथी राम प्रसाद के मध्य जोरदार संघर्ष का दौर चला; तभी राणा के हाथी राम प्रसाद के महावत को एक घातक तीर लगा और उसके आघात से वह जमीन पर गिर गया। बादशाह के हाथी का महावत यह देखकर अत्यधिक द्रुत गति एवं कुशलता से अपने हाथी से कूद गया तथा राणा के हाथी के ऊपर सवार हो गया और उसने इस तरह के करतब किए जो कोई दूसरा नहीं कर सकता था। इन परिस्थितियों को देखते हुए, राणा अधिक समय तक मैदान पर नहीं रुक पाये एवं वहां से भागे। राणा की सेना के लिए ऊहापोह की स्थिति उत्पन्न हो गई। इसके बाद मानसिंह की अंगरक्षक सेना के युवा योद्धाओं ने इस तरह का प्रदर्शन किया जो कि अपने आप में प्रतिमानक था। उसके बाद चित्तौड़ के जयमल का पुत्र, एवं ग्वालियर के रामशाह राजा एवं उनका पुत्र सालबाहन, जिन्होंने मुगलों का भयंकर प्रतिरोध किया था, ध्वस्त हो गए। राणा पर भी तीरों की बौछार हो गई जब वह माधोसिंह के मुकाबिल था। हाकिम सूर, जो सैयदों के सामने भाग गया था, राणा के पास वापिस आ गया और राणा की दोनों सैनिक टुकड़ियां एक हो गईं। उसके बाद राणा विमुख होकर भाग गऐ और उन्होंने ऊँचे पहाड़ों में शरण ले ली। यद्यपि मौसम इतना अधिक गरम था कि मस्तिष्क, कपाल के भीतर तक उबल रहा था, तथापि दोनों ओर के योद्धा सुबह से दोपहर तक लड़ते रहे। लगभग 500 व्यक्ति मारे गए एवं युद्धक्षेत्र में ढह गए, जिनमें से 120 मुस्लिम थे एवं शेष हिन्दू। घायल मुसलमानों की संख्या तीन सौ से अधिक थी।''[25] बदायूंनी आगे लिखते हैं कि ''जब हवा गरम भट्टी की तरह चल रही थी एवं सैनिकों में चलने-फिरने की शक्ति नहीं बची थी, यह विचार उस समय फैल गया कि राणा ने, गुपचुप तरीके से एवं कूटनीति से, स्वयं को पहाड़ों के पीछे छुपा रखा है। यही वह कारण था कि मुगल सेना ने उनका कोई पीछा नहीं किया, बल्कि वे अपने शिविर में लौट गए एवं घायलों के उपचार में लग गए।''[26] निजामुद्दीन अहमद ने भी लिखा है कि राणा कीका ऊँची पहाड़ियों में चला गया था।[27]

बदायूंनी एवं अबुल फजल द्वारा किए गये युद्ध के उपर्युक्त विवरण से अनेक तथ्य बहुत प्रखरता से उभर कर सामने आते हैं। दोनों के विवरण में युद्ध के अनेक ऐसे सत्यों का उल्लेख है जो बादशाह अकबर एवं शाही सेना के लिए कटु एवं अनुल्लेखनीय रहे होंगे। दोनों ही लेखकों ने राणा प्रताप एवं उनके सैनिकों के पराक्रमी एवं लगभग विजयी प्रदर्शन का उल्लेख किया है। मुगल सैनिकों के मैदान छोड़ कर भाग जाने एवं उनकी पराभवपूर्ण मानसिकता का उल्लेख भी उन्होंने अनेक बार किया है। वे यह भी मानते हैं कि युद्ध के अंतिम दृश्य में, पटाक्षेप के समय, दैविक कृपा एवं भाग्य के जोर से मुगलों की स्थिति बदल गई। राणा प्रताप द्वारा युद्धक्षेत्र को छोड़कर जाने एवं ऊपर

पहाड़ियों में छुप जाने की स्थिति में मुगलों ने स्वयं को विजयी मान लिया था।

अबुल फजल ने राणा प्रताप के युद्धक्षेत्र से चले जाने एवं ऊपर पहाड़ी क्षेत्र में छुप जाने के प्रयोजन का खुलासा नहीं किया है, लेकिन वह यह अवश्य स्वीकार करता है कि शाही सेना ने राणा एवं उसके सैनिकों का पीछा नहीं किया। पीछा न करने की मन:स्थिति के लिए वह मौसम की अत्यधिक गर्मी तथा सैनिकों की थकान का उल्लेख करता है।[28]

लेकिन बदायूंनी ने स्पष्ट लिखा है कि मुगलों द्वारा राणा एवं उसके सैनिकों का पीछा न करने का कारण यह था कि यह विचार फैल गया था कि राणा, गुपचुप तरीके से एवं कूटनीति से, पहाड़ों के पीछे छिप गया था।[29] इससे संकेत मिलता है कि राणा प्रताप चाहते थे कि मानसिंह एवं उनके सैनिक उनका पीछा हल्दीघाटी के दर्रे में करें और वहाँ राणा प्रताप तथा उनके सैनिकों के लिए उन्हें घेर कर मार देना संभवत: आसान हो जाता। ऐसा प्रतीत होता है कि मानसिंह यह खतरा नहीं उठाना चाहता था, अतएव उसने राणा प्रताप का पीछा नहीं किया। बदायूंनी ने लिखा है कि बादशाह इस बात से परेशान था कि मानसिंह ने राणा का पीछा क्यों नहीं किया और उसे जीवित क्यों जाने दिया।[30] बादशाह ने मानसिंह एवं आसफ खान को कुछ समय के लिए उनके द्वारा की कई गलतियों के कारण दरबार से बहिष्कृत भी रखा।[31]

महाराणा प्रताप के समकालीन कवि दुरसा आढ़ा ने 'बिरद छिहत्तरी' में हल्दीघाटी युद्ध का वर्णन अपनी साहित्यिक शैली में इस प्रकार प्रस्तुत किया है – 'हल्दीघाटी में युद्ध के लिए अडिग राणा प्रतापसिंह अपनी हरावल सेना सहित शत्रु सैन्य दल का घमण्ड चूर करने के लिए पहुँच गया (हलदीघाटी हरोल, घमंड उतारण अरि-घड़ा। आरण करण अडोल, पहुंच्यो राण प्रतापसी)।'[32] 'हिन्दुस्तान की श्रेष्ठ परम्परा से स्थिर हुए राजा भी आज लोभ का मार्ग अपनाकर पथ भ्रष्ट हो गये हैं परन्तु राणा प्रताप सिंह हिन्दुस्तान की धरती को अपनी माता मानकर इसकी पूजा करते है (थिर नृप हिंदूथान, लातरगा मग लोभ लग। माता भूमी मान, पूजै राण प्रतापसी)।'[33] 'धारा तीर्थ में भालों की नोक से हुए घावों से जो रक्त धारा बही, रक्त प्रवाह के तीर्थ में स्नान करने के लिए राणा प्रताप अपने दल सहित आगे बढ़ा और धर्म युद्ध में दान करने के लिए राणा प्रताप ने अपना स्वर्ण जैसे शरीर को दान किया (सेलां अणी सिनान, धारा तीरथ में धसे। देण धरम रण दान, पुरट शरीर प्रतापसी)।'[34] 'अकबर के सैनिक दल ने राणा प्रताप की सेना के निकट पहुंचकर विश्राम किया और फिर पहाड़ी-पहाड़ी पर आपस में भिड़े। प्रत्येक रास्ते में राणा प्रताप अकबर के सैनिक दल को मिल जाता है और उनका पीछा करके उसने शत्रु सेना के मान को भंग किया (ढिग अकबर दल ढाण, अग अग झगडै आथडै। मग मग पाडै माण, पग पग राण प्रतापसी)।'[35] दुरसा आढा के इस विवरण से यह संकेत मिलता है कि राणा

प्रताप ने युद्ध में अकबर की सेना को परेशान किया और उन्हें सफल नहीं होने दिया।

हल्दीघाटी के समकालीन लेखकों के उपर्युक्त विवरण से युद्ध से सम्बन्धित अनेक तथ्य एवं सत्य स्वयं ही प्रकाशित होते हैं। युद्ध के सर्वाधिक प्राथमिक साक्ष्य यही हैं। बाद के लेखकों ने इन्हीं के विवरण तथा लोक में प्रचलित स्मृतियों के आधार पर युद्ध का वर्णन किया है।

समकालीन साक्ष्यों के आलोक में हल्दीघाटी युद्ध के सम्बन्ध में निम्नलिखित निष्कर्ष प्रस्तुत किए जा सकते हैं :

1. इस युद्ध में राणा प्रताप एवं उनकी सेनाओं ने अद्‌भुत पराक्रम का प्रदर्शन किया। मुगल सेना को अनेक बार मैदान छोड़कर इधर-उधर भागना पड़ा। मुगलों की पराजय लगभग निश्चित थी। ये तथ्य बदायूंनी एवं अबुल फजल ने प्रस्तुत किए हैं जो मुगलों के प्रतिनिधि थे तथा प्रत्यक्षत: एवं अन्तर्मन से उनके पक्षकार थे। अनुमानत: राणा के पराक्रम का सत्य उनके कथन की स्वीकृति से वृहत्तर रहा होगा। इसी प्रकार, मुगलों की दुर्दशा और हताशा भी उनके चित्रण से गहनतर रही होगी।

2. युद्ध के अंत में राणा प्रताप अपने सैनिकों के साथ ऊपर पहाड़ियों में चले गए थे। बदायूंनी, अबुल फजल एवं निजामुद्दीन – तीनों ने इस तथ्य का उल्लेख किया है, यद्यपि वे लिखते हैं कि राणा प्रताप मैदान छोड़कर ऊपर पहाड़ियों की ओर भाग गए। युद्ध स्थल के निकटतम एवं ऊपरी हिस्से में, हल्दीघाटी के दर्रे की पहाड़ियाँ थीं। जाहिर है, राणा प्रताप वहीं गए होंगे।

हल्दीघाटी की पहाड़ियों में चले जाना राणा प्रताप की सोची-समझी रणनीति का हिस्सा जान पड़ता है। स्वयं बदायूंनी ने इस बात का संकेत दिया है। उसने लिखा है कि मुगल सैनिकों में यह विचार फैल गया था कि राणा, गुपचुप तरीके से एवं कूटनीति से, पहाड़ों के पीछे छिप गया है। बदायूंनी यह भी लिखता है कि मुगल सैनिकों द्वारा प्रताप का पीछा न करने का यही कारण था। इससे प्रतीत होता है कि मानसिंह भयभीत हो गया था और पहाड़ी क्षेत्र में राणा प्रताप से युद्ध करने का खतरा वह मोल नहीं लेना चाहता था। वैसे भी मैदानी युद्ध में मानसिंह ने राणा प्रताप एवं उसके सैनिकों के पराक्रम का प्रताप देखा था जिसकी वजह से उसे सैनिक हताशा से भर गए एवं थक गए। मैदानी युद्ध तो मध्याह्न में ही रुक गया था, ऐसे में मानसिंह के पास पर्याप्त समय था कि वह हल्दीघाटी में राणा प्रताप का पीछा करता। लेकिन वह अपने शिविर वापस लौट गया और अगले दिन गोगुन्दा चला गया। मानसिंह की घबराहट और उसका युद्धक्षेत्र से पलायन राणा प्रताप की कूटनीतिक विजय थी। यदि मानसिंह हल्दीघाटी में राणा प्रताप का पीछा करते और वहां कोई युद्ध होता तो वह वास्तव में हल्दीघाटी का युद्ध होता।

केसरीसिंह ने अपनी पुस्तक 'महाराणा प्रताप-द हीरो ऑफ हल्दीघाटी' में यह विश्लेषण प्रस्तुत किया है कि राणा प्रताप का युद्ध क्षेत्र से चले जाना राजपूतों की परम्परा एवं नीति से संगति नहीं रखता है। उसका पलायन युक्तिमूलक एवं रणनीति का हिस्सा था और सुनियोजित तरीके से जानबूझकर किया गया था।[36]

3. हल्दीघाटी का युद्ध एक प्रकार से बराबरी में समाप्त हुआ एवं अनिर्णीत रहा, यद्यपि मानसिंह एवं मुगल सैनिकों ने दंभवश स्वयं को विजयी मान लिया। सुबह से दोपहर तक चले युद्ध में पराक्रम एवं युद्ध-कौशल की दृष्टि से राणा प्रताप का पलड़ा भारी था, लेकिन अंत में, जैसा कि बदायूंनी एवं अबुल फजल ने लिखा है, दैविक कृपा का ऐसा योग हुआ कि राणा प्रताप युद्धस्थल छोड़ कर चले गए और मुगलों ने स्वयं को विजयी मान लिया। यह कथित 'विजय' मुगलों की आत्मकृत परिकल्पना थी जो उन्हीं तक सीमित थी। डॉ. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव ने लिखा है कि मुगलों की यह विजय बाँझ या खोखली थी।[37] स्थानीय लोकस्मृति एवं परंपरा में इस युद्ध में महाराणा प्रताप की अपराजेयता एवं विजय का उल्लेख होता रहा। स्वयं बदायूंनी ने इसका संकेत दिया है। युद्ध के बाद जब वह गोगुन्दा से फतेहपुर सीकरी लौट रहा था, जहाँ-जहाँ से भी वह गुजरा, लोगों ने हल्दीघाटी युद्ध में मुगलों की विजय एवं राणा प्रताप की हार के सम्बन्ध ा में मुगलों की घोषणाओं पर विश्वास नहीं किया।[38]

4. राणा प्रताप के स्वातंत्र्य-प्रेम एवं स्वाभिमान की दृष्टि से हल्दीघाटी का युद्ध उनकी नैतिक विजय का प्रतीक है। डॉ. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव के अनुसार ''इस युद्ध ने राणा को सशक्त बनाया तथा उसमें नव-विश्वास का संचार किया। उस समय के सबसे शक्तिशाली एवं समृद्धतम राजा के विरुद्ध युद्ध में राणा की सेनाओं के पराक्रमी व्यवहार ने राणा को अपनी नैतिक शक्ति के प्रति विश्वस्त किया और मुगलों के विरुद्ध अपने संघर्ष को जारी रखने के निर्णय को दृढ़तर किया।''[39]

डॉ. चन्द्रशेखर शर्मा[40] ने महाराणा प्रताप पर किए विस्तृत एवं नवोन्मेषी अनुसंधान में हल्दीघाटी युद्ध के निर्णय को समझने के लिए युद्ध को तीन दृष्टियों से विश्लेषित किया है -''युद्ध उद्देश्यमूलक दृष्टि; युद्ध क्रियामूलक दृष्टि; तथा युद्ध परिदृश्यमूलक दृष्टि।'' डॉ. चन्द्रशेखर शर्मा के अनुसार, युद्ध के उद्देश्य में अकबर विफल रहा, युद्धक्षेत्र में प्रताप का पलड़ा भारी था, तथा युद्ध के पश्चात् मानसिंह की कठिनाइयाँ बढ़ गई थीं-''इन तीनों ही दृष्टियों से निर्णय प्रताप के पक्ष में जाता है।....युद्ध के ठीक बाद इस क्षेत्र के भूमिदान हेतु जारी किए गये ताम्रानुशासन प्रताप के प्रभावी नियन्त्रण को सिद्ध कर देते हैं।''[41]

5. हल्दीघाटी के युद्ध को राणा प्रताप के सम्पूर्ण जीवन के परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो यह युद्ध शक्तिशाली केन्द्रीय सत्ता के प्रति स्वातंत्र्य-प्रेमी राणा प्रताप की शौर्य गाथा

का प्रतिबिम्ब है। उन्होंने जीवनभर मुगल सत्ता के समक्ष समर्पण नहीं किया और अपने स्वाभिमान को बनाए रखा।

अन्त में कहा जा सकता है कि हल्दीघाटी का युद्ध राणा प्रताप की नैतिक विजय एवं कूटनीतिक सफलता का प्रतीक है। सैनिक दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है कि युद्ध अनिर्णीत रहा एवं बराबरी में समाप्त हुआ, लेकिन समकालीन साक्ष्यों के विवरण से युद्ध क्षेत्र में राणा प्रताप एवं उनकी सेना के पराक्रम की तेजस्विता एवं वर्चस्व का स्पष्ट प्रमाण मिलता है।

संदर्भ :

1. *देखें, अब्दुल कादिर बदायूँनी,* मुन्तख़ब-उत-तवारीख़ *(तीन खंड) : (प्रथम खंड) फारसी मूल से अँग्रेजी अनुवाद एवं सम्पादन, जॉर्ज एस.ए. रैंकिंग; संशोधन एवं परिवर्धन, ब्रह्मदेय प्रसाद अंबष्ठ्य, एकेडेमिया एसियाटिका, पटना, 1973; (द्वितीय खंड) अँग्रेजी अनुवाद एवं सम्पादन, डब्ल्यू. एच. लोय, संशोधन एवं परिवर्धन, ब्रह्मदेय प्रसाद अंबष्ठ्य, एकेडेमिया एसियटिका, पटना, 1973; (तृतीय खंड) सर वूल्ज्ले हेग, संशोधन एवं परिवर्धन, ब्रह्मदेय प्रसाद अंबष्ठ्य, एकेडेमिया एसियटिका, पटना, 1973। अब्दुल कादिर बदायूंनी ने हल्दीघाटी युद्ध का विवरण* मुन्तख़ब-उत-तवारीख़ *के द्वितीय खंड (अंग्रेजी अनुवाद) के पृ. 236-239 (फारसी मूल के पृ. 231-235) के मध्य दिया है।*
2. *देखें, अबुल फजल,* अकबरनामा *(तीन खंड) : (प्रथम खंड) फारसी मूल से अँग्रेजी अनुवाद, एच. बेवरिज, बिब्लियोथेका इंडिका, एशिऐटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, कलकत्ता, 1902, पुनर्मुद्रण रेयर बुक्स, दिल्ली, 1972; (द्वितीय खंड) फारसी मूल से अँग्रेजी अनुवाद, एच. बेवरिज, बिब्लियोथेका इंडिका, एशिऐटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, कलकत्ता, 1902, पुनर्मुद्रण रेयर बुक्स, दिल्ली, 1972; (तृतीय खंड) फारसी मूल से अँग्रेजी अनुवाद, एच. बेवरिज, बिब्लियोथेका इंडिका, एशिऐटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, कलकत्ता, 1921, पुनर्मुद्रण रेयर बुक्स, दिल्ली, 1973।*
3. *देखें, निजामुद्दीन अहमद,* तबकात-ए-अकबरी, *फारसी से अँग्रेजी अनुवाद एवं सम्पादन (तीन खंड), ब्रजेन्द्रनाथ डे एवं हिदायत हुसैन, बिब्लियोथेका इंडिका, कलकत्ता, 1927-39; 'तबकात-ए-अकबरी' (अँग्रेजी अनुवाद), इलियट एवं डॉसन,* द हिस्ट्री ऑफ इंडिया एज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स - द मुहम्मदन पीरियड, *खंड 5, लंदन, 1873, पृ. 177-476.*
4. *देखें, नरेंद्र सिंह चारण, पुनाराम पटेल,* महाराणा प्रताप एवं राष्ट्रकवि दुरसा आढ़ा (बिरद छिहत्तरी, भावार्थ सहित)*, राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, 2015, पृ. 68.*
5. *देखें, नरेंद्र सिंह ('नरसा आढ़ा'), 'दुरसा आढ़ा कृत बिरद छिहत्तरी का हिन्दी अनुवाद',* महाराणा प्रताप एवं राष्ट्रकवि दुरसा आढ़ा (बिरद छिहत्तरी, भावार्थ सहित)*, राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, 2015, पृ. 114*
6. *गोपीनाथ शर्मा,* मेवाड़ मुगल संबंध, *राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, प्रथम*

संस्करण 1976, प्रथमावृत्ति 1983, पृ. 65

7. *वही, पृ. 66*
8. *वही*
9. *आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव,* अकबर द ग्रेट, *खंड 1 (पॉलिटिकल हिस्ट्री, 1542-1605), शिवलाल अग्रवाल एंड कंपनी, आगरा, प्रथम संस्करण, 1962, पृ. 204-205*
10. *वही*
11. *वही*
12. अकबरनामा, *तृतीय खंड, फारसी मूल से अँग्रेजी अनुवाद, एच. बेवरिज, बिब्लियोथेका इंडिका, एशिऐटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, कलकत्ता, 1921, पुनर्मुद्रण रेयर बुक्स, दिल्ली, 1973, पृ. 245.*
13. मुन्तख़ब-उत-तवारीख़, *द्वितीय खंड, अँग्रेजी अनुवाद एवं सम्पादन, डब्ल्यू. एच. लोय, संशोधन एवं परिवर्धन, ब्रह्मदेय प्रसाद अंबष्ठ्य, एकेडेमिया एशिऐटिका, पटना, 1973, पृ. 236*
14. *वही*
15. *वही*
16. *निजामुद्दीन अहमद, 'तबकात-ए-अकबरी' (अँग्रेजी अनुवाद), इलियट एवं डॉसन,* द हिस्ट्री ऑफ इंडिया एज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स - द मुहम्मदन पीरियड, *खंड 5, लंदन, 1873, पृ. 318*
17. मुन्तख़ब-उत-तवारीख़, *द्वितीय खंड, पृ. 236-37*
18. *वही, पृ. 237*
19. *वही, पृ. 237-38*
20. अकबरनामा, *तृतीय खंड, पृ. 245*
21. *वही*
22. *वही, पृ. 245-46*
23. *वही, पृ. 246-47*
24. मुन्तख़ब-उत-तवारीख़, *द्वितीय खंड, पृ. 238*
25. *वही, पृ. 239*
26. *वही*
27. *देखें, निजामुद्दीन अहमद, 'तबकात-ए-अकबरी' (अँग्रेजी अनुवाद), इलियट एवं डॉसन,* द हिस्ट्री ऑफ इंडिया एज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स - द मुहम्मदन पीरियड, *खंड 5, लंदन, 1873, पृ. 399*
28. अकबरनामा, *तृतीय खंड, पृ. 247*
29. मुन्तख़ब-उत-तवारीख़, *द्वितीय खंड, पृ. 239*
30. *वही, पृ. 241*
31. *वही, पृ. 247*
32. बिरद छिहत्तरी, *सोरठा 30*
33. बिरद छिहत्तरी, *सोरठा 31*
34. बिरद छिहत्तरी, *सोरठा 32*
35. बिरद छिहत्तरी, *सोरठा 33*
36. *देखें केसरीसिंह,* महाराणा प्रताप-द हीरो ऑफ हल्दीघाटी, *बुक ट्रेजर, जोधपुर, संस्करण 2016, पृ. 6, 85*
37. *देखें, आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव,* पूर्वोक्त, *पृ. 211*
38. *देखें, बदायूंनी,* पूर्वोक्त, *पृ. 211*
39. *देखें, आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव,* पूर्वोक्त, *पृ. 213*
40. *देखें, चन्द्रशेखर शर्मा,* राष्ट्र रत्न महाराणा प्रताप, *आर्यावर्त संस्कृति संस्थान, दिल्ली, तृतीय संस्करण 2016;* युगन्धर प्रताप, *अंकुर प्रकाशन, उदयपुर, संस्करण 2011*
41. *चन्द्रशेखर शर्मा,* युगन्धर प्रताप, *अंकुर प्रकाशन, उदयपुर, संस्करण 2011, पृ. 70-71*

Buddhism and Urban Settlements in Rajasthan, Gujarat up to 700 A.D.

Pooran Lal Meena

In Rajasthan, Bairth was a part of the Mauryan Empire. The ruins of the Bijak Ki PahadiBuddhist Chaitya and Buddhist monastery from the 3rd century BC Elocated in BairatViratnagar Tehsil in Jaipur district of Rajasthan state are the oldest free standing Buddhist structures in India.The city is also home to ruins of a Buddhist monastery, a wood and timber shrine and rock-cut edict from Emperor Ashoka. Though Buddhism appears to have entered Gujarat and Rajasthan region shortly before and during the reign of King Ashoka, its real intense nature became activated with the functioning of the Silk Route. Initially this region does not appear to have been very importance and one does not come across many important settlements of Buddhist importance. But when international trade began in all sincerity, this region became one of the most important regions of Buddhist importance in the north western Indian subcontinent.

Existence of Buddhism in the present day Gujarat is attested by the archaeological evidence in the shape of stapas, chaitiyas, rock cut caves and material remains in the form of inscriptions, copper plates, sealings, sculptures and many kinds and decorative motifs of architectural components. Aaokan rock edicts at Girnar and Junagadh bear evidence to the spread of Buddhism at a massive level during the first-fourth century CE during which period most of the evidence has been found. Settlements such as Vadnagar, Devnimori, Junagadhand Bharukaccha felt on the trade routes and attained commercial success due to their Buddhist networks. Main Buddhist centres of this region were Bairat, Bhillamala (Barmer) Devnimoriadnagar, Bharuch etc. Though urbanization instigated to decline in a big way by about the end of the fourth century CE, yet some of the urban settlements in this region continued to live till about to the seventh-eighth centuries.[1]

Archaeological and literary indication together suggests that urban settlements with Buddhist connections such as Kumbhavati (Nasik) declined in the pre-Gupta period. Mahimata (Maheshwar) during the Gupta period and Ujjan, Jetuttara (Nagari) and Bharukachha (Bharuch) during the post-Gupta period.[2] Hence, it appears that at least a few monastic institutions began to decline from the post-Kushana days. At the time of the visit of Xuanzang to Gujarat and Rajasthan , the number of Brahmanical-Hindu temples appears to have been far more than the Buddhist temples throughout this region. For example, Bharukaccha (Bharuch), Bairat the number of Buddhist viharas was just ten and there were about three hundred monks. There is archaeological indication that suggests that the urban settlement of Bharukachha began to decline after the end of the reign of the Guptas.[3]

At the time of the visit of Xuanzang, there were over ten Samityaviharas with around one thousand monks in Anandapura, which has been identified with the modern town of Vadnagar in the state of Gujarat. This settlement is mentioned as being over twenty li in circuit.[4] Conferring to Xuanzang, "it has a large population of wealthy households. It has no independent lord and is under the jurisdiction of the country of malava.... Monks... study the teachings of the HanayanaSamitya School. Deva temples are calculated by scores, and the heretics live together."[5] It seems that from about the eighth century CE onwards jainism instigated to have an upper hand over Buddhism and finally the latter became assimilated into Jainism as well as Brahmanical-Hinduism.

The earliest history of Anandapura goes to at least the fifth century BCE. Also the various Buddhist texts, this settlement also finds mention in the Mahabharata.It has been suggested that this settlement was the earliest capital of the area that later became known as Gujarat. The river Kapila used to flow by the side of this settlement in the ancient time. A Bodhisattava descriptions dating back to the third-fourth century CE was found by a farmer while ploughing his fields in the locality of Vadnagar and this image appears to be associated to the Mathura School of Art. During excavations conducted at Vadnagar , remains of a stupa were discovered by the Archaeological Department of Gujarat.

Barmer, at the time of Xuanzang, this urban settlement was over thirty li (km) in circuit. It was the capital (rajadhani) of the country of Gurjara. There was one Sarvastivadavihara with more than one hundred monks in Bhillam?la (Barmer, Rajasthan).[6] Xuanzang mentions that "the native products and social civilizations were the same as those in the country of Surattha. It was thickly populated and the people were rich and wealthy. Most of them were heretics."[7]

Baghukacchais the Sanskrit version of Bharukaccha which means 'high coast land' and the city is exactly situated on a high coast land. Conferring to the Divyavadana, Bharukaccha is a corruption of Bharukaccha (Marsh of Bharu). This settlement was founded by Bhiru, one of the three persons who managed to get away from the kingdom of Sikkhandi, the parricide king of Sauvara, when it was destroyed by a furious sandstorm, following the assassination of Rudrayana, head of state of Roruka.[8] The fame, prosperity, and wealth of Bh?rukaccha were due almost completely to its extensive maritime commerce and strategic location, providing an outlet for the settlements of both the Deccan and northern part of India.

According to the early Pali texts, the pattana/pattanagama of Bharukaccha was an important vanijja (trading hub) in the Bharu country. In this area, we are told people totally worked for trade.[9] Later Buddhist sources call this settlement a city nagara[10]. We aratold in the texts that businessmen from this place toured from here by sea to the Land of Gold (Suvanabhumi).[11] Bharukaccha has been well-known with the modern city of Bharuch in Gujarat. Due to the extensive maritime commercial activities and also its planned location, this settlement appears to have become the most important place in the area and hence attained to great heights in terms of affluence, fame and wealth etc. This settlement provided a connection through sea and land to the different centres of commercial importance both in the Deccan and northern part of India. Interestingly, most of the references in the PaliTipitaka to this settlement are of the Mauryan period if not later. Conferring to Xuanzang, Bharukacchapa was over twenty li (km) in circuit.[12] He further points out that around this urban settlement the soil was saline and plants were sparse. "Salt is produced by steaming water, and the sea provides profitable careers. The climate is hot, with abrupt cyclones blowing violently. The people are stingy by tradition and deceitful in disposition. They are ignorant of learning and arts and believe in both heterodox and orthodox principles. There are over ten monasteries with more than three hundred monks, who learning the Mahayana and the Sthavira teachings. Deva-temples are more than ten in number, and the heretics live together."[13] Of any kind archaeological information is available about this settlement and its surrounding areas indicates that its beginnings could go as far back as antiquity. Some researchers have even suggested that this settlement had trade and cultural links to the Harappan and Egyptian civilizations during the proto-historic age of ancient Indian history. But one thing

is certain and that is that the ship-building industries of this place as well as its maritime networks of outside world go indeed to very early times. This settlement absolutely was an important port linking the Silk Road and the Spice Road through here to the Western world. The Greeks knew this settlement as Barygaza or Barugaza. Later Arab sellers are also said to have used this settlement extensively for commercial purposes.[14]

The urban settlement of Devni Mori, which is recognized with Sabarkantha, was an important Buddhist place during the third-fourth century of the Common Era. A huge site consisting of remains of a stupa, a Chaityas, an a vihara have been found here near Shamli on the banks of the river Meshwo, Interestingly, a casket containing relics, apparently of the Buddha, were found here in the excavations with an inscription on the casket stating the name of the Buddha. Rajasthan apparently had well defined Buddhist monasteries or complexes at Bairathin Viratnagartehsil of Rajasthan. Kolvi, Bandarej ,Ramgaon discovered by ASI.

References

1. *R.S. Sharma, urban Decay in India, New Delhi, 1987, p. 83*
2. *Y.D. Sharma, 'Remains of Early Historical Cities,' A. Gosh (ed.), Archaeological Remains, Monuments and Museums, Part I, New Delhi, 1964 : p.73; IAR, 1956-57 : p.27; 1957-58 : p.36; 1959-60: p.19; 1962-63 : p.19; R.S. Sharma, Urban Decay in India.New Delhi 1987, p. 86*
3. *IAR, 1959-60 :p.19.*
4. *Ibid.*
5. *Ibid.*
6. *Ibid., 344.*
7. *Ibid.,346.*
8. *The Divyavadana, ed. P.L. Vaidya, Darbhanga :Mithila Institute of Post-Graduate Studies and Research in Sanskrit Learning, 1959 : 586.*
9. *J.iv.137;MNid.i.155.(The Jataka)*
10. *ThA.ii.141. (Theragatha-Atthakatha)*
11. *J. iii. 188.*
12. *Li Rongxi (trans.), The Great Tang Dynasty Record of the Western Regions, Berkelye; NumataCentre for Buddhist Translation and Research, 1996 : 337.*
13. *Ibid., 338.*
14. *Gazetteer of Bombay Presidency, vol. I, Pt.I : The History of Gujarat, Bombay; Govt. Central Press, 1986 : p.58.*

Sculptural Evidence for the culture of Rajasthan : C. 9th century A.D to 12th century A.D.

Dr. Manu Jayas

Imperial kingdom of the northern India after the death of the last paramount emperor Harsha in around seventh century, the regional kingdoms such as, Gurajara – Prathiara and Chauhan of Rajasthan emerged and occupied a prominent place in political, social, cultural and economic life of the people. The rulers were great patron of art and literature. Temples in India have been the most vivid representations of Indian culture, mostly of religious and aesthetic aspirations. Temples is extensively bejeweled with beautiful figures, decorative motifs and various worldly forms of pleasure. Thus, sculptural art developed in between c. ninth to the twelfth century have all distinguished by their maturity in style and techniques.

Indian Sculptures are known for its excellence. The Indian sculptors were found much skilled in creating sculptures with deep feelings and, above all, they were portraying contemporary society which can be considered as peculiar characteristic of Indian art. Iconographical and aesthetical development in the context of Indian sculptures cannot be investigated in isolation as both are interrelated. Moreover Sculpture as an art form has also been surveyed and studied for historical reconstruction. The scholars of the field earlier focused either on aesthetic forms such, as structural decoration and sculptural expression, or on clothes, ornaments etc. But sculptures have more meaning as a source for reconstruction of the history as it also signifies the social, cultural and economic development of the contemporary society. The sculptures not only symbolize the culture of the exiting society but also sometimes represent the neglected class i.e., working class.

In the present paper an effort has been made to systematically study the sculptures of early medieval Rajasthan from 9th century A.D. to 12 the century A.D. which represent the occupational activities of the period. However the textual sources are found silent or giving incidental information regarding activities of neglected group. A detailed study on sculptural art with an analysis of the form and style as well as theme and context needs to be done. Endeavour has also been made to recognize the contemporary cultural current in the sculptural art form and adequate treatment to the participation of entertainment class in cultural history. Collection of six sculptures, so far, preserved in the different Museums of Rajasthan and elsewhere would be the basis of my present paper. However, these sculptures may be defined as follows:

1. This sculptural panel that was discovered at Harsagiri, District Sikar, Rajasthan belongs to Purana Mahadeo Temple. Presently, this relief is preserved in the Sikar Museum Rajasthan. The sculptural panel belongs to c. 961- 73 A.D. and oblong in shape with 19 inch in vertical dimension. Although, panel has been destroyed from the upper left corner. It depicts the high relief work done by sculptor. This sculptural panel was a part of the Purana Mahadeo Temple where as the theme of panel is of music and dance performance including both men and women[1].

2. Another sculptural panel which also belongs to Purana MahadeoTemple, at Harsagiri in Sikar, Rajasthan. It is on display in the Sikar Museum Rajasthan presently. The panel is $16^{1/2}$ inch in height with much elongated in length as 9 figures are portrayed in panel. This sculpture can be dated roughly to c. 961- 73 A.D. i.e. Chauhan period of Rajasthan. The figures in this panel are very artistically carved as compare of the other panel of the same period. Although the subject matter of this panel is dance and music consort consistig of both male and female. Sculptor had beautifully carved out the stone with making border around the figures. In the panel second figure of female from the left had been distorted as the head of the lady with instrument is totally faded away[2].

3. The massive elongated stone sculptural panel belongs to Purana Mahadeo Temple at Harsagiri, District Sikar, Rajasthan. As it is a piece of architectural ornamentation of temple which was constructed under the Gurjara- Pratihara period of c. 961 - 973 century A.D. But this panel is found in Ganga- Yamuna valley at Soraon, Allahabad. This sculptural panel is presently displayed in Allahabad Museum. This panel is oblong in shape where horizontal dimension is much more than vertical height. Although this panel has been little damaged from the right hand side. This relief illustrates two groups of orchestra giving dance and music performance. Both the groups have men and women, but female are shown as dancer while male

members are playing different musical instruments[3].

4. The Stone sculpture belongs of Pratihara period i.e.10th century of Rajasthan. Now this panel is kept in the National Museum New Delhi for display. This stone panel is rectangular where length is much more than its height. This sculptural relief is of much importance as it portrays the practical training of music and dance by an experienced and learned teacher. The guide is shown directing male and female both irrespective of gender; few of them are shown playing instruments and rest in dancing postures. This sculpture indicates the significance of training in the entertainment class as they were professionally guided by the experts[4].

5. The sculptural panel relates to Chalukyan period of 12th century Rajasthan. This relief work has been done at Tejhpala temple at Mount Abu and seems to be oblong in shape. This panel is part of temple's beautiful embellished ceiling with almost perfect finishing. The theme of the panel is portraying the life events of twenty first Jaina Saint Neminath. Besides, the sculpture depicts a numerous social functions such as marriage, music and dance show and other activities of daily life which primarily indulging women as artist[5].

6. The sculptural panel belongs to the Temple of Neminath situated in Dilwara, Mount Abu, South Rajasthan of 12th century A.D. This entire panel is carved on white marble which has approximately 8 feet in width. However, only half of the panel could be seen in the plate. The sculptural panel is of high relief as it has been deeply undercut by the sculptor to give it perfection along with clarity. The sculpture exemplifies the theme of marriage organized for Aristanemi, the twenty second Trithakara of Jaina religion. It extensively gives importance to dancers' participation in marriage as illustrated in eight compartments[6].

The magnificence of these temples is largely due to their rich and fascinating sculpture. Atypical characteristic of Sculptural panel at Rajasthan is that it represents the various aspects of the life of men, women and all sections of society. The temples of Mount Abu are famous for sophisticatedly carved decorative graceful sculptures. Sometimes it overshadow the main character of the theme and shed light on the much undervalued aspects of life such as aspects of the daily life or common people and their working. Similarly, the sculptural panels from the other temples of Rajasthan also depicted the overlooked section of the society. But these less much celebrated category of society were also an enthusiastic carrier of the cultural

norms. So, it can be said that these sculptural panels provides us with valuable insight of the social cultural and economic norms of the Rajasthan.

The participation of men and women in the entertainment sector can be traced from ancient times. This entertainment sector is also heterogeneous in nature. The religious text enlisted martial arts, dancing, singing, and music as entertainment activities. On festive occasions such performances have to be performed by the Sudra people[7]. Kavyamaminasa describes a special chamber in the court and dubbed it as literary gallery. It further mentions the seating arrangements in the chamber according to the status. However, after the king, the place was allotted for poets and then descending order actors, dancers, singers, musicians, bards and other were seated[8]. Dasarupa suggests that in entertainment sector, the women entertainers were mainly belonged to the sudra class[9].

Sculptural panels are good source of information regarding the contemporary costumes, ornaments for beautification, hair styles, decorative head dresses of men and women. This classification of attire and ornaments is of great significance as it indicates the class distinction of the portrayed figures. Dress and ornaments are most important components of culture as they reflects the people's wishes to fullfill their aestheticism. The sculptural panels from Rajasthan would be the good example of cultural representation of the contemporary society of early medieval period.

The costume of the male usually consisted of two garments of long pieces of unstitched cloth. The upper garment, in the contemporary sculptures, was generally across the chest, covering the left shoulder with its end falling on the waist. Only one male figure playing flute whose back has been carved turned is shown wearing a robe type garment around the chest[10]. The upper bodies of other three male are bare[11].

The antariya (loin cloth), synonymous with the modern dhoti, was worn by all men around their waist upto or above the knees. The fabric of garment seems expensive with a fine semi transparent finishing and well carved plates on it is visible beautifully[12]. The poor generally wore only loin cloth with a thick fabric having not much sophisticated finishing[13].

The fashion and the dress of the women in the early medieval period have three popular garments in style. The Uttariya was a piece

of cloth like a Dupatta (odhani), which covered the upper part of the body. Few female in the sculptural panels have been depicted draping a beautiful dupptta around their arms[14]. The Kanchuka or bodice was specially designed to cover the breasts a usual fashion as shown in selected Panels[15]. It could also be long enough to reach up to the toes and also known as chola. The female dancers were also portrayed wearing a high neck blouse or simply normal blouse[16]. In some sculptures the band that is covering the upper body of female is less visible due to fine transparent fabric[17].

The Chandataka a lower garment was worn as an undergarment beneath the kanchuka (Dhoti or drapery). The female dancers in the panels can be seen wearing the lower garment covering the body up to knees. The cloth carved by the sculpturs seems to be of very thick fabric and with no further decoration. It doesn't seem expensive because garments of thick fabric were mostly worn by people of lower strata who could afford it which did not need any sort of special manufacturing skill as well[18].

However, the dresses of the few females in the panel are much expensive and of very fine fabric. All the female are covered with loin cloth from waist to below the knees although the fabric seems to be semi transparent which is an indication of a fine and expensive fabric[19] and it further indicate the ranks of the woman among the artists.

The hair styles of the male and female in the sculpture panels represent the contemporary fashion of society. The women used to keep long hair, dressed them in various ways. The females in the panels have a very simple hair styles. The hair of female is arranged into very neatly combed and tied into a bun or juda of different types- such as, round[20], elongated[21], loosely tied[22] or coiled[23]; was tied at back of the head. In one sculptural panel a female dancer has shown with her hair decorated with some head dress but not clear[24].

The hair style of the male is also similar to that of the female having long hair up to the shoulders which are combed and tied at the back[25]. In a stone panel two male figures are portrayed with extensive hair style with high raised bun at back[26]. Males keeping moustaches was also a trend depicted in the sculptural panels[27].

These sculptural panels also represent the entertainment class which can be demarcated into two categories on the basis of ornaments worn by them. In some sculptural panels female and male are adorned with extensive ornaments. Jewellary like long beads mala, necklace

around their neck, armlets (bahu- sandhi), earrings (kundala) and bangles in their wrists, anklets (nupuras) and well embellished griddles with hanging chains or beautiful beads horizontally as well as vertically are visible in figures[28]. All the males are shown wearing two layered beads chain in neck, armlets, earrings and bracelets in their wrists[29]. One male playing in an orchestra is shown wearing sacred thread (janeu)[30].

However, there is another category of figures in sculptural panels with the bare minimum ornaments or no ornaments. The female in the panel is portrayed with two layered necklace (jala kanthi) or single bead necklace around neck[31], armlets and earrings[32] same as of men. It can be clearly seen that these figures which are not much adorned, is an indication of their social status[33]. The rest of the figures of sculptures are not adorned with any jewellery[34]. Their dresses and ornaments also throw light on their status in the society or a parameter to understand their living standard and the hierarchy in existing within the entertainment group.

Amarkosa mentions term for the women performers such as, nati for dancing girl[35]. The women possessing (hela), feeling (bhava), represents the (sattva), temperament, sweet mannered, physically beautiful, soft in singing and thrilled in dancing and brilliant in appearance were called dancers the 'nartaki'[36]. In all the sculptural panels the female dancer is the central figure of attraction due to their sensuous figure, long nose, slender waist, full round breasts, esthetically delicate and expressive gestures of hands and fingers[37].

Demonstration of practical training and rehearsal of dance before the guru clearly ponders on the importance of professional training and guidance which is well illustrated in panel[38]. The nrtya mudra (dancing pose) of hands, legs and facial expression indicate that central dancers were well versed in the art of dancing for which Indian classical dancers are renowned[39]. In most of the sculptures one hand of dancer is shown above the head folded from the elbow in dancing mode and the other hand is below the shoulder showing the palm with fingers making a classical gesture[40]. The legs of the dancer in the panels are shown moving with the rhythm as one leg is above other folded from knee or both the legs are moving on the toes[41]. In almost all the panels the head of the dancer has been carved tilted at one side with expression of joy and pleasure on the face[42]. Male and female musician figures were also portrayed dancing on the rhythm of the music as either they are on the toes; otherwise one leg is in the air

which indicates the movements of legs with the music[43].

All the sculptural panels from Rajasthan represent male and female both playing various musical instruments. The sculptural panel from Purana Mahadev Temple is very significant in the context as it shows that these people from the entertainment sector were not only professional but also received systematic training[44]. The other sculptures have depicting different occasions such as festive celebration[45], marriage[46] and music consorts[47].

The sculptor has illustrated variety of musical instruments played by the entertainers devoid of gender. The stone panels portray different kind of instruments like flute[48], dhlok[49], vina[50], cymbals[51], damru[52]. In some sculptural panels musical instruments were also represented keeping aesthetic sense in consideration[53]. The musical instrument like vina symbolizes much sophistication, classical taste of music which is part and parcel of superior class entertainers only[54]. These instruments indicate entertainer's association with the imperial or elite class, entertaining in imperial functions[55]. However, the musical instruments like Dholak, Flute and Damru in other panels were carved very simple with no decorations at all[56]. These entertainers seem to belong to lower strata of society, probably of sudra caste, and deliver their services or performances on public gathering. The status of entertainers is also differentiated by the kind of musical instruments played by them.

Symbolically, sculptural panels represent the difference in existing hierarchy within the entertainment group. The sculptural panels not only indicate the entertainment class and various instruments but also the social, cultural and class demarcation exiting in the society. It clearly point out the heterogeneous nature of the entertainment sector of the contemporary society. The stone panels not only represent the imperial class but also shed light on the neglected classes, their work and livelihood or living standard. However, these sculptural panels have provided the glaring instances of the prevailing culture in Rajasthan society during early medieval period.

References

1. *Stella Kramrisch, The Art of India: Traditions of Indian Sculpture, Painting and Architecture, The Phaidan Press, Lodon, 1955, p. 208*
2. *Idem; Brijendra Nath Sharma, Social and Cultural History of Northern India c. 1000- 1200 A.D., Abhinav Publications, New Delhi, 1972, p. 170*

3. *Mihir Mohan Mukhopadhyay, Sculptures of Ganga- Yamuna Valley, Abhinav Publicatios, New Delhi, 1984, p. 50; Brajesh Krishna, The Art under the Gurjara- Pratihara, Harman Publishing House, New Delhi, 1989, p. 188*
4. *Brijendra Nath Sharma, Social and Cultural History of Northern India c. 1000- 1200 A.D., Abhinav Publications, New Delhi, 1972, p. 42*
5. *C. Sirvarmamurti, Indian Sculpture, Allied Publishers, New Delhi, 1961, p. 112*
6. *Stella Kramrisch, The Art of India: Traditions of Indian Sculpture, Painting and Architecture, The Phaidan Press, Lodon, 1955, p. 211*
7. *Apastamba Dharmasurta, Ed. and Eng. Tr. Patrick Olivelle, Dharmasurta: The Law of Codes of Apastamba, Gautma, Baudhayana and Vasistha, Oxford University Press, New York, 1999, p. 186*
8. *Rajasekhara, Kaviyamimansa, Ed. C.D. Dalal and R.A. Sastry, Baroda, Oriental Institute, 3rd, Cambridge, 1934; Eng. Tr. Sadhana Parshar, Kavyamimansa of Rajasekhara, New Delhi, 2007, p. XXXVI.*
9. *Dhananjaya, Dasrup, Ed. A.V. Williams and Eng. Tr. George C. O. Haas, The Dasarupa: A treatise on Hindi Daramaturgy, Columbia University Press, New York, 1912, p. 195.*
10. *See Plate-I.*
11. *See Plate-I.*
12. *See Plate -II, III & IV.*
13. *See Plate-I & IV.*
14. *See Plate –II, VI & V.*
15. *See All Plates.*
16. *See plate- IV.*
17. *See plate-II, V & VI.*
18. *See Plate- I.*
19. *See Plate –II, III, IV, V & VI.*
20. *See plate- V & VI.*
21. *See plate- IV.*
22. *See plate- I & II.*
23. *See plate- III.*
24. *See plate-II.*
25. *See Plate -II.*
26. *See plate- IV.*
27. *See plate- I.*
28. *See plate-II, III, IV, V & VI.*
29. *See Plate -II.*
30. *See plate- III.*
31. *See plate- V.*
32. *See plate- IV.*

33. *See Plate- I.*
34. *See plate- IV.*
35. *Ibid., p. 134.*
36. *Bharata Muni, NatyaSastra, Eng. Tr. Manmohan Ghosh, The Natyasastra- Bharata Muni: A treatise of Hindu Dramaturgy and Histrionics, Asiatic Society of Bengal, Calcutta, 1951, p. 532.*
37. *See All Plates.*
38. *See Plate- IV.*
39. *See All Plates.*
40. *See Plate- II, IV & VI.*
41. *See All Plates.*
42. *See All Plates.*
43. *See All Plates.*
44. *See Plate- IV.*
45. *See Plate- I & III.*
46. *See Plate- V & VI.*
47. *See Plate- II & III.*
48. *See Plate- I, II, III & IV.*
49. *See Plate- I, II, III, IV & VI.*
50. *See Plate- II, III & VI.*
51. *See Plate- III & IV.*
52. *See Plate- I.*
53. *See Plate- II & III.*
54. *See Plate- II, III & VI.*
55. *See Plate- II & III.*
56. *See All Plates.*



Plate I. Sculptural panel is preserved in the Sikar Museum Rajasthan



Plate II. Sculptural panel is on display in the Sikar Museum Rajasthan

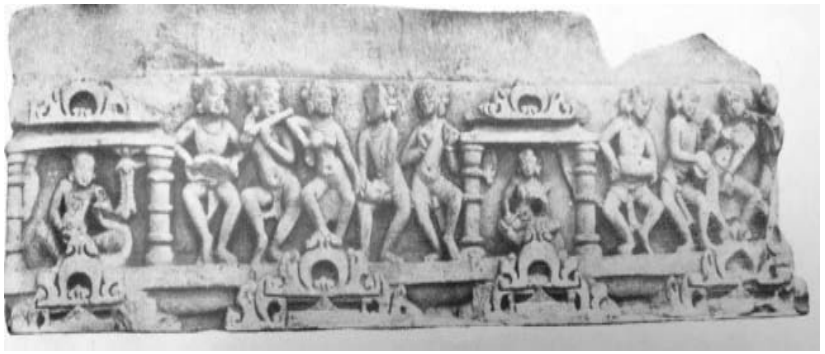


Plate III. Sculptural panel is presently displayed in Allahabad Museum



Plate IV. Sculptural panel is kept in the National Museum New Delhi



Plate V. Sculptural panel is a part of ceiling from Mount Abu

Patronage Issues in Shakambhari under the Cahamanas - A Brief Discussion Based on Epigraphic Sources

Mrs. Raveena Meena

Inscriptions offer scope for reconstructing the various stages of political patronage in early medieval Rajasthan. They clearly point towards the emergence of new political centres, help profile the ruling elite, and reveal the structure of early medieval society. Aspirant ruling chieftains and their officials often built and controlled popular cultic shrines and pilgrimage centres, and through this process automatically become associated with the enshrined deity. Through this act, they acquired the much needed religious sanction and popular backing for their political power. As a source of study, temples provide a mosaic of information and are a concrete source to have a proper understanding of the cultural history of a region. They not only help in the reconstruction of chronology but they also enable us to trace the origin and development of political, social and religious formations. This paper will explore what were the principal forms or nature of patronage to S?iva temples, the identity of the principle patrons and their motivation for patronage in Shakambhari region under the Cahamanas. It will deal with the class of social groups figuring in the inscriptions, their role in society and their services related to temples.

The origin of Rajputs is a much-debated question in the history of northern India. James Todd regards the Rajputs as descendants of the Scythic people of Central Asia, whereas V.A.Smith considered some of the Rajput clans as indigenous in their origin and others as Scythic.[1] Some others explained their ks?atriya origin on the basis of the Agnikula myth, as a purification myth. The question of the indigenous origin of the Rajputs is a question that is taken up by C.V.Vaidya, G.H. Ojha and others. B.D.Chattopadhyaya has seen the origin of Rajputs as a result of various processes in the early medieval period. He has studied three clans of early medieval Rajasthan the Pratihara, the Guhilas and the Cahamana, and tried to see the various stages in which these clans became politically dominant with the status of Rajput. The different stages in the formulation of their genealogical

claim reveal a political process, and show an upward mobility from a feudatory status.[2]

Cahamana

The bardic tradition of the Rajputs regards the Cahamanas as one of the four fire born races. Epigraphic evidence suggests that the Cahamanas were divided into many branches. Some of them were feudatories of the Pratiharas of Avanti and Kanauj.[3] During the period c. 750 to 950 CE, most of the regions over which the Cahama?na ruled, were included in the Pratihara dominions.

Cahamana of Shakambhari

The earliest inscription of this branch is the Harsha stone inscription of the time of Vigraharaja II dated AD 973.[4] It traces the genealogy of the Cahamanas from Guvaka I to Vigraharaja II. It carries back the genealogy of Cahamanas for six generation upto Guvaka I, who was a feudatory of the Pratihara ruler Nagabhatta II (c. 815 AD). The pedigree mentioned is- Sri Guvaka I, his son was Sri Chandraraja, his son Sri Guvaka II, his son Inabhupa (mighty monarch) Chandanaraja, his son Maharaja Vakpatiraja, his son Maharajadhiraja Simharaja and after this Vigraharaja, who was ruling at the time when the inscription was composed. Harsha inscription called Vakpatiraja a Maharaja. He was probably a Shaiva. He built at Pushkar a temple for Vyomakesa, 'which looked like Kailasa'.[5] It mentions that Simharaja piously gave abundant wealth to Hara for a temple (place is not mentioned) and on Shiva's dwelling he set a golden dome.[6] Then it gives a glorious account of Vigraharaja, resembling Indra. The inscription further records an account of a line of ascetics who were in charge of the temple of Harshadeva. Shiva by the name of Harsha deva was enshrined in the *linga* form, and was the family deity of the Cahamanas of Sakambhari and through him the family is believed to have become illustrious (v.27). It further said that the great kings of this line had the origin of their virtues in devotion to Shambhu. The patronage of Harshadeva by the Cahamanas must have added to their prestige.

The Sakrai[7] and Kinsariya[8] inscriptions talk about the other ruler of this branch. The Sakrai inscription calls Durlabhraja a Maharajadhiraja. After him came Govindaraja III, Vakpatiraja II,Viryarama, Chamundaraja and Simhata, Durlabharaja III, Vigraharaja III. Prthviraja I was the son of Vigraharaja III. The Prthviraja-vijaya mentions his free distribution of food on the way leading to Somanatha.[9]

Other rulers such as Ajayaraja, Arnoraja were Shaiva[10] but they paid respect to the followers of Vaishnava and Jaina sects too.

Vigraharaja IV, known as Bisaladeva, was an ardent follower of Shiva. Ajmer stone inscription of Vigraharajadeva IV, dated AD 1153,[11] contains portions of Harakeli-nataka, a drama composed by Maharajadhiraja Parameshvara Vigraharajadeva of Shakambhari. The drama in certain portions seems to have been imitated from the *Kiratarjuniya* of Bharavi.[12] It seems to be intended as a prashasti to the god S?iva and his consort Gauri. The inscription opens with a conversation held by Shiva, Gauri, the Vidushaka and a Pratihara in which the worship rendered to Shiva by Ravana is spoken of with approval. Further, it mentions that noticing some fragrant smell as of some oblation presented to him, Shiva despatches his attendant Muka to check the cause of it. Muka returns and reports that Arjuna is preparing a sacrifice. Shiva told Muka to assume the form of a Kirata, to go near Arjuna and await Shiva. Shiva then perceives that Muka and Arjuna, who were enemies before, begin fighting with one another. He therefore goes himself as a Kirata to assist his attendant, and after that a terrible battle starts between Shiva and Arjuna, and which ends with the god's acknowledging the valour of his opponent. Shiva and Gauri reveal their real nature and Arjuna asks their forgiveness for whatever he may have done to offend them and praises Shiva as the most supreme divine being. Shiva, pleased with Arjuna's valour presents him with a mystical weapon. After Arjuna's departure, Sjiva tells Gauri that the poet Vigraharaja has so delighted him with his Harakeli-nataka that they must see him too. Vigraharaja then himself enters in the play, and after having a short conversation expresses great pleasure with the composition of the drama. Shiva tells the author that "his fame as a poet is to last forever" and then he is sent home to rule his kingdom of Shakambhari.

We can draw some points from this inscription that, first; Vigraharaja IV was a fervent follower of Shiva with whose help he had succeeded in beating his enemies. Second, by this time he became a sovereign ruler of Shakambhari. Third, in this play, Vigraharaja is portrayed as a great poet whose work delighted Shiva so much that he himself came to see the poet. It indicates the powerful position of Vigraharaja as a ruler, devotee and a poet.

Dhod stone inscription of Jahazpura district, dated AD 1169,[13] records that during the reign of Parameshvara Paramabhattaraka Prthvideva II, the lord of Shakambhari, and his feudatory Ahiraja

Kumarapala erected the temple of Nityapramoditadeva at Dhavagartta, which was of Shiva. Prthvideva's chief queen Suhava was like her husband a devout Shaiva. The Shiva temple at Menal bears an inscription dated 1168 AD bears the name Suhavesvara after her and enjoyed from her the grant of 20 *drammas*[14] a year. After Prthviraja II demise, Somesvara became the ruler. He assumed the title, Pratapalankesvara in Bijolia inscription dated 1170 to show his devotion to Shiva as the Lankesvara.[15] He is described as having attained sayujya with Shiva.[16] He erected temples dedicated to Tripurusa and another to Vaidyanatha.[17] Visalpura stone inscription dated 1187 AD[18] records some donations to the temple of the god Gokarnanatha at Vigrahapura, in the Sapadalaksa country. The temple as well as the town is said to have been founded by Bisaladeva (Vigraharaja IV). The early rulers of Shakambhari called themselves Maharajas, but from the time of Prthviraja I they are styled Paramabhattaraka-Maharajadhiraja-Parameshvara. This new title reflects a great increase in their power.

Temple, Trade and Religious communities

The Harsha[19] Stone inscription of AD 977 from Sikar in Rajasthan mentions the corporations of horse dealers from Uttarapatha (the northern country) and salt merchants from Shakambhari. It further refers that Vigraharaja was served with many presents, with strings of pure pearls, gay steeds, fine garments and weapons; with camphor, quantities of betel, first rate sandal wood and endless quantities of gold and with spirited rutting elephants with their mates.[20] Some of aforementioned things are not indigenous to Shakambhari area. Earlier it was mentioned that traders of northern country were the donors to the temple hence, we can assume that traders of various commodities such as Pearl, and fine garments were frequent in this area due to its increasing importance as a mandapika or exchange centre.[21] The Kiradu[22] Stone inscription of AD 1153 and the Arthuna[23] inscription of AD 1080 from Banswara indicate the existence of trader's guilds in those regions. The gradual mercantile growth may have been partially due to increase in commercial traffic along the routes through the respective region. The major commercial centres of the period were situated on the major route of communication. They ran via Jodhpur to Ahmadabad via Sirohi. Another route ran from Udaipur to Chittorgadh and Ajmer.[24] These routes included both main and link routes.

It is interesting to note that the major trade routes of the time were also studded with the wide range of Jaina, Saiva, Durga and

Surya temples. The incorporation of local gods and goddesses and the patronage of their cults by the emerging political elite mark the building of an ideological framework to support the process of state formation. Considerable merchant activity gives rise to two potential categories of donors, first the prosperous mercantile community and the second category included ruling chiefs. It seems that the validatory function of temple making and donation gained wide popularity in the society. Temple making was a more direct instrument of gaining religious validation for political power.[25]

Patterns of patronage

Gifts and building of religious monuments were believed to bring religious merit. This was of primary importance in the rise of community investment in religious art and architecture. There was the connection between the patronage of religious establishments, and social and political legitimation. The grants given to existing temples or newly constructed temples show the patronage extended by people of different sections of the society.

Our analysis suggests that Shaiva ascetics were actively engaged in the construction of Shaiva *mathas* and theirup keeping, with the help of certain gosthis. It is quite clear that they possessed some material wealth, and with the help of that they were doing these public works. The source of this material wealth could be assigned to the grants given to the temples which they were part of. Sometimes, these religious communities emerged as main donors to the temple.

Harsha inscription of Cahamana Vigrahraja,[26] 1030 AD, gives information about Lakulisa-Pasupata ascetics. It mentions that Visvarupa whose hereditary doctrine was the Pancarthalas was a devout worshipper of Uttareshvara (Shiva). His pupil was Prashasta, who was a worshipper of Pashupati, his disciple was Bha?varakta, also called Allata, a Brahman of Vargratika tribe. He caused to be built this temple of Harsha. His disciple was Bhavadyota who completed the work of temple building after the demise of Allata. It is further mentioned that he was a true worshipper of Pashupati and constructed an excellent well, a beautiful garden and a cistern for watering cattle. These Saiva ascetics received enormous grant from the Cahamana rulers in the form of land, traders also granted money to this temple. It says that Bhavadyota had matted hair, ashes on body, a broad couch formed by the earth, was naked in appearance, received food as alms and used hand as a drinking cup. This shows the life of Pashupata

ascetics. The name of the village Ranapallika gives the idea that by this time the area-surrounding Harsh Mountain were well developed in a sense of trade.

V.S.Pathak has argued that Pancartha word is a synonym of Pashupata cult, therefore Pancaratrik were the followers of Lakulisa.[27] It suggests that by the 10th century Pashupata sect was blooming in the Sikar area under the royal patronage of Cahamana kings. Another Shaiva temple inscription of Dhod village, Jahazpur (1172 AD) records Bhattaraka Prabhasarasi who built a monastery near the temple of Nityapramoditadeva for the residence of Kapa?lika ascetics from 'foreign countries'.[28]

Nature of the Gifts

Sometimes temple donations were given by the individual or by community. They vary according to the social status: whether royal, ascetic, layperson, artisan, traders etc. Collective patronage was also responsible for the construction of the temples. However, kings supported these temple complexes by granting villages for their upkeep. The widespread community involvement during this period suggests general economic prosperity. In our time of study, *Purtadharma* was held in the highest regard. As temples became larger and more costly, additional taxes were sometimes introduced to provide a further source of revenue.

Donations from royal patrons and private individuals towards the running of the temple and its upkeep were received in the form of money, livestock or income from grants of land, including whole villagers and their inhabitants. The wealth acquired by the temple served not merely for its construction but also for the expanses of administration, puja, festivals and payment of temple servants. The cost of the festival and the expenses of daily worship were largely borne by the temple from the income on land owned by it.

The Harsha stone inscription of AD 973 has given a list of endowments received by the temple of Harsha. The maharajadhiraja Simharaja, after having bathed at Pushkara-tirtha had given the villages Simhagostha in the Tunakupaka-dvasasaka in the Pattabaddhaka *vishaya* and Kanhapallika in the Sarahkotta *vishaya*, his brother Vatsaraja gave the village of Kardamakhata in the Jayapura-vishaya, king Vigraharaja, the villages of Chatradhara and Sankaranaka; Simharaja's other sons, Candraja and Govindaraja, two hamlets in the Pattabaddhaka and Darbhakaksha-*vishayas*; Dandhuka, an official of

Simharaja, the village Mayurapadra in the Khattakupa *vishaya* and a certain Jayanaraja, the village Kolikupaka. Besides these fields had been given by various pious people at Madrapurika, Nimbadika, Marupallika, Harsha and Kalavanapadra; and taxes on salt and horses had been assigned for the benefit of the temple by traders at Shakambhari and horse dealers of from the north.

The motivation for the donation, installation, and construction of temples appears from our study to increase religious merit and fame. Most of the temples were constructed with devotion and to express their religious affiliation. The above mentioned patronage extended by people of all classes in the society shows that temple building and giving grants for its maintenance were considered meritorious activities. Temple patronage was influenced by the political changes and socio economic dynamism at different levels. Though the highest patronage activity is supported by the royal power, the study records the patronage of the merchants and traders second highest.

Thus, we can say that inscriptions help us to look at the religious preferences of a particular era and area, and guide us to see the major features of different cults along with their practices. By the analysis of inscriptions one would say that process of interaction and assimilation between different groups and cults were taking place. Royalty emerged as a major patron of the temples, and this gives them the ideological framework to consolidate their rule. One shouldn't see temples as mere centre of worship as it is evident from inscriptions that they played major role in the economic and social life. The close proximity of temples and trade routes further strengthen our argument in the context of early medieval Rajasthan.

References

1. *Dasharatha Sharma, Rajasthan Through the Ages, Rajasthan State Archives, Bikaner, 1966, p. 103.*
2. *B. D.Chattopadhyaya, The Making of Early Medieval India, Oxford University Press, New Delhi, 2010, p. 72.*
3. *H. C. Ray, Dynastic History of Northern India, Munshiram Manoharlal Publishers Pvt. Ltd., Delhi, 1973, vol. ii, p. 1058.*
4. *Epigraphia Indica,vol.ii, pp.116-130.*
5. *Ibid, p.1064, vs. 41-43.*
6. *Epigraphia Indica, vol. ii, v. 18.*
7. *Epigraphia Indica, vol, xxvii,pp. 27-33.*
8. *Epigraphia Indica,vol, xxii,pp. 56-61.*

9. *Dasharatha Sharma, Early Chauhan Dynasties, Orient Book Distributers, Delhi, 1959, p.44.*
10. *Ibid,p. 47.*
11. *Indian Antiquary, vol. xx, p.201.*
12. *Ibid.*
13. *Annual Report of Rajputana Museum, Ajmer, 1923,p.2.*
14. *ASI, WC,1906,pp. 59-60.*
15. *Epigraphia Indica, vol. xxvi,pp. 84-112,v. 27.*
16. *Dasharatha Sharma, Early Chauhan Dynasties, Orient Book Distributers, Delhi, 1959, p.78.*
17. *Annual Report of Rajputana Museum, 1922-23, p.8.*
18. *ASI,WC,1921,pp. 55-56.*
19. *Epigraphia Indica, vol. ii,p.124.*
20. *Ibid, verse 24.*
21. *Ravina Meena, "Temple, Trade and Religious communities: Saivism in Early Medieval Rajasthan", Proceedings of Indian History Congress, 75th session, 2014, pp.246- 252.*
22. *Epigraphia Indica,vol. xi,p.45.*
23. *Epigraphia Indica,vol. xiv,p.302.*
24. *V.K. Jain, Trade and Traders in Western India A.D 100-1300, Munshiram Manoharlal Publishers, New Delhi, 1990, pp.118-121.*
25. *Ravina Meena, "Temple, Trade and Religious communities: Saivism in Early Medieval Rajasthan", Proceedings of Indian History Congress, 75th session, 2014, pp.248.*
26. *Epigraphia Indica,vol. ii,pp.116-130.*
27. *V.S.Pathak, History of S?aiva Cults in northern India, from inscriptions 700 a.d. to 1200 A.D., Abinash Prakashan, 1980, p.12.*
28. *Annual Report of Rajputana Museum, 1923,p.2*

Sufistic traditions in Marwar prior to Rao Jodha

Dr. Yaqub Ali Khan

Rajasthan presented a very fetile soil for the growth and expansion of the sufi movement. Sufism struck roots here much before the Muslim conquest of India. In fact political and military expansion of the Muslim power had little to do with the expansion of Sufism as the sufis aimed not at the conquest of the country, but the conquest of the hearts by the way of pure morality, human fraternisation, the cardinal realities of high ethical and spiritual values and the characteristic essential of `Taat-i-Muatdi', that is service to God which consists of service to humanity at large and that the artificial distinctions dividing mankind were to be rejected with disdain. There are certain sufis who settled down here prior to its Turkish conquest. During the period of 10th to 12th centuries there was great ups and downs and a considerable number of Muslims mystics, men of letters and cultural pursuits, royal family members and the men of social and cultural elits fled to India for safety and continuity of their intellectual and religious pursuits. India was guaranteeing peace and hospitality and so the sufis found a new home and a lucrative soil for the spronting of the spiritual seeds their mission.

Before the India's conquest by the Muslims except Khawja Muinuddin Chishti we are not sure about the settlement of the sufi saints in Rajasthan but we find some cursory references about some sufis who made their abode it and began to work here. Among them first of all we find the reference of Shaikh Hamiduddin Rehani, popularly known as Dada Rehani, said to have come here almost one hundred years prior to battle of Tarain. In those day it was very difficult to work as a missionary so he lived there like a Jain saint as a guest of the ancestors of Rajmal Chaudhary in the Mohalla of Kalipole which is called nowadays as Naukoti-ka-usara. There is a story about last days of the shaikh but it is fact that last prayer (zanaza) was led by Qazi Hamiduddin Nagauri and was buried at Bakhatsagar, outside the Mahigate.[1] After his death sufistic tradions may be carried by some sufis as Nagaur was a headquarter of suba of Marwar and a famous trading centre. During the next few centuries it became a homeland

for the sufis of the various silsilahs among which Suhrawardia, Chishtia, Maghrabia, Qadirias and other minor orders were most important to note and they brought it to limelight which gained the second place after Ajmer. Suhrawardi Silsilah :

Suhrawardi Silsilah -

The founder of this Silsilah was Shaikh Shihabuddin Umar Suhrawardi[2] who was a versatile writer and was the author of a large number of works. Amongst them most famous and reputed work was "Awarif-ul-Ma-arif' In India this branch of Sufism was brought by his Khalifah Shaikh Bahauddin Zakaria who settled at Multan.[3] In Rajasthan to establish this order credit goes to Qazi Hamiduddin Nagauri, a Khalifah of Shaikh Shihabuddin, who was one of the most learned scholars of his age.[4] His full name was Shaikh Muhammad Ibn-i-Atta and a son of Shaikh Ataudddin of Bukhara. He came to India with his father during the regin of Sultan Muhammad Ghori.[5] Sultan appointed to Shaikh Muhammad Ata (Hamiduddin Nagauri) the Chief Qazi of Nagaur. He was the first chief Qazi of Nagaur[6]. Since he held the post of Qazi, he became to be known as Qazi Hamiduddin Nagauri.

He was one of the best scholar of this times. He used to hold sama gatherings day and night. He made Nagaur a centre of Suhrawardi order of sufism and propagated its principles throughout Rajasthan[7]. His works were respected in the highest academic circles of the country. Qazi's works were studied enthusiastically by both Chishtia and Suhrawardia Sufis. One of these Lawaih (Flashes of Light) no longer exists but was a most important and advanced Sufi text book at that time. Baba Farid lectured to his disciples on this work of Qazi.[8] The manuscripts of three other works called the Isquiya, Tawali-al-Shumus and Risala-i-minkalam, have survived. Qazi Hamidudin was keeping his correspondence to another saints of the period. He wrote letters to Baba Farid also.[9]

When Maulana Raziuddin, a profound scholarof Hadiths who compiled the Mashariq-ul-Anwar, reached to Nagaur, learned scholars such as Qazi flocked around him and attended the Maulana's lectures on the Hadiths. Maulana taught a book of Hadith to Qazi entitled as Misbah-al-duja.[10] Qazi Hamiduddin Nagauri is reported to have committed to memory the entire text of Ruh-al-Arwah. is mystical ideology was mainly based on this work.[11] The struggle between Qazi and the Ulama was a protracted one. But Qazi's wit and knowledge of

Islamic laws generally frustrated the Ulama's efforts to defeat him on legal issues. Though Qazi Hamiduddin was a Suhrawardi Saint but he was a intimate friend and spiritual successor of Shaikh Qutubuddin Bakhtiyar Kaki of the Chishti order and he was greatly influenced by the Chishti saint who aroused him in a great interest in Sama. It is a well known fact that sama was totally against the existing traditions of the Suhrawardia order but he preferred to pass his time in mystic songs and dances rather than attempt the arduous task of organizing a spiritual order.[12]

Despite his eminence as a scholar and in the sufi movement, he did not admit anyone to his discipline except a butcher of Delhi, a rope maker of Badaun and Shaikh Ahmad of Naharwala.[13]

While holding the post of chief Qazi of Nagaur he propagated the mystic ideology, strengthened his mystic order there and in neighbouring areas very successfully. After the death of his patron sultan Itutmish, he returned to Delhi and started living in the Khanqah of his late friend Shaikh Qutubuddin Bakhtiyar Kaki but after some time he died on 5th Ramzan, 644 AH/9th Nov., 1246 AD. He is buried near the mazar of Khwaja Qutubuddin at Mahrauli.[14]

After the death of great Suhrawardi saint, his descendants and followers continued his traditions of preaching the principles of sufism in Rajasthan and surrounding areas. We come to across a grandson of Qazi named as Maulana Zahiruddin. His Khanquah is locally known as Mazar-i-Shahidan situated in the Loharpura locality of Nagaur. The tomb of Maulana Zahiruddin is now the main centre of attraction for the pilgrims but nothing of the old building of the khanqah has survived. Another spiritual successor of Qazi Hamidduddin Nagauri was Shaikh-ul-Mashaikh, Shaikh Sulaiman. He was the contemporary of Islam Shah Sur and Akbar, the great.[15] Shaikh Sulaiman was a man of justice and religious tolerance too. It is said that a Jaina Poshal (religious building) standing in the name of Bhattarak Kirat Chand which seems to have been occupied either for public or private use. It was through the intercession of Shaikh Sulaiman, the building was vacated and handed over to its original owners under the order of Yusuf Daulat Hussain Khan Sur, who was most probably the governor of Nagaur in Feb. 1552 AD.[16] This incident testifies on one hand to the broad out look marked by high traditions of tolerance as practiced by Muslim divines and on the other indicates the extent of respect in which the Shaikh was held by the authorities and also by the non-Muslim residents of the town. It is was Shaikh Sulaiman that the tomb of Qazi amiduddin

was constructed by him in AH 974 (1566&67 AD) Shaikh Sulaiman died in the same year i.e. 974 AH (1566-67 AD).[17]

Chishti Sisilah

The mentle of vicegerency of Khawaja Muinuddin Chishti in the region of Rajasthan fell upon his illustrious disciple sufi Hamiduddin Nagauri who rendered conspicuous services to the cause of the expansion and disemination of th silsilah and ideology of the Chishti affiliation of the mystics of India. He established his khanqah in the rural settings of Nagaur to work for the expansion of the silsilah and passed his life in abject poverty. He was the first male child to have been born in a Muslim family after the Muslim conquest of Northern India.[18] When Shaikh Hamiduddin enrolled himself as a disciple of Khwaja, he became thoroughly disgusted with things material and mundane and warned his visitors against discussing worldly affairs in his mystic assemblies. Impressed by his devotion to mystic path and ascetic life, Khwaja Muinuddin Chishti conferred on him the title of "Sultan-ut-tarikin" (the King of Hermits).[19]

He dressed himself like a typical Indian peasant and used two sheets of cloths to cover the upper and lower parts of his body.[20] His wife was a virtuous lady characterised by fervent piety and strong mystic temperament, spent her time in cooking and spinning like a peasant worman.[21] Like the most villagers among whom he lived, Shaikh was strict vegetarian and respected the animal life with the principla of Ahimsa.[22] He was a votary of pacifism and non-violence and respected all forms of life-human and animal. His vegetarianism approach whether due to spiritual or social consideration, was bound to increase the area of the contact with the non-Muslims too.[23]

Shaikh passed his long life in extremely adverse circumstances of indigence and poverty, clad himself in grimy and tattered cloths, living in a tumbling mud-house, and he was proud of his poverty. He earned his livelihood by cultivation of a single bigha of land.[24] He kept a cow and himself milched it.[25] He lived a happy and contented life of an Indian peasant at Suwal, a village nearby Nagaur.

Touched by his penitence and poverty, the Muqta of Nagaur requested him to accept a gift in cash and a grant of rent-free land for cultivation but the Shaikh declined the offer politely saying that none of his elder saints had accepted the gifts of such type.

His amiable and accommodating nature and the principle of identification witht he environment, Shaikh set a new traditions of

harmony of Islam and the mystic way of life with the predominantly non-Islamic atmosphere and demonstrated in the most commendable way as to how a great sufi upholder of the high ideals of the mystic philsophy could adopt himself to the rural life pattern in the midst of an overwhelming Hindu population with peace and equanimity and produce a silent revolution in the social norms of rural Rajasthan bedding to the widespread diffusion of mystic values and culture and draw multitudes to the fold of the silsilah by presiding over the divine Kingdom of kindered hearts. His success was doubly assured by is simple and unassuming nature, widest tolerance and profusion of deep senmtiments of sympathy, cooperation and goodwill towards the rural population.[27] The Shaikh abhorred the worldly pursuits and once he warned his visitors against duscussion worldly affairs in the mystic gatherings.[28]

Shaikh Nizamuddin Auliya was full of praise for the accomplishments of Shaikh Hamiduddin.[29] He had long correspondence with Shaikh Bahauddin Zakaria and the mediator of this was a merchant who used to bring cotton from Multan and bought oilseeds from Nagaur.[30] Early Indo-Muslim mystics adopted an attitude of sympathy and understanding towards all cults and creeds. It was his firm conviction that spiritual greatness could be attained by Hindus in the same way as it could be achieved by the Muslims.[31] His greatness was in loving hearts. He adopted the highest form of devotion which was nothing but helping the poor, distressed and misery-stricken people as the basic view point of great Khwaja Muinuddin Chishti.[32|

Shaikh Hamiduddin Nagauri expired on 63 AH/1276 AD and buried at Nagaur.[33] His Khanquah is very big and one of the oldest in Rajasthan. It is a popular sacred place among the masses.[34]

Shaikh Hamiduddin had two sons namely Shaikh Azizuddin and Shaikh Mujibuddin and a daughter Meharbano but both his sons dies during the lifetime of Shaikh Hamiduddin.[35] So Shaikh Hamiduddin nominated his grandson, Shaikh Fariduddin as his psiritual successor and Khalifah. He exercised a considerable influence over the Kings, officials and the nobles for the goodwill of the masses. He is considered the compiler of the Mafuzat of his grandfather entitled as `Surur-us-sudur'.[36] He came to Delhi in the reign of Sultan Muhammad bin Tughlaq where he died and buried near the mazar of Khwaja Qutubuddin Bakhtiyar Kaki.[37] The tomb of ShaikhFariduddin was erected by Sultan Muhammad bin Tughlaq in 735 AH. Sultan granted a village named `Deh', not far from Nagaur to Shaikh Fariduddin and his brother Shaikh

Najibuddin and sons of Shaikh Wajihuddin. Sultan also married her daughter to Shaikh Fatahullah bin Shaikh Auhaduddin bin Shaikh Fariduddin Mahmud Nagauri.[38]

Most of the credit for the re-establishment to Nagaur as a strong centre of Sufism goes in reality Khwaja Makhdum Hussain Nagauri, a descendant of Shaikh Hamiduddin and a disciple of Shaikh Kabir of Gujarat.[39] He lived like a local cultivator, driving a bullock cart and carring for his animals himself. He lived both at Ajmer and Nagaur and the money which he received from Sultan Ghayasuddin Khalji of Mandu was spent in constructing the tomb of Khwaja Muinuddin Chishti and the boundary for the khanquah of Shaikh Hamiduddin.[40] At Nagaur he devoted himself to the religious and spiritual education of others. He wrote a detailed commentary on the Holy uran, entitled the `Nur-un-Nabi' and also compiled treatises on Sufism.[41] Not only this but at the same time he constructed a garden and a hauz named as `Rasubari and Mustafa Sagar' respectively for welfare of the masses.[42] During this period Marwar remained as the second great center of sufism. Shaikh Hussan Nagaur died on 14th Muharram 901 AH/1495 AD and buried near the mazar of Sufi Hamiduddin Nagauri.[43]

Maghribia order -

Apart from Chishtia, Suhrawardia and otehr Silsilahas, Maghribia order also entered into the fertile land of Rajputana. The founder of this order was Shaikh Abu Madyan Shuaib-al-Hussain.[44] He belonged to the western or African country. Baba Ishaq belonged to this famous mystic order of Africa known as Silsilah-i-Maghribia. On his mystic itinerary, Baba Ishaq reached to Kayam in Maghrib where he met to a saint named as Hazi Muhammad Kayam known for his piety and devotion. Baba Ishaq laid his head at the feet of such a master.[45] He became his disciple and Khalifah. He remained for several years in the company of his master and learned the doctrines of sufism.

Although Baba Ishaq was enrolled into Maghribiya order of North Africa, he was so enamoured of India that he decided to settle permanently in his native country. He came back to Delhi. He had a great love and affection for Khwaja Muinuddin Chishti so from Delhi he moved towards Ajmer where he served the shrine of Khwaja for several years. He received a spiritual order from Khwaja to settle down permanently at Khattu.[46] Here Baba Ishaq got much popularity and he was highly esteemed by the masses. The men of different temperaments flocked to his Khanquah. The muqta of Khattu had

great attachment to shaikh and used to pay visits frequently, even he was present in his khanquah on the day of his death.[47] Baba maintained the tradition of langer (open kitchen) and fed to hundreds of people every day.

Baba Ishaq was highly respected by Sultan Muhammad bin Tughlaq but no saint could be sure of the Sultan's favour and regard for him who demanded active participation from the saints in the administration.[48] But the shaikh was always conscious of his matter so he did not look towards the sultan with a high level of aspirations and adopted and attitude of aloofness. Shaikh did not participate in any programme arranged by the governing class. Sultan Firoz Tughlaq also had great faith and affection for the shaikh.[49] During the reign of Firoz Shah, he gained considerable fame and many nobles became his disciples including Razi-ul-Mulk, the Deputy Prime Ministerof the Sultan. Due to Raziduddin's attachment to him, many soldiers of the army also joined his discipline.[50]

Once Baba asked his spiritual successor, Shaikh Ahmad to enroll himself as a disciple of Shaikh Jalaluddin Bukhari, Shaikh Ahmad expressed his firm resolve to remain attached to Baba despite his poverty. The reply of Shaikh Ahmad immensely pleased and said `Baba! who predicted a bright future and it was due to his blessings that Princes and rulers actually thronged his Khanqah'.[51] Once Shaikh Ahmad was on a visit of Didwana, Baba fell ill, a messenger was sent to bring him back. Baba was on his bed when he arrived. He asked to his Khalifah to recite something. He recited a couplets which the dying saint interpreted as a happy augury for his blissful life after death.[52] He asked Shaikh Ahmad to dig the grave in his life. Baba died on 17th Shaban 776 AH (1374-75 AD)[53] and he was buried in the same grave which was dug during his illness under his own supervision. HIs Khanqah attracted people from for and wide. He extended his moral and spiritual support to people of all castes and creeds.[54]

In Khattu the compound of the shrine of Baba Ishaq is still pilgrimage center. In the compound there is a Khanqah, the tomb of the Shaikh and a number of tombs and other buildings, including a mosque and colonnades for the temporary residence of pilgrims.[55]

Qadiriya order

Another important order which was established in Rajasthan was Qadriya. Qadiri silisilah was established by Shaikh Abdul Qadir Jilani (1077-1166 AD), one of the outstanding figures in the annals of

Islamic mysticism. He was born at Jilan. Later on, he became the Khalifah of al-Mukharrimi. Finally he settled down at Baghdad.[56] Shaikh Jilani had many khalifahs who extended the sphere of Qadiri order through out the world including India. Generally it is considered that this silsilah reached in India during the fifteenth century. But few of khanqahs of this order were established in Sultanate period also.

A khanquah at Nagaur was established by a saint of Qadiriya order who claimed his direct relation with Shaikh Abdul Qadir Jilani. It is said that a grandson of great Shaikh Jilani came towards India and settled down at Nagaur where he flourished the doctrines of Islam and teachings of Shaikh Jilani. There is a dargah known as the khanqah of Bare Pir Sahib. It is said that this Khanqah belongs to Shaikh Syed Abdul Wahab.[57] A tomb is situated in this khanquah which dates 1307 AD and attributes the tomb to Shams Khan I whose full name is given as Abdul Wahab Shamsudddin Khan bin Ghausi-Azam. It seems that Shaikh Abudl Wahab was there during the reign of Shams Khan I and the scriber of the inscription gave a wrong date instead of 1407-8 AD. It may be correct that this Shaikh died some time in 1407-9 AD and buried there. Later on Shams khan constructed a tomb over his grave.[58]

It is true that this khanqah was constructed during the reign of Firoz Khan II of Nagaur which is confirmed by an inscription found in that Khanqah. Another Qadiri shaikh was Yatim Darvesh at Nagaur, A disciple of Shaikh Taj Muhammad Abbassi Qadiri Nagauri, who constructed a mosque named Arnali Masjid in Nagaur.[59] From this evidence it is clear that he was a Qadiri saint and was working for the development of Qadiriya order as well as sufism in the Nagaur region.

From the above pages it is clear that the sufism was very well rooted in the desert land of Marwar. It was a place where Muslim population inhabited prior to the conquest of Northern India by the Muslims. There were certain Muslim colonies in India prior to battle of Tarain and among them Nagaur was one. Systematic sufi movement was launched by Qazi Hamiduddin Nagauri and later on a chain of continuity became its feature at Marwar and particularly in Nagaur. They looked upon social services as the supreme object of all their spritual exercises and their eagerness to establish cordial relations with the non-Muslims and understand their religious life and thought facilitated the evolution of common cultural outlook. The popularity and success of these sufi saints was due to their understanding of the Indian conditions and the religious attitude and aspiration of the Indian people.

References

1. *Sufiya-i-Nagaur may Salatin-i-waqt. M. Ayyub (urder) P. 74*
2. *For biographical accounts, see-Ibn Khallikan, II no. 95, Nafahat-ul-Unus P. 472 Misbahul-Hidaya, pp. 26-27*
3. *For biographical details, see Fawaid-ul-Fuad, pp. 5-10, Khair-ul-Majalis pp. 131-137-283, Siyar-ul-Auliya pp. 60-70. Siyar ul-Arifin, pp. 102-128, Akhbar-ul-Akhyar, p. 241*
4. *Fawaid-ul-Fuad p. 241*
5. *A history of Sufism in India S.A.A. Rizvi, Vol.-I, p. 96*
6. *Islamic culture, Vol. 53, No. 4, p. 217*
7. *Ibid, p. 217-218*
8. *A history of Sufism, Vol.-I, p. 197*
9. *Fawaid-ul-fuad, p. 164-65*
10. *A collection of the traditions of the prophet Muhammad. Its full title was Misah-al-duja Min Sihah Ahadith-al-Mustafa.*
11. *Fawaid-ul-Fuad, p. 89*
12. *Religion and Politics, p. 221*
13. *Ibid*
14. *Siyar-ul-Arifin, p. 151, 152, Akhbar-ul-Akhyar, p. 46*
15. *Ain-i-Akbari, vol. III, p. 367*
16. *Eigraphia Indica-Arabic and Persian Supplement, 1955-56, p. 34*
17. *Ibid*
18. *Surur-us-sudur, (MS), p. 11*
19. *Akhbar-ul-Akhyar, p. 30*
20. *Siyar-ul-Auliya, p. 82*
21. *Surur-us-sudur, (MS), p. 9; Shajarat-ul-Anwar, (MS), p. 196*
22. *Surur-us-sudur, (MS), p. 10, 23;*
23. *Sufi movement in Rajasthan during the medieval period, p. 66*
24. *Akhbar-ul-Akhyar, p. 30; Safinat-ul-Auliya, p. 129; Nagaur-A forgotten Kingdom, MA Chaghtai, Bulletin of Deccan College of Research Institute, Poona, Nov. 1940, pp. 166-183*
25. *Surur-us-sudur, (MS), p. 14*
26. *Siyar-ul-Auliya, p. 156*
27. *Fawaid-ul-Fuad, p. 70*
28. *Surur-us-sudur, (MS), p. 5*
29. *Siyar-ul-Auliya, p. 81*
30. *Surur-us-sudur, (MS), p. 87; Siyar-ul-Auliya, p. 81; Akhbar-ul-Akhyar, p. 30*
31. *Fawaid-ul-Fuad, p. 70*
32. *Siyar-ul-Auliya, p. 168; Fawaid-ul-Fuad, p. 70*
33. *Ain-i-Akbari, vol. III, p. 367*
34. *Imperial Gazetteer of India. Vol. XVII, p. 298*

35. *Surur-us-sudur, (MS), p. 14-15; Akhbar-ul-Akhyar, p. 74; Khazinat-ul-Asfiya, Vol.-I, p.*
36. *Akhbar-ul-Akhyar, p. 74*
37. *Ibid, 74; Surur-us-sudur, (MS), p. 28*
38. *Surur-us-sudur, (MS), p. 24-25*
39. *Akhbar-ul-Akhyar, p. 174*
40. *Ibid, 174; Tabqat-i-Shahjahani, p. 181*
41. *Uttar Taimur Kalin Bharat, SAA, Rizvi, Vol. II, p. 136-137; The Indian Muslims, M. Mujeeb, p. 294*
42. *Aftab-i-Nagaur, MA Farooqi, p. 94-96; Uttar-Taimur-Kalin Bharat, SAA, Rizvi, Vol. II, p. 136-137*
43. *Tazkirah-i-Sultan-t-Tarikin, p. 26*
44. *The sufi order of Islam, pp. 46-47*
45. *Ibid*
46. *Gulzar-i-Abrar, p. 82; Mirat-ul-Asrar (MS) p. 324; Rajputana Gazetteer, Vol. III, p. 115; Ain-i-Akbari, Vol.II, p. 212*
47. *Tuhfat-ul-Majalish, p. 13*
48. *Salatin-i-Delhi key mazhabi rujhanat, K.A. Nizami, p. 336-337; Comprehensive history of India, vol. V, pp. 495-496*
49. *Tuhfat-ul-Majalis, p. 60*
50. *Ibid*
51. *Ibid, p. 62*
52. *Ibid, p. 13*
53. *Mirat-l-Asrar, (MS) p. 328; Tuhfut-ul-Majalis, pp. 16-18*
54. *Nagaur-A forgotten kingdom, MA Chaghtai, Bulletin of Deccan College of Research institute, Poona, Nov. 1940, pp. 166-183; Mirat-ul0-Asrar (MS) p. 328*
55. *Nagaur, Shookohi, p. 121*
56. *A history of Sufism Vol. I, p. 54*
57. *Nagaur, Shokoohy, p. 45*
58. *Ibid P. 46*
59. *The Research Vol. 10-11, 1970-71 P. 121, 140*

Professor Pema Ram Prize Paper

Recruitment, Role and Hierarchy of Khojas-Nadars in the Amber-Jaipur State: A study of the rise of eunuchs

Dr. Manisha Choudhary

For understanding the dynamics of human society one requires at least a basic understanding of history which will lead to creation of a positive helpful alternative and more creative ways to explore human pasts. The unilateral approach in history writings has chained the hope of alternate histories. The expansion of subject on new themes came with the contribution of the Annals school and it is a forward welcome. But still a sad situation is prevailing as certain groups and communities have been willing ignored, because their demographic number is very less and have no voice in history. Similar is the need to understand and explore the contribution of the eunuchs and third gender in the making of our societies and more essentially the vast empires and popular kingdoms. Socially, a eunuch and a *hijra* are understood as one and the same construct. But originally they are not. How can the difference be drawn? Diference lies in the fact that the former is made through castration (mainly three types) and the later is a biological category (a deformity as science defines, because it is a shift from the perfect bodies of either male or female). The later cannot be helped as it's a natural creation but what about the former? Apparently so far the history of eunuchs' and their contribution has not seen the light of the dawn. Scholz, has provided an insight to understand the historical dimensions of the third sex through analysis of the castration and religious ascetism in Christianity, eunuchism in Imperial China and Muslim world and emasculation in Western Europe.[1] Scholz has categorized the *Hijras*, Heaven's gate religious sect and transgender as several forms of eunuchism around the world. This categorization in one group dilutes the subject completely. Seminal works have been carried on the role of the eunuchs in the Byzantine Empire,[2] Ottamon Empire,[3] Greco-Roman state,[4] Chinese dynasties,[5] Mamluk Sultanates[6] and Mughal Empire.[7] An insight in aforesaid dynasties helps to

understand that imitation of the tradition (employing eunuchs) was a regular visible feature. The significance of eunuchs in the empires, important official assignments and official designations continued to exist due to nature of created social surroundings which made them socially dead, unacceptable and at times nataly alienated. The influence of eunuch in the imperial setup can be analyzed through the ninth century invention of eunuch Euphrates, who in first place can be credited to persuade the emperor Constantine I (r.306-37) to become a Christian and later to found the famous Constantinople.[8] The survival of the eunuch lied in the assurance of his loyalty and honesty towards the sultan or king, who in return rewarded him with status, money, power and most importantly recognition in empire. The general recruitments and appointments of the eunuchs were mainly to perform a service of 'the loyal guard' who will not be given to any affection towards the other normal humans (man and women), as the castration has made him undesirable for both the biological creation and subsequently, fixed him as a 'Perfect Servant' with manly capacities. The eunuchs were employed and preferably appointed to guard the women palaces and to carry out the tasks assigned by the king/emperor over the centuries. The eunuchs exclusively preserved and ensured their loyalties only towards the king. Due to unaltered honesty and loyalty the eunuchs acquired and enjoyed all the favors of the king and climbed to the highest offices and were followed by the prestige, status and wealth. Leaving the king or acting against him for a eunuch was to enter a society hostile to their sex and ethnicity or barging into humiliation and self-immolation. Unless an assurance of a value and pride is approaching because they had no natural allies in society. Hopkins puts forward that the eunuchs were also serving as a buffer for any kind of criticism that emerged from below.[9] The king depended and needed them as they were the most loyal lot in the kingdom and were performing the service of news collector and will convey the message without any alteration alike angels. 'At first glance, no characters in the early Byzantine empire were as dissimilar as angles and court eunuchs. The first were heavenly creatures,…"good tidings, of great joy"…the second were in popular opinion…, "monsters" and were depicted in art as demons; however iconography of angels and eunuchs became inextricably linked, as a result of their similar occupation'.[10] Similarly the eunuchs who were subjected to isolation, mockery and alienation have helped in defining the Hellenistic idea of beauty. Traditionally, in Christian art the angles were depicted bodiless,

who will take up a body (neither male nor female); only when required and were transmitting messages. Depiction of body and the similar nature of profession (as a messenger) in church and society have closely linked the iconography of angles and eunuchs in the early Byzantine Empire. The iconography used by artists to paint the 'angle draws' was inspired and very close to the physical appearance, role, dresses, robes and ceremonial functions of the eunuch in Byzantine society.[11] It must have been due to the idea that 'the artist perceived that their image were only one possible means of depicting the imageless'.[12]

Historically, the French society was serving as a model for entire Europe and even today it continues to hold the same stature. The structure and dynamics of court society made the elites to compete under the strong pressure for securing position in different hierarchical layers of the social prestige. Elias's work narrates a detailed understanding of the King, court, its members, structures, physical arenas and most significantly the etiquette and ceremonies.[13] Further it notes that 'the office of *grand chambellan* or lord chamberlain is one of the great court offices. Its occupant has supervision over all officers of the king's chamber'.[14] The term literally means 'the one who lies beside' or 'keep watch beside'.[15] This clearly places the eunuch in top trusted office and in most close and loyal association with the king. Renner has extensively used Norbert Elias's work *The Court Society*, to understand a eunuch and the emperor and further analyze relationship between them during pre-revolutionary France and draws on the similarities between French court in 17th century and the Roman court of 4th-6th centuries.[16] But the idea of a 'Roman eunuch' was so hated by Domitian, that he outlawed castration of Romans.[17] The cupbearer of Domitian was a eunuch but the presence of eunuchs in court and political structure was not so visible. The number of eunuchs grew up with the Dicoletian reforms and the presence of the same with great influence at the Roman court became extremely common.[18] Later, under Dominate it became normal to use emasculated men for the position of chamberlain.[19]

As described above the 'castration became an important expression of human transcendence'.[20] The castration was used as a penal code to punish the rape criminals, political crimes, war losers, treating medical conditions etc.[21] Besides, it the Egyptians, Greeks, Romans[22] and Chinese societies have permitted the self-inflicted castration as a devotional and sacrificial rite for underpinning the

eroticism and promote the connection between the divine and the human.[23] Besides facilitating religious and penal elements, castration also became a means to secure job in imperial services.[24] The close study of the eunuchs in Mamluk sultanates of Egypt and Syria helps to distinguish between the Byzantine eunuch and a eunuch in Islamic harem. The former was content with partial castration whereas the later was totally mutilated "leveled flat" (*majbub or mamsuh*) to avoid any possibility of sexual congress between eunuch and women folk.[25] David Aylon suggests enthusiastically about the "great triangle" formed between the Mamluks, women folk and eunuchs. The confidential functions of the state such as postal and intelligence services were also executed by eunuchs. The Mamluk eunuch military commanders' (whether Black or White) had an important and direct role to play as military educator in the sultanate. Noteworthy is the antiquity of use of eunuch in Islam since Umayyad times, the large scale systematic recruitment began with Abbasid caliph al-Mu'tasim (r. 833-42 A.D).

Ringrose, concludes that the castration has deprived eunuchs of full masculine status without making them feminine. It has also freed them from reproduction, family obligations and their distinct physiology and appearance shaped in the distinct specialized environment made them "Perfect servants" who became altruistic aids, counselors and mediators.[26] The eunuchs who lived connected to their biological relatives did extended the imperial favors into their families. So much so that in 11th century Byzantine empire, eunuch John the Orphanotrophos, got his younger brother to the throne as emperor Michael IV (r. 1034-41) by forming a wedlock between the widowed empress Zoe. Before accession to the emperor-hood his young brother was serving at court. 'Because of their special gender status they were associated with preternatural realms. This made them fascinating, dangerous and desirable in ways that are hard for the modern reader to grasp'.[27] Interestingly, throughout the histories the eunuchs had controlled all the prime nerves of the empire.

The efficiency, fascination and desirability for eunuch made the sultans and kings to take up eunuchs in their respective empires. The Sultans and Mughals of India were also imitating the cultures present across the boundaries. On similar pattern initially, the employment of eunuchs was taken up to guard the women palaces. Later, some eunuchs became very popular but no eunuch in India was lucky as eunuch John. The major dynasties and empires always served bench marks for the peripheral kingdoms to look upon and adopt

certain practices. The Ottoman empire served as a model for the Mughals of India and so was the case with the employment of eunuchs in imperial *harem*. The Mughal empire was a phase of transition in the employment of eunuchs (eunuchism) and its absorption by the peripheral kingdoms. In the eighteenth century the Jaipur state was formed as an autonomous state who in past has always worked in close co-ordination with the Mughal Empire. The imitation of eunuch employment in the state is clearly visible from the archival documents which spread from late 17th century onwards to early 19th century. Contemporary medieval states such as Jodhpur state, Jaisalmer state and Bharatpur state did not entertain any exception to this imitation and employed eunuchs indiscriminately. The tradition of employing eunuchs did not impress Udaipur and Bundi State and the recruitment of eunuchs as guards of *Zenani-Deodhi* (female apartments) was denied on pretext of the male face.[28] Renner notes that in Roman state the 'state eunuchs were seen as women instead of men'.[29] This formula seems to fail completely in context of Udaipur and Bundi. Hence, the imitation in employing the eunuchs by the aforesaid states, due to their eligibility to move freely between human (women) and divine spheres (King), and ability to perform their jobs with peaceful efficiency made them a desirable commodity. In context of Mughal Empire, Bernier notes that a eunuch was privileged to enter anywhere.[30]

This study is an effort to understand the methods and mechanisms of recruitment, role and hierarchy of the eunuchs in the Jaipur court. The eunuchs filled valuable and influential positions at the Jaipur court. They were appointed to these positions much in the same way as the king would appoint the nobles to various positions as a sign of prestige. They mediated between the palace, court, barracks and women apartments to carry out the orders of the king. The eunuchs at Jaipur court were called with title of *Khoja* (eunuch) and senior eunuchs were known by the title of *Nadar.* The high demand and the constant need of the eunuchs in the court and the household; popularly known as *Rajlok*[31] (Royal Household), convinced the state to allot a physical space to the eunuchs next to the City Palace of Jaipur located in present city of Jaipur in order to use the service effectively and eliminate any kind of lapses. This area was known as *Mauhalla Nadran* and the *Khojas* lived there along with their *mandalis* (teams). Even today this area is known by the same name but eunuchs no more live here. In the archival documents of Jaipur state namely Dastur Komwar (rules applicable caste-wise) the eunuchs were referred as *Khoja* and

when they were promoted to guard-ship of the women palaces (*rawlas*) their prefix was changed to *Nadar.*[32] According to K.S.Lal, in the Mughal empire the senior eunuch assigned to guard the women's palace was called *Nazir* and had number of eunuchs working under him.[33] Contrary to it Manucci gives a list of 38 eunuchs and all of them were adorned with title of *Nazir*.[34] So, it is evident that title of *Nazir* was bestowed upon senior eunuchs who have served up to the satisfaction of emperor and was synonym of superintendentship. The similar type of hierarchy prevailed in the recruitment and appointments of the eunuchs at the Jaipur court as it depicts through the usage of the title '*Khoja'* on appointment who was later promoted to the '*Nadar'* on fulfilling the desired code of conduct along with the responsibilities.[35] Only a *Nadar* was entitled for position of *Nazri* to *Zenani-Deodhi*. Besides these two (*Khoja/Nadar-Nazari*) there was no other classification of eunuchs at work in Jaipur court. Whereas, at Mughal court the first categorization classified eunuchs on basis of the seniority and under second type of classification the eunuchs were identified on basis of looks and skin colour as *Kafuri* (camphor color), *Sandali* (sandal wood colur) and *Badami* (almond colour).[36] In the variants dialects of *Marwari* language such as Jaipur-*Dhundhari*, Jodhpur-*Marwari*, Kota-*Hadoti;* the eunuchs were invariably called as *Khojas and Nadar/Nazir.*[37] They served in different capacities as spiritual hooks, administrators, governors, political mediators, envoys, spies, news collectors, guards, superintendents, personal attendants and carried out the imperial civil and military commands. They were complete men for all practical purposes. The similar duties were performed by the eunuchs at the Mughal court.[38] The fascination for eunuchs and desirable imitation of the practice was widely visible across the successor, rebellious, autonomous states and invading forces[39] of the eighteenth century.

This work also aims to examine and analyze the contribution of eunuchs at the Jaipur court and will provide an interesting insight in the working of *Khojas* at the palace and household while serving in different offices. The association with the king and kingdom facilitated *Khojas* to make fortunes and accumulate wealth, power and prestige. Some took up eunuchism for making fortunes[40] while for some it was a curse out of poverty and a way to waive off the imperial wrath about to inflict upon them due to non-payment of the taxes.[41] Interestingly, in epic literature eunuchism was a method of punishment for the unmanly conduct. The story says 'Urvashi approached Arjun,

offering him all the pleasure that *apsara* (women angle with upmost beauty) are known for, including and especially her body. But Arjun rejects her, claiming that he is descended from Pururavas and as such he thinks of her as a mother in much the way he thinks of Kunti. Urvashi was outraged-she was never been rejected before. For his unmanly conduct, Urvashi curses Arjuna to become a eunuch.'[42] Luckily, our sources don't indicate to eunuchisms as an infliction of punishment. The court records indicate that it was always voluntary. Though, the parents were parting away from the male child to pay the revenues. Was it really a willing choice for the male children who were taken against the non-payment of the revenue? The practice of converting men in eunuch by emasculation was very common in Bengal.[43] In Sylhet (a dependency of Bengal), it became a common practice for the people to castrate a few of their sons and pay the revenue (*mal-wajib*) in that kind to the governor.[44] Similar suit was adopted and followed by many other states 'and every year some children are thus ruined and cut-off from procreation'.[45] For many besides paying revenue through sons, it was also a route for procuring some finances to manage the mandates of life. Manucci notes that 'the poor and miserable progenitors, who out of absolute hunger have sold their sons'.[46] The need for money forced many people to give away their children to the *Khwajasaras* to make them eunuch and enroll them as *chela*.[47] In return, the *Khwajasaras* paid hefty amounts to the parents. Were those male children given the right to exercise will especially regarding their inclusion or enrollment in the alienated world of eunuchs? Was the right to dignity in any case exercised by male children who were taken in exchange of the revenue? The question goes unanswered as the *Khwajasaras* and *Khojas* never maintained the records of day to day or the occasional happenings in the *mandalis*. 'men in thousands were emasculated simply to serve as domestics or guards in their female apartments'.[48] The silence in documents and absence of records regarding eunuchs and their social organization and activities are the greatest unbreakable blocks before any researcher. At Jaipur court, eunuch was no synonym of punishment under the veil of voluntariness.

The wide employability of eunuchs made them expensive and they were serving status symbols. The effective utilization of 'a made eligibility' (castration), service necessity and high cost made the eunuch 'alive' gift of utility.[49] Many times the visitors at court gifted eunuch to the king which was happily accepted by later and appreciated with

reciprocation. Gulab *Khoja* was brought to Jaipur court by Manji Dhabai from Udaipur and was presented to Sawai Jai Singh.[50] The political significance of the *Thikanedars* helped them to acquire these 'alive' gifts. In 1719 AD Sawai Jai Singh gifted Moti Ram *Khoja* to Kawar Pal Jadam of Karauli and a *siropav* was bestowed (upon *Khoja*) and while seeing-off him a pair of pearl earring was gifted.[51] On another event in 1763 AD, as per the custom Himat Ram *Nadar* (*Deodhi-ka-Daroga*) was presented to Khush Pal Bohra.[52] He served in court for eight years. The employment in imperial services allowed them to acquire some social status and recognition. Further, it allowed them to have some real connect with regular society. From Bharatpur Kingdom Gumani Khan *Khoja* came to Jaipur as an envoy and was popular for his dancing. A lot of praise was heard about his credentials so he was called in court to perform. *Shreeji* (King) and *Maji Sahib* (Mother Queen) were present to see the performance along with *Sanghi* Hukum Chand and *Sanghi* Jhutha Ram. Throughout the night he danced on sword, with *kalash* (pots) on head and *thaali* (plate) in hand.[53] The popularity of his dance allowed him to fix an invite for weeding at a nobles' palace and was asked to give a performance in the same marriage.[54] The King was present at weeding and presented him Rs.100 of *Inam* (reward) and 2-*thaans* (bundle) of *thurma-pasmi-butadaar* (a woolen floral print cloth).[55] The value of eunuch was appropriated on basis of his qualification. The qualification and skills allowed them to be in royal arenas and being decorated with titles and gifts.

The Jaipur state took much of its administrative structure and offices from the Mughals without any alteration. At times even the titles were adopted in defacto. In 1717 AD, Aitbar *Khoja* was recruited for service at Jaipur court.[56] His recruitment was very close on pattern with the Mughal recruitments where the chief *Nazir* had title of Aitbar Khan or Aitimad Khan.[57] The adoption of similar title depicts the fascination and admiration of Sawai Jai Singh for the Mughal administrative posts and titles. The initial years of Jaipur state were marked with these adoptions in titles. Lately, the same went missing and didn't occur. A less known 15th century cemetery in Mehrauli is *Hijro ki Khanqah* is the final resting place of 50 eunuchs. It was gifted by Sufi mystic Khwaja Qutubuddin Bakhtiyar Kaki to Miyan Saheb, a eunuch who was sworn as his sister. Out of 50 graves, one grave is of Miyan Saheb and rests are of 49 *Chelas*. It has rooms on one side and a courtyard with graves on the other. Eunuch from North

India visit this *khanqah* especially during *Shab-e-barat, Chhadiyon-ka-Mela* and *Muharram*. The eunuchs from Jaipur also visit this *khanqah* and have acquired much of the cultural practices. The recruitment at Jaipur was very close to the Mughal employability and identification of eunuchs as women was also taken up. The swearing in of Miyan Saheb as a sister by Sufi Shaykh was the formula for setting in the equation that a eunuch is equal of a female; at imperial courts.

A close perusal of the archival documents helps to bring forth that the recruitment of the eunuchs at Jaipur court was not unilateral. Three types of recruitments processes were followed at Jaipur to procure, admit and enroll the eunuchs. Firstly, the eunuchs who were already in service of court recruited their sons for making a close team of their own. It was mainly for executing the tasks given to a respective *Khoja* in upmost secrecy and with efficiency. Some *Khojas* who worked in higher capacities and were always in need of a closely associated team to carry out the state orders effectively. For making a cohesive, desirable, abiding and a close harmony-sharing team some *Khojas* recruited their sons under their leadership after castration. Those recruited sons were referred as *bachkan* (child of) of that particular *Khoja*. Mohan Ram *Nadar* Tiwari and his two sons namely Lal Sukh[58] and Shankar Lal[59] were in service. In 1819 AD, Mohan Nadar Tiwari died so his *bachkana* Lal Sukh was called in *Zenani-Deodhi* for instructions and a *Matmi-paag* (condolence head gear) was given.[60] In another event Kisan Das *Nadar* died. So, for *Sog-bandhai* (registering grief) Shankar Lal *bachkana* of Mohan Ram Nadar Tiwari was called and a *paag-rangeen* (colored head-gear) was presented to him[61] and three sons of Kisan Das namely Baldev,[62] Govind Ram and Ganga Baksh were also presented *paag-rangeen* for closing condolence.[63] The difference between both the events is twenty one years. The reason for shifting from one team to the other (Shankar Lal s/o Mohan Ram Tiwari) was either due to the change of chief leader, the erupting differences amongst the equals or might be a canvassing for better fortunes under guidance and in team of some other unbiased *Khoja*. Many instances of training and enrollment of males of a particular family, as a team appear in our documents. In 1747 AD Baldev was made Darogah of *Khwaas Chelaki* on request of Rai Hari Singh Paliwal. Baldev was *bachkano* of Nand Ram *Nadar*[64] and grandson of Kisan Ram *Nadar*.[65] Consecutively three generations have been serving. Similarly, in 1758 AD, Khush Pal *Khoja* was

recruited being *bachkana* of Daulat Ram.[66] Rup Ram was *bachkano* of Khush Pal and he was appointed as *Nazir*.[67] Further, Gopal[68] and Hira Lal[69] were taken in service and were sons of Khush Pal *Nadar*. Hence, father and three sons were acting in different offices of the state. Later, Salegram S/o Gopal was taken up in state service. Here a consistent engagement of male members hailing from same family is visible over four generations in the service of state. On similar lines, Sehajram *bachkana* of Himat ram was also appointed and Rs.100 was allotted to him for pearls.[70] Later, Kisan Ram was *bachkano* of Jai Ram Das and was appointed for *Nazari* of *Zenani-Deodhi*.[71] The above evidences clearly indicate that the family associations were very much at work for recruitments to the *Khojahood* (eunuch-hood) and it was a respectable and lucrative carrier. Secondly, the admission in the eunuchism to the general citizens was provided by the *Khwajaswars* as discussed above. The *Khwajaswars* gave away the castrated males of *mandali* to the senior *Khojas*/*Nadars* on demand by the later. The *Khojas* who came in service of the state enrolled under the *Khoja/ Nadar* who bought him. The only condition while acquiring a eunuch for a particular team was that he should not have any previous alliances with any of in-service *Khojas*/*Nadars* and shall solely work in solidarity with the *Khoja* who has acquired him by paying a price. The buyer will secure him enrollment for the newly purchased Khoja in the state service under his own existing unit. The eunuchs who were purchased and recruited by a senior *Khoja*/*Nadar* were referred as *ka-nazar* (of purchaser) and *beta* (son of). The relationship between the recruiter and recruited was that of father and son. The team was always called after the name of the chief. A team of *Nadar* Fitur was in service at *Sawai Jai-garh* (now popularly known as Jai Garh Fort) under leadership of *Khoja* Raghu nath Singh. The items for the entire unit were sent to fort as per custom on request of Pem Singh with Likhma Meena.[72] Another team of *Nadar* Fitur was working in palace under leadership of Jagat Singh *Khoja.* To collect the allotted items, his team came thrice spreading from year 1755 AD to 1764 AD and each year a lot of items along with clothes were given.[73] Lastly, a small number was taken in service who were totally afresh appointments and were not connect to anyone in the kingdom. They were independent appointments free of both empathy and sympathy. They were supposed to build up an independent identity and were expected to prove a firm loyalty towards the king. The afresh individual enrollments were accommodated at court by allotting the necessary items of the

household and day to day utility. Through it, the *Khoja* was expected to run his own independent establishment and maintain himself as per the standards of a court fraternity. In 1717 AD, Manula *Khoja* was taken in *sarkar* (state) and throughout the month of his appointment different items were bestowed up on him[74] and the utensils (2-*daikcha;* cooking pot made of copper and *rakabi-tamba-ki;* spatula of copper) were given next year.[75] Later in the year, Aitbar *Khoja* was a new recruit and in total 8-*thaans* were presented to him on appointment. The details are 2-*chira-chikan-dozi*, 2-*faita-chikan-dozi*, 2-*jama-bafta* and 2-*ijaar-narma*.[76] Similarly, in year 1718 AD, Johar Khan *Khoja* was recruited in service and large numbers of items were given to him throughout the year.[77] In another instance of 1718 AD, Aitbar *Khoja* was taken in service he came along with Inayat *Khoja*. A sum of Rs.7.3anna.2paisa was allotted to him for making clothes and 2-*sod* (bed linen), 3-*jamma-chit-ka*, 1-*kalash-pital* (brass pot) and 1-*katori-pital* (brass bowl) were issued from *Kirkira-Khana* (utensil store).[79] Khush Pal *Khoja* joined service in year 1758 AD, and the items allotted to him were 1-*thaali-pital-ki* (a brass plate), *1-kalai* (a spatula for fire-oven), *1-lauta-pital-ka* (water-keeper of brass), *1-chari-pital-ki* (brass water container in shape of pot), *1-tavo* (cast iron round griddle), *1-kacholo-pital-ko* (a small plate made of brass with raised edges).[79] Later, only regular items were given such as clothes.[80] Some men joined the fraternity of *Khojas* voluntarily while their fathers were serving in different offices of state but were not in the direct association with the court. The aspiration for employment in court made them to attain eunchism. In 1755 AD, Shri Ram *Khoja* was given *pashmi-butadaar* costing Rs.15. He was *bachkana* of *Taaliq* Chokh Chand.[81] All the above evidences indicate to the different modes of intake which were employed for hiring, recruiting and enrolling eunuchs in service of the Jaipur state.

All the eunuchs who were employed were expected to fulfill certain duties. The duties were allotted as per serving trust and affiliation bonds. Bakhtawar Khan (1698 AD) a eunuch superintendent held rank of 1000 and turned out to be a historian and wrote *Mirat-ul-Alam* and *Mirat-ul-Jahan Numa*.[82] He also prepared an abridgment of *Tarikh-i-Alfi* and *Akhbar-ul-Akhiyar.*[83] The above instances do clearly establish the importance and the social acceptability of the eunuchs in different capacities during Mughal India. According to Manucci, 'the principal (*Nazir*) is highly esteemed by king. He had large allowances, has charge of treasury, is master of wardrobe, decides on the details

and the patterns of the *saropas* (robes) to be prepared; in short it is he who has charge of all the *Mahal* expenditures of the clothes, the linen, and the precious stones, of the jewellery, of everything that goes into or comes out of palace'.[84] The exercise of power and prestige enjoyed by Niyamt Khan, Hoshiyar Khan, I'tbar Khan and eunuch Daulat during the reign of Mughal emperor Akbar, Jahangir and Shahjahan respectively was significantly loud and hints a lot. The eunuchs surrounded the entire world of king while serving in as governors, messengers, reporters, spies etc. At Jaipur state, the official designations for *Khojas*/*Nadars* were mainly *Darogai*, *Nazari* and at times envoy-hood. The *Khojas* were entrusted with the duty to keep the *Zenani-Deodhi* under strict surveillance. The *Darogah* of *Zenani-Deodhi* was necessarily a *Khoja*. The senior *Khoja* was called *Nadar*/*Nazar*. They were serving as superintendents of the women palace (*Zenani-Deodhi*). *Nazari* was an exclusive duty at the women apartments of which a *Nazar* was whole sole in-charge. In 1822 AD, Kisan Ram *Khoja* was appointed to *Nazari* of *Zenani-Deodhi*.[85] Nand Ram *Nadar* died while he was serving as *Nazir.* On his death his son *Khoja* Baldev was promoted to *Nazari* who contemporarily was serving as *Daroga*.[86] On assignment of *Nazari* at *Zenani-Deodhi, Khoja* Roop Ram was given 1-pair of pearl earrings, 1-pair of bangles, 2-*thaans* of *thurma-pashmi-butadaar* and 1-*jarib* (chain).[87] In 1819 AD, Brij Bhan *Nadar* was in-charge of *Bada-Rawala* (women apartments) of Sawai Jagat Singh.[88] In another instance Hirlal *Khoja* was appointed *Nazir* in place of Nand Ram *Nadar*.[89] A few *Khojas* rose upto *Nazari* due to their conduct, loyalty and administrative efficiency. All the movements in and around the *Zenani-Deodhi* were strictly guided by his instructions. The *Zenani-Deodhi* (women apartments) accommodated mother queen, chief queen, princes, princesses, ancillary aunts, other royal ladies, cousins, concubines, ladies-in-waiting along with *pattars* (dancers), daughters, maids, slave girls and women guards. The *Nazir* had full charge over the *Zenana*. Even a single deviation from his instructions could lead to bizarre. This office entrusted the *Nadar/Nazar* in direct contact with the King, queen and the court members. In 1772 AD, Daulat Ram *Nadar* was appointed in charge of the King's treasury after signing a promissory note and an *Inam* amounting of Rs.500/- was presented to him.[90] The ability of the *Khoja* and official succession were recognized by the *inam*.

Next to *Nazari* in hierarchy was *Darogai* (in-chargeship). *Darogai* was in-chargeship of a particular office and area. At times it

was a temporary duty such as *Drogai* for movement of queen. *Darogai* assigned to the *Khojas* were mainly limited to treasury, *Khwaas chela* (apartments of servants), *Khabri* (news collectors). In 1847 AD, *Khwaas-Chela-ki-Darogai* was assigned to Baldev instead of Hari Sing Paliwal.[91] After six days *Khabari-ki-Darogai* was also assigned to him and was instructed to move immediately for *Khabari-ki-chowki* and collect news being there.[92] Later, due to suggestion of Sarup Narayan the duty to deliver the news for king was also clubbed as his responsibility in the same office.[93] Nearly after a month to celebrate the rise in office and responsibility *Khoja* distributed sweets at *chowki*.[94] After transfer of *Khoja* Baldev, *Darogai-Khabari* (office of new collection) was also assigned to *Khoja* Mana Lal.[95] After a year in 1848 AD, the *Khoja ki Khabari ki darogai* (in-chargeship for news collection of eunuchs) was also assigned to him.[96] Approximately, after two months the *Chela Khwaas ki Darogai* was also entrusted upon him.[97] Bakhat Ram *Khoja* was given *inam* for depositing the amount of *Nazar* in Royal treasury. Due to his loyalty in matters of finance he became an eligible candidate for holding post in the treasury.[98] In 1848 AD, *Khoja* Hira Lal was appointed for *Darogai* of Jantar (popular as Jantar-Manter) instead of Bhopal Singh Rajawat of Jhilai. It was due to the fact that *Khoja* Hira Lal was already serving in the community of *panch-musahibas* and sweets were distributed to celebrate the entry in aforesaid office.[99] Similarly, *Khoja* Sehaj Ram joined the state service in year 1767 and in 1794 AD; he celebrated the third anniversary of *Darogai-Deodhi*.[100] This loudly puts up that after a constant serving carrier of 24 years he was able to come up in the office of *Drogai-Deodhi*. The duties of a *Daroga* were limited to the office in which he is appointed. Besides it certain temporary duties were also assigned to them. The arrangements and protocol around the movement of the queen were responsibility of *Khojas*. Certain amount of money was allotted for setting the protocol in order. In year 1717 AD, the procession of queen was supposed to reach *dera* (halting station) after going around the city. For making arrangements of the procession money was allotted to Lachi Ram *Khoja*,[101] Lal (?)Khoja,[102] Himat Ram Khoja[103] and Daulat Ram *Khoja*[104] amounting to Rs. 104/-, Rs. 101/-, Rs. 70/- and Rs.65/- respectively.

A few *Khojas* were educated, clever, well-versed in the art of speech and polity. These qualifications made them to qualify as ambassadors to represent the state. The representatives from Jaipur state were sent to Mughal court and Deccan. Kisan Ram was a popular

Khoja, who was promoted to *Nazari* and later he was appointed as representative of Jaipur state to Delhi[105] and Agra.[106] In 1746 AD, a *Khoja* of Raja Ayamal,[107] Gulab Chand *Khoja*[108] and *Baisem* Jai Kisan *Khoja*[109] were sent to court of Raja Sahuji in Deccan and many gifts were bestowed upon them such as pearl earrings and gold bangles. The amount of gifts indicates to the political significance of that particular *Khoja* to whom the items have been allotted. Similarly, the Jaipur state also received envoys from the contemporary kingdoms. In 1750 AD, *Khoja* Deva came from Rampura and 11-*thaans* were presented to him.[110] Gumani Khan *Khoja* arrived twice at Jaipur court from Bharatpur.[111] The recruitment and appointment of *Khojas* by Jaipur state and other contemporary kingdoms and *Thikanedars* was a well established practice till beginning of the nineteenth century.

The popularity, control and influence gained by the eunuchs over the affairs of kingdom and *Rajlok* can be well understood. All this was due to the nature of services rendered by *Khojas-Nadars* towards the state and the efficiency by which they executed the orders of the king. The influence of a few *Khojas* did reflect from the titles allotted to them by the state. The title of *Baisem* was bestowed upon the members of court. The word *Baisem* stands as a synonym of honorable and respectable. A few *Khojas* were decorated by the aforesaid title. The *Khoja* of Aiyamalji was nominated for court of Raja Sahuji and due to his expertise on the political matters he was honored with the title of *Baisem*.[112] Jai Kisan *Khoja*[113] and Mano *Khoja*[114] were also bestowed with the title of *Baisem*. *Khoja* Panna also had title of *Baisem* being an able administrator of village Dodh Hadi of *tappa* Ramgarh in *pargana* Amber.[115] The titles were means for the state to create a class amongst the court society and were serving symbols of prestige for the recipient. Through titles the state was also acknowledging the special qualifications and abilities of the receiver.

Scholz mentions, the only rank a eunuch cannot achieve was that of emperor, but the court full of eunuchs would be safer than a court of patrician, senator and equestrian ranked citizen.[116] The isolation and dependence on the king, coupled with the traits of education and trustworthiness made the eunuchs the best choice for the court and were most eligible to be around the king. Khwaja (*Khoja*) Farast Diwan and *Nazir* Harkaran exercised immense influence in the court of Jodhpur state during the reign of Jaswant Singh and Takhat Singh respectively. Apparently, the influence of *Nazir* Harkaran led to coining

of a famous saying in Rajasthan "*Bahar nachey Badariyo, maai nachey Nazariyo* (the cloud is dancing outside and the *Nadar* is dancing inside)".[117] Dancing in this saying represents the imagery effect and influence of cloud's noise in the geographically arid area of Jodhpur where rainfall is scanty but the sky is always pre-dominated by the dry clouds and efficaciousness of a eunuch (neither fully male nor a complete female) in the affairs of Jodhpur kingdom respectively. Both the titles *Nazar* and *Nadar* were used interchangeably and both were used to represent a eunuch who was in service of the state as officer-in-charge of *Zenani-Deodhi*.

Besides, the special assignments the eunuchs were also performing regular duties identified with their offices. The *Khojas-Nadars* who were performing well in the assigned office and regular duties were rewarded by the state. The rewards for services rendered and to acknowledge the special act were a custom to keep the loyalty in place and make the alienated feel bound and very much inducted in the kings world. The balance at work needed participation from both the parties. It could not be one way traffic, where only the eunuchs/ *Khojas* were working for the king and executing his orders. The king also reciprocated with affection and care for the loyal retinue of perfect servants by bestowing *Inams*. The Jaipur kings granted *inams* to the *Khojas* as special rewards. Inayat *Khoja* was presented Rs. 200/- as *dolthai-inam* in year 1717 and 1718 consecutively.[118] Lachi Ram *Khoja* also received Rs. 200/- as *inam* for *dol-thaipawa* but only in 1717 AD.[119] *Khoja* Jai Kisan was presented Rs.150/- of *inam* for making *pakki jawga* (garden of temple) in 1754 AD.[120] Next year again Rs.300/ - of *inam* was given to him as per promise for making *saakli-sona* (gold chain).[121] In year c.1755 and 1756 AD, Himat Ram *Nadar* received *inams* both amounting of Rs.200/-. First *inam* consisted of *motiyo-ko-chokadao* (a square pendent of pearls) and *mailalwa-kada-sona* (a pair of gold bangles)[122] and later was combination of *motiya-ka-chokada* and *mailal-kana-ka* (a pair of earrings).[123] Sanib Ram Khoja was given Rs.100/- as *inam* collected through contributions made by the members of court.[124] In 1772 AD, Rs.500/- of *inam* was granted to Daulat Ram *Nadar* while he was taking-over the charge of king's treasury.[125] A *haveli* (palace style house) was presented to Bakhat Ram *Khoja* in *inam*.[126] Such instances are rare but these rare evidences speak aloud about the importance of a particular recipient. Bakhtawar *Nadar* was given two *thirma-pashmi-butadaar* in *inam*.[127] Four times in year 1827 AD, Kisan Ram *Khoja* was given Rs. 70.2anna.1paisa,[128]

2-*paags* (costing Rs.28.2anna),[129] Rs.10 cash[130] and *rumaal-haso* amounting Rs.28.3anna in sequence as *inam*.[131] These *inams* allowed the eunuch to associate with the king and members of court. The amount of *inam* and items varied as per the degree of expression set in for acknowledgement. For the recipient (*Khoja*) an *inam* was a means to feel accommodated and at par in the court society.

The special *inams* were rare and were meant for accomplishing the twin tasks of acknowledgement and reward. The rarity of *inams* was maintained to distinguish the special efforts and the regular activities. At times the regular activities performed by the *Khojas* were also acknowledged, only if; it has been carried out with a distinct art or feature. The occasional acknowledgements for the *Khojas* in service were done by bestowing gift items, cloth, and money. Under special circumstances a *siropavs* (robes of honour) was bestowed. The various kinds of *siropav* were given off from the Jaipur court.[132] The occasions for acknowledging the *Khojas/Nadars* were birth, marriage, death, certain festivals and at times rituals associated with birth and death. The minor festivals and certain days of hindu calendar on which clothes, gifts and money were presented to *Khojas* were *aakha-teej*[133] and *bakka-posh.*[134] The *paah-posh* was a slipper without heel. A few *Khojas* received gifts and some money for offering *paah-posh*,[135] to the king. Interestingly, all items and gifts granted for *paah-posh* were presented in year 1717 and 1718 AD only, which were beginning years of the newly found Jaipur city. Might be it was part of the efforts and innovations made by Sawai Jai Singh to instill loyalty amongst the court members as well as populace towards the newly found Jaipur state after distancing from the Mughals. The celebrations at palace were occasions for recognizing the special ones and were means to make *Khoja* feel very much part of the king's world. The festivities and rituals for adorning and gifting clothes to *Khojas* were *janaiu*[136] (sacred thread ceremony) *jadawal*[137] (Shaving-off head) and *unhala*[138] (the celebrations after child-birth). At times the king also extended favors to the *Khojas* in form of cash. The money was given mainly for making arrangements of marriage to be held in the family of *Khoja*/ *Nadar.* This amount was called *segai-puniya* (religious charity). In year 1744 AD, Rs. 50/- was given to *Khoja* Chokh Chand as *segai-puniya* on marriage of his niece.[139] An amount of Rs.200/- was granted as *segai-puniya* to *Khoja* Rukonhi for marriage of his sister.[140] These gestures were extended by the king towards the *Khojas* for keeping them loyal, alert and vigilant.

The moments of grief and sadness were also occasions to register mutual care and concerns. Whenever there was a death in first family of Khoja specially a male the condolence was expressed by the state. The death of women in family of *Khoja* finds no mention in the documents. A complete silence is loud enough to understand the contemporary social set-up and acceptabilities. The analysis of archival documents helps to classify the measures of grief expression in three broad categories. Primary, whenever the father of a *Khoja* died the state gave *maatmi-paag* (registering grief). In 1825 AD, Khush Pal *Khoja* expired and *maatmi-paag* was given to Gopal (s/o Khush Pal).[141] In 1819 AD, *maatmi-paag* was given to *Khoja* Lal Sukh on death of Mohan Ram Nadar Tiwari at Mathura.[142] A *paag* was also given from *Zenani-Deodhi*.[143] In 1825 AD, Khush Pal *Nadar* expired and *maatami-paag* was presented to *Khoja* Hira Lal (s/o Khush Pal).[144] It was for expressing grief only beyond it the state did not entertain. Secondly, if the deceased was in service of state *maatmi-paag* was followed by *paag-rangeen* (colored head-gear) for marking the *soog-bandhai* (end of condolence). *Paag-rangeen* was presented to *Khoja* Nand Ram, *Khoja* Baldev, *Khoja* Mana Lal and *Khoja* Shankar Lal to end condolence.[145] The former was called to take-up *Nazari* falling vacant due to death of his father. Kisan Das *Nadar* died so; *paag-rangeen* was presented to Khush Pal *Khoja* (s/o Kisan Das).[146] At times tokenism was practiced. In 1755 AD, Father of *Khoja* Jai Kisan died, Rs.100/- was given.[147] Lastly, very few *siropav-maatmi* (robe of honor for registering grief) were given depending upon the twin influence and importance of the deceased and the successor *Khoja.* In 1839 AD, Kisan Das *Nadar* died so; *Siropav-maatmi* was bestowed upon his son *Khoja* Nand Ram.[148] When Nand Ram *Nadar* expired a *siropav-maatami* was presented to Baldev (s/o Nand Ram).[149] Thus, it can be said that very few *Khojas* were able to maintain an unaltered and constantly smooth coordination with the state and in return the state rewarded and honoured their services by bestowing the *siropav*.

Besides, acknowledging the occasions of happiness and grief, the state also extended gesture of care on regular basis through expression of *maharbangi* (kindness). Money, items and clothes were regularly given under *categoria* of *maharbangi* (kindness). Under the category of *maharbangi* the highest adorn was *siropav-maharbangi* followed by *maharbangi-thirma-butadaar-pashmina, maharbangi-thirma-butadaar, maharbangi-thirma* in sequence. The *siropav* was most respectable, expressive and effective device to mark the

ascending order amongst the honorable and desirables in the court. The *Thikanedars* and the other members of court were adorned with *siropavs'* on major Hindu festivals falling annually such as Diwali, Holi, Dusharrra and on different occasions to mark importance of the receiver and to signify an important political event.[150] The *Khojas* were not presented *siropavs'* on the major festivals. The *siropav-maharbangi* stands for the robes given out of kindness. In an instance of 1718 AD, Aamut *Khoja* received a *Siropav-maharbangi* costing in total Rs.48 and 2anna.[151] In 1719 AD, a *siropav-maharbangi* was bestowed upon Chokh Chand *Khoja* for conveying the message that 'Solanki *Khawaas* has given birth to a boy child'.[152] *Khoja* Mubarak Khan was presented a *maharbangi-siropav* costing Rs.27/- in total.[153] After few days *Khoja* Ram Kisan, *Khoja* Tara Chand and Daulat Ram *Khoja* received *siropav-maharbangi* of the equal cost on a particular day.[154] A *maharbangi-siropav* amounting Rs. 323 and 3anna was bestowed upon Sewa Ram *Khoja.*[155] Bakhat Ram *Khoja* was adorned with a *siropav-maharbangi* costing Rs. 27 and 2anna.[156] All these six above mentioned *siropav-maharbangi* were given in the last reign year of Sawai Jai Singh.

On regular basis the affection and kindness was expressed through the items of lower value specially cloths like *chadar*, *chira*, *aalam-jari*, *chit*,[157] *faito-gujrati*,[158] *kudti-chit*,[159] *jaama-bafta* and *neema-momani*,[160] *dupatta-kor-palla-jari*,[161] *dhoti* and *angocha*.[162] Sri Ram *Khoja bachkana* of Talik Chokh Chand was adorned with *thirma-pashmi-butaadar* totally amounting to Rs.15.[163] At times costly items of gift were also presented to mark the events. In 1717 AD, Ganga Ram *Khoja* received 40 pearls, 3-precious stones and 2-*tola* gold.[164] Next year in 1718 AD, he was given gold bangles.[165] Bakhat Ram *Khoja* was presented gold bangles studded with precious stones.[166] On same day along with Bakhat Ram *Khoja*, Sewa Ram *Khoja* was adorned with *Sarpaich-jadau* (a jewel piece to decorate head-gear) and gold bangles from *Rattan-Grah* (gems store).[167] *Khoja* Sehaj Ram was given Rs.100/- for pearls and cash of 4-*mohars.*[168] On different occasions Akhai Ram *Nadar* was presented with *Alam-rangeen* and *Turo-badilatilai*.[169] A rare *Siropav* titled *Musav-khi-mukhatwari Siropav* was bestowed on Mohan Ram *Nadar* Tiwari rewarding his spy services.[170] In true sense all the rewarding efforts were means of the state, to keep the loyalty and affiliations in place and to eliminate the diversions encountered by the *Khojas*. Indirectly, these exchanges made eunuchs closely connected loyal unit of the king and kingdom.

In long run it allowed the *Khojas* to secure social space for themselves in the kingdom, which further facilitated accumulation of wealth, enhanced prestige and allowed uninterrupted exercise of power.

In medieval India many eunuchs became popular because of their binding loyalty to the emperor and subsequently enjoyed many favor. The most popular amongst them was Khwaja Niamat who saved Emperor Akbar from an attempted assassination.[171] Similar was loyalty of Khwaja Basant towards Prince Dara at fortress of Bhakkar, who was made eunuch by Shahjahan, because he was son of a rebelling Mewati chief.[172] In Jaipur court during the reign of Sawai Jai Singh and Jagat Singh, Panna Miyan and Mohan *Nazir* did enjoyed immense power and influence respectively. The efficiency and control of Panna Miyan on the matters of state and court influenced Sawai Jai Singh to the extent that he ordered for designing a *Mohar* (the royal seal) on which name of Panna Miya was to be inscribed on the top and the kings name (Jai Singh) at the bottom. After much thought; an inscribe on the royal seal was made, saying "*Gulamast Panna Basid kosafai, Maharajadhiraj Jai Singh Sawai*".[173] At times affection between king and the *Khoja* reached to great levels of intimacy and serves' much humor to the reader. This was due to the dependence and close affiliation amongst both with which the two souls worked together in a binding association. Brij Bhan *Nadar* Brahman has lost consciousness on death of Sawai Jagat Singh and regained his senses only after one year 5 months and 9 days in total. On same day Rs. 100/- was allotted to him for making *puniya-dan* (charitable donations).[174] As discussed above, it was a mutual arrangement, where the king extended the favors and in return the eunuchs remained exclusively loyal in state service especially towards the king. The delicate balance needed to be maintained in order to keep the structure of work in place at the court and to carry out the functions of state smoothly. Due to the unalterable loyalty *Khojas* of Jaipur court were able to secure good political positions for themselves such as envoy hood, court functionary etc. The state allowed the *Khojas* to celebrate their appointments and promotions. It was meant for recognizing the *Khojas* as part and parcel of the court. Silently, in reverse it motivated them for positive and constructive actions. In 1839 AD, *Khoja* Nand Ram was appointed as *Nazari*. He was carried to Zenani-Deodhi in palanquin, followed by a few nobles.[175] *Khoja* Baldev distributed *shirni* (sweets) on his appointment as a direct reporter to the king.[176] *Khoja* Hira lal was appointed *Daroga* of Jantar so; he distributed sweets.[177] In year 1794

AD, *Khoja* Sehaj Ram completed three years of his service as *Daroga-Deodhi*. The third anniversary was celebrated by giving him *Salaam* and *Nazar* from court. Two *Darogas* of his team who were posted in women apartments came along with him from *Deodhi* to distribute sweets at the court.[178]

The state not only accommodated, appreciated and rewarded the *Khojas* for services performed. At times the state also did certain gestures as a reaction to punish and mark unacceptable acts and behavior of the *Khojas*. Aurangzeb removed the head eunuch from *Zenana* Mahal because the later killed a man by throwing him from the garden wall to vengeance his conviction of carelessness.[179] Mohan Ram *Nadar* Tiwari was an appointee (*Nazir*) at Sawai Jai Garh as independent charge. Under punishment (*dand*) his appointment at *Sawai-Jai Garh Qila* was cancelled and he was brought in the palace. The independent charge was also taken away.[180] After some time he was ordered to write name of Ram on a piece of paper repeatedly.[181] It is an exercise to make a person feel guilty and repent and further give a binding assurance not to repeat the mistake anytime in future. Later, in 1818 AD, Mohan Ram *Nadar* along with Misr Ganesh Narayan left service of Jaipur state (*Darbar bisar kar gava*) and accompanied General Luni Akhtar Firangi for joining service at Delhi.[182] Later, he went to *Mathuraji* (pilgrimage visit) and fell ill. He was unable to recover so the poison was administered and he died. To show anger towards the unacceptable behavior of Mohan Ram *Nadar* (leaving state service), the state denied expanse of *khurch* (miscellaneous expenses for cremation) and *kanu* (post death feasts).[183] Allocation of grant for *kanu* (cash allocation to meet expanse of the cremation ceremony) was a well-established norm at Jaipur court.

The religion affiliation and practices of the *Khojas* and *Nazirs* has never been highlighted. The religious association of *Khoja* community needs to be discussed to understand the cosmopolitan nature of the eunuch community. The community of *Khojas* serving at Jaipur state was heterogeneous in its composition. Both Hindus and Muslims were members of it irrespective of the caste hierarchies.[184] The names and surnames are a help to understand the religion of a *Khojas*.[185] For example Ajab Ram, Akhai Ram, Kisan Ram, Ganga Ram, Gobind Ram, Jai Kisan, Daulat Ram, Bakhat Ram, Bakhat Ram *Khoja*, Brij Bhan, Mana Lal, Mohan Ram Tiwari, Mani Ram *Nadar*, Moti Ram, Ram Kisan, Ramanand, Ram Chand, Roop Ram, Lachi Ram, Sewa Ram, Salegram, Sanib Ram, Sri Ram, Sehaij Ram, Himat Ram,

Shree Kisan were hindus and Khuda Baksh, Inayat *Khoja*, Panna Miya, Bhaktawar *Nadar, Khoja* Mubar Khan were professing Islam. The suffix of Ram to names appears as a regular feature in archival documents dedicated to *Khojas*. The Jaipur state was follower of *Rama-nandi* sect before shifting to the blessings of Govinddevji. It could be a hangover of the same and was a popular method for making the religious association clear. Many high caste individuals enrolled in the *Khoja* community. The celebrations around the event of enrollment during and after castration were never in public view. The primary purpose that oriented the high caste to admit in the *Khojahood* was the aim for accumulation of wealth. For poor populace, the inability to pay the revenue determined by the state did not know any of the religious associations or caste hierarchies and was an effective mechanism for settling the tax accounts through single stroke. Usually, high caste people voluntarily enrolled in the community to make fortunes after fulfilling the social obligations like marriage, child-birth etc. The voluntariness of poor to give away a male child (who in future would have been a bread winner for family) is little doubtful and troublesome. The famous *Nazir* Harkarn was a *Shrimali Brahman*, a highly placed group amongst the hierarchy of Brahmin community.[186] The religion and caste was no bar for accepting any male in the heterogeneous community of *Khojas*. After enrollment, the conversion to Islam, at a later stage was at work during the reign of Mughals, due to influence of state polity. The practice of conversion was not appreciated in the Jaipur court and the eunuchs continued to practice and profess their natal religions. In 1832 AD, *Khoja* Kisan Ram went for *Ganga-sanaan* so; gifts were presented to him from king's side and *Zenani-Deodhi*.[187] Daulat Ram *Nadar* and Sanib Ram *Khoja* went to *Jagannath-raiji* (Jagannath Puri) after visiting *Gayaji* (Gaya) for *snan* (a ritualistic bath) and returned to court so; a *siropav* was bestowed upon them.[188] Both the cities (Jagannath Puri in Orissa and Gaya at Bihar) are famous pilgrim sites for hindus. Gaya is also popularly associated with Buddhism because Buddha attained enlightenment in this holy city. Mohan Ram *Nadar* visited *Mathuraji* and *Vrindavanji* for pilgrimage.[189] Both the towns are pilgrimage centers for Vishnava sect followers. When Mohan Ram Nadar died at Mathura his son was called in *Zenani-Deodhi* and was told to go for the ritual *snan* (bath for purification on death of a family member).[190] Along with religion, the caste ties also continued and were used by eunuchs to show their affiliations. The famous eunuch of Jaipur court was

Mohan Ram *Nadar* Tiwari who came in *Khojaship* from a reputed Brahmin family of Jaipur and made immense wealth.[191] His earliest appointment was made at *Sawai-Jaigarh* (Jai-Garh Fort) as *Nadar* (in charge of *Zenani-Deodhi*) but in 1817 AD, he was transferred to the palace from *Qila*.[192] Similar was the case of Brij Bhan Brahman *Nadar*, who was a Brahman and he continued to use 'Brahman' word in his name.[193] The *Khojas* from high castes didn't shun off their family names and native community associations. This continuance depicts the acceptability of the caste and community ties in eunuchism at Jaipur state.

Eunuchs around the globe have contributed to culture, economy and society immensely. The most significant are contributions made by the Chinese eunuchs such as paper was invented by eunuch Cai Lun, eunuch Zheng He connected China with Southeast Asia, India, Arabia, Persia and East Africa through trade and the credit for introduction of western classical music in China is also in account of a unknown eunuch.[194] Later, a full band of eunuchs was assembled for royal orchestra of the China. During Mughals the eunuchs collected wealth and riches and spend the same on building spacious villas, water-tanks, tombs and towns.[195] Many *Khojas* in Jaipur court were able to collect large amount of money and did used it for construction of temples and public works like well, *hauz* (water reservoir) etc. The eunuchs of Jaipur court did contributed for the public building but mainly the *Thakurdwaras*. The *Thakurdwarsa* are temples dedicated to different incarnations of lord Vishnu. Bakhat Ram and Daulat Ram were presented cash *inam* of Rs. 300/- and Rs.300/- respectively for constructing temples of *Thakurji* (Lord Krishna).[196] *Khoja* Kisan Ram was twice given *inam* amount of Rs. 987. 2anna, and Rs.1000/- from the court for building a temple in year 1828 and 1829 A.D respectively.[197] In 1754 AD, *Khoja* Jai Kisan built a *jawga* (garden of temple).[198] The participation of *Khojas* in the activities of building the public works was a regular feature in Jaipur state.

Along with all the state functions and responsibilities a few courteous eunuchs were also engaged for education of the prince in liberal and military art along with the other learned tutors and matrons.[199] The eunuchs were portrayed as strict, clever, manipulative and effeminate. The The credential of eunuchs and the training imparted by them were much doubted by Bernier[200] and Manucci also concluded the same.[201] The Jaipur state was also looking forward for educated and militarily efficient eunuchs and left no chance to procure a qualified

one. In year 1837 AD, Khuda Baksh who was *Nazar* of Kisan Das was kept as *Chakar* at court due to his eloquence and Rs. 20/- were given for making new clothes.[202] Another *Nadar* of Kisan Das named Baldev was also at court and was given a *paag-rangeen* as per promise for *sog-bandhai* (closing the condolence) on his father's death.[203] The eunuchs who became famous being in service of Jaipur state were Panna *Khoja*,[204] *Khoja* Bhaktawar,[205] Mohan Ram *Nadar* Tiwari,[206] Brij Bhan *Nadar* Brahman,[207] *Khoja* Anopa *Banduk Sajusta* (a rifle expert)[208] and *Khoja* Kisan Ram.[209] *Khoja* Anopa *Banduk Sajusta* gave rifle as *Nazar* and later after 2 months made a shoot as *Nazar*. In first episode the king reciprocated with a *Siropav* and at later gave Rs. 25/-.[210]

The *Khoja-Nadars* were most trusted beings in kingdom because they had no family ties to serve because the eligibility for securing *Khojahood* i.e castration has alienated them from all sexually normal beings. This classification of natal alienation fails at many instances in case of Jaipur state. As discussed above the eunuchs employed their biological sons for serving effectively and to maintain secrecy of actions. Till admission in eunuchism they had very well-served the family ties and had heirs. The depersonalization worked only for the eunuchs who were given away by the parents at a young age. At times the castration made some eunuchs very bitter as visible in cases of I'tbar Khan[211] and Gulam Qadir.[212] The irony of fate made them to work with women folks lanced with full senses and cruelty of man, who were denied pleasure of sex. The forced denial to enjoy their lives as male made some of the eunuchs corrupt, ruthless and scheming individuals. They engaged in illicit and unnatural sex activities. The emasculation had different effect upon the brute creation given to viciousness, arrogance and cruelty.[213] The castration at a young age made certain skeletal changes in the developing male body such as failure of ossification of the vocal chords, elongation of limbs, barrel chest and a beard free face.[214] The males who were castrated at a mature age were always male in full sense but had enforced inability to establish conjugal relationships. The sense of being male and the desire for pleasure made them to get in homosexual activities and licentiousness with women. In Mughal India also the love affairs of eunuchs were not uncommon.[215] In case of eunuchs, firstly the sexuality was created through surgical process and later a social role was constructed for 'a him'. Sexually, eunuchs were active human beings but they were expected to follow asceticism.

The outrage and jealously at work made them entrusted with the attraction and repulsion at the same time. The eunuchs rarely vied for power and prestige amongst themselves, but held intrigues and bribes against aristocrats, bishops and governors.[216] The affinity amongst the *khojas* was very strong. Often *Nazir* Harkaran use to bless by uttering "*ki parmeshwar apko bhav-bhav Najar kare* (may god make you *Nazir* again and again)".[217] Grand chamberlain became the sole intermediary between the two sides those who want to meet and the emperor.[218] Similar was the duty entrusted upon a *Nazir* and they knew no exception to bribes for securing audience of the officials before the king. *Dastur Komwar* is an imperial record which only highlights the happenings of the court along with the events and the exchange of gifts to mark the event. So, it just doesn't whispers, even the slightest corruption of *Khojas*. Besides, it so far I have not seem success in terms of locating any other state or private document which narrates about the *Khojas* and their role in the Jaipur state.

To conclude, in greek '*eune'* means 'bed' and '*ekhein'* stands for 'to hold'. The word eunuch is derived from the greek word 'eunoukhos' which literally means a 'bed chamber attendant/bed-room guard'. The employment of eunuchs in medieval kingdoms doesn't seem to be limited to the bed chambers due to their loyalty, affinity and clever moves. They did their jobs in peaceful efficiency. The eunuchs filled valuable and influential positions at court acquired through display of faithfulness, generosity and bravery. Many eunuchs rose to powerful positions and exerted immense influence in the functioning of the state. Truly, *Khoja-Nadars* had voice to reckon on and reckon with. The imperial services ensured some acceptability for them in their surrounding societies. Through it the accumulation of immense wealth and extension of influence was also a cake walk. Usually, the methods innovated for extracting money were corrupt but the utilization of money was always for some good constructive causes, specially for public utility works. The idea working at base of it was 'to be remembered' because eunuchs had no one to carry forwards their legacy and write their historical accounts. It was due to the alienation created by the understanding of a perfect human body and its emotions. As per popular belief and understanding both were not clear in case of eunuchs. Interestingly, these appointments became devalued over time. Gradually, this huge community shifted elsewhere. On decline of Mughal empire after raids of Nadir shah the eunuchs took to singing and dancing as *bhands*.[219] In 1767 AD *Khoja*

Kurnan Ujaw dressed up and mocked as a *firangi* (British) so; Rs.100/- were presented for gold bangles to him.[220] The *Nazar* from Bharatpur also performed dance.[221] So these activities for *Khojas* were part of entertainment and a means to collect some money. Presently, the *hijras* and eunuch are understood as one and same. By clubbing both under one category of trans-genders who engage in singing and dancing along with various other types of performances for livelihood is disturbing. Putting *Hijras* in same category is a matter of objection to my limited understanding of the subject. The aspiration to attain equal level and say in the historical narratives deserves and demands a better treatment in comparison of the one offered presently. Subsequently, it will undermine the role of eunuchs (*Khojas-Nadars*) who were working with twine personality in the events of past and were unconsciously making blocks of history.

References

1. *Scholz, Piotr O.,* Eunuchs and Castrati: A Cultural History*, Translated by John A. Broadwin and Shelley L. Frisch, (Princeton: Marcus Weiner Publisher, 2001).*
2. *Ringrose, Katherine M.,* The Perfect Servant: Eunuchs and the Social Construction of Gender in Byzantine*, (Chicago: University of Chicago Press, 2003); Brown, Amelia R., "Painting the Bodiless: Angels and Eunuchs in Byzantine Art and Culture", https://www.academia.edu/506467/Painting_the_Bodiless_Angels_and_Eunuchs_in_Byzantine_Art_and_Culture?; Tougher, Shaun,* The Eunuch in Byzantine History and Society, *(Abingdon-New York: Routledge, 2008).*
3. *Dikici, A.Ezgi., "The Making of Ottoman Court Eunuchs: Origin, Recruitment Paths, family Ties, and 'Domestic Production'",* in Archivum Ottomanicum, *ed. Gyorgy Hazai, Wiesbaden: Harrassowitz Verlag, vol.30,(2013), pp. 105-136.*
4. *Stevenson, Walter, 'The Rise of Eunuchs in Greco-Roman Antiquity',* Journal of the History of Sexuality*, Vol. 5, No. 4 (1995), pp. 495-511; Kuefler, Mathew,* The Manly Eunuch: Masculinity, Gender Ambiguity, and Christain Ideology in Late Antiquity,*(Chicago: University of Chicago Press, 2001).*
5. *Dhwty, 'The Fascinating life of a Chinese Eunuch in the Forbidden City of China', 3 January 2015 (http://www.ancient-origins.net/history/fascinating-life-chinese-eunuch-forbidden-city-china-002524?page=0%2C1).*
6. *Ayalon, David,* Eunuchs, Caliphs and Sultans: A Study in Power Relationships, *(Jerusalem: The Magnes Press, The Hebrew University, 1999).*

7. *Lal, K.S,* The Mughal Harem*, (New Delhi: Aditya Parkashan, 1988), 56-60; Mishra, Rekha,* Women in Mughal India 1526-1748 AD, *(Delhi: Munshiram Manoharlal Oriental Publishers and Booksellers, 1967), pp. 78-80.*
8. *Ringrose,* The Perfect Servant, *2003.*
9. *Hopkins, Keith,* Conquerors and Slaves, *(Cambridge: Cambridge University Press, 1978), pp. 173-174.*
10. *Brown, "Painting the bodiless" p. 1.*
11. *Brown, "Painting the bodiless", p. 4.*
12. *Brown, "Painting the bodiless" , p. 5.*
13. *Elias, Norbert,* The Court Society*, translated by Edmund Jephcott, (England: Basil Blackwell Publisher Limited, 1983).*
14. *Elias, Norbert,* The Court Society, *(footnote no 15), p. 83.*
15. *Tougher, Shaun, 'Byzantine Empire: An Overview', in Women, Men and Eunuch*, *ed. Liz James, (New York: Routledge, 1997), p. 171.*
16. *Renner, Adam, 'The functional role of eunuch in Late Imperial Roman Court: with reference to Norbert Elias', Approaches to Ancient History Research II*, *A9921699.*
17. *John Rolfe (trans.),* Ammianus Marcellinus*, History Vol. 1, Loeb (ed.), 1963, 18.4.5,* cf. *Renner, Adam, "The functional role of eunuch", p. 1.*
18. *Renner, "The functional role of eunuch", pp. 1-2.*
19. *Miller, Fergus,* The Emperor in Roman World, *(London: Duckworth, 1977), pp. 74-79.*
20. *Brooks, Pam,* Journal of World History*, vol. 14, No.2, June 2003, University of Hawai'i Press, p. 247.*
21. *Scholz,* Eunuchs and Castrati*, 2001.*
22. *Kuefler,* The Manly Eunuch, *2001.*
23. *Scholz,* Eunuchs and Castrati*, 2001.*
24. *Dhwty, http://www.ancient-origins.net/history/fascinating-life-chinese-eunuch-forbidden-city-china-002524?page=0%2C1*
25. *Ayalon,* Eunuch, Caliphs and Sultans*, 1999.*
26. *Ringrose, The Perfect Servant , pp. 5-7.*
27. *Ibid., p. 83.*
28. *Rai Bahadur Munshi Hardayal Singh,* Report Mardumshumari Raj Marwar 1891 AD (Marwar census Report-1891):Rajasthan ki Jtiyo ka Ithihaas aiwam Riti-riwaaj, *(Jodhpur: Maharaja Man Singh Pustak Prakash Sodh Kendra, 2010), p. 386.*
29. *Renner, "The functional role of eunuch", p. 3.*
30. *Bernier, Francois,* Travels in the Mogul Empire AD 1656-1668, *second Edition revised by Vincent A.Smith, (Delhi: Low Price Publication, first published in 1934, reprint 2005), p. 131.*
31. *Choudhary, Manisha, "The Royal Household (*Rajlok*) of Kachhawa Kings of Jaipur", IOSR Journal of Humanities and Social Science (JHSS)*, *Vol.6, Issue 3, (2013): pp. 17-24.*
32. DK-K *(rules applicable caste wise) preserved at Rajasthan State Archives, Bikaner (cited hereafter* DK-K*).*
33. *Lal,* The Mughal Harem*, p. 56.*
34. *Manucci, Niccolao,* Mogul India or Storia Do Mogor, *William Irvine (trans.), 4 vols. (Delhi: Low Price Publication, First Published 1907-8, reprint 2005), vol. 2, p. 327.*
35. DK-K*, Raghuram S/o Khushyal was given* Nazari *of* Zenani-Deodhi*. Event dated* Miti Fagun Sudi *7,* Saniswaar *(Saturday) VS 1874/1817 AD, pp. 266-7.*
36. *Hardayal Singh,* Report Mardumshumari Raj Marwar 1891 AD *(Marwar census Report-1891), p. 386; Kidwai, Salim Sultan, "Eunuchs and Domestics in Medieval India", in* Chains of Servitude*, (ed.) U. Patnaik and M. Dingwaney*, *(New Delhi: Sangam Parkashan, 1985).*
37. DK-K *of Jaipur State*, Dastur Bahi *of Jodhpur State,* Dastur Bahis *of Jaisalmer State. All these documents refer to the eunuch with prefix of* Khoja *to his name.*
38. *Manucci,* Mogul India or Storia Do Mogor, *vol. 2, p. 79; Lal,* The Mughal Harem*, pp. 57-8.*
39. *Nadir Shah took a hundred eunuchs with him after conducting raids at Delhi and Agra along with other wealth.*
40. DK-K, *Manohar ram Tiwari voluntarily became* Nadar *for securing imperial service.* Miti Sawan Sudi *7 VS 1876/ 1819 AD, p. 275.*
41. DK-K, Miti Jaith Budi *3 VS 1889/1832 AD, pp. 196-7. A child was presented to the king by the parents to be admitted as eunuch in the court. Custodianship of child was given to a senior* Khoja*.*
42. *Sattar, Arshia, "Of Sexual desires and women Scorned: Multiple liaisons reach past the human world to that of the gods",* The Hindu-*Feminine Mythique*-Friday Review, *26 May 2017, p. 4.*
43. *Abul Fazal,* Ain-i-Akbari, *Henery Beveridge (trans.) 3 vols. (New Delhi: Low Price Publication, first published in 1902-39, reprint 2011), vol. 2, p. 136: Manucci,* Mogul India or Storia Do Mogor, *vol. 2, p. 79.*
44. Tuzuk-i-Jahangiri or Memoirs of Jahangir*, Alexander Rogers (Trans.) and Henry Beveridge (ed.), 2 vols. (Delhi: Low Price Publication, first published in 1909, reprint 2006), vol. 1, p. 150.*
45. *Ibid., vol. 1, pp. 150-151; Hardayal Singh,* Report Mardumshumari Raj Marwar 1891 AD *(Marwar census Report-1891), p. 387.*
46. *Manucci,* Mogul India or Storia Do Mogor, *vol. 2, p. 73.*
47. *Hardayal Singh,* Report Mardumshumari Raj Marwar 1891 AD *(Marwar census Report-1891), p. 387*
48. *Lal,* The Mughal Harem*, p. 59.*

49. Tuzuk-i-Jahangiri or Memoirs of Jahangir, *vol. 1, pp. 247. 50 eunuchs were sent by Islam Khan to Jahangir as offering;* DK-K, Miti Jaith Budi *3 VS 1889/1832 AD, pp. 196-7. Here a Jat gave his son against non-payment of revenue to be included in service of state as a eunuch because of the high value ascribed to them. The task of castration was left with the state.*
50. DK-K, Miti Sawan Sudi *3 VS 1774/1717 AD, p. 189.*
51. DK-K, Miti Pratham Asoj Sudi *8 VS 1776/1719 AD, pp. 259-60.*
52. DK-K, Miti Mah Sudi *4 VS 1820/1763 AD, p. 292.*
53. DK-K, Miti Fagun Sudi *2 VS 1885/1828 AD, pp. 193-4.*
54. DK-K, Miti Fagun Sudi *5* Ditwaar *(Sunday) VS 1889/1833 AD, p. 194.*
55. DK-K, Miti Fagun Sudi *5* Ditwaar *(Sunday) VS 1889/1833 AD, p. 194.*
56. DK-K, Miti Mangsir Sudi *14 VS 1775/1718 AD, p. 163.*
57. *Lal,* The Mughal Harem*, p. 56.*
58. DK-K, Miti Sawan Sudi *7* Budhwaar *(Wednesday) VS 1876/1819 AD, pp. 252-3;* DK-K, Miti Sawan Sudi *7* Budhwaar *(Wednesday) VS 1876/1819 AD, p. 271.*
59. DK-K, Miti Posh Sudi *11* Shukarwaar *(Friday) VS 1896/1839 AD, p. 277.*
60. DK-K, Miti Sawan Sudi *7* Budhwaar *(Wednesday) VS 1876/1819 AD, pp. 252- 253.*
61. DK-K, Miti Posh Sudi *11* Sukarwaar *(Friday) VS 1896/1839 AD, p. 277.*
62. DK-K, Miti Posh Sudi *11* Sukarwaar *(Friday) VS 1896/1839 AD, p. 243.*
63. DK-K, Miti Posh Sudi *11* Sukarwaar *(Friday) VS 1896/1839 AD, p. 185.*
64. DK-K, Miti Posh Budi *13* Bhrashpatiwaar *(Thrusday) VS 1896/1839 AD, p. 233.*
65. DK-K, Miti Posh Sudi *3* Ditwaar *(Sunday) VS 1804/1747 AD, p. 243.*
66. DK-K, Miti Mangsir Sudi *12 & 13 VS 1815/1758 AD, p. 181.*
67. DK-K, Miti Fgaun Sudi *7* Sanisarwaar *(Saturday) VS 1875/1818 AD, p. 266.*
68. DK-K, Miti Bhadwa Sudi *6 VS 1882/1825 AD, p. 193.*
69. DK-K, Miti Bhadwa Sudi *6 VS 1882/1825 AD, p. 287.*
70. DK-K, Miti Kati Budi *7 VS 1824/1767 AD, p. 281.*
71. DK-K, Miti Baisakh Sudi *12 VS 1879/1822 AD, p. 273.*
72. DK-K, Miti Chait Sudi *4 VS 1807/1750 AD &* Miti Kati Budi *9,* Miti Mah Sudi *9,* Miti Chait Budi *11 VS 1808/1751 AD, pp. 267-270.*
73. DK-K, Miti Fagun Budi *10,* Miti Sawan Budi *1,* Miti Bhadwa Budi *7 &* Miti Bhadwa Sudi *1,* Miti Posh Sudi *11 VS 1812/1755 AD, VS 1819/1762 AD and VS 1821/1764 AD, pp. 206- 217.*
74. DK-K, Miti Sawan Sudi *13,* Miti Sawan Budi *3,* Miti Sawan Sudi *7 & 8 VS 1774/1717 AD, pp. 255-6. A pair of pearl earrings was also given.*
75. DK-K, Miti Kati Sudi *15 VS 1775/1718 AD, p. 257.*
76. DK-K, Miti Mangsir Sudi *14 VS 1774/1717 AD, p. 165.*

77. DK-K, Miti Mah Budi *1,* Miti Mah Sudi *1,* Miti Fagu Budi *1 & 8 VS 1775/1718 AD, pp. 204-6.*
78. DK-K, Miti Mangsir Sudi *8 VS 1775/1718 AD, pp. 171-2.*
79. DK-K, Miti Mangsir Sudi *12 & 13 VS 1815/1758 AD, pp. 181-183.*
80. DK-K, Miti Mah Budi *3 VS 1815/1758 AD;* Miti Posh Budi *3 VS 1823/1766 AD;* Miti Pratham Chait Sudi *2* Saniswaar *(Saturday), 14* Shukarwaar *(Friday), VS 1841/1784 AD, pp. 182-3.*
81. DK-K, Miti Mah Budi *1 VS 1812/1755 AD, p. 279.*
82. *Lal,* The Mughal Harem*, p. 58.*
83. Ibid.
84. *Manucci,* Mogul India or Storia Do Mogor, *pp. 326-328.*
85. DK-K, Miti Baishak Sudi *12 VS 1812/1755 AD, p. 173.*
86. DK-K, Miti Baishakh Budi 2 Budhwaar *(Wednesday) VS 1924/1867 AD, pp. 243-45.*
87. DK-K, Miti Fagun Sudi *7 VS 1875/1818 AD, p. 266.*
88. DK-K, Miti Pratham Jaith Sudi *3* Somwaar *(Monday) VS 1876/1819 AD, p. 247.*
89. DK-K, Miti Asadh Budi *8* Budhwaar *(Wednesday) VS 1905/1848 AD, pp. 287-88.*
90. DK-K, Miti Kati Budi *11 VS 1829/1772 AD, pp. 228-9.*
91. DK-K, Miti Posh Sudi *3* Ditiwaar *(Sunday) VS 1904/1847 AD, p. 243.*
92. DK-K, Miti Posh Sudi *9* Shukarwaar *(Friday) VS 1904/1847 AD, p. 243.*
93. DK-K, Miti Posh Sudi *9* Shukrwaar *(Friday) VS 1904/1847 AD, p. 244.*
94. DK-K, Miti Mah Budi *8* Shukrwaar *(Friday) VS 1904/1847 AD, p. 244.*
95. DK-K, Miti Bhadwa Budi Somwaar *(Monday) VS 1904/1847 AD, p. 249.*
96. DK-K, Miti Asoj Sudi *10 VS 1905/1848 AD, p. 249.*
97. DK-K, Miti Mangsir Sudi *3* Mangalwaar *(Tuesday) VS 1905/1848 AD, p. 250.*
98. DK-K, Miti Asoj Budi *3 VS 1819/1762 AD, p. 246.*
99. DK-K, Miti Mangsir Sudi *3* Mangalwaar *(Tuesday) VS 1905/1848 AD, p. 287.*
100. DK-K, Miti Mangsir Sudi *10 VS 1851/1794 AD, pp. 281-282.*
101. DK-K, Miti Asadh Sudi *10 VS 1774/1717 AD, p. 273.*
102. DK-K, Miti Asadh Sudi *10 VS 1774/1717 AD, p. 274.*
103. DK-K, Miti Asadh Sudi *10 VS 1774/1717 AD, p. 295.*
104. DK-K, Miti Asadh Sudi *10 VS 1774/1717 AD, p. 223.*
105. DK-K, Miti Asadh Sudi *6 VS 1884/1827 AD, p. 174.*
106. DK-K, Miti Posh Sudi *2 VS 1889/1832 AD, p. 176-77.*
107. DK-K, Miti Posh Budi *5 VS 1803/1746 AD, p. 179.*
108. DK-K, Miti Posh Budi *5 VS 1803/1746 AD, p. 190.*
109. DK-K, Miti Posh Budi *5 VS 1803/1746 AD, p. 203.*
110. DK-K, Miti Jaith Budi *9 VS 1807/1750 AD, p. 227.*

111. DK-K, Miti Fagun Sudi *2 VS 1885/1828 AD &* Miti Fagun Sudi *5 VS 1889/1833 AD, p. 193-4.*
112. DK-K, Miti Posh Budi *5 VS 1803/1746 AD, p. 179.*
113. DK-K, Miti Posh Budi *5VS 1803/1746 AD, p. 203.*
114. DK-K, Miti Mangsir Sudi *10 VS 1799/1742 AD, p. 255.*
115. DK-K, Miti Mangsir Budi *9 VS 1784/1727 AD, pp. 237-38.*
116. *Scholz,* Eunuchs and Castrait*, introduction, ix.*
117. *Hardayal Singh,* Report Mardumshumari Raj Marwar 1891 AD *(Marwar census Report-1891), p. 386.*
118. DK-K, Miti Sawan Sudi *3 VS 1774/1717 AD, p. 172 and* Miti Jaith Budi *12 VS 1771/1718 AD.*
119. DK-K, Miti Sawan Sudi *3 VS 1774/1717 AD, p. 273.*
120. DK-K, Miti Mah Sudi *14 VS 1811/1754 AD, p. 218.*
121. DK-K, Miti Chait Budi *11 VS 1812/1755 AD, p. 218.*
122. DK-K, Miti Baisakh Sudi *12 VS 1812/1755 AD, p. 288*
123. DK-K, Miti Baisakh Sudi *4 VS 1814/1757 AD, pp. 288-289.*
124. DK-K, Miti Bhadwa Sudi *2 VS 1828/1771 AD, p. 279.*
125. DK-K, Miti Kati Budi *11 VS 1829/1772 AD, p. 228.*
126. DK-K, Miti Asoj Budi *3 VS 1819/1762 AD, p. 246.*
127. DK-K, *(date missing) VS 1875/1818 AD, p. 245.*
128. DK-K, Miti Jaith Sudi *1,* Budhwaar *(Wednesday) VS 1884/1827 AD, p. 173.*
129. DK-K, Miti Asadh Sudi *6, VS 1884/1827 AD, p. 174.*
130. DK-K, Miti Bhadwa Budi *3* Budhwaar *(Wednesday), VS 1884/1827 AD, p. 174.*
131. DK-K, Miti Maha Budi *1* Budhwaa*r (Wednesday), VS 1884/1827 AD, p. 175.*
132. *Choudhary, Manisha, "The Court Protocol and Social Ordering in Jaipur State",* International Journal of History and Cultural Studies*, vol. I, Issue-I, (2014): pp. 4-26 and Choudhary, "The Royal Household (Rajlok)", pp. 17-24.*
133. DK-K, Miti Baisakh Sudi *3 VS 1855/1758 AD, p. 175.*
134. DK-K, Miti Fagun Budi *10 VS 1812/1755 AD, p. 207.*
135. DK-K, Miti Asoj Sudi *14 &* Miti Asadh Sudi *6 VS 1774/1717 AD, pp. 186 & 188 (Ganga Ram* Khoja*);* Miti Fagun Budi *8 VS 1775/1718 AD, pp. 204-205 (Johar* Khoja-*nawa);* Miti Asoj Sudi *14 VS 1775/1718 AD, p. 224 (Daulat Ram* Khoja*);* Miti Cahit Sudi *7,* Miti Baisakh Sudi *8 &* Miti Asadh Sudi *12 VS 1775/1718 AD, pp. 258-259 (Moti Ram* Khoja*);* Miti Chait Sudi *8 VS 1775/1718 AD, p. 261 (Ratan Chand* Khoja*);* Miti Asoj Sudi *14 VS 1775/1718 AD, p. 296 (Himat Ram* Khoja*).*
136. DK-K, Miti Chait Sudi *15 VS 1783/1726 AD, p. 188;* Miti Fagun Budi *9 &* Miti Baisakh Sudi *10 VS 1815/1758 AD, p. 279 & 283.*

137. DK-K, Miti Kati Sudi *1 VS 1774/1717 AD, p. 186 & pp. 296-7 &* Miti Fagun Sudi *7 VS 1874/1817 AD, p. 250.*
138. DK-K, Miti Asadh Budi *10 VS 1774/1717 AD, p. 295 &* Miti Pratham Chait Sudi *15* Shukarwaa*r (Friday) VS 1841/1784 AD, p. 284.*
139. DK-K, Miti Mangsir Budi *13 VS 1811/1754 AD, p. 199.*
140. DK-K, Miti Posh Budi *8 VS 1836/1779 AD, p. 284.*
141. DK-K, Miti Bhadwa Sudi *6 VS 1882/1825 AD, p. 193.*
142. DK-K, Miti Sawan Sudi *7* Budhwaar *(Wednesday) VS 1876/1819 AD, p. 253.*
143. DK-K, Miti Sawan Sudi *7* Budhwaar *(Wednesday) VS 1876/1819 AD, p. 271.*
144. DK-K, Miti Bhadwa Sudi *6 VS 1882/1825 AD, p. 287.*
145. DK-K, Miti Posh Sudi *11* Shukarwaar *(Friday) VS 1896/1839 AD, pp. 233-34, 243, 249 & 277.*
146. DK-K, Miti Posh Sudi *11VS 1815/1758 AD, p. 184.*
147. DK-K, Miti Chait Sudi *4 VS 1812/1755 AD, pp. 218-219.*
148. DK-K, Miti Posh Budi *13 VS 1896/1839 AD, p. 233.*
149. DK-K, Miti Duvtik *(2nd)* Baisakh Budi *2* Budhwaar *(Wednesday) VS 1924/1867 AD, p. 244.*
150. *Choudhary, "Contesting and Negotiating Power: The multi-faceted dynamics of the Jat Uprising during late 17th and early 18th Century"* International Journal of Humanities and Social Science Invention, *vol.2, Issue 1, (2013), pp. 23-26; Choudhary, "The Court Protocol and Social Ordering".*
151. DK-K, Miti Chait Sudi *3 VS 1775/1718 AD, p. 168.*
152. DK-K, Miti Sawan Budi *2 VS 1776/1719 AD, p. 201.*
153. DK-K, Miti Baisakh Sudi *14 VS 1799/1742 AD, p. 255.*
154. DK-K, Miti Baisakh Sudi *4 VS 1799/1742 AD, pp. 263, 221 & 225.*
155. DK-K, Miti Baisakh Sudi *11VS 1799/1742 AD, p. 275.*
156. DK-K, Miti Baisakh Budi *11 VS 1799/1742 AD, p. 241.*
157. DK-K, Miti Baisakh Budi *11 VS 1774/1717 AD, pp. 261-62.*
158. DK-K, Miti Posh Sudi *2 VS 1816/1759 AD, p. 280.*
159. DK-K, Miti Chait Sudi *2 VS 1818/1761 AD, p. 290.*
160. DK-K, Miti Katik Budi *6 VS 1774/1717 AD, p. 296.*
161. DK-K, Miti Pratham Chait Sudi *2,* Miti Pratham Chait Sudi *14 &* Miti Pratham Chait Sudi *2,* Miti Pratham Chait Sudi *14 (Sewa Ram Nadar received on both days) VS 1841/1784 AD, pp. 182, 265 & 280-281 respectively.*
162. DK-K, Miti Asadh Budi *5 VS 1774/1717 AD, p. 296.*
163. DK-K, Miti Mah Budi *1 &* Bakai Mangsir Budi *10 VS 1812/1755 AD, p. 258.*
164. DK-K, Miti Bhadwa Budi *1 VS 1774/1717 AD, p. 185.*

165. DK-K, Miti Katik Sudi *5 VS 1775/1718 AD, pp. 186-7.*
166. DK-K, Miti Baisakh Budi *11 VS 1799/1742 AD, p. 241.*
167. DK-K, Miti Baisakh Budi *11 VS 1799/1742 AD, p. 275.*
168. DK-K, Miti Kati Budi *7 VS 1824/1767 AD, p. 281;* Miti Bhadwa Sudi *2 VS 1825/1768 AD, p. 282.*
169. DK-K, Miti Jaith Sudi *1 & 10 VS 1827/1770 AD, p. 169.*
170. DK-K, Miti Bhadwa Budi *5 & 6,* Shukarwaar *(Friday) VS 1874/1817 AD, pp. 250-251.*
171. *Abul Fazal,* Ain-i-Akbari*, Vol. 2, p. 270.*
172. *Manucci,* Mogul India or Storia Do Mogor, *Vol. 2, p. 430.*
173. *Hardayal Singh,* Report Mardumshumari Raj Marwar 1891 AD *(Marwar census Report-1891), p. 386.*
174. DK-K, Miti Jaith Sudi *3,* Somwaar *(Monday) VS 1876/1819 AD, p. 247.*
175. DK-K, Miti Mah Sudi *5, VS 1896/1839 AD, p. 234.*
176. DK-K, Miti Mah Budi *8 VS 1904/1847 AD, p. 244.*
177. DK-K, Miti Mangsir Sudi *3 VS 1905/1848 AD, p. 287.*
178. DK-K, Miti Mangsir Sudi *10 VS 1851/1794 AD, p. 282.*
179. *Manucci,* Mogul India or Storia Do Mogor*, Vol. 2, p. 31; Bernier,* Travels in the Mogul Empire AD 1656-1668*, pp. 132-133.*
180. DK-K, Miti Asoj Budi *13 VS 1874/1817 AD, p. 250.*
181. DK-K, Miti Jaith Sudi *7 VS 1874/1817 AD, p. 251.*
182. DK-K, Miti Asadh Budi 8 Mangalwaar *(Tuesday) VS 1875/1818 AD, p. 252.*
183. DK-K, Miti Sawan Sudi *7 VS 1876/1819 AD, p. 253.*
184. *Hardayal Singh,* Report Mardumshumari Raj Marwar 1891 AD *(Marwar census Report-1891), p. 387.*
185. *DK-K.*
186. *Hardayal Singh,* Report Mardumshumari Raj Marwar 1891 AD *(Marwar census Report-1891), p. 387.*
187. DK-K, Miti Posh Sudi *2* Somwaar *(Monday) VS 1889/1832 AD, p. 177.*
188. DK-K, Miti Jaith Sudi *3 VS 1828/1771 AD, pp. 228 & 277-279.*
189. DK-K, Miti Sawan Sudi *7 VS 1876/1819 AD, pp. 252-253.*
190. DK-K, Miti Sawan Sudi *7 VS 1876/1819 AD, p. 253.*
191. DK-K, Miti Fagun Sudi *7,* Saniswaar *(Saturday) VS 1874/1817 AD, pp. 250-252.*
192. DK-K, Miti Asoj Budi *13,* Budhwaar *(Wednesday) VS 1874/1817 AD, p. 250.*
193. DK-K, Miti Jaith Sudi *3,* Somwaar *(Monday) VS 1876/1819 AD, p. 247.*
194. *Dhwty, http://www.ancient-origins.net/history/fascinating-life-chinese-eunuch-forbidden-city-china-002524?page=0%2C1*
195. *Lal,* The Mughal Harem*, p. 189.*
196. DK-K, Miti Fagun Budi *8, VS 1821/1754 AD, p. 247 &* Miti Asadh Sudi *3 VS 1815/1758 AD, p. 228.*

197. DK-K, Miti Chait Sudi *7 VS 1885/1828 AD &* Miti Mangsir Budi *2 VS 1886/1829 AD, pp. 174-175.*
198. DK-K, Miti Mah Sudi *14, VS 1811/1754 AD, p. 218.*
199. *Manucci,* Mogul India or Storia Do Mogor*, vol. 2, pp. 323-324.*
200. *Bernier,* Travels in the Mogul Empire AD 1656-1668*, pp. 144-6. He also notes "eunuch, persons who posses no enlarged and liberal views of policy, and who employed their time in barbarous intrigues, banishing, imprisoning and strangling each other." (p. 146)*
201. *Manucci,* Mogul India or Storia Do Mogor, *Vol. 2. pp. 74-75. "this sort of animal….afraid to spend…fond of receiving….tounge and hand of these baboons act together….foul in speech…found of wine…aware of character of these monsters, did not allowed such to be employed in his house. Thus suffices for a brief notice of what eunuchs are."*
202. DK-K, Miti Posh Sudi *4* Mangalwaar *(Tuesday) VS 1894/1837 AD, p. 183.*
203. DK-K, Miti Posh Sudi *11* Shukarwaar *(Friday) VS 1896/1839 AD, p. 243.*
204. DK-K*, pp. 237-9.*
205. DK-K*, p. 245.*
206. DK-K*, pp. 250-254.*
207. DK-K*, p. 247.*
208. DK-K*, p. 299.*
209. DK-K*, pp. 173-177.*
210. DK-K, Miti Chait Sudi *13 &* Miti Jaith Sudi *13 VS 1808/1751 AD, p. 299.*
211. *Manucci,* Mogul India or Storia Do Mogor*, vol. 2, pp. 72-75.*
212. *Lal,* The Mughal Harem*, p. 59.*
213. *Bernier,* Travels in the Mogul Empire AD 1656-1668, *pp. 131-132.*
214. *Reusch, Kathryn, "Eunuch and Castrait: Effects of Androgen Deprivation on Male Skeletal Development*", *Durhan University.*
215. *Bernier,* Travels in the Mogul Empire AD 1656-1668, *pp. 131-132 (Didar Khan); Lal,* The Mughal Harem*, p. 189.*
216. *Hopkins,* Conquerors and Slaves*, p. 188.*
217. *Hardayal Singh,* Report Mardumshumari Raj Marwar 1891 AD *(Marwar census Report-1891), p. 387.*
218. *Renner, "The functional role of eunuch", p. 2.*
219. *Lal,* The Mughal Harem*, p. 198.*
220. DK-K, Miti Kati Budi *7 VS 1824/1767 AD, p. 301.*
221. DK-K, Miti Fagun Sudi *2 VS 1885/1828 AD &* Miti Fagun Sudi *5 VS 1889/1833 AD, pp. 193-95.*

Economic Condition of Darazi (Tailor) in the 18th Century Rajasthan

Dr. Sumit

This paper aims to trace the historical background of *darzi* and their activities under the Jodhpur state in the eighteenth century. A study of this nature would reveal various aspects of their working conditions, wage patterns and the social status of *darzi*, among other revelations.For Jodhpur State, *Sanad Parwana Bahis* and *bahis of Ranivas*, *Hakikat bahis*, *Patta bahis are* replete with information pertaining to *darzi* classes. These documents throw interesting light on the economic status of the *darzi*, their social status, conflicts within and outside the community, the role of their *nyat panchayats*, problems faced by them as a group vice-versa individuals and how these problems were addressed at different levels. The focal point of discussion would be on state's response towards the grievances raised by different sections of artisanal classes, varied types of concessions granted to them by the state and the nature of crime and punishment for the artisans during the 18th century.

Historical Background Darzi (Tailors)

The *darzi* was a community of tailors. Though, presence of needle could be trace as early as Indus Valley Civilization, caste appears to have emerged in this profession in the medieval period**.** The word *darzi* is from Persian word *darz* meaning sewed up.[1] Clearly suggestive of the fact that *darzi* as a distinct profession recognized in India with the coming of the Turks**.** *Mardum Shumari Raj Marwar* and MunshiHardyal Singh mention that in Rajasthan they are divided into two sections *Pipavanshi*and *Namdeovanshi*.[2] Munshi Hardayal Singh mention that 'Pipavanshi take their name from Pipaji, a Khichi Rajput who said to have abandoned the secular world about the Samvat year 1475 and to have induced his Rajput servants and followers to adopt the profession of tailors. They are also known as Maru Darzis. The Rajput clans chiefly found among them are – Parihar, Punwar, Chohan, Solankhi, Tanwar, Sisodia, Dabi, Bhati, Rakecha, Tak, Daiya, Sinkhlicha, Makwan, Kachhwaha, and Ghelot.'[3] About the Namdeovanshis, it is said that they **'**are the followers of Namdeo, who was a saint of the *Tak* clan. They declare themselves to have been originally Rajputs, who adopted the profession of *Chhipas* or maker of *chintz* and other fabrics at the time of Parasu Ram, but subsequently became *Darzis.* They are distinguished by the name of *Chhipas, Darzis* and some of their members still work as *dyers.'*[4] They are largely Hindus in Marwar.*MardumShumari*records that out of total 17077 *darzis* only 121 were Muslims.[5]

Economical status

While some *darzi* worked independently, others took employment with the state. For many the two categories overlapped rather than being mutually exclusive. They set up shops and catered to the demand that arose in the market and on attaining exceptional skills and fame; they were sometimes commissioned by the state or its agents to work for them.[6]

Majorly, artisans *darzi* could be classified as common and royal artisans. On the one hand there were the *bazardarzi* or common *darzi* who were nominally independent workers and were not employees of the rich and powerful merchants. Usually they were perpetually poor, unskilled and subject to all kinds of arbitrary exploitation by rich merchants or agents. On the other hand, there were royal *darzi*, the elite among the artisans, who were the skilled *darzi* and necessarily employees of the *karkhana.*

Artisanal Wages

Very little information is available on the prevalent artisanal wages in the Mughal Empire. Abul Fazl in the *Ain-i Akbari* provides a detailed list of wages paid to the artisans in the *karkhana* of *Imarat.*[7] However, actual wages paid in other Mughal *karkhana s*hardly survive. Apparently it is extremely difficult to work out average wage structure of the artisans employed in the textile *karkhanas* as rightly pointed out by Shrieen Moosvi in the context of the Mughal Empire.[8] However, in the context of Jodhpur we are fortunate to get comparatively more detailed information year-wise**.** Which is of immense helpfulin getting the wage structure of artisans employed in the Jodhpur *karkhanas*. Here, unlike the Mughal Empire we get more authentic information about what wages exactly artisans were receiving and what types of deductions they were doing.

Analyzing the wage pattern of the skilled and unskilled workers given in the *Ain* Shireen Moosvi argues that, 'The majority of servants,

especially those tending animals (and birds), or otherwise employed in the animal stables, drew *monthly salaries*, but for most of the *skilled jobs* the wages quoted are *piece wages*. *Daily wages* were sanctioned only in the building establishment and for *some unskilled*, low paid workers such as grass-cutters and boy helpers in the stables.'[9] (*emphasismine*) Tapan Ray Choudhari mentions that artisans were paid either monthly, daily or in the form of piece wages. Tapan Raychaudhuri argues that, 'Payments in cash and kind for additional work, or entirely on a *piece-work* basis, *co-existed* with the more widespread *practice of allocating fixed shares* of the rural produce and/or *land to the artisan families.*'[10] (*emphasis mine*) .Artisans were paid in cash and kind for additional work, or entirely on a piece-work basis.[11] Piece wages were the ones which were given in lieu of an assignment with particular task assigned therein. These wages were a different class apart from the ones received by monthly and daily wage artisans.

Verma also finds similar pattern with regard to Mughal *karkhanas*.[12] She writes that, 'The remuneration of the wage workers differed from workshop to workshop. In some workshops wages were paid in *cash*; in others the labourers received a share of finished product for their work. Labourers in workshops were paid in accordance with their role in production. The *payments in kind*, when reduced to monetary terms generally coincided with cash wages. This demonstrates that the distribution of shares of the output did not essentially differ from remuneration in cash. In some workshops for example, in *Velater*, remuneration was mixed, in *money* and in grain.[13] (*emphasis mine*). On the other hand, R.K. Saxena's analysis on the *karkhanas*in Rajputana suggests that three types of wages were paid in these *karkhanas: Mahinadars*, (monthly wages), *Alutedars* (artisans who were allotted jagir in lieu of wages) and *Rozinadars* (daily worker). He further states that the wage or salary received by the artisans were either 'piece wages' or 'time wages'.[14] Shireen Moosvi has critised this view held by R K Saxena and according to her piece wages cannot be compared to time wages.[15] Thus R.K. Saxena is also in agreement with Tapan Raychaudhuri and Shireen Moosvi that 'payment in some *karkhanas* was *cash* oriented while in other a *mixed agendum* was adopted - a minor part of it being paid in cash and major one in kind.'[16] Here, it is interesting that Saxena does not mention wages paid per piece or according to assignment basis as evident from our record. In

Jodhpur *karkhanas* artisanal wages were paid in cash, with not a single mention of land in lieu of wage. Their wage disparity, from *karkhana*to *karkhana,* depended upon their duty. In each *karkhana, the* wage pattern was different. Some *karkhanas* paid cash and adopted policy of part payment of wages in cash and the other half in kind. R.K. Saxena[17] gives account of wages like month scales.[18] However, no instance of wage payment on monthly scale pattern in Jodhpur *karkhanas* is found during the research. In the state run *karkhanas* of the Jodhpur rulers artisans seem to have paid in the form of cash wages. However, the wage structure of different artisans varied. They were subject to different modes of payment. Some artisans were paid monthly (*mahipane*); while others were recruited on daily (*azuradar*) basis; while some were paid as per the completion of their assignments. This does not appear to be the fact once we look at the day to day records of the working of the Jodhpur *karkhanas*. Jodhpur records mentions pertaining to wages paid in kind comes entirely.

Records of the textile *karkhanas* (*kapdho ka kothar)* clearly suggest that artisans received both monthly wages as well as assignment based payments. At times they were even employed and paid on daily basis.

An analysis of the wage structure of artisans working in the *kapdro ka kothar* of Jodhpur suggests that it is difficult to compare the wage pattern of various artisans in absolute terms. There appears to be no set pattern of payment made to be artisans. There seems wide variations in wages paid to various artisans for the same kind of work done. For example, *mashru ghaghra* stitching daily wages varied from 4 *annans* 2 *paisas*to 6 *annas* 2*paisas, to the* extreme of Rs. 1 per day. Similarly, for making *bafta ghaghara*variations seem quite negligible (4-5 *annas*). Since *karkhanas* cater to 'elites' material produced was of 'high' quality and expensive, so highly skilled artisans were employed to do the jobs. Here, an interesting pattern is emerging that artisans hired on daily basis were paid at much higher rate as compared to artisans employed on monthly basis to perform the same task. The trend can only be explained in view of the fact that probably the wages depended upon the quality and skills of the work done. Therefore, wages varied and it was not possible to standardise wages in absolute terms. Thus, the type of 'standard' wages are mentioned in the *Ain* in the context of *karkhanaImarat* pertaining to various artisans, are not reflected in the wage structure for artisans in Jodhpur

textile *karkhana*and we do not come across any such 'standardise' wage structure for artisans in Jodhpur textile *karkhanas*.[19]

Monthly Wages

Textile artisans were also paid on monthly basis. Shireen Moosvi believes that 'for most of the skilled jobs the wages quoted are piece wages.'[20] Stitching was a highly skilled job. In the *kapdro ka kothar* records many times *darzi* was seen employed on monthly wages. However, again, one finds that there seems no 'standard' wages as per the task performed. Wages probably were determined on the basis of nature of skills involved.

In *kapdro re kothar* for stitching khas*poshak* two darzi, LaluLichhamno and Ladho, were paid different wages. When Lichhamno *darzi*, assigned the task, he was paid Rs. 8 per *mahipane* (monthly) for stitching *khasposahak* (special dress); while for the same task ladho*darzi* was paid a monthly wage of Rs. 6.5 only (*mahipane*).[21] This indicates a huge disparity in the wage structure of workers performing the same task. Probably, time taken and skills required more precision thats why variations in their wages is apparently more glaring. It is also suggestive of the presence of greater hierarchy among the artisans involved in the stitching profession.

However, artisans who were on regular employment and paid monthly wages often paid much later, particularly in*kapdho ka kothar.* Either they were paid after two months and at times even after four months. For example, Sita Ram Giga *darzi* was engaged in the *kaprorakothar*on monthly salary. He received his wages after a period of four months.[22] In the same year when Tikam *darzi* was employed in *kaprorakothar* he received his salary after two months.[23] Tripta Verma argues that the wages paid in the state *karkhanas* were very low.[24] In contrast, our records speak of the artisans being paid handsomely. While wages given in the *Ain* for *karkhana* imarati ranges from 60 - 210 dams; a month wages paid to the artisan in textile *karkhana* range of Jaipur Rs. 7½ to 10 per months.

Assignment Based Wages

Largely in the Jodhpur textile *karkhanas* artisans were employed for specific assignments and paid as per assignment basis. Suggestive of the fact that artisans were properably employed to perform the task as per assignment basis. The amount paid per assignment appear

to be higher than wages paid as per monthly and daily basis. Another interesting feature which is apparently evident from the data is wages paid as per assignment basis are normally paid immediately after finishing the task. For instance, in 1720 CE *Panodarzi* stitching *jama*. He got 2 rupees 4 *aanas* after finishing the task.[25] In 1802 CE Amro*darzi*got 8 *nag* of *jama* for stitching, for which he was paid 3 rupees and 3 *annas*.[26] In 1836 CE, a *darzi stitched* four *nag* of *kacnhali*. He got 6 rupees and 12 *annas* after finishing the work.[27] In 1720 CE *Hari mina* stitchedtwo *nag*of *angrakha*.[28] He was paid 2 rupees and also 8 *annas*separatey for raw materials for printing two *thans*.[29]

Moreland, while discussing the facts and figures given by Abu Fazl, talks about the sanctioned rate of wages to different departments. A portion of these sanctioned wages, according to him, were to be paid to the superior officers in the Court.[30] But, our documents are silent on these counts. Neither do we come across any sanctioned rate of wages to be paid to the artisans nor do they mention about share being paid to the superior officers. Rather one-sixth portion of the total monthly-wage is seen deducted as some form of taxation. As evident from the records , not a single instance of monthly or daily wage is available in the *kapro re kothar*. Only assignment based wages were seen being distributed among the artisans. These assignment based wages per *than* appear to be on a quite higher side.

Deductions

According to Moreland though 'there are general assertions that [under the Mughals] all classes of the people paid taxes according to their means. While, therefore, there is no evidence to prove that artisans were heavily taxed in the latter years of Akbar's region, the circumstances of the period render it probable that they had to contribute to the revenue.[31] However, Moreland does not specifically mention the actual deductions. Nonetheless, he acknowledges that employees of the 'Imperial Household' 'had to pay a portion of their wages to their superior officers.'[32] However, our record does not speak of any 'portion' of their salary being paid by the artisans to their superior officials (we do not get a single instance of this nature). What our record speaks about is of deductions which were taken by the state in the form of 'tax'. We do not find any cases of deductions recorded in the Jodhpur records. This absence of dedication can well, be explained considering the fact that 'deductions' were applicable

only in case of 'monthly' wages. However, *kaprorakothar* and *hakikatbahi's* do not record 'monthly wages' paid to the artisan, with the exception of two solitary instance in the textile *karkhana*.

Pelsaert argues that 'wages are paid by the Moguls only after large deductions, for most of the great lords reckon 40 days to the month, and pay from 3 to 4 rupees for that period;while wages are often left several months in arrears, and then paid in worn-out clothes or other things.'[33] Our record is however silent on this type of deductions ever made from artisans' salary. However R.K. Saxena in the context of Rajasthan does mention that in the *karkhanas* artisans were subject to various types of deductions. They were not paid for *Adhikmas.*[34] Similarly, he also speaks about the artisans paid as per month's schedules. He argues that 'there were monthly schedules prevalent at every capital against which they were paid for 8 to 10 months.'[35] Another type of deductions mentioned by R.K. Saxena is *tisa-Guntisa*. In this one days wage was paid less after every two months. As per lunar calendar one month was of 29 days and another of 30 days accordingly every alternate months one days wages was deducted.[36] Similarly, his records suggest that artisans in the *karkhanas* were not paid for the *gyaras* (*ekadashi*: the eleventh day in each paksha Sudi and Budi) in each month worker were paid two days less in addition to *Tisa-Guntisa*.[37] Artisans were also subject to *Batta Bidotra.*[38] Further artisans were also subject to penalty (*kasur)* in case of faultering in performing their requisite task.[39] Besides, the above mentioned deduction's a standard deduction of 1/6th was made from the monthly wages of each artisans.[40]

We do not find any instance of the above mentioned deductions. Expectto the 1/6 part of their total salary, In 1720 CE, Sitadan *Darzi* was engaged in the *kapro re kothar* of Jodhpur at the monthly wage of Rs. 10. But when was paid after two months; instead of paying Rs 20 (for two months) he was given a sum of Rs 16, Annas 10 (after 1/6th deductions). This is clearly indicative of the fact that 1/6th was the standard from the monthly salaries of artisans.[41] In 1803 CE pasaram *darzi*, received only 33 rupees and 8 *annas* instead of Rs. 40 after 1/6th deduction from his monthly wages.[42] Similarly, Poonamchand *darzi*when appointed for stitching *khasposahak* (special dress) he was to be paid monthly wage of Rs. 7 and 8 *annas* (*mahipane*). Going by the calculation, he should get Rs. 15 for two months of his work. But he was given 12 rupees 8 *annas* for two months instead.[43] Wheareas,

dano *darzi* had stitched *khasposak* (unique dress) in the *kaprorakothar* of Jodhpur. He was appointed on a salary of 7 rupees 8 *annas mahipane* (per months) where he should have been paid a sum of fifteen rupees for the duration of two months, but he was paid 12 rupees 8 *annas* with 2 rupees 8 *annas* being deducted from his wages.[44] Thus our sources confirm that uniformly 1/6th was deducted from the total salary of the artisans. Tripta Verma without any substantial data just quote Pelsaert; however our data does not mention any such type of deduction. Artisans were even not paid regularly. Eugenia Vanina mentions that 'the *karkhana* state officials cheated the artisans, paid them their wages with much delay or appropriated parts of it.'[45] R.K. Saxena also in the context of Rajputana points out such type of delayed and irregular payments.[46]

Though we do not get any direct reference about the officials cheating upon artisans as such but some misappropriation or delays are evident in our sources. Probably, it was a general practice to keep their dues pending on two counts. One, the *darzi* would not think of leaving the job unfinished or in the middle of it. Or secondly, it might involve some sort of procedural delays. Interestingly, these deduction exclusively related monthly wages a daily wage earner received in cash the sum according to the work performed without any deduction. In 1740 CE Ramgai performed the task of stitching for cotton *masnad* (long pillow) for the *kaprorakothar*of Jodhpur . He got 8 *aanas*for a single day of work,without anydeduction.[47] In 1803 CE, Nandlal, who stitched two*alam* '*nag*' (a bundle of cloth), of *kurti*and he got Rs. 2.5 for his work. There was no deduction made in his pay.[48]

Sanad parwanabahi is important source which throw important light on the *darzis*. The reference comes in the context of remunerations granted to various members of the caste for their excellent services or when they excelled in skills. At times they were being given special assistance for the marriage of their daughters. In one instance Nathu tailor stitched *chira* (truban) for which he got 1 Rupees and 15 *Annas* as wages and extra Rs. 25 in the shape of reward for marriage of her daughter.[49] In another case Tikam *darzi* stitched clothes for *shree gavar mata (statues of goddess of parbati)* for occasion of *gangor* and in return as reward he got Rs 1000.[50] Mostly, wages were given on assignment basis. But tailors were given wages on monthly basis about which we find information in the *bahis*.[51] Sometime state give the extra eminent of our artisans who give the good works. We get some

instance in ruka *hakikatbahi* when state gave the privilege to a *Darji*. In one instance golu son of mala darji of Jodhpur made the khasposak. And state presented the jagir of vabhor village with a rekh of Rs. 600 as a privilege.[52] In another instance Mahesh son of kushaladarji of Jodhpur made the khasposak. And state give the *jagir* of Madhlibika village, in Jodhpur, this vaillage'srekh was Rs. 625,as a privilege.[53]

Differential wages

Moreland argues that during Akbar's artisanal wages were paid on the basis of their classification as skilled and unskilled. Skilled workers used to get higher wages and ordinary workers used to get lower wages.[54] Nandita Prasad Sahai also mentions that 'artisans who had acquired greater expertise were naturally entitled to a higher remuneration in consonance with the superior skill and talent they possessed. Specialization and internal differentiation among craft castes residing in urban centers led to the emergence of a nebulous sort of hierarchy among them. In general range of wages from Rs. 2 to Rs. 7 per month.' She speaks about ordinary *khatis* get Rs. 3 per month and skilled artisan got Rs. 4 per month. *Chiteras* wages range from Rs. 4 to Rs. 7 per month.[55] However, *kapro ra kothar* records speak about wage differential for the same task assigned to two *darzi*. The wages seems to be different and no standard format seems to have followed. It appears that wages depended upon the skill of the individual artisans. When Sitadan*darzi*, was assigned the task of sttiching *khasposahak* he was paid Rs. 10 per *mahipane* (monthly).[56] While pano *darzi* when appointed for stitching *khas posahak* (special dress) was paid monthly only Rs. 7.5 (*mahipane*).[57] This indicates a huge disparity in wages between two workers performing the same task. This wage disparity possibly indicates the presence of hierarchy in the profession. Though sources are silent on hierarchy within the profession as such. Probably skilled worker got higher wages as compared to less skilled and unskilled workers.

Ramu got only 8 *aanas*for a single days work;[58] Nandlal received Rs. 2.5 for his assignments[59] and Ramdas was paid Rs. 1 for his stitching assignments.[60] 1803 CE darzi dano etc, were paid the wage (*azura)* Rs. 18 and 10 *annas* for *masnad* (a kind of round pillow) stitching assignment.[61] The royal *karkhana* artisans worked on hereditary base, and if some worked died; then the *darbar* send them*dastur*. If the father is working in royal *karkhana* and he died

during his working period. Similarly his son also died that time grandson got the opportunity to work in royal *karkhana* through kurab dastur, we get many instance regarding it. For example darzi Gordha was working in royal textile *karkhana* after his death his grandson got dastur 85 rupees with pearls from the royal treasury. It is due the reason that his son Ramnaryan was also expired. This happened in his life time, so grandson got the job in royal *karkhana*.[62]

Conclusion

Thus, our documents clearly suggest that The high quality stitching work appears to be a craze with the Rajput rulers as well as among the people of Rajasthan. It appears that so much importance was given to stitching that separate*karkhana* (*kapro ra kothar*) was established for stitching and other textile regarding work. Textile *karkhanas* (*kapdho ka kothar)* clearly suggest that artisans received both monthly wages as well as assignment based payments. At times they were even employed and paid on daily basis. Largely in the Jodhpur textile *karkhanas* artisans were employed for specific assignments and paid as per assignment basis. The royal *karkhana* artisans worked on hereditary base.

References

1. *Steingass. F.,(1981).* Comprehensive Persian English Dictionary*, New Delhi: Munshiram Manoharlal, p. 511.*
2. *Singh. Hardayal, (1997) [1970].* Report Mardum Shumari Raj Marwar *(1891):* Rajasthan ki Jatiyon ka Itihas evam Unke Riti Rivaj, *Jodhpur: Shri Jagdish Singh Gehlot Shodh Sansthan, p.480; Komal Kothari(1995) [1894].* 3. Castes of Marwar*, ed., Jodhpur: Book Treasure, p. 171.*
3. *Kothari, (1995) [1894]. p. 171.*
4. *Singh, (1989). p. 148.*
5. *Hardayal, (1997). pp. 479-481.*
6. *Nandita.*
7. *Abul Fazl. (CE 1595),* Ain-i Akbari, *Vol. I, tr. Blochmann, H. Second edition revised and edited by D.S. Phillott, (1977 [1927]), New Delhi: Atlantic Publisher & Distributors, p. 170.*
8. *Moosvi. Shireen, (1987).* The Economy Of The Mughal Empire*, Delhi: Oxford University Press, p. 333.*
9. *Ibid. p. 332.*
10. *Raychaudhuri. Tapan and Irfan Habib, (1982).* The Cambridge Economic History of India*, Vol. 1, Britain: Cambridge press, p.280.*
11. *Ibid.*

12. *Verma. Tripta, (1994).* Karkhanas under the Mughals*, Delhi: Pragati Publication, pp. 144-146.*
13. *Ibid.*
14. *Saxena, (2004). p. 137.*
15. *Moosvi, (1987). p. 333.*
16. *Saxena, (2004). pp. 119-120.*
17. *Saxena, (2004). pp 119-120.*
18. *Month scales system a mode of payment stated by Shahjahan to balance the* jama-hasi*l gap. Athar Ali mentions (see Athar Ali page 47), that though month seek was applicable in case of* tankhwah nagdi *as well but it was never fixed above 'eight monthly' or below 'four monthly'. However, R.K. Saxena mentions* tankhwah *paid to the artisan, in the* karkhans *'two-month' as well as 'ten months'. (R.K Saxena, p.137).*
19. *Fazl, (1977)[1927]. p. 235.*
20. *Moosvi, (1987). p.332.*
21. Darziyon ki hajari ri bahi *no. 40, V.S. 1811, image 15.*
22. *Ibid, image 21.*
23. *Ibid, image 22.*
24. *Verma,(1994). p. 146.*
25. Kapro re kothar ri bahi *no. 1, f. V.S. 1777, 154b.*
26. *Ibid,* Bahi *no. 144, f. 11a.*
27. *Ibid, bahi no.2. f. 91a.*
28. *Man's robe with a fitted, long-sleeved shirt attached to a flared skirt.*
29. Darziyon ki hajari ri bahi *no. 40, image 25.*
30. *Moreland. W.H., (1989).* India at the Death of Akbar*, Delhi: Sunita Publication, p.178.*
31. *Ibid, pp. 176-177.*
32. *Ibid. p. 178.*
33. *Pelsaert, Francisco, (1989).* Jahangir's India*, Cambridge: W. Heffer & Sons Ltd, Publication, p.62.*
34. *Saxena, (2004). p. 120*
35. *Ibid, p. 136, f. 5a.*
36. *Ibid, p. 136, f.6.*
37. *Ibid, p 136, f.6*
38. *Ibid.*
39. *Ibid.*
40. *Ibid.*
41. Kapro ra kothar ri bahi *no. 35,V.S. 1818.*
42. *Ibid, Bahi no. 144, V.S. 1859.*
43. *Ibid, bahi no.2, V.S.1893.*
44. *Ibid, bahi no. 35, V.S. 1818.*
45. *Vanina, (2004). p.97.*
46. *Sexena, (2004). p. 120.*
47. Kapro re kothar ri bhai *no. 1, f. 155b.*
48. Ibid.
49. Hakikat rajistar*,no. 52.*
50. *Jodhpur daftar hajuri bahi no. 46. Image 15.*
51. Zanana talake ki bahi, No*. 148, V.S. 1826. F, 11.*
52. Siga hakikat bahi No*. 4, V.S. 1857, image 116.*
53. Siga hakikat bahi No*. 4, V.S. 1845, image 111.*
54. *Moreland.(1987), p.178.*
55. *Nandita, (2006). pp. 194-195.*
56. *Jodhpur* daftar hajuri bahi *no. 46. Image 15.*
57. *Ibid, f 1.*
58. Kapro re kothar ri bahi *no. 35, V.S. 1859.*
59. Ibid. bahi no. *2, V.S. 1893.*
60. Ibid. bahi no. *35,V.S. 1818.*
61. *Ibid,* bah*i no 144, V.S. 1859.*
62. Hakikat bahi *no. 38, image no. 277.*

Narratives of the Lives of Sants in Medieval Rajathani Higiography

Rameshwar Prasad Bahuguna

An attempt has been made in the present article to study the representations of the lives and deeds of nirguni sants, particularly Kabir and Dadu, in hagiographic texts that were composed in Rajathan during the seventeenth century. The hagiographic narratives on which this paper is based include Nabhadas's Bhaktamal (composed at the Galta monastery near Jaipur in early seventeenth century). Anantadas's Parachais (composed during the late sixteenth or early seventeenth century at Raiwasa monastery of the Ramananadis) and Dadu Janmalila Parachi of Dedupanthi Jangopal in the third decade of the seventeenth century.

Kabir's anti-Bramanical acts of religious transgression and his subversion of the religious position of the Brahmans and qazis of Kashi outraged the antagonistic religious elites who went to Sultan Sikandar Lodi. Wishing long life to the Sultan and calling him their 'father', they requested him to punish Kabir for his subversive activities and for denigrading them. Sultan Sikandar Lodi arrested Kabir and put him on trial for his unorthodox views. When Kabir refused to recant his teachings, Sikandar Lodi ordered that Kabir be bound hand and foot and trampled to death by an enraged elephant. The enraged elephant, however, trembled in fear before the saint. Infuriated by this, the Sultan himself mounted the howdah and goaded the elephant forward to where the sant lay. The elephant however, refused to advance and peering down on the sant, the Sultan saw that Kabir had turned himself into a lion. Sikandar Lodi dismounted from the elephant and prostrated himself before the great ascetic. The king holds the power of life and death over his subjects, but he finds himself powerless in dealing with the sant who holds power his own life and death.[1]

While the Brahmans and qazis are depicted as wishing long life to the Sultan and addressing him as 'fathre' and 'mother', the legend shows Kabir refusing to offer obeisance (salam) to him. When the qazi ordered Kabir to offer salam to the king, the sant's reply was that he would offer obeisance only to God. Jan Gopal's Dadu Jama Lila – the earliest legendary account of Dadu's life, written a few years after his death, gives a similar description of the sant's encounter with the Qazi and faujdar of Sambhar.[2] The work also contains a legendary account of the acceptance of Dadu's spiritual greatness by emperor Akbar, his courtiers and various chiefs of Rajasthan. Dadu as a sant in shown superior to all of them. When he is persuaded to visit Fatehpur Sikari and enlighten Akbar on spiritual matters, he establishes complete spiritual dominance over the Emperor, his courtiers and Brahman ideologues. When a Brahman advisor of Akbar named Tulsi (different from Tulsidas, the author of Ramacharimanas) said "Hail to the King." Dadu ignored his greeting and instead said "Hail to God". He made it clear that he would bow only before God and none else. He also refused to accept the theory that the Emperor was an incarnation of God.[3] Jan Gopal writes that in his discussions with Akbar which lasted for forty days, Dadu "spoke with the firmness of Prahlad and with the wisdom of Kabir."[4]

Needless to say, the entire account is legendary and there is no documentary evidence to show that Dadu ever visited Fatehpur Sikari and met Akbar. This fact, however, does not detract from the value of this account as it and other hagiographic account on the lives of sants reveal the non-Brahmanical perception of the qualities of a sant. The hagiographers often use the phrase "victory' victory" whenever the Brahmans and rulers are made to bite the dust and surrender before the sant. Clearly, in symbolic terms at least, the sant-hero becomes the new authority figure. What is significant about such a perception of snathood is that it reveals the political expectations of the ordinary people who by imputing certain qualities to the sants imagined the overturning of existing hierarchies. The harsh reality that the relations of domination and subordination remained intact did not prevent the lower-caste groups to at least culturally and symbolical offer resistance to the dominant groups. Marc Bloch, the famous French historian, noted long ago in his study of 'royal touch' that the tendency to believe something which never happened in reality or was contradicted by experience is an essential features of the so-called 'primitive' mentality.[5] There is a legend about the literary encounter between the famous bard Durasa Adha, who had been patronized by both Rana Pratap and Akbar and who composed poems in praise of his royal patrons, and sant Rajjab. The legend, as narrated by Raghodas in his Bhakramal, depicts how Durasa Adha had become arrogant due to his literary achievements and due to his links with the rulers and how he was

ultimately vanquished in a literary duel by an ordinary follower of Dadu.[6] At a time when the bards and Brahman courtiers were presenting their Rajput patrons as heroic figures, unorthodox religious communities developed a different perception of valour and heroism. The leading sants were beging regarded as sang-shoormas and sant-sipahis. Along with the cult of local and folk deities, the culture of sant-heroes formed an important part of the socio-religious life of the common people in many parts of northern India.

The santic perception of past and history was an important element of their social and political consciousness. The sants rejected Brahmanical scheme of Yugas and the Brahmanical system of manipulative calculation of years, months and days. The sants emphasized continuity of time rather than its circularity. Like the Brahmans and Vaishnavites, the sants also invoked the past but their attitude towards the Puranic myths was radically different from that of the Brahmans and even Vaishnavites. The Puranic myths were source of legitimation not only for the Brahmans and Vaishnavites but also for the sants. It is generally believed that the sants rejected the Puranic myths. However, the Puranic stories did enter the religious consciousness of the sants through the process of 'appropriation'. The tendency to praise Puranic heroes such as Prahlad, Dhruv, Ambrish, Harishchandra and others can be traced back to the early sants such as Kabir and Raidas. While the Brahmans traced back the lineages of the contemporary rulers to the Puranic solar and lunar dynasties, and Vaishnavites sang the glory of various incarnations of Vishnu described in the Puranas, the sants, on the other hand, traced their own history to the oppressed heroes of the Puranic past. Santic perception of history clearly distinguished between oppressors and the oppressed.

While the Brahmanical perception of Kaliyuga was transitory, to the sants it represented a continuous and unending conflict between the forces of evil and those who were true devotees of God. Far from glorifying gods and rulers, whether mythical or historical, the santic perception of history depicted them as helpless victims of Kal (Time).[7]

If we draw a comparison between the Vaishnavite perception of history and that of the sants, it becomes evident that the former was concerned mainly with the incarnations of Vishnu. Puranic figures such as Prahlad are glorified by the Vaishnavite hagiographers and poets but they are not represented as victims of the combined oppression of Brahmans and rulers. The Vaishnavite sants and

hagiographers were so much obsessed with incarnation theory that the prominent devotees of the medieval period were seen as incarnations of various Puranic bhaktas. Thus Namdev was the incarnation of Uddhava, Kabir was looked upon as the incarnation of Shukdev and Tulasidas that of Valmiki, Mahipati writes that "The bhaktas who descended dto the earth during the Krita, Treta, and Dvapara Yugas, they are the very ones who in the Kaliyuga have become manifest as saviors of manking."[8] The Vaishnavites were also observed with the characters and places mentioned in the Bhagavat Purana, in particular with the places connected with Krishna in the Braj region. They considered the Puranic past real (as did the sants) and their behavior and actions to some extent were influenced by their vew of the Puranic past. Vaishnavites of various hues literally tried to discover the past-the so-called lost sites of the Braj region.[9] Vaishnavite habiographers exalted those pioneering leaders who were believed to have discovered the lost sites.[10] Some Vaishnavite devotees like Tulsidas sought legitimation even from non-Puranic sources of Brahmanic religion such as Vedas to validate their religious innovations.

In the santic perception of history, past and present are joined together through a process of 'condensation' of time. The heroic deeds of Prahlad, Dhruv, Harischandra, Ambrish on the one hand, and those of historical figures such as Mansur al-Hallaj, Baba Farid, Kabir, Raidas, Dadu etc., on the other, are described in such a way that chronology becomes unimportant.[11] The description of the historical villains follows similar pattern. The lineage of heroes and villains of the sants were continuous and unbroken. These was also a constant updating of the sant history. As time passed, the list of heroes became long and included the sant figures of later medieval India. By the late medieval period, even Sarmad, an orthodox sufi saint executed dby Aurangzeb, had been included in the list of persecuted sants.[12] Prahlad was definitely the most popular figure among the sants of medieval India. References to his greatness and suffering can be found in the poetry of sants ranging from Kabir to Tulsi Sahib of Hathras. Many Prahlad Charitas came to be composed both by the sants and Vaishnavas in the later medieval period. The composition of one of them has been attributed to Raidas.[13] The santic image of Prahlad as described in this 'Prahlad Charita' is different from the Vaishnavite perception in which he is depicted as a devotee of Vishnu. In the santic version – as mentioned in the medieval sant poetry and in this text – following aspects have been particularly stressed:

(a) Prahlad was constantly remembering the name of Ram for which he was prosecuted by his father, King Hiranyakashyap. Prahlad's initiation into name of God (Ram Nam) is highlighted.

(b) Complains by the Brahmana teachers to the king that Prahlad was indulging in the rememberance of Ram Nam rather than learning demonology. His Brahman teachers, Shund and Amark, were Shukracharya's sons.

(c) The perception of quthority as expressed in santic poetry and hagiography was political in many ways. The people considered the rulers and religious elites integral part of the same order. Opposition of Brahmans and qazis in sant writings and in hagiographic biographical narratives is a political opposition because these religious elites ideologically justified domination by those who governed. In this sense, opposition to Brahmans and qazis implies non-acceptance of Brahmanical legigimacy of exesting socio-political system. It is interesting that some of the peasant revolts against the Mughal state such as the Satnami uprising, were also anti-Brahmanical in their character. The popular sant legends and miracle stories of later medieval period clearly indicate that the subordinate groups perceived rulers, Brahmans and qazis as constituting a single oppressive system of rule. They were aware that Brahmans and qazis sought to enforce social control and religious norms with the help of the rulers. They did not understand state in abstract or institutional terms. It was to them an oppressive alliance of fulers, Brahmans and qazis. The consciousness that rulers considered religious conformism necessary for political stability is present in the legendry representations of the lives of the sants. These episodes also testify to popular fear that religious transgression or subversion might bring quick retribution from the authorities.

To the people, the atrocities perpetrated by authorities on 'sants' such as Prahlad and historical figures such as Mansur al-Hallaj, Kabir, Dadu, Sarmad etc. were reminder of the oppressive poser of the rulers and intolerance of the Brahmans and qazis. What the Brahmans considered noble virtues were regarded as worst social evils by the sants. The sants in their vanis persistently condemned plunder, greed and licentiousness. Both the donors and receipients of dan are condemned. Dan itself find no sanction in sant ideology. No amount of dana – not even dana of the whole earth – could bring salvation to the donor if he is not devoted to the name of Ram. Brahmanical greed for dan is ridiculed. Brahmans were criticized for legitimizing acts of

violence and plunder. The sants clearly drew a distinction between the 'desh' of the brahmanas and rulers and the 'desh' of the sants. The Brahmanical land is characterized by Vedas. Nigamas, caste-based discriminations, religious sects, Mughals, Pathans, Sayyids and Shaikhs, old age, death] pain and doubts.[14] The land of the sants, on the other hand, contained none of these evils. It was Begumpur (withour any sorrow). No taxes (khiraj) were imposed on the people there. There was no fear, no crime and no scarcity. The God was the Eternal Emperor of their kingdom and sants were his courtiers.

The existing socio-political order is represented as an evil by the sants and political choice is clearly made. The Brahmans regarded Vedas and other scriptures ad sacred and held that the rulers must uphold the values enshrined in them. On the other hand, to the sants they were just 'pothis' and weapons of Brahmanical domination.

Rejection of the concept of incarnations by the sants was not just a matter of the theological choice. It had political undertones. Since the existing rulers were legitimized as incarnations of gods by the Brahmans, acceptance of the incarnation theory would have amounted to accepting the divine status of these rulers. It was a compromise which the sants were determined not to make. The kings were ordinary mortals. While Kabir, and his contemporary sants considered ancient mythical 'sants' superior to gods and kings, their later follower went on extending the list of sant-heroes who were then placed at an even higher pedestal.

References

1. *Dadu's contemporary and disciple sant Bakhna briefly mentions the Sikandar Lodi's unsuccessful to punish Kabir for his denunciation of both the Brahmans and Islamic religious elites, see Parashuram Chaturvedi For different detailed versions see, Anantdas, Kabir Parachai, sections 6-9; Priyadas, Bhaktirasabodhini, Kavittas 277-279; Raghodas, Bhakramal, pad 127, p. 54; Chaturdas, Tika, padas 111-112; p. 54 and Brahmadas, Bhagatmal, second section, pada 8, p. 22*
2. *Jan Gopal, Dadu Janma Lila, ch- 3, 1-17. The account can also be found later hagiographies such as Raghodas's Bhakatmal.*
3. *Ibid, chs. 5 and 6*
4. *Ibid, ch. 7, 1*
5. *Marc Bloch, The Royal Touch, Eng. Trans., London, 1973 (originally published in French in 1924)*
6. *Raghodas, Bhakramal, Rajjab ji Kau Barnan, 381-82, pp. 188. See*

also Vrajlal Varma, Sant Kavi Rajjab, Jodhpur, Rajasthan Oriental Research Institute, 1965

7. *Rajjab Vani, Kal Ka Ang, 84, p. 523*
8. *See Mahipati, Bhakavijaya, ch- 1, verses 16, 65-86, 87-111*
9. *See, for example, the influential paper of Charlotte Vaudeville, 'Braj, Lost and Found', in her Myths, Saints and Legends in Medeival India, Delhi, 1996, pp. 47-71*
10. *As illustrations, see the anecdotes relating to Narayan Bhatt (Nabhadas, Bhaktmal, Mool Chhappaya 87, p. 589) and Roop Sanatan (Priyadas, Bhaktirasbodhini, Kavitta 358, p. 593)*
11. *References to the mixed glorification of the persecuted figures mentioned in the Puranas and historical figures such as Kabir occur recurrently in the sant poetry from Rajjab in the seventeeth century to Tulsi Sahib in the nineteenth. As an illustration, we may refer here to some references in Rajjab Vani, Bhajan Pratap Ka Ang, verse 18, p. 172; Sayam Kasauti Ka Ang, verses 38-40, p. 685; verse 3, p. 1353*
12. *See the verse of Tulsi Sahib of Hathras in J.R. Puri and V.K. Sethi, Tulsi Sahib : Saint of Hathras, Radhasoami Satsang Beas, 1981, p. 96*
13. *For the printed version of the Prahlad Charit, believed to have been composed by Raidas, see B.P. Sharma, Sant Ravidas Vani (Hindi), Delhi, 1978*
14. *Verse attributed to Kabir in Chandrika Prasad Jijnashu, Sant Pravar Raidas Sahab, Licknow, 1984, pp. 147-48*

Bhakti and Gender in Medieval Rajasthan: Vaishnava and Santic Representations of Mirabai during the Seventeenth and Eighteenth Centuries

Renu Bahuguna

In recent decades, many historians, scholars of the history of religions and feminist scholars have explored the poetry of Mirabai and hagiographic narratives about her from the perspective of women's bhakti and gender relations. John Stratton Hawley was the first scholar to observe that "*Mira's* special, even divide, status among *bhakti* saints has directly to do with her sex".[1] Hawlay further points out that the "drama of Mira's defiance of the expectations of ordinary womanhood is still at the core of her legend" and that "Motherhood and Mira don't mix."[2] Later many feminist contributors to the special issue of *Manushi* on women devotees of the medieval period also stressed the need to examine the life and poetry of Mirabai from the perspective of the woman devotee's protest against and resistance to the patriarchal socio-political order of the medieval Rajput society. They highlighted the social content of Mira's *bhakti* and deciphered its gendered character.[3] In a seminal article, Kumkum Sangari drew contrast between the male and female voices in medieval bhakti by comparing the gendered nature of bhakti in Kabir and Mira. She also highlighted the elements of both conformism and protest in Mira's *bhakti*.[4] In a path-breaking work on the ways in which Mira, her life and poetry was sought to be remembered and preserved by lower caste communities of Rajasthan, Parita Mukta brought to light a whole range of hagiographic materials to explore the differing images of Mirabai in different traditions with different concerns and agenda.[5] Other scholar such as Nancy M. Martin[6] Lindsey Harlan[7], Frances Taft[8] and John Stralton Hawley (in another work)[9] have made significant contribution to the understanding of different dimensions of 'historical' and 'legendary' Mira.

An attempt has been made in this paper to examine the varying images of Mirabai in the Vaishnava and santic hagiographic traditions. It has been argued here that the liberal-minded vaishnavas, Dadupanthis and Raidasis largely followed the lead given by Nabhadas, the author

of the famous Bhaktamal in the early seventeenth century, in celebrating the defiance and courage of Mirabai. The Pushtimargi vaishnavas, on the other hand, followed a sectarian approach and tried to portray a rather negative image of the great woman bhakti saint. The Pushtimargi hagiographers, particularly Hari Raya, the author of the famous *Chaurasi Vaishnavan Ki Varta*[10] and *Do Sau Bavan Vaishnavan Ki Varta*,[11] were deeply aware of the influential position enjoyed by Mira among ordinary Vaishnava devotees and sought to counter her influence by building the cults of Vallabacharya and his son Vithalnath.

Most of the legends about Mirabai have been analysed by many scholars in the last few decades. However, despite a recent surge in the historical writings on the issue of social aspects of Mira's bhakti, there are still many hitherto unexplored dimensions of her position in the Vaishnava bhakti of the Mughal period which must be studied by historians. Moving beyond such issues as deciphering the elements of conformism and non- conformism in the poems attributed to Mirabai or engaging in the never- ending exercise of separating legendary Mirabai from the historical one, an attempt has been made in this chapter to focus on the tension that existed between the sectarian interests of the male elites of the dominant vaishnava *sampradayas* and the posthumous popularity of Mirabai among ordinary Vaishnava men and women. With the possible exception of Kabir, it is difficult to think of a medieval devotional figure other than Mirabai whose memory is an integral part of widely differing religious traditions. While non-vaishnava communities like the followers of Nanak and Raidas appropriated her memory, fellow vaishnavas such as the Gaudiyas and the Pushtimargis felt uneasy with her legacy. It has been argued in this article that although the vaishnava preachers and propagandists thought it necessary to co- opt women in large number into the vaishnava system of worship, temple rituals and organizational setup, violation of existing social norms based on notions of Brahmanical patriarchy did not find favour with them. The legends about Mirabai clearly show that an independent woman devotee like Mirabai was regarded as a threat not only by the Rajput patriarchs of Mewar but also by the patriarchs of the vaishnava establishments.

There are clearly two trends regarding the attitudes of vaishnava and santic propogandists and ideologues towards Mirabai. The first is represented by Nabhadas, Raghodas and Priyadas and the second by Pushtimargi vaishnava hagiographers. Whereas the Bhaktamal

tradition eulogizes Mirabai and portrays her as a defiant and socially subversive figure, the Vallabhite Varta literature follows a sectarian perspective and disapproves the independent status of Mirabai as a vaishnava bhakti devotee. The contrast between these two hagiographic approaches to the historical memory of Mirabai has been underlined in this paper.

The earliest hagiographic statement about Mirabai in vaishnava literature appeared in Nabhadas's *Bhaktamal,* composed at the beginning of the seventeenth century.[12] Nabhadas belonged to the vaishnava tradition established by Ramanand in the fifteenth century and composed his text at the Galta monastery near Jaipur. He was broadminded, liberal Vaishnava who went beyond his sectarian affiliations to sing the praise of devotees cutting across caste, creed and gender.[13]

Nabhadas in his Bhaktamal does not place Mirabai in any sectarian vaishnava tradition and highlights the salient features of Mira's devotion which are as follows:

i. Mira gave up norms of social decorum and notions of family honour to commit herself to the devotion of Krishna.

ii. In Kaliyug (Age of degeneration), she exhibited the devotional traits of a *gopi.*

iii. She expressed the glory of (God) in songs without fear and restriction.

iv. Evil minded people regarded these actions of Mira as fault and tried to kill her.

v. However, they could not cause any harm to her and the poison was turned into nectar in her throat.

vi. She loudly upheld the doctrine of bhakti and did not feel shy in doing so.[14]

It is clear from this description that early vaishnava portrayal of Mirabai was sympathetic and in line with general vaishnava representation of persecuted vaishnava heroes like the mythological Prahlad and historical Kabir. Her devotion was equated to that of the *gopis* and she was depicted as a heroic figure who overcame fear social restrictions and persecutions to fully dedicate herself to singing the precise of God. From Nabhadas's early seventeenth century narrative, it is also evident that although various legends about Mira had not yet developed in their full-fledged form, many vaishnavas did

believe that attempts were made by 'evil-minded' people to kill her due to her violation of gender and social norms.

Dadupanthi tradition began to appropriate the historical memory of Mirabai from the late seventeenth century, as is evident from the hagiographic account given by Raghodas in his Bhagatmal. Raghodas, a Dadupanthi hagiographer who wrote his Bhakatamal in the second half of the 17th century, virtually reaffirms the opinion expressed by Nabhadas on Mirabai. He adds that Mira gave up the vedic path and worldly pleasure to devote herself to Hari. Raghodas clearly mentions that it was 'Rana' who had tried to kill Mira by administering poison to her. She regarded 'Giridhar' (Krishna) as her husband and she sang praise of god in the midst of sants. Raghodas includes Mira and Pushtimargi preachers including Vallabhacharya, vithalnath and Gokulnath among the followers of Vishnuswami sampradya.[15]

In the beginning of the eighteenth century, Priyadas, a Vrindavan-based vaishnava hagiographer belonging to the Chaitanya sect (Gaudiya samoradya) added a detailed commentary called *Bhakti-rasa-bodhini Tika* to Nabhadas's *Bhaktamal*.[16] It appears that many legends developed about Mirabai during the course of the seventeenth century and all of them are narrated by Priyadas in his *Tika.* The story of the attempt by 'Rana' to kill Mira, which finds a fleeting mention in Raghodas's *Bhagatmal*, is produced in full detail by Priyadas. Priyadas's treatment of the life of Mirabai is sympathetic and he portrays her as an ideal vaisnava devotee. It is interesting to note here that although Priyadas had sectarian vaishnava affiliations, yet, like Nabhadas and Rghodas before him, he followed a liberal approach and was not concerned with Mira's non-association with the *Gaudiya sampradaya.* In addition to the story of Mira's persecution by her dead husband's family, there are also accounts of the meeting between her and emperor Akbar. By the end of the seventeenth century, the popularity of Mirabai grew to such an extent that accounts of her legendary encounters and interactions with various authority figures including Akbar and celebrated vaishnava preachers found their way into Priyadas's narrative.

Among these legends, one particularly deserves mention and detailed analysis. This is Priyadas's account of the encounter between Mira and the famous Gaudiya vaishnava leader, Jiva Goswami of Vrindavan. According to this legend, Mira during her travels in which she frequently interacted with male vaishnava devotees visited Vrindavan and expressed the desire to see Jiva Goswami. The vaishnava

preacher, however, refused to meet her on the ground that being a male preacher, he had taken the pledge not to see the face of a women. Mira communicated to him that the only 'man' present in Vrindavan was Lord Krishna and all other were 'gopis'. When Jiva Goswami received this message, he broke his pledge happily met her and entered into religious interaction with her.[17] What is important in this passage in *Bhaktirasabodhini Tika* is that its author, Priyadas, despite being a follower of the Gaudiya sampradaya (to which Jiva Goswami belonged) took delight in narrating the story of Mira's spiritual conquest over Jiva Goswami. This is in sharp contrast to the attitude of the *Pushtimargi* hagiographers towards Mirabai.

Pushtimargi hagiography contains numerous references to vaishnava women. However, most of these women were followers of either Vallabhacharya or his son Vithalnath. In the accounts of *Pushtimargi* vaishnava women in the *Chaurasi Vaishnavan Ki Varta* and *Do Sau Vaishnavan Ki Varta*, we come across frequent instances of glorification of the deeds of these women. They are idolised as ideal devotees of Krishna and praised as exemplary disciples of Vallabhacharya and Vithalnath. Paradoxically, however, Mira is virtually condemned and humiliated. There are four *vartas* relating to Mirabai in the *Pushtimargi* hagiographies- three in *Chaurasi Vaishnavan Ki Varta* and one in *Do Sau Vaishnavan Ki Varta.*

In none of these accounts do we find a sympathetic and positive depiction of the devotional deeds of Mirabai. The Pushtimargi hagiographer in these *vartas* grudgingly acknowledges the influential and patronising portion among the vaishnavas but express his hostility to her for her not being a follower of either Vallabhacharya or his son Vithalnath. In Pushtimargi perception, Mirabai is not represented as a fearless and persecuted woman vaishnava who suffered at the hands of powerful anti-vaishnava figure of 'Rana' but as a cunning , manipulative, independent and influential non- Pushtimargi women who was trying to win over the followers of Vallabhacharya to her own side. To demonstrate the ways in which the Pushtimargi hagiographer of the two *vartas* sought to portray a negative image of Mirabai, it is important to narrate the contents of the four episodes that throw sight on the encounters between her and the Pushtimargi vaishnavas..

First episode relating to the encounter between Mirabai and a Pushtimargi follower of Vallabhacharya is found in *Govinda Dube Sanchora Ki Varta.*[18] The narrative may be summarised as follows:

Govind Dube was Pushtimargi vaishnava and a follower of Vallabhacharya. Once, Govinda Dube stopped to see the vaishnava saint, Mira Bai. He stayed there for a few days and enjoyed her association. When Shri Gusainji heard that Shri Mahaorabhu's disciple, Govinda Dube, had gone to Mira Bai, Shri Gusainji, with the intent of teaching him so others would not follow his example, wrote him one 'shloka' and sent it with one of his disciples. Shri Gusainji wrote: "For those who have taken the shelter of the pollen of the Lord's lotus feet, what se are other shelters? They will withstand pain until death. Those who have ridden an elephant will never ride an ass".[19]

When Govinda Dube received Shri Gusainji's letter, he immediately got up and left , despite Mirabai's humble request for him to remain. Arriving at Gokul, he bowed to shri Gusainji, who enlightened him, "you should never reveal the inner pastimes of the Path of Grace to outsiders." [20]

Second episode involving Mirabai appears in *Ramdas Mewara Brahman ki Varta* in *Chaurasi Vaishnavan Ki Varta.*[21] Ramdas had become a follower of Vallabhacharya at a young age and, living in Mewar, he had also become the family priest of Mirabai. Mirabai had composed many devotional verses in praise of Lord Krishna which in their theological content were very different from those composed by Vallabhacharya and the *Pushtimargis.* The episode may be summarized as follows:

Once, before her Krishan Deity, Ramdas was singing Shri Mahaprabhu's praises when Mira Bai commented "Why do you sing those songs? Sing something about the Lord."[22] Ramdas became enraged to hear those unwelcome words. He told her, "Do you think the poems I am singing refer to some worldly man? From today, I never wish to see you again."[23] Mira Bai tried to console him, but Ramdas left her home never to return. From that experience, Ramdas learned that he should not heedlessly reveal Shri Mahaprabhu and his Path of Grace in devotional song to outsiders.[24]

The third episode in *Chaurasi Vaishnavan Ki Varta* featuring Mirabai is contained in *Krishnadas Adikari Ki Varta.*[25] Krishnadas was among the leading disciples of Vallabhacharya and belonged to a lower -caste social group. He was the manager of the Srinathji temple at Gokul and was very close to Vallabhacharya. A brief summary of this episode is given below:

Once, as Krishnadas was returning from Dwarka, where he had gone to collect offering for Shri Nathji, he stopped at the home of the Rajasthani saint, Mirabai. Many other people were staying there, with the expectation of receiving some gifts from her. Within a short time, Krishnadas told Mirabai, "I must head on my way." Mirabai requested, "Why don't you stay here for a while?" Krishnadas replied, "I stay only in those places where I can have the association of Shri Mahaprabhu's disciples." When Mirabai tried to give him 11 gold coins as a offering to Shri Nathji, Krishnadas refused them saying, "Because you are not Shri Mahaprabhu's disciple I can not accept your offerings" and left. The vaishnavas accompanying Krishnadas asked, "Why did you refuse her coins?" Krishandas explained, "Vaishnavas will offer Shri Nathji plenty of gifts. There is no lack of funds. I wanted to put all the people there in their place by showing them that I, a low class 'Shudra', could elicit a gift from her immediately, and moreover refuse it, while the Brahmins have been waiting greedily for days without receiving anything. Now they will consider, "If Shri Mahaprabhu's follower is so righteous, just imagine how great the guru himself must be," Krishnadas concluded explaining, "We should not accept gifts from outsiders."[26]

The fourth episode in which we find the mention of Mirabai in the Vallabhite hagiography is found in *Do Sau Bavan Vaishnavan ki Varta*.[27] Here, the focus of the varta is not on Mirabai herself but on another woman named Ajab Kunwarbai. The hagiographer informs us that Ajab Kunwar Bai was a child-widow and a sister-in-law *(devarani*) of Mirabai. She used to live in the house of Mirabai but, unlike her, became a follower of Vithalnath, the son and successor of Vallabhacharya. According to the *varta*, both Mirabai and Ajab Kunwar Bai went to see Vithalnath when he had come to Singhad village in Mewar. Vithalnath refused to accept any gifts from Mirabai as she was not his follower. When Ajab Kunwar Bai expressed the desire to become a follower of Pushtimarg and give offering to Vithalnath, Mirabai declined to permit her to do so. Suddenly Ajab Kunwar Bai fell seriously ill and suffered from high fever. Mirabai asked her the cause of this sudden illness. Ajab Kunwar Bai replied that she would be cured only if she was allowed to become a disciple of Vithalnath. Mirabai relented and asked her to do what she wished. Ajab Kunwar Bai had her way and was initiated into the *Pushtimarg* by Vithalnath. Rest of the legend is about the glorious deeds of Ajab Kunwar Bai as a Pushtimargi follower of Vithalnath.[28]

It may be concluded from the analysis of these four *vartas* that the Pushtimargi hagiographers devised various strategies to counter the growing influence of Mirabai among the ordinary vaishnavas. As she maintained her reputation as an independent vaishnava devotee and freely interacted with other vaishnavas despite being a woman and a widow, the sectarian Pushtimargi religious preachers and ideologues disapproved of her conduct and presented her devotion as being of inferior quality to their own. In these *vartas,* Mirabai is presented to us not as a sincere, fearless and socially subversive vaishnava devotee who was at the receiving end of the powerful rulers but as a ruthless, independent-minded, influential woman whose company was undesirable.

References

1. *John Statton Hawley and Marc Juergensmeyer,* Songs of the Saints of India, *New York: Oxford University Press, 1988 (reprint, 2004). P. 122.*
2. *Ibid., p. 128.*
3. Manushi, *Tenth Anniversary Issue:* Women Bhakti Poets, *Nos. 50-51-52, January – June 1989.*
4. *Kumkum Sangari, "Mirabai and the Spiritual Economy of Bhakti",* Economic abd Political Weekly, *Vol. XXV, No. 27, July 1990, pp. 1464-75, and No. 28, 14 July 1990, pp. 1537-52.*
5. *Parita Mukta,* Upholding the Common life: The Community of Mirabai, *Delhi: Oxford University Press, 1994.*
6. *Nancy Martic, "Mirabai: Inscribed in Text, Embodied in life" in Steven J. Roser, ed.,* Vaishnavi: Women and the Worship of Krishna, *Delhi: Motilal Banarasidas, pp. 7-46. See also her "Mira Janma Patri: A Tale of Resistance and Appropriation" in N. K. Singh and Rajendra Joshi, eds.,* Religion, Ritual and Royalty, *Jaipur and New Delhi: Rawat Publications, 1999, pp. 227-61, and "*Mirabai in the Academy and Politics of Identity" in Mandakranta Bose, ed., Faces of the Feminine in Ancient Medieval and Modern India, Delhi: Oxford University Press, 2000, pp. 162-82.
7. *Lindsey Harlam,* Religion and Rajput Women: The Ethics of Protection in Contemporary Narratives, *Delhi: Munshiram Manoharlal Publications, 1994, pp. 205-22.*
8. *Frances Taft, "The Elusive Historical Mirabai: A Note in Lawrence A. Babb, Varsha Joshi, and Michael Meister, eds.,* Multiple Histories: Culture and Society in the Study of Rajasthan, *Jaipur: Rawat Publications, 2002, pp. 313-35.*
9. *John Stratton Hawley,* Three Bhakti Voices: Mirabai, Surdas and Kabir in Their Times and Ours, *Delhi: Oxford University Press, 2005, pp. 89-116.*
10. *There are many printed versions of the* Chaurasi Vaishnavan ki Varta. *This paper draws upon Brajbhushan Lalji Mahraj and Dwarkadas Pareekh eds.,* Chaursai Vaishnavan ki Varta, *reprint, Indore: Vaishnava Mitra Mandal Sarvajanik Nyas, 2011. This text will be referred to as CVKV in this paper. There are three* Vartas *relating to Mirabai in* Chaursai Vaishnavan ki Varta. *See* Govind Dube Sanchora ki Varta, *Varta no. 34, Prasang 3, pp. 228-29;* Ramdas Mewada, Mirabai Ke Purohit ki Varta, *Varta no. 47, Prasang 1, pp. 285-87, and* Krishnadas Adhikari ki Varta, *Varta no. 84, Prasang 1, pp. 571-73.*
11. *This text is also found in the different printed versions. Information for this articles has been taken from Brajbhushan Lalji Mahraj and Dwarkadas Pareekh eds.,* Do Sau Bhavan Vaishnavan Ki Varta, *reprint, Indore, Vaishnava Mitra Mandal Sarvajanik Nyas, 3 vols., n.d. This text will be referred to as DSBVKV in this paper. The episode that pertains to Mirabai in the* Do Sau Bhavan Vaishnavan Ki Varta, *is not directly about her but relates to Ajab Kunwari Bai who was perhaps initially influenced by Mirabai but later became of follower of Vithalnath, the son and successor of Vallabhacharya in Pushtimarg. See* Ajab Kunwari Bai ki Varta, *Varta no 98, Prasang 1,* Do Sau Bhavan Vaishnavan Ki Varta*, Vol. 2, pp. 75-79.*
12. *For Nabhadas's* Bhakatamal, *see Sitaramsharan Bhagwan Prasad Roop Kala, ed.,* Goswami Shri Nabhajikrit Shri Bhaktamal *(Hindi), with commentary (*Tika*) titled* Bhaktirasabodhini *(Hindi) by Priyadas, seventh print, Lucknow: Tejkumar Book Depot (Pvt) Limited, 1993. Henceforth this text will be referred to as* Nabhadas's Bhaktamal. *For the verse on Mirabai in this text, see Chhappay 115, pp. 712-13.*
13. *This account of Nabahdas and his* Bhaktamal *is based on William R. Pinch, "History, Devotion and the Search for Nabhadas of Galta" in Daud Ali, ed.,* Invoking the Past: The Uses of History in South Asia, *New Delhi: Oxford University Press, 19999, pp.366-99.*
14. *Nabhadas,* Bhaktamal, *Chhappay 115, pp. 712-13.*
15. *See Agarchand Nahata, ed.,* Raghavadaskrit Bhaktamal*: (Hindi) with a commentary (*Tika*) by Chaturdas (*Chaturdas Krit Tika*), Granthank 78, Jodhpur: Rajasthan Oriental Research Institute, 1965, Chappy 214-15, p.99.*
16. *Priyadas,* Bhaktirasabodhini Tika, *Kavitts 471 -480, pp. 714-23 in Sitaramsharan Bhagwan Prasad Roop Kala, ed.,* Goswami Shri Nabhajikrit Shri Bhaktamal *(Hindi), with commentary (*Tika*) titled* Bhaktirasabodhini *(Hindi) by Priyadas, seventh print, Lucknow: Tejkumar Book Depot (Pvt) Limited, 1993.*

17. *Priyadas,* Bhaktirasabodhini Tika, *Kavitt 479, p. 721.*
18. Govind Dube Sanchora ki Varta in *CVKV*, *Varta no. 34, Prasang 3, pp. 228-29.*
19. *Ibid.*
20. *Ibid.*
21. Ramdas Mewada, Mirabai ke Purohit ki Varta in CVKV, *Varta no. 47, Prasang 1, pp. 285-87.*
22. *Ibid.*
23. *Ibid.*
24. *Ibid.*
25. Krishnadas Adhikari ki Varta in CVKV, *Varta no. 84, Prasang 1, pp. 571-73.*
26. *Ibid.*
27. Ajab Kunwar Bai ki Varta in DSBVKV, *vol.2, Prasang 1, pp. 75-78.*
28. *Ibid.*

Bishnois – The Eco-Warriors of Rajasthan

Mamta Yadav

The Bishnois of Rajasthan are given the lofty epithet of the first eco-warriors of the world. Their ecological worldview is amply manifested in practices of daily lives and collective solidarity for environmental cause. The sustenance of the sustainable livelihood is tied firmly with the twin threads of Dharma and Community. The guiding worldview of the Bishnois can be termed as religious ecology.

In the conservation discourse, for quite some time the role of community was viewed with suspicion, human agents being the despoilers of the environment. The negative view of human intervention also implied that even if people have successfully managed resources in some harmonious past, that past was long gone. While some of these beliefs continued to persist, most of the current ideas about the community's role in conservation have changed radically. Several current writings on management of resources champion the role of community in bringing about decentralization, meaningful participation, cultural autonomy, and conservation. (Agrawal and Gibson: 629). (Ascher (1995), Fairhead and Leach (1994), and Gibson and Marks (1995)) As communities are now the locus of conservationist thinking (An enormous outpouring of literature bears witness. (See Bhatt (1990), Ghai (1993), Gurung (1992), and Lowry and Donahue (1994). Bishnois stand out for their commitment to ethics of conservation sustained by their faith. Faith in the context of Bishnois is a set of 29 principles, ecology being the central theme.

If humans have shaped and used their environments in sustainable ways for thousands of years, it may be possible to establish partnerships that accomplish the same results today. Indeed, as anthropologists begin to pay greater attention to the historical experiences of ``people without history'' (Wolf, 1982), it has become increasingly obvious that if local communities in the past had used resources without destroying them, they had done so even as they remained in contact with other peoples. In the case of Bishnois, the origin of the community is based on managing conflicts and scarcity through an uncompromising conservation ethics.

A study of the Bishnois can be used to highlight the important

time- and place-specific knowledge that members of local communities possess and the institutional arrangements they forge to achieve successful, local level resource management. The vision of Bishnois as a small, integrated community using locally-evolved norms and rules to manage resources sustainably and equitably is a powerful conservation narrative.

Heeralal Maheshwari (1970:17) expressed that the cultural foundations of Bishnois differs from other religious communities as they have transformed religious beliefs and ideological tradition into a life practice, which also makes them unique. The sermons of Jambhoji are compiled as Sabad (JambhSagar) and many poets of the community have compiled sakhis. Most of these compositions are in marubhasha, some in pingal and khadi boli as well. Various Gazetteers, Census, Land settlement and administrative reports identify Bishnoi community and compile a few details about them. Their practices can be observed in Bishnoi villages and traditions are recounted readily by the members. These different approaches and delving into the variety of sources helps in decoding the strong roots of the worldview of the Bishnois.

The relatively recent environmental challenges have brought renewed attention to the Bishnois as an example of an ecologically aware people who for generations have been practicing environmental conservation, holistic science, and what today would be termed wise resource management." (Lal: 2003) But the story of the Bishnois is more dramatic and began much before terms like global warming gained currency or it became fashionable to be an environmentalist.

In the fifteenth century, in north India, in the middle of Thar Desert and plains of Rajasthan, in the arid region of Marwar, this community was devising ways to combat the topographic challenges. Marupradesh meand land of the dead alluding the frequent droughts in the region. The scarcity of water is the leitmotif of the regional folk songs too. For instance:

Khen, kodh, khansi, dusi, do hathan kirtar
Maran marag mokla, mah bina mat mar

(TB, leprosy, cough and cold, you may give us with both hands,
We can be killed in many ways, but don't kill us without rain)

Sau sanaiya, sau karahala, puta, niputi hoye
Mehadla to buthan hi bhala, honi ho so oye

(A hundred she-camels, a hundred camels, all left childless,

What is destined to be will be, even so a few drops of rain would be a blessing)

(Detha n.d. cited in Bharucha 2003:81)

Guru Jambheshwar realized that the popular perception of drought is a revenge of the god is a fallacy. It is the result of ill-treating and abusing the kindness of nature. With some men and women of good sense, he founded a community that allows the survival of all through the implementation of twenty nine simple principles.

Veneration of trees is the pillar of this community, whose followers took the name "29" in Hindi (20+bis/Bish and 9+nau/noi) : the Bishnoi. Though some scholars trace the origin of the tribe and its name to the worship of the prominent Hindu deity Vishnu (Maheshwari 1970), the Bishnois and their adherence to twenty nine principles is sacrosanct. These 29 principles have not lost their sheen and every Bishnoi, even now, pledges allegiance to them. They go back to the very origin and are associated with the founder himself. Jambho ji or Guru Jambeshwar is the guiding light of the ecological foundations of the Bishnoi community.

Born around 1451-1452 CE (Samvat 1508) to a Panwar Rajput family in the village of Pipasar, Nagaur in the Marwar area of Rajasthan, Jambho ji (as he is popularly known) had an uncommon attachment to nature according to local tradition and vernacular literature. The stages of his life have been summarized in a Sakhi by Vilhoji. This verse is considered very important for his life-sketch.

Varas saat sansari bal lila nirhaari
Varas paanch baawees, Paal eta din chaari
Gyare aur chalees, sabad kathiya avanasi
Baal guwaal gur gyan, mass teen vras pachyasi
Panaras 'r terranawe vadi mnagasar noonvi aaglai
Paalte roop rahiyo ridhu, idag joti samrathale (copy no. 38)

1. Seven years of childhood – 1450- 1457
2. From the age of 8-34 (27 years) – Pal-charan – 1457- 1484
3. At the age of 34 founded the Bishnoi Dharma - 1484
4. Spreading the faith for next 51 years – 1484- 1535

The legend attributes his birth to the divine blessings of a saint to Lohat Ji Panwar was and Hansa Devi. Owing to the blessings of saint and on account of his miraculous powers Guru Jambheswar is regarded as an incarnation of Vishnu. It is fabled that as an infant, he

did not drink milk from his mother's breast and did not speak in early childhood. As a child, he manifested evident thoughtfulness which attracted people towards him. He also displayed a deeply affectionate bond with animals. He told first shabad (Guru chinho guru chinh purohit…..or recognise the guide, teacher….) to a teacher who had been called to cure his dumbness. Shabad (literal meaning is word or utterances) are the collection of couplets composed by him which contain the essence of his teachings.

The young Jambhdev is portrayed as simple but genius and kind. He liked loneliness and performed many miracles. He did not marry and used to graze cows. At the age of 34, he left his home and belongings and started preaching at a sand dune called Samrathal Dhora. He was very keen in social welfare and helping others.

In year 1485 there was a worst drought in western Rajasthan area and people started migrating to Malwa (Madhya Pradesh region of India) with their animals. The kind-hearted Jambho ji was sad to see people's pain. He then offered his help to the drought affected people to hold them back. People agreed and Jambho ji helped them with grain, food, fodder, seed, agriculture accessories, etc. To alleviate the suffering of the people, Guru Jambheswar founded Bishnoi community in year 1485 (Vikram samwat 1542, Krishna 8th of Kartik month) on the sand dune (Samrathal Dhora) after performing havan or a fire ritual. Bishnoism was based on main twenty nine principles and best practices taken from Hinduism and Islam. Followers from various professions and different classes accepted Bishnoi faith by taking pahal (sacred water). Many of his teachings surpass religious categories and address Muslims and Hindus. "Some say that he was disenchanted by the struggles over political power between Hindus and Muslims, and sought ways not only to reconcile them but also to put before them an example of a heightened moral sensibility; others say that a long period of drought moved him to seek protection for all animals and plants." (Lal 2003) In addition to these 29 rules, the teachings of Guru Jambeshwar are preserved in 120 statements. (Acharya 2012; Jain 2011:135-164) Many of these statements address sectarian strife in a subtle manner by gearing all communities, Hindu or Muslim, towards environmental concerns. In one place the listeners are urged to refrain from killing of animals else they shall suffer from cries of slain animals at their deathbed. At many places the followers are inspired to protect trees. He referred to the trees as gateways of happiness. He invoked compassion for animals through an appeal to

their religious Muslims. He states that the prophet did not kill animals and appealed for raham (compassion) in the hearts of the followers of Rahman. (Shabad X) He criticized the tantric practitioners for indulging in animal sacrifice. He said that Ram, the popular Hindu deity, never asked anyone to kill animals. "People will not be able to justify their violence when questioned by their deities." (Shabad XI)

His way was "jiya ne jukti aur mariya ne mukti" which means a meaningful way of living and then liberation after death. He travelled a lot to help and teach people and done many welfare works. He was a true & visionary guru, social reformer, follower of non violence, great environmentalist and believed in love and harmony among not only human beings but also among nature. His teachings are covered by 29 principles, 120 shabads and sandhya mantra. Many kings and reputed persons came in his contact and admired his teachings. He also helped many of them with his blessings.

Jambho ji passed away in Mukam in Bikaner district, most likely around 1537 AD. His profound humanity, spiritual sincerity, and dedication are believed to have earned him a large following; temples in his honor sprouted over large parts of western Rajasthan. The teachings were very simple, logical, practical and effective. He believed in one god and did not believe in statue worshiping or man worshiping or leaving social responsibilities to achieve god. Therefore, the teachings were pertaining to everyday living and demanded consistent action and allegiance to the broad environmental concerns that he addresses.

Ecological Teachings - Survival of the Wisest

Sar jaye rukh rahe to bhi sasto jan

(If one is able to save a tree even by offering one's own head, it is not a too high a price to pay.)

(A saying attributed to Guru Jambeshwar in the Shabad compilation)

The teachings of Bishnois emerged in the wake of a severe drought. Jambeshwar decided to stay and contemplated deeply about the disaster and came up with a new philosophy. The guiding principle of his teaching was that survival is possible only through a wise and respectful balance of human and nature. He took it as a mission to spread his teachings that were soon compiled as couplets and songs in local dialect called in collections called shabads.

The teachings of this innovative seer (contained in the 29 rules

and collection of couplets) are based on social codes of conduct shaped by compassion, simplicity, self-discipline and non-violence. This path of peace is charted out through the core twenty nine tenets of the Bishnois, whose numeric significance has lent the name Bishnoi. Out of these twenty nine commandments, eight aim to preserve biodiversity and encourage good animal husbandry. Seven commandments provide directions for healthy social behavior. Ten of these commandments are directed towards personal hygiene and maintaining basic good health. The other four rules are guidelines for worshipping daily. (Bishnoi 2011:120-122) A descriptive list of these rules is included here as it more or less provides the core of ecological teachings of the Bishnois that enabled their survival in the harsh desert conditions.

Holistic – need a certain mental make up to take care of environment and adopt sustainable lifestyle.

Twenty Nine Commandments

Unatis dharma ki ankdi hridaya dhariyo joye

Jambhoja kripa kari naam Bishnoi hoye

(One who embraces the twenty nine ethics by heart becomes a Bishnoi by the blessings of Jambho ji)

1. Sutak - To observe segregation of the mother and newborn for thirty days after delivery. This is followed for preventing of infection to mother and the new-born who are both at a vulnerable stage. The Bishnoi people in informal interviews also say that this is to provide rest to the woman from domestic chores.
2. Rajaswala – To keep a woman away from all activities for five days during her menstrual periods. This again is explained as a means of arranging compulsory rest for the women and was also in consideration with poor hygiene facilities for women in those days or even now in rural pockets.

   Tali chhoti kahi jagadees, ruti paanch, jape din tees

   Jaaan. Jaan, kaya rahe asudh, tan tan thanan na duhiye dudh (Katha Vigatavali 228)
3. Snan – To take early morning bath daily. When we visited some of the sacred Bishnoi sites no questions were raised about our non-Bishnoi identities, whether we were Hindus, Muslim or Christian, we were asked only two questions. First we had to vouch that we had taken a bath before we came and that we had not consumed anything non-vegetarian that day.

4. Pavitrata – To maintain both internal and external cleanliness. Internal cleanliness is achieved through good intentions, humble behavior, keeping jealousy at bay etc.
5. Dhyan – To meditate twice a day. Morning meditation to ponder over the proposed activities of the day and to reflect over their harmony with larger life values. Evening meditation is done to take stock of day's activities, to contemplate on the mistakes and shortcomings.
6. Arati – To sing the Lord's glory and his virtues every evening.
7. Havan – To offer daily oblation to the holy fire with a heart filled with feelings of welfare, love and devotion – welfare of all living beings, love for nature and whole world, and devotion to the Lord.
8. Chhan-Indhan - Use filtered water, milk and carefully cleaned fuel/firewood to make the water and milk bacteria free and to ensure that insects don't get burnt with fire wood. The sabad (112:2) only indicate but other poets indicate that one should filter words, water and firewood.

   Indhan Paani Bolno, Kahyo jagat gur jaan

   Dev daya kari daakhve, aie teenyo tat Chaani (Vigatavali 108. Also 102 103)
9. Vani – Filter your speech! Think before you speak.
10. Khama – to be forgiving. Forgiveness can lead one to greatness. Guru Jambeshvar said "If someone comes to you shouting, become cool like water."
11. Daya – to be compassionate as it purifies the heart. In forgiveness we keep our hearts and mind cool against some external stimuli, whereas in compassion, we imbibe the feelings of the helpless and garner empathy.
12. Non-stealing (chori ka Tyag) – Not to steal, cheat or try to own or usurp something that rightfully belongs to another. Theft and deceit are surest means to gather dust on soul and character.
13. Ninda – Not to revile or condemn others as it is an act of a coward. This is opposed to constructive criticism, more on the lines of malicious gossip, to be avoided completely.

    Asatuti nandya irasho, donyo diragh rog

Jatan kari kari thak rhaya, kaha bhog kaha jog

Jati sati jogi tapi, sidh sadh sanyasi shesh

Gino kaha is rog ki, mitai na man ka resh (Sakhi Parmanand ji Vaniyal10)

14. Truth – not to tell lies. A liar can never attain respect of others. It is insult to the gift of speech. There was a time when even the courts used to accept the testimony of Bishnois as hard evidence.

15. Vad-vivad – Not to indulge in opprobrium and wasteful debates. Though Bishnois have been variously linked to Jainism on account of practice of non-violence, it is in Buddhism that we find a ban on sectarian debates as they lead to wastage of time and effort, (Drishtivad)

Bharami bhoola vaad vivaad, achar vichar na jaanat swad (Sabadvani, Sabad 28, verses 66-67)

16. Fasting – To observe fast and meditate on no-moon night (and the same day i.e. Amavasya) to provide rest to the body and its internal system. Amavasya is considered a very auspicious day when Bishnoi men, women, and children observe many rituals of conservation and community service. They say that this day of the month has special significance from the point of view of astronomy and planetary position. Further, the regular fading of the moon's appearance is also symbolic of the perishable nature of life. So, one should charge energy level and ponder over collective welfare.

17. Bhajan – To recite the holy name of Lord Vishnu

18. Jeev daya palani - To be compassionate to all living being - An all-encompassing re-emphasis on caring for all life forms.

Ek roop sab roop maa, sab ma rahya samaay

Jeev seev sab ek hain, jyon pohap vaas pasraya

19. Not to fell green trees.

20. Ajar - To kill the non-perishables. To overcome the non-perishable enemies of human beings – lust, anger, envy, greed, and attachment.

21. That Amar Rakhwana – To provide a common shelter that for goat/sheep to prevent their killing. The Bishnois have maintained these shelters for animals past their use. I was very touched by

visiting a shelter devoted entirely to the upkeep of blind cows. The maintenance of these shelters is through community contribution of both money and labour.

22. To consume food cooked by self or take meticulous care that food is prepared in conjunction with Bishnoi tenets. I met a few Bishnoi men who were serving in the army, where the mess also serves non-vegetarian food. They told me that they kept their utensils separate and were negotiating that their ration of eggs be replaced with milk.

23. Badhiya – Not to castrate a bull. In rural India bulls are castrated before they are used as bullocks for agricultural purpose. The underlying feeling is that the bovines are like one's children and one cannot commit such cruelty towards one's children.

24. Amal – Not to take opium or any of its products

25. Not to use tobacco and its products

26. Not to partake cannabis/bhang

Tamakoo, sharab, afeem , bhang – The relevant sabad is not found in the avaialbale version but quoted in works of keso ji godara (Maheshwari 1970:751)

Lehe Tamakoo aafoo jaani, malya powat jal peeve chhaani

Varji bhang liye je bura, sanhans jooni hoyasyai sukara (Katha Vigatavali 171)

27. Mad Not to drink liquor. The Bishnois abhor the use of intoxicants. In India tea is offered to all the visitors but the Bishnois prefer milk over tea, even for the visitors.

28. Not to eat meat or non-vegetarian dishes.

29. Not to use blue colour clothes. In Jambho ji's times blue colour used to be obtained from a wild shrub, indigo, that adversely affected soil-fertility. This rule was laid out to support cultivation of other life-supporting crops.

These rules and teachings are the foundation of the eco-religion of the Bishnois which is further demonstrated by how they implement these. Not only have they integrated these into their daily life practices but have also led them to take concrete action. These measures include positive steps to conserve flora and fauna, construct and preserve water bodies while negative measures include persistent, strong protests against poacher and hunters. Thus, their activism brings to fore Bishnoi environmentalism as a lived reality.

"In the face of environmental crisis, we need all the help we can get. And, as this is perhaps the greatest crisis that the human civilization has ever faced, virtually all forms of contemporary culture, economics, politics, and spirituality, will have to make profound changes." (Gottlieb 2011: ix)

Bishnois are a valuable resource for environmental awareness and concerns. Not only do they provide philosophical foundations for a symbiotic relationship with nature but amply manifest it through their actions. The practice of conservation and protection of environment originated with Guru Jambeshwar. He would put into practice what he preached by paving the way for a tradition of protected groves, animal care, sustainable living. His followers, being fiercely attached to nature, from very early times took action against those who were harming nature. Bishnoi activists spare no one, be it the Maharajas or the reigning superstars of the Indian film industry. Therefore, the journey of the Bishnois shows continuity of ecological activities.

Early Ecological Activities

Life and deeds of the founder, Jambho ji, are a testimony to a commitment to ecological actions. We are already acquainted with how he saved his people from the ravages of drought and gave them a philosophy to survive and prosper against the alternatives of perishing or migration. Wherever he appeared, houses of meditation were built, some of which still exist as temples. What stands out is the fact that in the course of his numerous journeys, he created protected groves called Ora?.some of them like the flowering Khejri plantation in Rotu atill exists. He planted many trees and the one still preserved in Lodipur is deeply revered by his followers even today. He is attributed with planting many Khejri trees at the behest of the villagers.

Khejri (Prosopis cineraria) occupies a significant place for desert inhabitants for its many uses. It is beneficial for both animals and humans. Its roots harbour nitrogen-producing bacteria and hence they make the soil fertile. They have become a core component of the culture of Thar region|

Historical Tradition of Activism

More than five hundred years ago, it could hardly be visualized that a community could rise to protect trees or wild deer by risking their lives. Jambho ji's humanitarian and pragmatic philosophy earned

him a large band of dedicated followers. The Bishnois soon grew in numbers and strength. Stories of their relentless dedication to the preservation of animals and trees were widely circulated. The famous Chipko movement in contemporary India, where women hugged the trees to resist the depredations of loggers and contractors is said to be rooted in the Bishnoi tradition.

Evidence in Bishnoi literature

1. Sakhis that mention sacrificing lives for trees
   - i. Vilho ji's Tilvaasani ki Sakhi
   - ii. Vilho ji 's Karama aur Gora ki Sakhi
   - iii. Keso ji's Bucho ji echara ki sakhi
   - iv. Nanigdas's Ramada ski sakhi
   - v. Gokal ji's Khejadli ki sakhi
2. For protection of animals
   - i. Vilho ji's Jambholav ke mele ki sakhi
   - ii. To get the oxen and bulls released by Bishnois of villages of sadalpur, Cheenwad etc. (Jambha saar, 28th Prakaran)

Negotiating the State Machinery

Never a state religion or royal patronage but Many rulers showed reverence to the strict adherence to ecological tenets by the Bishnois and offered relaxation in land revenue and other taxes. Sabadvani and sakhis are replete with such examples but evidence can be culled from official documents as well. Many kings issued orders that Bishnois shall be taxed as per tradition and shall be exempted from beggar. Jodhpur ruler Maharaja Vijaysingh ji (samvat 1821), Mansingh ji (Samvat 1860), Bheem singh ji (Samvat 1874) parwanas can be cited as evidence. Similar orders were issued by Bishnois of Pur by Udaipur Maharana Bheem singh (Samvat 1874) and Jawan singh (Samvat 1885) to "parampara anusar maan maryada rakhne aur kar lagane". Bikaner ruler Anoop Singh ji's Parwana (samvat 1752 at Mukam Bandhu) issued order to prohibit felling of green trees. Jodhpur ruler Mansingh ji (Samvat 1878) issued orders to prohibit cutting of khejri trees while Takhtsingh ji (Samvat 1900) issued a Parwana to ban hunting in Bishnoi villages. (Sahabram, copy no. 193, Jambha saar, 24th Prakaran). Even during the British rule, orders were issued to ban hunting in the listed Bishnoi villages in Hissar and Ferozepur districts. (Reference by deputy Commisioner, ferozepur, 8th march

1899 of the letter Letter from Chief Secretary to Government Punjab, dated 3rd February, 1896 mantions "affrays with the villagers"; Punjab Government's orders contained in their circular no. 1-115 dated 3rd February 1898 "The shooting of Black buck is also prohibited within the lands cultivated or uncultivated belonging to the following Bishnoi villages. On suspicion of killing of animals, the animal were taken away from their owners A parwana of mehkama council raj shee Bikaner Samvat 1930, place of accession thapan bandhu, Mukam) " Mukam ke thapnon ne deene naam ke vyakti se medha chheen liya tha" This princely state issued orders that no kasai would pass through a Bishnoi village carrying a bakra. (Samvat 1901, Parwana Bikaner Adalat ka, Thapan Bandhu, Mukam))

Reigious syncretism and a reinterpretation of rituals is also a positive trait of Bishnoi tradition. "Some say that he [Jambho ji] was disenchanted by the struggles over political power between Hindus and Muslims, and sought ways not only to reconcile them but also to put before them an example of a heightened moral sensibility." (Lal: 2003) Lal (2003) further elaborates upon the context of the times of Jambho ji, "Moreover, the customs of the Bishnoi point to an attempt on the part of Jambaji to forge a more syncretic movement, characteristic of the wave of bhakti (devotion) sweeping India at that time: thus, though the Bishnois worshipped Vishnu, they adopted the Muslim practice of burial of the dead. Jambaji,[sic.] evidently, could not countenance the idea of felling a tree to obtain wood for the funeral pyre. His near contemporaries in north India would have been Kabir, Tulsidas, and Mirabai, among other famous exponents of bhakti, and one has only to recall Kabir's disdain for customary practices (such as circumcision among Muslims, and the thread ceremony among savarna [high-caste] Hindus) to realize that Jambaji's own iconoclasm, whatever its distinct features, was perhaps in some respects part of the wider ethos." The Bishnois strongly uphold harmony with nature but they also seek harmony in the society.

The life-hostile dreariness of Thar Desert in western Rajasthan is jotted with green belts here and there. This is entirely due to human effort. The wise strategies of local communities can be attributed to working out this miracle, of which, the Bishnois seem to be particularly pro-active. Guru Jambeshwar had said that he does not cross the land where green trees are not present.

Jathe hoiye nahi lilo banth

Bathe par nahi meri chhant

References

1. *Acharya, Krishnand 2012 Shri Guru Jambheshwarji dwara uchcharit Shabdvani – Jambhsagar - Hindi Teeka (The words utthered by the teacher Jambheshwar – Ocean of Jambha, Hindi Commentary), Mukam: Akhil Bharatiya Bishnoi Mahasabha*
2. *Agrawal, Arun and Gibson, Clark C. 1999 'Enchantment and Disenchantment: The Role of Community in Natural Resource Conservation' in World Development, vol. 27, 4: 629-649*
3. *Ascher , William, 1995 Communities and Sustainable Forestry in Developing Countries San Francisco: ICS Press*
4. *Bharucha, R. 2003 Rajasthan - An Oral History New Delhi: Penguin*
5. *Bhatt Chandi Prasad 1990 'The Chipko Andolan: Forest Conservation based on people's Power 'in Environment and Urbanization 2: 7-18*
6. *Bishnoi , Rai Sahib 2011 'Twenty Nine Rules of Bishnoi's' in Rajant Jayanti Smarika (Silver Jubilee Souvenir) Mukam: Akhil Bharatiya Bishnoi Mahasabha*
7. *Brockmann, Herma and Pichle, Renato 2004 Paving the Way for Peace – Living Philosophies of Bishnois and Jains New Delhi: D K Publishers*
8. *Chapple, Christopher Key 2011 'Indic Traditions and Animals: Imitation Reincarnation and Compassion' in Kemmerrer, Lisa and Nocell II Anthony J. (eds.) 2011 Compassion – Reflections on Animal Advocacy in World Religions New York: Lantern Books*
9. *Chaurvedi, Neekee 2018 Cultural Tourism and Bishnois of Rajasthan Jodhpur: Rajasthani Granthagar*
10. *Fairhead, James and Leach, Mellissa 1994 'Contested Forests: Modern Conservation and Historical land Use in Guinea's Ziama Reserve' in African Affairs 93: 481-512, and Gibson and Marks (1995) for discussions of examples and brief reviews of the relevant literature*
11. *Ghai, Dharami 1993 Conservation, 'Livelihood and Democracy: Social Dynamics of Environmental Change in Africa' in Osterreichische Zeitschrift fur Soziologie 18:56-75*
12. *Gottlieb, Roger S. 2011 'Foreword' in Jain, Pankaj, Dharma and Ecology of Hindu Communities UK: Ashgate*
13. *Gottlieb, Roger S., 1996 The Sacred Earth: Religion, Nature and Environment New York: Routledge*
14. *Jain, Bhuvanesh 2007 Registan ka lok Vigyan (Folk Science of Desert) Badmer: SURE*
15. *Jain, Pankaj 2011 Dharma and Ecology of Hindu Communities – Sustenance and Sustainability UK: Ashgate*
16. *Kalland, A. and Persoon, G. (eds.) 1998 Environmental Movements in Asia Surrey: Curzon Press*
17. *Katha Vigatavali Kesoji Godara in Maheshwari, Heeralal 1970*

Jambhoji, Vishnoi Sampradaya aur Sahitya Calcutta: B R Publications, 2: 726-728

18. *Kheenchad, Tarachand 2012 Jambhvani (Shabdavani) Mukam: Akhil Bharatiya Bishnoi Mahasabha*
19. *Lal, Vinay 2003 'Bishnoi' in Taylor, Bron et al (eds.) Encyclopaedia on Religion and Nature London: Continuum*
20. *Landry, Elizabeth 1990 An Introduction to the Fifteenth Century Rajasthani Saint J?mbho and His V??? A Thesis for Master of Arts, University of Washington*
21. *Maheshwari, Heeralal 1970 Jambhoji, Bishnoi Sampradaya aur Sahitya (Jambhoji, Bishnoi Community and Literature) Calcutta: B. R. Publications*
22. *Maheshwari, Heeralal 1973 Jambhoji ki Sabadvani (Mool aur Teeka) Calcutta: B R Publications*
23. *Misra, Kartikeya and Chaturvedi, Neekee 2014 'Traditional Water Harvesting Structures and Community Participation in Western Rajasthan' in SAARC Culture, Volume 5, 2014 Colombo: SAARC Cultural Centre, pp. 94-110*
24. *Mukhopadhyaya, Durgadas 2008 Indigenous Knowledge and Sustainable Resource Management in the Indian Desert in Lee, Cathy and Scaff, Thomas (eds.) 2008 The Future of Drylands – International Scientific Conference on Desertification and Drylands Research, Tunis, Tunisia, 19-21 June 2006, Paris: UNESCO and Springer pp.161-170*
25. *Sakhi Parmanand ji Vaniyal in Maheshari Heeralal 1970 Jambhoji, Vishnoi Sampradaya aur Sahitya Calcutta: B R Publications, 2: 863-864*
26. *Shiva, Vandana 2002 Staying Alive – Women, Ecology and Development UK: Zed Books*
27. *Singh, Hardayal 1990 The Castes of Marwar being Census Report of 1891 Jodhpur: Books Treasure*
28. *Vilhoji ki Vani compiled by Bishnoi, Krishan Lal1993 Sirsa: Sambhrathal Prakashan*
29. *Western, David and Wright,R. Michael (eds.)1994 Natural Connections: Perspectives in Community-based Conservation Washington DC: Island Press*
30. *Wisner, Ben 1990 'Harvest of Sustainability: Recent Books on Environmental Management' in Journal of Development Studies 26: 335-341*
31. *Wolf, Eric 1982 Europe and the People without History Berkley: University of California*

Travels of Guru Gobind Singh in Rajputana

Kulbeer Singh Badal

The social order in which Guru Gobind Singh[1] was born and swells his memorandum was in the unbending grasp of caste chauvinism, feudalistic tendencies, economic inequalities, disparity based on gender, obscurantism and authoritarianism. Hardly any strive have been made in times gone by to scrutinize the travels of Guru Gobind Singh, principally, his visit to Rajputana. After departure from Anandpur in 1705, he budged into the core parts of Malwa on the road to the closing stages of 1706. Furthermore, he set forth for the Deccan in order to make contact with Mughal Emperor, Aurangzeb. Apart from this, during the period 1706-1707, Guru Gobind Singh twice visited Rajputana. In the light of this, the present paper is an endeavour to draw attention to the significance of the journeys of Guru Gobind Singh to Rajputana.

Subsequent to the battle of Chamkaur on December 6, 1704, Guru Gobind Singh advanced to a place named Deena, from where, he wrote *Zafarnama* (Epistle of Victory) to the Mughal ruler, Aurangzeb. According to Sainapat, In a little while, following the clash of Khidrana, the Guru made up his mind that the moment in time has come up to report Aurangzeb with the accurate depiction of all the way through which Punjab was going in addition about the sins that his administration had committed underneath his headship. He, additionally, jotted down that in this letter; Guru specified how he was attacked while he was at Anandpur Sahib by a pervasive mishmash of the hill chiefs[2], furthermore, how regal officials sided with them.[3] Guru, supplementary, asked in the letter whether he well thought-out this as just and reasonable. He, in addition, put down, a true man of principle and nobility forever carry on his words even when he loses his existence, other than this, a deceitful man says one thing and does another. Consequently, the emperor officials acted reminiscent like the perfidious man and in due course, broke the pledges.[4] Sainapat, further, makes an attention-grabbing statement on the entire state of affairs and mark down that Guru auxiliary states the conscientiousness for this, the Emperor was bound to bear. Moreover, Guru asks Emperor religiously that what reply he would bestow in front of Allah. Sainapat,

finally, pen down that Guru had sent this letter with an intention to meet up Aurangzeb face-to-face with an entourage of one thousand horsemen.

For that reason, in the middle of December 1705, Bhai Daya Singh left Dina with Guru's *Zafarnama* and in due course, reached Ahmednagar by the end of January 1706 where he met Mughal ruler, Aurangzeb.[5] After the appraisal of Guru's letter, the psyche of Aurangzeb got thoroughly transformed. He, then, wrote a letter to his Prime Minster, Monmin Kham in which he concentrated to do away with all precincts forced on Guru Gobind Singh. Beside this, the Emperor too wrote a letter to Guru Gobind Singh in which he pleaded Guru to pay a visit to South India. He, furthermore, summoned him for a dialogue as well as guaranteed him that righteousness would be done. On the Guru Gobind Singh's part, he, too, had articulated his yearning in *Zafarnama* to meet Aurangzeb in the following words, "If Almighty commands me, I will go to you with all my heart". Noted historian, Hari Ram Gupta comments that 'Aurangzeb appealed the Guru to come'. Correspondingly, Inayatullah in his *Akham-e-Alamgiri* mentions that Guru Gobind Singh wanted a consultation with the emperor. He further informs 'Aurangzeb nominated Sheikh Mohammad Yar Mansabdar and Mohammad Beg Gurzbardar to soothe Gobind Rai, a Nanak Prastan and bring him to the court. Moreover, the Prime Minister, Mouium Khan was directed to endow him with convoy on the boundary of every province along with the payment of travelling expenses, if demanded'.

However Guru Gobind Singh started his journey from Damdama Sahib, Punjab on 30 October, 1706 towards Southern India via Rajputana to meet the emperor. Although the accurate figure of the Sikhs accompanying Guru Gobind Singh towards South, as well as all through his journey in Rajputana is not available however according to the accessible information, Man Singh, Ram Singh, Fateh Singh, Dharm Singh, Ram Pram Singh, the grand sons of Bhai Rupa along with Bhai Dalla accompanied Guru Gobind Singh.[6] Commencing from Sirsa and halting in the villages of Kowal and Jhorar, they went to Rajputana. In Rajputana, Guru Gobind Singh and his companions foremost stay was at Suhevai, also called Suhava at Churu, and from there, they proceeded to Bahaduran. Thereafter, they went to Pushkar, a place of Hindu pilgrimage. Prior to him, this place was formerly visited by Guru Nanak during his *Udasis*. At the time of Guru Gobind Singh's visit, Pandit Chetan Misar was guardian of this place. He

narrated the inclusive facets of Guru Nanak's visit to this place. He too had an elongated conversation with Guru Gobind Singh that incorporated discussions on state, society in addition to spirituality. Subsequent to this conversation, he took *Khanda-ki-Pahul* as well as joined the Khalsa brotherhood.[7] In the vicinity of Pushkar, countless[8] devotees came to disburse their reverence to Guru. One amongst them asked a question concerning the outfit of Guru and said, Your (Guru Gobind Singh) dress neither looks like a Hindu Saint nor like a Muslim saint. On hearing this, Guru answered, his undertaking was both for the Hindus as well as for the Muslims. Moreover, he has surpassed all types of Particularism. For that reason, his dress debarred distinctiveness of its own.[9]

From Pushkar, he went to Narayana, where the tomb of a renowned Hindu saint, Dadu is located.[10] At Dadudwar Guru had a discussion with Mahant Jait Ram who was the guardian of the place of pilgrimage at the time of Guru's visit. Mahant Jait Ram was flabbergasted at the clothing and behaviour of the Guru, thus remarked in revelation, 'Lord, no doubt, you have saved Hindus but your mode of thinking and style of living were not appropriate'.[11] He further went on quoting Saint Dadu, 'Surrender thy claim to every worldly thing and pass the days without claims'.[12] On listening this, Guru said, 'Assert thy claim the world, extirpate the wicked who doeth the evil'. On listening this, Jait Ram understood the importation of the Guru's undertaking, moreover, articulated his concurrence with him.[13] On the other hand, with regard to this, there is a oral tradition supported by Giani Gian Singh that at this time, after carrying out Ardas (Sikh Sacred Prayer), 'Guru had saluted the grave of Dadu by lifting an arrow to his head and Sikhs had objected his action'. One among them was Man Singh who quoted the Guru's own verse, "*Ghaur Marhi Mat Phul Na Maano*" (Worship not even by mistake cemeteries or places of cremation) and imposed a fine of five hundred rupees on Guru. On hearing this, Guru replied, "I am in high spirits that my Khalsa is completely attentive and conscious. I was presently revealing your consciousness and alertness; however, I am all set to shell out fine." Ultimately, he did so. From Narayana, the Guru and others proceeded all the way through Lali, Ghamroda. After passing through numeral other villages, they reached Kolayat where he met Bhai Daya Singh in February, 1707 who had arrived back from South India after meeting with Mughal Emperor, Aurangzeb.

Leaving behind Kolayat Guru Gobind Singh and his

companions crossed the Aravali Mountains and reached Bhagaur.[14] Here they were affectionately received by the Rajput ruler of the area named Shiv Partap and received the information about the passing away of Emperor Aurangzeb. Conversely, after the bereavement of Aurangzeb, a war of succession started amid his sons whilst Guru was in Bhagaur.[15] In the mean time, the ambassador of Bhadur Shah came to Bhagaur along with letter from Bhadur Shah in which he had asked for blessings in addition to help in the war of succession from the Guru. According to Gur Sobha, "The emissaries gave a written letter from Bhadur Shah seeking the Guru's help in the impending war with his brother, Azam. Bhadur Shah largely beseeched the blessings of the Guru as the Man of Almighty".[16] According to the writer of the *Mulakat da Parsang*, Bhadur Shah in person called upon him in his difficulties. The Guru agreed and deputed Kuldepak Singh as a liaison officer who remained with the Emperor leading the battle of Jajau (June, 1707).[17] Beside this, he had also determined to dispatch two or three hundred Sikhs under the command of Bhai Dharm Singh to side with Bhadur Shah as an indication of moral support.[18] However, on June, 1707, a scuffle took at place, Jajau amid Bhadur Shah and Azam in which Bhadur Shah was triumphant.

Subsequent to the battle of Jajau, Bhadur Shah sought to express gratitude to Guru and on the latter's request, Guru decided to meet him at Agra. The Emperor received the Guru with immense courteousness and affection. The Guru was offered with a rich robe of admiration and jewelled scarf along with a sword (*Saif*) that originally belonged to Hazrat Ali but was gifted to Aurangzeb by the chief priest of Mecca, during his visit to Mecca.

After becoming the Emperor of India, Bhadur Shah determined to go to southern India in order to settle its associations with his younger brother, Kam Baksh. The Emperor requested Guru to accompany him. As a result, Guru decided to visit southern India.[19] According to M.A. Macauliffe, They both visited Jodhpur and Chitaurgarh. Each Raja sent his envoy to resolve differences and reimburse reverence to the Guru. At Chitaurgarh, there arose a squabble amid the Sikhs and Rajputs on the account of some grass that the former had taken for their horses. On the other hand, Ganda Singh states that when the two camps passed near the town of Chitaurgarh,[20] a Sikh named Zorawar Singh along with some other Sikhs went to see the city of Chitaurgarh and the fort. There was a beat of the drum. Conversely, on hearing the reverberation of the

drum, the people of Chitaurgarh considered that the town had been invaded by the robbers and the dacoits. They all came rushing out and saw the Sikhs purchasing grass. Nevertheless, there arose some conversation amid them which turned into tussle. In this encounter, a Sikh named Zorawar Singh was martyred/killed.

It is, nonetheless, noteworthy to reveal here that the Guru and the emperor were moving toward southern India quite detach from each other with their respective armed forces. The Guru, under no circumstances, had stayed in the regal camp as erroneously stated by some historians. As Khafi Khan says, The Guru was proceeding on the way to Southern India with Emperor Bhadur Shah at the head of two or three hundred horsemen along with infantry men armed with spears. Fauja Singh also agrees in his work that Guru Gobind Singh proceed from Chitaurgarh to south India. According to Ganda Singh, The Guru while proceeding to Southern India predominantly engaged himself in visiting the country side preaching Sikhism to the people. To conclude it can be said that the travels of Guru Gobind Singh made a strong impact on the socio religious thought of Rajputs, in addition, strengthened relationship between Sikhs and Rajputs. Conversely by helping Bhadur Shah to became ruler of Mughal India Guru Gobind Singh practically shown that he had no ill will against any religion or clan, and set an ideal of secularism for upcoming generations.

References

1. *Guru Gobind Singh was born in Patna in 1723 BK viz, 1666 CE; Karm Singh,* Gurpuray Nirnay *, Amritsar, 1912, p. 172.*
2. *A. C. Banerji observes that the difference between the Guru Gobind Singh and hill chiefs were sharpened by the creation of Khalsaji, as it emphasis on the abolition of caste system and discrimination based on caste system and it was challenge to the social exclusiveness of the hill society.*
3. *Guru Gobind Singh,* Zafarnama,*ed. Bhai Vir Singh, Delhi, 2017, Stanza 20.*
4. *For details see* Zafarnama.
5. *After protected fruitless fighting with the Maharathas for long six years he returned to Ahmednagar on January 30, 1706.*
6. *Swarup Singh Kaushish,* Guru Kian Sakhian*, ed. Pyara Singh Padam, Patiala, 1986 p. 187.*
7. *For details see M.A. Macauliffe,* The Sikh Religion*, Vol V, Oxford University Press, 1909, p. 224.*

8. *Swarup Singh Kaushish,* Guru Kian Sakhian*, p. 187.*
9. Ibid.
10. *Giani Gian Singh*Twarikh Guru Khalsa*, ed. K.S.Raju, Language Department, Patiala, 2011, p. 1093; for details see Nanak Singh,* Sri Tirath Darshan.
11. *Bahi Sarup Singh Kaushik* Guru Kian Sakhian*, p. 181.*
12. *For details see Bahi Santokh Singh,* Guru Partap Suraj Granth; *Gyani Gyan Singh*, Tawarikh-e-Guru Khalsa.
13. *Sainapat* Gur Sobha *ed. Ganda Singh, Patialla, 1967, p. 143; Swarup Singh Kaushish,* Guru Kian Sakhian*, p. 120; Bhai Santokh Singh,*Guru Partap Suraj Granth, *ed. Bahi Vir Singh, Patiala, 2011, p. 6150; Also see Gaini Gain Singh,* Tawarikh-e-Guru Khalsa.
14. *Bhai Santokh Singh,* Gurpratp Suraj Granth, *Patiala, 2011,p. 6162.*
15. *Giani Gian Singh,* Twarikh Guru Khalsa*, Languages Department, Punjab, 1999, p. 1096; Bhai Saroop 16. Singh Kaushik,* Guru Kian Sakhian*, p.189,*
16. Sri Gurupartap Suraj Granth, *P. 6167-6168 ;Sainapat,* Gur Sobha*, , p. 143.*
17. *Swarup Singh Kaushish,* Guru Kian Sakhian*, 183.*
18. *Ganda Singh* "Guru Gobind the Last" in Punjab Past and Present*, Vol XVII-I, 1983, p 17.*
19. *Koer Singh,* Gurblias Patshahi X*, ed. Shamshear Singh Ashok, Patiala, 1968, p. 403.*
20. *Saroop Singh Kaushia,* Guru kia sakhian*, p.181; Koear Singh,* Gurblias Patshahi X, *ed. Shamsher Singh Ashok, Patiala, 1968, p. 270.*

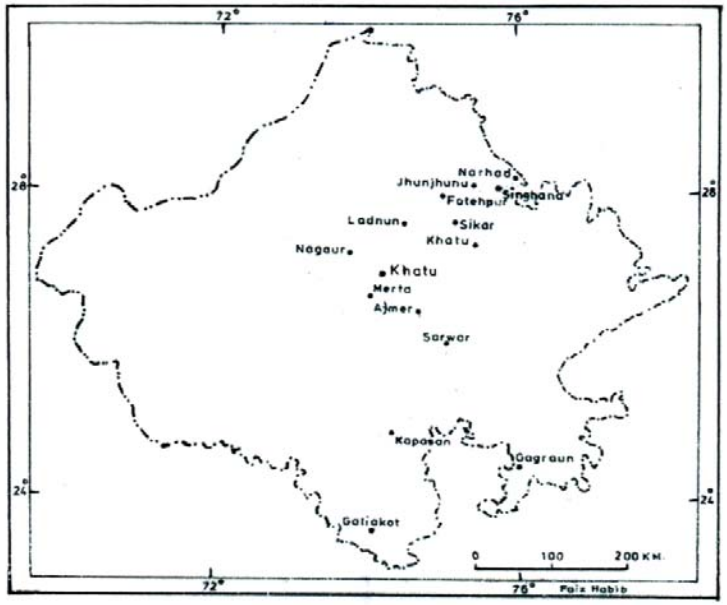
Khatu : A Heritage Town of Marwar

Jibraeil

Khatu is one of the earliest heritage towns of Rajasthan[1]. It is an important socio-religious and economic satellite centres of district Nagaur (see Map-1). It was situated on the medieval route from Multan to Bayana[2] (see Map-2). This route was also connected Delhi to Daulatabad at Bayana[3] (see Table-1 and Map-3). The old name of Khatu was Shatkup (six wells) which shows its significance regarding water management[4]. Shak rulers came to India and they brought two new wells with them which were called Shakandhu (Step-well/*Baoli*)[5] and Kalandh (*Rahat*)[6]. The town was also renowned for its pale yellow sand stone, much valued in the Sultanate and Mughal period[7], and still exported to other parts of India. Khatu once had a stone fort, which, according to a local legend was constructed by Mahmud of Ghazna, at the time of his campaign to Somnath. But there is no historical evidences that Mahmud himself was ever visited in the region, but the legend may reflect that the Ghaznavi territory of Nagaur was extended to as Far East as Khatu[8]. An inscription is also reported by Chaghtai to have once existed there, dated AH 484/AD 1091-2, which falls in the time of the Ghaznavid Sultan Abrahim Shah. Chaghtai did not see the inscription itself, local inscriptions have been found in Khatu[9], confirming that from the beginning of the domination of Islam in India, Khatu was in Muslim hands and that is why Muslim constructed so many religious and non-religious or secular monuments in and around *qasba* Khatu[10].

The earliest existing inscription in Khatu is found in a ruinous mosque within the private property (haveli) of Thakur Dhonkal Singh[11]. The inscription records the construction of a mosque on 4th February 1203 (20th Jumada I, 599) which falls into the Ghurid conquest of India[12]. Through other inscription the names of a number of Muslim governors of Khatu have come to us. Among the earlier ones are Iltutmish's governor Masood-b-Ahmad-b-Umar-al-Khalj and Balban's governor Said-al-din-Husain-al-Sultani[13]. According to Prithviraj Raso, Khatu's old name was Khatwan, while old Khatu is almost destroyed. Now there are two towns (big villages), one is Chhoti Khatu and other is called Bari Khatu (see Choti Khatu and Bari Khatu on Map-4).

Both of these sites are presently known for its rich culture and prosperity and considered as the heritage town of Marwar. In an exhaustive physical survey, our team explored many heritage monuments of both of the Khatu including temples, *dargahs*[14] and water structures[15].

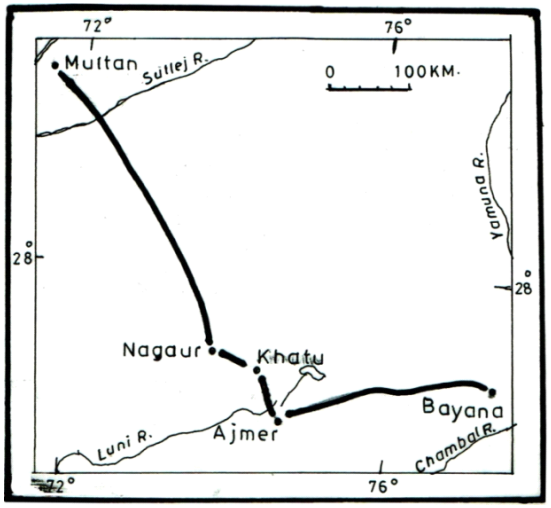


Map-1: Khatu: A Satellite Centre of District Nagaur on Map

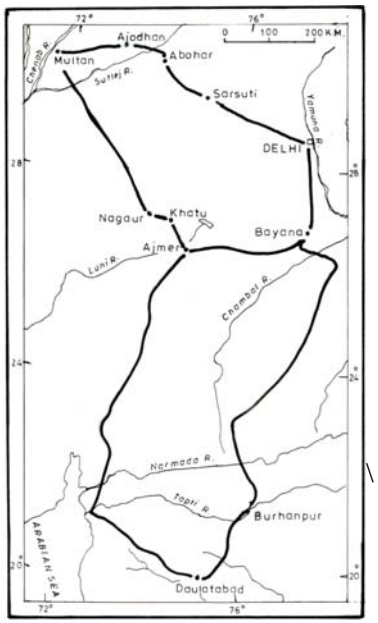
Table-1

Multan to Bayana via Khatu

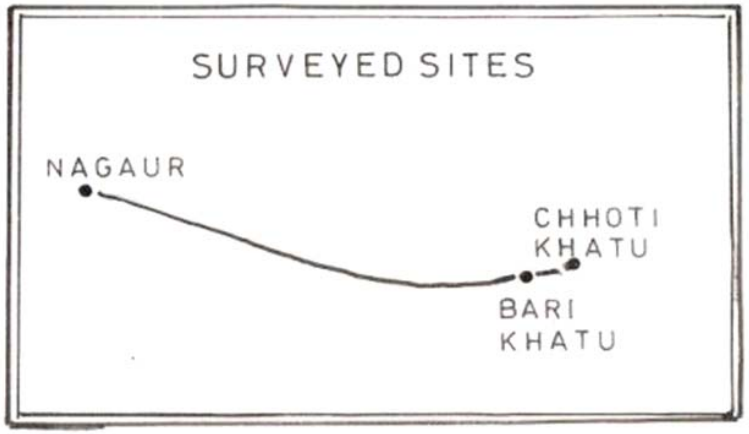
1.	Multan to Bayana Via Khatu	Multan-Nagaur-Khatu-Ajmer-Bayana (Map-2)
2.	Multan to Daulatabad	Multan-Delhi-Bayana-Ajmer-Daulatabad (Map-3)
3.	Multan to Daulatabad	Multan-Nagaur-Khatu-Ajmer-Bayana-Burhanpur-Daulatabad (Map-3)



Map-2: Khatu on Multan to Bayana Route



Map-3: Khatu on Multan to Daulatabad via Bayana Route



Map-4: Choti Khatu and Bari Khatu on Map

Chhoti Khatu

It is a small town in Nagaur district of Rajasthan and is around 65 Kms away from Nagaur and about 30 Kms away from Didwana[16]. It is an archaeological site with many water-bodies and other monuments related to different sects and saints. Following are the main water bodies and monuments are situated in Chhoti Khatu:

(i) Kumbhar Khania Talab: It is situated in the east of Choti Khatu. An old temple of Jagdamba faith is situated on the bank of the tank, and another temple was constructed probably in 100 years back by the locals. The length and the breadth of this tank are measured and are about 400X300 mtrs respectively. According to the locals, it is very old and initially was only *talab*, for the use of the people of the town[17].

(ii) Doodh Talai: It is more than 200 years old tank considered as a *talai*[18]. Water of this tank was always very sweet and was being used by the people of the town for the purpose of only drinking. Its measurement is 1000X1000 mtrs. in its length and breadth.

There are more than six wells and two *baolis/ baoris* in the town such as Keshoram Meghwal Kuwan, Four wells near Primary School, Lohiya Kuwan, and Hanuman Sagar Kuwan. Two *baoris* such as Maliyon Ka Dhada and Phool Baori[19]. Details are mentioned below:

(i) Kesoramji Meghawal Kuwan: It is situated in the south of the Kumbhar Khania talab and is very close to it. It is not in operation while specifically water of this well was being used for drinking of

marginalized sections of the town[20].

(ii) Primar School Ke Kuven: There are four wells inside the boundary of the primary school. According to the locals all four wells were situated near a small *talab* which now has been covered and filled up by the silts and sands[21].

(iii) Hanuman Sagar: This is still in operation. It was very old well which was renovated in VS 2009/AD1952 while being used by the traders passing this town for their trade. It was constructed by a *bajaj*, a *baniya* caste, and therefore it is called as Bajajon Ka Kuwan[22].

(iv) Two Baoris/Baolis: It is very interesting to note that both of the *baoris* were being used for drinking as well as for irrigation to raise the vegetables around in 15 *bighas* of lands.

(a) Gaon Ka Kuwan: According to the locals a *baori* called as 'Gaon Ka Kuwan' was very significance because Malis were using water of it for irrigation while rest of the people of the town for drinking purpose. It is also called as Maliyon Ka Dhada. It is looks like a *baori*, containing steps to reach inside the well. Presently it is not in use and it is more than 160 fts deep[23].

(b) Phool Baori: Another *baori* of Chhoti Khatu is called 'Phool Baori' has almost the same impression and the present condition of it is very good. But it is also not in operation. Water of this well was very sweet. It is very true to say that the water of this well was being used for irrigation, particularly to raise the vegetables[24]. Due to modernization and urbanization, the lands were being used for the production of vegetables now has been confiscated by the people living in the region. This "L" shape step-well runs from north to south with the entry lying towards the east at the northern end. This step-well is artistic in its style of architecture. It is sadly neglected, even is mal treated monuments located 39 kms. East of Kuchaman. It is the repository of some of the finest specimens of decorative and figural sculpture that one can hope to see in Rajasthan. It is believed that it was constructed in the early period of Gurjara Pratiharas which show four landings, the second and the third being the most decorated ones. The second landing shows one deep and elaborate niche, on either side. The niche properly framed by a border carrying Valli and inset within, is a mini Trishakha door frame with Ganga and Yamuna at the bases of the Jambs, underscoring the niches being conceived as a mini shrine the Pediments of these niches are things of beauty in themselves. Each Pediment rests over a Kapotapali and features a

projected Tri-sectioned Rathika in the centre adjoined by mini Dvi-ange shrines copped by Ekandaka- latina pinnacles. The third level is essentially similar but with some differences. The pediments of one of the confronting niches here show another top level and consisting of a Shimhakarna or large Chamber Shala placed at the back near the wall. The step-well is about 9 fts wide, 200fts deep and more than 110 fts in length along its axis[25].

Phool Baori, Chhoti Khatu

(c) Two *dargah* and two old mosques are also situated in Chhoti Khatu. Khatu was among the towns of Rajasthan which was revisited by Mir Muhammad Masum Nami on his journey from Iran[26]. One very old mosque is now in very bad condition. According to the locals, the Muslims were offering five times prayer *(namaaz)* in this mosque since its construction in 13th century. But the people who were residing near this mosque has been permanently migrated and shifted near the *dargah* of Chhoti Khatu[27]. There is a *dargah* inside the second old mosque called as Nizamuddin Bukhari Dargah or Sayyid Shah Nizam Bukhari Dargah in Chhoti Khatu. It has an inscription (see Table-2) inscribed on the wall of the *dargah*[28].

Table-2

Inscription on Dargah of Chhoti Khatu

Place	On the Dargah of Sayyid Shah Nizam Bukhari
Date	AH 1080, Dhul Hijja 26, Sunday, May 7, 1670 AD
Dynasty	Not Known
King	Not Known
Contents	States that Sayyid Nizam Bukhari who came from Lahore died at the age of one hundred years after a sojourn of forty years at this place
Source	ARIE, 1962-63, No. D. 193

Bari Khatu

The Thikana is the head seat of Chanpawat (Champawat) clan of Rathore dynasty and is also known as Bari-Khatu (Khatu Badi), or Khatu Kalan and the Chief were enjoying single Tazim and Kurab Banh in the Jodhpur Durbar. Founder of the family was Rao Champaji of Kaparda in Jodhpur, who became the ancestor of the founders of Khatu, Daspan, Ransigaon etc. He was succeeded by Rao Bherodasji of Kaparda, Rao Jaisaji, and then Rao Mandanji, whose son Rao

Gopaldas succeeded to the gaddi and became the ruler of Pali in Marwar. During Delhi Sultanate many Muslim Sufi saints settled down in the town[29] such as Maghribi Shah (Dargah of Maghribi Shah) [30], Samman Shah (Dargah of Samman Shah) [31], etc. Many inscriptions are also available in Persian, which are providing immense information regarding Sufi saints of Khatu (see Table-3 and 4). Many other monuments and water structures are exist in the town[32].

Table-3 : Inscription on Dargah of Maghribi Shah

Place	Dargah of Maghribi Shah, into the wall of the Verandah on the West
Date	AH 629, Ramadhan, June-July 1232 AD
Dynasty	Mamluk
King	Iltutmish
Contents	Records the construction of a tank by Masud son of Ahmad, son of Umar al- Khilji
Source	EIAPS, 1966, pp. 6-7, pl. Ib, ARIE, 1958-59, No. D. 170, PAIOC, Mysore, pp.632-34

Table-4 : Inscription on Dargah of Samman Shah

Place	Dargah of Samman Shah, Over the main entrance
Date	AH 802, 1399-1400 AD
Dynasty	Not Known
King	Not Known
Contents	Records the construction of the tomb of Shah Shamman and gives AH 648 (1250-51 AD) as the date of his death
Source	ARIE, 1958-59, No. D. 177

After a cursary survey, it is observed that the *qasba* Khatu was an important place in Marwar during Medieval period, which was known for its richness regarding the socio-religious and cultural history. It has its own significance and contributed much for the making of the composite culture and still maintained its popularity due to existence of many heritage monuments either on the banks of the *talabs* or in the boundary wall of the *qasba*. The town therefore is an example of communal harmony and peace. Hindu, Jain and Muslims are the majority of population and are very loving and cooperative to each other.

References

1. *According to Yaqub Ali Khan, Khatu was the earliest Islamic sites of Rajasthan. For details see Yaqub Ali Khan,* Muslim Monuments of Rajasthan, *B.R.Publishing Corporation, Delhi,2011, p. 108. With the accession of Chunda as the ruler of Marwar in about 1383 AD the history of the Rathore principality centres a new phase of increasing expansion of its domain, which was made possible due to weak successors of Firoz Tughlaq as the Sultan of Delhi (Biram Died in the year of 1383 AD fighting against the Johyas in a village (Lakhbara) near Gajner in Bikaner, vide, The Gajner Inscription of the year of 1383 AD;* Vir Vinod*, p. 802). According to the sources Chunda's career opens with varied conquests and of great significance. Thus, he finally brought under his rule all the territories round about Mandor (*Bahi*, f. 16 b; Nainsi, II, p.89,* Jodhpur Khyat*, I, p. 30,* Vir Vinod*, p.803), and Nagor (*Bahi *f. 17a; Nansi, II, p.90;). Chunda also subdued Khatu, Didwana, Sambhar and Ajmer, while all of which were then under the Muslim rule (*Bahi*, f.17b;* Jodpur Khyat*, I, p. 31;* Kaviraj Khyat*, II, p.29). For more details see Visheshwar S.Bhargava,* Marwar and The Mughal Emperors (AD 1526-1748), *Munshiram Manoharlal, Delhi, 1966, p.7.[During my work, I felt that Immense evidences are available in the archival records regarding the monuments of Khatu but still there is no much works has been done on it. It needs more wore work].*
2. *Map on 'Medieval Roads to the Deccan', prepared by Zahoor Ali Khan, available in the Cartography Lab, Centre of Advanced Study, Department of History, Aligarh Muslim University; Irfan Habib,* An Atlas of the Mughal Empire*, Delhi, 1982, p. 0B; The Times Reference* Atlas of the World*, Times Books, London, 1995, pp. 143-153.*
3. *Map on 'The Mughal Empire Economic', prepared by Faiz Habib, available in the Cartography Lab, Centre of Advanced Study, Department of History, Aligarh Muslim University; Irfan Habib,* An Atlas of the Mughal Empire*, Delhi, 1982, p. 0B; The Times Reference* Atlas of the World*, Times Books, London, 1995, pp. 143-153.*
4. *This information is available in the records of Survey Report of the Archaeology and the area surveyed and verified by our survey team after conducting many interviews with the locals and knowledgeable persons of the town.*
5. *The* baoli/baori *is still alive but not in operation. Presently it is under the custody of the Archaeological Survey of India and popularly known as Phool Baori.*
6. *The Kaland/Rahat operated well is still alive but not in operation. Presently it is surrounded by huts and is not possible to survey the wells. Presently it is known as Maliyon Ka Dhada or Gaon Ka Kuwan.*

7. *Yaqub Ali Khan,* Muslim Monuments of Rajasthan, *op. cit., p. 108*
8. *Ain-I-Akbari, Vol. I, p.512.*
9. *Z.A. Desai,* Muslim Inscriptions of Rajasthan *, published by The Directorate of Archaeology and Museums, Government of Rajasthan, Jaipur, 1971, pp.28-42.*
10. *Yaqub Ali Khan,* Muslim Monuments of Rajasthan, *op. cit., p. 108.*
11. *Ibid.*
12. *ARIE, 1962-63, p.200. [Our team deliberates plenty to decipher the inscription with the help of the Persian knowing scholars and few others who engaged especially on the Mughal Architecture].*
13. *EIAPS, 1966, pp.5-6, and 13.*
14. *In Indo-Persian literature, the term* dargah *is used both for the royal court and the tomb of a pious man. For it see Iqtidar Husain Siddiqui, 'The Early Chishti Dargahs', published in* Muslim Shrines in India*, edited by Christian W. Troll, OUP, New Delhi, 1989, p.1. Cf. Ziauddin Barani, Tarikh-i-Firuz Shahi, Asiatic Society of Bengal, Calcutta, 1862, pp. 494,499 (In Urdu* dargah *means only the tomb of a Muslim saint).*
15. *We have surveyed important monuments which are associated with water structures of Khatu. The tenure of our survey tour was on 26 to 29 March, 2017.*
16. *Inch map of the area.*
17. *Physical survey and interview at the site.*
18. *The difference between* talab *and* talai *is basically related to their size and the slope to their size. The slope of* talab *is on the corner while that of* talai *is kept in the centre of the water body.*
19. *Physical survey and interview at the site.*
20. *Ibid.*
21. *Ibid*
22. *Ibid.*
23. *Ibid*
24. *In an interview, an old man of Mali caste explained us that due to sweetness of water of this* baori*, almost all the produced vegetables were fresh and carrot was sweet in taste. A step-well in Rajasthan called* baoli *or* baori *or* bavadi*. See* Dying Wisdom (Traditional Water Harvesting System), *ed. Anil Agarwal and Sunita Narain, CSE, p.389 (Glossary).*
25. *Exhaustive physical survey and interview at the site.*
26. *ARIE, 1958, pp.172-4.*
27. *Physical survey and interview with the knowledgeable persons at the site.*
28. The Researcher (A Bulletin of Rajasthan's Archaeology & Museums), *published by The Directorate of Archaeology and Museums,*

*Government of Rajasthan, Jaipur, 1971, Vol. X-XI, Year 1970-71 (*List of Published Muslim Inscriptions of Rajasthan *by Z.A. Desai), No. 168, pp. 53-54.*

29. *Samandiyan Baba Dargah, (It is more than 800 years old* dargah *of Chishti Silsila). It is situated in the* parkota *boundary of the old fort of Khatu. According to some sources fort was situated in Chhoti Khatu but through our survey it is proved that it exists in Badi Khatu.*
30. The Researcher (A Bulletin of Rajasthan's Archaeology & Museums), *published by The Directorate of Archaeology and Museums, Government of Rajasthan, Jaipur, 1971, Vol. X-XI, Year 1970-71 (*List of Published Muslim Inscriptions of Rajasthan *by Z.A. Desai), No. 86, p. 28.*
31. The Researcher (A Bulletin of Rajasthan's Archaeology & Museums), *published by The Directorate of Archaeology and Museums, Government of Rajasthan, Jaipur, 1971, Vol. X-XI, Year 1970-71 (*List of Published Muslim Inscriptions of Rajasthan *by Z.A. Desai), No. 105, p. 34.*
32. *Water bodies such as Shiv Talab, Mulukpur Talab, Dharagar Talab and other three wells which are not in operation.*

Emergence and Growth of Ladnun as an Urban Centre (13th–17th c. A.D.)

Ms. S.S. Arif

Ladnun is a town located in the Nagaur district of the Indian state of Rajasthan. Ladnun was earlier known as Chanderi Nagari. It is located 225 km northwest of Jaipur. It is situated 329 metres above sea level. In historic point of view this city was witness to the culture between Ganeshwar and Indus. Stone objects found at areas around Nagaur, Parbatsar and Didwana proves the presence of pre historic man. The emergence of chalcolithic civilization of Sikar Jodhpura side by side with Ladnun makes it important in historical point of view. Ladnun is mentioned in Mahabharata by the name of Gandharvana under asharam of Acharya Bharadwaja.[1] In medieval times, this area was under the Pratiharas prior to the Chauhans. After the Turkish invasion, the rule of Rajputs was scattered and power of Pratiharas and Chauhans remained limited to small regions.

A number of inscriptions are found in Ladnun containing names of Delhi Sultans like Alauddin Khilji, Firoz Shah Tughlaq, etc showing that the city had some connections with the Delhi Sultanate.[2] It is also noticeable that the said town was very rich and prosperous during the reign of Akbar[3] and his successor as well. It can be seen through a table (Table I) showing collection of revenue from Ladnun belonging to the Sarkar of Nagor. Out of total revenue collected from Nagor, 2.33% belonged to Ladnun and ranking 14 among the 28 mahals.

My present paper on Ladnun is based on the survey conducted by a survey team under Prof. Yaqub Ali Khan and Dr. Jibraeil, in March 2017, of which I was also a member.

The city of Ladnun was under the Mohil Rajputs from 12th to 16th century, A.D. The Ladnun fort which is presently in ruined condition is said to have been built by Chauhans. The earliest surviving inscription found in the fort belong to the 1010 V.S. (953 A.D).[4]It seems that there is only one surviving wall of the fort containing bastions. (Plate I) Presently the fort is survived by a number of Jain and Hindu temples and mosques.

Shahi Jama Masjid:

This is one of the surviving mosque situated very near to the main gateway of the fort. It was surveyed with the help of Janab Murad Khan. The entrance of the mosque contains an inscription beginning with the first Kalima of Islam (Plate II). There are several other inscriptions containing Quranic verses. The surviving pillars of the mosque poses striking similarity with the Quwwat ul Islam mosque and Adhai din ka Jhonpdha belonging to the late years of the 12th century, A.D. and early years of 13th century, A.D. respectively (Plate III). It seems that the technique adopted in the construction is by dismantling neighboring temples and then re-erecting them in the form of a mosque. The Shahi Jama Masjid is said to have been constructed some 400 years after the fort, during the time of Shams Khan Dandani.[5] From the survey profound information could not be gathered regarding the authenticity of the time period of the mosque as the area is now been confiscated by the local population.

Bhairon Ji ka Mandir:

Further moving inside the the fort a temple is found called Bhairon Ji ka Mandir, surveyd by the help of Shri Ramdayal. Presently the temple has been renovated and is located at the corner of the fort. (Plate IV).

Dargah of Ghazi Umar Rao:

Few steps away from the Ladnun fort is the dargah of Ghazi Umar Rao. The dargah is in well preserved condition containing a mosque. (Plate V). Sufi Hameeduddin Suwali of Nagaur who belonged to the thirteenth century has mentioned about his visit to Ladnun and to the shrine of Ghazi Umar Rao.[6]

Dargah baoli:

Pushpa Prasad in her work Sanskrit Inscriptions of Delhi Sultanate 1191- 1526[7], explains the areas under Dihli as Bang, Tilang, Gurjar, Karnataka, Gauda and Pandayan associated with Ladnun in the 14th century, A.D. She is also giving information in a list called Ladnun inscription of 1316 A,D. regarding the same. It is also significant that a baoli/ stepwell being explained by same author but there is no adequate information regarding the exact location of the baoli. In our survey we also explored a baoli. The baoli or stepwell is situated right infront of the dargah. It contains a big graveyard containing many inscriptions.It is evident through these inscriptions

that the people of various caste were living together in the area. (Plate VI and Other notable sites of the cities are bees khamba chhatri, Kalushah Pir Baba ki dargah, manjhsa talab, panchpiron ka maza, etc.

Conclusion:

The historical importance of Ladnun could well understand by the fact that the city finds its mention the Mahabharata. In medieval times this city had all the contents required for it to be an emerging urban centre. The city had a fort, a number of dargah, ancient Jain and Hindu temples, baoli, etc. Unfortunately, it failed to gather attention of the historians to trace its contribution to history. Ladnun has been known as the centre of Jain. The Jain monks must have travelled extentively throughout the area to promote their religion. The Jains generally practice trade which leds to the coming of more and more people. The urs held at the dargah of Ghazi Umar Rao Pir have promoted the notion of composite culture in the city.

References:

1. *Surajmal Rao, Itihas ke paripeksh me Ladnun Nagar, cyclostyle.*
2. *Z. A. Desai, Published Muslims Inscriptions on Rajasthan, Govt of Rajasthan, Jaipur, 1971, pp 98- 101, K. K. Sehgal , Rajasthan District Gazetteers, Govt of Rajasthan, Jaipur, 1975, p-26*
3. *Abul Fazl Allami, Ain i Akbari, Vol II, translated into English by H. S. Jarret, Low Price Publications, Delhi 2011, p 282*
4. *Goving Agarawal, Churumandal ka Shodhpurn Itihaas, Lok Sanskriti Shodh Sansthan, 1974, p-61*
5. *Shams Khan Dandani was the founder of the Khanzada Dynasty belonging to the first half of 15th century*
6. *M. H. Siddiqi, Madhyakaleen Nagaur ka Itihas, Rajasthani Granthagar, Jodhpur, 2001, p- 227- 236*
7. *Pushpa Prasad, Sanskrit Inscriptions of Delhi Sultanate 1191- 1526, Oxford University Press, Delhi, 1990, p- 6*

Water Reservoirs in Jaipur during 18th-19th Centuries

Ritika Meena

Water is life – these words really make sense for the people of Rajasthan. This hot and arid land has lack of perennial rivers though has a short rainy season and few substantial rivers and most of them dry up completely during the hot season. This initiated people of Rajasthan to have large water reservoirs, such as – wells, shallow-tanks, deep stepped basins (kunds), step-wells, artificial lakes and ornamented pools in palaces which accumulate water during the rainy season and act as water reserves for the local communities. From ancient times water is considered as a sacred element in India as well as many of the ancient literary texts have also elaborated on the significance of water. Sanskrit text Brhatsanhita alluded that the God or our deities would like to reside near at water, such as at the shores of ponds, lakes, and rivers with plentiful surroundings of greenery and mountains.[1] Consequently, Indians grew up in a world laced with images of water. In one classical tale, or purana, a lake that never dries up is sited where the world connects to heaven, near Mount Meru. The lake's pure water is filled with lotuses, the flower symbol of the mother goddess who takes the form of water and lives in water.[2]

Subsequently, the belief in water gradually increased; from dawn to dusk it is used as a main element in performing rituals either in Hinduism or in Muslims. Hindus beliefs in three elemental ideas such as- water gives life, a daily bath cleans us of sin, and a bath replicates a moment when one is closest to heaven.[3] However, Hindus also expressed it as "tirthas", means "watering hole" and a spot or expanse of water that gives merit to anyone who baths in it, "owing to its own nature".[4] The tirthas (centres of pilgrimage) are, almost invariably, situated on the bank of a river, sea-shore, lake or stream, pond, step-wells, step-ponds, etc., particularly the Ganga River in North India has its own significance which has a direct link between water and the sacredness; Hindus anxiously prefer to have a bath on its shores as a pilgrimage.

Apart from this, due to the largely arid climatic conditions in Rajasthan, the provision of artificial lakes, ponds, step-wells or baoris,

 ISSN 2321-1288

tanakas, stepped ponds have played an important role for the people of this region. The Emperors of this arid land were also involved in erection of artificial lakes, ponds, step-wells and stepped ponds, which has been also representing a long period of their water architecture. Kachhwahas, the rulers of Amber adorned this region with many beautiful architectural jewels; and the step-wells, stepped ponds, lakes, tanakas, kunds were among them.

Water Reservoirs in Jaipur

Talkatora-It is a small lake situated behind the Jai Niwas garden and Govindadeva temple, which can be reached through a way passing through Chougan. This was laid by Sawai Jai Singh in A.D. 1713 adjoined to a hunting lodge and a pleasure garden Jai Niwas situated at the northern-western corner of the Mansagar and Manbagh.[5] According to Girdhari's Bhojansara of 1739, Sawai Jai Singh specified that 'Jai Niwas should come within the city, this is my wish'.[6] Later, the Govindadeva temple was also shifted to Jai Niwas garden at Surya Mahal; and Badal Mahal, a retreat palace was also built by Jai Singh at the shores of Talkatora in A.D. 1729. Earlier, it was known as Shikar Odi,[7] which served as a hunting lodge for the chiefs and later after alterations made in 1729, it named Badal Mahal. But now at present, the Badal Mahal holds more attractive scenes to be witnessed.

As H.L. Showers describes it in his 'Notes on Jaipur' "the Talkatora, or as visitors called it Alligator tank, lies immediately beyond the Badal Mahal was crowded with Alligators. They are regularly fed at the durbar expanses. They are quite tame and come up the steps of the tank to receive food from the hands of the attendants. A pastime occasionally indulged in is the feeding of the Alligators with bait tied to a long rope. This is thrown into the tank and there is soon a battle royal for its possession. The successful combatant having bolted the bait, rope and all, a tug- of- war ensues between him and the men holding the rope. It takes many men to haul the monster on shore. Finally, he bites the rope through and escapes."[8]

The narrative scene, mentioned in the description of H. L. Showers closely resembles to a painting of Mewar (A. D.1720), in which the Maharana Sangram Singh and his nobles stand in an open hall overlooking the (much exaggerated) landing ghat, where the wildly thrashing lake alligators are being ceremoniously fed.[9] Perhaps, Sawai Jai Singh had been influenced by the Pichola Lake with alligators; and borrowed that idea from Mewar. Later, he infused that idea here in his

ancestral land in the form Talkatora with alligators, which were also fed at the durbar expanses.

It was not enough from him, like inMewar at Gangaur ghat of Pichola Lake here at Talkatora at Jaipur, the Sawai Jai Singh and his successor's holds durbars on the occasion of Gangaur and Teej festivals, and it is here that the processions met to its end. These ceremonial occasions would enhance the beauty of this Talkatora, but now there are no alligators in the tank.

As it has been already mentioned that the water reservoirs and water management systems are the primary requirements for the establishment of any city, this was not negotiated in the planning of Sawai Jaipur. Infact, scarcity of water in Amber was one another reason including overcrowding of Amber. Thus Sawai Jai Singh chose this site for the establishment of his new capital because of its proximity to water resources like Mansagar, Talkatora and Dravyavati River in the north-west. Simultaneously, he built Jaisagar adjacent to Talkatora.

Jaisagar-The papers of Siayah – Imarati, Jama-Kharach reveals that the construction of Jaisagar was commenced in V. S. 1784-85[10] by Sawai Jai Singh just adjacent to Talkatora towards the north-east of the city. This was also known as Raja Ayamal ka talab because it is said that water from Jaisagar came up to the steps of his haveli during monsoon. It was also built to resolve the problem of water as well as enhance the beauty of his city. Water flowed from the northern part of the city and the hillocks of Nahargarh. The water way from the temple of Balanandji to the lake was called 'Nandi' which used to flow near the Fatehram's Tibba through twelve openings called 'moris' finally reaching Jaisagar. When the lake was full, the extra water used to overflow from the west side of Madho Vilas (V.S. 1757) into the lake of Mansagar or Jal Mahal.

Paintings at City palace, Jaipur are also evident of the fact of existence of Jaisagar, in which Sawai Jai Singh with his ranis is standing in the Badal Mahal and having a view of Talkatora and Jaisagar from here. The magnificent beauty of these lakes is particularly depicted in this painting. The Sanskrit literary texts Ishavarvilaskavaym and Jaipur vaibhavam were also alluded about these lakes and also mentioned that this lake was filled up and it was converted into brahmapuri i.e. reserve residential site for Brahmins in a city. Later, they remained half portion of the Jaisagar adjacent to the brahmapuri was named SantoshSagar which align to the northern-eastern boundaries of city.

Dravyavati Canal-To resolve the problem of scarcity of water Sawai Jai Singh had commenced a canal to bring water from the Dravyavati River or Jhotwara River to his new city in A.D. 1727.[11] But the arzdasht letters from Anand Ram to Jai Singh, of Shravana Badi 13, V.S. 1783 (A. D.1726) reveals that a canal from Bandi River, about nine kos from JaiNiwas, would prove a more difficult and costly undertaking than one from the Jhotwara River, which was about 2 kms from the palace, and intervening sand dunes were also not very high.[12]

A map plan at pothikhana, city palace also reveals that a large canal was planned to be built from Bhavasagar dam at Ramgarh to the Dravyavati Lake near Jaipur, to bring water to the new capital of Sawai Jai Singh. It was never built, but the detailed plans for it depicted how far the project was developed. Three thousand pillars were to be erected to carry the channel at a regular height, and the distance between the pillars is given in a textual note. Pillars at 1000 gaz intervals are shown in red, and at 100 gaz intervals in yellow. Each pillar is numbered, and the height needed to raise the water is given, mostly between four and eight gaz. Villages on either side of the canal have been shown and named, and also the hills between which the canal must pass.[13]

Apart from this map, recently excavations under the Metro Railway Project Work at Chhoti Choupar in Jaipur have revealed a canal which brought water to Jaipur from Dravyavati River which flow to the north-west of the city. Apparently, Sawai Jai Singh borrowed this idea of a canal passes through intersecting the main market, from Mughals. In Shahjahanabad, Shah Jahan had also laid a canal which passes through the main avenue of Faiz bazaar adjacent to Lahore gate;[14] later it was buried by the British in nineteenth century. Besides it, Sawai Jai Singh had also excavated wells in city to facilitate the localities of Jaipur.

Mansagar-Mansagar, an artificial lake popularly known as Jal Mahal, created by Raja Man Singh at north-east of the way to Jaipur from Amber, just next to the Kanak Ghati. He had also erected a dam named bandh Mansagar adjoined to the Mansagar at the foot of the hills to north-east of it.[15] Besides it, he also constructed a garden, named Manbagh just at the front of Mansagar. In fact, the Manbagh and the Mansagar both are flanked on the edges of the way which lead to the Sanganer[16] from Amber. This was a main road, linking Amber, the capital with Sanganer.

Man Singh laid this lake to fulfil the requirements of water which was a practical necessity as well as a form of pleasure resort where they could relax at Manbagh placed just opposite to it. But unfortunately, at present this garden does not exist.

Impact of Mughal architecture on the water reservoirs of Jaipur-Akbar was deeply interested in architectural practices though his innovative ideas are very new in Indian patronage; he infused prominent Mughal architectural practices with Indian architecture. The resulted outcome was more accurate with mathematical approach and adorned with their buildings with beautiful decorative patterns.

Kachhwahas who were closely associated to the Mughals, also adopted their water building architectural practices and infused them to their own constructions. Apparently, it is clear that Amber has a very number of baoris like Nakki, Shila and Panna Mian which carried Mughal influence on their architecture. Besides, the Hindus baori which only carries the religious and social objects for their establishment, the baoris at Amber were produced with secular purposes. The magnificent water pool has shaded and warmed two or three terraced-wing pavilions based on cusped arches and fluted columns, has essence of ShahJahani's architectural taste. Subsequently, their walls are decorated by dados which furnished with motifs. The floors and the terraced open platforms of these step-wells were furnished by knotted carpets, bolsters and cushions where the chiefs and nobles had their retreat parties; particularly during summers these baoris or so called Mughal hammam were really very helpful in combating the heat of this arid land.

Just like the step-wells the lakes and stepped ponds were also considered as the pleasure retreat water resorts. The Mughals particularly Jahangir had infused a new architectural practice which focused on gardening and hunting pavilions. He was fascinated of gardening and the chahar baghs of Kashmir built by him and his beloved Nur Jahan are evident of his enthusiasm for garden architecture. Besides these gardens situated on the hills flanked either on the riverside or the lakeside; he also referred such riversides gardens adjacent to the hills as a hunting palace. On the shores of such hunting places he used to lay tower, tank and pavilion, accomplished it as magnificent pleasure house. For example, Jahangir's small hunting pavilion on the banks of the Pushar Lake constructed in A.D. 1615-16,[17] but unfortunately it is in ruined condition today. Another is Chesma-I-

Nur or Fountain of Light at Ajmer built in year 1615[18] and Visal Sar at Ajmer completed in A. D. 1616.[19] His successor Shah Jahan, consequently praise this architecture of hunting lodge, completed the construction of Ana Sagar at Ajmer.[20] Later he also commenced the erection of Bari Mahal near at Dholpur (1637) and Rupbas and Mahal,[21] Agra which also bear the characteristics of a hunting lodge. During his reign the pavilions of hunting lodge were enhanced beauty in decorative perspective and became large in size so as they were also considered as pleasure resorts besides only hunting lodge. Occasionally such pavilions were also laid in the midst of a lake or water tank. As apparent, the construction on riverside sites was the chief element of his palace architecture.

Such architectural practices were also adopted by the Kachhwahas particularly Sawai Jai Singh was fascinated of this architecture. The construction of Talkatora and Jai Niwas garden adjacent to a hunting lodge was commenced in 1713 was the most prominent specimen of such pleasure hunting lodge in Jaipur by Kachhwahas. Besides it, Jal Mahal laid in the midst of Mansagar was another magnificent example of hunting lodge as well as pleasure retreat resort. As in this way the influence of Mughal architecture on water buildings are clearly expressed in the terms of Talkatora and JaiNiwas, later Badal Mahal was also added to its shores enhanced its complete beauty.

References :

1. *Brhatsanhita (ed.) Triathi, A.V., Part II, p. 665*
2. *Zimmer, Heinrich, The King and the Corpse: Tales of the Soils Conquest of Evil (ed.) Joseph Camphell, p. 316*
3. *Livingston, Morna, Steps of Water : The ancient Stepwells of India, p. 7*
4. *Kane, P.V., History of Dharmashastra, p. 555*
5. *Sawai Jai Singh Charita, p. 45*
6. *Roy, A.K., A History of Jaipur City, p. 235*
7. *Sharma, M.L., Notes of Jaipur, p. 22*
8. *Ibid., pp. 22-23*
9. *Topsfield, Andrew, City Palace and lake palaces Architecture and Court life in Udaipur Painting, p. 163 Stones in the Sand, (ed.) p. 63*
10. *Siayah-Imarati, Jama Kharach Paper, J.S.A. records, Bundle No. 3, p. 844*
11. *Bhatnagar, V.S., Life and Times of Jai Singh 1688-1743, p. 331*
12. *Arzdasht, Shravana, Badi 13, S. 1783 (July 16, 1726), J.S.A. records,*

Jaipur

13. *Gole, Susan, Indian Map and Plans, p. 199*
14. *Asher, C.B., Architecture of Mughal India, p. 193*
15. *Manchartawali, p. 65*
16. *It is a popular lore that the Sanga Baba during Bharmal and after him, established a new town Sanganer named after him, to the South of the City. It is famous for the eleventh-century Jain Temple; and for the Sanganeri block printing textile industries as well as for the handmade paper industry.*
17. *Asher, C.B., Architecture of Mughal India, p. 120*
18. *Ibid., p. 121*
19. *Ibid., p. 122*
20. *Ibid.*
21. *Ibid., pp. 204-205*

Dr. Gajanand Choudhary Prize Paper

Historical Significance of *Nirakh Bazar* Document of Amber State

Mohammad Shahnawaz

Nirakh Bazar documents are unique as they offer an extensive range of information on economic structure of pre-modern Rajasthan. The profusion of data available at Rajasthan State Archives, Bikaner paved way for explorative study of *nirakh bazar* document for different *parganas* which throws light on the price control and stability of the state's economy. A study of *Nirakh Bazar* documents has drawn the attention of historians S. Nurul Hasan and S.P. Gupta in 1967.[1] The increasing interest of scholars has helped in opening up fresh areas of study. The importance of the *nirakh bazar* documents has been recognized by eminent historians[2] namely Ashim Kumar Roy, S.P. Gupta and Dilbagh Singh in recent past.

Nirakh Bazar documents refer to the prevalent market rates of agricultural and non-agricultural products for each and every principal market of the state. These documents are tremendously rich in their information related to the market prices. For detailed study of prevalent market rates of Amber State we have *nirakh bazar* documents of approximately sixty places namely Amarsar, Amber later Sawai Jaipur, Bahatri, Dausa, Ajabgarh, Gazi Ka Thana, Geejgarh, Lalsot, Chatsu, Malarna etc. These documents are commencing from *V.S.* 1719 (1662 A.D.) to the 19th century.[3] Keeping in view the quantity and quality of the *Nirakh Bazar* documents, an attempt has been made in this paper to explore and analyse the statistical data. Present study focuses on factors behind the uniformity in market rates, nature and historical significance of the document, role of state administration, price fluctuations, availability and non-availability of the commodities and the use of prevalent daily market rates.

Enough statistical data is available in these documents to analyse and understand the economic phenomenon of the Amber State. Another important thing is that these documents enable us to make comparison between different *parganas* over the years. Due to the information at

hand, we have selected *nirakh bazar* document of four *parganas* namely Amber, Malarna, Lalsot, and Bahatri (Baswa). These documents show that market of these *parganas* had some similar commodities and some commodities were different to each other. This may be possible due to difficulties in transportation from one place to another.

Nirakh bazar document is much helpful to know stability and uniformity of the markets in the territory of Amber. These documents throw a good light on the uniformity in daily market prices and provided even slight fluctuation among the commodities. Daily market rates were prepared and duly signed by the *panch Mahajan*[4] and were sent to the *hazuri*.[5] These reports are preserved as permanent records at the Rajasthan State Archives, Bikaner. State officials were always instructed to receive *nirakh bazar* records for the information of Maharaja.[6] It is noteworthy that state officials put a seal on the reports of *nirakh bazar.*[7]

To make comparison possible, we have converted all the prices into rupees per *man* (fractions calculated in terms of decimals). In the original document, the statistics are given as quantity per rupee. Due to fluctuations in the *sers* per *man* among the different *parganas*,[8] the prices have been considered in terms of the 40 *sers* in a *man.* Apart from this, we have also tried to make comparison easy among the commodities within a single *pargana* over the year. we have assumed 100 as index[9] to wheat and compared to other commodities available at the market in respect to wheat. From this method of comparison we can see price fluctuate easily among the commodities.

Table (I) showing the prices and their fluctuations in rupees per man V.S. 1773/A.D. 1716

Item	*Pargana* Bahatri[10] Actual prices	*Pargana* Lalsot[11] Index (Wheat=100)	Remark Actual prices	Price Difference* (%) Index (Wheat=100)	
Gehun (Wheat)	1.25	100	1.14	100	-9
Moth (Turkish gram)	0.85	68	1.14	100	+34
Mung[12] (Green gram)	0.93	74.4	1.67	146.49	+80
Urad (Black gram)	0.95	76	1.14	100	+20
Jau (Barley)	0.86	68.8	0.77	67.54	-11
Chana (Gram)	0.86	68.8	0.80	70.18	-7
Bajra (Pearl millet)	1.14	91.2	1.21	106.14	+6

Gur[13] (Jaggery)	3.81	304.8	3.81	334.21	0
Khand chini[14] (Raw sugar)	11.43	914.4	9.41	825.44	-18
Til (Sesame)	2.35	188	2.96	259.65	+26
Tel (Oil)	5.52	441.6	5.93	520.18	+7
Ghee (Clarified Butter)	9.41	752.8	10.0	877.19	+6
Rui (Carded cotton)	8.0	640	8.42	738.6	+5
Ata (flour)	1.38	110.4	1.14	100	-18
Lun (Salt)	0.83	66.4	0.89	78.07	+7
Singhara (Water chestnut)	3.64	291.2	4.44	389.47	+22

*****Price difference at Lalsot compared to Bahatri has been shown as '**+**' (increase) '**–**' (decrease).

Figure I (a) showing comparison between *pargana* Bahatri and Lalsot

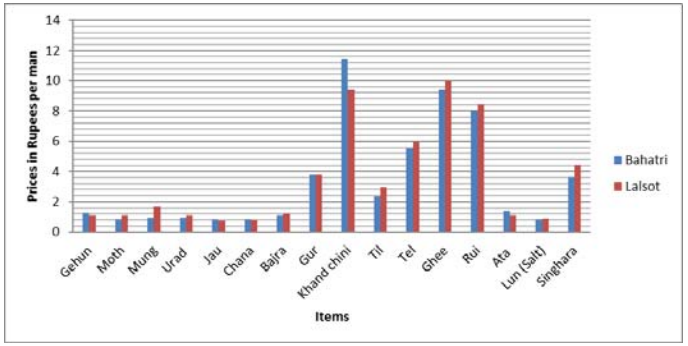
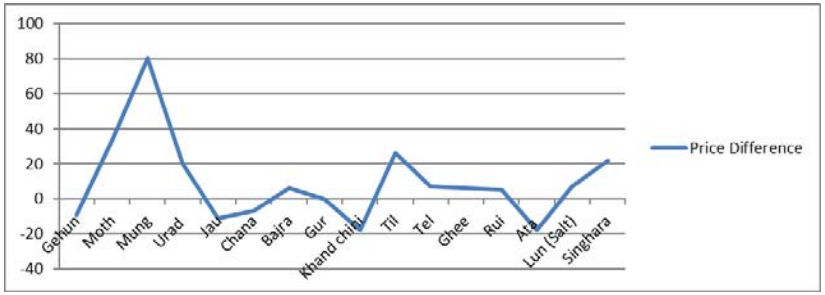


Figure I (b) showing Price difference at *pargana* Lalsot compared to Bahatri



From the table (I) and graphs (I a&b) we can see that the major price differences occurred in the *kharif* crops namely *moth, mung urad* and *bajra* between the *pargana* Bahatri and *pargana* Lalsot. On the other side the price difference is minor among the *rabi* crops. After the analyses of these two *parganas* it is proved that prices of such commodities namely *moth, mung, urad, bajra, til*, oil, *ghee, rui*, salt, *singhara* were higher at *pargana* Lalsot compared to *pargana* Bahatri. At the *pargana* Lalsot, decline of prices occurred among the commodities such as wheat, *jau*,gram, *khand chini* and flour.

It is noteworthy that the intense positive growth in prices has occurred in pulses. The prices of *mung* 80%, *moth* 34%, *til* 26%, *singhara* 22%, *urad* 20%, salt 7%, oil 7%, *bajra* 6%, *ghee* 6% and *rui* (cotton) 5% increased at *pargana* Lalsot in terms of *pargana* Bahatri. While the prices of gram 7%, wheat 9%, barley 11%, flour 18%, and *khand chini* 18% declined at Lalsot. There was no fluctuation in the prices of *gur.*

Table (II) showing the prices and their fluctuations in rupees per *man V.S.* 1770/A.D. 1713

Item	*Pargana* Malarna[15] Actual prices	Index (Wheat *Katha* =100)	*Pargana* Amber[16] Actual prices	Index (Wheat *Katha* =100)	Remark Price Difference* (%)
Gehun Katha[17] (Wheat)	1.27	100	3.27	100	+157
Gehun Bajya[18] (Wheat)	1.23	96.85	3.08	94.19	+150
Ata Katha (Flour)	1.43	112.60	3.56	108.87	+149
Ata Bajya (Flour)	1.38	108.66	3.33	101.83	+141
Jau (Barley)	0.94	74.02	2.5	76.45	+166
Chana (Gram)	1.12	88.19	3.2	97.86	+186
Jowar (Millet)	1.31	103.15	2.76	84.40	+111
Bajra (Pearl millet)	1.31	103.15	2.58	78.90	+197
Moth (Turkish gram)	1.27	100	2.83	86.54	+123
Urad (Black gram)	1.57	123.62	3.64	111.31	+132
Mung (Green gram)	1.63	128.35	4.21	128.75	+158
Til (Sesame)	2.62	206.30	3.81	116.51	+145
Lun (Salt)	0.89	70.08	0.52	15.90	-42
Tel (Oil)	5.51	433.86	8.89	271.87	+61

Ghee (Clarified butter)	8.89	700	10.32	315.60	+16
Gur (Jaggery)	3.81	300	5.82	177.98	+53
Rui (Carded cotton)	5.0	393.70	5.71	174.62	+14
Khand chini (Raw sugar)	10.0	787.40	13.33	407.65	+33

*****Price difference at Amber compared to Malarna has been shown as '**+**' (increase) '**–**' (decline).

Figure II (a) showing comparison between *pargana* Malarna and Amber

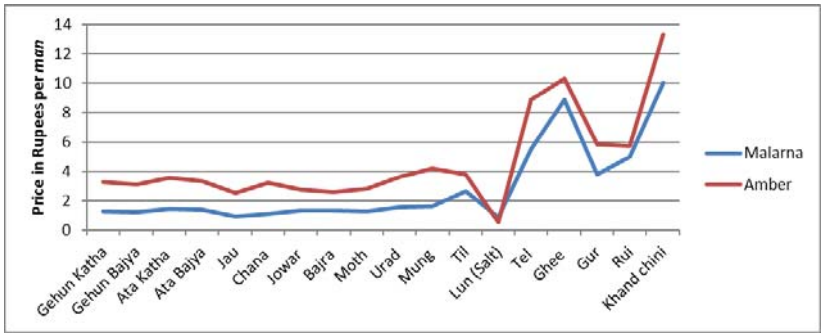
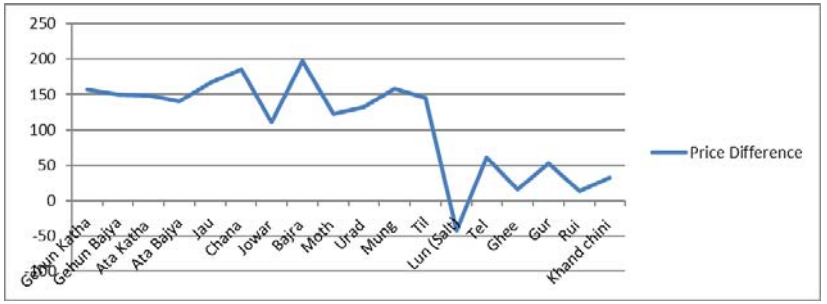


Figure II (b) display Price difference at *pargana* Amber compared to *Malarna*



From the perusal of above table and graphs we find massive price differences between *pargana* Malarna and *pargana* Amber. At *pargana* Amber price of commodities two or three times higher than *pargana* Malarna during the year of *V.S.* 1770/A.D. 1713. An

examination of the table II reveals the price differences through percentage at the markets. There is inflation[19] at Amber relative to Malarna where, wheat (*katha*) abruptly increased with 157%, wheat (*bajya*) 150%, flour (*katha*) 149%, flour (*bajya*) 141%, barley 166%, gram 186%, *jowar* 111%, *bajra* 197%, *moth* 123%, *urad* 132%, *mung* 158%, *til* 145%, oil 61%, *ghee* 16%, *gur* 53%, *rui* 14% and *khand chini* 33%. Table showing remarkable positive growth in food grains' price at the market of Amber compare to Malarna while at the same time, the price growth of other commodities was not considerably so high as it was in case of food grains. Nevertheless price hike is evident in all the commodities available at *pargana* Amber, a negative growth appeared in the price of salt. It may be possible due to abundant supply of salt. The price of salt was very low throughout eastern Rajasthan because salt was extracted from the lake of Sambhar.

In *pargana* Malarna the average prices of *rabi* crops was lower than *kharif*. More price variations occurred in oil, *ghee*, salt, *gur, khand chini, rui, til, mung, urad* and barley relative to wheat (*katha*). On the other side, in *pargana* Amber more price variations appeared in terms of wheat (*katha*).

The inflation at *pargana* Amber is discernable as compared to *pargana* Malarna, possibly due to low supply of commodities or heavy demand, erratic rainfall and difficulties in transportation. It may also be possible that sometimes merchants were interested in hoarding in order to get more benefit during the time of famine. They purchased entire grain from other merchants and sold at higher rate during the period of famine.[20]

Table (III) showing the prices and their fluctuations in rupees per *man*

Pargana Lalsot (*V.S.* 1773/A.D. 1716)

Item	Actual Price				Index (Wheat *Katha* = 100)			
	Asarh Vadi 1	*Mangsir Sudi* 1	*Paush Vadi* 1	*Paush Sudi* 15	*Asarh Vadi* 1	*Mangsir Sudi* 1	*Paush Vadi* 1	*Paush Sudi* 15
Gehun Katha (Wheat)	1.14	1.21	1.33	1.54	100	100	100	100
	(-)[21]	(+6)	(+10)	(+16)				
Gehun Bajya (Wheat)	1.01	1.19	1.33	1.43	88.60	98.35	100	92.86
	(-)	(+18)	(+12)	(+8)				
Ata (Flour)	1.14	1.38	1.48	1.60	100	114.05	111.28	103.90
	(-)	(+21)	(+7)	(+8)				
Maida (refined flour)	1.43	1.67	1.90	2.11	125.44	138.02	142.86	137.01
	(-)	(+17)	(+14)	(+11)				
Chun (powder)	0.89	1.05	1.25	1.25	78.07	86.78	93.98	81.17
	(-)	(+18)	(+19)	(0)				

Chawal (Rice)	3.20	3.08	3.08	3.20	280.70	254.55	231.58	207.79
	(-)	(-4)	(0)	(+4)				
Chawal Mota (Rice)	2.67	2.22	2.35	2.50	234.21	183.47	176.69	162.34
	(-)	(-17)	(+6)	(+6)				
Khand chini	9.41	12.38	12.31	10.0	825.44	1023.14	925.56	649.35
(Raw sugar)	(-)	(+32)	(-1)	(-19)				
Gur (Jaggery)	3.81	4.21	3.72	2.91	334.21	347.93	279.70	188.96
	(-)	(+10)	(-12)	(-22)				
Ghee								
(Clarified butter)	10.0	9.41	9.41	9.01	877.19	777.69	707.52	588.06
	(-)	(-6)	(0)	(-4)				
Tel (Oil)	5.93	6.96	6.96	6.40	520.18	575.21	523.31	415.58
	(-)	(+17)	(0)	(-8)				
Til (Sesame)	2.96	2.86	2.96	2.50	259.65	236.36	222.56	162.34
	(-)	(-3)	(+3)	(-16)				
Jau (Barley)	0.77	0.92	1.11	1.11	67.54	76.03	83.46	72.08
	(-)	(+19)	(+21)	(0)				
Chana (Gram)	0.80	0.95	1.18	1.14	70.18	78.51	88.72	74.03
	(-)	(+19)	(+24)	(-3)				
Baijhari								
(Mixed grain)[22]	0.77	0.93	1.11	1.11	67.54	76.86	83.46	72.08
	(-)	(+21)	(+19)	(0)				
Moth								
(Turkish gram)	1.14	1.05	1.25	1.11	100	86.78	93.98	72.08
	(-)	(-8)	(+19)	(-11)				
Bajra								
(Pearl millet)	1.21	1.11	1.33	1.33	106.14	91.74	100	86.36
	(-)	(-8)	(+20)	(0)				
Urad								
(Black gram)	1.14	1.18	1.48	1.21	100	97.52	111.28	78.57
	(-)	(+4)	(+25)	(-18)				
Mung								
(Green gram)	1.67	1.60	1.67	1.43	146.49	132.23	125.56	92.86
	(-)	(-4)	(+4)	(-14)				
Singhara								
(Water chestnut)	4.44	-	-	-	389.47	-	-	-
Lun (Salt)	0.89	0.77	0.77	0.89	78.07	63.64	57.89	57.79
	(-)	(-13)	(0)	(+16)				
Rui								
(Carded cotton)	8.42	7.49	8.42	8.89	738.60	619.0	633.08	577.27
	(-)	(-11)	(+12)	(+6)				
Mirch (chilly)	32.0	37.65	35.56	35.56	2807	3111.57	2673.6	2309
	(-)	(+18)	(-6)	(0)				
Mirch dam								
(Kind of chilly)	-	32.0	32.0	32.0	-	2644.63	2406	2077.9
		(-)	(0)	(0)				

Kodon[23]	-	1.33	1.54	1.48	-	109.92	115.79	96.10
		(-)	(+16)	(-4)				
Kapas (Cotton)[24]	-	2.50	2.67	2.67	-	206.61	200.75	173.38
		(-)	(+7)	(0)				
Chhola (chickpeas)	-	0.95	1.14	1.11	-	78.51	85.71	72.08
		(-)	(+20)	(-3)				
Gojro[25]								
(Mixed grain)	-	1.0	1.18	1.25	-	82.64	88.72	81.17
		(-)	(+18)	(+6)				
Sali (Rice)	-	1.25	1.37	1.48	-	103.31	103.01	96.10
		(-)	(+10)	(+8)				

From the analyses of above table, it should be clear that the prices of commodities in *pargana* Lalsot fluctuated in different months. More price variations appeared in *kharif* crops compared to *rabi* crops. After the scrutiny of table III we find commodities such as wheat (both qualities), flour, refined flour, *gojro,* and *Sali* frequently increased over the months.

An attempt has been made through this table to explore price variations which occurred at the market in a single year. To understand the level of fluctuation, we have reference that prices of *khand chini* considerably fluctuated e.g. 32% rise during the month of *Mangsir,* sudden a decline to 1% during *paush* month and again at the last date of *paush* month it declined to 19%.

Remarkable changes occurred in the prices of commodities in relation to each other within a single year. The relative value of the commodities in terms of wheat (*katha* as index) can be examined from the table. On the one side relative value of the commodities like wheat (*bajya*), *chun,* barley, gram, *baijhari, moth,* salt, *chhola* and *gojro* marked less in terms of wheat (*katha*). While on the other side, flour, refined flour, rice, rice (*mota*), *khand chini, gur, ghee, tel, til, bajra, urad, mung, singhara, rui* (cotton), chilly, chilly (*dam*), *kodon, kapas* (cotton) and *sali* (rice) had marked increase.

There were different qualities among the food grains such as two qualities for wheat, two qualities for flour, two qualities for chilly and three qualities for rice. *Baijhari* and *gojro* were the mixed grains. *Singhara* was available only during *Asarh* and unavailable during last three months. It may be possible that *singhara* was produced near about *Asarh* and *Baisakh* and was not produced during the month of *Mangsir* and *Paush.* The rate of *mirch dam* remained constant during our period of study. *Mirch dam, kodon, kapas* (cotton), *chhola, gojro* and *Sali* (rice) were not available during *Asarh.*

Table (IV) showing the rate of bullion on the basis of average price of 10 days

	*V.S.*1773/A.D. 1716 (Rs./*An.*)		*V.S.*1770/A.D. 1713 (Rs./*An.*)	
Item	Bahatri	Lalsot	Malarna	Amber
Kundan	-	-	-	12/12
Gold	13/-	-	-	12/10
Muhr (gold coin)	11/15	11/14	11/4	11/8
Sliver	11/8	11/12	12/-	11/5
Taka[26]	17/12½	17/37½	18/12½ - 18/19	17/37½

Table shows the market rates of gold, *kundan, muhr* and copper in terms of the silver rupee. From the table it is clear that there were minor fluctuations which appeared among the market value of the bullions. To study fluctuations in copper and gold prices in relation to silver, these documents are extremely helpful. We generally get two values for the *taka.* Sometimes there were slight fluctuations in values of different kinds of the *taka.*

After the analyses of *nirakh bazar* documents we assume that food grains might have been consumed locally and were not exported to other areas which naturally show a great variation in the commodities. The variations which occurred in the prices might be possible due to the supply and demand, erratic rainfall, illegal extortions, burden of taxes, difficulties occurred in transportation, highway theft and robberies, famine etc.

Another significant aspect of the *nirakh bazar* document is that market was unified by looking into the range of prices prevailing in the different areas. Range variation in prices of different commodities was small which indicates that at least within the limits of *parganas,* the market was practically unified and there was uniformity and stability at the markets. *Nirakh Bazar* document shows the general well-being of the people of Amber State.

It may also be observed that state always kept an eye on the prevailing market rates and availability of the commodities. State called officials to take action against merchants if any complaint was received for scarcity of grain etc. therefore, merchants were strictly instructed to sell grain according to the prevailing rates at the *bazar.*[27] Apart from this, state always provided facilities to the merchants as they were fully or partially exempted from taxation to commute articles and grains at the market from far flung areas.

References

1. S. Nurul Hasan and S.P. Gupta, "Prices of the Food Grains in the

Territory of Amber (c. 1650-1750)", Proceedings of Indian History Congress, *Patiala, 1967, pp. 345-368.*

2. *Ashim Kumar Roy,* History of the Jaipur City, *Manohar Publications, New Delhi, 1970; S.P. Gupta, "Prices and Rural Commerce in 17th Century Eastern Rajasthan",* PIHC, *Kurukshetra, 1982, pp.270-282 &* The Agrarian System of Eastern Rajasthan *(*c.1650-1750*), Manohar Publications, New Delhi, 1986.; Dilbagh Singh,* The State, Landlords and Peasants: Rajasthan in the 18th Century, *Manohar Publications, New Delhi, 1990.*
3. Nirakh Bazar pargana *Udai* V.S. *1719/A.D. 1662 R.S.A.B;* Nirakh Bazar pargana *Sawai Jaipur* V.S. *1916/A.D. 1859 R.S.A.B.*
4. Nirakh Bazar pargana *Bahatri dated* Baisakh Sudi *1,* V.S. *1773/A.D. 1716 R.S.A.B;* Nirakh Bazar pargana *Lalsot dated* Mangsir Sudi *1,* V.S. *1773/A.D. 1716 R.S.A.B.*
5. Arzdasth pargana Amber *dated* Kartik Vadi *3,* V.S. *1750/A.D. 1693 R.S.A.B, Ajit Singh and Manram reported Maharaja Bishan Singh that* Nirakh hundi *of* qasba *Sanganer and* Nirakh bazar *of* qasba *Amber were sent to the* hazuri.
6. Arzdasth pargana Amber *dated* Paush Sudi *15,* V.S. *1752/A.D. 1695, R.S.A.B.*
7. *For detail see* Nirakh bazar *of different* parganas, *R.S.A.B. All these seals written in Persian i.e.* Nirakh bazar *of* pargana *Sawai Jaipur contained* Muhr-i Niyabat Qazi *Muhammad Nasir (*Nirakh Bazar pargana *Sawai Jaipur* V.S. *1785/A.D. 1728),* pargana Bahatri *contained on the seal Muhammad Shah Ibn Shekhu Shah (*Nirakh Bazar pargana *Bahatri* V.S. *1773/A.D. 1716),* Nirakh bazar *of* pargana *Chatsu has the name of Enayatullah Ibn Shaikh Abdul Aziz (*Nirakh Bazar pargana *Chatsu* V.S. *1771/A.D. 1714),* Nirakh bazar *of* pargana *Lalsot containing* Barkhurdar Qazi *Ahmad Ibn* Qazi *Muhammad Sharif* Khadim Shara *(*Nirakh Bazar pargana *Lalsot* V.S. *1773/A.D. 1716) and* pargana Dausa *has the name of Syed Amin Ibn Syed (*Nirakh Bazar pargana *Dausa* V.S. *1723/A.D. 1666).*
8. *A* man of *28* ser *existed in* pargana *Amber, 30* ser *in* pargana *Lalsot and 40* ser *in* pargana *Chatsu.*
9. *Index- Generally, index number is used in time series data to compare the fluctuations over the period of time. Here as a special case we have used index number in cross section (in a year variation exists) data to compare variations between items.*
10. Nirakh Bazar pargana *Bahatri dated* Baisakh Vadi *1,* V.S. *1773/A.D. 1716, R.S.A.B.*
11. Nirakh Bazar pargana *Lalsot dated* Asarh Vadi *1,* V.S. *1773/A.D. 1716, R.S.A.B.*

12. Mung- *Phaseolus Mungo, or a species of pulse. See, John T. Platts,* A Dictionary of Urdu Classical Hindi and English, *New Delhi, Manohar Publishers and Distributers, 2006, pp.1095.*
13. Gur- *molasses, treacle, raw sugar, the product of the first inspissation of the juice of the sugarcane. See, Wilson, H.H.,* A Glossary of Judicial and Revenue Terms, *Delhi, Munshiram Manoharlal Publishers, 1968, pp.190.*
14. Khand Chini- *Raw sugar or brown sugar which was not refined, See, Sitaram Lalas,* Rajasthani Sabad Kos, *Vol.I pp. 602.*
15. Nirakh Bazar pargana *Malarna dated* Asarh Vadi *1,* V.S. *1770/A.D. 1713, R.S.A.B.*
16. Nirakh Bazar pargana *Amber dated* Asoj Sudi *8,* V.S. *1770/A.D. 1713, R.S.A.B.*
17. Gehun Katha- *wheat of Superior quality*
18. Gehun Bajya- *wheat of Inferior quality*
19. *Inflation- It is an economic term which indicates that general price rise among the commodities.*
20. Arzdasht *dated* Asoj Vadi *7,* VS *1751/AD 1694. R.S.A.B.*
21. *Figures in parenthesis indicates 'increase' (+) or 'decrease' (-) over the previous value.*
22. Baijhari- *mixture of gram,* jau *etc., See, Sakaria, Badriprasad & Sakaria, Bhupatiram,* Rajasthani –Hindi Shabdkosh*, Panchsheel Prakashan, Jaipur, 1982, pp. 917.*
23. Kodon *or* kodu- *a grain of low quality*
24. Kapas- *When it is not separated from seed, it is termed* Kapas. *See, John T. Platts,* A Dictionary of Urdu. *Opcit. pp. 609.*
25. Gojro- *mixture of wheat and barley*
26. *The market value of* taka *in different* parganas *given related to silver rupee.*
27. Arzdasht *dated* Asoj Vadi *12,* VS *1751/AD 1694. R.S.A.B.*

Administering the *Dargah* of Khwaja Muin ud- din Chishti of Ajmer : *Khuddam*[1] and other hereditary Stake holders

Yusra Farooqui

"Whatever one has received is the reward of service rendered by him to his Pir, but he must take to heart the lesson which his Pir imparts to him and try to act upto the same accordingly."[2]

-Khwaja Garib Nawaz (Muin ud-din Chishti)

In the state of Rajasthan, the *dargah* of Khwaja Muin- ud din Chishti is a place which is visited by thousands of devotees, visitors and pilgrims, from almost every part of India and also from the other countries of South East Asia. The Annual celebration (*Urs*)[3] of the *dargah* is an event where not only the district administration but also the State and Central governments makes massive arrangements for the safety, security and comfort of the lakh of visitors who come from the sub-continent as from the foreign countries in a large number. The national leaders, political parties and the highest dignitaries of the nation, make it an occasion to reach to the civic society by sending the customary gifts (*chadar or nazr-o-niyaz*) for the *dargah*. Huge publicity is given to such gestures by the print and electronic media. This healthy tradition has continued in spite of the contrary propaganda by the radical organizations, individuals. This *dargah* remains most visible and vibrant center of our shared past, pluralistic ethos and the composite culture.

Since the Pre- Colonial times, the *Dargah* has occupied the central stage of the political discourse. Mughal Emperor Akbar (d. 1605) and his successors made full use of the centrality of *dargah*. They made huge donations, created *Waqf*, constructed numerous buildings, which still survive and are in the use of devotees. The later rulers of the successor states have also made huge donations for the maintenance of the various buildings and the performance of the customary practices, rituals and other religious practices at the *dargah*. These donors cut across the religious line[4], these included *Nawabs*[5], *Nazims*, *Nizams Rajput*[6] and *Maratha* Chieftains, Jain merchants and even the colonial administrators.

The interesting aspects which needs to be highlighted are the *Wakalatnamas*[7] (the power of attorney) executed by the Rajput[8], Maratha[9] and Jat Chieftains by the Banias and the Jain merchants in favor of numerous families of *khuddam* (and *baridar*, the hereditary attendants looking after the services inside and outside the tomb). They were appointed to pray for the welfare of their patrons during the special hours i.e., when prayer had the most acceptable timings with the divine. It also needs to the highlighted that the time period of the *Wakalatnamas* synchronizes with some of the bitter Mughal Rajput and Mughal Maratha conflicts.

The *khadim* community[10] has emerged as the most powerful stakeholders in the affairs of the *dargah*. They were engaged in one of the bitterest legal disputes with the *diwan* (official supposed to be from the direct lineage of Khwaja Sahab) and *khadims*, the matter finally reached to the Supreme Court, which suggested for the passage of an act by the Central govt. for the administration of the Dargah Khwaja Sahab. Thus, the Dargah Khwaja Sahab Act was passed in AD 1956 by the Central govt. Now, the Dargah as administered according to the provision of this act. It also recognizes the position of the *khadims* for several things including the inside services within the tomb of the Khwaja Sahab. Any visitor to the *dargah* perhaps cannot avoid the *khadims* as a class. This paper seeks to understand / analyze the emergence and the making of *khuddams* as the most important stake holders at the *dargah* of Ajmer.

Evidence confirms that the custom of making offerings to the shrine is the major source of the income of the *khuddam* community. These offerings have been usually in cash, land or food. In early Sultanate period, Sultan Nasiruddin Mehmud (d. 1266) and Alauddin Khilji (d. 1316) visited *dargah* during their march (via Ajmer) in famous campaigns of Nagore and Chittor respectively. While Isami says that Sultan Muhammad Bin Tughlaq (d. 1351) paid a thanks giving visit to the shrine of Khwaja Moin-ud-din Chishti. However from a contemporary sources, we find that during a meeting with Firoz Shah Tughlaq (d. 1388), one of the *khadims* of Ajmer shrine wished to return back the land-grant (*madad-i-maash*) deed he was holding, due to the unnecessary persecution of the local officials.[11]

In AD 1455, when Mehmud Khilji (d. 1469), the sultan of Mandu (Malwa) stationed himself at Mandalgarh, most probably it was a group of these *khadimin* who approached him to attack and capture Ajmer, and to establish law and order there, which the Sultan immediately

did. He then appointed Khwaja Naimatullah as the *hakim* of Ajmer. According to the author of *Masir-i-Mahmud Shahi*, the Sultan paid homage to the *dargah* of Khwaja Ajmeri, suitably offered *nazar* and stipends to the *khudma*/ *sidana* of the place and established a proper administration and also built/renovated a mosque adjacent to the *mazar* of the Chishti saint. Behlol Lodhi (d. 1489 AD.) is reported to have visited the shrine, but in the early decades of sixteenth century, the people of the city had to witness another horror from the hands of Rana Sanga 1521 (d. 1528), who looted the place and the public of the city suffered heavily at his hands and some of them even migrated to other place, but again the *khadims* proved loyalty to the *dargah* and remained there. In AD. 1524 they welcomed the visit of Prince Bahadur Shah of Gujrat who in AD.1532, sent his commander Shamsher-ul-Mulk to recover the city from Rajputs and to restore *dargah* to its past glory. Prior to Sher Shah's visit in AD. 1544, one of the queens of Rao Maldeo choose her residence at Ajmer after quarrelling with her husband. She lived in valley below Taragarh fort, where remains of a palace attributed to *roothi-rani* (annoyed queen) are still to be found.[12]

Thus, we can say that during the Pre Mughal time, the *khadims* inspite of all the privation and troubles, loyally remained attached to the *dargah* of their beloved master, never thinking for a moment to move with the prevailing conditions in the region. The remarkable devotion and attachment of the *Khuddam* (*khadims*) and the ceaseless efforts to create pleasant and peaceful environment that *dargah* of Khwaja Sahib remained a place of pilgrimage for all sorts of people, well before the establishment of Mughal empire in India. As a result of these services the *khadim* community gained respect of the people who offered small and large amounts of money as *nazar*, while some of the kings and chieftains seem to have bestowed upon them land grants and stipends, which contributed to the improvement of their material condition and social status.

In Mughal era, between AD. 1562-79, Akbar (d. 1605) visited the shrine almost every year, on annual *Urs*, on the birth of a Prince, or a success in the military campaign, either against Rajputs or Afghans, he was always found paying thanks giving pilgrimage at the shrine and lavishly pouring cash and kind as *nazar* on *Khadims* and *Inam* on others. The young Emperor firmly believed that all his successes were due to the spiritual blessings of Khwaja Moinuddin Chishti. Finding the conditions of *khadims* as well as of *dargah* unsatisfactory, having

no permanent source of income, Akbar first of all assigned or renewed *madad-i-maash* (revenue free) land for the maintenance of the shrine and upkeep of its custodians (*khadims*).

The *Khuddam* were not only supported by individual devotees. They were regular recipients of endowments made by the Mughal court. These were in the form of *madad-i mash* grants. 'The grant of *madad-i- maash* was theoretically an act of charity…. All those who were engaged in service or in any trade and thus had other means of livelihood, could not properly hold grants.[13] According to Abul Fazl,

"His Majesty, from his desire to promote rank distinctions, confers lands and subsistence allowances on the following four classes of men: first enquirers after wisdom, who have withdrawn from all worldly occupation, and make no difference between night and daytime in searching for true knowledge; secondly, on such as toil and practice self-denial, and while engaged in the struggle with the selfish passions of human nature, have renounced the society of men; thirdly, on such as are weak and poor, and have no strength for enquiry; fourthly, on honorable men of gentle birth who, from want of knowledge, are unable to provide for themselves by taking up a trade".[14]

In the event, criteria for receiving these grants were rather wider than Abul Fazl suggests.

Descendants of saints or religious divines and persons who had retired from the world, but most frequently, those simply belonging to families reputed for learning or orthodoxy, or just held to be respectable, were regarded, without particular reference to their individual merits, as eligible for receiving grants.[15]

The *Khuddam* were thus eligible for such grants from the state. The grants came in the form of land, cash or food. The grantees were to enjoy the revenues (*hasilat)* from the land, and they were exempted from all obligations to pay the land revenue (*mal-o jihat*) as well as *ikhrajat*, the petty burdens imposed by officials, who are then specified in detail (in the *madad-i maash* documents), and so, from all 'fixed obligations and royal demands' However, the grantee had no right to sell or transfer his *madad-i maash* land.

A number of Mughal and later Mughal *madad-i- maash* documents which gives an idea of the scale of support the dargah at Ajmer from the Mughal Court and others. Like, In AD 1576, Akbar grants 6890 *biga* to Shaikh Fathullah and his brothers. The land consisted of 4200 *bigha* of cultivated land and 2690 *bigha* of

uncultivated waste land. The revenue of 1000 *bigha* of this land was to be assigned to the expenses of the '*urs'*, while the remainder was for the maintenance of the grantees.[16] After in AD 1586-7, Akbar grants 240 *bigha* of land to a *khadim* named Shaykh Ismail.[17] A total number of 18 villages were granted in the *haveli*, *pargana*, *sarkar* and *suba* of Ajmer, to meet the annual expenses of *urs*, *langer*, enlightenment, and other rituals at the shrine, and for the salaries of staff, including *rozinas* (daily allowances) to the *khadims* to conduct ceremonies of *dargah*. *Biyar* and *Kakniawas*, the two very fertile villages, were assigned to the entire khadim community, for their maintenance as *madad-i-maash* providing them a solid and permanent base for meeting their livelihood expenses.

Jahangir (d. 1627) obviously beliefs that his birth through the blessings of Shaikh Moinuddin Chishti and therefore, paid same respect to his *dargah* and *khadims* as did his father. In AD 1614-15, Jahangir grants 400 *bigha* to Saiyid Khubullah, Saiyid Karamullah, and Muhammad Raza.[18] After in AD 1615-16, he grants 36 *bigha* of land to Haji Muhammad[19] and 230 *bigha* of land in favor of Bibi Jan and other *khadim* widows.[20] In AD 1681, Aurangzeb (d. 1707) grants 30 *bigha* of cultivated land to Shaykh Bayazid, who is said to be a very old man with no other source of income.[21] After in AD 1683, he grants 45 *biga* to Saiyid Baqir Muhammad and Colleagues, all are the Scholars of Islam and had no other source of income.[22]

During Shahjahan's visits to Ajmer, he structured a Rota system to ensure that the duties of locking and unlocking the tomb and performing the various ceremonies there were carried out efficiently and that the burden was spread equitably. A *sanad*[23] was issued dividing the *khuddam* into seven groups, each group being responsible for the shrine for one day each week. Each *Khadim* gets a chance to handle the heavy set of keys, tied to a long cloth, which are put across his shoulder as he is responsible for day's activities. Mostly *Khuddams* depends on the pilgrims for their livelihood.[24] They provide accommodation, escort them to the various ceremonies held at the shrine, and show them around the sacred sites of the city. Those who go to the *dargah* for the first time are soon taken in hand by the *Khartoum*.[25]

On the other hand, it is also claimed that Shahjahan had issued specific orders regarding the sitting arrangement during the *Urs* and on Thursday *mehfils* held at the shrine. By these imperial orders the sitting places of *Diwan*, *Khuddam*, descendants of other saints and

some religious dignitaries besides *qawwals*, and *huffaz* (Quran recitors) *maulud khwans* (reciters of verses in praise of Prophet etc.) were finally settled. It appears that the Emperor had further consolidated the Mughal hold over the affairs of the shrine specially in these gatherings through the diwan, the sole agent of the imperial authority.[26]

A number of family documents of these *khuddam* regarding division of properties, shares in ancestral belongings, mutual agreements, *hiba-namahs* (deeds of gifts) etc. bring to light important and valuable details about provincial as well as central officials and the administrative and judicial system working at Ajmer. Emperor Aurangzeb during his first visit after the battle of Dorai (Devrai) made a cash *nazar* of Rs. 5,000 to *khadims*. Later while stationed at Ajmer during AD.1679-81 to crush the Rathor rebellion, he frequently paid visits to the shrine generally on Fridays after *namaz* and offered nazar. He did not disturb the land grants earlier assigned to *khadims* by his ancestors but added very few and insufficient grants of 30 *bighas* each and that too, to the aged and old members of the community and 15 *bighas* each to the young *khadims* engaged in pursuing religious education. Perhaps the crisis in *jagirdari* and the prevailing conditions in the province had kept him in check and control for giving more grant of lands.[27]

In AD 1690, Rao Anirudh Singh ruler of Bundi, has made a grant of Changespura village (in Bundi) to Syed Muhammad Jafar *Khadim*,[28] his *vakil*, as a *bhent* (*nazar*) in the name of Khawaja Sahib. Darbar Khan the *subedar* of Ajmer, issued an order to the officials of the *suba* in 1673, that 20 *bighas* of land he handed over to Syed Dan *khadim* his *vakil*, for the maintenance of his *khanqah*.[29] In the reign of Shah 'Alam Bahadur Shah[30], AD 1707-12, Saiyid Muhammad 'Aqil' is granted 100 *biga* of land.[31] And 100 *biga* to Shaykh Muhammad Mumriz, son of Shaykh Nur Muhammad and his sons.[32]

However, Syed Hayatullah *khadim* was confirmed on the post of *muhtasib* of Ajmer and teacher at the *madarsa* of *dargah* in place of his deceased father Syed Wali Muhammad, with a grant of *yomia* (daily allowance) of Re. 1/- per day and 150 *bighas* of land as *madad-i-maash*. The Emperor also granted 100 *bighas* of land each to Syed Aqil and Shaikh Mumraiz khadims for their livelihood. His son Jahanshah sent Rs. 2000/- as *nazar* and for cooking of *deg*, to his *vakils*/*khadims*, viz. Syed Murad and one another in the fulfilment of *minnet* (vow) of his son Roshan Akhtar (later Emperor Muhammad Shah). It was during the reign of Jahandar Shah in 1713 that

Muhammad Shafi Tehrani 'Warid' the author of *Miratul Waridat* paid homage to the *dargah* of Khwaja Sahib and composed 42 verses in praise of the Chishti saint of Ajmer.[33]

Farrukhsiyar (d. 1719) in spite of his keenness could not make a trip to Ajmer due to the political situation prevailing at his court. But he received the sacred *tabarrukat* sent by *khadims* with all respect and devotion, and in AD 1714, grants the village of Geegul and Beonja (in *haveli* Ajmer), which had an annual revenue of Rs.949, to all the *khuddam*.[34] In Muhammad Shah reign, AD 1721 (1st April), Azim Khan, *jagirdar* of Ajmer, gives 700 rupees as an offering to the shrine of his *vakil*, Saiyid Sharifullah, son of Habibullah.[35] And in AD 1725, 28,000 dam *per annum*, the revenue from the village of Banuri in the environs of Ajmer are granted to the *khanqah* run by Muhammad Saleh, *khadim* of the *dargah* of Muin al din.[36] Again in AD 1727 (24th May) He sends Rs 3000 to him for the shrine.[37]

The Nawab of Loharu grants Rs. 450 annually (1815-16) to his *vakils*, Saiyid Sadar 'Ali' and Saiyid Bayatullah.[38] Shah Muhammad Khwaja Baksh Ahmadi grants 5 *biga* of land (AD 1815) from his holding in the Saharanpur district to his *vakil*, Miyan Qalandar Baksh. He mentions that the ancestors of Shaykh Qalander Baksh have been the *vakils* of his family for many a generations.[39] The Nawab of Bahawalpur, Muhammad Khan Abhasi, gives one maun of Seasum oil to his wakil, Saiyid Kamar 'Ali Shah'.[40] The Maharajas of Udaipur were also clearly involved in the *Dargah* as is witnessed in a letter of AD 1868-9 which summons the Maharaja *vakil* to see him in his palace in Udaipur as soon as possible. Details of his offerings to the shrine and his *vakil* could not however be found.[41]

After analyzing the documents, we can say that the *khuddams* had played a very significant role in *dargah*[42] and enjoyed the *madad-i maash* grants in the form of cash, land and grain or in any form of kind[43], as it clearly evident from the documents, that the *khuddams* were the recipients of *madad-i- maash* grants time to time from different rulers, such as The Mughals, Nawabs, Nizams, Rajput, Maratha Chieftains, even the Colonial rulers. We noticed that, after the death of *khadim*, the *madad-i maash* grant were transfer to his widow and children's.

In present scenario we see that every person associated with *dargah* claims to be the *khadim*, which is not the proper tradition of becoming *khadim*. Because as H.G. Lammens says, whenever a person

became disciple (*murid*) of Shaikh (Ali Hujveri), he had to serve the people of his *khanqah* (hospices) at least for three years, with such devotion and dedication that he is a *khadim* and the rest are *makhdoom* (masters). Khawaja Hussain Nagori has alluded *khadims* are equivalent to Rizwan (the door keeper of heaven), and this shows how great saints of the time held the *khadims* in high esteem, and appreciated their role.[44]

"Knowledge is comprised upto an unfathomable ocean and enlightenment is like a wave in it, then what is the relation of God and man? While the ocean of knowledge is sustained by God lone, the enlightment pertains to man."[45]

-Khwaja Garib Nawaz (Muin ud-din Chishti)

References:

1. *Khuddams are also known as moallims, mujavirs, sidana, mutavassilin, gaddi-nashins, sahibzadgan etc, who played a vital role and worked tirelessly to guide and impress (rushd-o-hidayat) upon the pilgrims (zairin), the true spirit of Chishti Silsilah, with the motto, "service to His creatures is the true taat (obedience) of the creator". Certainly it was due to the extra-ordinary grass root work of these hereditary khadims, who carried the mission of Khwaja Sahib at his Shrine, vigorously, against all odds, that they are still attached to the dargah and are held in high esteem by pilgrims, duly respected and offered nazars. See, Syed Liyaqat Hussain Moini, The Dargah of Khwaja "Gharib Nawaz" of Ajmer, Jodhpur-Ahmedabad, 2015, p.129.,*
2. *Laxmi Dhaul, The Sufi Shrine of Ajmer, Rupa & Co., 2004.*
3. *The Annual Urs is a time of celebration and joy. Devotees from all over the world converge at the Dargah Sharif to pay their respects. There are those that believe that whatever they ask during the Urs will be granted. The Urs celebration starts on the evening of the 25th Jamadi-utb-thani, the sixth month of the Islamic calendar. Four or five days before the start of the Urs, the flag hoisting ceremony 'nishan jhanda' is held over the main gate or Buland Darwaza. During the Urs, the audition gatherings mehfil-e-sama are continuously held on all six days in the Mehfilkhana, in the rooms (hujrahs) and the gaddis (sitting places of Khadims) within the dargah, in the houses of khadims and at other centers in the city. Spiritual and devotional songs create an atmosphere of love and respect towards Khwaja Sahib. Ibid, pp.86-90.*
4. *In late 15th century, Shaikh Jamali arrived at dargah in company of his pirzadah Shaikh Nasiruddin, (son of Shaikh Samauddin Kamboh) and observed that number of Hindus regularly pay homage at the shrine of the great Chishti saint, and as mark of respect offer all nazar to the*

mujaviran.

5. *Like The Nawab of Loharu grants Rs. 450 annually (1815-16) to his vakils, Saiyid Sadar 'Ali' and Saiyid Bayatullah and Nawab of Bahawalpur, Muhammad Khan Abhasi, gives one maun of Seasum oil to his wakil, Saiyid Kamar 'Ali Shah' for details see Ajmer documents, pp-331, 335.*
6. *Abhay Singh, son of Raja Ajit Singh of Marwar (jodhpur) had confirmed a grant of 125 bighas of land of Thanwa village in Bawal pargana (suba Ajmer). And also the Rathor rulers of Krishangarh (near Ajmer) had granted 129 bighas of land in Narwar village to Syed Inayatullah, one of the khadims. We also noticed that Raja Sawai Jai Singh gave two mohars and 500 as nazr, when he visited the dargah in AD. 1723. See, 'The Hindus and the dargah of Ajmer', AD.1658-1737: An Overview by S.Liyaqat H. Moini, p. 159, Art and Culture (edited by Ahsan Jan Qaisar & Som Prakash Verma), Jaipur, 1993.*
7. *Ibid, pp.155-56, The Wakalatnama is a sort of pledge or 'binding' deed by which a devotee attached and bound himself, his family members, relatives, clansmen (and in case of a pir, his followers, too) to a particular khadim (or rarely more than one khadim) by accepting him as his/their vakil at the dargah to help and guide them in the performance of Ziarat (religious visit), circumambulation, rituals, recitation of faith (to offer prayers for the dead), etc. we also know that the Wakalatnamas were generally written or signed during the pilgrims visit, but in the case of the nobles, Chieftains and high officials these were sent through trusted officials such as diwan, etc. of the noble or the raja.*
8. *Ibid, The Wakalatnama of Fath Singh, the son of Inder Singh (a cousin of Maharaja Ajit Singh of Jodhpur), dated 30 Ramzan, 38 regnal year of Aurangzeb is one of the very few documents written in both Persian and Rajasthani. It seems one of the rarest Wakalatnama in which two khadims have accepted as vakils at one and the same time. See, Plate-A.*
9. *Ibid, p. 157, Among the well-known Hindu rajas, the Wakalatnama of Raja Sahu, the grandson of Shivaji (30 rabi-ul awwal, 50th regnal year of Aurangzeb, 2nd July 1706), it is the only Wakalatnama in which the highest amount of Rs. 1000 was promised as nazr to be sent yearly to Syed Murad in lieu of the performance of his duties as vakil. See Plate B.*
10. *When we see the origins of the khadim community, in 1976-7, approximately 1400, including Women and Children. Their exact provenance is the subject of dispute. Some khuddam claim that they are descended from Muin- al -din himself, but this appears to be a*

deliberate misrepresentation to increase their prestige, and command greater respect and more generous offerings. Others make less demanding claims, that they are descended from the immediate entourage of the saint. The improbability of this applying to the entire khadim population is emphasized by the claim that some are descended from Muhammad Yadgar, who, according to the 'Siyar al Arifin' lived in Transoxiana, and there is no record of any of his descendants migrating to Ajmer either during Muin al din's life time or later. Their ancestors have worked as servants of the shrine since Muin- al- din's lifetime. While some outsiders may have infiltrated their ranks there is no reliable evidence of this. The commercial motive would have complemented the possibility of social advancement. The attraction of the position is demonstrated by the fact that almost no khuddam left Ajmer for Pakistan at the time of Partition. See, P. M. Currie, The Shrine and Cult of Muin-al-Din Chishti, 1989.

11. *Syed Liyaqat Hussain Moini, The Dargah of Khwaja Gharib-Un-Nawaz of Ajmer, pp.133-34.*
12. *Ibid.*
13. *Irfan Habib, The Agrarian System of the Mughal Empire, p.307.*
14. *Abul Fazl, Ain-I Akbari, vol. I, p.268.*
15. *Irfan Habib, The Agrarian System of the Mughal Empire, p.309.*
16. *Ajmer Documents, pp.5-6.*
17. *Ibid, p.19.*
18. *Ibid, p.40.*
19. *Ibid, pp.146-7.*
20. *Ibid, p.42.*
21. *Ibid, pp.229-30.*
22. *Ibid, pp.240-1.*
23. *Ajmer Documents, pp.211-14.*
24. *An inquiry report of 1949 records that khuddam who needed more client pilgrims would wait at the railway station, and when devotees arrived, they would be auctioned to the khadim prepared to make the highest bid. he khuddam also solicit devotees through the post. Cards are sent out advertising their services and to remind devotees to make their offerings. During the 'Urs' the Ajmer post office is inundated with money orders addressed to khuddam as offerings to the shrine. In 1949 one khadim was reported to spend somewhere between Rs.5, 000 and 10,000 per annum on postage alone.*
25. *Laxmi Dhaul, The Sufi Shrine of Ajmer, pp.86-90.*
26. *Syed Liyaqat Hussain Moini, The Dargah of Khwaja Gharib-Un-Nawaz of Ajmer, p.146.*
27. *Ibid.*

28. *Syed Jafar, the father of Syed Murad, was well known khadim of his times and was held in high esteem by the ruling elite, and his son Syed Murad who lived between AD. 1638-1737 belonged to the famous Syedzadgan khadim (khuddam) community of Ajmer who have been attached to the shrine of Khwaja Sahib since its inception, in spite of fluctuating fortunes of Ajmer. Sheikh Chandan, the great grandfather of Syed Murad, appears to be a man of influence as he held 140 bighas of land in madad-I maash during the period of Akbar.*
Syed Murad also held the office of the deputy swanih nigar of Ajmer for some times during the reign of Muhammad Shah and also held a rank of 700 zat and 500 sawar, and acted as diwan of Ajmer in 1696. We noticed here that the khuddam of the shrine had started accepting government jobs from the closing years of the 17th century. But, by and large, they worked in the dargah administration as teachers in the madarsa of the shrine and they also accepted post of the muhtasib, amin, jiziya and deputy mutawalli etc. we also noticed that Syed Murad was able to procure vikalatnamas of the well-known Mughal grandees, Non-Muslims and Muslims alike, and even the Mughal Princes, thereby establishing his links with the ruiling elite by becoming their vakil at the shrine. He was a very influential person and was respected by every section of the society. He died during the reign of Muhammad Shah, AD 1737, as can be gathered from a condolence letter from Maharaja Abhay Singh of Jodhpur to his son Syed Masud. See, 'The Hindus and the dargah of Ajmer', AD.1658-1737: An Overview by S.Liyaqat H. Moini, p. 155, Art and Culture (edited by Ahsan Jan Qaisar & Som Prakash Verma), Jaipur, 1993.
29. *Abdul Bari Mani, Asanid-us-Sanadid, Ajmer, 1952.*
30. *Bahadur Shah was the last Mughal ruler, who made a pilgrimage to the Ajmer Shrine, twice in 1708 and 1710. He offered 1000 ashrafis and Rs. 11,000-as nazar to the khuddam, who too, presented him two swords, while turbans (dastars) and a praying carpet (janamaz). during his second visit the Emperor ordered the dismissal of Fakhruddin Ali Khan from the post of Sajjadgi (mansab-i-sajjadgi) and diwan, due to the later's unruly behavior and misconduct in the presence of the king and that, too, within the dargah premises. Infect, he was found unfit for holding a post at this holy place.*
31. *Ibid, p.261.*
32. *Ibid, p.267.*
33. *Muhammad Shafi Warid, Mirat-ul-Waridat, Aligarh, pp.21-22.*
34. *Ibid. p. 279.*
35. *Ajmer Documents, p.297.*
36. *Ibid. p.291.*

37. *Ibid, p.300.*
38. *Ibid, p.331.*
39. *Ibid, p.333.*
40. *Ibid, p.335.*
41. *Ibid.*
42. *Every Thursday night, a special mehfil (gathering), is arranged in the eastern courtyard. Small cushions, gadela are placed for the Diwan and for the Khadims, while for the general public a sheet of cloth is spread out. On the sixty day of every lunar month, the khadims also arrange a function called Chatti Sharif which takes place in the morning in front of the same Courtyard. The recitation of the Quran-khwani, the entire Quran by a large number of people takes place and then one of the khadims starts reciting the Shajara-i-Chistiyya (spiritual lineage of the Chishti order) as well as other verses composed by Khwaja Sahib's ancestors.*
43. *Apart from land grant, hundi and cash, we noticed that documents reveal that nazr o niyaz was often in the form of kind, even including animals. Like goats (bakri), horses and elephants. We also get references to cloth (parcha, mashru, kamkhwab) to be used as the ghilaf (covering sheet) of the tomb. See. Plate-C. And details See, 'The Hindus and the dargah of Ajmer', AD.1658-1737: An Overview by S. Liyaqat H. Moini, p. 155, Art and Culture (edited by Ahsan Jan Qaisar & Som Prakash Verma), Jaipur, 1993.*
44. *ibid. p.135.*
45. *Laxmi Dhaul, op. cit. Co., 2004.*

Development of Mughal Architecture at Ajmer : An Archaeological Satudy of the Mosques of Dargaha Complex

Prof. M. K. Pundhir

Ajmer is situated between 26º27" north of latitude and 74º37" east of longitude[1] in the centre of present province of Rajasthan. Geographically it can be located in the valley of Aravalli mountain Ranges. The antiquity of Ajmer can be traced from the period of Mesolithic period as microliths of Mesolithic age have already discovered at Khera in Ajmer[2]. The significance of Ajmer as town was never lessened due to its strategic location. Historically Ajmer especially during medieval period became very important as its occupation was considered almost essential to conquer Rajputana and Gujarat. These two regions were very crucial from the point of view of trade and commerce especially central Asia. The nomenclature of the town of Ajmer was on the name of Chauhan king Ajaipal who was credited with the erection of one of the earliest fortresses at Taragarh situated on the summit of the Ajaimeru hills[3]. Ajmer was remained the hub of Chauhan empire till the Turkish conquest in 1192 A.D. Rajput rulers had embellished Ajmer with a large number of structures of varied nature such as forts, palaces, dams, stepwells, temples, etc. with the establishment of Delhi Sultanate Ajmer was permanently annexed to it. It enhanced the strategic importance of Ajmer politically and commercially. Under the Sultans, Ajmer was developed as a centre symbolizing the synthesis of various diversified cultures. During early Mughal period for a brief interval Ajmer was conquered by Marwar Ruler Maldeo and became the part of Marwar state[4]. Very soon it was occupied by the sultans of Malwa. Now Ajmer faced a very turbulent time. Finally Ajmer was conquered and annexed by Mughal Ruler Akbar and it became a part of newly laid Mughal Empire in 1558 A.D.[5]. Thereafter Ajmer remained an integral part of his empire. By that time Ajmer had already developed as a centre of pilgrimage for all communities. Its status as a religious centre got boosted up with its absorption in the Mughal Empire. At that time Ajmer commanded the main trading routes connecting the North India with Central Asia and Coasts in Arbian Sea. Moreover Ajmer was the key to the conquest of Rajputana and Gujarat. Akbar realized this strategic significance of Ajmer. Accordingly, Ajmer was upgraded as the headquarters by Akbar for his operations in that region and reconstituted it into a subah[6]. Ajmer remained with same status under Mughal Rulers Jahangir and Shah Jahan who continued royal durbars here. Ajmer witnessed the occurrence of various important happenings. It was at Ajmer that Sir Thomas Roe presented his credentials to Jahangir[7]. Besides, Dara Shikoh was born here and war of succession was won by Aurangzeb in the battle of Dorai near Ajmer in1659[8]. During the break-up of the Mughal empire, the Marathas ruled supreme here. The British finally annexed Ajmer in 1818[9] after concluding a treaty with Daulat Rao Scindia, the Maratha chief.

With the annexation of Ajmer in Mughal Empire, Akbar started the construction of a number of buildings at Ajmer which represent the early phase of development of Mughal architecture and building technology. These building provide the best examples to delineate the influence of pre Mughal indo Islamic architecture and local architecture styles on the Mughal architecture. The buildings constructed in early phase mainly consist of Akbar's Fort, Akbari masjid in the complex of dargaha, palace near dargaha, Buland Darwaza at Taragarh Fort, etc. Later Mughal Rulers such as Jahangir and Shahjahan too built a number of buildings at Ajmer such as main tomb building and Shahjahani masjid in the complex of Dargaha, Daulat Khana and Chhatries on the Embankment of Ana sagar, etc. These building represent the later development took place in the arena of Mughal architecture and building technology during 17th century under Jahangir and Shahjahan when Mughal style touched the zenith.

Presently an attempt has been made to study the two mosques built in the complex of Dargaha; one built by Akbar and other by Shahjahan to study the development of Mughal Mosque architecture and the technology employed in it over a period of hundred years.

To complete our project entitled "Archaeological Survey of Pre-modern Monuments at Ajmer", a number of field trips to Ajmer have been undertaken with a purpose to survey and study the Medieval Monuments during 2004-2006[10]. In the course of these surveys, two mosques existing in the Dargaha complex besides other monuments have been thoroughly surveyed, investigated and studied with the help of archaeological tools.

Akbari masjid is situated in the north western corner of the complex[11] and to the northern side of the main mausoleum of Shaikh Moinuddin Chisti. The mosque structure is aligned on east west axis[12]. The name of the mosque has been drive from the Mughal Ruler Akbar as it was built by him in 1570 A.D.[13] The mosque is a massive structure built with brick masonry[14.] It followed a traditional plan of the mosque architecture in which centre is occupied by a courtyard that is surrounded by cloisters on eastern, northern and southern sides and a liwan i.e. prayer hall on the western side[15.] The main entrance has been provided in the centre of eastern wing which was conceived in the form of an entrance gatehouse[16]. The mosque is built on oblong plan measuring 47.80 by 43.80 metres[17]. The Qibla, central hall of western liwan and eastern gate house, all are built in the same alignment[18.]

The structure of the mosque is composed of western liwan or sanctuary running on north south axis with a courtyard in front of it[19]. The space of the sanctuary is organized into central nave and flanking lateral wings of aisles[20]. Side lateral wings of aisles consist of eight square bays connected with each other through archways[21.] These bays measure 3.30 each side[22]. The elevation of the nave i.e. central hall is just double the height of side lateral bays of aisles[23].

The central nave is oblong and enshrines a Qibla in the shape of a hexagon protruded outside in the western wall in the centre[24]. It formed the hexagonal apse. The western most side of the apse further accommodates an alcove again of hexagon plan[25]. It serves as the real qibla. The façade of the central nave has been built in the form of a high Pistaq i.e. a portal composing of high double arches fixed in one into another in a rectangular frame[26]. The lower arch provides the functional entrance[27]. The height of the portal is 17 metres. Arch of the Pistaq is a four centered pointed and its thickness covers the whole width of the portal[28]. Both the quoins of the pistaq have been occupied by octagonal miners which have crossed the elevation of pistaq in the form of turrets[29]. If the width of the Pistaq is deducted from the oblong area of the central nave, rest of the area of the nave forms an oblong aligning on east west axis measuring 8.8 by 9.1 metres[30]. The façade of the sanctuary is consisted of central Pistaq flanking by double arched openings of the side aisles[31]. The height of side openings is approximately half of that of Pistaq[32]. The height of the façade of the sanctuary was achieved in such a way that it is

sufficient to hide the domed roof of the nave and side aisles as well[33].

The bays of the side aisles were provided arched openings on all side except on western side[34]. The height of these arched openings is equal to that of the Qibla fixed in the hexagonal apse in the centre of western wall[35]. Arches used in the bays of side aisles are again four centered and the span below the arches is well proportioned to the height of the openings of the arches[36].

The protruded apse containing qibla has been given two storey orientations[37]. Lower storey accommodates mihrab in the centre while side sides have been provided doors which open outside in the backyard of Western wall[38]. The second storey contains a chamber with an arched opening inside the nave while flanking angular sides contain the blind arches of equal size to that of central arched opening[39]. The apse has been surmounted by a low rise dome based on high raised octagonal drum[40].

Central nave is surmounted by a single huge circular dome where aside aisles are roofed with multiple shallow domes[41.] They are eight in number, one each on the eight chambers existing in the side wings[42]. To bear the dome above, square chambers and the inner oblong portion of the nave were converted into circular by using pendentives in the phase of transition[43]. The pistaq, huge dome above the nave and a small dome surmounting apse of qibla are existed in the same alignment[44].

Northern, southern and eastern side cloisters are of single bay deep where eastern liwan contains a grand portal to provide entrance to the inner side[45]. Northern and southern cloisters are divided into seven aisles[46]. These aisles forms a square measuring 3.30 metres each side[47]. Each aisle is surmounted by a shallow dome i.e. cupola[48]. The technique of the phase of transition has been employed to convert the square aisles into circle for the purpose of roofing with cupolas which need circular base[49]. The stages of the phase of transition have been achieved in corbelling[50]. The entrances to these aisles are built in trabeated style with a width of 2.30 metres and the span of 2.90 metres[51]. Eastern wing is composed of a gatehouse in the centre and flanked by three square bays on both side[52]. These bays measure 3.30 metres each side[53]. These bays are provided a trabeated entrance with a width of 2.00 metres and span of 2.90 metres[54.] These bays are again surmounted with shallow dome or cupolas[55]. The gatehouse in the centre of the eastern wing facilitates the main entrance to the

mosque and its height is double of that of the side parts of wing having bays on both sides[56]. The elevation of the gatehouse is equal to the height of the pistaq of the façade of the western sanctuary[57].

Eastern side gatehouse or portal is projected outside towards eastern side and the both wings of the gateway are receded diagonally backward[58]. The projection is 2.35 metres[59]. The portal is consisted of central passage flanked by cloisters and then by rooms[60]. The cloisters are connected with rooms by doors given in the centre[61]. Central passage is enclosed on both sides i.e. eastern and western side by double arches fixed in the rectangular frame where one small arch is fixed in the bigger arch[62]. The smaller arches which are of half of the height of frame provide the functional passage[63]. Between these arches an arched window is also built closed with lattice[64]. The central passage is surmounted with a shallow dome[65]. Flanking sides of the central passage of double storeys accommodated in the same height of the passage[66]. Flanking rooms of the lower storey are embellished with projected windows on both i.e. eastern and western sides which flanked the central passage[67]. In the same orientation the rooms of the upper storey are provided alcoved opening in the form of door[68]. In other words both the facades of the gatehouse i.e. eastern (outer) and western (Inner) are composed of the central arched opening fixed in the oblong frame in the centre flanked by double storey of projected windows at below and alcoved opening in upper part.

Exterior and interior surface of the structure of the mosque was plastered with lime mixed surkhi mortar[69]. Whatever decoration is found, it was done on the lime plaster. In the mosque, the stages of the phase of transition were embellished with arch netting[70]. Pylon of the nave has rectangular panels which once contained the geometrical design but in the course of time it has been faded away. Architecturally, instead of using pillars, load walls and masonry piers were used[71].

Shahjahani Masji, Dargah Complex, Ajmer

Shahjahani masjid is located in the south west corner of the complex[72]. It was built with white marble by Shahjahan in 1638 A.D.[73]. It runs on north south axis[74]. The mosque is consisted of western liwan and in front, a platform with an enclosure[75]. The platform with enclosure covers the area of 47.56 by 16.25 metres[76]. Western liwan is two bays deep and is divided into the central nave and flanking five aisles on both sides[77]. Each bay is of square shape measuring 45.13 by 7.70 metres[78]. Each Bay is surmounted by Cupola or shallow domes.

At the end of north and south side of western liwan, there are two chambers corresponding to the two rows of bays[79]. The bays are built with the help of pillars and arches spanning from one pillar to another[80]. All the arches are four centred and in these arches cusps are conspicuously missing which is generally considered the hallmark of the Shahjahani architecture[81]. Moreover arches are not true as these were built in a single piece of white marble[82]. All bays are open on all sides except the bays existing on western, northern and south sides[83]. Western side bays are closed on western side while northern bays are closed on northern side and southern on southern side. Central nave is too two bays deep of equal size. Western bay of the central nave contains a qibla which was built in the form of hexagon, has been projected towards western side beyond the Western wall in the form of apse[84]. Western liwan can be approached through three staircases from lower platform as in the same way lower platform can be reached through three staircases from ground[85]. These staircases are in the same alignment to the staircases providing access to western liwan. The mosque structure is provided dropping eaves on eastern side which has been given support of brackets[86]. Eaves and brackets are again built in white marble. Floors of the prayer hall and the courtyard in front are paved with white marble.

References

1. *Dhoundiyal, B.N., Rajasthan District Gazetters- Ajmer, Ajmer, 1966, p. 701. Cf. Meena, B.R., Heritage of Rajasthan-Monuments and Archaeological Sites, New Delhi, 2009, p. 2*
2. *Rajasthan District Gazetters- Ajmer, p. 27*
3. *Sarda, H.B., Ajmer Historical and Descriptive, Jodhpur, Revised Edition, 2009, p. 29, Cf. Rajasthan District Gazetters- Ajmer, p. 701*
4. *Ibid. p. 32*
5. *Ibid. p. 33. CF. Rajasthan District Gazetters- Ajmer, p. 702*
6. *Ain i Akbari by Abul Fazl, Eng. Tr. By H. Blockmann and Jarrett, Calcuta, 1873, vol.-I, p. 386*
7. *Ibid. p. 34*
8. *Rajasthan District Gazetters- Ajmer, p. 702*
9. *Ibid. p. 36*
10. *We have undertaken four field trips to Ajmer to conduct the physical surveys to complete our project entitled "Archaeological Survey of Pre-modern Monuments at Ajmer", in collaboration of Dr.S.L.H. Moini which has been funded by centre of advanced study, department ofhistory, Aligarh Muslim University, Aligarh during the period from*

2004 to 2006. Dr. Moini is kind enough to allow me to use Survey data for writing this paper.

11. *See Mao of the Dargaha Complex.*
12. *See Figure- I*
13. *Sarda, Ajmer Historical and Descriptive, p. 105*
14. *See Plates-I to XIII*
15. *See Figure-I and Plates- I to XIII*
16. *See Figure-I and Plate-I.*
17. *See Figure-I.*
18. *See Figure-I.*
19. *See Figure-I and Plates-I & II.*
20. *See Figure-I.*
21. *See Figure-I.*
22. *See Figure-I.*
23. *See Plates-II & III.*
24. *See Figure-I and Plates-X & XI.*
25. *See Figure-I and Plates-X & XI.*
26. *See Plates-II, III, IV & V.*
27. *See Plates-II & III.*
28. *See Plate-II.*
29. *See Plates-II & III.*
30. *See Figure-I.*
31. *See Figure-I and Plate-II.*
32. *See Plates-II & III.*
33. *See Figure-I and Plates-IV & V.*
34. *See Figure-I.*
35. *See Plates-XI & XII.*
36. *See Figure-I and Plates-VIII & XII.*
37. *See Plates-X & XI.*
38. *See Plates-X & XI.*
39. *See Plates-IX, X & XI.*
40. *See Plate-V.*
41. *See Figure-I and Plates-III, V & XIII.*
42. *See Figure-I.*
43. *See Plates-VI. VIII & IX.*
44. *See Figure-I.*
45. *See Figure-I and Plates-I, II, III & XIII.*
46. *See Figure-I and Plate-XIII.*
47. *See Figure-I.*
48. *See Figure-I and Plate-XIII.*
49. *See Plate-XIII.*

50. *See Plate-XIII.*
51. *See Figure-I.*
52. *See Figure-I.*
53. *See Figure-I.*
54. *See Figure-I.*
55. *See Figure-I.*
56. *See Plate-I.*
57. *See Plate-I.*
58. *See Figure-I.*
59. *See Figure-I.*
60. *See Figure-I.*
61. *See Figure-I.*
62. *See Plate-I.*
63. *See Plate-I.*
64. *See Plate-I.*
65. *See Figure-I.*
66. *See Plate-I.*
67. *See Plate-I.*
68. *See Plate-I.*
69. *See Plates-I to XIII.*
70. *See Plates-VI, VIII, IX & XIII.*
71. *See Plates-I to XIII.*
72. *See the Map of the Dargaha Complex.*
73. *The date of the construction has been mentioned by Jahan Ara Begum; daughter of Shahjahan in the Munis-ul Arvah at an expenditure of two lakhs and forty thousand rupees. Sarda, Ajmer Historical and Descriptive, p.116-117.*
74. *See Figure-II.*
75. *See Figure-II.*
76. *See Figure-II.*
77. *See Figure-II and Plates-XIV & XV.*
78. *See Figure-II.*
79. *See Figure-II.*
80. *See Plates-XIV & XV.*
81. *See Plates-XIV & XV.*
82. *See Plates-XIV & XV.*
83. *See Figure-II.*
84. *See Figure-II.*
85. *See Figure-II and Plates-XIV & XV.*
86. *See Plates-XIV & XV.*

Map of the Dargaha Complex

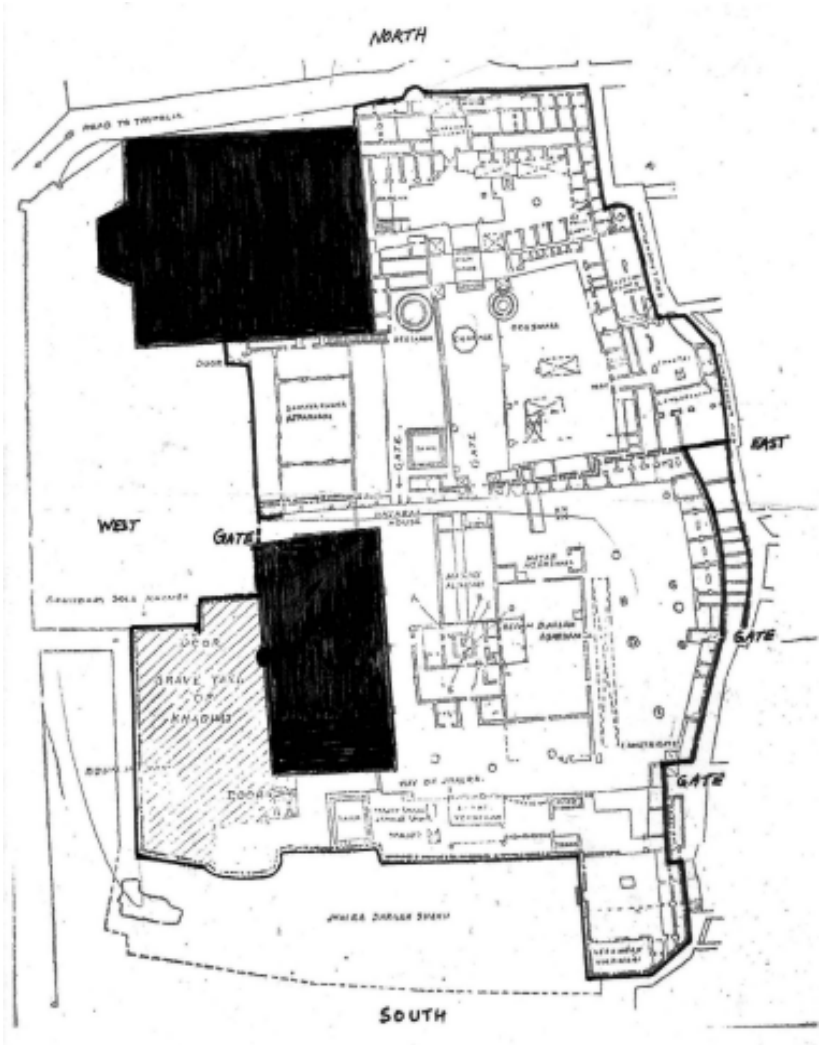
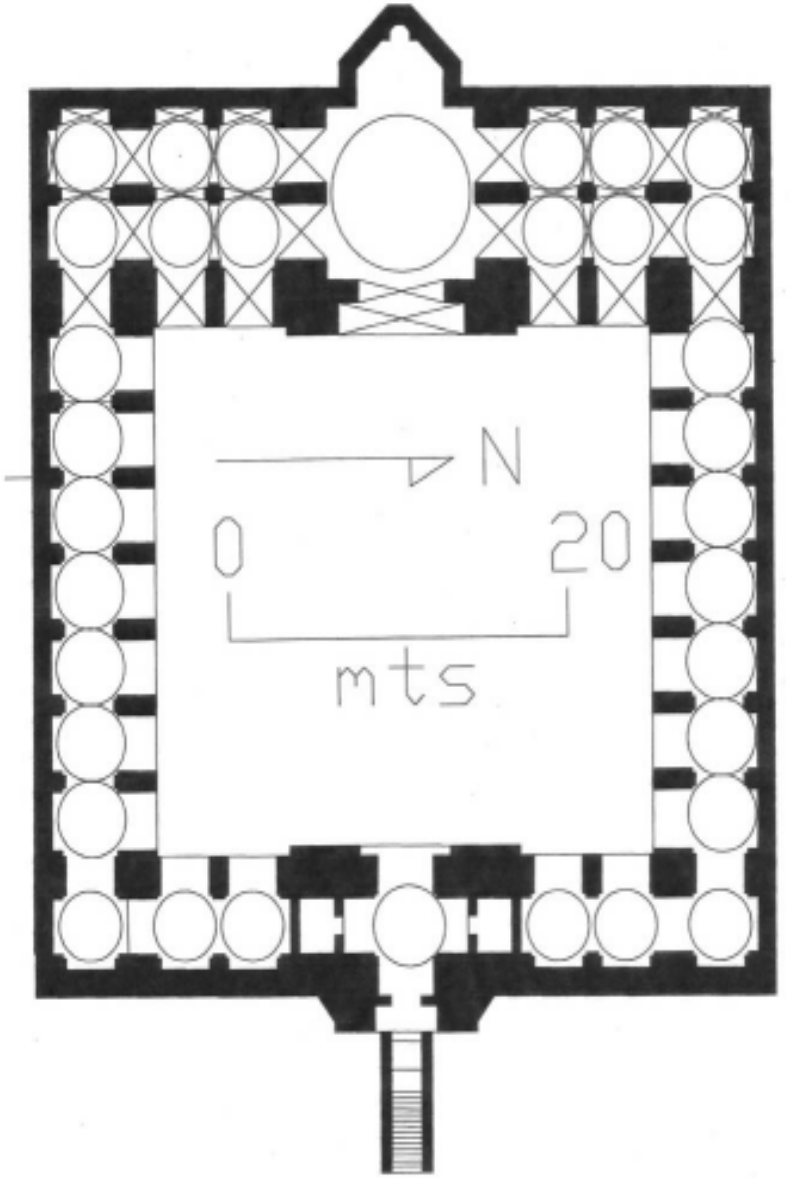
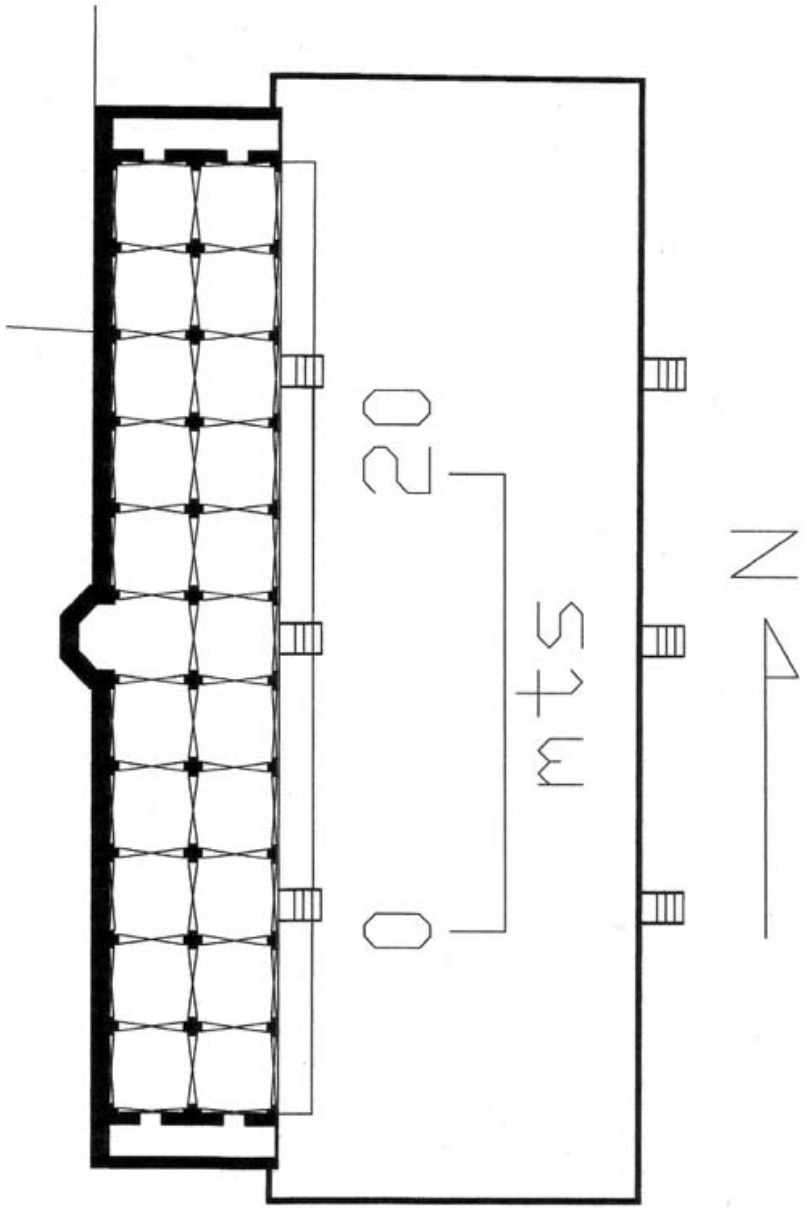


FIGURE- I



Ground plan of Akbari Mosque, Dargaha Complex, Ajmer

FIGURE- II



Ground Plan of Shahjahani Mosque, Dargaha Complex, Ajmer



Plate- I: An Inner View of Eastern Gateway, Akbari mosque



Plate- II: A View of facade of Western Liwan, Akbari Mosque



Plate- III: Another View of façade of Western Liwan, Akbari Mosque



Plate- IV: A Closer View of side portion of Pylon of Western Liwan, Akbari Mosque



Plate- V: A View of Pylon and Dome of Western Liwan, Akbari mosque



Plate-VI: A View of arch-netting, Side Aisles



Plate- VII: A View of Side Aisles



Plate- VIII: A View of Phase of Transition, of Western Liwan



Plate-IX: Another View of Phase Transition, Western Liwan



Plate- X: A View of Qibla, Western Liwan, Akbari mosque



Plate- XI: Another View of Qibla, Western Liwan, Akbari mosque



Plate-XII: A View of Bays of Side Aisles, Western Liwan, Akbari mosque



Plate-XIII: A View of Phase of transition of Cloisters with Ceiling, Akbari mosque



Plate-XIV: A View of Shahjahani mosque



Plate-XV: Another view of Shahjahani mosque

Craftsmen and the State : A case study of Jaipur Kharkhana

Syed Shahid Ashraf

This paper attempts to analyze the relationship between the ruling classes and the craftsmen. The craftsmen are generally ignored by the modern historians, apart from being the very important part of every empire all the times. Behind the glory of every Empire there were always the craftsmen of different fields. These craftsmen gave their services in the form of their skills and productions, which was used by the state and state recieved fame by the other Empires, or in other words we can say that these craftsmen were the backbone of the Empire.

A commendable work in the field of arts and crafts is that of Eugenia Vanina who has very well described the organization of craftsmen, technology and labour division as well as the socio-economic conditions of the craftsmen of medieval India. According to Vanina, urban centres of medieval India, big as well as small, hosted all kinds of manufactures, such as textile industry, carpet-making, jewellery, production of dyes, oils, sugar, scents, soap, paper, ink, glass, weaponry tools, household utensils, all kinds of metal, wood, stone, and leather works, minting, construction and shipbuilding. Ahmadabad, Braoch, Baroda, Lahore, Multan, Dacca, Malda, Qasimbazar, Burhanpur, Narasapur, Masulipatnam, Kanchipuram were famous for their textiles; Bayana and Sarkhej for indigo; Agra, Delhi, Lahore, Sialkot, for weapons; Baroda, Patna, Bihar Sharif, Sialkot, Zafarabad for paper. There were innumerable towns and townships producing goods for the local market.[1] Under the organization she describes three types of craftsmen:-i) craftsmen who worked for the village community on the basis of a system like jajmani; ii) craftsmen who resided in the countryside but were not included into the jajmani network, like weaver's settlement in Bengal, Bihar or South India, and iii) urban crafts catering for the mass of urban population and for the elite.[2]

The Mughals and the Kachwahs were fond in arts and their interest can be seen through the establishment of the karkhanas (workshop) and the products produced by these karkhanas. The karkhanas generally required to cater to the ruler's demand for its household and army in the form of articles of luxury goods and war auxiliaries. According to K.M Ashraf and TriptaVerma the system of royal kharkhanaswas probably borrowed from Persia, although it is possible that state owned workshops were an ancient institution in India.[3] And the similar patterns was used by the Jaipur for establishing these karkhanas but it is also very interesting fact that the Jaipur karkhanas went far away from the Mughal karkhanas and earned more reputation than the imperial karkhanas of Agra and Delhi.

According to Sumbul Halim Khan some of the great works done by Jaipur karkhanas, where the Imperial karkhanas of the Mughal were unable to compete them for intance (1) The Rangkhana, which was one of the very important Karkhana of Jaipur, is not found in the list of karkhanas of the Mughals. Ain-i-Akbari is silent about the interesting details provided for colouring of textiles and the clothing prepared in Rangkhana. This clearly shows that only Rangkhana of Jaipur was able to produce such nice colouring works and Raja Jaisingh Sawai is credited for promoting this art of colouring and this took the Sangneri printings upto a distinct identity.[4] (2) The Shuturkhana of Jaipur was far better than the Mughal counterpart because camels for accompanying the hunting expeditions of the emperor were required and thus, often sourced from here. The camel corps accompanied imperial administrative assignments and the similar military contingents were maintained at Ujjain, Shahjahanabad, and Akbarabad. Camel swivels are traced for a specific period under the Mughals, when both Shuturnal (camel swivel) and Zamburak (Camel barrel) remained popular in Jaipur. This clearly hints at the possibility that they were either inducted from Jaipur karkhanas or at least were inspired from the development of the Mughal karkhanas.[5] (3) The other very important speciality of Jaipur karkhanas is the military maps prepared in Suratkhana (atelier) and then kept in Pothikhana (library workshop). These military maps specified the weight of gunpowder, location of cannons, artillery, checkposts, placement of armed men, details of the military contingent of the enemy and even of the Mughals. even the distance of checkposts, forts, treasury, routes via forests, and river. such type of military maps were used in the imperial expeditions of Kabul, Assam, Deccan, Sinsini, and among others.[6] The Jaipur Karkhana was also famous for its Minakari techniques. The master artisans from Persia were brought to Jaipur and settled there to provide

training in this art. The art of Minakari was used in the Silehkhana (arms workshop) for the purpose of beautifying and ornamentation of the arms such as swords and daggers, which were then presented as peshkash (the tribute of a subordinate to his superior) to the Emperor. The nazr (gift) and peshkash received by the Raja were also stored in karkhanas so that they could by properly maintained.[7]

Nandita Prasad Sahai has done remarkable research in which she has argued that the artisans of Jodhpur were provided land grants as religious charities so that they could have their preferred shrines in their localities. The artisans who acquired exceptional proficiency in their trade were often recruited by the state to work in the state workshops (karkhanas) and meet the demands of the royalty. The artisans provided their services in both the forms, on contract basis and on wage employment. Those artisans who received allowances or grants could renew them. For instance, one Mochi Muhammad used to receive grains and allowances from the government and after his death the allowances ceased. But when his son Kamal petitioned to the government to resume the allowances, then an order was passed to provide the allowances to Kamal which was earlier provided to his father. Apart from this the artisans were also provided reward for outstanding workmanship with inam in the form of cash, land, or an honour like the presentation of turban (pag) from the rulers. It appears from her work that artisans were important for the ruling classes and the state.[8]

Different social groups lived in different areas designated for them or developed by them. Nandita Prasad Sahai describes that the artisanal settlements in muhallas were facilitated by the state, and the rulers were sensitive to the needs of caste members to reside in their own quarters.[9] When the houses of many blacksmiths of Luharpura in Nagaur collapsed due to the Maratha raids, the state was keen to ensure that they did not abandon the city. The state therefore ordered for the blacksmiths to be given substitute houses on the state controlled lands in the city. The state took care to ensure that they settled in the same muhalla since they preferred to live close to their caste members. The same settlement pattern was argued by Eugenia Vanina, that urban castes, which resided in muhallas were a very convenient network for revenue collection and organizing all kinds of work required bythe state. Mughal state, often, in its everyday function engaged with subject population based on their caste affiliation and as collectives or groups. Rarely, the points of engagement between the state and subject were

based on individual identities. The strict membership rules and rigid regulations of caste organization, in turn, helped the rulers to keep craftsmen and traders under control.[10]

It is clearly evident that the Empire always shows their keen interest to patronize the craftsmen class and look after them. As these craftsmen enhanced the prestige of the Empire and helped the Empire to be strengthened by producing the Arms of good qualities. Which ultimately helps in the warfare and expeditions. The craftsmen themselves made their own future and respects by their tremendous works. So, it is very obvious that these craftsmen played their important role in state formation.

References

1. *Eugenia Vanina., Crafts and Craftsmen in Medieval India: Thirteenth-Eighteenth Centuries, MunshiramManoharlal, New Delhi, 2004, p. 6.*
2. *The Jajmani system is an exchange of goods and services between landowning higher castes and landless service castes. The service castes were the artisans and craftsmen and the landed higher castes were the patrons.*
3. *Kunwar Muhammad Ashraf, Life and Conditions of the People of Hindustan1200-1550, Gyan Publishing House, New Delhi, 1970, pp. 140-41; TriptaVerma, Karkhanas under the Mughals from Akbar to Aurangzeb: A study in Economic Development, Pragati Publications, Delhi, 1994, p. X.*
4. *Sumbul Halim Khan, Art and Craft workshops under the Mughals: A study of Jaipur Karkhana, Primus Book, New Delhi, 2015, p. 8.*
5. *Ibid, p. 8.*
6. *Ibid,p. 8.*
7. *Ibid, p. 8*
8. *Nandita Prasad Sahai, 'Crafts and Statecraft in Eighteenth Century Jodhpur', Modern Asian Studies, vol. 41, No. 4, (July 2007), pp. 683-722, p. 717.*
9. *Sahai, 'Crafts and Statecraft in Eighteenth Century Jodhpur', p. 714.*
10. *Eugenia Vanina, Urban Crafts and Craftsmen in Medieval India, p. 126*

Marwaris' Migration and Their Trading Activities in Bengal During 16th to 18th Centuries

Abdul Motleb Shaikh

Technically, the denizen of Marwar was termed as Marwaris, but usually, it is a common practice to the inhabitants hailing from the State of Rajasthan and its neighbouring places, as Marwaris. It is quite interesting to study the migration of the Marwaris from Rajputana to other areas of the country, particularly in Bengal. Before this work, many scholars attempted to highlight the migrations and settlement of trading communities or Marwaris from one place to another inside the boundary of the Rajputana state, i.e. Oswals migrated from Riyan to Idar, Oswal (Dugad gotrs) from Patad to Merta[1]. These well-known studies only focus the Marwaris migrations within the states. Here I made an attempt the Marwaris migration outside Rajasthan especially to Bengal. This paper focuses on the Marwari communities migrations in Bengal and their trading activities from big cities and small towns like Dacca, Murshidabad, Cooch Behar, Siliguri, Barishal, Rangpur etc., I also present an idea about who the Marwaris were, and how they became the most successful trading class in Bengal. Secondly, I look at the history of a business town in Bengal, focusing on the relationship between rulers and merchants.

Thomas A. Timberg mentions since noteworthy groups of merchants and industrialists come from the Shekhawati region of the neighbouring region of Jaipur and Bikaner and other areas of Rajasthani there has been a tendency to join all these Rajasthani migrants under the rubric of Marwar. In colloquial usage, outside of Rajasthan, Marwari is used to refer to migrant businessmen from the neighbourhood of Rajasthan.[2] A recent research on the Marwaris, D.K. Taknet, identifies the Marwaris in the following way, the word 'Rajputana' symbolises the national fervour and Marwar is confined to the geographical and cultural aspects of Rajasthan. In fact, there are three factors- language, geography, and the exclusive social caste phenomena- constitute the Marwaris who use dialects spoken all over Rajasthan except for Bharatpur, Dholpur and Karauli regions. Some people living in Rajasthan, Haryana, Punjab and a few parts of Madhya Pradesh have their origin in Marwar and have similar lifestyles and traditions.[3] According to All India Marwari Yuva Manch, "all persons having adopted the lifestyle, language or culture of Rajasthan, Haryana, or nearby regions and who themselves or whose ancestors living whether in India or any part of the world, would be identified as the 'Marwaris."[4] The Marwari community initially was of Jain faith and they opted for trade and commerce, the only possible occupation, open to them.[5]

The first stage of the emergence of Marwaris was their migration in and outside Rajputana, broadly speaking, between Rajputana and the rest of India especially to Bengal, in search of opportunity for industry, trade, and commerce.[6] Timberg also writes, Thousands of merchants from the north-western states of Rajasthan (Bikaner, Jaipur, Jaisalmir, and Jodhpur) moved east and south.[7]

The geophysical background of the Rajputana region was a potent cause of this sort of migration. The soil of the Rajputana region, by nature, was barren, sandy and stoney, its weather was bad with scanty rainfall and with occasional outbreaks of natural calamities like famine, plagues, etc. So this region was devoid of sufficient, even adequate, natural resources and thus nature itself was a great bar to human livelihood, a stumbling block to job opportunities and a great hindrance to commercial agriculture, trade, and industry. Chattopadhyaya viewed that, "The barrenness of the soil of Rajputana forced them out of their province in search of economic availed themselves of the opportunities and turned out, in course of time to be big industrialists, business magnates and financiers-the Rothschilds, the Nattukottai Chettiers, the Zaibatsu capitalists of Bengal, so to say."[8] There were certain compulsions which had made the people of Rajasthan leave their native land and search out better and alternative means of livelihood, the compulsions being the predatory hordes of Mairs, bad or oppressive laws of the princely regimes of Rajasthan, heavy taxation, uncongenial social surroundings, poor facilities for education, lack of other amenities and infrastructure, and so on.

These are the forces and factors behind Marwari migration anywhere in India but as the present study mainly to focus on the Bengal syndrome, it is relevant to pinpoint the specific forces and factors which caused the Marwari migration to this region. Bengal from ancient times had been a purely agricultural region and the development of her economy was mostly agriculture-based.[9] As most of the people of this province earned their subsistence from agriculture,

they took to agriculture rather than commerce as their profession. WW Hunter viewed, "There seems to be no tendency on the part of the people to gather into towns, or into seats of industry or commerce. The population is a purely agricultural one, and….. that forty-nine out of every fifty persons live more or less by cultivation."[10] The same view, Hunter expresses and says, "The population of the district is entirely rural ……and live solely by agriculture.''[11] The same picture could be found in the district of Cooch Behar too.[12] Naturally, no business community could emerge from among the native inhabitants of this region. So this rare situation was a positive inducement behind Marwari migration to the region under study.

Competition among the commercial communities also exist in Bengal it could early see this kind of phenomenon i.e., there were Bengalees, Europeans, Punjabis, Kashmiris, i.e. Subarna Baniks, Gandha Baniks, Vaishya Sahas along with the Marwaris.[13] But in north-eastern India and more specifically in North Bengal, there had always been a commercial vacuum which the Marwaris filled in. That is why the Marwaris from the very beginning exerted a monopoly control over all kinds of trade and commerce in this region.

T.A. Timberg has quoted that "those narrow boundaries within which they contain their banking activities must be to a significant degree correlated with their monopoly position in the trade of Bengal."[14] Fortunately for them, the North Bengal region was a virgin soil of money-lending or banking or Mahajan business. In the Cooch Behar region, the native people or the state did not come forward to introduce systematic banking establishments in order to lend money to the people who were mostly agriculturists.[15] So the money-lending profession was a point of attraction of this region to any migrant community like the Marwaris', the forerunners of India's indigenous system of banking. In Bengal, the first phase of Marwari migration occurred in the sixteenth century.[16] Rajasthan has an affinity with Cooch Behar region of Bengal in another admiration. This affinity grew up through the establishment of a matrimonial relation between Rajasthan and Cooch Behar. In 1596 AD, Prabhabhat Devi, sister of Maharaja Lakshminarayan of Cooch Behar was given in marriage to Mansingh, king of Amber.[17] Also in 1940 AD, Gayatri Devi, the second sister of Maharaja Jagatdipendra Narayan of Cooch Behar was wedded to Mansingh of Jaipur according to Hindu rituals.[18] This feeling of affinity might have enhanced Marwari migration in this region. Some Marwari's entered Bengal for the first time in the disguise of Rajputs and Vaishyas

in 1564 AD.[19] The pace of migration became faster in the last decade of the sixteenth century when the Mughal rule in Bengal at the last took firm root under the governorship of Raja Mansingh at the time of Akbar.

It is believed that many Marwari traders left for Bengal to supply rations to the troops of Mansingh,[20] which reflects the collaboration between the Marwaris and Mughals in the conquest of Bengal. Where the Mughals provided the Marwaris with the essential political security for transacting business, the latter provided the Mughals with financial capital obtained through their networks of fellow members residing all over Bengal.[21] Nevertheless, the Marwari migration in the sixteenth century was intended mainly for military purposes, not for economic reasons. But with the coming of the seventeenth century, the situation began to shape otherwise and henceforth, Marwari migration might have been prompted by trading goals. Manrique also refers that the wealthy Khatris known today as Marwaris, because they came from Marwar in Rajasthan[22] and they were the prominent merchants, bankers, and moneylenders, who had accompanied their Mughal patrons to wealth and success.

The Mughal imperial officeholders of Bengal spent only the cash raised from their assigned *jâgîr*s, or territorially defined revenue units, to finance their military operations. In fact, though, officers often needed more money than could be derived from their revenue assignments, and in such cases turned to moneylenders. A worth mentioning example is of Mirza Nathan, in 1621 AD, whose *jâgîr* provided him with revenue sufficient to support around one thousand cavalrymen, obtained from the "merchant-princes [*mullak-i tujârân*] of Jahangirnagar" the substantial loan of Rs. 100,000 for the purpose of purchasing or hiring boats to transport troops and supplies in northern Bengal.[23] Somewhat earlier, and for a similar purpose, he had borrowed Rs. 30,000 from Marwari merchant in Gilah, a Mughal outpost in the Kuch country far to the north. This indicates that such banking houses followed Mughal arms even to the remotest frontiers of imperial expansion.[24] In sum, by the mid seventeenth century, as both foreign observers and contemporary revenue documents attest, the Mughals had established both power and credibility throughout the delta. They achieved this by means of a military machine that effectively combined gunpowder weaponry with mounted archers and naval forces, a determined diplomacy that rewarded loyalty while punishing perfidy, and the financial services of mobile and wealthy

Marwari bankers.[25] While during the eighteenth century the Seths or scions of the House of Jagat Seth hailing from Marwar served as bankers to the Nawabs of Bengal.[26]

The Mughal rule is witnessed the working of certain new forces which had completely transformed Bengali life and thought. During the first century of Mughal rule in 1575-1675 AD, the outer world came to Bengal and Bengal went out of herself to the outer world, and the economic, social and cultural changes that came out of this intercourse between Bengal and the outer world created something new in the Bengal scenario.[27] Apparently, the Mughal emperors did not deliberately introduce these forces, but the political change which accompanied their conquest and the administration they imposed on the conquered land made the triumph of the new forces possible and easy. The first of these forces was the growth of a vast sea-borne trade.[28] Saltpetre (an essential ingredient of gunpowder) had a great demand all over Europe.[29] It came from north Bihar (Lalganj) and was exported to Europe by the river route through Bengal. Many other items, added to the list of Bengali's export trade were silk-stuffs, indigo, fine cotton goods, coarse cotton textiles, etc.[30] East Bengal's connection with the Mughal rule also facilitated Bengal's trade. The trans-Brahmaputra region was, henceforth, closely connected westwards with the rest of Bengal and the whole of Upper India.[31] So in the seventeenth century, Bengal had become a lucrative trade centre which attracted outmigration of trading communities. The Marwari's readily responded to this opportunity. Indeed Bengal's new trading prospect coincided with the Marwari migration into Bengal. Thus the seventeenth century the pace of Marwari migration into Bengal picked up.

In 1652 AD, Hiranand Saho, a section of the Oswal sect of Nagaur in Marwar reached Patna in search of a career.[32] But initially, he struggled hard to make himself established. There is a myth that a dying old man in the midst of a jungle near Patna, was pleased with Hiranand's nursing and caring, and handed over to him a vast hidden treasure. With this vast wealth, he established a gaddi at Patna and started his banking business. After having prospered he also established seven gaddis for his seven sons in different progressing cities such as Delhi, Agra, Patna, Dacca and so on. His eldest son Manik Chand inherited the Decca gaddi.[33] Manik Chandra proceeded to Dacca when Azim-us-Shan was the Governor of Bengal and he was destined to become the first of the Seths of Murshidabad and to launch his family

into the same business which made its name famous throughout the length and breadth of Hindustan.[34]

Dacca was then capital of Mughal Bengal and the most important centre of river-borne trade in eastern India.[35] It had direct communications with all the branches of this inland navigation. The annual return of trade transactions in this inland port amounted to more than ten million rupees.[36] Dacca's muslins and woven stuff were world famous and they had a great demand in Europe. The English, the French, the Dutch, the Armenians, the Gujaratis, and other Indian and non- Indian merchants made Dacca a competitive trade mart and in this very competitive market, bankers with their timely supply of credit prospered day by day.[37] So Manik Chand's 'Kuthi' began to prosper. After Murshid Kuli Khan became the Dewan of Bengal in 1701 and then the Subedar in1703 AD, Manik Chand's fortune went a step further. A family tradition states that Manik Chand helped Murshid Kuli Khan to purchase his confirmation in office after the death of Aurangzeb. All the financial transactions of Murshid Kuli Khan were made through the banking house of Manik Chand.[38] Even the annual tribute to Delhi was remitted through the 'kuthi' of Manik Chand. When Murshid Kuli Khan transferred his headquarters from Dacca to Murshidabad Manik Chand accompanied him to the new centre. Here Murshid Kuli Khan established a mint in 1706 under the direct supervision of Manik Chand. Side by side, Manik Chand also opened banking business of his own at Murshidabad and established its branches at Calcutta, Hugli and so on.[39]

The Marathas invasions of Bengal under Bhaskar Pandit in 1742 onwards during the Nawab of Alivardi Khan provided a cause behind Marwari migration in Bengal. The Marathas divested the normal life of Bengal. As the invasion centered around the western part of Bengal, i.e., mostly Howrah, Midnapur, Hooghly, Burdwan, Katwa, Birbhum and lastly Murshidabad, this part of Bengal began to be less populated resulting in an increase of population in East and North Bengal.[40] This invasion affected every aspect of Bengal's economic life. Agriculture, trade and commerce, indigenous industries, flow of capital- all these suffered a serious-setback causing immense hardship to the general mass. Obviously, large numbers of the population had to migrate to neighbouring safer places which they found in East and North Bengal. Murshidabad was the capital of the Nawabs and the Marathas severely plundered Dahipara, a suburb of Murshidabad, burnt its bazaar and reached the capital city which also became a victim of wanton pillage.

They robbed away 3 lakhs of rupees by sacking the mint of Jagat Seth, the great banker of Murshidabad, alone.[41] Many Marwari families including the house of Jagat Seth lived in the capital city. The Maratha invasions had thrown the capital city in the midst of uncertainty and hopelessness, so that trade and commerce were on the wane. Consequently, the merchant communities of the capital city along with many Marwari families were bound to move to the safer region of North Bengal which seemed to them to be a region of much economic potentiality.

Marwari migration was further facilitated by the absence of medium-sized business sectors and tradesmen, especially in Darjeeling and the other two districts –Cooch Behar and Jalpaiguri. So the Marwaris not only gripped the wholesale business but also the retail business of the area. In some cases, they lent money to the hill people who were interested in opening up shops. Mention may be made the Marwari migration was not simply an option or compulsion for the Marwaris, rather it was an objective intention of the community under study for the extension of trade and business. This intention was supported by the local landed aristocrats and feudal lords who had a definite intention for the extraction of a share of the surplus created out of the effort of Marwaris in the expanded trade and business. It was perhaps because of this latent understanding that no communal violence took place within the given timescale of the study. Interestingly enough, although the Marwaris had settled in the area for a long period of time, most of the Marwari families still have their distinct relations with their place of origin. As a result, there has always been some transfer of funds from the area of migration to the place of origin of the community. All these factors and forces paved the way for Marwari migration to Bengal.

The Marwari as a community is sui generis. Coming from far away Rajasthan almost empty-handed they have settled in many places in India as very successful businessmen. Their hardy nature, parsimonious habit and business acumen have helped them succeed in their commercial ventures. Wherever they have gone, they have pursued their business goals with single-minded devotion and unwavering zeal. They are not known to take failures lying down, even if they fail which is rare, they make fresh efforts with assistance and co-operation from successful fellow Marwaris. As a matter of fact, their determination to succeed in business even by foul means, if necessary, is an inherent trait in the Marwari character. Almost all

Marwari migrants made humble beginnings as small traders or hawkers. While many of them concentrated solely on the business they started initially, expending them as and when opportunities presented themselves and the requisite capital could be found, a fairly large number ventured into diverse fields. And with the passage of time, the Marwaris were found in all kinds of business. Today the Marwaris are timber and tea merchants, grocers as well as sellers of cloth and wholesale traders in rice and pulses and also suppliers of building materials.

By dint of hard labour and with preservence and tendency, the Marwaris have risen from a modest beginning, sometimes even starting from scratch, to their present-day position of importance and pre-eminence in other words they went from rags to riches. Like the Jews of Europe succeeding in their commercial venture within an unbelievably short period, the Marwaris too coming from their far-off homeland with a lota (small water of spherical shape vessel made of brass or copper) and a kambal (blanket) have achieved spectacular success on the business front. The Marwaris are today unmistakably among the captains of trade and commerce in North Bengal.

References

1. *Hakim Singh Bhati's compiled work in the from of a book entitled,* Rajasthan Ke Aitihasik Durlabh Granthoh Ka Anushilan*, Rajasthani Granthagar, Jodhpur, 2016, pp. 214-215. Also see Jibraeil,* Oswals: Their Migrations and Settlement as Reflected in Archival Source *(Jain Vanshavali) –The Exploratory Works of Hakim Singh Bhati (Cyclostyle). Cf.* Jain Vanshavali*, available at Chauparani, Jodhpur, Rajasthan.*
2. *Thomas A, Timberg,* The Marwaris - from Traders to Industrialists*, Vikas Publishing House, New Delhi, 1979, p. 10.*
3. *D.K. Taknet,* Industrial Entrepreneurship of Shekhawati Marwaris*, Jaipur, 1986, p. 24.*
4. All India Marwari Yuva Manch*: A brief Introduction, p. 1.*
5. *Romila Thapar,* Ancient Indian Social History: Some Interpretations, *Oriental Longman, New Delhi, 1978, p. 44.*
6. *Haraprasad Chattopadhyaya,* Internal Migration in India- A Case Study of Bengal, *K.P. Bagchi & Co., Calcutta,1987, p. 336.*
7. *Thomas A. Timberg,* The Marwaris - from Traders to Industrialists*, op. cit. , p.84*
8. *Haraprasad Chattopadhyaya,* Internal Migration in India- A case study of Bengal, *op.cit., p. 336.*
9. *Shafaat Ahmad Khan, ed.,* John Marshall in India: Notes and

Observations in Bengal, 1668–1672*, Oxford University Press, London, 1927, p. 62; Also see, R. K. Mukerjee,* The Changing Face of Bengal: A Study of Riverine Economy,*: University of Calcutta, Calcutta, 1938, p. 137.*

10. *W. W. Hunter,* A Statistical Account of Bengal, *Vo. IX& X, Trubner, London , 1874 & 1876, p. 261.*
11. *Ibid., p. 87.*
12. *Narayan Chandra Saha,* Kuch-Beharer Marwari Samaj, *Madhuparni, a special issue on the District of Cooch-Behar, BS 1396, P. 147.*
13. *Tapan Raychaudhuri,* Bengal Under Akbar and Jahangir: An Introductory Study in Social History*, Munshiram Manoharlal, New Delhi, 1969, p. 96; Also see, Om Prakash,* The Dutch East India Company and the Economy of Bengal, 1630-1720*, Princeton University Press, Princeton, 1985, pp. 224-229.*
14. *Thomas A. Timberg,* The Marwaris - from Traders to Industrialists *op.cit. , p. 58.*
15. *Ananda Chandra Ghosh,* Lecture on the history of Cooch-Behar*, BS, 1272, P. 158; Also see, Asruman Dasgupta,* Krishak Samaj O Riner Dai*, Cooch-Behar Darpan, Ist edn., C.S.P., BS 1345, p. 15.*
16. *Chaudhury Amanatullah Ahmed Khan,* Cooch- Behar Itihas*, Cooch Behar, 1936, pp. 137-138.*
17. *Ibid.*
18. *Bhagabati Charan Bandopadhyaya,* Cooch- Beharer Itihas *ed. Dr. Nripendra Nath Paul, Calcutta, 1987, p. 177.*
19. *Balchand Modi,* Desh ke Itihas mein Marwari jati ka sthan*, Calcutta, 1939, p. 368.*
20. *D.K. Taknet,* Industrial Entrepreneurship of Shekhawati Marwaris*, Jaipur,1986, p. 54*
21. *Fray Sebastien Manrique,*. Travels of Fray Sebastien Manrique, 1629–1643*, translated by E. Luard and H. Hosten, Hakluyt Society, Oxford, 1927, pp. 1-45.*
22. *Abdul Karim,* Dacca, the Mughal Capital, *Asiatic Society of Pakistan, Dacca, 1964, p.70.*
23. *Dusan Zbavitel,* Bengali Folk-Ballads from Mymensingh and the Problem of Their Authenticity, *University of Calcutta, Calcutta, 1963, pp. 161–162.*
24. *Karim,* Social History of the Muslims in Bengal*, The Asiatic Society of Pakistan, Dacca, East Pakistan, 1959, p. 171; Cf. Viyaya Gupta,* Padma Purân?a, *University of Calcutta, Calcutta, 1962, p. 140*
25. *Richard M. Eaton,* The Rise of Islam and the Bengal Frontier, 1204-1760, *Berkeley University of California Press, Berkeley, 1993, p. 71.*
26. *Haraprasad Chattopadhyaya,* Internal Migration in India- A case study

of Bengal, *op .cit., p. 336.*

27. *Tapan Raychaudhuri,* Bengal Under Akbar and Jahangir: An Introductory Study in Social History*, Munshiram Manoharlal, New Delhi, 1969, pp. 49-51.*
28. *Simon Digboy, '*The Maritime Trade of India*,' Tapan Raychaudhury and Irfan Habib eds., CEHI, Vol. I, 2008, p. 127.*
29. *Om Prakash,* The Dutch East India Company and the Economy of Bengal, 1630–1720, *op.cit., p. 75; Also see, Sushil Chaudhury,* Trade and Commercial Organization in Bengal, 1650–1720, *Firma K.L. Mukhopadhyay, Calcutta, 1975, pp. 178–179.*
30. *Ibid.*
31. *J.N. Sarkar, J.N. Sarkar,* The History of Bengal, Muslim Period, (1200-1757), *University of Dacca, Dacca, 1948, pp. 216-228.*
32. *Nikhil Nath Roy,* Jagat Seth*, Calcutta, BS, 1389, P. 9.*
33. *Ibid. pp. 9-10.*
34. *Ibid, p.8*
35. *Abdul Karim,* Dacca, the Mughal Capital*, Asiatic Society of Pakistan, Dacca, 1964, 70. Also see; Manrique,* Travels*, pp.1- 45.*Census of India, 1901*, Vol. VI,* The Lower Provinces of Bengal and Their Feudatories, *Bengal Secretariat Press, Calcutta, 1902, p. 156*
36. *J.H. Little, 'House of Jagat Seth' with Introduction by Prof. N.K. Sinha, Historical Society, Calcutta ,1967, pp. vi-vii*
37. *Ralph Fitch, 'The Voyage of Master Ralph Fitch Merchant of London to Ormus, and so to Goa in the East India, to Cambaia, Ganges, Bengala,' in Samuel Purchas,* Hakluytus Posthumus, or Purchas his Pilgrimes *1625; Glasgow: James MacLehose and Sons, 1905. P. 184; Henry Yule and A. C. Burnell,* Hobson-Jobson: A Glossary of Colloquial Anglo-Indian Words and Phrases*, 2d ed., William Crooke Munshiram Manoharlal, New Delhi, 1968, p. 290.*
38. *Nikhil Nath Roy, Jagat Seth, op.cit. p. 15.*
39. *J.H. Little, 'House of Jagat Seth' op. cit., p. iii.*
40. *J.N. Sarkar,* The History of Bengal, Muslim Period, (1200-1757), *op. cit., Dacca, p. 455.*
41. *Ibid., p. 456.*

Friends or Foes : The Maratha-Rajput Relations

Dr. Kalpana Malik

The Marathas have been generally perceived in a negative light by contemporary sources.[1] The secondary sources too give a monolithic representation of the Marathas.[2] Through his *New History of the Marathas*, G.S. Sardesai became the first Maratha historian to attempt presenting a fresh and full treatment of Maratha history.[3] However, recent researches based on the Maratha sources have challenged both the contemporary and secondary portrayal of the Marathas. They have re-looked at the Marathas basing themselves on Marathi sources. Thus, Andre Wink[4] and Stewart Gordon[5] have portrayed the Marathas in a new light. Since the Rajput states were the main target of the Maratha attacks in the eighteenth century, it is important to study the relations of the Marathas with the Rajputs as recorded in the Rajasthani sources. Both, the Marathi as well as Rajasthani sources provide extensive and significant information relating to their relations.

On the basis of these sources one feels tempted to ask is it justified to perceive the Maratha-Rajput relations in water tight compartments. The question arises, should perception of the Marathas be restricted to their monolithic representation as deceitful, treacherous, narrow-minded, rapacious and notorious liars. Was it possible to check the Maratha advancement in the regions bordering Malwa? Who was to be blamed if not the Rajputs themselves for turning to the Marathas for the settlement of their inter-state and struggles for succession disputes. There is rich historiography on how both, Shinde and Holkar were enticed by rival Rajput princes to support their cause and how the inability of the Rajputs to meet the promises made to the Marathas to gain their support complicated the relations between the two sides and served as the pretext for continued Maratha pressure. However, the question arises whether the Marathas are to be solely blamed? Did the Marathas ever visualize a well-conceived Rajput policy in the context of their future plans to regain and retain political ascendency? Why was their handling of the Rajputs vastly different from the Mughals? In the present paper, while examining the Maratha-Rajput relations in the eighteenth century, we have considered the historical context in which they came into contact with each other. The primary sources consulted are *Kharitas*, *Kyats* and *Dastur Komwar Dikhni*.

The early activities of Shahji and Shivaji indicate that it was not a chance circumstance but determined efforts that led to the rise of the Maratha power in the Deccan in the seventeenth century.[6] Shivaji inherited the independent regions of Pune, Chakan, Supe and Indapur *jagir* from his father which proved to be a stepping stone for the rise of Maratha power under his leadership. These also formed the initial boundaries of Shivaji's *swarajya*,[7] (territory directly governed by him) and is credited to be his first achievement.[8] Shivaji was the first Maratha leader to crown his achievement by giving it a halo of legitimacy. This also brought him politically at par with other kings.[9] The Rajput princes respected the Bhatt family of Banaras so highly that no ceremony could be completed without some member of that learned family being present to officiate at the function.[10] Following this tradition Shivaji decided to invite Vishveshwar alias Gaga Bhatt for his coronation. An amiable cord was struck between the Marathas and the Sisodia House of Mewar (that enjoyed a premier status among the Rajput Rajas of Rajasthan) when in 1673, at the time of Shivaji's coronation it was finally asserted that the Bhonsle house had descended from Sajjan, the son of Rana Hamir of Chittaur's uncle and predecessor in the Sisodia House. The claim of relationship with the house of Udaipur appears to have been accepted by contemporaries. Nainsi traces the descent of Shahji Bhonsle to the Sisodia chief of Mewar, Rana Khetsi. One of the son's of Khetsi, named Chacha was born out of a carpenter caste woman (*khatin*). Chacha's descendent later on migrated to the Deccan and Nainsi states that Shahji Bhonsle's descent was from this branch of the Sisodias.[11] The family name of Bhonsle is said to be derived from the fief of Bhosavat in Udaipur, where a prince named Sajjan Singh fled after the conquest of Udaipur to seek fortune as a soldier in the South.[12] It is against this background that we should perceive the initial phase of cordiality between the Marathas and especially the Sisodias of Mewar and the Kachhwahas of Amber.

The initial phase of the Maratha-Rajput relations must be seen as a part of Mughal-Maratha conflict in Malwa. It is clear that the Rajputs came into contact with the Marathas while serving as the *mansabdars* of the Mughal emperors. Both the Rajput Rajas, Mirza Raja Jai Singh and Raja Jaswant Singh had tried to subdue the Marathas

under the leadership of Shivaji but were unsuccessful. The Marathas and Rajputs came in close contact during the reign of Aurangzeb (1658-1707) when Mirza Raja Jai Singh was sent to campaign against Shivaji. It was due to the efforts of Mirza Raja Jai Singh that in May 1666, Shivaji, his son Shambhaji and a small party of 250 troops set out to meet the Mughal emperor Aurangzeb. Later, Shivaji escaped from Agra and the emperor suspected that Shivaji had fled from Agra with the connivance of Sawai Jai Singh's son, Ram Singh. The Rajput prince was punished, first by being forbidden the court and then by being deprived of his rank and pay. Later, Sambhaji had tried to persuade Maharaja Ram Singh of Jaipur and through him, other rulers of Rajasthan, to make common cause with the Marathas to overthrow 'the tyrannical regime of Aurangzeb and re-establish Hindu supremacy', in the country. Maharaja Jaswant Singh of Jodhpur and his son also paid a heavy price as the emperor Aurangzeb accused the father of collaborating with the Maratha king Shivaji. In consequence of his failure in the Deccan, he was recalled by Aurangzeb, who appointed him as the commander of the force sent to quell the Afghan rebellion in Kabul. Jaswant Singh left Marwar under the regency of his eldest son, Pirthi Singh who died due to a poisonous robe of honour presented to him by Aurangzeb. When the news reached Jaswant Singh at Kabul, he realized that Aurangzeb had made his son bear the brunt of his father's deeds. At the end of a long reign of forty-two years, Raja Jaswant Singh died far away from his home.[13] Thus, the above discussion makes it amply clear that both, the Kachhwahas and the Rathors had to bear the brunt of the Mughal emperor's ire for being accommodative of the Marathas.

When Shambhaji was killed along with his close associate Kavi Kalash at Aurangzeb's instructions, the poet's family moved to Marwar. The family took shelter at Bilara near Jodhpur. Durgadas instructed the *hakim* of Merta to meet the expenses of the family of Kavi Kalash at the rate of rupee one and fifteen annas per day. These events indicate that relations between the Marathas, Sisodias, Kachhwahas and Rathors were acquiring a new dimension. When the Marathas were trying to gain foothold in Malwa, the Jaipur Raja, Sawai Jai Singh extended clandestine support to the Marathas. The Maratha king Shahu regarded him as his reliable supporter in the Mughal court and Peshwa Baji Rao considered him as a sincere friend.[14] Sawai Jai Singh was appointed as the Mughal governor of the province of Malwa three times. Raghubir Sinh has opined: "Jai Singh was friendly with the Marathas, kept them informed of even the most confidential

consultation and talks in the inner circle of the emperor, ministers and other influential members at the capital."[15]Sawai Jai Singh's pro-Maratha policy was motivated by his desire to drive away the Mughals from Malwa with the help of the Marathas and then extend his own territories up to Malwa.[16] But Sawai Jai Singh's third *subedari* of Malwa in 1730's proved to be particularly favourable to the Marathas. Sawai Jai Singh convincingly argued that the Maratha occupation of Malwa was inevitable despite Mughal efforts to stop them. He entered into negotiations with the Peshwa's representatives after the Maratha victory over the Mughals in 1735. This paved the way for the Mughal grant of the right to collect *chauth* from 28 *parganas* of Malwa to the Marathas. The anti-Maratha faction at the Mughal court blamed Sawai Jai Singh for ruining the empire by his secret support to the Marathas.[17] The tradition of friendship between Sawai Jai Singh (*Bade Maharaj*) and the Marathas was invoked in the letters to the subsequent rulers of Jaipur from the Peshwa, Shinde and Holkar. In fact, Baji Rao addressed Sawai Jai Singh as '*Kaka*.'[18]

Sawai Jai Singh's *subedari* of Malwa in 1713-1717 and 1732-37 brought Rajasthan and Malwa closer. During Sawai Jai Singh's stay in Malwa, trade and commercial relations between Ujjain and Jaipur also began, as Sawai Jai Singh was interested in developing his capital city as a major trading and commercial center in Rajasthan. He extended invitations to traders and bankers from Ujjain to settle in Jaipur or establish their shops and branches there. Shops, mansions and other belongings of the traders from Malwa in Jaipur are referred to in the *kharitas* of Mahadaji Shinde and Malhar Rao Holkar. It seems that migration from Ujjain to Jaipur during the time of Sawai Jai Singh was much wider as reflected in a *kharita* from Malhar Rao Holkar. It deals with the following information: "Pandit Harbaji Krishna Brahman is there in Jaipur and performing *vyarcharya* (priesthood) since the time of Sawai Jai Singh along with many other brahmans and are facing trouble, the state should take care of them and see to it that they are not suffering."[19]In 1764, Malhar Rao Holkar wrote to Sawai Jai Singh to provide protection to *seth* Kewalram, whose father was brought to Jaipur from Ujjain by Sawai Jai Singh.[20]

In the beginning the sporadic Maratha forays into the Mewar territory resulted in the annoyance expressed by the Mewar Maharana in the *kharitas* addressed to the Maratha king Shahu. The latter also took cognizance of the situation and rebuked his officials in consideration of the old ties that they had with the house of Mewar. Raja Shahu exhibited his earnestness and sincerity towards the

Maharana when in 1726, he issued a permanent *ajna-patra* (written order) under his own as well as the seals of the *Peshwa* and the *Pratinidhi*, in favour of Rawat Bhim Singh Shaktawat of Piplia, a noble of Mewar. He instructed his military commanders and all officers not to disturb the land and the people of the Piplia village (situated within the Mewar state territories) adjoining the Malwa *suba*.[21]

With the accession of Balaji Baji Rao in 1740 up to the death of Sawai Jai Singh in 1743, there was friendly interaction between the latter and the Marathas. According to Malcolm, Sawai Jai Singh desired to combine his loyalty to the emperor and friendship with the Marathas.[22] During the reign of Sawai Jai Singh the cordiality enjoyed by the Marathas with the house of Jaipur was invoked on many occasions. But the Maratha king could not check the ambitions of the Maratha sardars. An instance of this can be seen in the contest for the throne of Jaipur. Initially the Peshwa, Baji Rao had supported Sawai Ishwari Singh on account of consideration for Mirza Raja Jai Singh and Sawai Jai Singh's cordial relations with Balaji Rao and the Peshwa himself. After being defeated at the battle of Rajmahal, the Mewar Maharana sent an envoy to Puna to seek the help of the Maratha king Shahu for his nephew Madho Singh, the younger son of Sawai Jai Singh and offered rupees ten lakhs for the assistance. Due to the economic compulsions of paying his debts, the Peshwa was tempted to support Madho Singh. Madho Singh befriended Malhar Rao Holkar and even exchanged turbans with him and the two became *pagdi badal bhai*.[23] With the accession of Sawai Madho Singh on the throne of Jaipur, the Maratha-Rajput relations entered a new phase. The *pargana* of Rampura which was given to Sawai Madho Singh by the Mewar Maharana was now transferred to Malhar Rao Holkar.[24]

It is true that the Rajput states faced financial strain by way of Maratha demand for tribute and war expenses. Nonetheless, overt display of hostility and resistance to the Maratha presence in Rajasthan in myriad ways did not hinder the possibility of mutual co-operation. The *kharitas* exchanged between the Rajput rulers and the Marathas bear testimony to the fact that co-operation of the Rajput rulers was sought by the Maratha leaders on sundry issues. They also furnish information on social and economic ties between Jaipur rulers and the Marathas**.** The social relations were always maintained by way of exchange of greetings at the time of coronation ceremony, invitation for participation and exchange of gifts on the occasion of festivals and whenever marriages were solemnized in the royal houses. Diplomatic relations were always maintained through regular exchange

of letters between the Maratha king Shahu, Peshwa Balaji Bajirao, Rajaram and Tarabai with the rulers of Jaipur. When Raja Shahu's representative, Tatya Gangadhar performed the *shradh* ceremony of his father, Sawai Madho Singh sent rupees 200 for him[25] and in 1753, rupees 250 for his wife.[26] We get to know that cordial relations existed between Tarabai, wife of Rajaram of Satara and Sawai Madho Singh. Between 1754 and 1761, twenty four representatives from Satara visited Jaipur.[27] The *vakils* were present at the courts of each other. Frequent dispatches of special envoys and representatives from both sides for negotiations and clarification over contested issues used to take place in an amicable atmosphere. In a letter to Sawai Prithvi Singh, Mahadaji laid stress on the friendship between Jaipur and the Marathas that had been existing for three generations. He reiterated his desire to keep up the tradition of friendship continuing ever since the time of *Bade Maharaj*, i.e., Sawai Jai Singh.[28]

Another area of co-operation and friendship was the Maratha-Jaipur alliance against the Jats of Bharatpur. Mahadaji expressed solidarity with Sawai Madho Singh against the Jats of Bharatpur. Whenever the Marathas helped the Jaipur rulers against the Jats special bonding emerged between the Marathas and the Rajputs. The Jaipur ruler gave special honour and reward to those who visited Jaipur for participating in the battle against the Jats of Bharatpur.[29] Holkar wrote to Sawai Pratap Singh that since long time Najib ud-daula, Jaipur and the house of Holkar were united. Mahadaji also sought military help of Jaipur in 1783 against Mohammad Beg Hamdani, the Mughal commander.

It was remarkable that even at the time of acute hostility and tension between the two sides, both Shinde and the Jaipur ruler remained courteous and respectful to each other. This will become clear from the fact that when tensions were soaring high and Mahadaji Shinde came to Tunga to give a fight to the Jaipur and Jodhpur rulers, the expressions used in the official language for his arrival at Tunga are very polite and full of respect.[30] The battle of Tunga – miscalled that of Lalsot, "though sanguinary, had no decisive result."[31]

But the relations of the Rajputs with the Marathas were not stable. At the same time their relations were not uniform with all the Rajput states. Malhar Rao Holkar had exchanged the turban with Maharaja Abhay Singh of Jodhpur and also promised to take care of the interests of his son Ram Singh but the latter's insolent behavior alienated him from Holkar. Despite this, Holkar never supported his

rival Bhakt Singh. Initially the Maharao of Kota, Durjan Sal had friendly relations with the Marathas but this did not deter the Maratha chiefs from ravaging Kota territory. Infact the state became a tributary of the Marathas. Kota was subjected to much degradation at the hands of the Marathas as it lay in their march towards the North.[32] At the same time, Jhala Zalim Singh, the regent of Kota was friendly to the Marathas. The contest for the throne of Bundi invited the Marathas into the land of the Hada Rajputs of Bundi. Budh Singh's queen sent Pratap Singh Hada to seek help from Malhar Rao Holkar. The Marathas received rupees six lakhs for their assistance.[33] After Budh Singh's death the struggle was carried forward by his son Ummed Singh and though the battle of Bagru proved final and irrevocable it made Ummed Singh the feudatory of the Marathas.[34] Though Shivaji claimed his descent from the Sisiodias of Mewar, it did not deter the Marathas to exact tribute from Mewar. The period between 1761-82 in Mewar was marked by internal strifes. The state of Mewar witnessed a civil war between Maharana Ari Singh and Ratan Singh. Ratan Singh claimed to be the posthumous son of Rana Raj Singh II. The Marathas were invited on several occasions to help the rivals.

Here it is important to mention that the Jaipur state's policy towards the Marathas varied between overt resistance and covert friendly overtures. When one wades through different genres of Rajasthani sources, i.e., *Khyats* as well as archival records, the terms used for the Marathas are derived from the place of their origin. They are mentioned as *Dikhnis* or natives of Deccan. No other common terms, not even the term Maratha, which is indicative of their ethnicity has been used. We may conclude by saying that the Rajasthani documents offer more or less a dispassionate perception of the Marathas in Rajasthan. The relations between the Marathas and the Rajputs were not totally adverse but were also marked by attempts to further mutual co-operation. But despite bonhomie, the Rajputs did not desist from resisting Maratha occupation of Rajasthan. Unlike the Mughals, the Marathas failed to make the Rajputs as their swordsmen. At the same time the Marathas were not interested in annexing the Rajput states. Rather they just wanted to be recognized as the paramount power. With the Maratha help the claimants of the Jaipur and Jodhpur states achieved their goals. The Maratha-Rajput relations in the pre-Panipat phase were marked by confrontation and conciliation. From the content of the evidence discussed above it appears that the Maratha relations with the Rajputs cannot be viewed merely in terms of persistent antagonism. We need to take a wholistic view. Hence,

the general perception that their relationship was marked by hostility, armed conflicts and plunder needs to be relooked. Rather their relationship should be viewed with a historical context.

References

1. *Khafi Khan Muhammad Hashim, Muntakhab-ul Lubab in H.M. Elliot and J. Dowson (tr. and ed.)* The History of India as told by its own Historians*, Vol. VII, London, 1867-77, profiled Shivaji as "the truculent rebel", p. 258, "the designing rascal", p. 259, "the treacherous foe", p. 260 and the Marathas as a "race of robbers", p. 464 and as rapacious elements; Bhimsen, Nushkha-i Dilkusha, tr. Jadunath Sarkar, (ed.) V,G, Khobrekar, Bombay, 1971, pp. 138-140, calls the Marathas as 'malefactors'.*
2. *James Tod,* Annals and Antiquities of Rajasthan, Or The Central and Western Rajpoot States of India*, Vol. I, Indian Publication Society, Calcutta, 1898, p. 322; V.A. Smith, Oxford History of India, OUP, 1920, p. 436.*
3. *G.S. Sardesai,* New History of the Marathas, Shivaji & His Line [1600-1700]*, Vol. I, Phoenix Publications, Bombay, Second Impression, 1957, p. 8.*
4. *Andre Wink,* Land and Sovereignty in India : Agrarian Society and Politics under the Eighteenth century Maratha Svarajya*, Cambridge University Press, Cambridge, 1986.*
5. *Stewart Gordon,* Marathas, Marauders and State Formation in Eighteenth Century India*, Oxford University Press, New Delhi, 1994.*
6. *A.R. Kulkarni,* The Marathas (1600-1848)*, Books & Books Publishers & Distributors, New Delhi, 1996, pp. 6,7.*
7. *A.R. Kulkarni,* Medieval Maratha Country*, Books & Books, New Delhi, 1996, p. 140.*
8. *Rajaram Vyankatesh Nadkarni,* The Rise and Fall of the Maratha Empire*, Popular Prakashan, Bombay, 1966, p. 101.*
9. *Jagdish Narayan Sarkar, 'Significance of Shivaji's Coronation', in* Shivaji Architect of Freedom*, (ed.) Narayan H. Kulkarni, A Coronation Tercentenary Volume, Chhatrapati Shivaji Smarak Samiti, Delhi, 1975, p. 215.*
10. *G.S. Sardesai,* New History of the Marathas, Shivaji & His Line [1600-1700]*,Vol. I, Phoenix Publications, Bombay, 1958, p. 216.*
11. *Muhnot Nainsi,* Muhnot Nainsi ri Khyat*, Vol. I, (ed.) Badri Prasad Sakaria, Jodhpur, 1984, p. 15.*
12. *David Kincaied,* Shivaji The Founder of the Maratha Empire (The Grand Rebel)*, Discovery Publishing House, Delhi, 1984, pp. 25,26.*
13. *Gabrielle Festng,* From the Land of Princes*, Smith Elder & Company, Waterloo Place, London, 1904, pp. 216-218.*

14. *Harish Chandra Tikkiwal,* Jaipur and the Later Mughals (1701-1803 A.D.): A Study in Political Relations*, Hema Printers, Jaipur, 1974, p. 51.*
15. *Raghubir Sinh,* Malwa in Transition Or A Century of Anarchy The First Phase 1698-1765*, D.B. Taraporewala Sons & CO., Bombay, 1936, p. 129.*
16. *Ibid., p. 130.*
17. *Ibid., p. 234.*
18. *R.V. Oturkar, 'Rajput-Maratha Cultural Relationship',* Proceedings of the Indian History Congress*, 14th Session, Jaipur, 1951, p. 191.*
19. Indore kharita *No. 21,* Bhadon Sudi *1,* V.S. *1808/1751, Rajasthan State Archives, Bikaner, Amber/Jaipur Records.*
20. Indore kharita*, No. 85,* Posh Vadi *10,* V.S. *1821/1764.*
21. *Raghubir Sinh,* Studies on Maratha & Rajput History*, Shri Natnagar Shodh Samsthan, Sitamau, Research Publishers, Jodhpur, 1989, p. 141.*
22. *John Malcolm,* A Memoir of Central India, Including Malwa, And Adjoining Provinces*, Sagar Publications, New Delhi, 1970, p. 88*
23. *Shyamal Das Mishra,* Vir Vinod: Mewar ka Itihas*, Vol. II, Motilal Banarasidas, Delhi, Reprinted, 1986, p. 1239.*
24. Holkarshahicha Itihas 1693-1797 A.D.*, Vol. I, (ed.) V.V. Thakur, Holkar Government Press, Indore, 1944, p. 83.*
25. Dastur Komwar Dikhni*, Vol. IX,* Fagan Sudi *4,* V.S. *1807/1750, Rajasthan State Archives, Bikaner, Amber/Jaipur Records.*
26. Dastur Komwar Dikhni*, Vol. IX,* Posh Sudi *15,* V.S. *1810/1753.*
27. Dastur Komwar Dikhni*, Vol IX,* Kati Sudi *12,* V.S. *1811/1754;* Maghshri *11,* V.S. *1811/1754;* Fagan Budi *6,* V.S. *1811/1754;* Chait Sudi *11,* V.S. *1811/1754;* Maghshri Budi *14,* V.S. *1812/1755;* Maghshri Sudi *2,* V.S. *1812/ 1755;* Chait Sudi *14,* V.S. *1817/1760;* Asoj Budi *7,* V.S. *1818/ 1761.*
28. Gwalior Kharita *No. 45,* Posh Vadi *2,* V.S. *1825/1768, Rajasthan State Archives, Bikaner, Amber/Jaipur Records.*
29. Dastur Komwar Dikhni*, Vol. IX,* Jeth Budi *7,* V.S. *1812/1755, P. 664.*
30. Dastur Komwar Dikhni*, Vol. IX,* Sawan Sudi *13,* V.S. *1843/1786, throughout the battle Mahadaji Sindhia was addressed as 'Sindhia Patel', 'Sindhia', or 'Patel.'*
31. *Jadunath Sarkar,* Fall of the Mughal Empire*, Vol. III, p. 380.*
32. *R. K. Saxena,* Maratha Relations with the Major States of Rajputana*, p. 23.*
33. *V.G. Dighe, Peshwa,* Baji Rao I & Maratha Expansion*, Karnataka Publishing House, Bombay 2, 1944, p. 116.*
34. *Beni Gupta,* Maratha Penetration into Rajasthan Through the Mukandara Pass, Research Publications, Delhi, 1970*, p. 42.*

British policy towards the Abolition of Slavery in Rajputana States

Prof. V.K. Vashishtha

The slave trade and slavery flourished in several facets at the time of the establishment of British paramountcy in nineteen Princely States of Rajputana and the neighbouring territories of Central India and Gujarat in 1818. The slave dealers (*Barda Furosh*) belonged to the communities of Charans, Bhats, Rajputs, Minas, Gwarriahs, Banjaras and low castes.[1] The traffic in slaves thrived in Rajputana because of the patronage of the Rajput rulers and their *jagirdars* to the slave dealers as they collected taxes from them on the sale of slaves and also purchased slaves for replenishing their train of domestic hereditary servants. The female children were also kidnapped and sold for prostitution in Rajputana States, Delhi and Agra.[2]

The slavery was prevalent in four forms in Rajputana States. (i) The domestic hereditary slaves (Daroga system) popularly known as *darogas* or *golas*;[3] (ii) the forced labour (*begar*);[4] (iii) the debt bondage known as bonded labour (*sagari*);[5] and (iv) the *Basi* was an "acquired slavery" by the peasants who settled themselves on the estate of their Rajput *jagirdars*, and were not deprived of their property or civil rights like *golas* or agricultural serfs (*villains*) of Europe.[6] Among these legalized forms of slavery, the *Daroga* system survived on the purchase of slaves, while the residual ones were the segments of the feudal structure of the Rajputana States.

The present paper aims at examining the formation of British policy towards the abolition of slavery and the reasons for its failure to exterminate it.

I. Formation of British policy for abolition of slavery

Since its establishing political power in India, the British Government followed a cautious social policy.[7] Hence, it was only after the abolition of slavery and the passage of the First Reform Bill by the parliament in England (1830), that Governor-General Ellenbarough abolished slave trading and domestic servitude in British India in 1843.[8] However, it was only after the consolidation of British paramountcy in Rajputana States as a result of the establishment of

Rajputana Agency in February 1832, that Governor-General William Bentinck (1828-1835), a social reformer and utilitarian to the core, diverted the energies of the Political Agents for the abolition of slavery in Rajputana States.[9]

The shift in British policy towards the abolition of slavery in Rajputana became apparent when the Maharao of Kota ordered a slave dealer under his protection to proceed to Marwar to purchase four female slaves. Captain R. Ross, the Political Agent in Harauti, brought to the notice of his government, in June 1832, the prevalence of this "detestable traffic" not only in Harauti but also in every part of Rajputana as well as Malwa. Ross was eager to exercise 'effectual interference' to put it down,[10] while his higher-up Lieut.Col. A. Lockett, the Agent to the Governor-General in Rajputana States (A.G.G.) wanted to abolish it by 'advice and admonition'.[11] The existing treaty prevented the British Government from interfering authoritatively in the internal administration of the State for the discontinuance of the practice. Moreover, it could not take any coercive measure to suppress the practice, as it was liable to disturb the British relations with the State. Therefore, the British Government directed the A.G.G. and his subordinate Political Agents to seek co-operation of the rulers "in a friendly and confidential manner" to ban slave trade.[12] The Court of Directors took a step further by declaring slave trade illegal and a crime. Hence, they permitted the Political officers to "remonstrate" the rulers against any infringement of their proclamations prohibiting slave trade or any laxity on the part of their officers in the enforcement of its provisions.[13] Thus, the slave trade lost its legitimacy as the Court of Directors gave free hand to the British functionaries in the suppression of the social evil like slavery in the Rajputana States.

II. Proclamations against slave traffic

The British policy towards the abolition of slavery marked its beginning in Rajputana in September 1832, when Dr. J. Corbet, the officiating Harauti Political Agent, by a friendly advice, won over the rulers of Kota and Bundi States to prohibit in their respective dominions buying and selling of slaves under the penalty of severe punishment. Maharao Raja Ram Singh of Bundi executed the prohibitory order more thoroughly than Rajrana Madho Singh, the hereditary Prime Minister of Kota.[14] It was only when Maharao Ram Singh of Kota was freed from the galling control of his hereditary Prime Minister (in 1838) that he followed the example of Bundi. In 1846, he secured a

bond from the dancing women declaring that they would abstain from purchasing children in the State. This was a "wise measure" and its strict enforcement was liable to shut the market in Kota for the slave dealers.[15]

The Jaipur State declared trafficking in slaves illegal in 1839.[16] In 1844, John Ludlow, the Political Agent and Head of the Council of Regency at Jaipur, with the co-operation of the members of the Council of Regency, tried to do away completely with any possibility of its revival. On his suggestion, the Council of Regency closed the possibility of the restoration of slave trade and the continuance of slavery by a proclamation on 5 February, 1847 prohibiting to call the domestic servants by the derogatory words, such as, *golas* and *golis*, as they served their masters by choice. Further, restrictions were imposed upon the Nagas, Dadupanthis, Sads and Shamees for purchasing children for inducting them as their disciples (*chelas*).[17] Appreciating the attempts of the Council of Regency to exterminate slavery in all its shades in the Jaipur territory, James Sutherland, the A.G.G. for Rajputana States circulated the Jaipur proclamation to all his subordinate Political Agents for the information of the Rajput rulers that even the use of the term slave (*gola* and *goli*) was forbidden in that principality.[18] This circular created salutary impact on the States.

On receiving information of the purchase from the Banjaras of female children and dancing girls by the *thakurs* at Pachpadra, the salt market of Marwar State, John Ludlow, then the Political Agent at Jodhpur, approached the Jodhpur Darbar for the suppression of this trafficking in slaves.[19] Thereupon, the Jodhpur Darbar discountenanced the sale of children by the Banjaras in the State and declared on 27 November 1840, that the buyers of children from them would be punished by fine. On the other side, the State permitted the residents of Marwar to buy and sell children within its jurisdiction. It contended that there was no harm in such domestic transactions as from time immemorial the subjects of Marwar were accustomed to purchase children within the State by executing bonds.[20] This open support to trafficking in slaves by the State government seemed ridiculous to Captain P.T. French, the officiating Political Agent at Jodhpur (1844-45). He dilated upon its cruelty in conversation with Maharaja Takht Singh and by arguments convinced him of the baneful and demoralizing effect of the prevalence of such a system.[21] Consequently, on 21 September 1844, it was announced by beat of drums in every market place that buying or selling of children was prohibited in Marwar

State.[22] Thus, it was after the sustained efforts of the Political officers for about four years from 1840 to 1844 that the slave dealing was declared illegal in Marwar State. Informing all the Political Agents about this success, James Sutherland observed[23]:

This is a fine specimen of what may be done through the judicious exercise of our (British) influence at the courts, and amongst the Natives of this country. I trust the period is not very distant when other practices and usages, revolting to our better feelings, may cease through a judicious exercise of the same influence.

The success at Jodhpur encouraged the Political Agents to make concerted efforts for the suppression of slave trade in other parts of Rajputana. The rulers of Sirohi[24] and Jhalawar[25] passed enactments against slave traffic in 1844 and 1846, respectively. The State of Alwar[26] and all other Rajputana States interdicted it by the later part of the nineteenth century. The Mewar State was the last to prohibit it. W.F. Eden, the Political Agent, Mewar as the Head of the Council of Regency during the minority of Maharana Shambhu Singh (1861-1865) proclaimed buying and selling of children and women illegal in the Mewar State in 1863.[27] Above all, the incorporation of "child stealing" and "selling of females" as the heinous offence in the Extradition treaties by the Rajputana States between 1868 and 1870, also facilitated the trial of the slave dealers belonging to the neighbouring States and the British Provinces.[28] The punishment to the slave dealers was facilitated by the inclusion of trafficking in slaves in the Penal Code of all Rajputana States in exactly the same manner as was enforced by the Indian Penal Code for the British India.[29]

As a result of these efforts of the Political officers, only stray cases of trafficking in slaves came to their notice by the seventies of the nineteenth century in Rajputana[30] though slavery in the nature of domestic hereditary servants and bonded labour continued there. The rulers had issued orders proscribing barter of children in deference to the wishes of the British Government but none of them had attempted to lessen the number of their hereditary domestic slaves (*darogas*). Similarly, the Political Agents turned a blind eye to the Daroga system as it enjoyed social recognition all over the Rajput States and they had received no complaint from any *daroga* about his position during their campaigns against the trafficking of slaves. Hence, the British interference to prohibit it would have been resented almost as much as by the *darogas* as by their masters.[31]

III. Measures to suppress Domestic slavery and Forced labour

The political awakening in British India galvanized the *darogas* for the first time to approach the Court of law in Jodhpur State[32] in 1914. They also strove for civil rights and for their enumeration as Raona Rajputs from 1920 through the *All India Raona Rajput Mahasabha*, Kishangarh.[33] Coupled with this, the political pressure of the Slavery Convention under the auspices of League of Nations from September 1925, prompted the Rajputana States to withdraw legal recognition from the Daroga system and to declare that the services of the *darogas* would not be enforceable by law.[34] Hence, the British Government claimed in 1936 that "neither slavery nor conditions analogous to slavery existed in any Indian State".[35] This was a misrepresentation as the British Government could not mobilize the Rajputana States to prohibit it by a legislation like the 1843 Act in British India with the hope that it would progressively die with the spread of railways, and education, and, above all, with the abandonment of the main grounds of its continuance, the *purdah* system. Moreover, it considered it impolitic to issue any order as the paramount power to abolish it as it was restrained by treaties to interfere directly in the internal administration of Rajputana States.[36] Hence, in the want of a legislation the Daroga system continued till the integration of Rajputana States into Rajasthan State. In the midst of this sort of a shambles, the agitations of the Bhils and peasants, as well as the persistent pressure of the Slavery Convention (1925) and the International Labour Organization (1930) geared the Rajputana States to abolish forced labour (*begar*) between 1920 and 1936 for private works but it was legalized like British India for public purposes within the place of residence of the labourers on payment of adequate wages.[37]

Thus, on the persuasion of the British Government, the Rajputana States suppressed slave trade and forced labour and emancipated the *darogas* from the legal shackles but they took no cognizance of the bonded labour (*sagari*) as there were no voices of protests against it. It was only after the formation of Rajasthan State (1949) and, subsequently with the disruption of the jagirdari system there (1960)[38] that the people secured relief from all forms of social slavery through the Indian Constitution and social legislation in Rajasthan State[39] under a socialist, secular and democratic Republic of India.

References

1. *John Malcolm,* A Memoir of Central India Including Malwa and adjoining Provinces*, London 1832, Vol.II, pp.199-202. See also, W.H. Sleeman, A* Report of the System of Megpunnaism*, Serampore Press, 1839, pp.4-7. T.D. Broughton,* Letters Written in a Mahratta camp during the Year 1809*, Archibald Constable & Co., Westminister, 1892, pp.104, 114-15; Michael O' Dwyer,* India as I knew it (1885-1925)*, London, 1925, p.100.*
2. *James Sutherland, A.G.G. in Rajputana to F. Currie, Secretary to Government, 26 May, Cons. 20 June 1846, Nos.210-214, Foreign & Political (hereafter abbreviated as F&P,), National Archives of India, New Delhi (Hereafer abvbreviated as NAI). See also, File No.158(3)-P, 1925, F&P,* NAI*; GD 20, File No.30, Part III, 1926, Mehkama Khas, Jaipur, Rajasthan State Archives, Branch Jaipur (Hereafter abbreviated as* RSAJ*).*
3. *F.no.158(3)-P of 1925, F&P,* NAI.
4. *V.K. Vashishtha, "*Begar *in Princely Rajputana under British Paramountcy",* Social Science Research Journal *(Punjab University, Chandigarh), Vol.VII, No.1&2, March-July 1982, pp.170-171.*
5. Report on the Political Administration of the Rajputana States, 1874-75, *(abbreviated as* RPARS*), Foreign Department Press, Calcutta, 1875, p.25, para. 84.*
6. *James Tod,* Annals and Antiquities of Rajasthan*, Motilal Banarsidass, Delhi, Reprint 1971, Vol.I, p.206.*
7. *Sudhir Chandra, "Evolution of the Social policy of the Company's Government in India",* Quest*, Vol.47, Autumn 1965, pp.35-40.*
8. *F.no.158(3)-P – 1925,* NAI*. Also see, D.R. Banaji,* Slavery in British India*, D.B. Taraporevala Sons & Co., Calcutta, Revised edn. 1933, p.95.*
9. *For details see, V.K. Vashishtha, "Evolution of the Social Policy of the British Government in the States of Rajputana during the nineteenth Century",* Proceedings of the Rajasthan History Congress*, Vol.VIII, Ajmer Session (1975), pp.95-102.*
10. *R. Ross, Political Agent Harauti to A. Lockett, A.G.G. Rajputana, 22 June, Cons. 13 August 1832, No.25, F&P,* NAI.
11. *Lockett to Macnaughten, 30 June, Cons. 13 August 1832, No.25, F&P,* NAI*.*
12. *Macnaughten to Lockett, 9 July, Cons. 13 August 1832, No.26, F&P,* NAI*.*
13. *Political letter from Court of Directors, 1 April 1835, No.5,* NAI.
14. *J. Cobert, Offg. Harauti Political Agent to Lockett, 17 September, Cons. 22 October 1832, No.2, F&P,* NAI.
15. *C.E. Burton, Harauti Political Agent to Sutherland, 18 March, Cons. 18 July 1846, No.132, F&P,* NAI*.*
16. *Ludlow to Sutherland, 5 March, Cons. 1 May 1847, No..49, F&P,* NAI.
17. *Translation of a Proclamation by the Jaipur government, 6 February 1847 (Encl.2), Cons. 1 May 1847, Nos.48-50, F&P,* NAI*.*
18. *Circular to Political Agents and Superintendents in Rajputana, 11 March 1846 (Encl.4), Cons. 26 June 1847, No.l49, F&P,* NAI.
19. *Sutherland to Ludlow, 6 October 1841, (Encls.1 and 3), Cons. 26 December 1846, Nos.376-77, F&P,* NAI.
20. *Tr. of a note from the Agency* Vakil *to Political Agent, Jodhpur, 27 November 1840 (Encl.2), Cons. 20 June 1846, No.212, F&P,* NAI.
21. *Memorandum of some chief events at Jodhpur since 20 January 1844. Cf. P.T. French to Major C. Thoresby, Offg. A.G.G. Rajputana, 23 September 1844, Cons. 1 February 1845, No.54, F&P,* NAI.
22. *Translation of a Note from Agency* Vakil *to Political Agent (No.4), 21 September 1844, Cons. 20 June 1846, No.212, F&P,* NAI.
23. *Sutherland to H.H. Greathed, Jodhpur Political Agent, 26 May, Cons. 20 June 1846, No.213, F&P,* NAI.
24. *Progs. June 1862, Nos.54-56, Political-A, Foreign Department,* NAI.
25. *Burton to Sutherland, 9 March, Cons. 14 April 1848, No.54, (Encl.3), F&P,* NAI.
26. *Progs. June 1862, Nos.54-56, Political-A, Foreign Department,* NAI.
27. *File No.2/1846 (Slavery), List No.1, S.no.10, Rajputana Agency Records,* NAI*.*
28. *C.U. Aitchison, (Compl.),* A Collection of Treaties, Engagements and Sanads*, Government of India, Central Publication Branch, Calcutta 1932, Vol.III, pp.36, 72, 106, 139, 213, 232, 247, 266, 291, 323, 368, 386, 403, 431, 456, 463, 475.*
29. *File No.264-P (Secret) 1926, F&P,* NAI*. See also, GD 20, File No.30, Part III, 1926, Mehkama Khas, Jaipur,* RSAJ.
30. RPARS*, 1868-69, pp.23-24;* RPARS*, 1871-72, p.100.*
31. *Progs. June 1862, Nos.54-56, Political-A, Foreign Department,* NAI*; See also, File No.158(3)-P-1925, F&P,* NAI.
32. *File No.158(3)-P-1925, F&P,* NAI.
33. *Narendra Singh Panwar,* Raona Rajput Darshan*, All India Raona Rajput Mahasabha, Kishangarh, 2nd edn., 1929, pp.2, 81-84; Sarangadhar Das,* Bikaner ; A Report submitted to the President*, All India States People's Conference, Bombay, 1940, pp.48-50.*
34. *GD 20, File no.30, Pt.III, 1926, Mehkma Khas, Jaipur,* RSAJ.
35. *Resident at Jaipur to Vice-President, Jaipur, 24 March 1936; Resident at Jaipur to Prime Minister, Jaipur, 9 October 1937, GD-20, File no.30, Pt.III, 1926, Mehkma Khas, Jaipur,* RSAJ.
36. *F.no.158(3)-P – 1925, F&P,* NAI.
37. *Vashishtha, "*Begar *in Princely Rajputana under British Paramountcy",* op.cit.*, p.173.*
38. *Dool Singh,* A Study of Land Reforms in Rajasthan*, Students Agency, Pilani 1964, pp.1 and 83.*
39. *The Indian Constitution has prohibited traffic in human beings (Art.23) and forced labour (Art.24). Among the social legislation could be mentioned, Immoral Trafficking Women Act, 1956 and Rajasthan* Sagri *Abolition Act, 1961.*

Acquisition of Lands for the Construction of Railways in Jaipur State during late 19th Century: An Economic Fallout

Khalid Ahmad

The Railway Construction in Rajasthan was started by the Colonial British Indian Government for their Economic as well as Political interest as reflected in their correspondences. On March 23, 1864 Captain Walter, the Political Agent of Bharatpur State clearly defined the motives behind the railway construction in Rajasthan. In his letter to the Agent to the Governor General for Rajputana States, he mentioned that "a railway from Agra to this place, would not only be a very remunerative investment, but would tend materially to open out the resources of the Bharatpur State. As you are aware, there is an enormous trade at this place in salt, all of which goes to Agra. The traffic, at present, is very heavy along the line of road, and when the road is open through to Jaipur, it will of course materially increase."[1]

In the proposed study I have made an attempt to find out the various intricacies of Railway Construction in Jaipur State which fraught with many such as whether Jaipur State surrender lands for railway purposes free of cost or demand compensation for lands, total breath of the lands required for railways lines, Stations and Co., what was the required terms and condition proposed by British Indian Government to Jaipur State. Further I have made an investigation that how Jaipur State surrendered Sovereign Rights on ceded lands as well as to part away with the future income from these proposed constructed railways by surrendering transit duty rights to the British Indian Government.

For the construction of railways in India, large tracks of lands were required for the railways purposes. In the British Indian Provinces the East India Company prepared to provide these required lands free of cost to the railway company.[2] For that on August 17, 1849 an agreement was completed between the East India Company, the East Indian Railway Company and the Great Indian Peninsula Railway Company respectively[3] and decided to provide required lands free of cost to the railway companies for railway purposes.[4] But in case of Rajputana States, the British Indian Government adopted a different policy.

On January 29, 1864 Public Work Department appointed a committee by a resolution to find out possibilities to construct railways line through Central India and Rajputana States. This committee prepared a plan for the construction of railways through Central India and Rajputana States and submitted to the British Authority at Bombay.[5] At the same time all the Rajputana States were agreed for Railway Construction in their respective territories. But before any construction work, Colvin under Secretary to the British Indian Government, Foreign Department, wanted to settle down the matter or terms and conditions on which lands had to be surrendered for railway construction in Jaipur State.[6]

Terms and Condition required for Railway Construction in Jaipur State: Following terms and condition were proposed by British Indian Government to Jaipur State to accept before any construction work:[7]

Firstly British Government proposed to Jaipur State that the State had to surrender 200 feet lands in breath for the construction of railways line, Stations and other railways purposes without cost. The State had to be paid compensation for any destruction of property like houses, gardens etc. on ceded lands to the respective owners. This compensation had to be paid by the State treasuries. In British Indian Provinces the British Indian Government followed the policies which now proposed for Jaipur for the construction of railways in its territories.

Secondly the Jaipur State had to surrender full jurisdiction and Sovereignty rights to the British Indian Government on ceded lands for railways purposes.

And lastly the State had to surrender all transit and other duties on goods, which had to be carried by these proposed railways. However duties on goods breaking bulk being carried to and from the railways had to be charged at the same rates or rates to be fixed by both authorities.

But the Jaipur State was not willingly accepted these three proposed terms and conditions. The State shows various problems and suggested some modifications in these proposed terms and conditions to the British Indian Government. While after long correspondence British Indian Government succeed to convince or compel Jaipur State to accept required three terms for railway. Calvin

under Secretary to the British Indian Government clearly informed to the Agent to the Governor General for Rajputana, that without accepting three proposed conditions by the State, the construction of railways could not started in Jaipur territories.[8]

Process to accept required terms and conditions by Jaipur State

On July 15, 1864 lieutenant Colonel E. K. Elliot, the Agent to the Governor General for Rajputana communicated to the Jaipur and ordered him to obtain the assent from the State on proposed terms and conditions for the construction of railway. He also ordered him to convince the State for co-operation for the construction work.

At the same time the British Authority communicated with the State through Political Agents, and conveyed to the State that British Authority would welcome any suggestions or proposals from the State for route proposed for the railway line. The British Authority also assured the State that the Paramount Power would be considered the suggestions essentially. The Agent to the Governor General for Rajputana ordered to the Political Agent of Jaipur to settle down the matter of lands required for railway construction and also in regards of transit duties. The essential terms for the railways constructions were "that whether the sovereignty of the ceded land be granted or not the through traffic be free." The British Authority clearly stated that for construction of railways, the State had to surrender 100 feet wide land permanently and 50 feet wide land temporarily on each side of the line.[9]

On August 10, 1864 the Political Agent of Jaipur informed the Agent to the Governor General for Rajputana that Jaipur State was welcoming the plan for the construction of railway in Jaipur territories. However Maharaja suggested some modifications in the proposed three terms by British Indian Government. Following three suggestions were provided by him through his Khureeta:[10]

Firstly the Jaipur State had ready to surrender 200 feet lands for railway construction free of cost but Maharaja was not in favoured to pay compensations to the owners for any destruction of property like gardens, wells, houses tanks etc. which had to be caused by railway construction.

Secondly Jaipur State was not ready to surrender sovereignty rights on ceded lands. And lastly the State was ready to surrender transit duties, however the goods which had to be breaking the bulk

within the State territory would be subjected to pay transit duties wherever goods were loaded or dislodged by the railways.

The Political Agent of the State convoyed to the Agent to the Governor General for Rajputana that Maharaja promised to give his full co-operation for the construction of railways, which had to be constructed in Jaipur territories.[11]

On July 26, 1865 the British Indian Government again communicated with the State and reminded about the proposed railway line for Rajputana and Central India and asked for approval of the terms and conditions proposed by British Indian Government earlier. Through this communication the British Authority informed the State about the benefits of railways which brought in other parts of the country. They emphasised that "it is well known throughout India what benefits the railway brings in its train; how it is the means of exporting the products of a State thereby giving them a much large market and higher value, at the same time that it brings in the Wealth and manufactures of the other countries."[12]

But Maharaja of Jaipur State was ready to accept the proposed conditions but again he suggested some modifications, these are as follows:[13]

Firstly, the State accepted to surrender 200 feet in width required for lands free of cost. But Maharaja demanded compensations to be paid to the owners of houses, wells and gardens etc. on the ceded lands.

Secondly, the Maharaja of Jaipur was ready to surrender full sovereignty and Jurisdictions rights to the British Indian Government on the ceded lands. But he demanded that the natives were not to be left as refugee in the hands of railway officials. Whenever they need protection, it should be provided and the native's offenders were subjected to the State Court.

And lastly, the Jaipur State had to surrender transit duties over goods passing through Jaipur territory without breaking bulk.

The Bombay, Baroda and Central India Company was prepared a plan to construct a railway line from Baroda to Neemuch and then this line had to be connected with Delhi via Jaipur and submitted a proposal before British Authority for its sanction.[14]

By December 1865 the States of Bharatpur, Serohi, Udaipur, Alwar, Jhalawar, and Tonk accepted all the three conditions. But Jaipur State still not accepted all three conditions. The Maharaja of Jaipur

agreed upon second and the third conditions. Even he was agreed to provide required lands free of cost but demanded compensations for houses, gardens, buildings etc., which might be destroyed in courage railway construction. He also raised the refugee matter on these ceded lands.[15]

The Secretary to the Government of British India, Foreign Department directed to the Agent to the Governor General that he would try to convince the State, yet not agreed on the proposed conditions. He clearly stated that you convey the State that "it is they and their people who will benefit largely by the construction of the railways in question, and that it is therefore unreasonable for them to look for compensation on account of the houses, gardens etc. which may be absorbed within railway limits." On the issue of the surrender as well as trial of the offenders that Natives of any State for any crimes committed on these ceded lands had to be subjected to trial and punished according to the law of the British Indian Government. While these refugees, who committed heinous crimes out of ceded lands had to be surrender to the respective State.[16]

The Agent to the Governor General for Rajputana tried to lure and pressurised the State through his correspondence. He proposed to the Maharaja of Jaipur that the British Authority had a plan to connect Sâmbhar Lake with railway. There was not any tax imposed on this area till now. This area produced salt and supplied it to the other States. Whenever Jaipur State imposed transit duties upon salt, it would reduce the demands of salts and it would cause loss to the State. When the expenses of the carriage had to be reduced, Jaipur State would be able to supply salt in large label. Definitely it would help to increase the revenue of the State.[17]

Earlier the Secretary of the Government of British India, Foreign Department directed the British Authority at Rajputana to settle down the issue of surrender and trial of refugees on ceded lands. He stated that those refugees "guilty of heinous offences'' had to be handed to the respective State, but he not clarify whether criminal or civil offenders, who wants to avoid the law of their State by flying within ceded lands or railway boundary. The Agent to the Governor General for Rajputana explained that offenders had to be treated as same manner and handed to the respective State. The British Indian Government granted their assent on instruction given by the Agent to the Governor General for Rajputana.[18]

However the British Indian Government classified that the British Authority had to be responsible only for those refugees, who were arrested within railway limits and not responsible for those who were not come under railway limits.[19] On the matter of compensation demanded by the State for any loss of their transit duties, the British Indian Government was not ready to accept the demands and consequently the matter was delayed.[20]

By October 1866, the Maharaja of Jaipur was not ready to accept the conditions on which lands had to be surrendered to the railway company for the construction of railway.[21] By May 1867 all the Rajputana States were accepted the three conditions except Jaipur and Kishangarh States.[22]

The Maharaja of Jaipur demanded that the British Authority should have to provide compensation for the total loss of private property which had to be incurred on the required lands for the railways construction. The Maharaja clearly stated that the British Authority would prepare a clear proposal to avoid the destruction of property and the selected route should have been proved beneficial and significance for the State and its people and before any construction they would ask approval from the State. On the other hand the British Indian Government gave their full assurance that full considerations would be followed to avoid any unnecessary destruction of property which would occur on ceded lands for railway construction The British Authority surveyed the lands for railway line to calculate the loss of property.[23]

The Jaipur State further prepared a list of demands which covered all aspect of the State demands, and put forwarded to the British Authority at Rajasthan. Soon it was conveyed to Jaipur State by Major Beynon that some of the demand of the Jaipur State was not to be accepted by British Authority as there were not favourable while some of the demands were in full considerations. Further he emphasised that the Maharaja of Jaipur State was the only Maharaja amongst the Rajputana Princes who became hurdle for the development of a railway construction, hence affecting the development or general welfare of all the Rajputana States.[24]

Followings were the demands as proposed by Jaipur State and remarks given by the Agent to the Governor General for Rajputana:[25]

1. Firstly Jaipur State demanded that whenever survey was done and line was finalised, assent from the State would be needed

prior to the survey details being asked for approval from British Indian Government. The Agent to the Governor General for Rajputana was not ready to accept this condition but the State demand could be accepted when route would be selected and finalised. The Jaipur State could provide at that time any suggestion and alternative route, when survey was submitted for its approval.

2. Jaipur demanded that to look after the survey work of the whole line some people of the State should be employed. The British Authority accepted this demands.
3. That any destruction of private property had to be safeguarded as far as possible.
4. The State wants that Jaipur City and the Ghats had to be avoided altogether. In matter of Jaipur City the Agent to the Governor General accepted State demand but in matter of Ghats he had different opinion until the survey work had been completed.
5. Jaipur State demanded that all the religious buildings and centres especially the temples dedicated to lord Mahadeva[26] had to be safeguarded at any condition. But the Agent to the Governor General for Rajputana not accepted that demand.
6. That in condition of extra lands required for railway i.e. 200 feet ceded land, the State had power to provide more land or reject the Railway Company demands and the State had to be reoccupied such lands when lands were not further needed for railway purpose at the free of cost. The Agent to the Governor General for Rajputana accepted this demands.
7. That the State had to appoint a Hurkara or State employees at every Station which was remained under Jaipur territories to safeguard the State interest. The Agent to the Governor General for Rajputana accepted this demand.
8. The State further emphasised that there should not have any change into management, new innovations and system related to be railway would have not to be implemented without prior information of the State. But the Agent to the Governor General for Rajputana rejected this demand.
9. That whenever any rules and regulations related to railway line passed by British Authority. It would be officially informed to the State. The Agent to the Governor General for Rajputana accepted this demand.

10. The State demanded that laws would be made to avoid ill treatment with local travellers by the railway servants and every law which would be made should have required the State consent. The British Authority ready to make laws for that but rejected the demands of the State to give the power to the State to accept or reject the laws made by Paramount Power.
11. The State further demanded that all grievances of the natives had to be listened and decided by the Political Agent of the Jaipur State in presence of the State Vakeel[27] and emphasised that those grievances had to be immediately solved. But the Agent to the Governor General conveyed that a Railway Act had to be passed for the trial of Railway servants.
12. That the State would not be responsible for any destruction committed by any native within railway jurisdiction and not subjected to pay compensations for that. The Agent to the Governor General for Rajputana accepted that demand.
13. The State wanted that the railway officials were not allowed to reside outside the railway jurisdiction without the prior information and approval from the State. The Agent to the Governor General for Rajputana accepted that demand.
14. That the State had to possess power not to permit to the railway company for any purchase or procurement of required materials or goods which may be required for railway construction within Jaipur territories. The Agent to the Governor General informed that in matter of woods the Jaipur state earlier showed her objection but in matter of other materials British Authority would considered upon that.
15. That a special saloon and carriage had to be constructed after getting the opinion and approval from the Maharaja by the Railway Company for his special use at the fixed rate of fares which would be finalised before the opening of the line. But the Agent to the Governor General for Rajputana agreed that Railway Company had to be constructing it but Maharaja had to be raised fund for that.
16. Railway Company had to facilitate special trains for Maharaja's use at a rate of fares to be finalised in the same way. The Agent to the Governor General for stated that proposed matter was to be finalised by mutual consent later.
17. And finally the State demanded that the railway officials were

not allowed to buy any landed property within Jaipur State. The Agent to the Governor General accepted that demand.

The Agent to the Governor General for Rajputana sent all the above demands proposed by Jaipur State and recommended to the British Indian Government for its approval.[28] J. W. S. Wyllie the under Secretary to the British Indian Government, Foreign Department conveyed that British Indian Government ratified the remarks or decision taken by the Agent to the Governor General except point 14. He clearly stated that British Indian Government was not ready to accept such type of demand. Further he added that the railway authority would be permitted to purchase at favourable rates decided by mutual agreement on the required materials because it was not possible to carry the management.

He suggested to the Agent to the Governor General that in Jaipur State large numbers of land plots were not in use and he can suggest to the State that either the State or railway company would plant trees for fuel into these lands for a fixed period. In this way railway would be able to meet the required fuel in easy way without any destruction of private or the State limited resources. He further emphasised that British Indian Government wanted to convey the message of plantations to the State. For that the Forest Department were also issued latters. And finally on demand number 12, the British Indian Government conveyed that "the Durbar must do its best to enforce against its subject any penalties which they may have incurred for offences committed within the limits of the railway."[29]

The Maharaja S. Ram Singh of Jaipur State was still not satisfied and on December 22, 1867 again he sent revised demand which was covered same terms mentioned above including those terms which was earlier accepted by the British Indian Government. Further he informed that in letter of the July 13, State's main demand was that "the prevention of any misunderstanding with the Railway Company" and nothing more than that and he wanted that before beginning of railway, there would be made a provisions to avoid any clash with these two parties. Maharaja further stated that the Jaipur State was in favour of construction of railway which had to be passed through State. He further emphasised that the British Authority always miss understood my suggestions.[30]

Finally on February 5, 1868 the Maharaja Ram Singh of Jaipur willingly withdrew his all demands or conditions proposed earlier and agreed up on required original terms and conditions for the construction

of railway.[31] Now he believed that the Paramount Power safeguard the general interest of the State and its subject with law and justice but also need of the State and the manners, customs and feelings of its subject.[32]

On the other hand the British Authority assured the State that Government had to consider all suggestions given by Jaipur to safe guards especially to safeguard the Mahadeo temples and the State's suggestions not affecting the economic and permanent working of the railway matters, and also whenever any changes were implemented, would be communicated to the State. Whenever any complain about ill-treatment was found the British Authority would have to give full consideration to further avoid it.[33] The Vakeel of Jaipur would be invited to look after the interest of its subjects.[34]

Conclusion: These terms and conditions proved very big loss to the State in form of lands, revenues, other private properties by the mane of the railway construction. By accepting these terms and conditions the Jaipur State firstly not only permanently lost their lands but also pay compensation to the owners from State treasury. It was the direct loss to the State. Secondly as per the second term Jaipur State lost Sovereignty and Jurisdiction Rights on ceded lands. Lastly as per the third term the State lost source of revenue from transit duties permanently.

References

1. *Rajputana Agency Office, Railway, File No. 126-I, 1863 to 1868 and 1877, No. 28/18G, Bharatpur, March 23, 1864, Serial No. 4, National Archives of India, New Delhi, p. 15*
2. *Bell, Hoarce, Railway Policy in India, Rivington, Percival and Co., London, 1894, p. 7*
3. *Bell, p. 10; Sanyal, Nalinaksha, Development of Indian Railways, University of Calcutta, 1930, p. 15*
4. *Bell, pp. 60-62; Sanyal, p. 16*
5. *Rajputana Agency Office, Railways, File No. 126-I, For details see the Report of the Committee appointed by Public Work Department, Resolution No. 449, January 29, 1864*
6. *Rajputana Agency Office, Railways, File No. 126-I, March 1865, Serial No. 24, No. 721, p. 63. In this letter A. Colvin, under the Secretary to the Government of British India, Foreign Department informed the Agent to the Governor General for Rajputana States that British Authority satisfied to know that all the Rajputana States accepted the for the railway construction in their respective territories.*

7. *Rajputana Agency Office, Railways, File No. 126-I, Enclosure to serial No. 24, p. 63. When I gone through the sources I have found that as in the first Railway Contract signed on August 17, 1849 between the East India Company, the Bombay Baroda and Central India Railway Company and the Great Indian Peninsula Railway Company. In this contract British Indian Government agreed to provide required lands free of cost to the Railway Companies in British Indian Provinces. However in that contract it was not mentioned to pay compensations to the owners for the loss of property as mentioned in first clause. For details see, Bell, p. 60-62*
8. *Rajputana Agency Office, Railways, File No. 126-I, Serial No. 24, No. 721, March 24, 1875, p. 63. In this letter A. Colvin, under Secretary to the Government of British India, Foreign Department informed to the Agent to the Governor General for Rajputana States that British Authority satisfied to know that the State accepted the proposal for the construction of railway in Jaipur territory.*
9. *Rajputana Agency Office, Railways, File No. 126-I, Serial No. 7, No. 946, Erinpura, July 15, 1864, p. 23*
10. *Khureeta was a State charter issued by Maharaja of the State.*
11. *Rajputana Agency Office, Railways, File No. 126-I, Serial No. 8, No. 67/36G, Jaipur, August 10, 1864, p. 25*
12. *Rajputana Agency Office, Railways, File No. 126-I, Serial No. 29, p. 73. The Agent to the Governor General for Rajputana clearly informed to the said respective State that the British Indian Government was not ready to commenced the construction work for railways, unless the State accept conditions proposed by Government.*
13. *Rajputana Agency Office, Railways, File No. 126-I, Enclosure to Serial No. 41, September 25, 1865, p. 98*
14. *Rajputana Agency Office, Railways, File No. 126-I, Serial No. 43, No. 1623/132, Chundaleca, October 30, 1865, p. 103*
15. *Rajputana Agency Office, Railways, File No. 126-I, Serial No. 45, No. 1883/353G, Neemuch, December 30, 1865, p. 107*
16. *Rajputana Agency Office, Railways, File No. 126-I, Serial No. 46, No. 140, Fort William, January 26, 1866, p. 109*
17. *Rajputana Agency Office, Railways, File No. 126-I, Enclosure to the Serial No. 47, No. 220/22, Dhoka, February 19, 1866, pp. 111 and 112*
18. *Rajputana Agency Office, Railways, File No. 126-I, Serial No. 53, No. 237/46G, Erinpura, February 21, 1866, p. 124; Rajputana Agency Office, Railways, File No. 126-I, Serial No. 54, No. 519, Fort William, March 29, 1866, p. 125*
19. *Rajputana Agency Office, Railways, File No. 126-I, Serial No. 67, No. 552, Simla, April 14, 1866, p. 131*

20. *Rajputana Agency Office, Railways, File No. 126-I, Serial No. 54, No. 519, Fort William, March 29, 1866, p. 125*
21. *Rajputana Agency Office, Railways, File No. 126-I, Serial No. 63, No. 1257/149G, Beawar, October 4, 1866, p. 143*
22. *Rajputana Agency Office, Railways, File No. 126-I, Serial No. 65, No. 910, Simla, May 20, 1867, p. 147*
23. *Rajputana Agency Office, Railways, File No. 126-I, Enclosure 2 to Serial No. 68, No. 155/108G, Jaipur Palace, July 13, 1867, p. 154; When I gone through the sources I found that the total loss of property which had to be occurred on ceded lands was not provided.*
24. *Rajputana Agency Office, Railways, File No. 126-I, Serial No. 69, No. 1116-111, Enclosure 1 to Serial No. 69, p. 157*
25. *Rajputana Agency Office, Railways, File No. 126-I, Serial No. 69, No. 1116-111, Enclosure 2 to Serial No. 69, pp, 157-159*
26. *Lord Shiva is also known as Mahadeva.*
27. *Vakeel was one of the State Employee.*
28. *Rajputana Agency Office, Railways, File No. 126-I, Serial No. 69, No. 1116-111, Serial No. 70, No. 1117- 60G, Mount Abu, September 11, 1867, p. 161*
29. *Rajputana Agency Office, Railways, File No. 126-I, Serial No. 69, No. 1116-111, Serial No. 71, No. 1716, Simla, October 9, 1867, p. 163*
30. *Rajputana Agency Office, Railways, File No. 126-I, Serial No. 69, No. 1116-111, Serial No.73, Enclosure 1 to Serial No. 73, December 22, 1867, p. 167. For details revised terms proposed by Jaipur State which was cover almost same terms proposed in Letter No. 1116-111 of the Enclosure 2 to Serial No. 69. See, Serial No. 73 of Enclosure 1 to Serial No. 73, pp. 168-170*
31. *Rajputana Agency Office, Railways, File No. 126-I, Serial No. 69, No. 1116-111, Enclosure to Serial No. 74, p. 171; Rajputana Agency Office, Railways, File No. 126-I, Serial No. 69, No. 1116-111, Serial No. 75 No. 95G, February 12, 1868, p. 173; Rajputana Agency Office, Railways, File No. 126-I, Serial No. 69, No. 1116-111, Serial No. 76, No. 384A, February 28, 1868, p. 175*
32. *Rajputana Agency Office, Railways, File No. 126-I, Serial No. 69, No. 1116-111, Enclosure to Serial No. 74, p. 171*
33. *Rajputana Agency Office, Railways, File No. 126-I, Serial No. 69, No. 1116-111, p. 178*
34. *I bid., p. 179.*

Enonymous Rudaali : Dying Emotions, Ailing Trend (with especial reference to Western Rajasthan)

Dr. Anju Suthar

Introduction

Shedding tears is said to be a weakness of women who can at once manipulate their crying image to their advantage. While a crying man is an "embarrassment", the image of a crying woman is "usual". A crying woman earns the sympathies of those around her because she is 'vulnerable' and is in need of the support of man. The image of a crying woman thus reinforces the image of man as a protector. But what if the implication of the image is turned upside down? [1]

Materials and Methods

For the purpose of in depth study references and contents has been taken from relevant books, articles, journals and websites. The historical method of analysis, interview with local lodger are used. Both primary as well as secondary sources of information have been taken.

Results and Discussions

Professional mourning or paid mourning is a mostly historical occupation practiced in Mediterranean and Near Eastern cultures, and many other parts of the world. [2] Professional mourners, also called moirologists are compensated to lament or deliver a eulogy. Mentioned in the Bible, the occupation is widely invoked in literature, from the Ugaritic epics of early centuries BC to modern poetry held in high esteem in some cultures and times, the practice was vilified in others.

Female professional mourners also, called *Rudaali*, were common in many parts of India, especially in the Western Indian state of Rajasthan. Our Indian Culture was home to one such profession, where the lower caste ladies were hired to cry at a death by the upper-class people. And such lower-class women are known as ***'Rudaalis'***. Along with the loud hues and cries they also sing along some songs in praises of the deceased. It's like giving a eulogy to the deceased person. This profession was mainly practised in Rajasthan, India during the 19th and 20th century and still ailing in some parts in moribund condition.

Since the upper-class women are not allowed to show their grief due to their status in the society, these *Rudaalis* are hired to cry on their behalf. They trade their tears in exchange for money. Hiring such professional mourners was considered as an act of social status at the time.

Rudaali is one of the notorious orthodox practices where mourning was compulsory expressions of uncontrolled emotions by rolling on ground and beating head and breast accompanied by songs in praise of the dead. Primarily, women who live in acute poverty and belong to the lower castes are forced to become Rudaali. Their status in the society is no less than that of a prostitute. A Rudaali can be identified by her trademark appearance – dressed in black and with unkempt hair. They are expected to beat their chests, crying and wailing over the dead and even dancing by scattering themselves with vehement outcry in praise of the deceased.

Film and Fiction

Famous Bengali litterateur Mahasweta Devi delineated written account in her writings " RUDALI" that there is no expression of genuine grief, but only an ostentatious show of grief performed by the rudaalis. Some of the maliks book the rudaalis even before the death of their ailing parents. In the absence of professional mourners—who happen to be prosperous prostitutes in big cities—to mourn for "the unmourned dead," Sanichari and Bikhni, characters of Mahasweta Devis' novel become famous in the rural area. They find no shame in their work because "through motherhood and widowhood they were tied to the moneylenders, while those people spent huge sums of money on death ceremonies, just to gain prestige. Let some of that money come into Sanichari's home". Sanichari makes a list of mourning categories and fixes charges for each. Like:

'Just for wailing, one kind of rate.' 'Wailing and rolling on the ground, five rupees, one sikka.'

'Wailing, rolling on the ground and beating one's head, five rupees, two sikka.' 'Wailing and beating one's breast, accompanying the corpse to the cremation ground, rolling around on the ground there—for that the charge of six rupees.' 'At the kirya ceremony, we

want a cloth, preferably a length of plain black cloth.'[3]

Based on the life of Rudaalis there is a 1993 Indian Hindi film directed by Kalpana Lajmi, based on the short story written by Bengali litterateur Mahasweta Devi explains this situation precisely. The film is set in a small village in Rajasthan, India. . It tells the story of a woman named Shanichari, who was abandoned by her mother shortly after her father's death. Bad fortune follows her throughout her life. As the narrative begins, the dying zamindar/ Thakur (translation: landlord) anticipating his imminent death, and realizing that none of his close relatives are likely to mourn him, he summons a rudaali named Bhikni from a nearby town.[4]

It portrays a low caste woman who becomes a victim of Brahmanical patriarchy. The barbarous treatment by the society's superiors and feudal lords along with the class oppression and economic misery made women to be Rudaalis. Hence, Rudaali refers to a humiliating toil of the low caste women who wail over their caste masters' death. Sexual exploitation in the form of Rape has since long been seen as an effective method to discipline women who waver away from their 'Social Duties'. In a nutshell, it can be narrated that Rudaali is a clear indicator of the marginalized status of women in connection with the socio-political scenario. Actually, woman is basis of society but couldn't get appropriate place by man.[5] Directly or indirectly she is not given her rights by the society and families as man is being endorsed for the same.[6] Condition of women depends and decided by education, social structure, money, family and constitutional provisions.[7]

Black Odhni is their uniform. Because black was considered as the colour of death and it was also the favourite colour of the death God, *Yamraja.* Their long necks tattooed into big traditional symbols and big eyes shaded into black kohl, always ready to flow whenever given a call. Along with the loud crying, they were also supposed to create a scene by beating their chests and slapping the floors for the next 12 days. Because, the more dramatic the act, the more it is talked about by the neighbours. They take a small lunch break from the crying and shouting and relish on the leftover rotis and raw onions provided by the relatives. And then continue with the same performance again by chanting, "Hey Raam, Hey Raam."

There's a popular Rudaali saying,

"Pando bhalo na kosko, beti bhali na ek,

Leno bhalo na baapko, sahib rakhya tek."

Means:

[Walking on foot even for a mile is not favoured, nor is the birth of a single daughter.

A debt of one's father is not favoured, so may God protect us from these misfortunes.]

Womans' Esteem

"As long as a woman has a husband, she has esteem in the village." When a young woman loses her husband, especially the lower caste woman, she is considered unlucky and blamed for her husband's death. And then she is forced to do this black odhni to earn a living.

In the *Darogi* community, the *Rudaalis* also worked as *Daoris* (mistresses) to the Thakurs of the Haveli. They used to live in a small hut outside the Haveli and take care of the Thakur's kids during the day and used to please them at the nights, and also used to work as professional mourners. The kids born to these *Rudaalis* had no father and they used to work at lower posts for these Thakurs. Tyrannically if any girl was born to these Thakurs then she is killed off immediately to avoid dowry at the time of her marriage. They considered daughters as unlucky and female foeticide was also practised here but the daughters born to these *Rudaalis* used to continue with their mothers' profession. As they used to work for the Thakurs, they would take care of them financially. The Rudaalis of the *Mirasi* community worked independently and went to mourn for someone's death, when called for. They did not serve the Thakurs; hence, they had to fend for themselves.

Dress & Shelter

Rudaalis' age decide their dressing. For example, if she is early age widow, then l light green coloured cloths are for her, whereas aging widow will have to wear dark red coloured cloth engraved with black peacock feathers. Deep dark coloured Kurti- Kanchali and small magji (below side added different cloth in lahanga) with same shade.

Rudaalis have to live out side the village, this not entire truth. As a matter of fact, in early times Raje- Rajwade had number of lands, so considering rudaali as sinister, rudaalis acquire shelter out side the village. Now they live in and out the village. Rudaalis earn more from cultivation. Animal husbandry and wages rather depending than on crying and weeping, their so called defined work.

If we talk about out village living, they are given home in ORAN in some villages of Barmer, Jaisalmer and Jodhpur. From where the last house of village is situated, this is the start of rudaalis first house. Their place of residence is made of unbacked clay and thach. This is also a bitter truth that till date rudaalis are not safe from so called samaj ke thekedaars. They sing in group and reveal their grief. [8]

Another aspect of existence of rudaali is that in Shergarh and Patodi of Jodhpur district, Chhitar ka paar , Kotada, Chuli of Barmer district, Ramdevra, Fatehgarh, and Pokran of Jaisalmer district till today rudaalis are struggling , although they are very limited in numbers. Reasons behind scarcity of rudaalis are – impact of Rajput Zameendars is synchronized and rest of them are not enthusiastic in fictitious show off. Rudaalis come from Gamju, Dusaad, Bheel and lower cast communities. They all belong to widow bracket and think of as sinister.

Some of rudaalis make surrender themselves and accepted NATA PRATHA against majesty of social panchs. Some always found them in identically chained situation and continued with the same. Occupation of crying is not enough for sustenance, so they are indulged in cultivation, animal husbandry and wages. They are summoned to cut off curbed khejari and Rohida trees. Somewhere they are disallowed to come in front to some one in the early morning.[9]

Rudaalis are confronting so many challenges. They are having problems to marry their daughters. Lack of education is another big challenge to be dealt with.

They are even fighting for bread and butter. Although literacy is rolling in gradually. Now people from upper casts primarily choosing peaceful cremation. For the reason importance of rudaalis are reducing positively. Now they don't want mercy on their unhealthy conditions. They desire to come out from shape of society and mentality.

They thirst for independence.

They ambition for education.

They look for sustenance.

They hunger for respect.

They urge for a suitable life partner.

And of course, in state of widow longing their life as they want.[10]

The harsh reality of life

State of "Rudali" does not only engage with the issue of exploitation of the lower-class people, but specifically addresses the

gender-question. The women of the oppressed classes suffer not only from their socio-economic disadvantages, but also because of their gender. The race class-caste-gender nexus makes the condition of women difficult in rural Indian society. the women in the rural areas or those belonging to lower class, "lower caste" or minority communities continued to remain in shadows. Narration of rudaali retrieves the invisible women and their muted voices from the peripheries of Indian society. The story of "Rudali" brings into light the plight of women belonging to different segments in a rural society: the rudalis, the prostitutes and the upper-class housewives.

Conclusion

In the modern time Indian country is fast emerging as a global power but for half of its population, the women across the country, struggle to live life with dignity continues. Women, irrespective of their class, caste and educational status, are not safe. In the modern society women have been the victims of exploitations since long time in different fields in their life both physically, socially, mentally and economically. There are several causes of sexual as well as moral abuse which are very often highlighted by the media in Indian modern society, and a lot of those also remain unexplored. Although, such violence against women, sexual harassment, and exploitation to women is not of recent origin, its trace is found in the history of ancient India. Women are facing problems in every sphere of life whether employment, access to health care or property rights. India is fast developing but women in India continue to be discriminated.

The remote region rudaali (Sanichari and Bikhni) dwell in metaphorically represents the uneven face of society. It has nothing righteous. Standard historiography does not provide any account of the exploitations, hardships and struggles of the down-trodden people. Even after the independence of India, the so-called lower-caste and lower-class people, the tribal and ethnic minority communities continue to reside in darkness. They are deprived of their fundamental rights, like food, shelter and security and rudaalis are the best example to review and recite.

References

1. *Saiket Guha: Rudali: men, women and politics of crying, Bharatiya Pragna: An Interdisciplinary Journal of Indian Studies (E-ISSN 2456-1347) Vol. 1, No. 3, 2016.*
2. *Films-*

· *The Indian film* Rudaali *(1993), directed by Kalpana Lajmi and set in Rajasthan, is about the life of a professional mourner, or* Rudaali.
· *The short documentary* Tabaki *(2001), directed by Bahman Kiarostami, follows the lives of "mourners for hire".*
· *The Philippine film* Crying Ladies *(2003), directed by Mark Meily, follows the lives of three women who work as professional mourners, set in the Philippines.*
Literature –
· *In Honoré de Balzac's landmark novel* Le Père Goriot *(1835), the title character's funeral is attended by two professional mourners rather than his daughters.*
· *In his 2014 novel* Ghost Month, *author Ed Lin states that professional mourners are available for hire in contemporary Taiwan.*

3. *Mahasweta Devi. (2003). "Rudali." (A. Katyal, Trans.). In Urvashi Butalia (Ed.), Katha: Stories by Indian women (pp. 16-45). New Delhi: Stanza.*
4. *Kalpna Lajmi edited film "Rudaali"*
5. *Katariya Kamlesh-Nari Jeevan: Vaidic kal se aaj tak, unique trader publication, Jaipur,2009, p.- 30*
6. *Apte prabha-Bhartiya samaj main nari, classic publishing house, Jaipur,1996, p.-01*
7. *Vyas ramprasad & Upadhyay manorama,Bhartiya nari:parivertan avam chunotiya, Rajasthani granthakar, Jodhpur, p.-68*
8. *Rajasthan Patrika: 04 Jan. 2017 parivaar parishishth, Amit baiznath Garg,s article "Rote Rote Gumnaam Hoti Rudaali"*
9. *Interview with local inhabitants.*
10. *Amit Baiznath Garg,s article "Rote Rote Gumnaam Hoti Rudaali" Rajasthan Patrika, Ibid*

Creating Identities in Hindi Cinema : In Context of Rajasthan

Persis Latika Dass

Cinema, popular or parallel, a visual art of story–telling with rich inputs of music, screenplay, cast and script, is considered one of the greatest influences in our modern life. Cinema creates surreal or tangled images derived from both the past and the present. Subject to mass appeal it tends to be rhetorical and melodramatic in India yet its contribution to the nations polity, society and economy cannot be brushed aside. Given the multicultural ethos of the country, the various 'Rajasthans' portrayed in films create divergent images in the mindsets of the audience. Such images whether realist or imagined, positive or negative, subtle or brutal, leave a sonorous effect on the viewer. The research is descriptive as well as evaluative in content, describing the various prototypes emerging from films based on Rajasthan, followed by a scrutiny of the resulting identities regarding the history and culture of the region.

Cinema is a powerful tool to shape perceptions, create new ones and reinforce the old ones. Films provide insight into certain aspect of the region they are based on such as nature, culture and people which result in constructing certain fixed attitudes towards that region. Rajasthan too has been tampered in different moulds in Indian cinema producing movies that could be cast under various prototypes. Some of the apparent prototypes focussed upon in the paper are

Rajput-Period Dramas : Rajasthan has always had a stoical appeal in popular perception. The sons of the soil giving up their all for the motherland, while the women draped with unflinching love and loyalty, ready to sacrifice their last breadth on the altar of honour and nation. Rajasthan's history and literature abounds with legends, both men and women, whose anecdotes go a long way to give credence to the image the land holds in the eyes of the masses. Cinema and especially, the Hindi cinema having a wider audience, has used these historical legends as subject matter for the films right from its early phase. Such productions harp on the stereotyped images of the

erstwhile Rajput elite. These are not the official views of history based on facts and archives or research monographs, but based on popular view of the past whose stories and images are derived from epics, poems, theatre and folk tales.[1] Interestingly the earlier movies like *Amar Singh Rathore* (1956) and *Maharani Padmini* (1964), both directed by Jaswant Zaveri and starring Jairaj in leading role, reflect the stated mindset and in spite of showcasing Rajasthan reflect a 'Marathi theatre feel' to the experience especially in sets, dresses and dance numbers. In *Maharani Padmini,* portraying Alauddin Khilji's conquest of Chittorgarh, Malik Qafur is shown as a heterosexual chief conspirator behind the attack whereas fact is that he was a eunuch and it was the strategic location of the fort guarding the trade route between Delhi and Gujarat that attracted Alauddin to Chittor more than any other cause. Parallel cinema of seventies brought the notion of 'realism' in Indian cinema and made way for scripts and directors that endeavoured for historical objectivity. Gulzar's *Meera* (1979) falls under the category. The film is a biopic on the poet princess Meera accorded a semi-goddess status in popular tradition in states like Rajasthan and Gujarat. The movie without deifying her divine reverence for *Krishna* painted a very humane picture of the protagonist as well as the associated characters. The location, the costumes and mannerisms were well researched and quite authentic. According to Heidi Pauwel,[2] the director used the Hindu Bhakti Movement as an excellent vehicle for democratic and modernizing forces in popular culture in particular with regard to women. Similary, *Jodha Akbar* (2008), the multi-starrer mega-production of Ashutosh Gowarikar, in spite of all the protests and the controversy over *Harka* and *Jodha*, tried to retain its historical objectivity. It represented nostalgic affection for a Muslim ruler who worked for the welfare of his subjects. Commendably, all the stated movies despite the minor flaws and their storylines basically derived from medieval times, do stress on the innate Hindu-Muslim tradition of the land. When an audience from other parts of culturally divergent India or from overseas watches such 'Rajput-Period Dramas' they develop a particular image regarding the monarchical history, culture and lifestyle of the pre-independence ruling elite.

Feudal Rajasthan : Although, feudalism worldwide is a medieval feature, yet it was ingrained so deeply in Rajasthan's political, social and economic scenario that it continues its hold on every aspect of human life in post-independence also, thereby becoming a solemn

subject for the rebels and reformers in the film industry. *Maya Darpan* (1972) by Kumar Shahni, based on a short story by Nirmal Verma was set in late fifties and portray the dilapidating feudal lifestyle among some sections of the landed gentry along with a sub-plot of feminist leanings, inter-caste romance and modernization.[3] Throughout the movie an empathetic strain can be felt for the crumbling societal structure and the educated as well as enlightened elite attempting to adjust to the changes around them. *Rajput* directed by veteran filmmaker Vijay Anand was a multi-starrer of the 80s based on the backdrop of post-independence Rajasthan. The movie in spite of being a commercial venture parading the elite lifestyle of the former aristocracy did raise the issue of dacoity plaguing the region at the time. An interesting twist was the involvement of the erstwhile ruling class in such nefarious activities besides the traditional victims i.e., the low castes. Next cinematic venture that undertook a conscientious depiction of the rural and exploitative nature of feudalism was J P Dutta's *Ghulami* (1983).[4] The movie had strong Marxist leanings and was a brazen depiction of persistent economic and social slavery for the low castes in post-independence Rajasthan. The venture highlighted numerous humiliating and exploitative customs that the affected castes have to face in villages even today due to the oppressive mindsets of the high castes. It projected Marxist revolution with the proletariat taking arms in their hands as the only solution to the vicious situation. *Rukmawati Ki Haveli* (1991) based upon the Spanish play 'The House of Bernada Alba' by Fedrico Garcia Lorca was scripted and directed by Govind Nihlani. The movie depicts the rigid and discriminating patriarchal set up amongst the landed elite of Rajasthan. The women have been assigned certain norms pertaining to chastity and obedience, deflection from which could lead to detrimental consequences including 'Honour Killing.' Belonging to the gentry as well as weaker sex, they have to live stoically denying any natural desire and longing. Next in view are *Gulaal* (2009) by Anurag Kashyap and *Sahib, Biwi Aur Gangster Series* (2011-13) by Tigmanshu Dhulia, representing the modern politically insinuating feudality of Rajasthan. Both the movies illustrate the misogynistic feudal royalists armed with private armies attempting to gain power in modern democratic setup through conspiracies and revolutions.[5] *Gulaal* delves deeply in the milieu of student politics in the state, marred with caste and crime. The movie highlights the dormant urge of a section of the erstwhile ruling elite to regain their lost power through armed rebellion to recreate 'Rajputana.'

It is the tale of the disaffected and alienated Indian youth of twenty first century and empathetically attempts to study the various heterogeneous factors like state, school, family and communities that mould their identity.[6] Dealing with issues of legitimacy and gender roles, it is also a brusque satire on the modern day politics of Rajasthan. Continuing in the same strain is *Sahib Biwi aur Gangster* series. Though based on power struggle between the ruling elites in modern democracy it also explores the feminine search for identity and power within the institution of marriage for the women of the same class. In the series the 'wife' eliminates the other woman along with her 'lover' (gangster), incapacitate the husband, wins the election and remains married and a 'Rani Sahiba' till the end. [7]

Caste and Gender : Subject of women and depressed class oppression in an extremely caste-oriented and rigidly patriarchal society are dealt with in movies like *Tarpan*(1994), *Bawandar*(2000) and *Rudali*(1993).*Tarpan* by K Bikram Singh deals with caste norms and hierarchies that continue to plague post-independence Rajasthan. It is the story of a couple who move into a village to clean a well used by the upper castes the movie is based on fatalism and divine retribution. The age-old adage of children being punished for their forefather's sin is threaded throughout the storyline. The movie portrays the varied hues and forms of high caste gender exploitation still rampant in rural Rajasthan. Till each oppressor confesses their guilt and receives absolution, the water of the well symbolizing the earth will continue to reek with their crime. *Rudali* by Kalpana Lajmi was based on a short-story by Mahashweta Devi. The movie narrates the plight of the doubly marginalized low caste 'Shanichari' expected to live as per her gender and caste norm. The storyline is her attempt to resist all odds that life and society throw at her. Belonging to a particular caste of 'Dalit' she is expected to be a professional mourner hired to lament publically for the dead among the high caste since it is below the behavioural etiquettes of their household women to do so. Widowhood, loss of love (son of the local landlord) and rejection from her only child fail to shatter her resilient demeanour but the second abandonment by her own mother, the axis around which her identity was framed, breaks her into finally accepting the predestined as well as socially sanctioned role of a 'Rudali.'[8] The last cinematic discussion in the genre is on *Bawandar* by Jugmohan Mundhra, based on Bhanwri Devi rape case of Rajasthan. Though grounded in the desert terrain of Rajasthan the movie relates to the Indian consciousness and realities

in general. The protagonist 'Sanwari' raises her voice against 'child marriage' and has to face rape for challenging the age-old hierarchy. Her fight for justice is blocked by a socio-political system that favours the upper caste and class. *Bawandar* is a powerful denunciation of Indian society perpetuating casteism, chauvinism, injustice, oppression and sexual harassment as directives to control women.[9] Such cinematic productions become a source of social and anthropological study for the academic scholars, many of which base their study of typical patriarchal characteristics on the backdrop of Rajasthan.

Myths and Legends : Drenched in Rajasthani myths and legends come stories penned by indigenous writers depicting the different hues and hopes of the land of shifting dunes. Some of the movies of this genre are *Duvidha* (1975), *Paheli* (2005) and *Lekin* (1990). Both *Duvidha* and *Paheli* are based on a story by Vijaydan Detha in which a ghost falls in love with a merchant's bride and consummates the relationship by impersonating as the husband. A vivid portrayal of pain of loneliness and sexual frustration suffered by the women make the story real in spite of being supernatural in content. Comparatively, Mani Kaul directed *Duvidha* due to the influence of parallel cinema was more credible than *Paheli* by Amol Palekar. The latter was more of a commercialized version having roped in Bollywood superstars like Shahrukh Khan and Rani Mukherjee in leading roles. Nevertheless both the movies leave the audience mystified over complex human relationships and the social dictums that control the affairs of the heart. For the viewers such movies are a peep into the unknown and the enchanting mysteries of the land of mirages and leaves them panting for more which they attempt to find during their visit to Rajasthan. Many a times a local folk tradition also gets highlighted like the traditional puppet art of Rajasthan that received a major impetus because of its projection in *Paheli*[10] *Lekin* by Gulzar is loosely based on a Bengali short story by Rabindranath Tagore 'Kshudhit Pashaan' translated as 'The Hungry Stones' in English. The protagonist Rewa, is a woman caught between life and death and is waiting for a promised guardian who would help her to escape the cycle of time. She is neither dead nor alive which makes the storyline mythical, rustic and open to interpretation just like folktales bridging the gap between the past and the present.

Royal Elite : The Nineties witnessed an influx of Rajput aristocrats in the genre of commercial cinema. Highlighting the opulent and grandiose lifestyle of the erstwhile royalty became the baseline

for such ventures. Although there were many cinematic productions portraying the archetypal princely palatial lives of Rajputana with breeches, horses, glittering jewellery, resplendently embroidered classy attires but some of the prominent creations picked for the discourse are *Kshatriya* and *Parampara* (1993), *Eklavya: The Royal Guard* (2007) the latest *Prem Ratan Dhan Payo* (2015) and *Mirzya* (2016). Even the poster of J P Dutta's *Kshatriya* seemed oozing with the masochism classically associated with the Rajput Kshatriyas. The storyline was same as Yash Chopra's *Parampara* released just after the former. With Rajput aristocratic background the movies shot at erstwhile palaces narrate the quintessential tale of feudal family discord with a lacklustre commercial flavour thereby faring poorly at the box-office. *Eklavya: The Royal Guard* (2007), India's official entry to the Oscars for the 'Best Foreign Film Category' is about a bloodbath that erupts in a royal family in Rajasthan representing the lost world of the dethroned royalty. Pictographically, the movie is a treat by resplendently showcasing the Aravalis, the monsoon fed water-bodies and the marooned railway tracks enhancing the soulful mysticism of the adjacent desert. The whole experience is augmented by the beauty and magisticity of the hill-top palace portrayed as the residence of the protagonists. The movie is a typical Rajasthan Aristocratic on the surface but at a deeper level explores the caste biases and exploitation reflected through the low caste status of the 'bodyguard,' the police officer and the love interest of the hero. [11] Closely treading the same route is *Prem Ratan Dhan Payo* a production of the Rajasthan based Barjatya House. Based on a novel, 'The Prisoner of Zenda' by Anthony Hope, the movie dared to explore and illustrate the theme of monarchy even in twenty-first century India without appearing too ludicrous. Nevertheless, it did succeed in the exquisite exhibition of the luxurious and flamboyant life-experiences thickly associated with the Rajasthan nobility in the imagination of the mass audience.

To conclude, cinematic portrayal of a region or people creates identities in the mindset of the audience not only amongst the outsiders but even within the people of the same state. This portrayal maybe inspired from reality, a blurred past oscillating between fact and fiction or a total myth. Whatever may be the nature of the cinematic script it does creates stereotyped and sometimes surreal identities leading to a particular historical and cultural perception of the state.

References

1. *Dwyer, Rachel* Picture Abhi Baaki Hai: Bollywood as a Guide to Modern India *Hachette India, 2014*
2. *Pauwel, Heidi "Who is afraid of Mirabai? Gulzar's Antidote for Mira's Poison"* Religion in Literature and Film in South Asia *Ed Diana Dimitrova, Palgrave Macmillan, 2010, pp.45-67*
3. *Jayamanne, Laleen* The Epic Cinema of Kumar Shahni *Indian University Press 2015*
4. *Gopalan, Lalitha* Cinema of Interruptions: Action Genre in Contemporary Indian Cinema *British Film Institute, 2002*
5. *Sommya, Bhawna; Kothari, Jigna; Madangarhi, Supriya* Mother, Maiden, Mistress-Women in Hindi Cinema *Harper Collins, 2012*
6. *Shary, Timothy; Seibel, Alexander* Youth Culture in Global Cinema *University of Texas Press 2007 pp 109-110*
7. *Chauhan Kiran; Capila Anjali "The Winning Woman of Hindi Cinema"* Advance Research Journal of Social Science, *Vol. 5, Issue 2, December 2014 pp 211-218*
8. *Aiyappan, Arya "When a Rudali raises a Bawandar: The Marginalized get a Voice"* Intersections: Gender and Sexuality in Asia and the Pacific *Issue 28, March 2012*
9. *Ibid*
10. *Parciack, Ronnie* Popular Hindi Cinema: Aesthetic Formations of the Seen and Unseen *Routledge, 2016 p. 159*
11. *Golani, Sonia* Decoding Bollywood: Stories of Fifteen Film Directors *Westland 2014 pp 193-94*

The Historiography of Professor K.S. Lal

Professor Shankar Goyal

Academic Journey of Professor K.S. Lal

Professor K. S. Lal (1920-2002) was one of the most eminent historians of medieval Indian history. He took his doctorate degree in medieval Indian history from the University of Allahabad in 1945. Starting his career as a Lecturer in the same University, he served in the Madhya Pradesh Education Service from 1945 to 1963 and taught at Government Colleges in Nagpur, Jabalpur and Bhopal. He was Reader in the University of Delhi for ten years (1963-73) and, for the next ten years, Professor and Head of the Department of History in the University of Jodhpur (1973-79) and the University of Hyderabad (1979-83).

Professor Lal published a large number of monographs and articles on medieval Indian history. Many of his books received worldwide acclaim; they have been noticed in leading journals published in London, Leiden, Chicago, Leipzig and Rome. His publications include: *History of the Khaljis* —1950; *Muslim State in India* —1950; *Twilight of the Sultanate* —1963; *Studies in Medieval Indian History* —1966; *Studies in Asian History* (edited)—1969; *Growth of Muslim Population in Medieval India* —1973; *Early Muslims in India* —1984; *The Mughal Harem* —1988; *Indian Muslims: Who are They ?* — 1990; *Legacy of Muslim Rule in India* —1992; *Muslim Slave System in Medieval India* —1994, and *Historical Essays : Politics and Society* (Vols. I and II) —2001. He had command on Persian, Urdu and Rajasthani sources of the medieval Indian history. He had also produced two volumes in Hindi on the *History of Modern Europe* as early as in 1956 and 1957 (Vol. I: from 1453-1789 and Vol. II : from 1789-1945).

Professor Lal participated in many seminars and conferences, both national and international, in India and abroad. In Madhya Pradesh he was Secretary of the Madhya Pradesh Itihasa Parishad and Convener of the Regional Records Survey Committee. He presided over the Medieval History Section of the Indian History Congress in 1958, Punjab History Congress in 1975, Rajasthan History Congress in 1978, and Indian History and Culture Society in 1984. In 1977 he chaired a session at the Seventh International Conference of the Association of Historians of Asia held in Bangkok.

Professor Lal was honoured as 'Man of Achievement' in 1973 by the International Biographical Centre, Cambridge, U.K. The American Biographical Institute, Raleigh, North Carolina, nominated him for the prestigious title of the 'Man of the Year' in 1995 and the 'International Man of the Millennium' in 1999. He was nominated twice as a member of the Indian Council of Historical Research by the Government of India in the years 1998 and 2001. For a short period he was also appointed as Chairman of the Indian Council of Historical Research in 2002.

Contribution of Professor K.S. Lal to the History of Rajasthan : His Presidential Address to the Rajasthan History Congress (1978)

As mentioned earlier, Lal was Professor and Head of the Department of History in the University of Jodhpur from1973 to 1979. One of his major contributions to the history of Rajasthan in this period, besides his many articles on the subject, has been his Presidential Address delivered to the Eleventh Session of the Rajasthan History Congress at Jaipur in 1978.[1] In it he shows how the history writing in Rajasthan gradually developed through the ages. While elaborating his ideas on the state of historiography in Rajasthan, he states that James Tod set a pattern of historical writing which was to be followed by generations and generations of historians. His prototype was read and re-read and adopted as a model for historians of Rajasthan. Shyamaldas, Gaurishanker Hirachand Ojha, Vishveshwar Nath Reu and many others followed the direction set by him and in many ways improved upon it. He further says that the history of Rajasthan is a story of warriors and their deeds of fortitude and valour. The rulers of Rajasthan right up to our own times liked this sort of history to be written, and the historians obliged their sentiments. No wonder, we have a number of works published and unpublished, theses and dissertations, scholarly works and works for the general readers, in which the ruler is the hero, and the history is the story of his chivalrous deeds. But as the values and directions of life changed in every aspect and sphere and new moulds and models have made their appearance in the field of historiography since the days of Tod, and even Ojha and Reu, he cautioned modern historians to keep in mind the new

patterns of historical writing, the problems they set forth, and their own response to these problems.

According to Lal, just as modern society is derecognizing its rulers, modern historiography is doing the same with regard to medieval and ancient monarchs, and in their stead elevating the common man to a high pedestal. The conviction that the people is the real sovereign, the determinant of its destiny, has lead to greater emphasis on the study of the history of the common man, otherwise called social history. The new social history, according to him, consists of history not only with politics left out but all that is left over from political history, and comprehends women's history, work history, crowd behaviour, protest movements, history of laws, etc. He also emphasizes the importance of economic history. For him, it is a study in the economic activities of man over the centuries. Thus, the new social and economic history is a departure from the classcial political history, as it studies the economy of the structure and changes in the society and more specially the relationships between social groups. It is this social and economic history that is considered in our times to be more important than political history.[2] This new socio-economic history, as Lal shows, is truly broad-based. It comprehends every aspect of people's life, from village economy to international trade, from travel by boat to ship-building and maritime activity, from the simple life of the rural folk to sophisticated ways of the urban elite. It has no quarrel with Marxist or non-Marxist historians. It does not flatter those who style themselves as secularists.

For the study of socio-economic history, Lal writes, Rajasthan provides both a chance and a challenge to the researcher. Here, the source material for political history is abundant; even for social history the position is better than in many other states of India. There is an immensity of source material lying neglected in private hands, which is yet to be collected and classified.[3] In the state archives also Rajasthan possesses much source material than perhaps any other states in India, and this material is by and large chronologically sound and well preserved. As most of the states of Rajasthan maintained cordial relations with the Mughals, destruction of records here as a consequence of recurring invasions was not great.

Lal gives special attention to the institutions of *jauhar* and *sati* in Rajasthan. Here, he observes, where sometimes the heroines did more

glorious deeds than heroes, not much attention has been paid to the history of women. Biographies of some of the bravest of the brave ladies need to be attempted on lines similar to those of Kumbha, Sanga, and Pratap, for Rajput women were no less prominent than their menfolk in preserving at the cost of their lives, Rajput and Indian social and cultural traditions.[4]

Lal also explains his ideas on the nature of Rajput policies with the Mughals in the eighteenth and nineteenth centuries. As is well known, the Rajputs were in the vanguard of Mughal military strength. They were *mansabdars* of very high grades and held offices of *subedars* and *thanedars*. They ruled over Mughal provinces in many parts of the country, and fought to extend its frontiers within and outside India. By the end of the seventeenth century it was clear that the Mughal empire could not survive without Rajput military and administrative cooperation. It may be presumed, naturally, that the Rajputs had gained immense experience about the geography and administration of the country from Bengal to Kabul and Delhi to Deccan. Therefore, on the fall of the Mughal empire it is they who should have made a bid to rule the country. But they gradually receded into their shell and the Marathas spread out. Things came to such a pass that the brave land of the Rajputs, who had immense war experience, was trampled upon by the new-come Marathas at will. It is against this background that Lal raised some basic questions : Why did the Rajputs not attempt to carve out an all India empire ? Why did they become unduly weak after the decline of the Mughal empire ? Why did internecine struggle reappear in Rajasthan ?[5]

All in all, the Presidential Address of Lal is a fairly substantial piece of work, a definite contribution to the history of Rajasthan. Though primarily a historian of medieval Indian history, Lal also authored many scholarly research articles on medieval Rajasthan, and in his works also threw some fresh light on many a baffling problem of its history. But, as we will see, unfortunately his approach, as outlined by him in the Presidential Address, has not found reflection in his own works.

Major Works of Professor K. S. Lal

1. History of the Khaljis (Allahabad, 1950) : K. S. Lal's *History of the Khaljis* (1290-1320), his D. Phil. dissertation, was first published in 1950 from Allahabad. His study of the period has reduced the extent of Alauddin's empire, and has removed to a very large extent the charge of bigotry so often levelled against him. He has arrived at the conclusion

that the Khaljis belonged to the Turkish stock, and believed that the story of Padmini in nothing more than the growth of a legend.[6] He threw some fresh light on the causes of the family quarrels of Alauddin, his first expedition against Devagiri, Ulugh Khan's expedition to Gujarat and Alauddin's conquest of Jaisalmer. He also gave a sketch of the life, society and institutions of the early Mongols. In the second edition (1967), a chapter on the dynasty's cultural initiatives was added and the chapter on administration underwent a thorough revision. This work of Lal is regarded as one of the best on the subject. Its remarkable quality gave the book a long life in the discipline, even when newer *problématiques* of socio-economic history began to replace the ones of dynastic history.

2. Studies in Medieval Indian History (Delhi, 1966) : Lal's *Studies in Medieval Indian History* is a selection from his essays and articles. It is divided into three parts : history and historiography, government and politics, and religion and society. The first essay on the meaning and purpose of history is a long and highly interesting one. Many intellectuals from Herodotus to Toynbee have written on the meaning and importance of history, but discourses of such savants are so philosophical and abstruse that they are rightly called 'Philosophy of History' and help little the young minds to grasp its significance and value. Lal's approach, on the other hand, is that of a teacher who was, as it were, thinking aloud and talking to his students. Of the other essays, in chronological order, Lal has written on modern Indian historians of medieval India, Ziyauddin Barani as an authority on the Khaljis, factors underlying the loss of Indian independence in the twelfth-thirteenth centuries, procedure of succession in the Sultanate of Delhi, nature of the State in medieval India, corruption in the Middle Ages, battle of Haldighati and after, changing pattern of society in early medieval India, ideas leading to impoverishment of the Indian peasantry in medieval times, condition of the Hindus under the Khaljis, Hindu-Muslim rapprochement in early medieval India, Babur's impressions of Hindustan and Akbar's Din-i-Ilahi.

3. Studies in Asian History (Edited, New Delhi, 1969) : This is the *Proceedings of the First Asian History Congress* which Lal edited. He himself attended the Congress as a delegate and was affiliated to Section I with which his own paper titled 'Afghan Immigration in the Early Middle Ages' was concerned.[7] The Congress was organised by the Indian Council for Cultural Relations in December 1961, thanks to the

initiative taken by the late Prime Minister Pandit Jawaharlal Nehru. The papers and discussion at the Congress centered on the following themes : (i) Movement of peoples and ideas in Asia from the earliest times to the modern period; (ii) Changing relations between the peoples of Asia; and (iii) Social, economic and political organisation in different countries and regions of Asia. The Congress was a big success and the large number of participants included distinguished scholars from almost all countries of Asia and also from Australia, Europe, and the U.S.A., including, to name only a few, J. Filliozat, A.K. Narain, S.A.A. Rizvi, G.M. Moraes, B. Subba Rao, D.C. Sircar, Radhakamal Mukerjee, B.P. Sinha, R.S. Sharma, D.R. Regmi, Satish Chandra, Irfan Habib, John Gallagher, Khushwant Singh, Munibur Rahman, G.E. Wheeler, K.M. Panikkar and Humayun Kabir. The *Proceedings* stimulated further interest in comparative studies of historical problems and integrated interpretation of the various aspects of historical developments in Asia.

4. Growth of Muslim Population in Medieval India : A.D. 1000-1800 (Delhi, 1973): In this work Lal discusses the growth of Muslim population and its influence on Indian social order. Population studies of pre-Census times are being successfully attempted in many western countries, but in India not much work has been done in this area. This book of Lal is almost a maiden attempt at population study of the medieval India. It need hardly be said that to squeeze information on the design and size of population in medieval times from contemporary sources has been an uphill task. In his study Lal has found it fruitful to divide the eight centuries of the medieval period into four parts of two centuries each, and study the overall population as well as the growth of Muslim numbers separately for the periods 1000 to 1200, 1200 to 1400, 1400 to 1600, and 1600 to 1800 A.D. These bench-marks are not as arbitrary or unscientific as they look. The year 1000 saw the introduction of Muslims in the cis-Indus region consequent upon the invasions from Ghazni, 1200 witnessed the establishment of the Turkish rule and 1400 its dicline. Akbar's age came to a close by about 1600. The two last centuries witnessed both the peak of glory and the nadir of decline of Muslim power in India.[8]

5. Early Muslims in India (New Delhi, 1984) : In this work Lal discusses the history of early Muslims in India. According to him, the history of the early Muslims in India is the history of Muslim merchants,

missionaries, soldiers of fortune, invaders, sultans, the ruling classes and commoners, who came to India from the time of the birth of Islam in the eighth century to the end of the thirteenth. Once in a while they came in groups, often in droves and sometimes like ants and locusts. Their arrival raises the questions what was the psychological make-up of these early medieval Muslim people? How did they feel and behave and work in a country where the majority of the population remained non-Muslim? Did they love the land where they were born or to which destiny had sent them or stayed on here just to enjoy the fruits of victory and looked to outside Muslim lands for inspiration ? Did they feel like Indians or considered this country as their hunting ground ? These and many other similar questions arise in the minds of the modern historians to which medieval chroniclers do not furnish any answer.

There are three options, Lal writes, open to modern scholars for the study of the early Muslims. One choice is that while scrutinizing, evaluating and interpreting the writings of medieval chroniclers, they should not attempt any value-judgement, for the values are constantly changing. Another alternative is that since the writers of ancient and medieval times have all uncritically eulogized the glorious achievements of their respective rulers and administrators, the modern historian must scrutinize the means employed by them to achieve their glory on the basis of universally accepted human and moral values. Resort to a third option may be to steer a middle course, and it is to state facts, facts critically scrutinized, verified by all documents and proved by all evidence, and not to succumb to the temptation of substituting generalizations for reflective study. In a word, wherever we recognize civilization, whatever the factors which have created it, we may ignore the price it has cost. This is what Lal has done in this work.

6. The Mughal Harem : (New Delhi, 1988) : This work of Lal is an interesting monograph which was well received even by non-history scholars. In this work Mughal harem means the harem of the Mughal emperor, the seraglios of royal princes and important nobles, but primarily the harem of the king and by king is meant all the Mughal emperors from Babur to Bahadur Shah Zafar, but in particular Akbar and his three successors—Jahangir, Shahjahan and Aurangzeb. Akbar gave the Mughal harem an elaborate administrative set-up, which during the time of his successors developed into an elegant and sophisticated institution. It

was a queer establishment wherein mothers and aunts, sisters and cousins, wives and concubines, princesses and minor princes, dancing-girls and maids, besides of course choicest beauties for the master's pleasure—all lived under one roof as in a joint family. Each lady had a distinct role to play and each was treated with deference, admiration, adoration and strictness as was her due. At the apex was the queen mother or the mother of the reigning king, followed by the chief wife and secondary wives. It is these wives and concubines—hundreds of them and their entourage of servants, slave-girls and entertainers—that swelled the size of the harem.

In his work Lal attempts a study of these women—queens, concubines, princesses, dancing- and slave-girls. In contrast to the history of the Mughal kings and nobles, which has been the main area of study by scholars of medieval Indian history, the *Mughal Harem* deals with the life of the ladies of Mughal royalty and nobility. But contrary to probable expectation based on the title of the book, it is not a spicy record of sheer hot love. At the same time it is also not a dreary catalogue of ornaments worn by the women from head to foot, or items of their toilet or wardrobe. It does not give details of marriage celebrations in the seraglio, nor the technicalities of the games played or plots of stories read or told. Ladies of the seraglio were not independent personalities. Most of them existed solely for the purpose of giving sexual pleasure to the king or master. The Mughal harem, as Lal shows, was a living symbol of the abuse of power of arms, wealth and luxury. On an average, he concludes, the Mughal emperors ''spent half of their time in the harem and the other half in official work.''[9]

7. Indian Muslims : Who are They ? (New Delhi, 1990) : In India several factors have contributed to the growth of Muslim population—invading armies with their retinues, constant recruitment of soldiers from across the borders, red-carpet welcome extended to immigrants from Muslim countries, forcible conversions, proselytization by means of pressures and temptations, large-scale polygamy with Hindu women, and the proverbial Muslim fecundity enjoined by express statements of the Prophet who wanted his flock to be more numerous than any other people. There is, however, one factor which though important has remained neglected and to which Lal draws pointed attention in this work. He has documented in some fulness how the

continued wars of conquest waged by the Islamic invaders ensured a constant supply of Hindu prisoners of war who were sold and resold as slaves and who eventually ended up by feeding the Muslim population. It may sound cruel but the theology of Islam does prescribe capture and enslavement of non-combatants as part of the legitimate booty.

Lal examines in some detail and refutes conclusively the oft-repeated theory that the Hindu caste system was responsible for conversions to Islam and asserts that the truth was just the opposite. He points out that many countries in the Middle East, Central Asia and North Africa which had no caste system succumbed rapidly and completely to the onslaught of Islam. In contrast, the Hindus by and large resisted conversion even when the choice was between Islam and death. In India pride, the Hindus took in their caste, as in their religion and culture, was one of the powerful factors which prevented the Islamization of India.

8. The Legacy of Muslim Rule in India (New Delhi, 1992) : The legacy of Muslim rule in India needs to be dispassionately assessed because in spite of a thousand years of Muslim conquest and rule India has survived with a Hindu ethos. In this work Lal shows that had India been completely conquered and converted to Islam its people would have taken pride in the victories and achievements of Islam. But the Muslim rule in this country remained foreign in character throughout its career, seeking recognition from the Caliph, maintaining itself on the strength of soldiers imported from Muslim countries abroad, and preferring foreign Muslim adventurers for employment in prestigious posts. The Muslim state was theocratic and militaristic. So far as the Hindus were concerned, for them the period of Muslim rule was a period of unmitigated suffering and misery. The Hindus had been recognised as *zimmis* and not given the choice between Islam and death. But this status, however, did not save the Hindus from repeated massacres and constant molestation. Millions of Hindu men, women and children were captured and sold as slaves all over the Muslim world. The Hindus survived this nightmare not because Muslim rulers spared pains in spreading death and devastation, but because the Hindus offered stiff and ceaseless resistance, particularly in the countryside where Muslim arms found it hard to penetrate.

9. Muslim Slave System in Medieval India (New Delhi, 1994) : Slavery was known in ancient India, but here the slaves were so mildly

treated that foreign visitors like Megasthenes, who were acquainted with their fate in other countries, failed to notice the existence of slavery in this country. With the advent of Islam, slavery became inalienable with religion and culture and was accorded a permanent place in society. It goes to the credit of Islam to create slave trade on a large scale, and run it for profit like any other business. Prophet Muhammad had not only accepted the prevailing Arab practice of making slaves but also set a precedent when he sold some Jewish women and children of Medina in exchange for horses and arms. War was prescribed on religious grounds, and became an integral part of Islam. The *Quran* expressly permitted the Muslims to acquire slaves through conquest. The concept of *Jihad* against unbelievers, the share of every Muslim in the loot from war including slaves, and the profit obtained through the sale of slaves added new zest in Islam for practising and profiting from slavery. It was enjoined on the faithful to enslave non-Muslims for no other reason than that of their being non-Muslims.

In his *Mulsim Slave System in Medieval India* Lal documents for the first time the Muslim slave system as it obtained in medieval India under Muslim rule. He has relied solely on the role of Muslim scriptural sources for the study of Islamic slavery system both in theory and practice. But he does not mention the views of other eminent scholars on the subject as well as recent debates on issues like slave mode of production, slavery as a factor in feudalism, etc.

Conclusion

To sum up, Lal's contribution to the discipline of history is simply immense and monumental. He was a historian of traditional mould; his approach to history was similar to that of Thomas Carlyle who believed that history is nothing but the biography of great men. For him the declaration of the former President of the U.S.A., Harry S. Truman, that ''It takes men to make history; or there would be no history''[10] has a lot of truth. While explaining his ideas about history in his *Studies in Medieval Indian History* he opines that ''history is not just the knowledge of things abstract, it is not a record of mere dates, and it is not concerned with those who only stand and wait and achieve nothing; it is a record of the achievement of man and it gives us guidance and inspiration and wisdom. It helps us to know why we are today and how we can help ourselves for tomorrow.''[11] According to him, ''history may be defined as the study of

the extraordinary achievements of man and of mankind.''[12]

REFERENCES

1. *K.S. Lal, his Presidential Address,* Proceedings of the Rajasthan History Congress, *Volume XI, Jaipur Session, 1978, Jaipur, March, 1979, pp. 1-8.*
2. Ibid., *p. 3. Many historians of Rajasthan in the following years were influenced by the newly emerging trends of historiography and emphasized the need of studying social and economic history of Rajasthan.*
3. *This situation still continues.*
4. *Incidentally, L. S. Rathore has produced two poetical works of high merit entitled* The Johur of Padmini *(1988) and* Kodam : The Lingering Echoes in the Castle of Pugal *(2000). We also genuinely feel that whatever opinion a modern historian may hold about the customs of* jauhar *and* sati, *the popular mind probably will never cease to pay homage to our Padminis and Kodams.*
5. *K. S. Lal, his Presidential Address, p. 7.*
6. *K. S. Lal,* History of the Khaljis, *Allahabad, 1950, pp. 120-30.*
7. *K. S. Lal, ed.,* Studies in Asian History, *New Delhi, 1969, pp. 17-26.*
8. *K.S. Lal,* Growth of Muslim Population in Medieval India : A.D. 1000-1800, *Delhi, 1973, pp. 97 ff.*
9. *K.S. Lal,* The Mughal Harem, *New Delhi, 1988, p. 33.*
10. *Cf. Harry S. Truman,* Memoirs, *I, New York, 1955, p. 120.*
11. *K. S. Lal,* Studies in Medieval Indian History, *Delhi, 1966, p. 8.*
12. Ibid.

Folk Dance of Marwar - *'Terahtali'*

Dr. Sadhana Meghwal

Introduction

Culture is derived from the word '*Cultura*', literally meaning cultivation. Culture is a condition of training, strengthening and development of physical and mental faculties. India holds an important place in the world owing to its Culture.

Regarding the Indian Culture, Pandit Jawaharlal Nehru, in his book *"Discovery of India"*, fully agrees to the view of Dr. Ramdhari Singh Dinkar who incessantly emphasized that the Culture of India is Composite and it has developed slowly and steadily over the generations.[1] Indian Culture is basically an amalgamation of several cultures in different parts of the country. People of India profess several religions and languages which varies from place to place , so does their music, dance, food, clothesand customs. Rather it can be very well said that Culture of India is a Composite Culture. Among the various cultures that outshine in India, the culture of Rajasthan holds a key position. Rajasthan is the proud possessor of Cultural Heritage going back to the remotest periods of history. The rich heritage of Rajasthan manifests itself in its Unique Culture which includes the architectural beauty of forts and palaces, latticed *havelies*, intricately carved temples, the colourful fairs and festivals, the Rajput paintings, the folk dances, the enchanting music, the bright coloured traditionaldresses and ornaments etc.

Folk dances of Rajasthan : Arts and crafts reflect a rich culture of Rajasthan. The extant literature on the subject of Indian dance is Bharata's *"Natyashastra"* The great Sufi mystic ***Rumi***, says,

"Dancing is the nearest way to God." [2]

Dances reflect the feelings and emotions of the inner self. There are several modes of Dance, each of which has its own distinct tradition, its own manner and its own following. Dance is a co-ordinated movement of the whole body and mind. *AbhinayDarpan*[3] explains that a dancer must sustain the song in the throat, depict meaning by hands , the mood *(bhav)* through eyes and keep time with feet.

In Rajasthan , folk and tribal dances have gained an added importance when the people dance with lots of enthusiasm and vigour with very simple and open heart singularly or in a group or community, then such dance is called Folk Dance.[4] These folk dances can be classified into three categories namely,

1) Regional Folk dances

2) Folk dances of various castes and communities

3) Professional folk dances

The *Bhavai*dance, *Kalbeliya*dance, *Chari or* Pot dance, *Dandiya, KachhiGhodi and Terahtali* are the most popular dances other than the famous folk dance ie*Ghoomar*

Marwar (Western Rajasthan) has richly contributed to enhance the prestige and popularity of the folk dances of Rajasthan.

Terahtali

This is one of the most famous and unique Professional Folk Dance of Marwar. Since thirteen *manjeeras* are tied to the hands and legs of the performers, this dance is called*Terahtali*.[5] It was the traditional dance that the performers used to sing and dance on the religious festivals for the patrons . It was traditionally performed by the ladies of the *Kamad*community.[6] There was a particular way in which the *manjeeras* tied on the legs and hands are struck.They produce a marvellous and enchanting musical sound. They generally sing songs in worship of local diety*Ramdevji* of *Runicha*. In every locality of *Kamad*community, there is a temple dedicated to Lord Ramdevji .

Historicity and Social connotations

Drawing on a repertoire of devotional songs, *Terahtali* celebrates the life of Ramdevji who is said to have lived between the late fourteenth and early fifteenth centuries. He is worshipped as a God primarily by large sections of the scheduled castes, not only in Rajasthan but in Punjab, Gujarat and parts of Madhya Pradesh and Utter Pradesh as well.[7]

The Kamad community is considered of a higher status in the social ladder. If a person goes to Marwar or Deedwana, they are called *'Gorvi'* and *'Dhanak'*. They perform in front of the people of all communities. The lands they possess, are generally granted by the Jagirdars. Most *Terahtali*groups are made up of extended families, including not just the husband, wife and their children, but their relatives

as well. Since it is the women who play the cymbals, they play a crucial role in the rhythmic renderings of the songs. Interestingly, there arealotof gestures that come directly from women's household activities, like pounding the grains, separating the wheat from the chaff, spinning the charkha, churning the yoghurt.Within these seven or eight gestural patterns, there is the potentiality for creating all kinds of movements that can highlight a particular text.

Interestingly, these all night ceremonies, which include the ritual of *Arti* and the chanting of *stutis*in honour of Ramdevji, are called jama .The word *jama*is derived from the Arabic jamat, which means 'congregation of the faithful'.[8] While there aresome *jamas* where only bhajans are sung, without any performance of *Terahtali*. Local diety,Ramdevji's stratification needs to be situated alongside many other religious philosophies and practices like Sikhism, Sufism and Bhakti related practices. The coversions that succeeded in the Medieval period primarily among occupational and low–caste groups mainly because they offered the possibility of salvation to every human being . Without an advocacy of Equality, these conversions would not have succeeded. In the beginning of twentieth century, a large no of groups practised *Terahtali*who were patronised by low caste Meghwal community in the Nagaur district , associated with the Leather work and weaving. Some *Terahtali* groups were also sponsored by the Nath community in the Udaipur-Pali district.

These *Kamads*of *Terahtali* are linked to the Meghwal community as they are sponsored by the Meghwals. They can eat and dance but they do not set up matrimonial alliances with the Meghwals .Following a sudden descisionon the part of the community in Nagaur to stop their women from dancing in public, there was almost no *Terahtali*groups active in this area in the post- Independence period.[9] Only in recent decades are we beginning to see some groups returning to the dance in Nagaur and Ajmer districts.In Udaipur-Pali districts as well, there are about 100 *Terahtali*groups that that continue to be sponsord by the Nath communitybut, by and large these groups earn their living by singing devotional songs all-night singing sessions (jagran) of different communities. They have also started to participate in radio and television programmes, as well as cultural festivals in India and abroad. The women dance and sing but the men just accompany them by playing the instruments like *manjeeras, taanpuras* and *chotaras*.[10]

Performance of Terahtali

*Terahtali*is generally performed throughout the whole night.The *manjeeras*tied in hands and legs are thirteen in total and hence the name. Basically there are three ways in which the *manjeeras* are struck to produce different intensities of sounds, accompanied by different rotational gestures of the hands or flicks of the wrist. The cymbals can be clashed against each other using both hands, or else they can be played against each other in each hand.Some of these gestural rhythmic patterns evoke a chain, which is called *Sakalia*The *manjeeras* that are tied elbows are called *Talen* and those manjeeras that are kept in hand with long strings tied to them are called*Chuta* manjeera.[11]The women perform this *Terahtali*dance by sitting or lying down . They even hold swords in their mouth and a lighted lamp is kept in a thali on their head.Aftersometime, they take bronze plates in both their hands and then rotate them very swiftly and maintaining their balance on just their fingers. These Terahtali dancers always begin their performance by worshipping Lord Ganesha and singing Devotional songs. Other than folk deity Ramdevji , songs are also sung in which worshipping of great saints of India and Rajasthan takes place in particular. The *Kamads* also sing in praise of *Krisna Lila ,Harishchadra, Kabir, Meera, Ramananda, Gorakhnath etc.*[12]

The Ritual context of Ramdev: The *Terahtali*is strongly attached to the devotional and ritualistic practice of worshipping Ramdev in the bhakti mode. Significantly, Ramdev himself is not credited with creating a new sect as such, in so far as he did not lay down any scripture or ritualistic code of worship for his followers. Rather, he can more accurately be perceived as spreading a religious movement that already existed, extending it to newly found convertsin the most downtrodden sections of the low-caste Hindus, notably the Meghwals, who are also derogatorily referred to as *Dherh* because of their association with the removal of dead cattle. Significantly, Ramdevjiwas for a long time identified as the ***'God of the Pariahs'*** [13]. While this is no longer the case as he is claimed by many other middle and upper–caste groups, the stigma of untouchability is still attached to his name, compelling the scheduled castes of Meghwals and Kamads to reassess their claims on Ramdev as his erstwhile primary devotees and priests, respectively.

Conclusion : This *Terahtali,* the devotional song cum dance, is assuming a massive all-India pan-Hindu phenomenon, inevitably controlled by the upper caste. It is one of the folk dance of Rajasthan

that has been recognized as a professional dance like the *Bhavai* dance. Both *Bhavai* and *Terahtali* ought to be performed by various fire and swords and they can be performed by people engaged in such dance traditionally in their community.

Terahtali reflects the social conditions of the *Kamad*community in Rajasthan.We also get to know about their economic status. *Terahtali* is no doubt a very enchanting and mersmerising dance and it enriches the culture of Marwar region thereby enriching the cultural heritage of Marwar.

References

1. *Dinkar, Dr.Ramdhari Singh,1956,* Sanskritike Char Adhyay, *Lokbharti publication, Allahabad, Preface, p. xi.*
2. *Chopra,P.N. and Prabha,* Encyclopedia of Indian Culture, *Reliance Publishing House, New Delhi, 2003, p.82*
3. *Ibid.*
4. *Bahrat, Narpat,* Rajasthan kaSanskritik Gaurav,*RajasthaniGranthagar, Jodhpur, 2008, p.13*
5. *Ibid.*
6. *Bhanawat, Dr.Mahendra,* Sanskritike Rang, *BharatiyaLok Kala Mandal,Udaipur, 1979, p.9*
7. *Bharucha, Rustom,*Rajasthan an Oral History*, Penguin Random House,India, 2003, p. 182*
8. *Dominique, Sila Khan,* Conversions and Shifting Identities: RamdevPir and the Ismailis in Rajasthan*,1997,p. 68 (Increasingly through the processof Re-Hinduisation, the word* Jama*is being replaced by the more Hindu sounding '*jagran*'*
9. *Bharucha, Rustom,*Rajasthan an Oral History*, Penguin Random House,India, 2003, p. 182*
10. *Bhanawat, Dr.Mahendra,* Sanskritike Rang, *BharatiyaLok Kala Mandal, Udaipur, 1979, p.9*
11. *Ibid ,p. 10*
12. *Bahrat, Narpat, Rajasthan kaSanskritik Gaurav, Rajasthani Granthagar, Jodhpur, 2008, p. 13*
13. *Domnique ,SilaKhan,*TheKamads of Rajasthan—Priests of a forgotten Tradition, *Journal of the Royal Asiatic Society, Third series, Volume 6, 1996, p. 30*

चाम्बला नाला के शैलाश्रयों में मानव चित्रण

डॉ. तेजसिंह मावई एवं डॉ. विजयसिंह मावई

शैलचित्रों की खोज को लोकप्रियता स्पेन में हुई खोज ने दिलाई। इनकी खोज नितान्त आकस्मिक एवं अप्रत्याशित रूप से सन् 1879 में हुई। मासेलिनों द सौतुओला नामक एक स्पेनी व्यक्ति की पाँच लड़की जो ऊपरी गुफाएँ देखने में लीन अपने पिता से अलग होकर नीचे की ओर भटकती हुई चली गई। वह अल्तामीरा के सशक्त "बाइनस" चित्रों को अनेक सहस्त्राब्दियों के व्यवधान के बाद अपनीद भोली आँखों से देखने का सौभाग्य पा सकी। वह मारे उल्लास के Tores-Tores चिल्लाती हुई अपने पिता के पास गई और उसने उन्हें अपनी खोज का प्रथम परिचय दिया। उसकी यह खोज विश्व की चित्रकला के इतिहास में एक नये अध्याय के सूत्रपात का आधार बीनी।[1] फ्रांस, अफ्रिका, साईबेरिया, मध्य एशिया, आस्ट्रेलिया, उजबेगिस्तान आदि अनेक देशों में शैलचित्रों की खोज हो चुकी है।

भारत में प्रागैतिहासिक शैलचित्रों की खोज – भारत मे सर्वप्रथम शैलचित्रों की खोज 1880 में की गई। इस खोज का श्रेय कार्लायल और कॉकबर्न को जाता है। इन्होंने विंध्य क्षेत्र के मिर्जापुर के निकट कैमूर की पहाड़ियों में शैलचित्रो की खोज की। कार्लायल के शोध कार्य का प्रकाशन नहीं हुआ, केवल उनकी सूचना को फरवरी, 1883 की प्रोसीडिंग्स ऑफ एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल की सूची में दी गई है, परन्तु काकबर्न ने अपने शोध का सचित्र वैज्ञानिक विवरण "एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल" के जर्नल में सन् 1883 में प्रकाशित कर दिया। उसका शीर्षक इस प्रकार है – "ऑन दी रिसेंट एग्जिस्टेंस ऑफ रिनौसरम इंडिकम इन दी नार्थ-वेस्ट रॉक पेटिंग फ्रॉम मिर्जापुर, रिप्रेजेंटिंग दी हन्टिंग ऑफ दी एनीमल"[2] इस लेख के साथ ही कॉकबर्न को केन नदी की घाटी में, बांद्रा से दक्षिण में दो मील पर उन्हें गैंडे की अस्मीभूत अस्थियाँ भी प्राप्त हुई थी, जिससे गैंडे की उस क्षेत्र में होने की पुष्टि होती है।[3]

सन् 1899 में कॉकबर्न ने भल्डरिया, लोहरी और लिखनियां के शैलचित्रों पर लेख प्रकाशित किया। 1910 ई. में सी. डब्लू. ऐण्डरसन द्वारा सिंघनपुर के शैलचित्रों की खोज की गई। 1931 ई. में श्री अमरनाथ दत्त ने शैलचित्रों पर अपना अध्ययन एक पुस्तक के रूप में संकलित किया इसका नाम था – 'ए फ्यू प्रिहिस्टॉरिक रेलिक्स एण्ड राक पेन्टिंग्स ऑफ सिंघनपुर।' पंचमढ़ी क्षेत्र में शैलचित्रों की खोज डॉ. जी. आर. हन्टर और डी. एच. गार्डन द्वारा की गई। लायोहार्ट आडम ने अपनी पुस्तक "प्रीमिटिव आर्ट इन इंडिया" में भारतीय प्रागैतिहासिक शैलचित्रों की कला और प्राचीनता का वर्णन किया है। इस क्षेत्र में स्व. श्री वी.एस. वाकणकर का नाम भी मुख्य रूप से लिया जा सकता है। उन्होंने मध्यप्रदेश में भोपाल, ग्वालियर, मंदसौर आदि के निकट नवीन शैलाश्रयों की खोज की है। 1956-57 ई. में "इण्डियन आर्कियोलॉजी" में उनका एक लेख "रॉक शैल्टर्स इन मध्यप्रदेश" शीर्षक से प्रकाशित हुआ।[4] इसमें उनके द्वारा खोजे गए भोपाल के सीमावर्ती बैरागढ़ के अनेक चित्रित शैलश्रयों का उल्लेख है। संलग्न रेखचित्र में ग्वालियर, कटनी, भोपाल तीनों से एक-एक अनुकृति भी प्रस्तुत की गई है जिसमें कुछ अक्षर भी समाविष्ट किए गये।[5] वाकणकर का "भारत की प्रागैतिहासिक चित्रकला" नामक प्रकाशित लेख में पहली बार व्यवस्थित और विस्तृत रूप में भारतीय प्रागैतिहासिक चित्रों के विषय में निजी धारणाएँ व्यक्त की गई।[6] राजस्थान में शैलचित्रों की खोज का व्यापक प्रचार-प्रसार अलनियाँ के शैलचित्रों की खोज से हुआ। इसकी सूचना सबसे पहले राजस्थान पत्रिका के मुख्य पृष्ठ पर 15 अगस्त, 1978 को प्रकाशित हुई थी।[7] इस खोज का श्रेय इतिहासकार डॉ. जगतनारायण को है।

राजस्थान का गौरव, वीर प्रसुता मेवाड़ की भूमि के अंतिम छोर पर सदानीरा चर्मण्यती नदी के किनारे रावतभाटा नगर के पास रावतभाटा-चित्तौड़गढ़ मार्ग पर रावतभाटा से लगभग 1 कि.मी. दूरी पर चम्बल नदी पर चाम्बला नाला है इस नाले में अनेक शौलाश्रय है। जिनमें एक शैलाश्रय शैलचित्रों की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस शैलाश्रय की लम्बाई लगभग 80 फीट तथा चौड़ाई 16 फीट एवं ऊँचाई लगभग 7.6 फीट है। यह शैलाश्रय आदिमानव का बहत बड़ा निवास रहा होगा इस शैलाश्रय में अनेक प्रकार के शैलचित्र है। जिनमें मानव चित्रण अत्यन्त सुन्दर एवं सजीव है। शैलाश्रय में प्रवेश करते ही एक मानव का चित्र है। इस चित्र की लम्बाई 10.6 इंच हैं गर्दन एवं सिर की लम्बाई 1 इंच है। मानव धड़ की लम्बाई 5 इंच है। पैरा की लम्बाई 4.6 इंच है। इस चित्र में मनुष्य को आराम की मुद्रा में चित्रित किया गया है। चित्र में मानव का एक हाथ कमर से लगा रखा है। जबकि दूसरा हाथ कमर की ओर झुका हुआ है किन्तु कमर के लगा हुआ नहीं है। चित्र में हाथों की लम्बाई 4-4 इंच है। दो इंच कोहनी तक तथा दो इंच कोहनी से आगे है। हाथों एवं शरीर की अंगुलियों को चित्रित करने का प्रया किया गया है। शरीर के अन्दर कुए रेखाएँ अंकित की गई हैं। ऐसा लगता मानों रेखाओं के माध्यम से शरीर के आन्तरिक भाग के अंकण का प्रयास किया गया है। यह चित्र लाल कत्थई रंग से रेखांकरण विधि से चित्रित किया गया है। यह पुराश्मीय काल का सजीव चित्र है।

इसी शैलाश्रय में प्रथम मानव चित्र से थोड़ी दूरी पर मानव का एक ओर चित्र अंकित है, यह चित्र शैलाश्रय में पानी आने के कारण थोड़ा धुंधला हो गया है। इस चित्र की लम्बाई 8.5 इंच है। गर्दन व सिर की लम्बाई 1.5 इंच है। पैरों की लम्बाई 4.5 इंच हैं। हाथों की लम्बाई 3 इंच है। कोहनी तक हाथों की लम्बाई 1.5 इंच है तथा कोहनी से

आगे भी हाथों की लम्बाई 1.5 इंच है। पैरों की पगथली की लम्बाई 1 इंच है यह चित्र गतिमय अवस्था में अंकित है। एक हाथ नीचे की ओर है जबकि दूसरा हाथ ऊपर की ओर उठा हुआ है। यह चित्र लाल कत्थई रंग से बना हुआ है। इसी शैलाश्रय में समूह रूप में 8 से 10 मानवों के लघु चित्र भी अंकित है। शैलाश्रय में पानी आने के कारण ये चित्र धुंधले हो गये है। पंचमढ़ी क्षेत्र में स्थित डोरीथीडी से मानव आकृति मिली है किन्तु शरीर की दृष्टि से भिन्न है।[8] गार्डन ने भी पंचमढ़ी से इसी प्रकार के मानव का वर्णन किया है।[9] कजरीघाट एवं जम्बूदीप से गतिमय अवस्था के मानव का वर्णन मिला है।[10]

रायगढ़ क्षेत्र के कवरा पहाड़ से गतिशील मानव आकृतियाँ मिली है।[11] सागर क्षेत्र में गघेरी नदी तट पर स्थित आबचन्द के शैलाश्रय से श्याम कुमार पाण्डेय द्वारा इस प्रकार की गतिशील मानव आकृतियों का वर्णन किया है।[12] लिखवानिया से एकल व समूह रूप में मानव चित्रण मिला है।[13] उत्तरी विध्न क्षेत्र से गतिशील मानव के अनेक चित्र मिले है।[14] दरा के तिपटिया, हरना-रोझा, काला टोला, पाडा खुंटा, भडानी का छाजा व श्रीपुरा से उत्कीर्ण मानव के चित्र मिले है। दरा से स्थिर और गतिमय अवस्था के मानव चित्र मिले है।[15] डॉ. एम.एल. साहु ने अपने शोध ग्रन्थ अलनिया के शैलचित्रों का ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन में एक मानव का चित्र वृणित किया है। इस आकृति में मानव ने अपना एक हाथ कमर पर एवं दूसरा सिर पर रखा हुआ है। मानव को चलते हुए बताया गय है।[16] तमिलनाडू के धर्मपुर जिले के अम्मावसई कुदू कोटिकुन्दू में भी ऐसा चित्रण मिलता है।[17] सिघनपुर, भोपाल,मिर्जापुर, पंचमढ़ी, होसंगाबाद के शैलाश्रयों में भी मानव चित्रण मिला है।[18] चतुर्भुजनाथ नाला व गांधीसागर में भी मानव चित्रण इसी प्रकार मिला है।[19] नरसिंहगढ़ के शैलचित्रों में मानव को एकल, युगल एवं समूह रूप में चित्रण मिला है।[20]

सन्दर्भ

1. *M.C. बर्किट & Four Hundred Centuries of Rock Art*
   डॉ. जगदीश गुप्त, प्रागैतिहासिक भारतीय चित्रकला, दिल्ली।
2. *लियोन हार्डएडम, प्रिमिटिव आर्ट, तृतीय संस्करण, पृष्ठ 111-112*
3. *जर्नल ऑफ दी एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल (J.A.S.B.), संस्करण 52, भाग II, नं. 1, पृष्ठ 56-64*
4. *इंडियन आर्कियोलॉजी 1956-57 ई. पृष्ठ 79*
5. *इंडियन आर्कियोलॉजी 1956-57 ई. पृष्ठ 80*
6. *डॉ. जगदीश गुप्त, प्रागैतिहासिक भारतीय चित्रकला, दिल्ली।*
7. *राजस्थान पत्रिका, प्रथम पृ. 15 अगस्त 1978, जयपुर संस्करण।*
8. *डॉ. जगदीश गुप्त, प्रागैतिहासिक भारतीय चित्रकला, दिल्ली पृ. 335-36*
9. *सा.क. 1939, पृ. 146*
10. *गार्डन, डी. एच. इंडियन केव पेन्टिंग, जर्नल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल नं. 9, 1943*

11. *गार्डन, डी.एच. इंडियन केव पेन्टिंग, जर्नल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल नं. 5, 1943*
12. *डॉ. जगदीश गुप्त, प्रागैतिहासिक भारतीय चित्रकला, दिल्ली पृ. 238*
13. *डॉ. आर. के. वर्मा, रॉक आर्ट सेन्ट्रल इंडियन 82-87*
14. *डॉ. आर. के. वर्मा, रॉक आर्ट सेन्ट्रल इंडियन 73-74*
15. *डॉ. तेजसिंह मावई, दरा के शैलचित्रों का ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन पृ. 42-49*
16. *डॉ. एम.एल. साहु, अलनिया के शैलचित्रों का ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन*
17. *के. राजन, रॉक पेन्टिंग इन धर्मपुरी डिस्ट्रिक्ट, तमिलनाडु, पुराकला 1991, वॉल्यूम-2 संख्या 2 पृ. 59*
18. *डॉ. जगदीश गुप्त, प्रागैतिहासिक भारतीय चित्रकला, दिल्ली पृ. 121-141*
19. *पुराकला, 2015 वाल्युम 25, पृ. 36-42*
20. *पुराकला, 1992 वाल्युम 3 नं 1 से 2, पृ. 27-28*

आरम्भिक काल में राजस्थान की आर्थिक व्यवस्था (भूमिदान पत्रों के विशेष संदर्भ में)

डॉ. रजनी शर्मा

प्रस्तुत शोध पत्र में गुर्जर प्रतिहार, चालुक्य, परमार, गुहिल, चौहान, पाल आदि राजवंशों के समय जारी भूमि दान पत्रों का वर्णन किया गया है। उपलब्ध भूमि दान पत्रों से राजस्थान की आर्थिक व्यवस्था के विविध पक्ष उदाहरणार्थ कृषि एवम् पशुपालन, उद्योग एवम् व्यवसाय, श्रेणी संगठन, विनिमय और मुद्रा प्रणाली, तौल एवम् माप, भूमि की नाप, व्यापार वाणिज्य, राजकीय आय के साधन तथा राज्य के आर्थिक ढाँचों आदि पर प्रकाश डाला गया है।

गुर्जर प्रतिहार वंश के शासक भोजदेव के ताम्रपत्र (वि.सं. 900, 844 ई. शती) के अन्तर्गत भोजदेव के प्रपितामह सम्राट वत्सराज द्वारा शिवग्राम भट्ट वासुदेव को दान में दिये जाने का उल्लेख है। भोजदेव के समय भट्ट विष्णु के वंशजों के हित में इस दान का पुर्ननवीनीकरण किया गया। दानपत्र की 12वीं पंक्ति में विगतिम्-उपागते शब्द का अर्थ दान के स्थगन से लिया गया है।[1] अर्थात इस काल दान पत्रों में भूमि दान का स्थायी होने की प्रकृति का बोध होता है। जिसमें भूमि दान का पुर्ननवीनीकरण कर भूमि प्रतिग्रहीता के वंशजों को ही प्रदान की गई।

प्रतिहार कक्कुक का घटियाला स्तम्भ लेख (द्वितीय) (वि.सं. 918, 862 ई. शती) में व्यापारियों हेतु वीथियों से युक्त हाट (बाजार) और भवन बनाकर महाजनों को बसाये जाने का वर्णन है। इस लेख की निम्न पंक्तियाँ उपरोक्त आर्थिक तथ्यों को स्पष्ट करती है -

द्वितीय पंक्ति - विचित्र वीथी संपूर्ण हट्टं कृत्वा गृहाणि च।
विप्रवणिग्प्रकृतीनां गृहं कृत्वा प्रियेण च॥
चतुर्थ पंक्ति - श्री भ्तकक्करू पुत्रेण सत्प्रतीहार जातिना।
कक्कुकेन स्थितिं दत्वा स्थपितोत्र महाजनः॥[2]

अर्थात् इस क्षेत्र में प्रतीग्रहीता के रूप में केवल ब्राह्मण ही नहीं अपितु व्यापारी भी शामिल थे।

चालुक्य महाराजधिराज श्री दुर्लभराज के समय का राष्ट्रीय संग्रहालय दिल्ली का ताम्रपत्र (वि.सं. 1067, 1010 ई. शती) में ब्राह्मण नन्नक को क्षत्रियपद गाँव का दान किया गया। ग्राम दान के साथ प्रतिग्रहीता को (गोचर पर्यन्तः समभाग भोगः सौ (सो) परिकर) अर्थात् भाग, भोग, उपरिकर आदि करों के उपभोग का अधिकार दिया गया।[3] इस साक्ष्यश में प्रतिग्रहीता को भूमि दान के साथ-साथ देय क्षेत्र के वृक्ष, तालाब, कूप, वन एवम् जल सम्पदा प्रदान करने से आस-पास के निवासियों के निर्मित उपरोक्त साधनों के उपभोग की व्यवस्था आसान हो गई। परमार शासक भोज प्रथम के बांसवाड़ा ताम्रपत्र (वि.सं. 1077, 1020 ई. शती) में एक सौ निवर्तन भूमि ब्राह्मण को दान में दिये जाने का वर्णन प्राप्त होता है।[4] महाराजा अल्हण देव का खण्डित ताम्रपत्र (वि.सं. 1205, 1148 ई. शती) में सिक्कों, अन्न व भूमि नाप की इकाई का उल्लेख प्राप्त होता है। द्रमक, द्रम्म (सिक्के), द्रोण (भूमि माप, 1 द्रोण = चार आढक) तथा कुमर द्रोण (अन्न का माप) आदि ईकाइयों का वर्णन हैं। इसमें नाडौल की मंडपिका से छः द्रम्म मंदिर को दिया जाना निर्धारित किया गया।[5]

उपरोक्त दान पत्रों में कृषि को उत्पादन, अन्न व भूमि की माप, सिक्कों आदि की ईकाइयों का अस्तित्व यहाँ सुव्रूवस्थित आर्थिक व्यवस्था को दृष्टिगंत करते है। निवर्त्तन नामक भूमि माप की ईकाई का उल्लेख दक्षिण के सातवाहन अभिलखों से भी प्राप्त होता है। इनमें राजस्थान से ऐसे दान पत्र के उदाहरण भी प्राप्त हुये है, जो राज्य की आय के स्त्रोत थे। इनमें गुहिल वंश के विजयसिम्हा के कद्माल ताम्रपत्र (वि.सं. 1140, 1083 ई. शती) में पल्लिग्राम के पश्चिमी भाग को वत्स गोत्र के ब्राह्मण को सभी देय करों जैसे तदर्धकर-पनिय-भाग-भोग दिस हितम् आदि के आधे भाग के साथ देना निर्धारित किया गया। शेष आधा भाग राज्य को अदा करना होता था। यह उदयपुर से 15 कि.मी. दूर एकलिंग जी पास नागदा से जारी किया गया था।[6] राज्य की आय के स्त्रोत में अन्य दान पत्र के उदाहरण में चन्द्रावती परमार वंश के धारावर्ष के कायद्रा प्रस्तर अभिलेख (वि.सं. 1220, 1164 ई. शती) को लिया गया है। इसमें मन्दिर को प्रदत्त भूमि अनुदान में से मन्दिर द्वारा कुछ कर का भुगतान राज्य को किया जा रहा था।[7]

अर्थात् भूमि दान की प्रक्रिया में जब भूमि का हस्तानान्तरण तथा क्रय-विक्रय होता था, तब राज्य को कुछ कर प्राप्त होता था तथा भूमि को कर मुक्त घोषित करने के बदले राज्य को अन्य व्यक्ति के हाथ में भूमि हस्तानान्तरण से शुल्क भी प्राप्त होता था, अतः राज्य को आर्थिक नुकसान नहीं हुआ। चौहान कुमार सिंह के पुत्र अजय सिंह के दान लेख में (संवत् अंकित नहीं, नाडोल-पाली) देवउत्थापन एकादशी पर 'ठीको' - भूमिया खेत का दान स्थायी रूप से दिया गया। इस दानपत्र में देय भूमि के सीमा निर्धारिण में अरघट्ट या रानलठिकु क्षेत्र का उल्लेख है।[8] चालुक्य शासक भीम-द्वितीय के आहड़ ताम्रपत्र (वि.सं. 1263, 1206 ई. शती) में कृषि भूमि के साथ अरहट्ट दान में दिये जाने का उल्लेख है।[9]

महाराजाधिराज कुमारपाल के सामन्त चौहान अल्हणदेव के शासन के ताम्रपत्र (वि.सं. 1220, 1163 ई. शती) में रानी शंकरदेवी द्वारा शुल्क मंडपिकायां (चुंगी-चौकी)

से प्रतिमाह चार द्रम्म गौरी देवीके प्रतिदिन भोग हेतु निर्धारित किये। इसके अलावा चाँबोड़ी गाँव की तीन हल भूमि त्रिपुरूषदेव के निमित्त दान करी गयी।[10]

राज्य में मंडपिका (चुंगी चौकी) जो आयात-निर्यात का शुल्क वसुलती थी, दानपत्रों में वर्णन मिलता है कि चुंगी चौकी को होने वाली आय का कुछ हिस्सा भी उस क्षेत्र के प्रतिग्रहीता को देना निर्धारित किया गया। इससे राज्य को आर्थिक राजस्व का नुकसान हुआ। परन्तु इस हानि के बदले कृषि का विकास इस क्षेत्र में दृष्टिगत होता है, क्योंकि कृषि विकास हेतु अरहट्ट दान में दिया जाना दाता द्वारा प्रतिग्रहीता हेतु साधनों की व्यवस्था को दर्शाता है, अपितु यह भी स्पष्ट करता है कि अवश्य ही भौगोलिक दृष्टि से इस क्षेत्र में पानी की आवश्यकता होगी, इस व्यवस्था से आस-पास के निवासियों को भी सुविधायें मिलना प्रतीत होता है।

महाराज पृथ्वीदेव चौहान (तृतीय) का अभिलेख (वि.सं. 1236, 1180 ई. शती) में लोकेश्वर मन्दिर को प्रदत्त भूमि दान में इस क्षेत्र की वन काष्ठ भी सम्मिलित थे। इस क्षेत्र में उपजी उन्हालु-सियालु (रबी और खरीब) की फसलों की उपज का पाँचवा भाग मन्दिर को भोग के रूप के रूप में दिये जाने का उल्लेख है।[11] महामण्डलेश्वर धारावर्ष के बुतड़ी प्रस्तर अभिलेख (सिरोही, राजस्थान वि.सं. 1271, 1214 ई. शती) में ग्राम सावदा व्रध की एक हलवाह भूमि अम्पा नामक व्यापारी को दान में दी गयी।[12] बाटेरी ग्राम ताम्रपत्र (1282, 1225 ई. शती) में बाटेरी ग्राम को पुण्यार्थ धार्मिक लाभ प्राप्ति हेतु दान किया गया, परन्तु इस ताम्र पत्र में दाता श्रीधर को अन्य शासकों से कर एकत्रित करने वाला बताया गया है।[13] इन साक्ष्यों से यह भी स्पष्ट होता है कि व्यापारियों के हितों को यहाँ ध्यान रखे जाने से आर्थिक गतिविधियों को तीव्र गति मिली। व्यक्तिगत रूप से प्रदत्त धर्म निरपेक्ष भूमि दान पत्रों के उदाहरण में दाता ने अधीनस्थ शासकों से कर एकत्रित कर मुख्य शासक को प्रदान किया। इस प्रकार सामन्त व अधीनस्थ शासक भी राज्य हेतु आय प्राप्ति के नियमित स्त्रोत थे।

राजस्थान में कुछ राजवंशों चौहानवंश, चालुक्य वंश आदि में जहाँ इस व्यवस्था ने प्रतिग्रहीता को उच्च स्थिति प्रदान की, दूसरी तरफ गुर्जर प्रतिहारवंश गुहिल वंश तथा परमार वंश के शासनकाल में इस व्यवस्था ने राज्य को लाभ पहुँचाया। राजस्थान में शासक इस व्यवस्था से राजकोष को होने वाली आर्थिक हानि के विषय में सजग रहा, शासक ने राज्य को आर्थिक हानि से बचाने हेतु अन्य माध्यम जैसे दान शासन के नवीनीकरण, अनुमादन आदि के रूप में प्रतिग्रहिता से रकम प्राप्त की। इन वंशों में सामन्तों की स्थिति अच्छी रही होगी जिससे ये स्वतंत्र रूप से दान आदि दे रहे थे।

संदर्भ

1. *श्रीमाली, गोविन्दलाल, राजस्थान के अभिलेख (मारवाड़ के संदर्भ में) भाग-1, महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाशन, जोधपुर 2000 पृष्ठ संख्या 15-17*

2. *वही, पृष्ठ संख्या 27-28*
3. *वही, पृष्ठ संख्या 56-57*
4. *एपिग्राफिआ इन्डिका, खण्ड 9, पृष्ठसंख्या 181-183*
5. *श्रीमाली, गोविन्दलाल, पूर्वोक्त, पृष्ठ संख्या 118-119*
6. *एपिग्राफिआ इन्डिका, खण्ड 31 (1956-56), प्रकाशित 1987, पृष्ठ संख्या 243-248*
7. *कॉपर्स इन्सक्रिप्शनम् इन्डिकेरम, खण्ड 7, भाग (पप) पृष्ठ संख्या 243-245*
8. *श्रीमाली, गोविन्दलाल, पूर्वोक्त, पृष्ठ संख्या 152-153*
9. *प्रकाश, ओम, अरली, इण्डियन लैण्ड ग्रान्ट्स एण्ड स्टेट इकॉनोमी, एक्सीलेंस पब्लिशर्स, इलाहाबाद, 1988 पृष्ठ संख्या 93*
10. *श्रीमाली, गोविन्दलाल, पूर्वोक्त, पृष्ठ संख्या 147-148*
11. *वही, पृष्ठ संख्या 177*
12. *कॉपर्स इन्सक्रिप्शनम् इन्डिकेरम, खण्ड 7, भाग (पप) पृष्ठ संख्या 256*
13. *प्रकाश, ओम, अरली इण्डियल लैण्ड ग्रान्ट्स एण्ड स्टेट इकॉनोमी, एक्सीलेंस, इलाहाबाद 1988 पृष्ठ संख्या 188*

कागा स्थित ठाकुर राजसिंह की छतरी एवं शिलालेख - एक अध्ययन

डॉ. ज्योत्सना व्यास

जोधपुर शहर से लगभग पांच किलोमीटर दूर उत्तर दिशा में अरावली पर्वतमाला की गोद में कागा नामक अत्यन्त प्राचीन तीर्थ स्थित है। इस स्थान को पुण्यतीर्थ जानकर यहाँ जोधपुर राज परिवार के सदस्यों का अन्तिम संस्कार किया जाने लगा। अब यह स्थान कागा श्मशान के नाम से जाना जाता है। यहाँ जिन राजपुरुषों का अन्तिम संस्कार किया गया उनमें से अनेक की छतरियाँ तथा देवल भी बने हुए हैं। विशाल देवलों से लेकर छोटी-बड़ी छतरियों की कुल संख्या 100 से भी अधिक है। लगभग पचास कागा की छतरियों की पुरातात्विक रिपोर्ट और फोटो Indira Gandhi National Center For The Arts (www.ingca.gov.in) website पर उपलब्ध है।

इन छतरियों में भाटी, राठौड़, चम्पावत, राव राजपूतों, राजपुरोहितों, सांघी व चारणों की छतरियाँ शामिल है। लाल घाटू के पत्थरों से निर्मित छतरियों तथा देवलों के कलात्मक स्तम्भ, संगमरमर की मूर्तियों तथा शिलालेख देखने वालों को एक वैभवशाली अतीत में ले जाते है। यहाँ कई राजपुरुषों की गाथायें सोयी पड़ी हैं जिन्होंने अपनी निष्ठा, समर्पण और शौर्य से मारवाड़ राज्य का ही नहीं सम्पूर्ण हिन्दू जाति का गौरवशाली इतिहास लिखा। इन छतरियों में छेनी-हथौड़ी के प्रहारों से कला का जो सुन्दर संसार इसके पत्थरों पर उतर आया था, आज भी उसके दर्शन किये जा सकते हैं। इस छतरियों से हमें तत्कालीन मारवाड़ के सामाजिक व सांस्कृतिक इतिहास पर पूर्ण रूपेण प्रकाश पड़ता है। यद्यपि अधिकांश छतरियों के शिलालेखों के नष्ट हो जाने से यह पता लगाना तो अब लगभग असंभव है कि ये छतरियाँ किस राजपुरुष अथवा राजमहिषी की है किन्तु कुछ छतरियाँ अब भी अपनी कहानियाँ कह रही हैं।

इनमें आसोप के ठाकुर राजसिंह कुम्पावत की छतरी उल्लेखनीय है तथा इस देवल पर प्रकाश डालने का विनम्र प्रयास इस शोधपत्र में किया गया है, सर्वप्रथम आसोप के ठाकुर राजसिंह कुम्पावत के जीवनकाल पर प्रकाश डालना उचित है।

इनका जन्म वि. सं. 1643 वैशाख सुद द्वितीया को हुआ था। युवा होने पर यह वि.स. 1671 (1614 ई.) में महाराजा सूरसिंह की सेवा में उपस्थित हुए। महाराजा सूरसिंह के साथ अजमेर से दक्षिण अभियान पर अपने कुछ वीर योद्धाओं के साथ गए। सफल दक्षिण अभियान के कारण इन्हें मेड़ते परगने का इडवा गांव प्रदान किया गया। इसी प्रकार महाराज कुमार गजसिंह के साथ वि.स. 1674 में जालोर के पठानों के उपद्रव को समाप्त कर, वहां पर अधिकार किया। इन्होंने महाराजा गजसिंह के साथ प्रत्येक अभियान में अपनी महत्वपूर्ण भागीदारी निभाई। वि.सं. 1695 ज्येष्ठ सुदी 3 (6 मई, 1638 ई. रविवार) को महाराजा गजसिंह का आगरा में स्वर्गवास हो गया। तब 25 मई 1638 ई. को महाराज कुमार जसवंत सिंह को जोधपुर का महाराजा बनाया। इस समय उनकी अवस्था 12 वर्ष की थी। तब सेनानायक राजसिंह कुम्पावत को एक हजार जात और 4 हजार सवार का मनसब देकर प्रधान नियुक्त किया गया। महाराजा जसवंत सिंह के संरक्षक व जोधपुर राज्य के प्रधान के रूप में राजसिंह ने बड़ी निष्ठा और कुशलता से अपनी सेवायें प्रदान की।

इन्होंने महाराज को सदैव उचित सलाह व शिक्षाएँ दी। महाराज को अपने प्रथम कर्त्तव्य 'प्रजासुख' का पाठ बखूबी पढ़ाते थे। ठा. राजसिंह की वफादारी व कर्त्तव्यनिष्ठा के बारे में एक कथा भी प्रचलित है। एक बार महाराजा जसवंत सिंह प्रजा के सुख व दु:ख का निरीक्षण करने के लिए स्वयं रात्रि मे ंगये। वह गुप्तरूप धारण करके निकले हुये थे तभी सामने से कोतवाल को आता देखकर निकट ही 'तापी बावड़ी' में अन्दर छुपने हेतु उतर गये। वहां एक ब्रह्म राक्षस इनके शरीर में प्रविष्ट हो गया तथा महाराजा के प्राण लेने पर उतारू हो गया। मगर मंत्रवादियों के दबाव से उसे यह स्वीकार करना पड़ा कि ''यदि इस देह के समान कोई पटरानी, कुंवर अथवा राजपुरुष दिया जाये तो मैं इस राजा को छोड़ दूंगा।'' इस पर ठाकुर राजसिंह ने कहा कि ''महाराजा के एवज में मेरे प्राण बलिदान हो जाये तो अहो भाग्य है।'' फिर इन्होंने महाराजा जसवन्त सिंह पर वारा मंत्रित जल पी लिया। उस मंत्रित जल के पीने से ठाकुर राजसिंह कुम्पावत की मृत्यु हो गई तथा महाराजा तत्काल ही ठीक हो गए एवं उनके प्राण बच गये। राजसिंह के त्याग और स्वामिभक्ति को प्रकट करने वाले कई दोहे भी कवियों ने लिखे हैं।

ठाकुर राजसिंह की मृत्यु वि.सं. 1697 की पौष वद पंचमी (23 नवम्बर 1640 ई.) को हुई। इसके अतिरिक्त ठा. राजसिंह भवन निर्माण कला का भी पारखी था। जोधपुर दुर्ग और जोधपुर नगर में तरणपोल, सभामण्डप, दीवानखाना, अनधन जी ठाकुर द्वारा कुआं तथा तलहटी के महल आदि बहुत सी सुन्दर इमारतें राजसिंह कुम्पावत के देखरेख में निर्मित हुई। इसके अतिरिक्त राजसिंह ने अपने जीवनकाल में कई भव्य इमारतें तथा बाग इत्यादि का निर्माण करवाया। राजसिंह ने जोधपुर स्थित अपनी हवेली तथा आसोप के सुन्दर महल बनवाकर उन पर स्वर्ण कलश चढ़ाये थे जो अब भी विद्यमान है। वि. सं. 1681 की वैशाख शुक्ला 3 गुरुवार को आसोप में एक सुन्दर सभा मण्डप बनवाया। इसी वर्ष माह वदी 14 मंगलवार को धाय माता के आगे एक विशाल मण्डप बनवाया। आसोप से करीब 2 मील की दूरी पर पीलाना नामक तालाब पर अपनी माता देवड़ी की स्मृति में विशाल छतरी का निर्माण करवाया। छतरी पर वि.सं. 1682 की फाल्गुन सुदी 11 रविवार को शिलालेख खुदा हुआ है। राजसिंह कुम्पावत द्वारा

सूरसागर से कुछ ही दूरी पर एक सुन्दर बगीचा बनाया गया जो आज भी राजबाग के नाम से जाना जाता है।

अंतत: इस शोध पत्र से हमें कई सामाजिक सांस्कृतिक जानकारियाँ प्राप्त होती है। हमें यह ज्ञात है कि मारवाड़ के महाभारत (सुमेल गिरी) के महायोद्धा राव कूंपा (मेहराज) एवं उनके वंशज कूम्पावत राठौड़ों की मारवाड़ के इतिहास में महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इस कुल के वीरों ने जोधपुर राज्य के विभिन्न पदों पर रहते हुए जिस स्वामिभक्ति और वीरता का प्रदर्शन किया वह अप्रतिम है। इन क्षत्रियों ने अपने क्षत्रिय धर्म का पालन करते हुए अपनी सत्यनिष्ठा व कर्तव्य परायणता से कुल गौरव को समुज्जवल कर ऐसे इतिहास का निर्माण किया जिस पर आने वाली पीढियां गर्व कर सके तथा ठाकुर राजसिंह कुम्पावत इसका उदाहरण है।

तत्कालीन भारत के बादशाह शाहजहॉ भी इनकी स्वामीभक्ति एवं वीरता से वाकिफ थे। उन्होंने इनको सम्मानसूचक माही मुरातिब में अपने महलों व हवेली पर सुवर्ण कलश चढ़ाने की आज्ञा दी थी। तदनुसार आसोप की हवेली पर आज भी सुवर्ण कलश विद्यमान है। इससे सामन्तों की बादशाह एवं मनसब शासकों के प्रति वफादारी एवं स्वामीभक्ति पर प्रकाश पड़ता है। इसके साथ-साथ मारवाड़ की तत्कालीन प्रशासनिक व्यवस्था पर भी प्रकाश पड़ता है कि प्रधानामत्य एवं प्रधानमंत्री पद बड़े ही महत्व का था क्योंकि अगर हम ब्रह्म राक्षस वाली कथा सत्य मानते हैं तो प्रधानमंत्री अथवा पटरानी का राजा के समकक्ष उल्लेख होना, इस पद की गौरव एवं प्रतिष्ठा को दर्शाता है। ठाकुर राजसिंह की छतरी का कागा की अन्य छतरियों में सबसे बड़ी व भव्य होना भी उनकी महत्वपूर्ण भूमिका की ओर इंगित करता है। हम अगर स्थापत्य की ओर ध्यान केन्द्रित करें तो हमें इस छतरी द्वारा मारवाड़ शैली पर इस्लामी प्रभाव दिखलायी देता है। इस छतरी का अलंकरण भी उस काल विशेष के वैभव को दर्शाता है।

अगर हम धार्मिक पहलू की ओर नजर डाले तो पश्चिमी राजस्थान में लोक देवताओं का सदैव विशिष्ट स्थान रहा है। करीब 9वी शताब्दी (गोगाजी) से वीर राजपुरुषों को लोक देवताओं के रूप में पूजा जाने लगा है। इसी तरह वीर व बलिदानी ठाकुर राजसिंह कुम्पावत को भी देवों में पूजा जाता है। जोधपुर में आसोप की हवेली में दूसरी मंजिल में उनका देवस्थान है। लोग दर्शनार्थ जाते हैं व अपनी बोलवा बोलते हैं।

छतरी से प्राप्त शिलालेख का प्रारंभ 'श्री गणेशाय नम:' से हुआ है जो तत्कालीन राजवंश की धार्मिक विचारधारा पर प्रकाश डालता है। इसी क्रमवार शिलालेख में घोड़े के नीचे 3 स्त्रियाँ (उपपत्नियाँ) चित्रित है- एक के हाथ में सितार, दूसरी के हाथ में वीणा और तीसरी के हाथ में ताल है जो संभवत: तत्कालीन मारवाड़ में 'सती-प्रथा' को उत्सव के रूप में मनाये जाने की ओर इशारा करते हैं। स्त्रियाँ स्वयं अपनी खुशी से सती होती थी। आसोप में भी ठाकुर राजसिंह के पीछे उनकी दूसरी ठकुरानी इमरत कंवर

भटियाणी बीकपुर से आकर दासी ककेला और गुँजी की साथ (वि.सं. 1697 की पौष सुद 7) आसोप में सती हुई थी। वहाँ पर भी सती स्मारक अभिलेख है जिस पर राजसिंह की मृत्यु वि.सं. 1697 की पौष सुद षष्ठी अंकित है मगर जोधपुर के शिलालेख में पंचमी अंकित है वे सम्भवत: एक दिन बाद सती हुई होगी।

इसके अतिरिक्त मैं यहां इस बात की ओर आप सभी का ध्यान केन्द्रित करना चाहूंगी कि वर्तमान में कागा स्थित छातरियाँ देख-रेख के अभाव में जर्जर हो रही है। अनेक शिलालेख टूट रहे हैं तथा इतिहास को जानने के प्रमुख स्रोत खण्डित हो रहे हैं। कागा की ये पवित्र भूमि कूड़े-कचरे का निस्तारण केन्द्र बन गई है। इस प्रकार कागा स्थित छतरी से हमें तत्कालीन मारवाड़ की सामाजिक एवं सांस्कृतिक इतिहास की जानकारी प्राप्त होती है। यह छतरियाँ उस युग की सम्पन्नता की सूचक है। ऐसी अनेकों छतरियाँ कागा में ही नहीं वरन् पूरे मारवाड़ में स्थित है जिनसे हम यहाँ के इतिहास के पुरातात्विक स्रोतों के रूप में कई राज उगलवा सकते हैं।

संदर्भ

1. *पं. रामकरण आसोपा, आसोप का इतिहास, रावबहादुर ठाकुर फतेहसिंह (आसोप, मारवाड़) प्रकाशक, वि.सं. 1997, पृ. 60-70*
2. *गोविन्दलाल श्रीमाली, राजस्थान के अभिलेख, भाग 2, महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाश, जोधपुर, 2000, पृ. 422-424*
3. *राव शिवनाथ सिंह, कुम्पावत राठौड़ों का इतिहास, पृ. 213-230*
4. *पं. विश्वेश्वरनाथ रेउ, मारवाड़ का इतिहास 1, महाराजा मानसिंह पु. प्रकाश, जोधपुर, 2009*
5. *ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास 1, 2, पृ. 384-85, 395-96*

राजस्थान में मूर्तिकला का विकास

डॉ. संजीव कुमार

राजस्थान में मूर्तिकला की व्यवस्थित प्रगति मौर्य और मौर्यत्तर काल में उभरती है। रैढ़ के उत्खनन से प्राप्त कतिपय मुद्राएं तथा मृण-मूर्तियां इस बात की साक्षी है कि मूर्तिकला, शैली के विचार से आकृति और अभिराम की अभिव्यक्ति में दक्षता प्राप्त कर चुकी थी। मातृदेवी की मूर्तियों के कमर और कंधे के आवरण तथा गले के हारों तथा कानों के आभूषणों में मौर्यकालीन कला की शक्ति, गति और गुरुता झलकती है। मृणमयी मूर्तियों के भावों और अंगो की गतिविधि का विन्यास बड़ा रमणीय प्रतीत होता है। इसको देखेने से लगता है कि केवल उच्च कोटि का कलाकार ही मूर्तियां नही बनाते थे अपितु साधारण लोग व बालक भी मूर्तियों का निर्माण करते थे और उसमें रुचि रखते थे। बैराठ के उत्खनन से प्राप्त तक्षण सामग्री में भी बारीकी और कौशल के लक्षण सर्वोपरी है।[1]

ईसा पूर्व दूसरी सदी में जन कला ने अद्‌भुत प्रगति की। जिस प्रकार भारतीय कला का प्रवाह भरहुत, सांची, अमरावती एवं गांधार में दिखाई देता है, उस प्रवाह से राजस्थान भी प्रभावित हुआ। शुंगकालीन संस्कृति ने धार्मिक प्रभाव और जन-विश्वास के संयोग से मूर्तिकला को एक नया मोड़ दिया। मध्यमिका जो चित्तौड़ से 8 मील की दूरी पर है, इस कला के पोषण का स्थान बना। यहां के उत्कीर्ण बौद्ध स्तूप तथा नारायण वाटिका की वैष्णव प्रतिमाएं उस युग की कला और धार्मिक जीवन का संदेश देती है। कई जैन मंदिरों के अवशेष आज चित्तौड़ के स्थापत्य का भाग बने हुए है। इसी प्रकार रंगमहल से प्राप्त पशु और वल्लरी जगत की आकृतियां तथा नर-नारी के स्वरूप जो विविध परिधानों और आभूषणों से अलंकृत है तथा जिनके घुंघराले बाल और तनी हुई मुछें है सजीवता व स्वाभाविकता के अच्छे उदाहरण है। इस काल में बनी हुई बुद्ध, महावीर, शंकर और वासुदेव की मूर्तियां जो मृणमयी और पत्थरों की है, वे इस बात की प्रमाण है कि राजस्थान में धार्मिक सहिष्णुता जन-जीवन का एक विशिष्ट अंग थी।[2]

ज्योंहि हम गुप्तकाल या उससे आगे बढ़ते हैं तो राजस्थानी कला में एक नया दृष्टिकोण और चेतना का प्रादुर्भाव होता है। रंगमहल, भरतपुर, बैराठ, रैढ़, कल्याणपुरा, डुंगरपुर आदि स्थानो पर शिव, विष्णु, यक्षी आदि की मूर्तियां निर्मित हुई। राजस्थान में कृष्ण का मूर्त रूप मण्डोर (जोधपुर, चौथी इस्वीं)[3] के एक गुप्त कालीन वैष्णव मंदिर के तोरण द्वार के स्तम्भों पर मिलता है। एक स्तम्भ पर गौवर्धन धारण, यशोदा मक्खन बिलोती हुयी, शिशु कृष्ण माता के साथ लेटे हुए आदि अंकित है।[4] कृष्ण की गौवर्धन धारण की घटना सबसे लोकप्रिय है। सूरतगढ़ (बीकानेर) से पुरात्विक खुदाई से प्राप्त टेराकोटा तथा मूर्तियां गुप्तकालीन हैं[5] जिसमें गोवर्धन धारण तथा दानलीला के दृश्य अवतरित हुए है जबकि इस तरह के चित्र औसियां व मण्डोर में अधिक परिपक्व मिलते हैं। राजस्थान के कन्सुआ (कोटा) में एक अत्यन्त सुन्दर चर्तुमुखी शिवलिंग की मूर्ति मिली है जो सम्भवत: आठवीं सदी की है।[6] भरतपुर की बदलेव की 27 फुट ऊची मूर्ति विशालता और व्यापकता का अच्छा उदाहरण है।[7]

राजस्थानी कला मध्यकाल में राजपूत वंश के शौर्य व प्रतिभा को प्रभुत्व स्थापित करती है। इस काल में हिन्दू संस्कृति में एक नई जान और चेतना उत्पन्न हुई। छठी से बारहवीं शताब्दी का काल मूर्तियों के निर्माण में बड़ा सबल सिद्ध हुआ। देव, देवियों तथा यक्षियों की मूर्तियों का आधार गुप्तकालीन माधुर्य, सौरभ व कोमलता बनी रही, परन्तु उनमें शक्ति, शौर्य और भावुकता की अभिव्यक्ति लायी गयी। इस काल की मूर्तिकला के मुख्य केन्द्र आभानेरी, अटरू, आबू, नागदा, चित्तौड़गढ़, किराडु, ओसिया, सीकर, आंबेर, मण्डोर, बाडोली आदि है।

आभानेरी बांदीकुई से 7 किलोमीटर दूर स्थित है। वर्तमान में वहां दो स्मारक अवशिष्ट है, चांद बावड़ी तथा हर्षमाता मंदिर। हर्षमाता के अवशेष शैलीगत विशेषताओं के आधार पर आठवी-नवीं शताब्दी के निश्चित किये जाते हैं।[8] अभी इस मंदिर के गर्भगृह में एक आधुनिक देवी प्रतिमा प्रतिष्ठित है जिसके आधार पर इसका नाम हर्षमाता है परन्तु मंदिर की प्रमुख ताखों में प्रतिष्ठित वासुदेव, विष्णु, प्रद्‌युमन और बलराम संकर्षण की प्रतिमाओं से मूलत: मंदिर विष्णु का प्रतीत होता है।[9] इन मूर्तियों में नागराज एवं दम्पति की मूर्तियाँ बड़ी रोचक है। दोनों में प्रेम लालसा तथा उसमें प्रेम चितवन से पत्नी द्वारा आनाकानी की भावना का उत्कीर्णन उल्लेखित है। अटरू के शिव मंदिर के अवशेषों में खम्भों की तराशी तथा पार्वती की मूर्ति सुन्दर, भावपूर्ण और सजीव है।[10]

आबू पर्वत पर चार हजार फुट की ऊँचाई पर देलवाड़ा नामक ग्राम के निकट बने दो जैन मंदिर भारतीय कला जगत् की एक नवीन लोकोत्तर चेतना के उदाहरण हैं। उनमें से एक विमलशाह का 1032 ई. में बनवाया हुआ है और दूसरा तेजपाल का 1232 ई. का है। राय कृष्णदास ने इनके प्रसंग में लिखा है कि मंदिर में यद्यपि अलंकरण एवं मूर्तियां एक सी है, फिर भी इनमें ऐसी विलक्षण जालियां, पुतलियां, बेल बूंटे और नक्काशियां बनाई गई है कि देखने वाला दंग रह जाता है। संगमरमर ऐसी बारीकी से तराशा गया है, मानो किसी कुशल सुनार ने रेती से रेंत-रेंत कर आभूषण बनाये हो, या यूं कहिये कि बुनी हुई जालियां और झालरें पथरा गई है। आज दिन तक आगरे के ताजमहल की शोभा के इतने गुण गाये जाते हैं कि यदि इन दोनो मंदिरों की ओर थोड़ा भी ध्यान दिया जाता तो यह स्पष्ट हो जाता कि इनकी सुन्दरता ताज से ही अधिक है।[11]

नवीं तथा दसवीं शताब्दी में शैव पुजा का केन्द्र बाडोली (कोटा) था। बाडोली

में छोटे-बड़े कुल 9 मंदिर है जिसमें घटेश्वर मंदिर में शिव के नटराज स्वरूप को विशद रूप में उत्कीर्ण किया गया है। बाडोली के शिव मंदिर की पट्टी में युगल प्रेमियों का अंकन प्रेम और उल्लास के अद्वितीय नमूने हैं, नारियों के भोले मुख इस प्रकार तराशे गये हैं कि उन पर आँखें हटाये नहीं हटती। खम्भों की उत्कीर्ण कला बेजोड़ है। चन्द्रावती नदी के ऊपर चन्द्रावती मंदिरों का समूह है जिनकी छतों की नक्काशी और नारी का सुन्दर अंकन अन्यत्र नहीं मिलता। इसी तरह मूर्तिकला की दृष्टि से किराडु (बाड़मेर) महत्वपूर्ण स्थल है, यहां पाँच मंदिरों का समूह है जिनमें से एक वैष्णव है तथा अन्य शैव है। शैली की दृष्टि से ये मंदिर 11वीं, 12वीं शताब्दी के निश्चित किये जा सकते हैं।[12] किराडु के मंदिरों में नर्तकी, बंशीधर कृष्ण और यौवनौन्मत नारी अपने समय की कला के अच्छे नमूने है, ये मंदिर बाहर व भीतर से बड़े अलंकृत है। यहाँ की शेषशायी विष्णु तथा अमृत मंथन की पट्टियां बड़ी रोचक है। यहां मातृममता की बड़ी सुंदर अभिव्यक्ति हुई है। माता अपने शिशु को प्यार करने में मानो अपने हृदय को निकाल कर धर देती हुई अंकित की गई है।[13] इसके ग्रामीण आभूषण व हाव-भाव स्थानीय सभ्यता को समझने में बड़े उपादेय है। गुप्तकालीन मंदिरो के समान अनेक द्वारशाखाओं से युक्त द्वार पर गंगा-यमुना की मूर्तियों तथा पत्र-शाखा, रूप शाखा आदि अनेक अर्धस्तम्भों पर शिवगणों तथा द्वारपालों की मूर्तियां उत्कीर्ण है। पत्रवल्ली, घटपल्लव, कीर्तिमुख, मकरमुख आदि अभिप्रायों के अनेक कलात्मक प्रकार इस मंदिर से प्राप्त होते है। किराडु के इन मंदिरों की मूर्तिकला इस तथ्य का स्पष्ट संकेत करती है कि कैसे 12वीं ज्ञाताब्दी तक मूर्तिकला पूर्णत: वास्तुकला के अधीन हो गई। यद्यपि इन मंदिरों की मूर्तियों में स्पष्टत: ह्रास के लक्षण दिखाई देते हैं।

मेवाड़ में उदयपुर से 15 कि.मी. उत्तर में नागदा में स्थित सास-बहु मंदिर की तक्षण कला के लिये बड़ा प्रसिद्ध है। मंदिर के तोरण द्वारा खम्भों व छत तथा परिक्रमा के चारों ओर लगी हुई पट्टियों के दृश्य, जालियाँ, पुतलियाँ, बेल बूँटे और नक्काशियों को देखकर दर्शक दंग रह जाते हैं। इहलोक और परलोक सम्बन्धी पट्टी आध्यात्मिक चिंतन का, तो यक्षी की पुतली सौन्दर्य की अभिव्यक्ति का अनुपम नमूना है।[14] नागदा में सास-बहू के दो मंदिर है। बड़ा मंदिर सास तथा छोटा बहू के नाम से विख्यात है।[15] नागदा गुहिल शासकों की प्राचीन राजधानी होने के कारण महत्वपूर्ण थी। गुहिल शासकों के सूर्यवंशी होने के कारण ही नागदा का बड़ा मंदिर (सास मंदिर) विष्णु को समर्पित किया गया है। सास मंदिर के मंडप का अर्न्तभाग अत्यन्त प्रभावशाली है। चित्तौड़ ऐसा कला केन्द्र रहा है, जहाँ 8वीं-9वीं शताब्दी से 15वीं शताब्दी तक के मूर्तिकला के उत्कृष्ट नमूने यहाँ अनेक मूर्ति प्रस्तर खण्डों में मिलते हैं। 13वीं सदी के समाधीश्वर के मंदिर के बाहरी स्तरों में देवी-देवताओं, अप्सराओं की मूर्तियों का सौन्दर्य दर्शकों को मुग्ध करने वाला है। एक पेनल में उत्कीर्ण बैलगाड़ी मय गाडीवान के स्वाभाविक अंकन का अच्छा उदाहरण है, जहाँ बैल व हाँकने वाले की मुद्रा उच्चकोटि की है।[16]

15वीं सदी में महाराणा कुम्भा द्वारा निर्मित कीर्तिस्तम्भ, कुम्भस्वामी विष्णु मंदिर, जिसे आज मीराबाई का मंदिर कहते हैं। इन मंदिरों का अलंकरण बहुत उत्कृष्ट और बनावट बड़ी धूमधामी है। इनकी मूर्तियाँ बिल्कुल निर्जीव और अकड़ी-जकड़ी है। यहाँ इतनी मूर्तियों के साथ-साथ त्रिमूर्ति व अरबी अक्षरों में अल्लाह का नाम भी उत्कीर्ण है।[17]

मेवाड़ में आहड़ एक अन्य मूर्तिकला का महत्वपूर्ण केन्द्र था। आहड़ में एक विष्णु मंदिर था जहाँ एक वैष्णव भक्त द्वारा आदिवराह की प्रतिमा स्थापित करवाई गई थी। इसके अलावा विष्णु के कच्छप एवं मत्स्य अवतारो की प्रतिमाएँ अधुना आहड़ संग्राहलय में संरक्षित है। आहड़ में एक सूर्य मंदिर था। आहड़ संग्रहालय में संरक्षित सूर्य की एक प्रतिमा मिली है जो सम्भवत: इसी मंदिर की है। आहड़ में मंदिरों की मूर्तियों में तत्कालीन सामाजिक जीवन के दृश्यों को प्रस्तुत किया गया है जो अधिक महत्वपूर्ण है।[18]

जोधपुर के पास ओसियाँ नामक स्थान से बारह बड़े-बड़े मंदिर मिले हैं। जिसमें भीतर व बाहर विविध प्रकार की मूर्तियाँ तथा बेल बूँटों का अंकन है, जो रेगिस्तानी कला का उत्कृष्ट उदाहरण है। ये मूर्तियां स्थानीय कला की विशेषताओं से भरपूर है। यहाँ के मंदिर मुख्यत: पंचायतन प्रकार के है। अत: विष्णु, शिव, सूर्य, शक्ति व गणेश आदि पंचदेवों की मूर्तियाँ अधिकता से मिलती है। यहाँ स्थित सूर्य मंदिर के गर्भगृह में तो कोई मूर्ति नहीं प्राप्त हुई, परन्तु सिर दल की प्रमुख मूर्ति लक्ष्मीनारायण की है, जिसके दोनों ओर गणेश, ब्रह्मा तथा कुबेर एवं शिव की मूर्तियाँ उत्कीर्ण है। औसियां में दो प्रमुख शक्ति मंदिर भी मिले है जिसमें पिपला माता व सचिया माता के प्रसिद्ध मंदिर हैं। इन मंदिरों में पंचायतन शैली का प्रयोग किया गया है तथा देवी-देवताओं की मूर्तियों से भरे पड़े हैं।

अर्धूणा नगर जो 11वीं सदी में बागड़ प्रान्त के परमार राजाओं की राजधानी थी। अपने युग की मूर्तिकला का अच्छा केन्द्र था। यहाँ के शिव, विष्णु, हनुमान, जैन आदि मंदिरों के अवशेष उस कला के साक्षी है जिसके द्वारा देवों, देवियों, यक्ष, यक्षियों, स्तम्भों, अप्सरा आदि की मूर्तियाँ उत्कीर्ण की गई थी। गर्भगृह, सभा-मंडप, ऊपरी तथा बाह्य स्तरों में लगी मूर्तियाँ, तक्षण कला के सुन्दर नमूने सुरक्षित अवस्था में है। विराट स्वरूप की गरुड़ वाहन पर बैठी विष्णु की मूर्ति, दिक्पाल, यमराज की मूर्ति, अग्नि, सूर्य और कुबेर की मूर्तियाँ अपने वाहनों के तथा लक्षणों से ऐसी बनी है कि वे सुन्दरता की सीमा को पार कर गई। कई अप्सराओं की मूर्तियां, क्रीडा, श्रृंगार, अर्चना आदि प्रक्रियाओं के विविधरूप हमारे सामने प्रस्तुत करती है। ये नारी आकृतियां पशु-पक्षी, लता, वृक्ष वादिनियों की सहचर्या से ऐसी सजीव लगती है कि मानो ये जीवन के अनेक स्वप्नों को सत्य करने जा रही है। कुछेक अंकन श्रृंगारिक वासना के पोषक है जो दर्शकों को सहसा अपनी और आकृषित करते हैं।[19]

कोटा में कन्सुआ अथवा कण्वाश्रम शिव पूजा का सबसे प्राचीन केन्द्र था।

यद्यपि मंदिर का मूल रूप नष्ट हो गया है। मंदिर का पूर्ननिर्माण हुआ है परन्तु चर्तुमुख शिवलिंग अपने मूल स्थान पर गर्भग्रह में विद्यमान है। इसके पास एक अन्य चतुर्मुख शिवलिंग तथा लकुलीश की मूर्तियाँ है। मण्डप के सामने की भित्ति में दो और मूर्तियाँ पुराने अवशेषों में से लगाई गई है जिसमें एक लकुलीश तथा दूसरी नृत्यरत गणेश की है। मण्डप के प्रवेश द्वार के सिरदल पर वैष्णव मूर्तियाँ अंकित है।[20]

अलवर के पाड़ा नगर व कोटा की रामगढ़ की मूर्तियाँ में गुप्तकाल की कला का ओज है परन्तु स्थानीय जीवन और कला में भी उसका जुड़ाव है। यह विशेषता उनके भव्य चेहरे और मोटे शरीर से स्पष्ट है। ब्रह्मा, सरस्वती, शिव-पार्वती आदि का रामगढ़ के देवस्तर की मूर्तियों में अंकन मोटा और भद्दा है परन्तु भाव प्रदर्शन में स्वाभाविकता झलकती है। इन मंदिरो के गर्भगृह की बाह्य भित्ति की मूर्तियाँ एवं अलंकरण अत्यन्त प्रभावशाली है। देवताओं और अप्सराओं का अंकन तथा अन्य सभी अलंकरणों में सूक्ष्मता एवं ललित्य दृष्टिगोचर होता है।[21]

पश्चिम राजस्थान में रणकपुर का मंदिर 15वीं सदी की उत्कीर्ण कला के लिए, विशेषकर अलंकृत अनेक खम्भों के लिये प्रसिद्ध है। इनके सभा मण्डप की खुदाई व खम्भों का अलंकरण आबू के देलवाड़ा के मंदिरो की शैली पर है। खम्भों व छतों पर जो मूर्तियाँ और उत्कीर्ण फूल, पत्तियाँ और जालियाँ तथा ज्यामितिक अलंकरण है, वे हाथीदांत पर खुदाई के अनुरूप हैं और सफेद पत्थर पर उसी तरह दिखाई देते हैं। यहाँ की कला उस काल का एक विशिष्ट उदाहरण प्रस्तुत करती है।[22]

15वीं सदी के बाद राजस्थान की मूर्तिकला में कोई जान नही रह जाती है, परन्तु प्राचीन परम्परा और उत्तर मध्यकालीन कला के सम्मेलन में यह कला जन-जीवन, दरबारी, ठाट-बाट, फूल बूँटे व ज्यामितिक अलंकरण के दिखावो से जीवित रही। राजस्थान में इस स्थिति का स्पष्टीकरण उदयपुर के जगदीश के मंदिर और राजनगर की नौ चौकियों के अलंकरण से होता है। महाराणा जगत सिंह और राज सिंह के प्रश्रय में बनने वाला जगदीश का मंदिर और नौ चौकियों की उत्कीर्ण कला 17वीं सदी की कला शैली के उतम उदाहरण है। यहाँ देवी देवताओं तथा अप्सराओं की मूर्तियों से मंदिर और नौ चौकी का कोना-कोना लदा पड़ा। नर-नारी के मुँह पर यथेष्ट कोमलता और प्रसन्नता झलकती है। यहाँ की नर्तकियाँ का त्रिभंग और चरण की मुद्रा को कलाकार ने बड़ी सुन्दरता से उत्कीर्ण किया है जो स्वाभाविकता लिये हुए है।[23]

संदर्भ

1. *के.एन.पुरी, एस्केविशन एट रेड, पृ. 20-30, 45-48*
2. *मेवाड़ थ्रू द एजेज, पृ. 10-11, कन्ना रेड-रंगमहल. पृ. 104, 146, गोएट्ज और वाजपेई, अर्ली टेराकोटाज पृ. 24-25*
3. *डी.आर. भण्डारकर, टू स्कल्पचर्स एट मण्डोर 1905-06 पृ. 135*

4. *वही, पृ. 140*
5. *रतनचन्द्र अग्रवाल, रामायण सीन्स इन राजस्थान स्कल्पचर्स, 1954 पृ. 156-57*
6. *एफ. कीलसर्न, कन्सुआ स्टोन इन्सक्रिप्शन ऑफ शिवगण दि मालव ईयर 795 ई. इण्डियन एण्टीक्वेरी 19, 1890 पृ. 55-62*
7. *मार्ग, राजस्थानी स्कल्पचर्स, पृ. 26, 27*
8. *बी.एल. शर्मा, आ.स.इ.ए.रि. 1925-26 पृ. 127, 28*
9. *पूपुल जयकर नोटस ऑन सम स्कल्पचर्स इन सी टू एट आभानेरी, राजस्थान ललितकला, अंक 1-2, 1955-56 पृ. 139-44*
10. *मार्ग राजस्थनी स्कल्पचर्स, पृ. 28-32*
11. *राय कृष्णदास भारतीय मूर्तिकला पृ. 133-134*
12. *एम.ए.ढाकी किराडु एण्ड दी मरू गुर्जर स्टाईल ऑफ टेम्पल आर्किटेक्चर, बुलेटिन ऑफ अमेरिकन एकेडमी, बनारस अंक-1, फुट नोट 1*
13. *मार्ग, राजस्थानी स्कल्पचर्स पृ. 35-50*
14. *वही, पृ. 52-53 वोल्युम IV-V*
15. *भण्डारक प्रो. रि. आ.स.वे.स., 1904-05 पृ. 62-63*
16. *जी.एन. शर्मा, ग्लोरीज ऑफ मेवाड़, पृ. 36-48*
17. *राय कृष्णदास, भारतीय मूर्तिकला पृ. 142*
18. *नीलिमा वशिष्ठ, राजस्थान की मूर्तिकला परम्परा, 2001 पृ. 32*
19. *रविन्द्र पण्डिया, अर्थुणा गांव का एक परिचय पृ. 20-35*
20. *कक्कसूरि, नाभिनन्दन-जिनोद्धार प्रबन्ध, श्लोक 18-22*
21. *नीलिमा वशिष्ठ, राजस्थान की मूर्तिकला परम्परा, 2001 पृ. 46-47*
22. *मार्ग, राजस्थान स्कल्पचर्स पृ. 66-67 वोल्युम IV-V*
23. *जी-एन. शर्मा, मेवाड़ एण्ड द मुगल एम्परर्स पृ. 197-98*

राजस्थान के मूर्तिशिल्प में यक्ष प्रतिमाओं का योगदान

डॉ. ममता यादव

देव प्रासादों में भारतीय मूर्तिकला की परम्परा के स्थायी भंडार प्राप्त होते हैं। मूर्तिकला देवतत्व के चरणों में श्रद्धावनत भक्तों के साथ ही साथ शिल्पी तथा तक्षणकार के अद्‌भुत समर्पण का परिणाम है।[1] मूर्तिकला का आधार सामाजिक व धार्मिक विश्वास होते हैं जिनकी प्रेरणा से मूर्तियों की विषयवस्तु निर्धारित होती है। राजस्थान में प्रचलित धार्मिक विश्वासों ने मंदिर निर्माण व मूर्तिशिल्प की परम्परओं को प्रभावित किया, यहाँ पर शैव, वैष्णव मंदिरों व मूर्तियों के साथ-साथ सूर्य, शक्ति व यक्ष प्रतिमाएं भी लोकप्रिय एवं पूजित थीं। प्राचीन भारत में 'यक्ष पूजन' का पर्याप्त महत्व था। अथर्ववेद में वर्णित 'पुण्यजन' एवं 'इतर जन' को यक्ष का ही पर्यायवाची माना गया है, इसी ग्रंथ में कुबेर वैश्रवण को यक्षेश, यक्षराज एवं यक्षेन्द्र सम्बोधित किया गया है। इसे धन के इष्टदेव के रूप में यक्षराज कहा गया है।[2] बाद के साहित्य में यक्ष-भवनों के साथ-साथ यक्षों का जनसाधारण से संबंध भी बताया गया है।

भगवतगीता[3] में कहा गया है 'सत्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत, श्रद्धामयोऽयं पुरुषों यो यच्छ्रः स एव सः। यजन्ते सात्विका देवान यक्ष रक्षांसि राजसाः।' देव पूजा वैदिक थी, यहाँ सात्विक कही गई है, यक्ष पूजा जिसे राजस कहा गया है साधारण जन में प्रचलित थी। यक्षों को अलौकिक सत्व माना जाता था जो प्रायः वृक्षों में निवास करते थे और प्रसन्न होने पर अनेक सांसारिक कामनाओं की पूर्ति का वर देते थे, वे अनेक स्थानों पर स्थान देवता अथवा कुल देवता के रूप में प्रतिष्ठित थे। यम और शक्र के साथ उनका विशेष संबंध था। कभी वे अनिष्टकारी भी हो सकते थे और आवेश के कारण भी बन जाते थे। यक्षिणियों में अप्सराओं का सादृश्य देखा जा सकता है।[4] कुछ यक्ष बाद में ब्राह्मण और बौद्ध देवताओं में रूपांतरित पाये जाते हैं और उनका प्रभाव प्रतिमा विधान की परंपरा व तांत्रिक पद्धतियों पर देखा जा सकता है।[5] ईसा पूर्व की शताब्दियों की यक्ष प्रतिमाऐं विशालकाय एवं पुरुस्त्रकृतियों से बड़ी हैं। इनमें पटना, पद्‌मावती, परखम, बड़ौदा आदि की यक्ष मूर्तियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं किंतु मैंने इस शोध पत्र में राजस्थान में यक्ष प्रतिमाओं के अध्ययन को केन्द्रबिन्दु में रखा है। अतः मेरा विशेष ध्यान यहाँ की यक्ष-यक्षिणी प्रतिमाओं व उनके शिल्प सौष्ठव वर्णन पर रहेगा। राजस्थान के मूर्तिशिल्प में यक्ष प्रतिमाओं का विस्तार से उल्लेख यक्ष-यक्षिणी प्रतिमाओं पर आधारित मंदिरों व मूर्तियों में ही नहीं अपितु अन्य शैव, वै णव व जैन मंदिरों व मूर्तिशिल्प में भी किसी न किसी रूप में चाहे सहायक तत्व हो या मुख्य तत्व, यक्षों का योगदान रहा है।

शुंगकालीन कला का प्रतिनिधित्व करने वाली यक्ष प्रतिमाऐं राजस्थान की भारतीय मूर्ति विज्ञान को अनुपम देन है। नोह, अघापुर, वीरावई, सोगर, पीरनगर आदि स्थलों से प्राप्त यक्ष-यक्षी की लगभग आधी दर्जन मूर्तियाँ भरतपुर संग्रहालय में सुरक्षित हैं।[6] राजस्थान के प्राचीन प्रस्तर कला के क्षेत्र में 'नोह' भरतपुर से प्राप्त यक्ष मूर्ति का उल्लेखनीय स्थान है जो नोह ग्राम के बाहर तालाब के किनारे पूजा हेतु विद्यमान है, इस मूर्ति में यक्षराज का दाहिना हाथ ऊपर उठा है और बायां हाथ कमर पर रखा है, सिर पर बाल बायीं ओर जूड़ा बांधे हुए दिखाई देते हैं। गले में दो चपटें हार शोभायमान हैं, चपटे ग्रैबेयक की लड़ियों के छोर पर पीछे पुष्पगुच्छ लटका है, सामने कुम्भ सम उभरे पेट पर उदरबन्द व कमर पर धोती को कमरबंध द्वारा संभाल रखा है, हाथों के कंकण व ऊपर 'सपत्र' केयूर विशेष आकर्षक हैं। नोह ग्रामवासी लगभग 2200 वर्षों के उपरांत आज भी इस विशाल प्रतिमा की जाक्ख (संस्कृत शब्द 'यक्ष') नाम से पूजा करते हैं, यह आज भी ग्राम देवता, रक्षक व पालक हैं। ग्राम की समृद्धि व खुशहाली का श्रेय इस जाक्ख बाबा (यक्षराज) को ही प्राप्त है।[7]

एक अन्य प्रतिमा जो कुषाणकालीन है, भरतपुर के समीपस्थ 'अघापुर' नामक ग्राम से मिली थी जो आजकल भरतपुर संग्रहालय के पुरातत्व कक्ष में सुरक्षित है, यहाँ पर तुण्डिल यक्ष ने अपने सिर पर टोकरी उठा रखी है, चपटा ग्रैवेयक, मुख पर मुस्कुराहट का भाव, बड़ी मूंछें, कुम्भोदर भाव इत्यादि कला सौष्ठव को बढ़ा रहे हैं। मंडोर से प्राप्त व जोधपुर संग्रहालय में सुरक्षित लगभग 13 फीट ऊँचे गुप्तकालीन प्रस्तर स्तंभ पर कृष्णलीला की झांकियाँ प्रस्तुत की गई हैं जिनमें लगभग 9 फुट ऊँचे स्थल पर गोवर्धनधारी दृश्य अंकित है, इसी दृश्य में हिंसक पशुओं के साथ-साथ अश्वमुखी यक्षी भी विद्यमान है जो मुख्य प्रतिमा में 'सहायक अंग' के रूप में तक्षणकार द्वारा प्रस्तुत की गई है।

यक्षराज एवं अष्ट दिक्पालों की श्रेणी में धनद कुबेर[8] ब्राह्मण, जैन व बौद्ध सभी मतावलंबियों के लिये पूज्य हैं। राजस्थान के मूर्तिशिल्प में भी कुबेर का पर्याप्त अंकन किया गया है जिसमें आसनस्थ देव के एक हाथ में समृद्धि का सूचक बिजोरा फल विद्यमान है और दूसरे हाथ में रुपयों की थैली जिसे 'नोली' कहा जाता है। इस तरह की गुप्त कालीन प्रतिमा कामां (भरतपुर) से मिली है जो वर्तमान में लंदन के विक्टोरिया एल्बर्ट म्यूजियम में प्रदर्शित है। एक अन्य पूर्वमध्यकालीन कुबेर प्रतिमा चित्तौड़ में बाँसी नामक स्थान से मिली है, इस कलाकृति में गजवाहन पर आसीन कुबेर के मुकुट के मध्य में लघु जिनाकृति उत्कीर्ण है जिसके माध्यम से तक्षणकार ने जैन कुबेर प्रतिमा की अभिव्यक्ति कर इसके महत्व को बताया है। चित्तौड़ दुर्ग के कालिका माता मंदिर में गंगा यमुना व प्रतिहारों की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं, इनमें लोकपालों में कुबेर और यम की मूर्तियाँ अंकित हैं।

कुम्भ श्याम मंदिर में भी दिक्पाल प्रतिमाओं की रूपशाखा पर नृत्य करते हुए प्रमथ, संगीतज्ञ, यक्षिणी और मालाधारी युगल अंकित हैं।[9] इसी प्रकार समाधीश्वर मंदिर के वेदी बंध के नरथर एवं कुम्भक तथा जंघा पर जैन शासन देवियों एवं यक्ष-यक्षिणियों की मूर्ति के आधार पर इसे जैन मंदिर माना है।[10] आमेर में अंबिकेश्वर मंदिर के पास ही कल्याणराय मंदिर है जो लगभग 8वीं शताब्दी का है, इस मंदिर की द्वारशाखा के अलंकरणों में पत्रवल्ली, नागवल्ली, रूपशाखा, स्तंभ आदि का अंकन है, द्वारशाखा के निचले भाग पर अप्सरायें, मालाधारी युगल एवं द्वार के दोनों ओर दो भद्रक स्तंभ हैं, दोनों स्तंभों पर बड़े आकार की यक्षिणी आकृतियाँ एवं सिर पर छोटी यक्षी आकृतियाँ हैं, आमेर की इन मूर्तियों की तुलना आभानेरी के हर्षतमाता मंदिर की मूर्तियों से की जा सकती है जो समकालीन प्रतीत होती है।[11] शैव मूर्तियों के मूर्त रूपांकन में प्रारंभिक लिंग रूप पर शिव की आकृति सामान्यत: यक्षाकृति के समान ही अंकित की जाती थी। टी. ए. गोपीनाथ राव ने गुडिमल्लम् के मुखलिंग (प्रथम शताब्दी ई.पू.) पर अंकित शिव की आकृति तथा साँची की एक यक्ष प्रतिमा में[12] साम्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। शिव को यक्ष के रूप में शिवलिंगों पर अंकित करने की परम्परा राजस्थान में उत्तर गुप्तकालीन शिवलिंगों तक निरन्तर प्राप्त होती है। गामड़ी[13] (भरतपुर) में एक शिवलिंग पर दो बृहदोदर यक्ष अंकित हैं। इस प्रकार के शिवलिंग अत्यन्त विरल हैं। चौमां (बंडपुरा, राजस्थान) से प्राप्त एक शिवलिंग पर शिव से साम्य रखती हुई यक्ष प्रतिमा, लम्बी गर्दन वाला जल पात्र, स्त्रीमुख व सिंह अंकित है।

जैन साहित्य एवं कला में हिन्दू देवता जिन तीर्थंकरों के पार्श्व देवताओं के रूप में उनके अनुचर के समान दिखाये जाते हैं। जैन प्रतिमा-विज्ञान के ग्रंथों में इन्हें यक्ष तथा यक्षिणी[14] के नाम से अभिहित किया गया है जो दिगम्बर व श्वेताम्बर तीर्थंकरों के रक्षक हैं, 24 यक्ष तथा यक्षिणियों की प्रतिमा, वैज्ञानिक विशेषताएं तथा उनके मूर्त रूपांकन से यह प्रमाणित होता है कि वे हिन्दू देव परिवार से लिये गये हैं, जैसे शीतलनाथ तीर्थंकर का ब्रह्मयक्ष, गरुड़ पर आरूढ़ गोमुखयक्ष तथा ईश्वर यक्षों की मूर्तियाँ क्रमश: ब्रह्म, विष्णु तथा शिव की सत्य प्रतिलिपियाँ प्रतीत होती हैं। इसी प्रकार यक्षिणी चक्रेश्वरी, गौरी और काली की जैन मूर्तियाँ हिन्दू मातृकाओं की ही प्रतिरूप हैं जो क्रमश: वैष्णवी, माहेश्वरी व काली हैं।[15]

राजस्थान में प्रचलित देवी स्वरूपों में क्षेमंकरी तथा वट यक्षिणी भी महत्वपूर्ण हैं जिनमें क्षेमंकरी की प्रतिमाऐं तो जगत के अंबिका मंदिर[16] से, हर्षनाथ (सीकर) मंदिर से प्राप्त हैं किंतु दुर्भाग्यवश घोण्टवार्षिक (प्रतापगढ़) का वट यक्षिणी का मंदिर आज विद्यमान नहीं है किन्तु महेन्द्रपाल द्वितीय के अभिलेख से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वट यक्षिणी की इस मंदिर में पूजा होती थी, इस अभिलेख के कुछ श्लोकों में से

एक देवी महिषमर्दिनी स्वरूप[17] का वर्णन करता है जो संभवत: वट यक्षिणी महिषमर्दिनी का स्थानीय नामकरण था।

मंदिर स्थापत्य के अलंकरण में श्रीकुमारस्वामी ने गंगा-यमुना की मूर्तियों का विकास शालभंजिका यक्षी से खोजा है, शालभंजिका यक्षी की आकृति त्रिभंगी मुद्रा में वृक्ष के नीचे खड़ी हुई अंकित की जाती थी, ये गंगा-यमुना प्रतिमाओं से काफी साम्य रखती हैं। इस तरह की मूर्तियाँ राजस्थान में चित्तौड़गढ़, ओसियां, बाडोली के मंदिरों से, नागदा, जगत आदि से प्राप्त हुई हैं।

इसी प्रकार कुछ प्रस्तर फलकों पर एक साथ गणपति, लक्ष्मी एवं कुबेर को प्रदर्शित किया गया हैं जो चिर-समृद्धि के द्योतक हैं। एक ऐसी प्रस्तर शिला आभानेरी से मिली जो वर्तमान आमेर संग्रहालय में विद्यमान है। ओसियां के पिप्लादमाता मंदिर में गणेश व महिषमर्दिनी प्रतिमाओं के मध्य कुबेर प्रतिमा रखी है जो 8-9वीं शती की प्रतीत होती है। यहाँ कुबेर की प्रेयसी हारीति उनकी जंघा पर विराजमान है। गाँधार कला में कुबेर-हारीति की प्रतिमाऐं प्रचुरता से मिली हैं जो समृद्धि का सूचक है। राजस्थान के प्राचीन भवनों, मंदिरों के गभगृहों के बाहर जंघा भाग पर दिक्पाल कुबेर प्रतिमाऐं प्राप्त हुई हैं जो रक्षक एवं समृद्धि की द्योतक है।

यथार्थत: यक्ष पूजा की प्राचीन परम्परा राजस्थान में अनेक स्वरूपों में प्रकट होकर वर्तमान तक अक्षुण्ण है। राजस्थानी आमजन के लिए यक्ष अर्थात् जक्ख या जाक्ख तो पूर्ण समृद्धि, सुरक्षा का प्रतीक होकर उनका त्राता एवं इष्टदेव है साथ ही कलात्मक अलंकरण में एवं वास्तुगत सौष्ठव में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाकर प्रतिमाशास्त्र का अनूठा पहलू भी बना है। आज भी अनेक स्थानों पर वीर के नाम से यक्ष का चौरा मिलता है। अत: जनसाधारण का विश्वास है कि यक्ष समूचे समाज के शुभेच्छु, पालक एवं रक्षक है।

सन्दर्भ

1. *श्रीवास्तव, विजयशंकर, राजस्थान के प्रसंग में मध्यकालीन मूर्तिशिल्प अवधारणा एवं अर्थवत्ता, 1 मार्च, 1991, राजस्थान ललित कला अकादमी, जयपुर, पृ. 1*
2. *अथर्ववेद, 10/2/29-33*
3. *भगवद्गीता, 17/3-4*
4. *पाण्डेय, डॉ. गोविन्दचन्द्र, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पंचम संस्करण, हिन्दी संस्थान, लखनऊ, उत्तरप्रदेश, 2010, पृ. 18-19*
5. *कुमारस्वामी, यक्षज, भाग 2*
6. *श्रीवास्तव, विजयशंकर, पारंपरिक मूर्तिकला, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, पृ. 59*
7. *चतुर्वेदी, त्रिलोकनाथ (सं.), राजस्थान वैभव, भारतीय संस्कृति एवं संवर्धन परिषद्, नई*

दिल्ली, पृ. 178–179

8. *वही, पृ. 179–180*
9. *माइस्टर और ढाकी, एनसाइक्लोपीडिया ऑफ मालाधार युगल, अमेरिकन इंस्टीट्यूट ऑफ इंडियन स्टडीज ऑफ इंडियन टेम्पल आर्किटेक्चर नार्थ इंडिया, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 1991, पृ. 295*
10. *शर्मा, गोपीनाथ, राजस्थान इतिहास के स्रोत, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1973, पृ. 85–86*
11. *माइस्टर, आंबेर्स एंटीक्विटीज : टेक्स्ट एंड कंटेक्स्ट पाथवेज टू लिटरेचर आर्ट एण्ड आर्कियोलोजी, सिंह, चन्द्रमणि एवं वशिष्ठ, नीलिमा (सं.), भाग 2, पब्लिकेशन स्कीम, जयपुर, 1991, पृ. 192–195*
12. *राव, टी.ए. गोपीनाथ, एलिमेण्ट्स ऑफ हिन्दू आइकोनोग्राफी, 2, 1, पृ. 68*
13. *अग्रवाल, रामचन्द्र, गामड़ी का अद्वितीय शिवलिंग, शोध पत्रिका, XXII, (1), 1972, पृ. 67–70*
14. *जैन, एस.के., सम कॉमन एलीमेंट्स इन जैन एण्ड हिन्दू पैन्थियन–यक्षाज एण्ड यक्षिणीज, जैन एण्टीक्वेरी, XVIII, (2) 1952, पृ. 32–35*
15. *वशिष्ठ, नीलिमा, राजस्थान की मूर्तिकला परम्परा, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2001, पृ. 132*
16. *ढाकी, एम.ए., क्षेमंकरी – द कल्ट इमेज ऑफ अंबिका टेम्पल जगत, वि.इ.ज. VI, 1968, पृ. 117–120*
17. *ओझा, गौरीशंकर हीराचन्द, प्रतापगढ़ इन्सक्रिप्शन ऑफ द टाइम ऑफ प्रतिहार किंग महेन्द्रपाल द्वितीय ऑफ महोदय, संवत् 1003, एपीग्राफिया इण्डिका, XIV, 1917–18, पृ. 176–188, श्लोक 3*

कृष्ण लीला का कथात्मक अंकन–ओसियाँ के मंदिरों के विशेष संदर्भ में

डॉ. रितु पूनिया

धार्मिक और सांस्कृतिक गतिविधियों के कारण ओसियाँ सम्पूर्ण राजस्थान में सुविख्यात रहा है, जो जोधपुर से 65 कि.मी. उत्तर–पश्चिम में स्थित एक छोटा ग्राम है। मथुरा, सारनाथ, एलोरा, भुवनेश्वर, एहोल, बादामी, खजुराहो की तरह ओसियाँ भी पूर्व मध्यकाल का एक प्रमुख कला केन्द्र था, जहाँ 8वीं से 12वीं सदी के मध्य के मंदिर और उनमें विभिन्न भागों पर उत्कीर्ण मूर्तियाँ सुरक्षित हैं।

ओसियां के मंदिर कृष्ण लीलाओं के कथात्मक अंकन की दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। कृष्णलीला के दृश्य अपने विषय और निरूपण की दृष्टि से कलात्मकता के लिए प्रतीत होते हैं। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि जहाँ खजुराहो, एलोरा आदि स्थलों पर कथात्मक अंकन के अन्तर्गत रामायण, महाभारत, कृष्णलीला से संबंधित दृश्यों का लगभग साथ–साथ अंकन हुआ है, वहीं ओसियाँ में केवल कृष्णलीला के दृश्यों का ही विस्तृत अंकन मिलता है। ओसियाँ में रामकथा से संबंधित किसी भी दृश्य का न मिलना इस दृष्टि से आश्चर्यजनक और इस क्षेत्र में विष्णु के विभिन्न अवतारों में कृष्ण की लोकप्रियता का परिचायक है। इस दृष्टि से विष्णु के अवतार मूर्तियों में भी राम का अंकन न मिलना उल्लेखनीय है। ओसियाँ में मुख्यत: आठवीं–नवीं शताब्दी ईस्वी के मंदिरों पर ही कृष्णलीला के दृश्यों का उत्कीर्णन हुआ है जो अन्य समकालीन केन्द्रों की तुलना में नि:संदेह अधिक विस्तृत, सुनियोजित, परम्परानिर्दिष्ट और महत्वपूर्ण है।

देवकीपुत्र कृष्ण विष्णु के आठवें अवतार माने गए हैं। वासुदेव के साथ कृष्ण के समीकरण की निश्चित जानकारी प्राप्त नहीं होती है किन्तु पाणिनी द्वारा उल्लिखित कृष्णणायन गोत्र से वासुदेव का संबंध स्थापित किया गया है। संभवत: यादव कृष्ण की परम्परा कालांतर में वासुदेव कृष्ण से जोड़ी गई जो वृष्णिनायक के रूप में पूजित थे और जिन्हें विष्णु के अवतार के रूप में स्थान प्राप्त हुआ।[1] सर्वज्ञात है कि कृष्ण को संकर्षण, प्रद्युम्न, साम्ब व अनिरूद्ध के साथ उनके भक्तों एवं प्रशंसकों द्वारा देवत्व प्रदान किया गया और वे वृष्णि–कुल के पंचवीर कहे गए।[2] इस रूप में कृष्ण के पूजन की प्राचीनता लगभग चौथी–तीसरी ई.पू. से ज्ञात है। कृष्ण के जीवनचरित के विषय में हरिवंश, भागवत तथा विष्णुपुराण आदि अनेक ग्रंथों में विवरण मिलता है। इन पुराणों में कृष्ण की लोकरंजक लीलाओं का विशद् वर्णन हुआ है। कृष्ण लीला दृश्यों का राजस्थान में

प्राचीनतम उदाहरण ओसियाँ के समीप मंडारे नामक स्थान से प्राप्त हुआ है। ओसियाँ में कृष्ण के बाल-लीला दृश्यों में कृष्ण के जन्म, गोकुल प्रस्थान से लेकर चाणुर एवं मुष्टिक से मल्ल युद्ध और सूतलोमहर्षण वध तक के दृश्यों का अंकन हुआ है। छोटी धोती, कुंडल, केयूर, हार, काकपक्ष शैली की केश रचना, कृष्ण और उनके साथियों के साथ उत्कीर्ण पशु आकृतियाँ गतिशील व सुंदर हैं। उल्लेखनीय है कि घटनाओं के प्रदर्शन में भागवतपुराण में वर्णित क्रम को शिल्पी ने ध्यान में रखकर दृश्यों का निरूपण नहीं किया है।

प्रस्तुत शोध पत्र में ओसियाँ में कृष्णलीला दृश्यों की विषयगत एकरूपता को देखते हुए अलग-अलग विषयों का स्वतंत्र अध्ययन विभिन्न मंदिरों पर उनके शिल्पांकन की दृष्टि से किया गया है।

कृष्ण जन्म एवं गोकुलगमन : हरिहर मंदिर-1 के उत्तरी कण्ठ पर प्रथम दृश्य में बंदीगृह के अधखुले कपाट के दूसरी ओर प्रसूति गृह का दृश्यांकन है जिसमें पुष्पातंकृत शयिका पर दाएँ करवट लेटी देवकी नवजात शिशु को स्तनपान करा रही है। देवकी, धोती, संवरे केश व कुंडल से सुशोभित है। बंदीगृह में ही एक ओर वासुदेव द्वारा बालक कृष्ण को अंकस्य और अधखुले कपाट की ओर गमन करते दिखाया गया है। कपाट के बाहर एक प्रहरी खड़ग लिए खड़ा है। हरिहर मंदिर द्वितीय व विष्णु मंदिर प्रथम में प्रहरी आसीन या सुप्तावस्था में प्रदर्शित है। ओसियाँ में कृष्ण जन्म के कुल 6 उदाहरण हैं।[3]

गोकुल गमन दृश्य का सूर्य मंदिर-3 पर रोचक अंकन है। हरिहर मंदिर-1 में यशोदा के हाथों में बालिका का संकेत देने के लिए शिशु को नारी वक्ष से युक्त भी दिखाया गया है। ओसियाँ में कृष्ण जन्म का जितना विस्तृत अंकन हुआ है उतना अन्य किसी स्थल पर दिखाई नहीं देता। खजुराहो में कृष्ण जन्म से संबंधित दृश्य की पहचान केवल शंख और पद्म जैसे वैष्णव लांछनों और स्तनपान कराती माँ-शिशु की आकृतियों के आधार पर की गई है।[4]

माखनचोरी : कृष्ण जन्म के पश्चात् कृष्ण द्वारा माखन चोरी या यशोदा के दधिमंथन का दृश्यांकन है। प्रस्तुत दृश्य विष्णु मंदिर-1 और 5 पर प्राप्त नहीं है। दृश्य में एक आसन पर प्रसन्नचित नंद की आकृति आसीन है, समीप ही यशोदा दाधिमंथन कर रही है। बालरूप कृष्ण को पात्र से माखन निकालते निरूपित किया गया है। हरिहर मंदिर-2 के दृश्य में कृष्ण की छोटी आकृति माखन पात्र पर चढ़कर मक्खन निकालते प्रदर्शित है।[5] सूर्य मंदिर-3 में प्रस्तुत दृश्य में यशोदा के अतिरिक्त अन्य किसी स्त्री का अंकन नहीं हुआ है। दृश्य से संबंधित माखन पात्र, मथानी और मथानी में प्रयुक्त रज्जु आदि का अत्यंत स्वाभाविक अंकन हरिहर मंदिर-1 और सूर्य मंदिर-3 में दिखाई देता है।

योगमाया वध : हरिहर मंदिर-1 पर उपरोक्त दृश्य के पश्चात् योगमाया वध का

दृश्यांकन है। प्रस्तुत दृश्य के उदाहरण हरिहर मंदिर 2-3 एवं विष्णु मंदिर-1 पर भी हैं। हरिहर मंदिर-1 के उदाहरण में कंस को गतिशील मुद्रा में योगमाया का वध करने के उद्देश्य से पैरों से बालिका को पकड़े और शिला पर पटकने की मुद्रा में अंकित किया गया है। हरिहर मंदिर-2 के दृश्यांकन में इस आकृति को कंस के हाथों से निकल जाने की स्थिति में दिखाया गया है जो शास्त्रीय परम्परा के अनुरूप है।[6]

हरिहर मंदिर-3 के उदाहरण में कंस के पीछे एक स्त्री संभवत: देवकी की आकृति बनी है। विष्णु मंदिर-1 में कंस को वासुदेव से बालिका को प्राप्त करते दिखाया गया है जो कृष्णलीला के अंकनों में दुर्लभ है। प्रस्तुत उदाहरण में बालिका के लिए वासुदेव को दाहिने पार्श्व में खड़गधारी पुरुष खड़ा है जो संभवत: वासुदेव से कंस को शिशु देने को कह रहा है। इसके पश्चात् कंस को बालिका लिए दिखाया गया है। प्रस्तुत दृश्य की पहचान माइकेल डब्ल्यू माईस्टर ने तृणावर्तवध के रूप में की है।[7] आर.डी. त्रिवेदी ने इस दृश्य की पहचान योगमाया वध से की है।[8]

पूतनावध : हरिहर मंदिर-1 में योगमाया वध के पश्चात् पूतनावध[9] का अंकन हुआ है जिसमें भयंकर स्वरूपा पूतना एक मंचिका पर अर्धपर्यंकासीन प्रदर्शित है। कंकाल स्वरूपा, विस्फारित नेत्र, धसे कपोल, ऊर्ध्वकेश वाली राक्षसी का स्तनपान करते कृष्ण भूमि पर खड़े हैं। पूतनावध का प्राचीनतम मूर्त उदाहरण बादामी की गुफाओं (छठी शती ई.) से प्राप्त है। मध्यकालीन प्राय: सभी कला केन्द्रों पर कृष्णलीला के दृश्यों में प्रस्तुत दृश्य पर्याप्त लोकप्रिय रहा है। राजस्थान में ओसियाँ के अतिरिक्त मंडोर, केकीन्द तथा अटरू से भी इस दृश्य के उदाहरण मिले हैं।[10]

यमलार्जुन उद्धार : पूतनावध के पश्चात् पाँचों प्रारंभिक मंदिरों पर यमलार्जुन उद्धार दृश्य अंकित है। प्रस्तुत दृश्य में बालक कृष्ण को अपेक्षाकृत बड़े स्वरूप में दो वृक्षों (यमल और अर्जुन) के मध्य ओखली से बंधे दर्शाया गया है। हरिहर मंदिर-2 में दोनों वृक्षों के मध्य का अंतराल सुंदर है। सूर्य मंदिर-3 व हरिहर मंदिर-3 पर भी इसी प्रकार का अंकन है। दृश्यांकन की दृष्टि से हरिहर मंदिर-2 का उदाहरण सर्वोत्कृष्ट है। ओसियाँ के समानान्तर अंकन बादामी तथा सीरपुर में भी दिखाई देता है।[11] ओसियाँ के प्रस्तुत दृश्य में कृष्ण सामान्य लक्षणों वाले हैं।

शकटभंग : यमलार्जुन उद्धार के पश्चात् शकटभंग का दृश्य है जिसकी कथा भागवतपुराण में वर्णित है।[12] प्रस्तुत दृश्य मंदिरों की अनुपंक्ति में तथा सूर्य मंदिर-3 के अन्तराल भाग के पश्चिमी कंठ के कर्ण भाग पर उत्कीर्ण है। हरिहर मंदिर-1 के उदाहरण में शयिका पर वाम भुजा के सहारे लेटे कृष्ण, समीप खड़ी गोप आकृति और कृष्ण के पैर के धक्के से उलटती हुई गाड़ी पर रखा घट गिरने की स्थिति में सुंदरता से अंकित किया गया है। हरिहर मंदिर-3 में शकटभंग की कथा का सर्वाधिक सुंदर अंकन है। सूर्य मंदिर-3 के उदाहरण में कृष्ण को दोनों पैरों से गाड़ी को उलटते प्रदर्शित किया

गया है।

प्रलम्बासुरवध : प्रलम्बासुरवध का अंकन भारतीय शिल्प में अत्यल्प है। ओसियाँ में प्रस्तुत दृश्य पाँचों प्रारंभिक मंदिरों पर प्राप्त होता है। इस दृश्य में गोपों के साथ क्रीड़ारत कृष्ण व बलराम की आकृतियाँ हैं। प्रलम्बासुर बलराम को कन्धों पर उठाकर क्रीड़ास्थल से दूरे ले जाते दिखाया गया है जबकि बलराम उसके कपट को जानकर उसके षड्यंत्र को असफल बना रहे हैं।[13] बलराम द्वारा प्रलम्बासुर के वध की कथा विष्णु व भागवत पुराणों[14] में वर्णित है। ओसियाँ में प्रस्तुत दृश्य को कुछ भिन्नता के साथ प्राय: सभी मंदिरों पर दिखाया गया है।

अरिष्टासुर एवं केशीवध – ओसियाँ में अरिष्टासुर व केशीवध का दृश्यांकन एक साथ हुआ है। हरिहर मंदिर–1 तथा सूर्य मंदिर–3 में इन दोनों असुरों के क्रम में प्रथमत: अरिष्टासुर वध तत्पश्चात् केशी वध का अंकन है जबकि अन्य मंदिरों में यह क्रम उल्टा है। दोनों दृश्यों में शक्ति प्रदर्शन तथा गतिशीलता का भाव प्रभावशाली रूप में दिखाया गया है। सूर्य मंदिर–3 के उदाहरण में अरिष्ट आकृति अपेक्षाकृत भारी–भरकम तथा कृष्ण को उसका मुख दबाते हुए उत्कीर्ण किया गया है। मंडोर तथा बादामी की गुफाओं से प्राप्त दृश्य में भी इसी प्रकार का अंकन मिलता है।[15] हरिहर मंदिर–2 में कृष्ण बाएं हाथ से केशी का मुख पकड़े तथा दाहिने हाथ से उस पर प्रहार करते प्रदर्शित हैं। विष्णु मंदिर–5 में उपरोक्त घटना का अधिक सजीव वर्णन हुआ है। भागवतपुराण में भी केशी के मुख में कृष्ण द्वारा हाथ डालकर उसके वध का उल्लेख है।[16]

गोवर्धन धारण : सूर्य मंदिर–3 के दक्षिणी कर्ण भाग में और अन्य मंदिरों की अनुपंक्ति में कृष्ण द्वारा गोवर्धन धारण का दृश्य उत्कीर्ण है। भागवतपुराण में इन्द्र के मानमर्दन के लिए गोवर्धन पर्वत को कृष्ण द्वारा उठाए जाने की कथा प्राप्त होती है।[17]

हरिहर मंदिर–1 में सामान्य रूप से कृष्ण अपने बाएं हाथ पर पर्वत उठाए दिखाए गए हैं और उनके पार्श्व में गऊएं कृष्ण की ओर स्वाभाविकता से देखते हुए उत्कीर्ण है। हरिहर मंदिर–2 में भी बहुत कुछ यही दृश्य अंकित है। सूर्य मंदिर–3 के दृश्यांकन में कट्यावलम्बित गोवर्धनधारी कृष्ण की सहायता उनके पार्श्वों की गोपियाँ कर रही है। ऐसा उदाहरण अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। ऐसा प्रतीत होता है कि सहायता करती आकृतियों को दिखाकर शिल्पी ने ओसियाँ के कृष्णलीला दृश्यों में नवीनता लाने का प्रयास किया है।

धेनुकवध : ओसियाँ के मंदिरों पर धेनुकवध की कथा का विस्तारमय अंकन हुआ है। भागवतपुराण में बलराम द्वारा धेनुकवध का उल्लेख है,[18] पर ओसियाँ में कृष्ण व बलराम दोनों को धेनुकवध के दृश्यों में दिखाया गया है। हरिहर मंदिर–1 के उदाहरण में धेनुक को कृष्ण पर प्रहार करने के उद्देश्य से छलांग लगाते और दूसरे स्थान पर वृक्ष के नीचे मृत पड़े दिखाया गया है। ठीक ऐसी ही आकृति हरिहर मंदिर–2 में भी

आकारित है।[19] हरिहर मंदिर–3 पर प्रस्तुत दृश्य का विस्तारमय एवं अत्यंत सुंदर अंकन हुआ है।

कालियदमन : ओसियाँ के कृष्णलीला दृश्यों में कालियदमन का सर्वाधिक विस्तार के साथ अंकन हुआ है। दो भागों में उत्कीर्ण प्रस्तुत कथानक में कदम्ब वृक्ष से कृष्ण को कूदकर कालियनाग का दमन करते और कालिया के विनाश से भयभीत उसकी पत्नियों और स्वयं कालिय द्वारा क्षमायाचना का अंकन हुआ है।[20] हरिहर मंदिर–1 में कृष्ण को वृक्ष पर चढ़ते तथा वृक्ष से यमुना के जल में कूदने को उद्यत और बाद में कालिया व कृष्ण को युद्धरत दिखाया गया है। ध्यातव्य है कि शिल्पी ने वृक्ष पर चढ़ते कृष्ण के बालरूप और कालिया से युद्धरत कृष्ण को युवा रूप में प्रदर्शित किया है जो शिल्पी द्वारा कृष्ण की बाल स्वरूप चपलता और युवा रूप में लोक कल्याण के भाव की अभिव्यक्ति है। इस दृश्य में गतिशीलता व स्वाभाविकता का अभाव है।

कुवलयापीड वध : इस दृश्य का अत्यंत प्रभावशाली अंकन ओसियाँ में हुआ है। प्रस्तुत दृश्य में कुवलयापीड नामक गज व कृष्ण की आकृति संतुलित रूप में उत्कीर्ण है। सूर्य मंदिर–3 में हाथी की तुलना में कृष्ण की आकृति बड़ी दिखाई गई है। हरिहर मंदिर–1 में दौड़ते हुए हाथी की सूंड पकड़े कृष्ण उसे रोकने का प्रयास कर रहे हैं जबकि हाथी अपने दोनों पैर उठाए कृष्ण पर प्रहार करने की मुद्रा में उत्कीर्ण है। विष्णु मंदिर–1 में छोटे आकार में दृश्य का अंकन है, जिसमें कृष्ण को हाथी के दाँत उखाड़ते दिखाया गया है।[21]

संगीत दृश्य : कुवलयापीडवध के पश्चात् कृष्ण और बलराम के कंस की रंगशाला में पहुँचने का दृश्यांकन है। प्रस्तुत दृश्य में कई आकृतियाँ हर्षोल्लास से वाद्यवादन (ढपली, मृदंग, मंजीरा) करती और नृत्यरत दिखायी गई है। यह संभवत: कृष्ण के मथुरा आगमन पर नगरवासियों के हर्षातिरेक का मूर्त चित्रण है। प्रस्तुत आकृतियाँ भागवतपुराण के विवरण के अनुरूप हैं जिसमें कृष्ण के मथुरा आगमन पर मथुरावासियों के आनंद और उल्लास का संदर्भ है।[22]

चाणूरवध : कृष्णलरला के अंतिम दृश्य में कंस की रंगशाला में कृष्ण के चाणूर से मल्ल युद्ध और कृष्ण द्वारा उसके वध का अंकन है। भागवतपुराण में इस कथा का उल्लेख मिलता है।[23] दृश्य में मल्ल युद्ध की वेशभूषा में कृष्ण तथा चाणूर एक दूसरे से युद्धरत हैं। लड़ने की मुद्रा से दोनों के एक दूसरे को पराजित करने की स्थिति स्पष्ट है। देवेन्द्र हाड़ा ने चाणूरवध को शलवध बताया है[24] और माइकल डब्ल्यू. माईस्टर[25] तथा आशा कालिया[26] ने चाणूर या मुष्टिक अथवा दोनों से युद्धरत होने का दृश्यांकन बताया है।

सूतलोमहर्षण वध : अगले दृश्य की पहचान विद्वानों ने कृष्ण द्वारा कंसवध से किया है।[27] किन्तु प्रस्तुत दृश्य बलराम द्वारा सूत लोमहर्षणवध से संबंधित है। हरिहर

मंदिर-1 में सुंदर मंचिका पर लोमहर्षण को अर्धपर्यकासीन दिखाया गया है। लोमहर्षण की ग्रीवा में बलराम का हल फंसा हुआ है।

निष्कर्ष

इस प्रकार ओसियाँ में कृष्ण जन्म से लेकर कंस की रंगशाला तक के दृश्यों का विस्तार से अंकन हुआ है, जबकि अन्य प्रतिहारकालीन कलाकेन्द्रों पर कृष्ण-लीला का इतना विस्तृत अंकन नहीं मिलता है। यद्यपि अधिकांश दृश्य अन्य स्थलों की भाँति कृष्णलीला के सामान्य दृश्य हैं, किन्तु इनमें कुछ विशेष दृश्यों का अंकन ओसियाँ की विशिष्टता है, उदाहरणार्थ - कंस द्वारा योगमाया वध, कृष्ण-बलराम द्वारा मथुरा के लिए प्रस्थान पर गोकुलवासियों के विरुद्ध होने तथा मथुरा आगमन पर वहाँ के निवासियों द्वारा हर्षोल्लास का अंकन तथा रजवध का दृश्य प्रमुख हैं। ओसियाँ में कृष्णलीला के विभिन्न दृश्यों का विस्तारमय और भावप्रधान अंकन सम्पूर्ण भारतीय कला में कृष्णलीला के उदाहरणों में अनुपम है। इनमें मनुष्य व पशु जगत की गतिशीलता उल्लेखनीय है। दृश्यों को मथुरा से आंरभ करके मथुरा पर ही समाप्त किया गया है। एक ही स्वरूप अलग-अलग मंदिरों पर विविधता के साथ प्रदर्शित है जो कला का सर्वोत्तम उदाहरण है।

संदर्भ

1. *भंडारकर, आर.जी., वैष्णविज़्म, शैविज़्म एंड माइनर रिलीजियस सिस्टम, वाराणसी, 1965, पृ. 49-54*
2. *एपिग्राफिया इंडिका, खण्ड-24, पृ. 194*
3. *तिवारी, डॉ. दुर्गानन्दन, ओसियाँ के मंदिरों की देव मूर्तियाँ, कला प्रकाशन, वाराणसी, 1999, पृ. 157*
4. *अवस्थी, रामाश्रय, खजुराहो की देव प्रतिमाएँ, आगरा, 1960, पृ. 115*
5. *तिवारी, डॉ. दुर्गानन्दन, पूर्वोक्त, पृ. 158*
6. *भागवत पुराण, 10.4.8, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं. 2014*
7. *माईस्टर, माइकल डब्ल्यू., कृष्णलीला फ्रॉम वाधवान एंड ओसियाँ, जे.आई.एस.ओ.ए., खंड-5, न्यू सीरीज, कलकत्ता, पृ. 28-35*
8. *त्रिवेदी, आर.डी., 'प्रतिहार मंदिरों में श्रीकृष्ण का चित्रण और भागवतपुराण', संग्रहालय एवं पुरातत्त्व पत्रिका, लखनऊ, अंक 21-24, 1978-89*
9. *भागवत पुराण, 10.6, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं. 2014*
10. *अग्रवाल, आर.सी., अटरू की प्राचीन मूर्तिकला, मरूभारती, पिलानी, वर्ष-8, अंक-1, जनवरी 1960, पृ. 48*
11. *कृष्णदेव, कृष्णलीला सीन्स इन दि लक्ष्मण टेम्पल, खजुराहो ललितकला, अंक-7, 1960, पृ. 89*
12. *भागवत पुराण, 10.7, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं. 2014*

13. *तिवारी, डॉ. दुर्गानन्दन, पूर्वोक्त, पृ. 160*
14. *भागवत पुराण 10.18, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं. 2014*
15. *कृष्णदेव, पू.नि., पृ. 88*
16. *भागवत पुराण, 10.37.6, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं. 2014*
17. *भागवत पुराण, 10.25, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं. 2014*
18. *भागवत पुराण, 10.15.32, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं. 2014*
19. *त्रिवेदी, आर.डी., पूर्वोक्त, पृ. 55*
20. *भागवत पुराण, 10.16.17, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं. 2014*
21. *तिवारी, डॉ. दुर्गानन्दन, पूर्वोक्त, पृ. 164*
22. *भागवत पुराण, 10.43, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं. 2014*
23. *वही, 10.44*
24. *हांडा, देवेन्द्र, ओसियाँ हिस्ट्री, आर्कियालाजी, आर्ट एंड आर्किटेक्चर, नई दिल्ली, 1984, पृ. 93*
25. *माईस्टर, माइकल डब्ल्यू., पूर्वोक्त, पृ. 31*
26. *कालिया, आशा, दि आर्ट ऑफ ओसियन टेम्पल्स, दिल्ली, 1983, पृ. 83*
27. *माइस्टर, माइकल डब्ल्यू, पूर्वोक्त, पृ. 31*

प्राचीन आस्था के केन्द्र 'देवरे'

रुचि सोलंकी

मानव ने संस्कृति का आवरण कब ओढ़ा और संस्कृति मानव को कब अपनी अर्थवत्ता दे गई यह कोई नहीं जानता किन्तु मानव के उद्‌भव के साथ ही संस्कृति का निर्माण होना निश्चित था और साथ ही धार्मिक आस्थाओं का भी प्रत्येक समाज में धार्मिक धर्म से सम्बन्धित रहा प्राचीनकाल से भारत में परम्परा चली आई है की मनुष्य को श्रेष्ठ बनाने वाले नियम मनुष्य को सभ्य बनाता है। प्रभाव जो भी रहा है किन्तु आस्था का महत्व प्राचिन समय में भी था और आज भी है।

जन्म से लेकर मृत्यु तक कई प्रतिष्ठानों का आयोजन किया जाता है यह सभी किसी ना किसी रूप में 'धर्म' से जुड़े हिन्दू संस्कृति में जहां विष्णु, शिव, महेश आदि की उपासना को महत्व दिया जाता है। किन्तु आदिवासी समाज में अलग ही लोक देवता है जो इनके लिये पथप्रदर्शक भी है। हमारे आस-पास हम कई देवी देवताओं के मंदिर देखते हैं जो किसी ना किसी विशेष महत्व की दृष्टि से निर्मित होते हैं किन्तु जब हम आदिवासी क्षेत्रों में जाते हैं तो वहां हमें मंदिरों के स्थान पर चबूतरे, स्थान या देवरे मिलते हैं। जिनका महत्व आदिवासियों के लिये उतना ही जितना की हमारे लिये मंदिरों का है। यह माना जाता है कि प्राचीन काल में इन आदिवासियों में नाग पूजा का प्रचलन था और यही नाग पूजा का रूपान्तर रूप 'देवरे' है। इन देवरों में शनिवार व रविवार को चौकियाँ व रात्रि जागरण होता है। इनमें एक पुरुष मुख्य पुजारी के रूप में होता है जिसे भौपा कहते है। निश्चित तिथि एवं समय पर या विशेष आयोजन पर इनके शरीर में 'भाव' आता है। मेवाड़ में कई जगह ऐसे देवरे हैं। प्राचीन कालीन मेवाड़ के देवरों में चराणा (रेल-मगरा) सेमाणा, आलोली (सहाड़ा) आदि बड़े विख्यात रहे।

देवरे या चबूतरे

जन साधारण में धार्मिक अंधविश्वास का प्रलचन रहा है इसी कारण आदिवासी गांवों में पाये जाने वाले लोक देवताओं के स्थान व प्रतीक यह देवरे हैं। यह चबूतरे गांव के मध्य में स्थित होते हैं और यह मान्यता है कि जिन लोक-देवताओं के लिये यह स्थान बनाये गये हैं वह कहीं ना कहीं उनके पूर्वज रहे हैं। जिन्होंने जन-कल्याण हेतु अपने प्राणों का बलिदान दिया और मरणोपरांत भी वह लोक-सेवा में लगे है तथा उनकी शरण में आने वाले लोगों की वह सहायता करते हैं। आदिवासी लोक-कथाओं, गीतों तथा नृत्यों में इन लोक-देवताओं के बारे में जानकारी मिलती है। आज भी उनके लोक देवी-देवता उनकी कलाओं में जीवित है।

लोक देवी-देवताओं के लिये बनाये गये देवरों में प्राय: छत नहीं होती यह खुले होते हैं ना ही इन पर आधुनिकता का प्रभाव दिखाई देता है ना ही कोई बाह्य आडम्बर सादगरी के प्रतीक यह देवरे सिर्फ धार्मिक आस्था केन्द्र ही नहीं है अपितु उपचार केन्द्र भी कई प्रकार की बीमारियों के उपचार का यह दावा करते हैं आदिवासी समाज में कई अंधविश्वास मौजूद है उनमें से एक यह भी है कि मनुष्य पर किसी भूत-प्रेत का प्रकोप (प्रभाव) भी पड़ता है या बुरी आत्माएँ उनको अपने वश में कर लेती है यह देवरे उन बुरी आत्माओं से लोगों को सुरक्षित कर निजात दिलवाते हैं। देवरे में कई देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ होती हैं जो पाषाण से निर्मित होती हैं। यह पाषाण प्रतिमाएँ आदिवासी समाज की एक विशेष कला को भी प्रदर्शित करती है। प्राय: यह देवरे, स्थान या चबूतरे थोड़ी सी ऊँचाई पर बनाये जाते हैं तथा विशेष दिनों में यहां विशेष प्रकार की पूजा अर्चना की जाती है।

भोपा एवं भाव

आदिवासी गांवों में देवरे और प्रत्येक देवरों में अपना एक भोपा होता है देवरे का मुख्य भोपा पाटवी कहलाता है भोपा दल के बाकी लोग सेवग (सेवक) कहलाते हैं। सेवगों का काम पाती चढ़ाना (नीम, बिल्वपत्र, आदि की पत्तियां चढ़ाना) देवरे की सफाई करना और दीये-बाती करना है सेवा कार्य करने देवरे की सफाई करने के कारण ही उसे सेवग कहा जाता है। देवरे में शंख और झालर बजाने वाले को वघारा तथा ढोल बजाने वाले को ढोली कहते हैं।

प्रत्येक देवरे का अपना ढोल होता है। ढोल फूटना अपशकुन माना जाता है चूंकि देवरे की धाम ढोल पर ही निर्भर होती है देवरे के ढोल को चारी नहीं हो सकती इसका पूरा इन्तजाम किया जाता है। मुख्य भोपा गले में ईष्ट देव की मूरत (नावां) धारण करता है। उसके कमर में घूघरे बंधे होते हैं तथा कंधे पर तीन लड़ की सांकल लटकी रहती है, हाथ में मोर पंख तथा काली ऊन का कलावा बंधा होता है। भोपे में जब भाव आता है (भोपे में ईष्ट देव की छाया आना) तो किलकारी मारना तेजी से विशेष प्रकार की आवाज के साथ श्वास लेना छोड़ना जैसे विविध शारीरिक कौतुकों से उसकी सूचना मिलती है। उदाहरण के लिये भोपे में भाव आने पर लोहे की सांकल तीन बार अपनी पीठ पर पटक कर तथा सांकल रख कर मोर पंख अपने हाथ में ले लेता है। राड़ा का भोपा भेडिये से अपने सिर पर प्रहार करता है। कुछ देवी देवताओं के भोपे भाव आने पर लई की जलती बाती को जीभ पर रखकर मुंह बंद कर लेते हैं, इसे केकड़ा खाना कहते हैं।

ताखाजी, बासकघी और गातोड़ जी के भोपे भाव आने पर सांप की तरह रेंगते हैं फिर उछल कर बैठ जाते हैं। कल्लघी और जयमल जी के भोपे वीरवेश में होते हैं।

लोक देवी देवताओं का मूर्तियाँ

आदिवासियों के इन लोक देवी-देवताओं की मूर्तियाँ बनाने के लिये स्थानीय 'मोलेला' गांव काफी प्रसिद्ध है। यह उदयपुर से हल्दीघाटी जाते समय राजसमंद जिले की खमनोर कला के लिये प्रसिद्ध है, यहाँ प्रचुर मात्रा में लोक देवी देवताओं की प्रतिमाएं बनाई जाती हैं। इस गांव में कुम्हारों की दो खांपें निवास करती है - मेवालिया और मेवाड़ा। यहां के कुम्हारों ने माटी शिल्प में राष्ट्रीय स्तर पर नाम कमाया है। यह गांव काफी पुराना है इसे 'जूना नाथद्वारा' भी कहा जाता है। यहां विशेष प्रकार की मूर्तियों का निर्माण किया जाता है जिनमें विशेष रूप से देवी-देवताओं के 'हिगांण' है। हिंगाण सिंहासन का देशज रूप है साधार प्रतिमाओं को उकेरे जाने से वे हिंगाण कही जाती है। देवी देवताओं की यह मूर्तियाँ प्राय: आयताकार पैनल कर उकेरी हुई होती है ऊपर का हिस्सा विशेष प्रकार का मेहराबदार होता है, मंदिर के कटावदार दरवाजे की तरह इस कटावदार मेहराब से मंदिर की अनुभूति होती है। जिसके अन्दर देव प्रतीमा विराजी होती है उसके ऊपर छत आवृति और पहचान चिन्ह अलग-अलग होते हैं।

देव प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा

मोलेला की माटी से निर्मित देव प्रतिमाओं की बिक्री किसी हाट-बाट या मेलों-प्रदर्शनियों में नहीं होती बल्कि इनकी बिक्री का अपना विधान है। कुछ निश्चित तिथियों के दिन ही देवरो में देव-प्रतिमाओं की प्रति थापना के कारण इनकी बिक्री भी निर्धारित महीनों में होती है। वैशाख और माघ माह में भोपों का आगमन शुरू हो जाता है आदिवासी अंचलों से पांच-दस से लेकर सौ सवा सौ व्यक्तियों की संख्या तक के भोपा सहयोगियों के दल मूर्ति लेने आते हैं तथा रात्रि विश्राम के दौरान अपने देव-प्रतीकों, शंख, साँकल, पंख, झालर के साथ हॉलनुमा बड़े कमरों में ठहरे भोपों का दल भजन कीर्तन करता है। देव प्रतिम को श्वेत कपड़ों में लपेट कर सर पर रख ले जाया जाता है। अपने घर से निकलने से लकर मोलेला पहुंचने तक भोपा अन्न जल सेवन नहीं करता वह निर्जला रहता है। यह पैदल ही मौलेला आते है तथा जाते समय यदि बस में बैठ भी जाये तो जिस व्यक्ति या भोपा के सर मूर्ति होती है वह नहीं बैठ सकता ना ही रास्ते में मूर्ति जमीन पर रख सकते हैं। प्रतिष्ठा के समय ही इन्हें खड़ा किया जाता है। सभी देव प्रतिमाओं को श्वेत वस्त्र में तथा देवी प्रतिमाओं को लाल वस्त्र में लपेटा जाता है। ये देव प्रतिमाएं कार्तिक पूर्णिमा, वैशाखी पूर्णिमा, भाद्रपद शुक्ला पंचमी तथा माघ शुक्ला पंचमी पर देवरों में प्रतिष्ठित की जाती हैं। प्रतिमा प्रतिष्ठान के समय गांव में उत्सव जैसा माहौल होता है।

देवरों में स्थापित विभिन्न प्रतिमाएँ

देवरों में विभिन्न लोक देवी-देवताओं की प्रतिमा लगी होती हैं जो कि प्रत्येक देवरे की विशेषता है यहां निम्न देवताओं की मूर्तियां विशेष रूप से लगाई जाती है।

गणेश : इस अंचल में विनायक को मूठ का देवता माना जाता है। मूठ (एक तंत्र शक्ति) आग की लपटों के गोले के रूप में फैंकी जाती है और यह जहां गिरती है उसे नष्ट कर देती है। कई बार मियादी मूठ अथवा किसी पेड़ के साथ जोड़ कर भी मूठ चलाई जाती है। इन्हें वन्याकजी, बिनायक या बिंदायक भी कहते हैं। आदिवासी देवरों में प्राय: इन्हें प्रतिष्ठित नहीं किया जाता किन्तु देवरे के द्वार पर या देवरे के परिसर में इन्हें स्थापित किया जाता है।

धर्मराज - लोक में ये देवनारायण के रूप में प्रतिष्ठित हैं। ये मनुष्य के कर्मों का लेखा-जोखा रखते हैं तथा अच्छे बुरे कर्मों के आधार पर उसे दण्ड होते हैं। मेवाड़ अंचल में सवाई भोज और सांढूमाता के रूप के रूप में जन्म लेने वाले उदल को धर्मराज कहा जाता है। बूली नाम की घोड़ी इनकी सवारी होती है। इनकी मूरत पर रंग नहीं किया जाता बल्कि घी चढ़ाया जाता है। प्रतिष्ठा के बाद पूजन में नीम की पाती भी चढ़ाई जाती है। घोड़ी पर सवार इनकी मूर्ति के आगे-पीछे सांप की आकृति भी हो सकती है। कई बार धर्मराज को पक्की ईंटों के रूप में ही स्थापित कर दिया जाता है। इसीलिए इन्हें 'ईटां का श्याम' भी कहा जाता है।

घोड़ा असवारी - घोड़ा मामा देव का वाहन है। मामा देव की मान्यता दक्षिणी राजस्थान की पहाड़ी घाटियों में अधिक है। देवताओं के वाहन के रूप में घोड़ों का महत्व इसलिए भी अधिक है क्योंकि ये पवन के अवतार माने जाते हैं। कई बार देवता के स्थान पर घोड़ा ही स्थापित कर दिया जाता है। ये चौहान राजपूत थे और भीनमाल क्षेत्र के निवासी। भानजे के विवाह में बाराती थे। किसी विवाद में मारे गये थे। राह के सहचर देवता के रूप में मामादेव की मान्यता रही है।

खाकलदेव - ये लोक देवता महासर्प के रूप में पूजित हैं। एक से अधिक फण वाले सर्प के रूप में इनकी मूरत बनाई जाती है। मेवाड़ के कई देवरों में खाकलदेव की माटी की मूरत प्रतिष्ठित रहती है और लोक देवता के रूप में उन्हें पूजा जाता है। जयसमन्द के पास गातोड़-वीरपुरा गांव में इनके मूल देवरे हैं।

पाबूजी - पाबूजी को ऊंट पर सवार के रूप में बनाया जाता है। इस अंचल में पाबूजी को ऊंटों और सांडनियों का रक्षक देवता के रूप में माना जाता है। रायका रेबारी जाति समुदाय के देवरों, मंडपों में इनकी स्थापना की जाती है।

खेड़ा देवी - सिंह पर सवार दुर्गामाता को ही प्राय: खेड़ा देवी के रूप में पूजा जाता है। लोक आस्था के अनुसार यह देवी उस गांव, खेड़ा ढाणी की रक्षा करती है जहां इसे प्रतिष्ठित किया जाता है।

ताखाजी - ताखाजी तक्षक नाग का ही देशज नाम है। महाभारत में तक्षक का

प्रसंग आता है। सांपों के देवता के रूप में पूजित ताखा की मूर्ति में एक फण वाला सर्प होता है। लोक में यह सांपों से रक्षा करने के लिए पूजा जाता है।

सादू माता – यह सवाई भोज की पत्नी थी जिसने पति सवाई भोज के निधन के बारह साल बाद देव डूंगरी पर देवनारायण या उदल को जन्म दिया था। इस देवी की प्रतिमा में पालना होता है और कई बार उसके आगे या पीछे सिंह भी बनाया जाता है।

भूणा-मेंदू – ये बगड़ावत गाथा के पात्र हैं। इनको सामान्यत: खड़े हुए व्यक्ति के रूप में बनाया जाता है। इसी रूप में बगड़ावत गाथा के अन्य किरदारों की मूर्तियां भी बनाई जाती रही है।

बिला-बिल्ली – ये स्त्री-पुरुष की आकृतियां हैं। सामान्यतया इनकी स्थापना नहीं होती। ये मूर्तियां देवरे के सौन्दर्य के लिए रखी जाती हैं। बगड़ावत गाथा में सूत्रधार के रूप में इनका जिक्र है। बिल्व पेड़ में इसका सम्बन्ध रहा है।

रामदेवजी – रामदेवजी प्रसिद्ध लोक देवता है। इन्हें राजस्थान, गुजरात और मालवा आदि क्षेत्रों में पूजा जाता है। इन्हें घोड़े पर सवार के रूप में बनाया जाता है तथा इनके एक हाथ में भाला और कमर में तलवार बंधी रहती है।

काला-गोरा भैंरू – काला-गोरा भैंरू भी लोक देवता के रूप में पूजित हैं। काले रंग से रंगा काला भैंरू और कत्थई अथवा गेरूएं रंग से रंगा गोरा भैंरू होता है। इनके वाहन के रूप में इनकी मूर्तियों के साथ कुत्ता भी बनाया जाता है।

तेजाजी – घोड़ी पर सवार तेजा धोल्या जाट की छवि देवनारायण जैसी ही होती है। ये भी सांपों के देवता हैं अत: मिट्टी के हिंगाण में बनी इनकी मूर्ति (मूरत) के साथ सांप की मूर्ति भी बनाई जाती है।

चावड़ा माता – चामुंडा तथा चावंडा माता का ही लोक रूप चावड़ा माता है। इसमें देवी को सिंह पर सवार और प्राय: चतुर्भुज रूप में बनाया जाता है। देवी के हाथों में त्रिशूल, तलवार और खप्पर आदि होता है।

आसापुरा माता – आशापुरा या आसापुरा देवी की प्रतिमा भी महिषासुरमर्दिनी के समान बनाई जाती है। यह सिंह पर सवार होती है तथा हाथों में त्रिशूल तलवार आदि आयुध होते हैं। मेवाड़ में आवरी माता और जावर माता का भी यही रूप है।

लाला-फूलां – काला-गोरा भैंरू की तरह ही लाला-फूलां की मूरतें स्त्री आकृतियों के रूप में बनाई जाती हैं। ये सिकोतरी या शक्ति के रूप में मेवाड़ क्षेत्र में बहुमान्य रही हैं।

सीतला माता – यह देवी सूपड़ा-छाजडा, झाडू लिए गधे पर सवार होती है। यह रामदेवजी के जीवन काल में हुआ था। इस मूरत पर घी चढ़ाया जाता है।

राड़ाजी – राड़ाजी की मूर्ति में पुरुषाकृति होती है। इनकी पुरानी मूर्तियों में एक

मुड़ी हुई लकड़ी का स्वरूप दिखाया जाता है।

खेड़ा बावजी – भैंरू के रूप को ही प्राय: खेड़ा बाबजी कहा जाता है। इसे ग्राम रक्षक देवता के रूप में पूजा जाता है। खेड़ा बावजी की प्रतिष्ठा प्राय: गांव के बाहर बने देवरे में होती है। ये प्राचीन यक्ष के प्रतीक भी है।

भोल्या भूत – राजसमंद के उनवास और खमनोर गांव में भोल्या भूत का स्थानक बना हुआ है। भीलों में गाई जाने वाली भारत गाथा में नौ देवियों के भाई के रूप में भोल्या भूत का नाम आता है।

रूपण माता – मेवाड़ में हल्दीघाटी के पास रूपण माता के देवरे में देवी की अनगढ़ मूर्ति है। रूपण माता के तोरण भी बनाये जाते हैं। जिनमें रूपण माता स्त्री के रूप में होती है।

पथवारी – पथ की देवी पथवारी कहलाती है। यह रास्ते में राहगीर की रक्षा करती है।

देव पैनल – देवरों में प्रयुक्त होने वाले हिंगाणों के अलावा देवी-देवताओं के कुछ ऐसे फलक भी बनाये जाते हैं।

नौ दुर्गा फलक – मोलेला के कुम्हारों ने नौ दुर्गा के कलात्मक फलक तैयार किये हैं। इस फलक में नौ दुर्गा-शैलपुत्री, ब्रह्मचारिणी, चन्द्रघंटा, कुष्माण्डा, स्कन्द माता, कात्यायनी, कालरात्रि, महागौरी और सिद्धिदात्री स्वरूपों को आयताकार फलक में उकेरा जाता है। दुर्गा के इन स्वरूपों में स्वरूप के अनुसार वाहन और आयुध होते हैं।

दशावतार – देव श्रृंखला का दूसरा महत्वपूर्ण फलक दशावतार है। इस फलक में भगवान विष्णु के दस अवतारों का अंकन किया जाता है।

नवग्रह फलक –नौ दुर्गा फलक की तरफ ही नवग्रह फलक बनाया जाता है। ये नौ ग्रह हैं – सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु और केतु।

रामथा का अंकन – मोलेला के कुम्हारों ने मिट्टी के फलक पर राम कथा के महत्वपूर्ण प्रसंगों को भी बड़े जीवंत रूप में उकेरा है।

समीक्षा

आदिवासियों की आस्था के इन प्रतीक चिन्हों का महत्व वर्तमान में कम होता जा रहा है परन्तु यह पूर्णत: समाप्त नहीं हुये है। जिसका मुख्य कारण आदिवासियों की अपनी परम्पराओं के प्रति आस्था है जो इन्हें नष्ट नहीं होने देती, हालांकि वर्तमान में 'झोला छाप भोपा' के कारण स्थानीय लोगों का रुझान इनकी तरफ कम होता जा रहा है। कुछ समय पूर्व ही भास्कर समाचार पत्रिका द्वारा इस तरह के नकली भोपाओं को उजागर किया गया है।

परन्तु यदि इनकी वर्तमान स्थिति की जगह इनके प्रारम्भिक रूप की चर्चा करें तो यह स्वत: स्पष्ट हो जायेगा कि यह देवरे किस प्रकार उपयोगी हुआ करते थे जब आधुनिक चिकित्सा पद्धति मौजूद नहीं थी तब यही देवरों के भोपा औषधियों के माध्यम से स्थानीय जन का इलाज किया करते थे तथा उन्हें स्वस्थ रहने की मनोभावना प्रदान करते थे। साथ-साथ ही साथ यह 'देवरे' स्थानीय कला-संस्कृति का भी जीवंत उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। यह आस्था के वह प्रतीक केन्द्र है जो कि बाहरी आवरण से अछूते हैं जिन पर किसी प्रकार का राजनैतिक प्रभाव परिलक्षित नहीं होता साथ ही यह आदिवासियों की निश्चलता को प्रकट करते हैं। जहां वर्तमान में मनुष्य भौतिकता का चौला पहन बैठा है यह आदिवासी क्षेत्र आज भी उस आवरण से बाहर है और अपनी आस्था व संस्कृति को संजोय बैठे हैं। वर्तमान में प्रत्येक चीज तर्क पर जुड़ी है बिना तर्क के हम किसी भी वस्तु को मानने को तैयार नहीं है परन्तु यह 'देवरे' आस्था के वह प्रतीक चिन्ह है, जहाँ तर्क से परे भावनात्मक के आधार पर भवि य की सम्भावनाएं तलाक्षी जा सकती है।

संदर्भ

1. *प्राचीन भारतीय प्रतिमा विज्ञान एवं मूर्तिकला - बृजभूषण श्रीवास्तव*
2. *राजस्थान का माटी शिल्प - डॉ. देवदत्त शर्मा, 2013*
3. *धर्म एवं दर्शन : सांस्कृतिक दाय (राजस्थान की सांस्कृतिक परम्परा) - कलसाथ शास्त्री*
4. *मेवाड़ संस्कृति और परम्परा - धर्मपाल शर्मा*

उमरकोट-जैसलमेर सम्बन्ध (धाट-माड़ सम्बन्ध)

पंकज चाण्डक

धाट किराडू पारकार, लौदरवो जालौर।
आबू पूगल नागौर सूं, नवकोटां मंडौर।।

प्राचीनकाल में मरुप्रदेश अथवा नवकोटी मारवाड़ नामों से विदित यह प्रदेश बहुत ही विस्तृत था, जिसके नवकोट (किले) बाद में कई रियासतों जैसे धाट प्रदेश में उमरकोट व पारकार, मालाणी क्षेत्र में किराडू, जैसलमेर (माड़ प्रदेश में) लौदरवा, मारवाड़ में मंडौर, नागौर, जालोर तथा सिरोही मे आबू आदि में बंट गये, लेकिन यह प्रदेश अपनी भौगोलिक व ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य के कारण परस्पर जुड़ा रहा है।[1]

दोहे में सर्वप्रथम नाम धाट (उमरकोट क्षेत्र) का आया है जिसे भारत के कोट संज्ञक नगरों में पश्चिमतम व प्राचीन मानते हैं। उमरकोट (हिन्दवी जुबान में अमरकोट) सिन्धु सभ्यता तथा वैदिक संस्कृति का उद्‌गम स्थलों में से एक है, सनातन संस्कृति की सरिता सर्वप्रथम धाट की पावन धरती से प्रवाहित होकर माड़-धरा जैसलमेर क्षेत्र में पहुंची।

उमरकोट व जैसलमेर राज्य अपनी भौगोलिक, सांस्कृतिक, सामाजिक समानताओं के कारण परस्पर जुड़े हुए प्रतीत होते हैं। दोनों की लोक संस्कृति में उमर-मारूवी, मूमल-महेन्द्रा (जहाँ मूमल जैसलमेर से, महेन्द्रा उमरकोट से) के आख्यान प्रचलित है। पीर बाबा रामदेव जी तंवर का विवाह भी अमरकोट क्षेत्र में ही हुआ है।

भौगोलिक रूप से देखे तो भारतीय महामरुस्थल थार (The Great Thar) मारवाड़, माड़ (जैसलमेर), धाट (उमरकोट) व बीकानेर रियासतों में विस्तृत है। इस भू-भाग का पश्चिमी छोर पर उमरकोट रियासत स्थित है जो पूर्व-पश्चिम में अमरकोट से लेकर बाड़मेर के चौहटन की पहाड़ियों तक 200 किमी के क्षेत्र में तथा उत्तर-दक्षिण में जैसलमेर के सता सून्दरा गांव से लेकर बाड़मेर जिले के सेड़वा कस्बे तक व पाकिस्तान में सत्ती देहरा तक 150 किमी. क्षेत्र में फैला क्षेत्र धाट प्रदेश कहलाता है, जिसकी राजधानी उमरकोट थी। वर्तमान में भारत विभाजन के कारण उमरकोट क्षेत्र का लगभग 70 प्रतिशत हिस्सा वर्तमान पाकिस्तान (थारपारकर जिलों) व शेष 30 प्रतिशत भाग भारत (बाड़मेर व जैसलमेर की कुछ तहसीलों के रूप में) अवस्थित है।[2]

जैसलमेर से दक्षिण-पश्चिम में 70 कोस की दूरी पर उमरकोट शहर स्थित है। जैसलमेर नगर से 35 कोस की दूरी पर दागजाल नामक स्थल पर उमरकोट व जैसलमेर राज्य की सीमाऐं मिलती थी।[3]

बाहरवीं शताब्दी पश्चात् जैसलमेर पर भाटी राजपूतों का शासन तथा उमरकोट पर सोढ़ा राजपूतों का शासन रहा है। सोढ़ा राजपूत जाति सर्वाधिक पश्चिमी सीमा छोर पर होने के कारण इनके वैवाहिक सम्बन्ध निकटस्थ जैसलमेर राज्य के भाटियों तथा जोधपुर राज्य के राठौड़ों कुलों में हुए। इन्हीं वैवाहिक सम्बन्ध के परिणामस्वरूप घटित घटनाओं व भौगोलिक निकटता के कारण परस्पर विभिन्न समय काल में भिन्न-भिन्न राजनैतिक सम्बन्ध रहे है।[4]

भाटी व सोढ़ा सम्बन्धों के पहली प्रामाणिक जानकारी महारावल चाचिगदेव प्रथम (1229 ई. से 1264 ई.) के समय की मिलती है।[5] चाचिगदेव के राज्यकाल में जैसलमेर राज्य में सोढ़ा, चन्नियां, बलोच लूटमार मचाते थे। उन्होंने नगर-ठठे के रास्ते में जैसलमेर के सेठ भाटिया बूलाकीदास के पांच लाख रुपये लूट लिये। चाचिगदेव ने अपनी फौज लेकर सोढ़ों, चन्नियों तथा बलोंचो को पराजित कर समस्त सम्पति पुन: ले आया। इस युद्ध में 1300 सोढ़ा राजपूत रणखेत गये[6] तथा सोढ़ा राजकुमारी का विवाह भी चाचिगदेव प्रथम से कराना पड़ा[7] जो आगे जाकर राजमाता (महारावल कर्ण की माता) बनी। महारावल कर्ण के समय राजमाता सोढ़ी रानी का विशेष प्रभाव था, उसने जैसलमेर के उच्च पदों पर उमरकोट के सोढ़ा राजपूतों को आसीन किया[8] तथा कुम्हारों से नाराज होकर उनका बलात् कर्म परिवर्तन करवाया[9]। उच्च पदासीन सोढ़ाओं ने कर्ण के उत्तराधिकारी महारावल लखनसेन की हत्या करवा दी। जब यह बात भाटी सरदारों को मालूम हुई, तब उन्होंने सोढ़ा पदाधिकारियों को अपमानित कर उन्हें मारकर दुर्ग के कोटड़ी पाड़े (मोहल्ले) के कुएँ में फेंक दिया। यह कोटड़ी पाड़े का कूप आज भी बन्द है। वर्तमान में उपरोक्त ऐतिहासिक घटना का साक्षी कूप के चारों ओर कूड़े का ढेर हैं, जिससे कूपलेख ढक गया।[10]

बीच समय में दोनों राज्यों में अस्थायित्व के कारण कोई स्रोत उपलब्ध नहीं होने के कारण सम्बन्धों की गणना नहीं कर सकते। यह सम्बन्ध पुन: महारावल चाचिगदेव द्वितीय (वि. सं. 1505 से वि. सं. 1530) में दृष्टिगोचर होते हैं। इस समय उमरकोट पर सोढ़ा राणा मांडण का राज्य था। चाचिगदेव-द्वितीय वैवाहिक सम्बन्धों द्वारा राजपूतों को एकजुट करना चाहता था। अत: अपने ग्यारहवां विवाह के लिए उमरकोट आता है, लेकिन सोढ़ा राणा मांडण के भतीजे भोजदे ने महारावल की हत्या कर दी तथा सोढ़ा सरदारों ने साथ गये सभी 200 बाराती भाटी सरदारों की हत्या कर दी।[11]

सोढ़ा सरदार द्वारा किये गये इस कुकृत्य का बदला लेने के लिए चाचिगदेव द्वितीय के उत्तराधिकारी महारावल देवीदास (महारावल देवकरण-राव जोधा का दोहिता[12]) ने राणा मांडण पर भीषण हमला कर अमरकोट से आठ कोस की दूरी पर पराजित किया।[13] वि.सं. 1534 में देवीदास (देवकरण)[14] ने उमरकोट पर पुन: आक्रमण कर किले को ध्वस्त कर 10,000 ईंटें जैसलमेर ले जाकर सोनार किले में महल के निर्माण कार्य में प्रयोग किया उस देरासर महल[15] की दीवारों पर उमरकोट की ईंटों के साथ शिलालेख[16] लगा हुआ जिस पर-

।। श्री गणेशाय नम:।।
। स्वतस्त श्री नृप विक्रमादित्य संवत् 1512' वर्ष माघ मासे।
शुक्ल पक्ष पंचम्या तिथौ महाराज राउल श्री देवीदास विजय राज्ये।
अमरकोट पाट ने इटा आणी भीत करावी।
शुभ भवतु कल्याणमस्तु।

उत्कीर्ण है।

महारावल देवीदास (देवीकरण) के शासनकाल में ई. 1471 से अमरकोट भाटियों के अधीन हो गया, जैसलमेर के भाटी नरेशों ने उमरकोट के सोढ़ों पंवारों को अपने अधीन रखकर उनके साथ मधुर सम्बन्ध बनाये रखने की नीति का अवलम्बन किया[17] उमरकोट के सोढ़ों ने हुमायूं की विकट घड़ी में सहायता की थी और अकबर का जन्म भी उमरकोट में हुआ था[18] अत: जैसलमेर के महारावल हरराज को यह संदेह हो गया कि उमरकोट अकबर की कृपा से जैसलमेर से संबंध विच्छेद कर सकता है। अत: उसने राणा गंगा से मधुर सम्बन्ध बनाये रखने का प्रयास किया परन्तु राणा गंगा का व्यवहार को अपने अनुकूल न पाकर महारावल हरराज ने उसे बन्दी बना लिया।[19] इस प्रकार राणा गंगा की मृत्यु उमरकोट की बजाय जैसलमेर में हुई।[20, 21]

वि. सं. 1710 में उमरकोट के राणा ईसरसिंह (राणा भोजराज के पुत्र) ने जैसलमेर के महारावल सबलसिंह के विरुद्ध कार्यवाही करने की चेष्टा की, परन्तु रावल ने वि.सं. 1710 में अपनी सैनिक शक्ति से उसे पदच्यूत कर जैसिंघदे को गद्दी पर बैठा दिया।[22, 23] कालान्तर में उमरकोट के सोढ़ा पंवारों को जैसलमेर के भाटी सरदारों का साथ नहीं मिलने के कारण इस पर कल्होड़ों, मीरों व बलूचों ने कब्जा कर लिया, जिसे बाद में जोधपुर के राठौड़ों ने वि.सं. 1839 में अपने कब्जे में ले लिया।[24]

उमरकोट पर महाराजा विजयसिंह, जोधपुर का अधिकार हो गया था। पेशवा संरक्षक नाना फडनवीस की ओर से कृष्णा जी जगन्नाथ को मारवाड़ का वकील नियत किया गया। कृष्णा जी समय-समय पर राजपूताने में घटित घटनाओं की सूचना फडनवीस को भेजते थे।[25] उमरकोट के बारे में वह लिखते हैं कि ''जैसलमेर के रावल मूलराज की स्वीकृति से सिंध के मीर फतह अली खां व टालपुरों का वकील लाला कृष्णादास खत्री जैसलमेर राज्य से होकर महाराजा विजयसिंह से महाराजा विजयसिंह के पौत्र भीमसिंह ने रावल मूलराज व सवाईसिंह चंपावत की मध्यस्थता के लाला के समक्ष प्रस्ताव रखा कि हमें पैसों की जरूरत है यदि एक लाख रुपये दे सको तो उमरकोट किला खाली कराके आपको दे दिया जाएगा। तब 80,000 रुपये देना निश्चित कर उमरकोट देने की बात पक्की की गई, वकील लाला कृष्णादास खत्री ने जाकर इस बाबत् फतेह अली खां से

इसकी स्वीकृति ली परन्तु महाराजा विजयसिंह की मृत्यु (वि.सं. 1850) होने के बाद भीमसिंह ने जोधपुर की बागडोर संभाली तब उसने अपना विचार बदल दिया।[26] उमरकोट पर जोधपुर के कब्जे, तत्पश्चात् ब्रिटिश कब्जे व अन्त में भारत विभाजन के कारण इसका राजनैतिक रूप से जैसलमेर से रिश्ता टूट गया।'' लेकिन सांस्कृतिक व सामाजिक रूप से दोनों क्षेत्रों का जुड़ाव बना रहा।[27] यह जुड़ाव व्यापारिक मार्ग के कारण भी बना रहा[28], प्राचीन काल से जैसलमेर नगर व उमरकोट नगर के पश्चिम में सिन्धु घाटी व अरब तथा पूर्व में अजमेर, दिल्ली के मध्य अवस्थित होने के कारण यह दोनों नगर प्रमुख व्यापारिक मण्डी थे। दो आब की नील, कोटा व मालवा की अफीम, बीकानेर की मिश्री, जयपुर के लोहे के उपकरण से लेकर ऊँटों के काफिले जैसलमेर व उमरकोट से होकर गुजरते थे। जेम्स टॉड ने भी इस व्यापारिक मार्ग को उस समय का प्रमुख मार्ग के रूप में उल्लेख किया है।[29] 20वीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षों में सीमान्त मार्गों पर रेलवे लाईन बन जाने से व्यापार का लगभग सारा अस्तित्व समाप्त हो गया[30] तथा इस मार्ग पर व्यापार पहले का 1/100 भाग रह गया।[31] सन् 1947 में हुए भारत विभाजन से इन दोनों क्षेत्रों में राजनैतिक व व्यापारिक सम्पर्क समाप्त हो गये परन्तु सीमा विभाजन के बावजूद दोनों क्षेत्र के लोग में सांस्कृतिक व सामाजिक रूप से गहरा जुड़ाव अब भी है।[32,33]

संदर्भ

1. *कविया, शक्तिदान, सम्पादक, सोढ़ायण, राज. राज्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, 1966*
2. *गढ़वीर, डॉ. एम. आर, अब्बा की बातें, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर*
3. *शर्मा, नंदकिशोर, युगयुगीन वल्लप्रदेश, जैसलमेर राज्य का राजनैतिक इतिहास, सीमान्त प्रकाशन, जैसलमेर, 1993*
4. *वही*
5. *जैसलमेर ख्यात, पृ. 49*
6. *टॉड, राजस्थान, भाग 2, पृ. 1209*
7. *तवारीख जैसलमेर, पृ. 32*
8. *दरियानाथ की बावड़ी में उपलब्ध महारावल कर्ण कालीन ताम्र पत्र*
9. *जैसलमेर तवारिख, पृ. 32*
10. *कोटडी पाडा कूप लेख*
11. *वि.सं. 1505 से 1518 तक शिलालेख (सोनार किले में)*
12. *नैणसी ख्यात, भाग 2, पृ. 82-83 पर दोहे के रूप में*
13. *जागू, रायचन्द, रेगिस्तान जी तवारीख, वोल्यूम 1, सिन्धी अदबी बोर्ड, हैदराबाद, सिन्ध 1956*
14. *पाटवी कुंवर देवीदास राव जोधाजी रा दोहिता ख्यात, पृ. 65*
15. *सोनार किले के राजमहलों में स्थित जिसे कण महल भी कहते हैं जो अभी बन्द है।*

(शिलालेख विद्यमान बन्द कमरे में)

16. *शास्त्रीय व लौकिक वि.सं. में अन्तर 22 व र्ा का 1512+22=1534 वि.सं. (श्री नन्दकिशोर शर्मा के साक्षात्कार वार्ता के आधार पर)*
17. *तवारीखे जैसलमेर*
18. *कजनवी, नफायसूल मआसिर, अनुवाद रिजवी, मुगलकालीन-भारत-हुमायूँ, भाग 2, पृ. 482*
19. *भाटी नामा 'उमराव गंग पकडियो'*
20. *नैणसी ख्यात, भाग-1, पृ. 358*
21. *तवारीख जैसलमेर, पृ. 54*
22. *नैणसी ख्यात, भाग 1, पृ. 359*
23. *ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भाग-2, पृ. 728-733*
24. *वही*
25. *मारवाड़ मराठा ऐतिहासिक पत्रावली, पृ. 125-126, सं. डॉ. एन. एस. भाटी*
26. *वही*
27. *गढ़वीर, डॉ. एम. आर, जैसलमेर राज्य का सामाजिक इतिहास, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर, 2012*
28. *शर्मा, नन्दकिशोर, मांड प्रदेश की सुनहरी विरासत, सीमान्त प्रकाशन, जैसलमेर, 2014*
29. *माहेश्वरी, बंशीधर, आपणो सांस्कृतिक वारसो, श्री थरी चेरीटेबल ट्रस्ट, अहमदाबाद*
30. *साक्षात्कार-श्री अशोक कुमार, स्टेशन अधीक्षक, जोधपुर मंडल*
31. *साक्षात्कार-श्री नन्दकिशोर शर्मा, इतिहासकार, जैसलमेर*
32. *साक्षात्कार-श्री अभिमन्यु राठी, पटवा हवेली, जैसलमेर*
33. *साक्षात्कार-श्री गणपतसिंहजी, निजी सचिव श्री राणा हमीरसिंहजी सोढ़ा, उमरकोट रियासत, पाकिस्तान*

थार का कुंभ सुंईया मेला

डॉ. भंवर सिंह

राजस्थान की मरुधरा प्राचीन काल से ही सूरों और सूरीयों की कर्मभूमि रही है। यह मरुधरा धार्मिक, सामाजिक और प्राकृतिक दृष्टि से विविधताओं से परिपूर्ण भी रही है। इस प्रांत अथवा मरु-प्रदेश के परिप्रक्ष्य में रामायण के युद्धकाण्ड के सेतुबंध प्रसंग[1] और महाभारत के आश्वमेघिक पर्व में महाभारत युद्धोपरांत श्रीकृष्ण के द्वारिका प्रत्यागमन प्रसंग[2] में उल्लेख मिलते हैं। यहां थार के मरुस्थल में कई मेलों का आयोजन होता है, जैसे-धार्मिक मेले, पशु मेले, पर्यटन मेले और व्यापारिक मेले आदि। यहां के धार्मिक मेलों में मरुकुंभ के नाम विख्यात 'सुंईया मेला' प्रमुख है।

सुंईया मेला, बाड़मेर जिला मुख्यालय से ठीक पश्चिम में 50 कि.मी. दूरी पर स्थित कस्बा चौहटन में लगता है। इस धार्मिक और ऐतिहासिक स्थल चौहटन का प्राचीन नाम चोथापुर पाटन नगरी था। चौहटन की पहाड़ियां अरावली पर्वत श्रृंखला का अभिन्न भाग है, इसकी ऊंचाई (ए एम एस एल) 178 मीटर है। लोक प्रसिद्ध जनश्रुती के अनुसार - द्वापर युग में पांडवों ने वनवास के दौरान अपने अज्ञातवास का कुछ समय इन्हीं पहाड़ियों के मध्य स्थित 'हिमाचल पर्वत' के आस-पास व्यतीत किया था। इस पर्वत पर भगवान विष्णु के चरण-पादुका प्रतिष्ठापित हैं, जिसे स्थानीय राजस्थानी भाषा में 'विष्णु पगलिया' कहा जाता है।[3] साथ ही यहां पर निर्मित चबूतरे पर भगवान विष्णु की मूर्ति भी प्रतिष्ठापित है। इससे स्पष्ट है कि यह स्थल प्राचीन काल से ही वैष्णव भक्तों का आध्यात्मिक केन्द्र रहा है। इस धार्मिक स्थल के सम्बंध में जनश्रुति मिलती है कि इस पर्वत पर राक्षस भस्मासुर को भगवान विष्णु ने माता पार्वती के समक्ष भस्म किया था, तब से यहां पर विष्णु के चरण-पादुकाएं पूजित हुए। इसके पास ही एक झरना बहता है जहां पर पीपल का वृक्ष है इसलिये इसे पीपलिया झरना कहा जाता है। विष्णु के चरण-पादुका स्थल से ठीक उत्तर दिशा में करीब 600 मीटर दूरी पर स्थित पहाड़ पर कपालेश्वर महादेव का मन्दिर है, जहां पर प्राचीन शिवलिंग और गणेश, कार्तिकेय और माता पार्वती आदि शिव परिवार की मूर्तियां प्रतिष्ठापित हैं। यहां पर भी एक झरना बहता है। कपालेश्वर महादेव मन्दिर से करीब एक किलोमीटर की दूरी पर पवित्र धाम 'सुंईया महादेव मन्दिर' है।[4] जहां पर भी जल का झरना बहता है। जब पौष मास में कुछ विशेष नक्षत्र संयोग बनता है तब इस विशेष अवसर पर यहां विशाल धार्मिक मेले का आयोजन होता है। यह विशेष नक्षत्र संयोग इस प्रकार बनता है-पौष माह की सोमवती अमावस्या, मूल नक्षत्र, व्यतिपात योग, कर्ण एवं सवार्थ सिद्धि योग। इस सम्बंध में यह दोहा लोकप्रसिद्ध है—

विक्रम संवत् पोष माह शुभ तिथि अमावस सोम।
मूल नक्षत्र व्यतिपात कर्ण मरूकुंभ सूंईयां भोम।।[5]

लोक मान्यता है कि महाभारत युगीन पाण्डवों ने अज्ञातवास के दौरान इन पहाड़ियों में योग-साधना एवं तपस्या करते हुए पोष माह की सोमवती अमावस्या की कई वर्षों तक प्रतीक्षा की थी, मगर उनकी मनोकामना पूर्ण नहीं हुई। तब अंत में व्यथित होकर उन्होंने श्राप दिया कि कलयुग में सोमवती अमावस्या हर तीन-चार वर्षों से अर्थात् अल्पावधि में आयेगी। अत: लोकविश्वास है कि इसी श्राप के प्रभावस्वरूप विगत विक्रमी संवत् 2000, 2003, 2006, 2013 और 2027, 2030, 2034, में सोमवती अमावस्या हर तीन-चार वर्षों से आयी थी।[6]

सुंईया कपालेश्वर महादेव के सम्बन्ध में जनश्रुति है कि प्राचीन काल में यहां पर एक सुंईया नामक माली भगवान की साधना करता था। उसकी कठोर तपस्या से प्रसन्न होकर शिव भगवान ने उसे स्वप्न में दर्शन दिये और वर मांगने का कहा, तब उसने कहा कि हे प्रभु आप मेरी भक्ति से प्रसन्न हुए हैं यह मेरा सौभाग्य है और ऐसा वर दीजिए कि आपके साथ मेरा भी नाम अमर हो जाए। तब भगवान शिव-शंकर ने उसे वर देते कहा-तथास्तु अर्थात् ऐसा ही होगा। जिसके फलस्वरूप कालान्तर में इस कपालेश्वर महादेव मंदिर और मेले का नाम 'सुंईया मेला-कपालेश्वर' हो गया।[7]

कपालेश्वर मन्दिर के पास ही गढ वेर माता का मन्दिर और समतल पर तलहटी वैर माता जी का मन्दिर है जहां पर सिंह सवार माताजी की मूर्तियां प्रतिष्ठापित हैं। यहां पर भी एक झरना बहता है जिसे वैरी झरना कहा जाता है। सुंईया महादेव मंदिर के पीछे रैवल पहाड़ी से एक झरना बहता है पास में इमली के पेड़ हैं इसलिये इसे स्थानीय भाषा में आम्बलिया झरना कहते हैं। इससे थोड़ी दूरी पर 'इन्द्रभाण' नामक तालाब है, इसके अन्दर 'धर्मराज की बेरी' है जिसमें बारहों मास मीठा जल रहता है।[8] यहां इसके अतिरिक्त 'भीमगोडा झरना' भी पवित्र स्थल है। इस प्रकार यहां कुल आठ पृथक-पृथक झरने बारोमास चलते रहते हैं।[9] इनका जल गंगाजल तुल्य पवित्र माना जाता है। यहां कस्बा चौहटन में बाड़मेर मार्ग पर एक अतिप्राचीन तालाब है जिसे 'चीफल नाडी' के नाम से जाना जाता है। इसका निर्माण भी भीम पाण्डव द्वारा खेल-खेल में करना बताया जाता है।[10] कालान्तर में इस तीर्थस्थल की सत्रहवीं शताब्दी ईस्वी में जैसलमेर के युवा योगीराज एवं शुकदेव मुनि के अवतार श्री डूंगरपुरीजी महाराज (विक्रमी संवत् 1770-1863) ने यात्रा की और कपालेश्वर सुंईया महादेव मन्दिर एवं धाम पर कठोर तपस्या की और यहां एक मठ की नींव रखी। डूंगरपुरीजी महाराज ने ईश भक्ति, योग साधना और लोक कल्याणकारी कृतित्व के साथ-साथ धार्मिक साहित्य की रचना भी की थी। उनके द्वारा रचित साहित्य में हस्तलिखित ग्रंथ 'डूंगरपुराण' (पाण्डुलिपि) चौहटन मठ में आज भी उपलब्ध है। जिससे तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक और यहां की

प्राकृतिक वातावरण की जानकारी मिलती है। साथ ही डूंगरपुरीजी महाराज स्वयं का जीवनवृत भी मिलता है।[11] डूंगरपुरीजी महाराज का अवतरण लोकदेवी श्री काळेडूंगरराय की कृपा से श्री काळेडूंगरराय के मंदिर जैसलमेर में हठयोग से पुजारी गंगोदक ऋषि एवं माता चेनावती के यहां हुआ था। इसलिए इनका नाम लोकदेवी श्री काळेडूंगरराय के नाम पर डूंगरपुरी रखा गया। इन्होंने गुरु भवपुरीजी से दीक्षा प्राप्त करके संन्यास धारण किया था। अपनी अलौकिक सिद्धियों एवं लोककल्याणकारी कार्यों के फलस्वरूप इनकी दिन दूनी-रात चौगुनी ख्याति फैलती गई साथ ही 'सुंईया मेले' का भी सोमवती अमावस्या को नक्षत्र विशेष में भव्य आयोजन होने लगा। इस सम्बन्ध में यह दूहा लोकप्रसिद्ध है—

डूंगरपुरी परमेसरा थळी चौहटण धाम।
सूंईयों मेळो मरू कुंभ चावौ चौहटण ग्राम।।[12]

कालान्तर में 'थार के कुंभ सुंईया मेला' का जिम्मा श्री डूंगरपुरी मठ के मठाधीश चौहटन तथा स्थानीय लोगों द्वारा सम्भाला जाने लगा। यह धार्मिक मेला नक्षत्र विशेष का संयोग होने पर ही कभी बारह वर्षों से तो कभी सात या तीन वर्षों के अन्तराल से आयोजित होता है। इस मेले की तिथि का निर्धारण इस के मठ के मठाधीश द्वारा ज्योतिष पंचांग के द्वारा किया जाता है। इस धार्मिक मेले की तैयारियां करीब छः माह पूर्व प्रारम्भ कर दी जाती है। इस मेले का आयोजन होने पर पोष बदी चतुर्दशी, रविवार के दिन यहां के विभिन्न झरनों का जल बड़े बड़े पात्रों एवं टेंकरों में एकत्रित कर लिया जाता है। जिसे अन्य स्वच्छ जल के साथ मिलाकर देश के विभिन्न स्थानों से आने वाले एवं स्थानीय श्रद्धालुओं द्वारा पोष सोमवती अमावस्या को सूर्योदय से पूर्व ब्रह्मवेला में स्नान किया जाता है।

डूंगर पुराण में यहां के विभिन्न झरनों एवं धर्मराज की बेरी के जल को गंगाजल के समान पवित्र बताया गया है। पोष बदी चतुर्दशी की रात्रि में सुंईया में भजन संध्या का एवं रात्रि जागरण का आयोजन होता है। रात्रि जागरण गणेश वन्दना से प्रारम्भ होती है, फिर शैव-शाक्त-वैष्णव इत्यादि भजनों की सरिता वीणा की तान, झींझा की झणकार, ढोलक की ढमक और हारमोनियम आदि वाद्ययंत्रों के सुर के साथ रात भर बहती है। इससे वहां का वातवरण भक्तिरसमय आल्हादित हो उठता है तथा श्रद्धालुओं को आध्यात्मिक सुख मिलता है। अगली सुबह श्रद्धालुओं द्वारा ब्रह्मवेला में पवित्र स्नान किया जाता है फिर यहां प्रभातकालीन सुईया महादेवजी की आरती की जाती है। इसके पश्चात् चौहटन के प्रमुख दर्शनीय स्थल - कपालेश्वर, सुंईया महादेव मन्दिर, श्री डूंगरपुरी मठ, श्री डूंगरपुरीजी की समाधि, विष्णु पगलिया, इन्द्रभाण तालाब, धर्मराज की बेरी, धर्मराज का मंदिर, धर्मपुरी मंदिर, चौवड़ा माता मंदिर, स्वर्गासेरी, पीपलिया झरना, साधु की कुटिया-गुफा, वैर माता का मंदिर, झरना बेरी, आम्बलिया झरना, पाण्डव कोट, हापों का कोट, हापानाडी, भीमगोडा, चीफल नाडी, जगदम्बा मंदिर, राधकृष्ण मंदिर, गढवैर माता मंदिर, गोराण माता मंदिर, डेरी डुंगर गढ मंदिर, रामदेवजी का मंदिर, खेमा

बाबा मंदिर, श्री जम्भेश्वर मंदिर, शीतला माता मंदिर, रोहिड़ा माता मंदिर, बालाजी मंदिर, दादा श्री भीयड़जी का देवल, देरानी-जेठानी की लाट, संत-महन्तों की समाधियां, श्री डूंगरपुरीजी का धुणा, खीमपुरीजी का मंदिर, जैन मंदिर, दादावाड़ी, तोरणीया माताजी का मंदिर और चौहटन से करीब 10 कि.मी. दूरी पर स्थित वीरात्रा में वांकल माता का मंदिर है।[13] इन स्थलों का श्रद्धालुजन भ्रमण करके सुख-शांति की कामना करते हैं। थार के कुंभ सुंईया महादेव मेले के शानदार हाट-बाजार सजता है, मेलार्थी विभिन्न प्रकार की वस्तुओं की खरीददारी करते हैं साथ ही दान-पुण्य, यज्ञ-हवन आदि के साथ सुंईया महादेव से लौकिक-पारलौकिक कल्याण की कामना करके आध्यात्मिक सुख अनुभव करते हैं।

इस मेले का मुख्य आकर्षण 'सुंईया महादेव की मुहर छाप' है जो जलेरी एवं लिंगाकार लौह धातु से निर्मित होती है। उसे स्नान के बाद श्रद्धालुओं की स्वेच्छा से व्यक्ति की दाहिनी भुजा पर कुंमकुंमयुक्त भस्मी से गर्म करके लगाई जाती है। यह छाप केवल इस धार्मिक मेले में ही लगवाई जा सकती है, यह सभी धामों में श्रेष्ठ माना गया हैं। इसलिये यह मुहर छाप लगने के बाद अन्य धामों की मुहर छाप इसके नीचे लगती हैं, न कि इसके ऊपर। अगर किसी व्यक्ति के पहले से दायीं भुजा पर किसी अन्य धाम की छाप लगी हुई है तो सुंईया महादेव की मुहर छाप उससे ऊपर लगाई जाती है।[14] इस प्रकार थार के रेगिस्तान में जल की अल्प मात्रा को दृष्टिगत रखते हुए, जल संसाधनों के अभाव में भी सच्ची ईश-भक्ति और जल को जीवन का आधार मानते हुए 'सुंईया महादेव मेले' को मरुकुंभ अर्थात् थार का कुंभ से अंलकृत करते हुए विश्व के सभी धार्मिक मेलों अर्थात धामों में श्रेष्ठ एवं सर्वोत्तम माना गया है।

विक्रमी संवत् 2074 की पोष सोमवती अमावस्या (18 दिसम्बर, 2017 ईस्वी) को चौहटन मठाधीश श्री जगदीशपुरी महाराज के आतिथ्य में इस मेले का आयोजन हुआ था। जिसमें करीब 20 लाख श्रद्धालुओं ने भाग लिया और प्रातः 6 बजे से दोपहर 12 बजे तक स्नान किया गया था। जिसमें सुंईया धाम के विभिन्न झरनों के पवित्र जल से स्नान की सुव्यवस्था के लिए 300 नल लगवाये गये तथा महिलाओं के लिए पृथक से सुरक्षित स्नानागार बनवाये गये थे। देश के विभिन्न स्थानों से आने वाले श्रद्धालुओं के ठहरने और निःशुल्क भोजन एवं चिकित्सा आदि की व्यवस्था की गई थी। इस धार्मिक मेले की सुरक्षा एवं कानून-व्यवस्था का जिम्मा जिला पुलिस-प्रशासन बाड़मेर द्वारा उठाया गया था। इसके अन्तर्गत जिला पुलिस अधीक्षक बाड़मेर के नेतृत्व में 10 डीवाई एसपी, 25 इंस्पेक्टर और 1300 पुलिस के जवान, इन्टैलीजेन्स के करीब 50 अधिकारी और जिला प्रशासन के 07 मजिस्ट्रेट तैनात रहे। जिसके फलस्वरूप यह मेला पूर्णतः शांतिपूर्वक सम्पन्न हुआ।[15]

अतः सुंईया कपालेश्वर महादेव धाम एक प्राचीन धार्मिक स्थल एवं लोक आस्था का केन्द्र होने के साथ-साथ ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण स्थल है। जिससे हमें

महाकाव्य महाभारत कालीन धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक और भौगोलिक जानकारी मिलती है। इसके अतिरिक्त कालान्तर में हुए धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक परम्पराओं परिवर्तनों के ऐतिहासिक तथ्य भी ज्ञात होते हैं। विशेषत: सत्रहवीं-अठारहवी शताब्दियों में पश्चिमी राजपूताना (मारवाड़) में नाथ-सम्प्रदाय का प्रभाव इस क्षेत्र में भी प्रभावशील दृष्टिगत होता है। जब कि चौहटन का श्री डूंगरपुरी मठ दत्तात्रेय भक्ति परम्परा से अनुप्राणित है, यह भक्ति परम्परा शैव और वैष्णव दोनों का संगम स्थल रहा है। जिसमें रज-तम-सत्व जैसे त्रिगुणों, इच्छा-कर्म-ज्ञान त्रिभावों उत्पत्ति-स्थिति-लय के एकत्व के रूप में यह प्रतिष्ठित है। इसलिए सुंईया मेला शैव और वैष्णव दोनों मतों के श्रद्धालुओं की आस्था का केन्द्र रहा है। इस कपालेश्वर महादेव धाम को शैव-पंथी अपना प्रमुख धार्मिक केन्द्र मानते हैं और शक्ति उपासक वैर माता एवं वीरात्रा माता मंदिर को अपना शक्तिपीठ, तो विष्णु पगलिया एवं धर्मराज मंदिर को वैष्णव भक्त अपना पवित्र स्थल मानकर इस मेले में बढ-चढकर हिस्सा लेते हैं। इस प्रकार भारत का पश्चिमोत्तर सीमान्त धार्मिक मेला थार का कुंभ सुंईया मेला हमें सदियों से धार्मिक समन्वय, सांस्कृतिक समरसता और राष्ट्रीय एकता के सूत्र में पिरोये रखता आ रहा है। इतना ही नहीं मध्यकाल से इस क्षेत्र में इस्लाम अनुयायियों के प्रवेश होने के उपरांत यहां मुस्लिम बाहुल्यता है फिर भी यहां के हिन्दू-मुस्लिम तब से अब तक सदैव भाईचारे से रहते हैं एक-दूसरे की धार्मिक परम्पराओं का आदर-सम्मान करते रहे हैं। उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि यह मेला ऐतिहासिक धरोहर-स्वरूप होने के साथ-साथ हमारी धार्मिक सहिष्णुता, साम्प्रदायिक सद्भावना एवं राष्ट्रीय एकता का प्रतीक भी है।

संदर्भ

1. *वाल्मीकी रामायण -6/22/32-36, गीता प्रेस गोरखपुर, 1983 ईस्वी*
2. *महाभारत-14/53/7, 55/13-15, 35-37, गीता प्रेस गोरखपुर, 1987 ईस्वी*
3. *स्वामी खुशालनाथ धीर-श्री डुंगरपुरी मठ सूंईया मेला, पृ. 01, बाड़मेर, 2017 ई.*
4. *महन्त जगदीशपुरी-चौहटन के तीर्थ मठ इतिहास, पृ. 05, बाड़मेर, 2017 ई.*
5. *स्वामी खुशालनाथ धीर-श्री डुंगरपुरी मठ सूंईया मेला, पृ. 06, बाड़मेर, 2017 ई.*
6. *वही, पृ. 03*
7. *महन्त जगदीशपुरी-उपर्युक्त, पृ. 06*
8. *स्वामी खुशालनाथ धीर-उपर्युक्त, पृ. 04*
9. *गोमेश गौड़ से साक्षात्कार -17.12.2018 ई.*
10. *महेश गौड़ से साक्षात्कार-18.12.2018 ई.*
11. *डूंगर पुराण, पाण्डुलिपि, 17वीं शताब्दी ईस्वी, चौहटन मठ, चौहटन*
12. *स्वामी खुशालनाथ धीर-उपर्युक्त, पृ. 01*
13. *स्वामी खुशालनाथ धीर-उपर्युक्त , पृ. 04*
14. *महन्त जगदीशपुरी-उपर्युक्त, पृ. 07*
15. *राजस्थान पत्रिका, बाड़मेर संस्करण, 17-18 दिसम्बर, 2017 ई.*

पूर्वमध्यकालीन राजस्थानी समाज में धार्मिक मान्यताएं एवं अंधविश्वास

डा. निर्मला कुमारी मीणा

भारतीय समाज में जादू-टोने, अंधविश्वास आदि की प्रथा अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही है। प्राचीन साहित्य यथा अथर्ववेद में व्यभिचार, सम्मोहन, पीडन, तंत्र-मंत्र, वशीकरण, झाड़-फूँक, भूत-प्रेत आदि का विस्तार से वर्णन मिलता है। हडप्पा से प्राप्त एक मुद्रा पर मानवबलि का दृश्य उत्कीर्ण है। खुदाई में अनेक ताबीज भी मिलते है। शवों के साथ दैनिक उपभोग की वस्तुयें जैसे-बर्तन, आभूषण आदि मिलने से हडप्पावासियों के पारलौकिक जीवन में आस्था का पता चलता है। वास्तव में कालान्तर में हिन्दूधर्म में प्रचलित अनेक अन्धविश्वासों का आदि रूप हमें हडप्पाा सभ्यता में दिखाई देता है।

हमेशा से प्रत्येक प्रदेश के अपने धार्मिक रीति रिवाज और विश्वास रहे हैं जिसके अनुसार वहाँ की जनता अपने दैनिक कार्य करती है। राजस्थानी समाज पर प्रत्येक काल में किसी न किसी रूप में तंत्र-मंत्र आदि का प्रभाव रहा है। सम्भवत: इसका कारण यहाँ ग्रामीण समाज का ढांचा होना रहा होगा। प्राचीनकाल से ही राजस्थान में कभी भी बड़े नगरों का विकास नही हो पाया। नगर हमेशा से ही खुले व प्रगतिशील विचारों के केन्द्र रहे हैं जबकि राजस्थानी जनता हमेशा से ही गाँवों के अप्रगतिशील वातावरण में ही रही। द्वितीय गरीबी की अवस्था में जनता में अपने-आप को खुश रखने के लिए तंत्र-मंत्र आदि का सहारा लिया। यही कारण है कि 21वीं सदी के राजस्थान में ग्रामीण जनता आज भी ईलाज के लिए झाड़-फूंक व अपने पितरों (ग्राम देवताओं) पर पूरा विश्वास करती है। ये अंधविश्वास इनको परम्परा से प्राप्त हुए हैं। जिनकी जड़ें काफी गहरी है जो कि विज्ञान व तकनीकी के विकास के बावजूद अपना प्रभाव बनाये हुए हैं।

पूर्वमध्यकालीन राजस्थान में पीढ़ियों से चले आ रहे अनेक प्रकार के तंत्र-मंत्र, अंधविश्वास, जादू-टोने आदि का प्रयोग किया जाता था। अच्छी व बुरी घटनाओं का पता लगाने के लिए शकुन प्रयोग किया जाता था। इन सभी बातों को धर्म-विरोधी और धर्मानुरागी सभी मानते थे। विवेच्यकाल में प्रचलित सभी धार्मिक सम्प्रदायों में तंत्र-मंत्र द्वारा भाग्य बदलने पर जोर दिया जाता था। सम्पन्न परिवारों व राजदरबारों में भी अंधविश्वास का बहुत प्रचलन था। राजा के युद्ध में जाने से पूर्व ज्योतिषी शुभ और अशुभ समय देखते थे। वे देखते थे कि शकुन उनके पक्ष में हैं या विपक्ष में।[1] कुत्ते, जंगली

चिड़ियाँ, कौवा, छिपकली आदि के व्यवहार से शकुनों का पता लगाते थे। पृथ्वीराज चौहान जब दूसरी बार मुहम्मद गौरी से युद्ध के लिए निकला तो हिरण उसके बाएँ तरफ से गुजरा और एक कौआ सूर्य की ओर मुँह करके चिल्ला रहा था। उन सब शकुनों से उसे यह सन्देह हो गया कि अब उसके साम्राज्य का पतन नजदीक है।[2] राजाओं को विपत्ति से छुटकारा दिलाने के लिए यज्ञ किये जाते थे। पाशुपत सम्प्रदाय वाले भूतप्रेतों से रक्षा के लिए भगवान को खौपड़ियों की माला भेंट करते थे।

विवेच्यकाल के अनेक अपशकुनों का भी वर्णन मिलता है जिनके घटित होने पर बड़े से बड़े साम्राज्य का पतन भी निश्चित था जैसे - भूकम्प का आना, समुद्री लहरों का पानी सीमा से ऊपर उठना, आकाश में धूमकेतु तारे का दिखाई देना, सियार का चिल्लाना, मधुमक्खियों का सिंहासन के पास भिन्नभिनाना तथा कौवे का काँय-काँय करते हुए अंत:पुर से गुजरना अपशकुन माना जाता था।[3] इसी प्रकार मानव की दायीं आँख फड़कना उसके लिए शुभ तथा बायीं आँख फड़कना अशुभ व अमंगलकारी माना जाता था। नीले वस्त्र धारण करना अपशकुन माना जाता था। नीले वस्त्र धारण करने वाले के स्नान, ध्यान, तप, जप, होम, स्वाध्याय निष्फल माने जाते थे।[4] उस समय ऐसे भी विश्वास प्रचलित थे कि यदि भूल से शराब पी ली हो तो गौमूत्र के सेवन से वह शुद्ध हो जाता था। एक लाख बार गायत्री मंत्र के जाप से सारे पापों से मुक्ति हो जाती थी। पत्नी के मर जाने पर अग्निहोत्र करते समय स्त्री की प्रतिमा बनाकर यज्ञ किया जाता था।[5] ऐसा माना जाता था कि जो भी व्यक्ति यज्ञ व विवाह में बाधा डालेगा, वह दूसरे जन्म में कीड़े का शरीर धारण करता था।[6] समाज में इस प्रकार के अंधविश्वास बहुत प्रचलित थे कि बुरी आँखों से नजर लग जाती है। इस नजर दोष को दूर करने के लिए विभिन्न प्रकार के मंत्र[7] तथा लाल मिर्च को आग में जलाने का काम किया जाता था। ये उपाय आज भी ग्रामीण परिवेश मे किये जाते हैं। हम्मीर के दरबार का प्रमुख विद्वान सारंगधर ने अपने ग्रन्थ सारंगधर पद्धति में 500 पदों में शकुनों का विस्तारपूर्वक व रोचक ढंग से वर्णन किया है। भारत के बहुत से हिस्सों में उस समय शकुनों का कई ग्रन्थ लिखे गये थे।

इस समय लोग ज्योतिषियों का बहुत आदर करते थे। वे ज्योतिष विद्या के आधार पर भावी घटनाओं का अनुमान लगाते थे। बच्चे के जन्म पर ज्योतिषियों को बुलाया जाता था। बच्चे के उज्ज्वल जीवन के लिए माता-पिता भविष्यवक्ताओं के कथन के आधार पर अनुष्ठान करते थे।[8] आदमी के यात्रा करने से पूर्व उसकी छाती पर स्वास्तिक का निशान लगाया जाता था व उसके मुँह पर पवित्र जल छिड़का जाता था। अगर खरगोश व बिल्ली उसका रास्ता काट देते थे तो व्यक्ति यात्रा पर नहीं जाकर घर लौट आते थे। ग्याहरवीं सदी के अपशकुनों के बारे में अलबरूनी बहुत विवरण देता है जिनको हम राजस्थान प्रदेश में भी देखते हैं। अलबरूनी के अनुसार भारतवासी छींकने और वायु विसर्जन को बुरा शकुन मानते थे। हिन्दू लोग अपने केश व नाखून समय व दिन को देखकर काटते थे। मंगलवार व शनिवार को वे लोग उचित दिन नहीं समझते

थे। अलबरूनी के अनुसार भारतवासी बिना जीन के घोड़े की सवारी नहीं करते हैं, अगर वे जीन लगाते थे तो घोड़े पर उसकी दायीं ओर से चढ़ते थे।[9] सांप के काटे गये लोगों के लिए अनके तंत्र-मंत्र थे। विष मंत्रों के द्वारा दूर हो जाता है, ऐसा विश्वास किया जाता था। गाय को माता के समान आदर सत्कार प्रदान किया जाता था। उसकी दीपावली के अवसर पर पूजा की जाती थी। गाय का मूत्र व गोबर दोनों ही पवित्र माने जाते थे। समुद्री यात्रा करना भारतीय लोग बुरा मानते थे। यदि कोई समुद्रीयात्रा कर लेता था, तो उसके लिए प्रायश्चित की व्यवस्था की जाती थी।[10]

ऐसा विश्वास किया जाता था कि अर्धरात्रि के बाद जो स्वप्न आते हैं, वे सत्य होते हैं। बुरे स्वप्नों के दिख जाने पर उसकी आपत्ति के निवारण के लिए गंगा या दूसरी नदियों का पानी छिड़क कर मंत्रों का उच्चारण किया जाता था। बुरे स्वप्न देखने वाले राजा को मंत्रोच्चारण के साथ सुबह शुद्ध मक्खन में अपना मुख देखना चाहिए तभी बुरे स्वप्न के दोनों के बचा जा सकता है।[11] विवेच्यकाल में लोगों का भूतप्रेतों में दृढ़ विश्वास था। औषधियों से भी अधिक लोगों का विश्वास झाड़-फूँक पर होता था। गाँवों में लोकदेवता व लोक देवियों के नाम पर भोपे व तांत्रिक लोग झाड़-फूँक से जनता के कष्टों के निवारण का दावा करते थे। अमावस्या के दिन हल नहीं चलाया जाता था। तद्युगीन साहित्य से विदित होता है कि विवेच्यकाल में समाज में प्राण त्याग के लिए लोग तीर्थ स्थानों पर जाते थे जिससे उन्हें मोक्ष की प्राप्ति हो सके। चंदेल नरेश धंग ने 100 वर्ष से अधिक आयु के बाद 1002 ई. में प्रयाग में मृत्यु का वरण किया था।[12]

निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि विवेच्यकाल में लोगों की धारणा व्यापक रूप से कर्त्तव्य से हटकर भाग्य पर आ जमी थी। वे किसी भी कार्य के लिए अपेक्षित श्रम की बजाय भाग्य पर ज्यादा जोर देते थे। प्रबोध चन्द्रोदय ग्रन्थ में भी उल्लेख मिलता है कि ''यदि विधाता ही वाम है, तो क्या नहीं घट सकता।'' विपत्ति के निवारण हेतु प्रयास करना कोई भी मनुष्य उचित नहीं मानता था। विवेच्यकालीन समाज में राजा से लेकर सामान्य मनुष्य तक अपना जीवन शकुन एवं अपशकुनों के अनुसार व्यतीत करते थे। धर्म एवं अंधविश्वास के विषयों में तर्क एवं विवेक का प्रयोग नहीं किया जाता था। उस समय के लोगों ने इन धार्मिक अन्धविश्वासों के माध्यम से अपना जीवन जटिल बना रखा था। सबसे बड़ी विडम्बना तो यह है कि 21वीं सदी के राजस्थानी समाज में हम अभी भी बहुत सारे अंधविश्वास देखते हैं। हालांकि आज की तरह ही उस समय का मुट्ठी भर प्रबुद्ध वर्ग मानता था कि वास्तविक जीवन में इन धार्मिक विश्वासों, मंत्रों, अंधविश्वासों, जादू-टोना आदि का कोई विशेष महत्त्व नहीं था। सभी तरह के जादू-टोनों व रक्षात्मक उपायों के बावजूद भी जीवन में संकट आते ही थे।

संदर्भ

1. *विल्हण, विक्रमांकदेवचरितम्, भाग 2, पृ. 354, सं. - पं. विश्वनाथ शास्त्री, वाराणसी, 1958-64*

2. *नयनचन्द्रसूरि, हम्मीरमहाकाव्य, भाग-3, पृ. 58, सं.- एन.जे. निकेतन, बम्बई, 1879*
3. *विल्हण, विक्रमांकदेव चरित, भाग 2, पृ. 348*
4. *आपस्तम्ब स्मृति, अध्याय 6, श्लोक 3, वाराणसी, 1939*
5. *कात्यायनस्मृति , अध्याय 9, श्लोक 20*
6. *वृहस्पतिस्मृति, अध्याय 1, श्लोक 53, सं.- के.बी. रंगास्वामी आयंगर, बड़ौदा, 1941*
7. *उपमितिभवप्रपंचकथा, पृ. 158, सं.- पी. पेटर्सन, कलकत्ता।*
8. *इलियट एंड डाउसन, हिस्ट्री ऑफ इंडिया एज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स, भाग-1, पृ. 10, लंदन 1866-67 (तीन भागों में)*
9. *सचउ, ई.सी., अलबरूनीज इंडिया, भाग -1, पृ. 179, 181-182, लन्दन 1888*
10. *सचउ, ई.सी., अलबरूनीज इंडिया, भाग-2, पृ. 194*
11. *सोमदेव : यशस्तिनतिलक चम्पू, पृ. 96, सं. पण्डित शिवदत्त, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई*
12. *एपिग्राफिया इंडिका, भाग-1, पृ. 14*

मेहरानगढ़ में प्राचीन जल संरक्षण तकनीक - टाँकों के सन्दर्भ में

डॉ. विमलेश राठौड़

'जल ही जीवन है' की उक्ति मानव सहित समस्त प्रकृति के लिए जीवन की मूलभूत आवश्यकता जल के महत्व को प्रतिपादित करती है। जल के महत्व को स्वीकार कर हमारे पूर्वजों ने इसके संग्रह एवं उपयोग के कई उपाय किये। कुएँ, बावड़ियाँ तालाब खुदवाने तथा झालरे, टाँके आदि बनवाने जैसे जन कल्याणकारी कार्य किये फिर इनमें संग्रहित पानी की शुद्धता के लिए भी कई तरह के उपाय किये। जिन्हें हम आज परम्परागत जल स्त्रोत कहते हैं वे पानी की तत्कालीन समस्या के समाधान के प्रतीक रहे हैं। ऐसे कार्य राज्य स्तर पर राजा महाराजाओं द्वारा उनके पारिवारिक सदस्यों के स्तर पर उनके अधीनस्थ जागीरदार, सेठ, साहुकारों तथा अन्य समर्थ जनों की तरफ से किये जाते रहे हैं।[1]

राजस्थान के मारवाड़ प्रदेश ने भौगोलिक कारणों से सदा जल का अभाव देखा है। इसी सन्दर्भ में इसका नाम मरु प्रदेश भी रहा है। मारवाड़ में वर्षाकाल में बहने वाली लूनी नदी का अस्तित्व रहा है अन्यथा निरन्तर प्रवाहित होने वाले नदी नालों का अभाव ही रहा है। कम वर्षा और नदी नालों के अभाव के कारण मारवाड़ में भूमिगत जल की उपलब्धता काफी गहराई पर रही है। अत: यहाँ हरियाली नहीं वरन् रेत का विस्तार अधिक दृष्टिगोचर होता है। जीवन के अनिवार्य तत्व जल के अभाव ने यहाँ के जनमानस में जल की अनमोल छवि व महत्व को स्थापित किया है। मारवाड़ में प्राप्त जल स्त्रोत अनेक प्रकार के हैं जैसे-कुण्ड, कुएँ, बावड़ी, झालरे, टोभा, तालाब, नाडे-नाडी, टांके, झील, झरने, नहरें, बाँध आदि।[2]

मारवाड़ के शासक राव जोधा ने 1459 ई. में जोधपुर के दुर्ग मेहरानगढ़ की स्थापना की तथा जोधपुर नगर बसाया।[3] जोधाजी ने बालसमन्द तालाब भी बनवाया।[4] जल संचय की दृष्टि से मारवाड़ के इतिहास का अध्ययन किया जाये तो यहाँ के शासकों, उनकी रानियों, राजकुमारियों, अन्य सदस्यों, कर्मचारियों आदि द्वारा बनवाये गये तालाब, कुएँ, बावड़ी, कुण्ड, नाडी, टाँकों आदि का विस्तृत विवरण अध्ययन से ज्ञात होता है।[5]

मेहरानगढ़ में प्राचीन जलसंरक्षण तकनीक के अन्तर्गत टाँकों का विशेष महत्व रहा है। वर्षा के जल को संग्रहित करने हेतु शासकों द्वारा टाँकों के निर्माण की तकनीक

अपनाई गई। इस तकनीक के अन्तर्गत वर्षाकाल में किले में निर्मित विभिन्न महलों की छतों, अन्य भवनों की छतों तथा खुले चौक में गिरने वाले पानी को बहाकर बर्बाद होने से रोकने व उसका विभिन्न कार्यों हेतु उपयोग करने के लिए टाँकों का निर्माण करवाया जाता था। टाँका निर्माण से तात्पर्य है कि जमीन के अन्दर एक पक्का हौद (Under ground water tank) बनवाया जाता था। किले के विभिन्न खुले चौक और छतों पर गिरने वाला वर्षा जल सीधे टाँकों में पहुँच जाता जिससे प्रकृति प्रदत्त जल का संरक्षण एवम् विभिन्न उपयोग होता था। मारवाड़ के विभिन्न शासकों द्वारा मेहरानगढ़ की चारदीवारी के भीतर अनेक छोटे-बड़े टाँकों का निर्माण करवाया जिनमें से अनेक टाँके वर्तमान में अस्तित्व में नहीं है जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—[6]

1. पतालिया टाँका - मेहरानगढ़ में पतालिया कुएँ के पास राव मालदेवजी ने एक टाँके का निर्माण करवाया था जिसमें वर्षा का पानी आता था। ऐसी संभावना है कि सन् 1857 में जब बारूद के गोदाम में विस्फोट हुआ तब यह टाँका भी नष्ट हो गया।

2. बाबा आत्माराम जी का टाँका - महाराजा विजयसिंह जी ने अपने गुरु बाबा आत्मारामजी की स्मृति में संवत् 1816 (सन् 1759) में यह टाँका बनवाया था। महाराजा तखतसिंह जी के समय तक यह टाँका विद्यमान था। फतहमहल के जीर्णोद्धार के समय यह टाँका पाट दिया गया।

3. फतहमहल का टाँका - महाराजा अभयसिंह जी ने फतेह महल के नीचे एक टांका बनवाया था। इस टाँके का जीर्णोद्धार महाराजा मानसिंह जी ने करवाया था। वर्तमान में यह टाँका अस्तित्व में नहीं हैं।

4. चामुण्डा माता जी मंदिर का टाँका - महाराजा तखतसिंह के समय में यह मंदिर और उसके आस पास का क्षेत्र बारूद के विस्फोट के कारण उड़ गया था जिसमें यह टाँका भी उड़ गया। महाराजा तखतसिंह जी ने मंदिर व टाँके का पुनः निर्माण करवाया था।

उपरोक्त टाँके वर्तमान में उपलब्ध नहीं हैं किन्तु मेहरानगढ़ में वर्तमान समय तक भी कुछ टाँकों का अस्तित्व ज्यों का त्यों बना हुआ है जिनमें मुख्य टाँके इस प्रकार हैं-

1. जनानी ड्योढ़ी का टाँका - यह टाँका जनाना ड्योढ़ी के बाहर विशाल परकोटे से घिरा हुआ है। वर्तमान में भी इस टांके में वर्षा जल एकत्रित होता है। सम्भवतः यह टांका प्राचीन है, इसलिए यह संभावना व्यक्त की जा सकती है कि किले के घेराव के समय भीतर के लोगों के लिए जलापूर्ति इसी टाँके से होती थी।[7] वर्तमान समय में भी जब अन्य स्रोतों से कर्मचारियों की जल की पूर्ति में कोई बाधा आए तो इसी टाँके का जल उपयोग में लाया जाता है। टाँका क्षेत्र के पास लगे एक छोटे बगीचे को भी इसी टाँके से पानी पिलाया जाता हे। यह टाँका बहुत बड़ा है। इसकी लम्बाई 40 फीट, चौडाई 24.5 फीट और गहराई 13 फीट है। अत्यन्त प्राचीन होने पर भी वर्तमान समय

तक भी इसकी दीवारों में तड़क या पानी के रिसाव की कोई शिकायत नहीं है जो तत्कालीन समय की निर्माण कार्य की उच्च तकनीक का प्रतीक है। इस टाँके तक आने जाने वालों के पैरों से होने वाली गन्दगी को आसानी से साफ किया जा सकता है। यह टाँका काफी समय से साफ नहीं हुआ है फिर भी इसका पानी बहुत साफ है। इस टाँके के पानी में कीड़े नहीं पनपते हैं।

2. बाड़ी के महलों का टाँका - यह टाँका श्री नागणेचियां मंदिर के मुख्य द्वार के पास दाहिनी तरफ स्थित है। इस टाँके में उतरने के लिए सीढ़ियां बनी हुई है। इस टाँके का निर्माण सवाई राजा सूरसिंह जी ने संवत् 1664 (ई. सन् 1607) में करवाया था। इस टाँके के निर्माण हेतु ईंटों का प्रयोग किया गया था तथा अहमदाबाद से कारीगर बुलाया गया था जिसका नाम नीबै था।[8] इस टाँके की सफाई प्रति वर्ष हुआ करती थी। वर्तमान में यह टाँका जल रहित है। इस टाँके की दीवार पर गहराई नापने के लिए आज भी पैमाना बना हुआ है। महाराजा हनुवंतसिंह जी ने जब अपने चुनाव के समय में किले पर ऑफिस स्थापित किया था, तब इसी टाँके का पानी पीने हेतु काम में लिया जाता था। मेहरानगढ़ म्यूजियम ट्रस्ट के पूर्व निदेशक सगतसिंह जी तक इस टाँके का पानी पीने हेतु उपयोग में लिया जाता था।[9] इस टाँके में बाड़ी के महलों की छत पर तथा नागणेचिया माता के मंदिर की छत पर गिरने वाला वर्षा जल पहुँचता था। इस टाँके की लम्बाई 31 फीट, चौड़ाई 20 फीट और ऊँचाई 24 फीट 6 इंच है।

3. दौलतखाना चौक का टाँका - राव गांगा के समय में इस स्थान पर भैरूजी के मंदिर के लिए तहखाना बनाया गया था। भैरूजी के मंदिर के पास एक टाँके का निर्माण सवाई राजा सूरसिंह जी ने कराया था। पश्चात के समय में टाँके व मंदिर के ऊपर दौलतखाने का निर्माण महाराजा अजीतसिंहजी ने कराया था। उस वक्त इसका नाम 'अजीत विलास' रखा गया था लेकिन प्रचलन में इसको दौलतखाना ही कहा जाता है।[10] इस टाँके की लम्बाई 38 फीट 6 इंच, चौड़ाई 12 फीट 9 इंच और ऊँचाई 20 फीट है। दौलतखाना के ऊपरी महल की छत, अजीत महल की छत तथा दौलतखाना चौक में गिरने वाला वर्षा जल इस टाँके में पहुँचता है। इस टाँके में दाहिनी और बाँयी दोनों तरफ से अन्दर उतरने के लिये 19-19 सीढ़ियाँ हैं। टाँके के अन्दर की तरफ से दो सीढ़ी छोड़कर तीसरी सीढ़ी पर एक छेद (Hole) है तथा नीचे से नौ सीढ़ी छोड़कर दसवीं सीढ़ी पर फिर एक होल है जिससे अनुमान लगाया जा सकता है कि सीढ़ियों से टाँके में उतरते समय सहारे हेतु रेलिंग जैसी किसी व्यवस्था के लिये सीढ़ियों पर होल रखे गये थे। टाँके के दाहिनी तरफ एक पाइप लगा हुआ है जिससे वर्षा का जल टाँके में पहुँचने की व्यवस्था थी। टाँके में सफाई हेतु पानी के निकासी के लिए नाली की व्यवस्था है। टाँके में वर्षा जल के साथ आई मिट्टी को पानी से अलग करने की तकनीक के तहत टाँके के फर्श पर एक अष्टकोण कुण्ड बनाया गया है। इस कुण्ड का विशेष महत्व इस दृष्टि से है कि टाँके के जल में सम्मिलित मिट्टी धीरे-धीरे इस कुण्ड में जमा हो जाती

थी। टाँके की सतह का ढलान कुण्ड की तरफ इस तरह दिया गया कि मिट्टी कुण्ड में पहुँच जाये जिससे पानी की कमी होने पर मिट्टी को कुण्ड से बाहर निकाल दिया जाता था। यह टाँका लाल पत्थर से बना हुआ है जिस पर चूने का प्लास्टर किया गया है। फर्श पर भी चूने का प्लास्टर स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर है जिसके निरीक्षण से ऐसा प्रतीत नहीं होता है कि यह अत्यधिक प्राचीन टाँका है। टाँके की छत पर लोहे की जाली लगी हुई है जो टाँके में प्रकाश की व्यवस्था के मद्देनजर लगाई गई थी।

विशेष तथ्य - टाँकों के निर्माण की तकनीक एवम् पानी की शुद्धता के सन्दर्भ में मेहरानगढ़ दुर्ग में जल संरक्षण की तकनीक के अन्तर्गत टाँकों का विशेष महत्व रहा है। निर्माण कार्य कुशल कारीगरों द्वारा किया जाता था। तत्कालीन समय में निर्माण कार्य में लगे कुशल कारीगरों के अन्तर्गत विभिन्न तरह का कारीगरी का कार्य करने वाले व्यक्तियों का उल्लेख बहियों में मिलता है जो इस प्रकार है-जुड़ाईदार-पत्थरों को जोड़ने वाला व्यक्ति, चुनगर-चुनाई का कार्य करने वाला व्यक्ति, ढलाईदार-पत्थरों को आकार-प्रकार में करने का कार्य करने वाला व्यक्ति तथा चांवालिया-पत्थर की छीणे छत पर चढ़ाने व व्यवस्थित रखने का कार्य करने वाला व्यक्ति।

टाँकों के निर्माण की तकनीक के अन्तर्गत अग्रांकित बातों का ध्यान रखा जाता था जैसे -

- ऐसे स्थान पर टाँकों का निर्माण जहाँ टाँकों में वर्षा का जल आसानी से पहुँच सकें।

- टाँकों के जल को उपयोग हेतु निकालने के लिए सीढ़ियों का निर्माण किया जाता था।

- टाँकों की सफाई हेतु जल की निकासी के लिए नाली की व्यवस्था।

- पानी को शुद्ध रखने हेतु हवा व प्रकाश की पूर्ण व्यवस्था।

- पानी को शुद्ध रखने हेतु हमें लाल दवा के प्रयोग का उल्लेख बही में मिलता है जो कीटाणुओं को नष्ट करती थी।[11]

- पानी की शुद्धता व सुगन्ध के लिए उसमें इत्र डालने का भी उल्लेख बहियों में मिलता है।[12] लेकिन यह इत्र सीधे टेंक में न डालकर, जल को मटकी में भरने के पश्चात उस मटकी में इत्र डाला जाता था। रनिवास की मटकियों में गुलाब मीठो, गुलाब रूमी, गुलाब सेवती, अन्तर केतकी, अन्तर चम्पो आदि के प्रयुक्त होने का उल्लेख बहियों में मिलता है। खासा काम तालकै रोकड़ खरच री बही (ग्रंथांक 2830) के अनुसार उस समय अन्तर केतकी की प्रति शीशी का भाव 5) रुपये, गुलाब सेवती की प्रति शीशी 6) रुपये, गुलाब मीठो की प्रति शीशी का मूल्य 12) रुपये तथा गुलाब रूमी की प्रति शीशी का मूल्य 30) रुपये था।[13]

- टाँकों के निर्माण में पत्थरों को परस्पर जोड़ने में सीसे के प्रयोग का उल्लेख

बहियों में मिलता है जिससे दीवारों को मजबूती प्राप्त होती थी।[14]

- निर्माण कार्यों में मजबूती हेतु विशिष्ट मसालों के उपयोग का उल्लेख बहियों में मिलता है। मसालों के रूप में चूना, मुरड़, कंकर, खड्डी, कली आदि काम में आते थे। बहियों के अनुसार खड्डी को पकाने के लिए छाणों (सूखा गोबर) का प्रयोग किया जाता था। ऐसी खड्डी के उपयोग से निर्माण कार्यों में मजबूती आना स्वाभाविक था।[15] कमठें में पत्थरों व बजरी के प्रयोग का उल्लेख भी बहियों में मिलता है।[16]

- खड्डी व चूने की पकड़ मजबूत करने के लिए मुस्ती शक्कर, गुड़, गोंद, गूगल व दाना मेथी के उपयोग का बही में उल्लेख मिलता है।[17] निर्माण कार्य के दौरान चूने व खड्डी का मसाला हाथ के चिपके नहीं इसके लिए हाथों पर तेल लगाने का उल्लेख बही में मिलता है।18 रसायन विज्ञान के अनुसार गुड़, गूगल, गोंद और शक्कर आदि पदार्थ चूने के साथ मिलकर दो पत्थरों को मजबूती से चिपकाने का कार्य करते हैं। चूना एवम् खड्डी हवा से कार्बनडाई ऑक्साइड लेकर धीरे-धीरे अत्यधिक मजबूती प्राप्त करते हैं। चूने में दाना मेथी भी मिलाई जाती थी जो चूने के प्लास्टर में चिकनाहट लाने का कार्य करती थी।

- टाँकों की दीवारों में तड़क अथवा पानी के रिसाव की शिकायत न आये इस हेतु निर्माण कार्यों में मजबूती पर ध्यान दिया जाता था।

- टाँकों के खाली हो जाने की स्थिति में पखालों में पानी भरकर ऊँट के माध्यम से किले पर लाकर टाँकों में भरे जाने का उल्लेख बहियों में मिलता है।[19]

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि अकाल ग्रस्त मारवाड़ प्रदेश के शासकों ने जल के महत्व को समझ कर उसके संरक्षण की तकनीक के रूप में टाँकों का निर्माण करवाया। इन टाँकों में वर्षा का जल संग्रहित कर उसका विभिन्न कार्यों हेतु उपयोग किया। टाँकों के निर्माण में मजबूती का विशेष ध्यान दिया जाता था जिससे टाँकों से पानी का रिसाव न हो। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि मेहरानगढ़ में उपलब्ध टाँके ऐसे दृष्टिगोचर होते हैं मानो वर्तमान में ही बनाये गये हों। आज के वैज्ञानिक युग में भी टाँकों के रूप में जलसंरक्षण की ये प्राचीन तकनीक एक आदर्श उदाहरण कही जा सकती है। मेहरानगढ़ में उपलब्ध जनानी ड्योढ़ी का प्राचीन टाँका वर्तमान में भी जल से पूर्णत: भरा हुआ है किन्तु इसमें कहीं भी जल के रिसाव की शिकायत नहीं है और न ही इसके जल में कभी कीड़े पनपते हैं, तात्पर्य यह है कि वैज्ञानिक साधनों के अभाव में ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में विज्ञान एवम् तकनीक की दृष्टि से निर्माण कार्य कितनी उन्नत अवस्था में रहे होंगे कि मेहरानगढ़ में मध्यकाल में जल संरक्षण की तकनीक के तहत् बनाये गये टाँके आज भी ज्यों के त्यों बने हुए हैं वर्तमान परिप्रेक्ष्य में एक विचारणीय तथ्य यह भी है कि वर्तमान सरकारें वर्षा जल के संरक्षण हेतु घरों में जिन टाँकों के निर्माण के लिए लोगों को प्रोत्साहित कर रही है, इस उपयोगी जल संरक्षण तकनीक को मारवाड़ के शासकों ने

मध्यकाल में ही अपना कर वर्षा के जल का संरक्षण एवम् समुचित उपयोग किया। अत: वर्तमान समय में हम सभी को इस तकनीक को अपनाने के प्रति गंभीरता पूर्वक प्रयास करने चाहिये, साथ ही आने वाली पीढ़ी का ध्यान भी इस ओर आकर्षित किया जाना चाहिये।

सन्दर्भ

1. *नगर, डॉ. महेन्द्रसिंह - मारवाड़ की जल संस्कृति, पृ. 14*
2. *वही, पृ. 20*
3. *विश्वेश्वर नाथ रेउ, मारवाड़ का इतिहास, भाग 1, पृ. 97-98*
4. *नैणसी, मारवाड़ रा परगनां री विगत, भाग-1, परिशिष्ट-1(क), कमठा री विगत, पृ. 560*
5. *जोधपुर के विभिन्न शासकों द्वारा बनवाये गये जल स्रोतों की जानकारी नैणसी त मारवाड़ रा परगना री विगत, भाग प्रथम के परिशिष्ट-1(क) कमठा री विगत में पृ. 560-78 और परिशिष्ट 1(ख) निवांणा री विगत, पृ. 570-90 पर मिलती है।*
6. *नगर, डॉ. महेन्द्रसिंह, मारवाड़ की जल संस्कृति, पृ. 23-80*
   - नैणसी, मारवाड़ रा परगनां री विगत, परिशिष्ट 1(क) और 1 (ख), सिंह, वाई.डी., राजस्थान के कुएँ एवं बावड़ियाँ, पृ. 56-591
   - मेहर, जहूर खाँ, और नगर, डॉ. महेन्द्रसिंह, जोधपुर का ऐतिहासिक दुर्ग मेहरानगढ़, पृ. 85-87
7. *मेहर, जहूर खाँ और नगर, डॉ. महेन्द्रसिंह, जोधपुर का ऐतिहासिक दुर्ग मेहरानगढ़, पृ. 86*
8. *नैणसी, मारवाड़ रा परगना री विगत, पृष्ठ 580-''टाँकों वाड़ी रा मैलां कनै राजा सूरसिंघजी करायौ। गुजराती कारीगर नीबै कीयौ, सं. 1664 तयार हुवौ।''*
9. *सिंह, वाई.डी., राजस्थान के कुएँ एवम् बावड़ियाँ, पृ. 57*
10. *वही, पृ. 57-58*
11. *कोठार बही क्रमांक - 202, म.मा. पु. प्रकाश, जोधपुर*
12. *1. वागा रे कोठार री बही, क्रमांक - 168, म.मा.पु.प्रकाश, जोधपुर*
    2. जरझर खाने तालकै री बही, क्रमांक-1145, म.मा.पु. प्रकाश, जोधपुर
13. *खासा काम तालकै रोकड़ खरच री बही, ग्रंथांक-2830, म.मा.पु.प्रकाश, जोधपुर*
14. *कमठा री बही, बही क्रमांक - 205, म.मा.पु.प्रकाश, जोधपुर*
15. *रसीले राज, अंक-6 पृ. 96-महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाश शोध केन्द्र की शोध पत्रिका*
16. *वही, पृ. 110, 112*
17. *तखत विलास रे कमठा री बही, वि.सं., 1915, म.मा.पु.प्रकाश, जोधपुर*
18. *वही*
19. *महाराजा तखतसिंह जी री राणी राणावत जी रै कमठा तालकै री बही, क्रमांक 1207, म. मा.पु. प्रकाश, जोधपुर*

मध्यकालीन जालौर के प्रमुख शिलालेख एवं सिक्के - एक सांस्कृतिक अध्ययन

ओमप्रकाश भाटी

राजस्थान के इतिहास लेखन में शिलालेखों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। शिलालेख बहुधा शिलाओं, प्रस्तर-पट्टों, भवनों या गुहाओं की दीवारो, मंदिरों, स्तूपों, मठों, तालाबों, बावड़ियों, कुओं तथा खेतों के मध्य स्थापित शिलाओं पर उत्कीर्ण मिलते हैं। शिलालेखों के विषय भिन्न-भिन्न है। यह शिलालेख राजाओं, सामन्तों, रानियों, मंत्रियों तथा अनेक धर्मपरायण व्यक्तियों द्वारा बनवाये गये हैं। आने-जाने वाले मार्ग में होने से या खुली हुई अवस्था में होने से इन शिलालेखों के कई अंश नष्ट हो गये हैं। समयानुकूल इनकी भाषा संस्कृत, हिन्दी, राजस्थानी, फारसी तथा उर्दू रही। इनमें गद्य व पद्य दोनों का समावेश रहा है। इन शिलालेखों से सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, सहित वाणिज्य उद्योग व्यवसाय आदि की भी जानकारी प्राप्त होती है। मध्यकालीन जालौर के प्रमुख शिलालेख इस प्रकार हैं—

(1) तोपखाना का लेख - तोपखाना परमार राजा भोज द्वारा निर्मित संस्कृत पाठशाला थी। जिसे मुस्लिम आक्रान्ताओं ने मस्जिद में परिवर्तित कर दिया था। राठौड़ शासनकाल में इसके परिसर में तोपें रखी जाती थी। इस कारण इसका नाम तोपखाना पड़ा।[1] विक्रम संवत् - 1174 (1118 ई.) का 'तोपखाना का लेख'[2], जो कि तोपखाना की उत्तरी दीवार में लगा था, महत्वपूर्ण है। अब इसे जोधपुर संग्रहालय में लाकर सुरक्षित रखा गया है। यह सफेद पत्थर पर उत्कीर्ण किया हुआ है। इसकी लम्बाई दो फीट साढ़े तीन इंच तथा चौड़ाई एक फीट दस इंच है। यह लेख 13 पंक्तियों में संस्कृत भाषा में लिखा हुआ हैं। इस शिलालेख में जालोर शाखा के परमारों का विवरण मिलता है। इसमें वाक्पतिराज का भी उल्लेख है, जो इस शाखा का प्रवर्तक था। इस लेख के अनुसार परमारों की उत्पत्ति वशिष्ठ के यज्ञ से हुई है। इस शिलालेख में वाक्पतिराज के वंशक्रम में चंदन, देवराज, अपराजित, विंजल, धारावर्ष और वीसल के नाम दिए गए हैं। इस लेख के अनुसार वीसल की रानी मेलरदेवी ने सिन्धु राजेश्वर के मन्दिर के लिए सुवर्ण कलश अर्पित किया था।

(2) मस्जिद शिलालेख[3] - यह शिलालेख जालौर की मस्जिद से सन् 1211 ई. में प्राप्त हुआ था। आक्रमणकारियों द्वारा मन्दिरों की तोड़-फोड़ की सामग्री को मस्जिद के निर्माण में लगाते समय इस शिलालेख का भी इसी रूप उपयोग कर लिया गया।

इसकी लम्बाई दो फीट आठ इंच तथा चौड़ाई साढ़े पांच इंच है। यह लेख 06 पंक्तियों में संस्कृत गद्य तथा नागरी लिपि में लिखा हुआ है। इस शिलालेख के द्वारा हमें विक्रम संवत् 1221, 1242, 1256 व 1268 में कांचनगिरी स्थित विहार और जैन मन्दिर के निर्माण का उल्लेख मिलता है। जैसे चालुक्य राजा कुमारपाल द्वारा यहाँ एक विहार का निर्माण देवाचार्य की अध्यक्षता में 1221 में हुआ। इसके बाद 1242 में चाहमानवंशीय समरदेवसिंह की आज्ञा से भण्डारी यशोवीर ने इसका पुनर्निर्माण करवाया। 1256 में यहाँ ध्वजारोपण, तोरण आदि की प्रतिष्ठा हुई और 1268 में दीपोत्सव पर पूर्णदेव सूरी के शिष्य रामचन्द्राचार्य ने स्वर्णकलश की प्रतिष्ठा की।

(3) सुन्धा पर्वत का शिलालेख[4] - यह लेख सुन्धा (सुगन्धाद्रि) पर्वत पर दो शिलाखण्डों पर उत्कीर्ण है। पहली शिला में 26 व दूसरी शिला में 24 पंक्तियाँ हैं। संपूर्ण लेख 59 श्लोकों में हैं। इस का समय विक्रम संवत् 1319 (1262 ई.) अंकित हैं। इसके प्रशस्तिकार जैन साधु जयमंगलाचार्य, लेखक विजयपाल का पुत्र तथा उत्कीर्णक सूत्रधार जेसा हैं। इसकी भाषा संस्कृत व लिपि देवनागरी हैं। यह शिलालेख चाचिगदेव चौहान, उसके पूर्वजों व उसके पड़ोसी शासकों से संबंधित हैं। यह लेख उस समय की कई राजनीतिक समस्याओं की जानकारी भी प्रदान करता है। उस समय के पर्वतों तथा नगरों की स्थिति समझने व उनके नामों की विविधता जानने का यह लेख एक उपयोगी साधन है। इस लेख के अनुसार चाचिगदेव चौहान चामुण्डा का उपासक था, फिर भी वह अनेक धर्मों के प्रति श्रद्धा और भक्ति रखता था।

(4) महावीर मंदिर के विभिन्न शिलालेख - सन् 1263 ई. के महावीर मंदिर के शिलालेख[5] में द्रम, द्रम दशक आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है, जो उस समय की प्रचलित मुद्रा का द्योतक है। इस लेख में गोष्ठिक शब्द भी आया है। गोष्ठिक उस समय की एक संस्था थी, जो मन्दिर की सभी व्यवस्थाएं देखती थी। इस संस्था में स्थानीय व्यक्ति सदस्य होते थे। सन् 1266 ई. के महावीर मंदिर के शिलालेख[6] में द्रोण एवं माणक शब्द तौल के लिए प्रयुक्त हुए हैं। इसमें द्रमों के ब्याज से मन्दिर की मासिक पूजा व्यवस्था का उल्लेख हैं। सन् 1624 ई. के इस महावीर जी के मंदिर लेख[7] से विजयदेव सूरी का अकबर की उदार नीति पर प्रकाश पड़ता है। जिसमें शत्रुंजय से जजिया को छोड़ना, अहिंसा की स्थिति पैदा करना तथा हीरविजय सूरी को जगत्गुरु की उपाधि देना अंकित है।

(5) ईदगाह का शिलालेख[8]- जालौर की ईदगाह का शिलालेख सन् 1318 ई. का है। इसकी भाषा फारसी है। यह ईदगाह के उत्तरी मेहराब पर उत्कीर्ण हैं। इस लेख के अनुसार इस ईदगाह को गुर्ग के वंशज होशंग ने बनवाया था। इसको नसरत के निरीक्षण में बनवाया गया था, जो रुस्तम का पुत्र था। इस लेख का लेखक अस-शामसी था।

(6) भीनमाल का शिलालेख[9]- यह लेख विक्रम संवत् 1328 (1271 ई.) को भीनमाल के आहुडे वर मंदिर में लगा हुआ था। वर्तमान में इसकी छाप सरदार संग्रहालय जोधपुर में उपलब्ध है। यह लेख 08 पंक्तियों में संस्कृत गद्य भाषा में लिखा हुआ है। इसके अनुसार महाराजकुमार चाचिगदेव ने अपने श्रेय के लिए आहुडे वर के भाग, पूजा, नैवेद्य के लिए कुछ अनुदान दिया।

(7) सांचोर का जामी मस्जिद शिलालेख[10]- इस लेख का समय 24 मई 1506 ई. है। इसकी भाषा फारसी है। इस समय मुगल शासक मुहम्मद शाह प्रथम का शासन था। इस लेख में हबलुलमुल्क के पुत्र बुद्ध द्वारा जामी मस्जिद बनाने के आदेश की जानकारी है।

(8) मुहर्रम पोल का शिलालेख[11]- इस लेख का समय 1608 ई. है। इसकी भाषा फारसी है। इस लेख के अनुसार जालौर में मुहर्रम पोल का निर्माण नवाब गजनवी के आधिपत्य काल में किया गया था। इसका निरीक्षण सैय्यद मुहम्मद ने किया था।

(9) धर्मनाथ बिंब का शिलालेख[12]- इसी प्रकार सन् 1626 ई. के धर्मनाथ बिंब लेख में जालोर नगर एवं स्वर्णगिरी दुर्ग (जालोर दुर्ग) को अलग-अलग बताया गया है। जिससे प्रतीत होता है कि जालोर नगर की बस्ती उस युग में दुर्ग से अलग थी। इस लेख में मुहणोत परिवार में दो पत्नियों का उल्लेख है।

(10) जालौर का शिलालेख[13]- यह लेख विक्रम संवत् 1686 (1629 ई.) का है। इस लेख में जोधपुर के गजसिंह के समय में सम्पूर्ण राज्य के प्रमुख न्यायाधीश म. जेसा सुत जयमल्ल मेहता द्वारा चन्द्रप्रभु के बिम्ब की प्रतिष्ठा का उल्लेख हैं। इस लेख में जालोर के दीवान जयमल मेहता का नाम बड़े सम्मान से लिया गया है। ''सं. 1686 वदि 5 शुक्रे राजाधिराज श्री गजसिंह प्रदत्त सकल राज्य न्यायाधिकारेण- म. जैसा सुत जयमल्ल जी नाम्ना श्री चन्द्रप्रभु बिंब कारितं प्रतिष्ठापितं।'' जहांगीर प्रदत्त महातपा विरुद धारक श्री 5 श्री विजयदेव सूरिभि:'' इस लेख से यह पता चलता है कि इन्हें महाराजा गजसिंह प्रथम ने सारे मारवाड़ में न्यायिक व्यवस्था के अधिकार दिये थे। जहाँगीर के द्वारा दिए गए महातप के विरुद को धारण करने वाले विजयदेव सूरि के नेतृत्व में यह कार्य सम्पादित हुआ।

(11) फैदुल्ला खाँ की छतरी का शिलालेख[14]- इसी क्रम में जालोर में फैदुल्ला खाँ की छतरी का लेख (सन् 1894-95 ई.) द्विभाषी है। इसमें मुस्लिम गुरु-शिष्य परंपरा एवं शिष्य आदि के नाम उपयोगी है। इसको बनाने वाला शिल्पी सलावत अहमद और लेखक फकीर मुहम्मद शमशुद्दीन था।

सिक्के[15]- मध्यकालीन राजस्थान सिक्कों के विचार से बड़ा समृद्ध है। प्राचीन काल से लेकर वर्तमान युग के अब तक कई लाखों की संख्या में सोना, चांदी, तांबे और

सीसे के सिक्के मिल चुके हैं। जालोर जो कि मारवाड़ का ही एक अंग था, इस क्षेत्र में प्राचीनकाल से चौकोर और कुछ गोलाकार सिक्कों का प्रचलन था। इनको 'पंच मार्क्ड' सिक्के कहते थे, क्योंकि इन पर वृक्ष, पशु, धनुष, सूर्य, पुरुष आदि के चिन्ह बने होते थे। क्षत्रपों के प्रभाव के समय 'द्रम्म' सिक्के, गुप्तों के समय 'गुप्त सिक्के' और हूणों के समय 'सेसेनियन सिक्के' चलते थे। 'गधैया सिक्के' भी जालोर में प्रचलन में थे। 1761 से 1858 के बीच चांदी और तांबे के सिक्के चलते थे, जिन पर फारसी में एक तरफ 'सिक्कह मुबारक बादशाह आलम' और दूसरी तरफ 'मैमनत मानूस जर्ब अल्' अंकित रहते थे। इन पर झाड़ और तलवार के चिन्ह भी बनते थे। सोने के सिक्कों को 'मोहर' तथा तांबे के सिक्कों को 'ढब्बूशाही' एवं 'भीमशाही' कहते थे। इन पर शाह आलम और विक्टोरिया के नाम अंकित रहते थे। विजयशाही सिक्के सोने, चांदी व तांबे के बनते थे। महाराजा भीमसिंह व मानसिंह के समय 'विजयशाही' शैली के चांदी के सिक्के बनते रहे। तांबे के सिक्कों पर हिजरी सन्, 'दारूल मंसूर जोधपुर' तथा 'जुलूस मैमनत मानूस जर्ब' लिखा रहता। इस काल में सिक्कों के लिए जोधपुर, नागौर, पाली व सोजत में टकसालें स्थापित की गई। प्रत्येक टकसाल का अपना विशेष चिन्ह होता था। जैसे जोधपुर की टकसाल का 'ग', सोजत का 'क' व पाली की टकसाल का 'बा' चिन्ह था। यहाँ 'ग' गनश्याम और 'बा' बालाजी का द्योतक था। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि सिक्कों के निर्माण में भी धर्म का विशेष स्थान था। इन पर अंकित लेख, संख्या, आकृति, चिन्ह आदि ऐतिहासिक तथ्यों को समझाने में बड़े उपयोगी है। इन सिक्कों के वैज्ञानिक अध्ययन से राजाओं की नामावली, वंश परिचय, स्थान विशेष जहां से सिक्कों का प्रचलन किया गया है या किसी विशेष समुचित बोध होता है। विभिन्न राज्यों की सीमाओं को निर्धारित करने में इन सिक्कों का बड़ा महत्व है। इनके द्वारा तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक आदि स्थिति का परिज्ञान होता है। इसी प्रकार तत्कालीन कला के अध्ययन में भी सिक्कों का बड़ा महत्व है।[16]

संदर्भ

1. *गुप्ता, मोहनलाल, जालोर का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, मातृछाया प्रकाशन, जालोर, पृ. 234*
2. *इ.ए., भा. 42, 1933, पृ. 41*
3. *शर्मा, डॉ. गोपीनाथ, राजस्थान के इतिहास के स्रोत (पुरातत्व भाग-1), छठा संस्करण 2011, पृ. 100*
4. *ए. इं., जिल्द 9, पृ. 70-74*
5. *नाहर, जैन लेख, भाग 1, नं. 901, पृ. 238*
6. *नाहर, जैन लेख, भाग 1, नं. 903, पृ. 238*
7. *नाहर, जैन लेख, भाग 1, नं. 904, पृ. 241*
8. *एन्यु. रि. इण्डि. एपि., 1966-67, नं. डी. 194*

9. *ए.रि. सरदार म्यूजियम तथा सुमेर पब्लिक लाईब्रेरी, जोधपुर, 30 सितम्बर 1922, पृ. 5, ज. बिहार रि.सो., जिल्द 39, भाग 4, 1954*
10. *एन्यु. रि. इण्डि. एपि., 1966-67, नं. डी. 197*
11. *एन्यु. रि. इण्डि. एपि., 1966-67, नं. डी. 184*
12. *नाहर, जैन लेख, भाग 1, नं. 905, पृ. 242*
13. *नाहर, जैन लेख, भाग 1, नं. 837, पृ. 207*
14. *एन्यु. रि. इण्डि. एपि., 1966-67, नं. डी. 193*
15. *वेब, दि करेन्सीज ऑफ दि हिन्दू स्टेट्स ऑफ दि राजपुताना, पृ. 37-52*
16. *शर्मा, डॉ. गोपीनाथ, राजस्थान के इतिहास के स्रोत (पुरातत्व भाग-1), छठा संस्करण 2011, पृ. 18,19*

गुरुकुल संग्रहालय झज्जर में ढाणा (पटनशहर) से प्राप्त जैन प्रतिमाओं का अध्ययन

डॉ. यशवीर सिंह

हरियाणा के झज्जर में पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा 1915 ई. में वैदिक शिक्षा को बढ़ावा देने हेतु गुरुकुल की स्थापना हुई।[1] आचार्य भगवानदेव (ओमानन्द सरस्वती) ने यहाँ 1960 ई. में उत्तरी भारत के विभिन्न भागों से प्राप्त पुरातात्विक सामग्री को प्रदर्शित करने एवं उसका अध्ययन करने के लिए एक संग्रहालय की स्थापना की। प्राचीन भारतीय इतिहास, पुरातत्व एवं संस्कृति में रुचि रखने वाले विद्वानों के लिए यह संग्रहालय आकर्षण का एक महत्वपूर्ण केन्द्र है। इसमें पुरातात्विक सामग्री जैसे सिक्के, सिक्कों के सांचों, मुहरें एवं मृण्णमूर्तियाँ, धातु एवं पत्थर की मूर्तियाँ, पुरालेख, मिट्टी के बर्तन, पांडुलिपियाँ एवं अन्य सामग्री का अद्‌भुत संग्रह है। स्वामी ओमानन्द जी, विरजानन्द दैवकरनि एवं उनके अन्य सहयोगियों द्वारा वर्तमान हरियाणा, पंजाब, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, दिल्ली, हिमाचल प्रदेश आदि राज्यों के विभिन्न भागों से यह सामग्री एकत्रित की गई है। इस सामग्री में सीकर जिले के ढ़ाणा (पटनशहर) से प्राप्त विभिन्न धर्मों से संबंधित देवी-देवताओं की प्रतिमाओं का सुन्दर संग्रह भी है। प्रस्तुत शोध पत्र में ढाणा (पटनशहर) से प्राप्त जैन प्रतिमाओं पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

ढाणा (पटनशहर) राजस्थान के सीकर जिले के नीम का थाना उपखण्ड में नारनौल से खेतड़ी जाने वाले मार्ग पर नारनौल से लगभग 15 कि.मी. एवं नीम का थाना से लगभग 25 कि.मी. की दूरी पर स्थित एक पुरास्थल है। यहाँ पर कुल सांस्कृतिक जमाव लगभग 10 मीटर है जो विभिन्न संस्कृतियों के अवशेषों को अपने में समेटे हुए हैं।[2] टीले के ऊपरी सतह पर धातुमल और मृदभाण्डों के टुकड़े बिखरे पड़े हैं। टीले पर बड़ी संख्या में विभिन्न हिन्दू देवी देवताओं की प्रतिमाएँ भी मिलती है। गुरुकुल संग्रहालय झज्जर के स्वामी ओमानन्द सरस्वती एवं संग्रहलाय के वर्तमान निदेशक विरजानन्द दैवकरनि को इस स्थल से अनेक प्रतिमाएं प्राप्त हुई है जो वर्तमान में संग्रहालय में विद्वानों एवं शोधकर्त्ताओं व सामान्यजन के लिए उपलब्ध है। इस स्थान से यौधेयों की एक विशेष प्रकार की दुर्लभ मुद्रा भी मिलती है। उस पर 'यौद्येयानां भूमध ाान्यके' लेख मिलता है जबकि अन्य स्थानों से प्राप्त मुद्राओं पर 'यौद्येयानां बहुधान्यके' लिखा मिलता है।[3] इस पुरास्थल से मिलने वाली मृद्‌भाण्ड परंपरा में सबसे निचले स्तर पर गणे वर संस्कृति के समान लाल स्लिप युक्त मृद्‌भाण्ड, मध्यम एवं ऊपरी स्तरों से क्रमशः घूसर एवं लाल रंग की पात्र परंपरा के मृद्‌पात्र मिलते हैं। कुछ लाल रंग के मृदपात्र जो मध्यम प्रकार के है जोधपुरा संस्कृति से साम्यता लिये हुए मिलते हैं।[4] ढाणा (पटनशहर) से प्राप्त होने वाली धार्मिक प्रतिमाओं में बड़ी संख्या में जैन प्रतिमायें लोगों को प्राप्त हुई है। कुछ प्रमुख प्रतिमाओं का विवरण इस प्रकार है :-

1. नेमिनाथ प्रतिमा[5] (प्लेट संख्या-1, क) - जैन धर्म के 22वें तीर्थंकर नेमिनाथ की 4"7.2×2'6"×9.5" की सफेद पत्थर की प्रतिमा का संग्रहालय की जैन प्रतिमाओं में उल्लेखनीय स्थान है। यह प्रतिमा खड़ी कायोत्सर्ग मुद्रा में है, जिसके वक्ष में श्रीवत्स का चिन्ह है, इस प्रतिमा में भगवान नेमिनाथ के घुँघराले बालों का गुच्छा है तथा दोनों हाथ घुटने तक लटके है परंतु वे खण्डित अवस्था में है। प्रतिमा की आँखें खुली एवं नाक नुकीली है तथा चेहरा गोल है। प्रतिमा के सिहांसन पर एक तरफ कोष सहित धनपति कुबेर खड़गासनस्थ जिन सहित अंकित है तथा दूसरी तरफ मातृदेवी अम्बिका भी खड़गासनस्थ जिन सहित अंकित है। अम्बिका देवी के दाहिने हाथ में पाक्ष व आम्रगुच्छ तथा बांये हाथ से जँघा पर बैठे बालक को पकड़े हुए है। प्रतिमा के परिकर में दोनों तरफ पांच-पांच पद्‌मासन में बैठी प्रतिमाएँ है। शैली के आधार पर इस प्रतिमा को पूर्वमध्यकाल की माना जा सकता है। विरजानाथ दैवकरार्ण ने इस प्रतिमा पर दो पंक्तियों के लेख

1. ओं संवत् स-द-मापट
2. प्रतिमा सर्वदेवेन स्थापिता खुदे होने पर प्रकाश डाला है।[6]
2. दुलहि द्वारा दत्त आदिनाथ प्रतिमा[7]

2. ऋषभदेव प्रतिमा - संग्रहालय में उपलब्ध प्रथम जैन तीर्थंकर ऋषभदेव या आदिनाथ की 17×13.75×7 से.मी. आकार की सफेद पत्थर की प्रतिमा भी उल्लेखनीय है। प्रतिमा में भगवान आदिनाथ पदमासन में एक पीठीका पर ध्यान मुद्रा में है। यह भी नग्न है तथा प्रतिमा के वक्ष में श्रीवत्स का चिन्ह है। इस प्रतिमा में ऋषभदेव के बाल घुँघराले हैं, आँखें तिरछी एवं बंद है एवं नाक मोटा है। मुख्य आसन पर एक कढ़ाईदार कपड़ा बिछा है तथा नीचे अर्द्धबैठी अवस्था में नंदी का अंकन है। आसन के नीचे दो सिंह यक्ष है तथा दायीं तरफ गोमुख यक्ष व बोयी तरफ देवी चक्रेश्वरी का अंकन है। मुख्य प्रतिमा के दोनों तरफ न पहचाने जाने वाली खंडित प्रतिमाएं है। प्रतिमा के नीचे अंकित लेख दुलहिस से ज्ञात होता है कि यह प्रतिमा दुलहि नामक व्यक्ति द्वारा दी गई थी।[8] यह प्रतिमाँ 10वीं-11वीं सदी की होने का अनुमान है।

3. विमल सुत जयदेवेनेदं लेख वाली प्रतिमा[9] - संग्रहालय में लाल बलुआ पत्थर की बनी 12.4"×10.5"×5.7" आकार की ध्यान मुद्रा से बैठी एक अन्य जैन तीर्थंकर की प्रतिमा भी उपलब्ध है जिसका मुख खंडित अवस्था में है। प्रतिमा के आसन के नीचे अंकित दो सिंह यक्षों के अंकन से लगता है कि यह प्रतिमा भी भगवान आदिनाथ या ऋषभदेव की है। इस प्रतिमा के आसन पर भी अलंकरण युक्त कपड़ा है। आसन के नीचे अंकित सिंह यक्षों के गले में मालाएं अथवा हार है। यह प्रतिमा भी पद्‌मासन में है जिसके वक्ष में श्रीवत्स का अंकन है। प्रतिमा के दोनों तरफ खंडित

अवस्था में कार्योत्सर्ग मुद्रा में अंकित तीर्थंकरों का अंकन है। प्रतिमा पर अंकित विमल सुत जयदेवेनेंद से पता चलता है कि प्रतिमा का निर्माण विमल के पुत्र जयदेव ने करवाकर मंदिर में दान की थी।

4. आदिनाथ प्रतिमा – संग्रहालय में उपलब्ध प्रथम जैन तीर्थंकर आदिनाथ की 10.1×5.5 से.मी. प्रतिमा का भी यहां उल्लेख करना आवश्यक है। पदमासन् में ध्यान मुद्रा में भगवान आदिनाथ का अंकन इसमें किया गया है। प्रतिमा के आसन पर बने अलंकरण पुष्पमालाओं जैसे लगते है। आसन के नीचे संभवत वृषभ का अंकन है तथा दोनों तरफ दो सिंह यज्ञों का अंकन है। प्रतिमा के वक्ष में श्रीवत्स का चिन्ह है। प्रतिमा का मुख खंडित अवस्था में होने के कारण अस्पष्ट है। घुंघराले बालों से युक्त प्रतिमा के पीछे किसी पेड़ की दो पत्तियों का अंकन है। प्रतिमा को देखने से लगता है इसका निर्माण किसी पाषाण स्तंभ पर किया गया है।

5. पार्श्वनाथ युग्म प्रतिमा – ढ़ाणा (पटनशहर) से प्राप्त 11.2×8.5 से.मी. की पत्थर की पार्श्वनाथ की प्रतिमाओं का युग्म विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ये दोनों प्रतिमाएं खड़ी कायोत्सर्ग मुद्रा में है। जिनके हाथ नीचे की तरफ लटके है परंतु खंडित अवस्था में होने के कारण उनमें क्या धारण किया हुआ है यह कहना कठिन है। प्रतिमाओं के बांयी तरफ अंकित पंक्ति में अंकित तीन अन्य पदमासन में बैठी प्रतिमाओं जिनके ऊपर सर्प के पांच फणों का अंकन है से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि कायोत्सर्ग मुद्रा में अंकित युग्म प्रतिमाएँ भी भगवान पार्श्वनाथ की है। युग्म प्रतिमाओं पर खंडित अवस्था में संभवत: सर्प के पांच फणों का छत्र है। इन दोनों प्रतिमाओं के बाल भी घुँघराले है एवं छाती में श्रीवत्स का चिन्ह है। ये सौम्य, शांत एवं ध्यानस्थ अवस्था में है।

6. कायोत्सर्ग मुद्रा की तीर्थंकर प्रतिमा – ढाणा (पटनशहर) की जैन प्रतिमाओं में 16.8×5.8" से.मी. प्रस्तर प्रतिमा भी बड़े महत्व की है। संभवत: यह प्रतिमा जैन धर्म के 22वें तीर्थंकर नेमिनाथ की है। प्रतिमा के वक्ष पर श्रीवत्स का चिन्ह स्पष्ट रूप से अंकित है। इसके बाल घुंघराले है, आंखें बंद है, नाक नुकीली है एवं हाथ नीचे की तरफ लटक रहे हैं। दायें हाथ का स्पर्श यक्षिणी से है। संभवत: यह अम्बिका देवी का अंकन है। देवी प्रतिमा में देवी के शरीर के विभिन्न भागों पर आभूषणों कुण्डल, बाजुबंध, मेखला आदि का अंकन है। देवी साड़ी धारण किये हुए है तथा देवी के बाएं हाथ में संभवत: कमल एवं दायाँ हाथ वरद मुद्रा में है। प्रतिमा के बार्यी तरफ खंडित अवस्था में किसी अन्य प्रतिमा का अंकन है।

7. अनेक तीर्थंकर युक्त पाषाण स्तंभ – ढाणा से प्राप्त जैन प्रतिमाओं में 4.5×13.5 से.मी. आकार का अलंकरण युक्त पाषाण स्तंभ का टुकड़ा भी विशेष महत्व का है। इस पाषाण खण्ड पर अनेक जैन तीर्थंकरों की प्रतिमाओं का अंकन है। इन तीर्थंकर प्रतिमाओं के साथ यक्षों एवं परिचारकों का भी सुंदर अंकन मिलता है। इस खण्ड पर दो बड़ी प्रतिमाएं संभव प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ की है जो पद्मासन मुद्रा में हैं

जिनके ऊपर छत्र का अंकन है। इन दोनों प्रतिमाओं के दायी व बार्यी तरफ कायोत्सर्ग मुद्रा में परिचारकों या जिनों का अंकन है। इस खण्ड पर दस अन्य प्रतिमाएँ भी है। ये सभी प्रतिमाएं भी पद्मासन में है तथा इनके दोनों तरफ भी परिचारकों या जिनों का अंकन है। इस पाषाण खण्ड पर स्थित प्रतिमाओं के ऊपर दोनों तरफ दो हाथियों (गजों) का अंकन भी है। संभवत: यह पाषाण खण्ड किसी जैन मंदिर के अलंकरण युक्त स्तंभ का भाग है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि पूर्व मध्यकाल में ढ़ाणा (पटनशहर) जैन धर्म का एक महत्वपूर्ण केंद्र था। यहां से प्राप्त होने वाली अनेकानेक जैन पाषाण प्रतिमाओं जिनमें से अब अधिकाशत: गुरुकुल संग्रहालय झज्जर में उपलब्ध है के अध्ययन से इस कथन की पुष्टि होती है। इन प्रतिमाओं पर और अधिक शोध कार्य करने की आवश्यकता है। साथ ही पाषाण प्रतिमाओं द्वारा उपलब्ध जानकारियों को साहित्यिक एवं अन्य स्रोतों द्वारा पुष्टि करके खेतड़ी सीकर क्षेत्र एवं नारनौल क्षेत्र में पूर्व मध्यकाल में जैन धर्म के व्यापक प्रसार पर भी प्रकाश डाला जा सकता है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि नारनौल के आस-पास के क्षेत्रों एवं नारनौल से पूर्वमध्यकाल एवं मध यकाल की अनेक जैन प्रतिमाओं सर्वेक्षणों द्वारा शोधकर्त्ताओं को प्राप्त हुई है जिनके विश्लेषण से दक्षिणी हरियाणा एवं राजस्थान के गुढ़ सांस्कृतिक संबंधों पर प्रकाश डाला जा सकता है। लोहारू के पास बाढ़डा एवं हाँसी से प्राप्त हुई मिश्रित धातु की अनेक जैन प्रतिमाओं का विश्लेषण भी इस कड़ी को जोड़ने में सहायक सिद्ध हो सकता है। ढ़ाणा (पटनशहर) की उजड़ती सांस्कृतिक एवं पुरातात्विक विरासत को बचाने के लिए इस महत्वपूर्ण पुरास्थल के संरक्षण की नितान्त आवश्यकता है। राजस्थान सरकार के पुरातत्व एवं संग्रहालय विभाग द्वारा इस दिशा में कार्य करते हुए इस स्थल को संरक्षित स्थल सूची में स्थान दिया जाना चाहिए। इस स्थल से वैदिक देवी देवताओं की भी अनेकानेक प्रतिमाएं प्राप्त होती हैं, जिनका वैज्ञानिक एवं आलोचनात्मक अध्ययन राजस्थान एवं हरियाणा के प्रगाढ़ सांस्कृतिक संबंधों पर महत्वपूर्ण प्रकाश डाल सकता है।

संदर्भ

1. *सुधारक, गुरुकुल झज्जर की मासिक पत्रिका, जिल्द 12, पृ. 6*
2. *मदन लाल मीणा, उत्तरी राजस्थान के शेखावाटी क्षेत्र का पुरातात्विक अन्वेषण, लघु शोध परियोजना, पृ. 30*
3. *विरजानल दैवकरणि, प्राचीन ताम्रपत्र एवं शिलालेख, पृ. 34*
4. *मदन लाल मीणा, उपरोक्त, पृ. 31*
5. *वही, पृ. 34*
7. *वही, प्लेट संख्या 37*
8. *वही, पृ. 35*
9. *वही, प्लेट संख्या 40*

मेवाड़ के स्थापत्य स्मारक एवं पर्यावरणीय अवबोध : 15वीं से 18वीं शताब्दी

डॉ. जे.के. ओझा

पर्यावरण शब्द प्रकृति के प्रति मानवीय संवेदना का द्योतक है। नि:संदेह 15वीं शताब्दी से 18वीं शताब्दी के स्थापत्य-स्मारकों के मध्य जो प्रकृति प्रेम दृष्टिगत होता है वही पर्यावरण संरक्षण का मूल है। इसी से प्राकृतिक तत्वों के प्रति दिव्य भावना, जीव प्रेम, सर्वात्मवाद, सर्वकल्याण व सर्वसुखित्व की भावना से निर्लोम, त्याग, दया दानादि उदात्त मानवीय गुण उत्पन्न होते हैं। पशु-पक्षी व वृक्ष आदि प्राय: पूर्ण रूप से अपने जीवन के लिए प्रकृति तथा पर्यावरण पर अवलम्बित रहते है, किन्तु मनुष्य अपनी आविष्कार-शक्ति, संचित अनुभव, अन्य समुदाय के ज्ञान से लाभ उठा सकने की क्षमता और सरलता व सहजता से स्थान-परिवर्तन कर सकने की योग्यता के कारण अपने जीवन की परिस्थितियों को अपने प्रयासों द्वारा परिवर्तित कर सकता है। यही कारण है कि वह अपने जीवन में पूर्णतया प्रकृति का दास नहीं होता है परंतु मानव के साधनों व प्रयासों की अपनी सीमाएँ अवश्य होती है। अपने दैनिक जीवन में मनुष्य साधारणत: इन्हीं खाद्य पदार्थों का उपयोग करता है जो उसके क्षेत्र की भूमि और जलवायु में पैदा होते हैं अथवा सरलतापूर्वक उत्पन्न किये जा सकते हैं। इन भौगोलिक व प्राकृतिक परिस्थियों का प्रभाव मानव के रहन-सहन, खान-पान, निवास-स्थल व सांस्कृतिक जीवन पर भी पड़ता है। यों प्रकृति प्रदत्त आवश्यकता की पूर्ति वाले स्थल पर मानव ने आश्रय लेना और अपने मकान आदि बनाने प्रारंभ किया। अत: बस्ती, खेड़ा, खेड़ी, भागल, गाँव, कस्बा, नगर, भवन आदि स्थापत्य-स्मारक प्राकृतिक पर्यावरण में ही रचे-पचे और विकसित हुए।

मेवाड़ के स्थापत्य स्मारकों के अवशेषों से यह जानकारी मिलती है कि नगर या पुर निवेश, प्रासाद-निवेश, भवन निवेश, दुर्ग निवेश तथा जन व जल-स्थापत्य संबंधी सभी प्रकार के भवनों के निर्माण में शास्त्रीय नियमबद्धता के साथ पर्यावरण की उपयोगिता को महत्व प्राप्त हो चुका था। 15वीं शताब्दी मेवाड़-स्थापत्य-स्मारक की परम्परा में उत्कर्ष काल था। ग्राम्य-निवेश में चाणक्य ने शूद्र (शिल्पी) और कृषक अधिक बसाने का निर्देश दिया तथा एक गाँव में सौ से कम और पाँच सौ से अधिक घर नहीं बसाने चाहिए। साथ ही एक गाँव से दूसरे गाँव की दूरी दो कोस के मध्य होनी चाहिए। राजा ग्राम की सीमा को नदी, पर्वत, वन, बेर के वृक्ष, खाई, पुल, बन्ध, सेमल, शमी, बड़, गूलर आदि वृक्षों से सुशोभित बनावें। आठ सौ ग्रामों के मध्य में बड़ा नगर (स्थानीय) बसावें। चार सौ गाँवो के मध्य में द्रोण मुख (नगर) की स्थापना करें। दो सौ गाँवों के मध्य में कस्बे की रचना करनी चाहिए।[1] मण्डन ने भी छोटी बस्तियों का निर्देश देते हुए गाँवों को बसायें जाने के बारे में बताया है, उससे पर्यावरण की जानकारी उपलब्ध होती है कि गाँव प्राय: नदियों, तालाबों अथवा जलाशयों के किनारे तथा पहाड़ियों के मध्य बसाये जाते थे।[2] इतना ही नहीं मण्डन ने तो बस्तियों का आकार-प्रकार निश्चित करते हुए उनका नामकरण किया है उससे भी पर्यावरण का बोध ही होता है। मेवाड़ मे खेड़ा, खेड़ी, भागल, गाँव आदि 5-10 घरों की बस्ती से लेकर 300-400 घरों की बस्ती से युक्त होते थे। ये गाँव पूर्व से पश्चिम की ओर बसे हुए थे। इनकी बसावट में कृषि की जमीन की सुविधा, पानी की सुविधा, सूर्य की रोशनी आदि का ध्यान रखा जाता था।[3] पहाड़ियों पर बसे व बने झोंपे (झोंपड़े) प्रकृति की क्रोड़ में पल्लवित और पुष्पित हो रहें थे। अधिकांशत: मकान बिना खिड़की व रोशनदान के भले ही निर्मित होते थे किन्तु कवेलु या घास-फूस से ढके कच्चे मकान पर्याप्त शुद्ध हवा से युक्त होते थे। मेवाड़ में अधिकांश मकान मिट्टी के बने होते थे। इन्हें देखने से ज्ञात होता है कि गोबर व पीली (मिट्टी) के लेप से दीवारों व आंगन को 'लीपा' जाता था। इस मिश्रण के कारण कीड़ों आदि के प्रकोप का भय नहीं रहता था और कमरे (घर) का वातावरण गर्मियों में ठंडा और सर्दियों में गरम रहता था। मकानों के निर्माण में गरीब से अमीर, नौकर से अधिकारी वर्ग तक के मकानों में आकार-प्रकार में अन्तर अवश्य रहता था किन्तु सभी स्तर के भवनों, मकानों का अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि पर्यावरणीय दृष्टि की अनुपालना की जा रही थी जैसे कच्चे मकानो में दीवार के बीच के भाग में रखा गया छेद हवा-प्रकाश का द्योतक था। चाणक्य ने अर्थशास्त्र में प्रदूषण तथा प्रदूषण को उत्पन्न करने वाले के लिए 'कठोर दण्ड व्यवस्था' का विधान किया है। मकान इस प्रकार से बनाये जाते थे कि उनसे गन्दा पानी उदक मार्ग में ही जाए, जिस मकान में यह व्यवस्था नहीं होती उसके मालिक पर 54 पण जुर्माना किया जाता था। इसी भांति अन्य अनेक नियम अर्थशास्त्र में प्रतिपादित है, जिनका उल्लंघन करने पर विविध जुर्माने व अन्य दण्ड की व्यवस्था की गई थी।[4] मंडन ने राजाओं के लिए 'राजधानी' को किस लम्बाई-चौड़ाई में रखनी चाहिए इसका निर्देश भी राजवल्लभ में दिया गया है।[5] अपराजित पृच्छा और वास्तुसार की भांति ही मण्डन ने राजद्वार तथा देवालय के सामने व पुर की अन्य दिशा में बसाए जाने वाली जातियाँ, कर्मकारों का निर्देश भी पर्यावरणीय दृष्टि से दिया है जैसे कसाई, कलाल, चर्मकार, दलित, कुम्हार आदि बस्ती से एक तरफ बसाने चाहिए। कुम्हार मिट्टी के बर्तनों को आव पकाते हैं तो उससे उठने वाला धूँआं पूरे गाँव अथवा बस्ती को दूषित न कर गाँव के बाह्य भाग में एक ओर निकल जावें।[6] देव मंदिरों को पूर्व-पश्चिम व पुर के सम्मुख शुभ बताने का कारण यही है कि प्रात:कालीन सूर्य की रश्मियां मंदिर पर पड़े और मंदिर के समीप के निवासी साफ-सफाई रखते हुए पर्यावरण को बचाये रखे। नगर के पश्चिम में जल स्रोतों वापी,

कूप, तड़ाग, कुण्ड आदि बनाने का निर्देश दिया जिसकी पालना उदयपुर सहित मेवाड़ के अधिकांश ठिकानों के गाँवों यथा बदनोर, भीण्डर, कानोड़, बड़ीसादड़ी आदि तथा माँडल, कपासन, भोपालसागर आदि गाँवों में की गई है। पर्यावरण की दृष्टि से उक्त निर्देशों की पालना उदयपुर राजभवन के साथ-साथ मेवाड़ राज्य के सभी श्रेणी के सामंतों, जागीदारों के ठिकानों एवं जागीरों में निर्मित उनके राजसिक भवनों में सुस्पष्ट देखने को मिलती है।[7] इतना ही नहीं इन सब गाँवों एवं नगरों में शहरपनाह एवं नगरकोट के बाहर बनी खाइयाँ जहाँ एक तरफ सुरक्षा का काम कर रही थी वहीं उस नगर अथवा गाँव का गंदा पानी भी उसी में गिरता था। यों गंदा पानी इधर-उधर न फैल कर खाई में एकत्र हो जाता था जो नगर अथवा ग्राम्य स्वच्छता का परिचायक था जैसे उदयपुर, बदनोर, भीण्डर, कानोड़, बड़ीसादड़ी, बस्सी, विजयपुर आदि इसके उदाहरण थे। उदयपुर नगर के राजभवन के पश्चिम में पीछोला झील तथा नगर के उद्यान, समोर बाग व गुलाब बाग राजभवन के दायें भाग में बने हुए है जिनमें देवप्रासाद, फव्वारें (जल यंत्र), आम, जामून, अंजीर, अमरूद आदि फलों के वृक्ष तथा विविध तरह के फूलों के पौधे लगे हुए थे। साथ ही यहाँ के कुए, बावड़ियां, जलाशय, ताल-तलैया, जल निकास का समुचित प्रबंधन से हमें विशुद्ध पर्यावरण की जानकारी उपलब्ध होती है। यहाँ के सामन्तों के ठिकानों, जागीर के जागीदारों ने भी शास्त्रोचित सिद्धांतों की परिपालना करते हुए अपने ठिकानों व जागीरों तथा गाँवों को विकसित किया, उससे भी पर्यावरणीय जीवन की झाँकी सुस्पष्ट होती है।

सूत्रधार मण्डन ने दुर्ग-स्थापत्य के संदर्भ में गिरी दुर्ग के निर्माण का महत्व बताया है।[8] 15वीं शताब्दी में दुर्गों का अधिक महत्व हो गया था। चित्तौड़गढ़ दुर्ग, कुंभलगढ़ दुर्ग, माँडलगढ़ दुर्ग, बनेड़ा दुर्ग के अतिरिक्त विभिन्न स्थलों में निर्मित गढ़ एवं गढैयों का पुरातात्विक स्थापत्य-स्मारकों के रूप में सर्वे करने के पश्चात् तथा राजवल्लभ ग्रन्थ के निर्देशों की पालना करते हुए इन दुर्गो पर जो निर्माण कार्य हुआ- राजसिक भवन, अधिकारियों, जनसामान्य के भवन, देवप्रासाद, तालाब, वापिकाएँ आदि से ज्ञात होता है कि पर्यावरण की अनुपालना की जा रही थी जैसे कुंभा के राजमहल सादे भले ही हों किन्तु खुलापन, आवासीय कक्ष व बरामदे, 1448 ई. का आदिवराह के मंदिर का खुलापन आदि से तत्कालीन पर्यावरण ज्ञान का बोध होता है। नौ मंजिला उत्तुंग कीर्ति स्तम्भ में भी हवा और प्रकाश का पूर्ण ध्यान रखते हुए जालीदार खिड़कियां, गवाक्ष अथवा झरोखें आदि निर्मित किये गये थे। कीर्ति स्तम्भ में षट् ऋतुओं का मूर्तिकरण हुआ है तथा गंगा, यमुना और सरस्वती नदियों की मूर्तियां है। इससे भी पर्यावरण प्रेम को दैविक रूप में दर्शाने की विद्या ज्ञात होती है। कुम्भलगढ़ दुर्ग बीहड़ता सघनता तथा वन्य नीरवता के साथ साथ पर्यावरण से ओत-प्रोत है जहाँ कुम्भाकालीन 'वेदी' पर्यावरण को शुद्ध बनाने का स्रोत के रूप में जानी जा सकती है। इन दुर्गों पर पर्याप्त वृक्षावली एवं जल की समुचित व्यवस्था के साथ साथ भवन हवादार, क्रॉस वेन्टीलेशन से युक्त भी

देखने को मिलते है।[9]

इस काल में निर्मित मंदिर स्थापत्य-स्मारकों से पर्यावरण अवबोध होता है। कुम्भाकालीन मंदिरों में यज्ञ वेदियों का निर्माण किया गया था। शतपथ ब्राह्मण ग्रन्थ में पंच यज्ञ का वर्णन मिलता है जो पर्यावरण संरक्षण को इंगित करता है। आरण्यक ग्रन्थों के अनुसार यज्ञ चराचर के लिए कल्याणकारी है।[10] पंचतत्वों को देवतुल्य स्वीकार करते हुए तत्संबंधी मूर्तियों का अंकन मंदिर स्थापत्य में देखने को मिलता है जैसे ऊर्जा के अक्षय स्रोत सूर्य की आराधना 'सूर्य देवोभवः' के रूप में की जाती है। वेदों में सूर्य को जगत की आत्मा कहा गया है। उपनिषदों में भी सूर्य को प्राण की संज्ञा दी गई है। वस्तुतः सूर्य सभी प्राणियों, वनस्पतियों व जीव-जन्तुओं में जीवन का संचार करता है और सम्पूर्ण पारिस्थितिकीय चक्र को ऊर्जा प्रदान कर नियंत्रित करता है। अतः उसको देवोपासना में प्रमुखता दी गई है। रणकपुर मंदिर से कुछ दूरी पर निर्मित सूर्य मंदिर बड़ा प्रसिद्ध है। यह मंदिर 15वीं शताब्दी में कुम्भा द्वारा निर्मित कराया गया था। मंदिर में सर्वत्र सूर्य को सात घोड़ों पर सवार बताया गया है। इसी मंदिर में एक नवग्रह की मूर्ति भी है। मंदिर के बाहर सभा मंडप और गर्भ गृह के चारों और सूर्य के सात घोड़ों का लगभग 60 बार प्रदर्शन किया गया है जो अति भव्य है। गर्भगृह के बाहर प्रधान ताकें तो नहीं है किन्तु मूर्तियां तो उत्कीर्ण है जिनमें चतुर्बाहु तथा आसन मुद्रा स्थित देवता के ऊपर के वामहस्त में त्रिशूल है तथा नीचे के वामसव्य हस्तों कवल है, वहाँ शिव और सूर्य का एकरूप भाव व्यक्त किया गया है। यह पीछे की प्रधान ताक के स्थान पर आसन मुद्रा स्थित द्विबाहु सूर्य के दो हाथों में कमल विद्यमान है। उत्तरवर्ती प्रधान ताक के स्थान पर त्रिमुखाकृति का आसन मुद्रा में प्रदर्शन किया गया है। आसनदेव की 6 भुजायें है तथा नीचे तक वनमाला लटक रही है। मध्यवर्ती दोनों हाथों में कमल है। सबसें नीचे के हाथों में से एक में पात्र और दूसरी भूमि स्पर्श मुद्रा में रखा हुआ है। सबसे ऊपर हाथ में संभवतः अर्ध विकसित कमल है। इस मुकुट धारी मूर्ति में सूर्य और ब्रह्मा का एक भाव स्पष्ट सा ही लगता है। चतुर्भुज मूर्ति में नीचे का भाग तो मत्स्य का है तथा ऊपर का भाग पुरुष का। ऊपर वाले भाग में तीर तथा सव्य में त्रिशूल नीचे वाले वाम पात्र तथा सव्य में गदा द्वारा विदित होता है कि इसमें ब्रह्मा विष्णु (कच्छपावतार) तथा महेश का एक रूप भाव व्यक्त किया गया है। चतुर्बाहु देव के नीचे के दोनों हाथों में कमल है तथा ऊपर वाले हाथो में पात्र एवं माला। अतएव इस मूर्ति में सूर्य एवं ब्रह्मा का एक रूप झलकता है।[11] जैन मंदिरों में विभिन्न पशु-पक्षी, जीव-जन्तु के प्रतीक सात चिन्ह के साथ तीर्थंकरों की मूर्तियां देखी जा सकती है जैसे ऋषभदेव (आदिनाथ)-वृषभ, अजितनाथ-हाथी, संभव-घोड़ा, शान्तिनाथ-हिरण, पार्श्वनाथ-सर्पफण, नेमिनाथ-शंख, महावीर-सिंह। विभिन्न तीर्थंकरों के विभिन्न वृक्ष प्रतीक भी है[12] जैसे- ऋषभनाथ-न्यग्रोध अजितनाथ-सप्तपर्ण 3. संभवनाथ-शाल, अभिनन्दन नाथ-प्रियक, सुमतिनाथ-प्रियंगु, पार्श्वनाथ-धातकी या धव (ग्रिलिया टोमेटॉजा) महावीर-शाल।

18वीं शताब्दी में निर्मित महाराणा जगतसिंहकालीन मंदिरों में अन्य पशुओं के साथ विशेषतया हाथियों की मूर्तियों का अंकन अधिक हुआ है। मंदिरों की दीवारों अथवा स्तम्भों पर विविध प्रकार की लताओं, पुष्पों, पत्तियों आदि को उकेरा गया है। मंदिर शिखर के तीन ओर गजथर, अश्वथर के साथ ही बंदर, शेर आदि पशुओं के मूर्तियांकन भी देखा जा सकता है। मंदिरों, मूर्तियों के साथ उत्कीर्ण विभिन्न देवों के वाहन पशु, पक्षी, जीव-जन्तु, लताएँ, वृक्ष, फूल-पत्ती आदि पर्यावरण बोध में सहायक है। सभा मंडप, अर्द्धसभामंडप का खुलापन या गवाक्ष हवा की दृष्टि से अनुपम नजर आते हैं। साथ ही हवन आदि का धूंआ सहजता से निकल जाता है। मेवाड़ में शीतला माता के मंदिर अथवा स्थान भी सर्वत्र बनाये जाते थे। चैत्र वदी सप्तमी को ठंडे भोजन का भोग लगाया जाता था। यह भी पर्यावरण से संबंधित ही है कि ऋतु परिवर्तन के कारण अब तक ठंडा खा लिया किन्तु इसके पश्चात् ठंडा खाने से बीमारियां फैलने का भय रहता है। मगन ने राजभवनों में भव्यता को प्रधानता दी थी। उसने राजाओं के साथ साथ अलग-अलग श्रेणियों के सामंतों, जागीरदारों, अधिकारियों एवं जनसामान्य के निवास-स्थल को भिन्न भिन्न आकार के बताये, साथ ही दरवाजों, खिड़कियों, दिवारों का नाप तक अलग अलग दर्शाया। राजभवन या राजमहलों में बांयी ओर अश्वशाला, गौशाला बनवाई जावें और अश्वों की पंक्ति उत्तर या दक्षिणभिमुख रखी जाती थी। अश्वशाला में रातभर दीपक जलाया जाता था। दीपक रखने का आलिया मकान के दाईं ओर द्वार की अर्गला के बराबर की ऊँचाई पर बनाया जावें।[13] इमारती लकड़ी पचक में नहीं काटें और न लावें। इन सभी निर्देशों के पीछे यदि गहनता से विचार किया जाए तो पर्यावरणीय उद्देश्य ही दिखाई देता है जिसे धार्मिक, शास्त्रीय अथवा वास्तुकर्म का आवरण देकर इसकी अनुपालना पर विशेष बल दिया गया। महलों में निर्मित सूरज गोखड़ा सूर्य की प्रथम रश्मि के आवक का स्थान होता था जो 'पर्यावरण' परिपालना का सुस्पष्ट उदाहरण है। ऋतु के अनुसार बने कमरे, उद्यान भी तत्कालीन पर्यावरण के प्रति जागरूकता का अनुपम प्रतीक है। यही स्थिति झूंठे बर्तन साफ करने की थी। बर्तन साफ करने की जगह 'ऊँठयाड़ा' कहलाता था। वहाँ राख जिसे मेवाड़ में 'लक्ष्मी' भी कहते थे एक डिब्बे अथवा हंडिया में रखी रहती थी, जिससे बर्तन सूखे साफ किये जाते थे। बर्तनों का झूंठा पानी भी एक 'मटकी' में एकत्र कर मवेशियों के पिलाने के काम में लेते थे। 'राख' को लक्ष्मी कहने से यही तात्पर्य था कि कम से कम राख का उपयोग करते हुए अधिक से अधिक बर्तन साफ किये जावें। शासक, सामंतों, जागीदारों, उच्च वर्ग अथवा पर्दानशीन परिवारों के अलावा अन्य मकानों में स्नान घर अथवा शोचालय भी नहीं होते थे। विष्णु पुराण के अनुसार अपने निवास स्थान से दूर जाकर मल-मूत्र त्याग करना चाहिए। पैर धोया हुआ हो और झूठा जल अपने घर के आँगन में न डालें। मल त्याग के समय पृथ्वी को तिनकों से और सिर को वस्त्र से ढंक ले तथा उस स्थान पर अधिक समय तक न रहें और न कुछ बोले।[14]

प्राचीन स्थापत्य में बाग बगीचों का बड़ा महत्व था। मेवाड़ में राणा मोकल से महाराणा हमीरसिंह द्वितीय के काल में बाग लगवाये गये थे जिनमें कई प्रकार के फल-फूल वाले पौधे लगाये जाते थे। मण्डन ने गृह के उत्तर दिशा में उद्यान निर्मित करने को कहा है।[15] 16वीं शताब्दी (1577 ई.) में चक्रपाणि मिश्र के विश्व वल्लभ ग्रन्थ से महाराणा प्रताप के अपने परिवेश और पर्यावरण से लगाव और उसके विकास के प्रति सचेष्ट रहने की जानकारी मिलती है। आवरगढ़ स्थित जलाशय स्मारक, कूप-कुण्डों आदि के निर्माण में चक्रपाणि के निर्देशों की पालना की गई थी। इसी आधार पर चावण्ड का दुर्ग बनाया गया था और प्रताप के महल के दक्षिण अथवा ईशान कोण में वाटिका अवश्य रही होगी। विशेषतया विविध वृक्षों, लताओं, पुष्पों के पौधों के लगाए जाने, उन्हें विकसित करने, उनसे होने वाले विभिन्न लाभ अथवा हानियाँ, वृक्षायुर्वेद की परंपरा, वृक्षों के आधार पर जल स्रोतों की जानकारी, गृहवाटिकापयोगी वृक्ष, वृक्षरोपणीय काल, वृक्षों के रोपण में अंतराल व सिंचाई, तरू रक्षार्थ मंत्र प्रयोग, तरू रोग लक्षण व चिकित्सा के साथ जल संसाधनों पर बल देते हुए मेवाड़ में पर्यावरण के विकास को निरूपित किया है। सामंतों एवं जागीदारों को अपने ठिकाने व जागीर में बाड़ी व बगीचा विकसित करने के निर्देश भी दिये जाते थे। बगीचों के लिए उन्हें जमीन दी जाती थी। सामन्त-सरदार बाड़ी-बगीचों में विभिन्न प्रकार के फल-फूलदार वृक्ष एवं पौध रोपण कराके उन्हें सुन्दर बनाते थे। समय समय पर सिंचाई की व्यवस्था के लिए वापिकाँए व कुण्ड भी बनाये गये थे। फलतः बाग-बगीचों में वर्षपर्यत हरियाली बनी रहती थी। महाराणा संग्रामसिंह द्वितीय ने कानोड़ के रावत सांरगदेव को हरसदपुरा गाँव में आठ बीघा जमीन बाड़ी के लिए प्रदान की थी।[16] दि. शुक्रवार, अप्रेल 24, 1778 ई. को चित्तौड़ से रावत भीमसिंह ने उदयपुर शाह मौजीराम को लिखा कि रावत जगतसिंह की बगीची में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करें।[17] बगीचों को विकसित करने पर महाराणा निरन्तर बल दे रहा था।[18] नगर अथवा गाँवों के बगीचों में प्रायः तीज त्यौहार के अवसर पर जनसामान्य को प्रवेश की अनुमति थी। इस प्रकार उदयपुर तथा ठिकानों के सर्वे के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि तत्कालीन स्थापत्य-स्मारकों पर उकेरी गई कला तियों में फूल, पत्तियों, बेलें, विभिन्न पशु-पक्षी आदि के अंकन के साथ साथ पर्यावरण अवबोध होता है।

संदर्भ

1. *अर्थशास्त्र, अ.1, प्रकरण 19, श्लोक सं. 1-4, पृ. 75*
2. *राजवल्लभ, पृ. 31*
3. *राजरत्नाकर, 55 ब, श्लोक 45, राजवल्लभ, पृ. 44*
4. *पुष्पेन्द्रसिंह व डॉ. दुर्गासिंह, धर्मग्रन्थों ने कहा-पर्यावरण के बारे में, पृ. 109*
5. *राजवल्लभ, अ. 4, श्लोक 8, 10, पृ. 214-15*
6. *सर्वे के आधार पर*
7. *राजवल्लभ, अ. 9, श्लोक 9-18, पृ. 267-69*

8. *वही, अ. 4, श्लोक 1, पृ. 212*
9. *सर्वे के आधार पर*
10. *शतपथ ब्राह्मण 11.5.6.7, डॉ. पुष्पा शर्मा, महाकवि बाण भट्ट का पर्यावरण चिन्तन, पृ. 7, 47*
11. *शोध पत्रिका, भा. 7, अंक 2-3, पृ. 7-8, द्रष्टव्य-श्री रतनचंद्र अग्रवाल का शोध निबंध-राजस्थान की सूर्य प्रतिमाएं तथा कतिपय सूर्य मंदिर*
12. *दिलीप कुमार सिंह, प्राचीन भारतीय कला में प्रकृति पूजा, पृ. 148-149 (स्वाति पब्लिकेशन्स, दिल्ली 2012 ई.)*
13. *राजवल्लभ, अ. 5, श्लोक 15-18, 21-24, 29, अ. 9, श्लोक 31*
14. *डॉ. पुष्पा शर्मा, महाकवि बाण भट्ट का पर्यावरण चिन्तन, पृ. 50*
15. *राजवल्लभ, पृ. 67*
16. *श्रीमती मांगबाई ओझा संग्रह कानोड़, परवाना-महाराणा संग्रामसिंह का रावत सारंगदेव को भादवा बदी 5, वि. सं.1788 (बुधवार, अगस्त11,1731 ई.)*
17. *वही, परवाना-चित्तौड़ से रावत भीम सिंह का उदयपुर शाह मौजीराम को दि. वैशाख बदी 12, वि. सं. 1834 (शुक्रवार, अप्रेल 24, 1778 ई.)*
18. *वही, खास रूक्का-महाराणा स्वरूपसिंह का रावत अजीतसिंह को दि. भादवा बदी 11, वि. सं.1903 (रविवार, अगस्त 16, 1846 ई.), कानोड़ की पट्टा बही नं. 29, पट्टा सं. 53*

जयपुर की स्थापत्य कला में प्रयुक्त संगमरमर का तकनीकी पक्ष

डॉ. आशा कुमारी सिंह

राजस्थान में स्थापत्य कला का इतिहास मानव सभ्यता के इतिहास के साथ जुड़ा हुआ है। खुदाई से प्राप्त अवशेषों के आधार पर यहाँ की कला के क्रमिक विकास को सहज ही समझा जा सकता है जैसे आहड़, कालीबंगा, बागौर, गिलुँड आदि उल्लेखनीय सभ्यताओं के केन्द्र रहे हैं।[1] यहाँ मानव के निवास के लिए मकान आदि मिले हैं। राजस्थान में स्थापत्य की लगभग सभी प्रवृत्तियाँ मन्दिर निर्माण, नगर निर्माण, कुण्ड, स्तूप, स्तम्भ आदि के निर्माण हेतु विकसित हो गया था। काल क्रम के अनुरूप स्थापत्य कला प्रभावित होती रही है। नये-नये प्रयोग स्थापत्य कला में हुए। इन प्रयोगों से ही संगमरमर को स्थापत्य कला में प्रयुक्त किया गया। क्षेत्रीय कलात्मक विकास के अन्तर्गत उत्तर मध्यकाल में महाराणा कुम्भा का उदय कला एवं संस्कृति के पुनरुद्धार संकलन, संवर्धन एवं संरक्षण का प्रतीक माना जा सकता है, जिसका प्रभाव समस्त राजपूताने पर पड़ा। अपनी विजय के प्रतीकस्वरूप उन्होंने कीर्ति स्तम्भ बनवाया। उनके द्वारा निर्मित कुम्भ स्वामी का कलापूर्ण मन्दिर जिसे अब मीरा मन्दिर भी कहते हैं, बहुत प्रसिद्ध है। इन स्थापत्य कलाओं में भी संगमरमर का उपयोग किया गया। महाराणा कुम्भा ने राजस्थान के स्थापत्य कला के विकास के लिए अनेक ग्रंथों का अनुवाद व प्रकाशन भी करवाया।

16वीं शताब्दी तक आमेर राज्य भी राजस्थान की कलात्मक पृष्ठभूमि पर अपना विशेष स्थान बना चुका था। मानसिंह के शासनकाल में कच्छवाहा राज में विविध कलाओं का चहुँमुखी विकास हुआ। अपनी कलात्मक रूचि से अभिप्रेरित राजा मानसिंह ने आमेर राज्य में कलाओं के विस्तार के लिए देश के अन्य भागों से शिल्प और कलाकारों को आमंत्रित कर आमेर राज्य में स्थापित किया। मानसिंह का विशिष्ट योगदान मध्यकालीन स्थापत्य कला के विस्तार रूप में रहा है। आमेर के महल और जगत शिरोमणि मन्दिर इसके उत्तम उदाहरण है जिनमें संगमरमर का भरपूर उपयोग किया गया है। राजा जयसिंह द्वारा नवनिर्मित जयपुर की स्थापना के बाद कच्छवाहा शासक एवं आमेरवासी जयपुर स्थानान्तरित हुए। भारत के पेरिस तथा गुलाबी नगर के नाम से प्रसिद्ध जयपुर अपने बेजोड़ नगर नियोजन के लिए विश्व विख्यात है। जयपुर नगर सवाई जयसिंह की प्रतिभा का एक परम प्रतिष्ठित तथा प्रसिद्ध प्रतीक है। शनिवार 25 नवम्बर,

1727 ईसवीं को जयपुर शहर की स्थापना करने के बाद राजा जयसिंह ने जयपुर में प्राण प्रतिष्ठा सीमित करने हेतु आमेर के वासियों को जयपुर निवास करने के लिए आमंत्रित किया।[2] इन आबादियों को जयपुर में बसाने के लिए नौ चौकड़ियाँ बनाई गई। यहीं से मौहल्ला प्रथा की शुरूआत हुई। नौ चौकड़ियों की यह संख्या धन और समृद्धि के देवता कुबेर की नौ-निधियों के प्रतीक के रूप में रखी गई थी। अपने अनूठे वास्तु नियोजन के साथ-साथ जयपुर विश्व विख्यात कला केन्द्र के रूप में भी विकसित हुआ। स्थापत्य कला, मूर्ति शिल्प एवं विविध ललित कलाएँ राजकीय संरक्षण में पल्लवित होती रही। नगर की सुन्दरतम इमारतें राजमहल वाले खंडों में निर्मित हुई। यहाँ पोलें, मुख्य ड्योढ़ी द्वार, खुले मंडप, आँगन, दालान, महराबदार बरामदे, दीवान-ए-आम, दीवान-ए-खास और भव्य राजमहलों का निर्माण करवाया गया। इन राजकीय इमारतों में संगमरमर का प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया गया है। प्रतापसिंह तथा रामसिंह के समय स्थापत्य कला का विकास हुआ। परवर्ती माधोसिंह द्वितीय तथा सवाई मानसिंह ने भी कला संरक्षण की नीति जारी रखी।

स्थापत्य निर्माण सजावट में संगमरमर का उपयोग

जयपुर की स्थापत्य निर्माण में संगमरमर का उपयोग अत्यधिक मात्रा में किया गया है। संगमरमर का स्थापत्य में उपयोग के विविध कारण रहे हैं जिसमें पहला कारण, जयपुर में संगमरमर की उपलब्धता रही है। जयपुर में 50 मिलियन टन से भी अधिक संगमरमर जमा है। जयपुर के भैंसलाना, बनेठी, पंचपहाड़ी में काला धारीदार संगमरमर पाया जाता है।[3] सैण्डकोटड़ा, रसोयवाला, सिंहपुरी, कालजपुरी एवं डोगेटा में सादा सफेद संगमरमर, ओनेक्स किस्म (हल्की नीली किस्म) आकृति का मिलता है। जयपुर में एक मुख्य किस्म का संगमरमर आंधी क्षेत्र में पाया जाता है जिसे पिस्ता (पिस्ताचियो) संगमरमर के नाम से जाना जाता है। इसमें डोलोमाइट की कुछ मात्रा विद्यमान होती है। यह हल्की क्रीम पृष्ठभूमि में हरे वर्ण के डोलोमाइट की उपस्थिति के कारण इसे सामान्यत: पिस्ताचियों संगमरमर के नाम से जाना जाता है। इस क्षेत्र में उत्तम किस्म की इण्डो-इटालियन संगमरमर पाया जाता है, जो इटली के सतवारियो संगमरमर के समान होता है। जयपुर में प्राप्त इन संगमरमर का उपयोग स्थापत्य कला, विशिष्ट सजावटी वस्तुओं एवं मुख्यत: मूर्ति शिल्प के निर्माण हेतु किया जाता है।

दूसरा कारण, संगमरमर एक प्राकृतिक सुन्दर प्रस्तर है, जो वैभव का प्रतीक रहा है। इसे ऐतिहासिक काल से शासकों द्वारा स्थापत्य कला में प्रयोग किया जाता रहा है।[4] नगरों, दुर्गों, राजभवनों, मन्दिरों, हवेलियों, जलाशयों, समाधियों तथा मूर्तियों में संगमरमर का उपयोग इसकी लोकप्रियता को दर्शाता है।

तीसरा कारण, राजस्थान का प्राकृतिक वातावरण अत्यधिक ऊष्ण है जबकि संगमरमर शीतल होता है, जिसके कारण इसका उपयोग भवन निर्माण में किया जाता है।

इससे राजस्थान के ऊष्ण वातावरण से राहत मिलती है। फर्श निर्माण के लिए संगमरमर की टाईलों का उपयोग किया जाता है जो कि अन्य प्रस्तर टाईलों की अपेक्षा अधिक समय तक चलता है।[5]

तकनीकी पक्ष

स्थापत्य कला में संगमरमर का प्रयोग अत्यधिक हुआ है। संगमरमर निर्मित भवनों में इसके उपयोग के अनेक तकनीक रहे थे जिनका उल्लेख आगे किया जा रहा है।

संगमरमर टाईलिंग विधि

बेबीलोनिया में दीवारों को सजाने के लिए उनमें बीच-बीच में रंगीन मिट्टी की आँच में पके हुए चौकोर टुकड़ों को जड़ने की प्रथा थी। वहाँ से फारस वालों ने इसे सीखा और अन्य कलाओं में स्थान दिया। चीन के प्रभाव में आकर उन्होंने इसमें एक और परिवर्तन किया, वह था संगमरमर टाईलों पर शीशे की सी चमक लाना। इस प्रकार टाईलों में टिकाऊपन भी आ गया और सौन्दर्य भी। भारत में रंगीन टाईलों का उपयोग 14वीं शताब्दी के प्रथम चरण में बनी इमारतों में मिलता है। 16वीं शती के आरम्भ में ग्वालियर में बने मानसिंह के महल में इन चमकदार संगमरमर टाईलों का बहुत प्रयोग हुआ है।[6] मुगलकाल में इस कला ने बहुत विकास किया। इस काल में अधिकतर टाईलों के छोटे-छोटे टुकड़े काटकर दूसरी पृष्ठभूमि में पच्चीकारी के ढंग पर जड़ देते थे। इसको उन्होंने एक नया नाम 'कशी' दिया।[7] इस प्रकार का काम 17वीं शती के बाद का अधिक है और उसमें रंग की विविधता भी मिलती है। आधुनिक (18वीं शती के चौकोर टाईल) टाईलों का एक तीसरा प्रकार 18वीं शती की इमारतों में मिलता है। संगमरमर का उपयोग स्थापत्य में टाईलिंग के द्वारा भी किया जाता है। इसके लिए सबसे पहले संगमरमर से टाईल बनाई जाती है। इन टाईलों का उपयोग दीवारों पर या फर्श पर किया जाता है। जयपुर में गैटोर की छतरी, गोविन्ददेवजी का मन्दिर, सिटी पैलेस, बिड़ला मन्दिर आदि स्थानों में संगमरमर टाईलों का भरपूर उपयोग किया गया है।

मोजाईक विधि

मोजाईक कला का विकास प्राचीन ग्रीक मानव द्वारा किया गया, जो गुफाओं में रहते थे। वे फर्श को अधिक टिकाऊ बनाने के लिए विभिन्न संगमरमर के टुकड़ों को जमीन पर जमाकर फर्श को पक्का कर लेते थे। यहीं से यह कला मोजाईक कला के रूप में विकसित हुई। संगमरमर की मोजाईक का स्थापत्य निर्माण में उपयोग किया जाता है। संगमरमर की टाईल बनाते समय संगमरमर के टुकड़ों को तकनीक सुधार द्वारा मोजाईक निर्मित करते हैं,[8] जिसका उपयोग जयपुर के भवनों में सजावट के लिए फर्श निर्माण आदि में किया गया।

आरायश तकनीक

राजस्थान में भित्ति चित्रों को 'आलागीला', 'आरायश' तथा 'मोराकशी' नामों से सम्बोधित करते हैं, जिसका अर्थ है ताजा प्लास्टर की भित्ति पर किया गया चित्रण कार्य। आरायशी भित्ति चित्रण करने के लिए मुख्यत: चूना, कली या टॉटा, झींकी (संगमरमर पत्थर का बारीक चूर्ण), सुरखी और बजरी एवं वर्णों का ही प्रयोग किया जाता है।[9] इस तकनीक का प्रयोग नाहरगढ़ किला, आमेर का किला और सिटी पैलेस में किया गया है।[10] निष्कर्ष : अत: संगमरमर अपने विशिष्टि गुणों के कारण जयपुर के स्थापत्य कला में अत्यधिक प्रयुक्त किया गया है। प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक समय में भी संगमरमर का प्रयोग स्थापत्य में बढ़ा है। स्थापत्य के साथ-साथ मूर्ति कला में भी संगमरमर का विशिष्टि स्थान रहा है। वर्तमान में संगमरमर का उपयोग दैनिक उपभोग की वस्तुओं एवं सजावटी वस्तुओं में भी अत्यधिक हो रहा है। स्थापत्य कला के क्षेत्र में संगमरमर के प्रयोग ने मात्र सौन्दर्य में ही अभिवृद्धि नहीं की अपितु तकनीकी स्तर पर विकास को संभव किया है।

सन्दर्भ

1. *के.एस. गुप्ता एवं जे.के. ओझा, राजस्थान का इतिहास एक सर्वेक्षण, लिट्रेरी सर्किल, जयपुर, तृतीय संस्करण 2016, पृ. 331*
2. *बखतराम शाह, बुद्धिविलास, राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, 1964*
3. *प्रीति शर्मा एवं आशा कुमारी सिंह, 'जयपुर का संगमरमर मूर्ति शिल्प : उत्खनन एवं तक्षण', प्रोसीडिंग्ज, राजस्थान इतिहास कांग्रेस, 24वां सत्र, सुजानगढ़, 2008, पृ. 283-295*
4. *हरिशचन्द्र वर्मा, मध्यकालीन भारत, भाग-2 (1540-1761), हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1993, पृ. 507*
5. *श्री कल्याण सहाय, मूर्तिकार, जयपुर से वार्ता के आधार पर (दिनांक 02.11.2017)*
6. *रणवीर सक्सैना, आकार कल्पना, रेखा प्रकाशन कार्यालय, जोधपुर, प्रथम संस्करण 1958, पृ. 119*
7. *त्ण छंजीए ब्वसवनत क्मबवतंजपवद पद डनहींस ।तबीपजमबजनतम प्दकपं - चंपेजंदए जैम भ्पेजवतपबंस त्मेमंतबी क्वबनउमदजंजपवद च्तवहतंउउमए श्रंपचनतए ैमबवदक म्कपजपवद 1989ए चण्17*
8. *त्ण छंजीए श्रींतवाीरू ।द प्ससनेजतंजमक ेनसवेंतल वि प्दकव डनेसपउ ।तबीपजमबजनतमए जैम भ्पेजवतपबंस त्मेमंतबी क्वबनउमदजंजपवद च्तवहतंउउमए श्रंपचनतए थ्पतेज म्कपजपवद 1986ए चण्81*
9. *राम पाण्डेय, राजस्थान के भित्ति चित्र, पश्चिम क्षेत्र सांस्कृतिक केन्द्र, उदयपुर, प्रथम संस्करण 2005, पृ. 25*
10. *मलिका बोहरा, डूँगरपुर राज की भित्ति चित्रांकन-परम्परा समाज एवं संस्कृति (17वीं सदी के आरम्भ से 1940 ई. तक), प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2010*

राजस्थान में कलात्मक मीनाकारी हस्तशिल्प : विविध स्वरूप

डॉ. पूजा सिरोला

भारतीय हस्तशिल्प को अतिप्राचीन काल से ही बड़ा गौरव प्राप्त है। देश के प्रत्येक भाग में बाहुल्य के साथ बिखरी विविध कलात्मक वस्तुएँ अनूठी अभिव्यक्ति के द्वारा सौन्दर्यानुभूति की उत्प्रेरक बनी हुई है और जनमानस की अभिरुचि को प्रदर्शित करती है। हमारे देश में पारम्परिक शिल्पकारिता का अर्थ केवल धातु अथवा यंत्रों के संचालन में कुशलता पाने मात्रा ही नहीं अपितु इससे कहीं अधिक है। इसमें मन की भावनाएँ, मस्तिष्क तथा शरीर सभी संयुक्त रूप से कार्य करते हैं, जिससे इस प्रकार का सामंजस्य निर्मित होता है।[1] हमारे कलाकारों ने निष्ठा, तत्परता और निरन्तर अटूट प्रयास के द्वारा कला के वैभव को अक्षुण्ण बनाया है। जहाँ एक ओर अजन्ता की गुफाएँ और ताजमहल जैसी कृतियाँ हमारी मूर्तिकला और वस्तुशिल्प की भव्यता का प्रतीक है, वहाँ विविध रंगों से सजी संवरी पोशाकें एवं लकड़ी पत्थर, मिट्टी, धातु तथा जवाहरात की कारीगरी भारतीय जीवन और कला के सुन्दर समन्वय की द्योतक है।

राजस्थान की हस्तकलाओं की अपनी ही विशेषताएँ हैं। यहाँ के कुशल कलाकारों ने अपनी कला को रुचिकर और उपयोगी बनाते हुए जन जन तक पहुँचाया है। अपनी कृतियों में चमकीले तथा अल्हादमय रंगों का समावेश सादगी एवं सौन्दर्य के साथ किया। निश्चल भाव से श्रम की गरिमा को निभाया तथा सहज प्रवृति के साथ अपनी उन्नत आकांक्षाओं को बढ़ाया। यदि यह कहा जाये कि राजस्थान हस्तकलाओं का तीर्थ है तो कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी। कलात्मक तथा सुन्दरतम वस्तुओं के उत्पादन में राजस्थान का स्थान काफी ऊँचा है। हस्तकलाओं की विविधता और कलात्मकता की दृष्टि से राजस्थान को अचरज का प्रदेश कहा जाता है। भारतीय हस्तकला उद्योग में राजस्थान का महत्वपूर्ण स्थान है। राजस्थान की विभिन्न हस्तकलाओं जैसे ब्लू पॉटरी, चमड़ा उद्योग, संगमरमर, वस्त्र उद्योग, कागज उद्योग, पीतल पर नक्काशी, लाख का कार्य, मीनाकारी इत्यादि विशिष्टता लिए हुए है।

राजस्थान का मीनाकारी हस्तशिल्प अपनी कलात्मकता एवं सौंदर्य के लिए ना सिर्फ भारत अपितु सम्पूर्ण विश्व में विख्यात है। मीनाकारी हस्तशिल्प अपनी गौरवपूर्ण ऐतिहातिसकता लिए हुए वर्तमान में भी पारम्परिकता एवं आधुनिकता का समावेश करते हुए विशिष्टि पहचान बनाए हुए हैं।

राजस्थान में मीनाकारी हस्तशिल्प विविध स्वरूपों में

मीनाकारी हस्तकला राजस्थान की उन चुनींदा कलाओं में से एक है जिनके द्वारा जयपुर ही नहीं अपितु राजस्थान के विभिन्न भाग गौरवान्वित हुए है। मीनाकारों द्वारा इस हस्तकला को सदैव से ही विशिष्ट बनाने का प्रयास किया जाता रहा है फिर चाहे वह माध्यम का चुनाव हो, आकृति अंकन, अलंकरण हो अथवा उसकी तकनीकी विधियाँ। राजस्थान में मीनाकारी धातु, कांच, पत्थर पर की जाती है। प्रस्तुत पत्र में मीनाकरी के स्वरूपों को दर्शाया गया है।

धातुयी माध्यम के स्वरूप में मीनाकारी

राजस्थान में मीनाकारी कार्य मुगल काल से ही प्रचलन में रहा। आमेर के राजा मानसिंह प्रथम के शासनकाल में भारत का इस कला से परिचय हुआ।[2] मीनाकारी का कार्य फाइनीशिया में हुआ करता था, तदन्तर चौसरों के काल में यह कला फारस में लाई गई।[3] फारस से मीनाकारी की कला लाहौर पहुँची। यहीं से इस कला का भारत तथा राजस्थान में प्रसार हुआ। राजस्थान में जयपुर, बीकानेर, नाथद्वारा, अलवर में धातु पर मीनाकारी का कार्य किया जाता है।[4] इन सभी केन्द्र पर मीनाकारी परम्परागत रूप से मुख्यत: स्वर्ण, रजत, ताम्र धातुओं पर की जाती रही है।[5] कुमारस्वामी ने अपने लेख 'An Indian Enamel' में एक भारतीय स्वर्ण पेन्डेंट की चर्चा की है। जिसका अग्रभाग जड़ित था तथा पृष्ठ भाग मीनाकारी से युक्त था, इसे 16वीं सदी का माना गया जो संभवत: जयपुर के मीनाकारों द्वारा निर्मित किया गया।[6]

धातुयी मीनाकृति में मीना भरने की भी तीन विधियाँ मुख्य रही है-प्रथम विधि में मीना के रंग को कृति पर ऐसे लगाया जाता है जैसे कैनवास पर रंग करते हैं। द्वितीय विधि में कृति पर बने अलंकरण पर मीना डालकर उसे हथौड़े से ठोंककर या चिपकाकर जमा दिया जाता है। तृतीय विधि में मीनाकृति पर खुदाई कर उसमें सलाईयों से रंग भरा जाता है, इसे चम्पलेवी कहते हैं।[7] यूरोप में भी धातुयी सतह पर गड्डे करके रंग भरने की तकनीक को चम्पलेवी कहा जाता है।[8] वैश्विक स्तर भी मीनाकारी की यह सभी विधियाँ देखने को मिलती है। जैसे-लिमोजस-यूरोप में लिमोजस मीनाकारी में चित्रकारी की भांति रंग किया जाता था।[9] चम्पलेवी विधि प्रचलित थी तथा कोलोजिन जो धातु की पतली पत्तियों को मोड़कर अलंकरण की बाहरी रेखा बनाई जाती थी जिसे धातु की सतह पर जोड़ दिया जाता था। मोड़ने के पश्चात् जो स्थान बनता था उसमें मीना (रंग) भरा जाता था।[10] इन सभी विधियों में चम्पलेवी सर्वाधिक समय लगाकर एवं सूझ-बूझ से की जाती है।

जयपुर में मुख्य रूप से चम्पलेवी पद्धति की तकनीक से धातु पर मीनाकारी का कार्य किया जाता रहा है।[11] जयपुर के मीनाकार स्वर्ण धातु पर मीनकारी में विशेषज्ञ माने जाते हैं। लाल रंग की मीनाकारी में जयपुर के मीनाकार पारंगत थे।[12] स्वर्ण धातु के

अतिरिक्त यहाँ के कलाकार द्वारा रजत, ताम्र धातु पर भी मीना कार्य किया जाता रहा है।[13] मीनाकारी के केन्द्रों में नाथद्वारा, अलवर जैसे स्थानों पर सोने चांदी, तांबे पर मीना कार्य किया जाता था। कागज जैसे पतले पत्तर पर भी मीना करने में बीकानेर के मीनाकार सिद्धहस्त होते हैं।[14] नाथद्वारा में चपड़ी का मीना अधिकतर किया जाता है।

स्वर्णयुक्त मीनाकारी (उस्ताकला)

उस्ताकला राजस्थान के ऐतिहासिक नगर बीकानेर में ऊँट की खाल पर की जाने वाली स्वर्ण मीनाकारी और मुनव्वत के कार्य को कहा जाता है। ईरान से आए उस्ता परिवार के द्वारा ऊँट की खाल पर सोने की मीनाकारी की गई। बीकानेर में हिसामुद्दीन उस्ता के द्वारा इस कला को विकसित किया गया। अपने पिता मुरादबक्ष की देखरेख में हिसामुद्दीन द्वारा इस हस्तकला को सीखा गया।[15] ऊँट की खाल से बनी कुप्पी और और उस पर की गई स्वर्ण युक्त दुर्लभ मीनाकारी के कलात्मक कार्य ने जितनी प्रसिद्धि प्राप्त की है। उतनी अन्य किसी कलाकृति को प्राप्त नहीं हुई है। बीकानेर में उस्ताओं का एक मोहल्ला है जो रंग और चित्रकारों के लिए जाना जाता है। यहीं के हिसामुद्दीन उस्ता को स्वर्ण की मीनाकारी के लिए 1986 में पदमश्री से सम्मानित भी किया गया।[16]

पत्थर तथा संगमरमर पर मीनाकारी

मीनाकृत कलाकृति मात्र धातु पर ही नहीं बल्कि पत्थर एवं चीनी मिट्टी की टाइल्स पर भी की जाती थी, जिसमें हरे, नीले पीले रंग का प्रयोग किया जाता था।[17] जो चीन में प्रयुक्त होने वाली टाइल्स से मिलती जुलती है। इन मीनाकृत टाइल्स का प्रयोग गोलकुण्डा, बीजापुर के राजमहलों में मिलता है।[18] प्रमुखत: इन टाइल्स का उपयोग आमेर एवं जयपुर के महलों में नजर आता है।[19] मीना से युक्त टाइल्स का प्रयोग आमेर के महल में स्तम्भ, फर्श आदि में किया गया है। वर्तमान में विशेषरूप से संगरमरमर पर मीनाकारी की जाने लगी है। वर्तमान में संगमरमर पर मीनाकारी का कार्य विभिन्न रंगों में देखने को मिलता है। घरेलू उपयोग तथा सजावट की वस्तुओं में मीनाकृत संगमरमर कलाकृति विशेष रूप से पसंद की जा रही है। जयपुर की मीनाकृति संगमरमर कलाकृति देश तथा विदेश में अपनी जगह बनाने में सफल हो रही है।[20]

काँच पर मीनाकारी

कांच पर मीनाकारी का कार्य उदयपुर में किया जाता है। इसके अतिरिक्त कांच पर थेवा कला प्रतापगढ़ में की जाती है।[21] राजस्थान की स्थानीय भाषा में थेवा का अर्थ समायोजन होता है। थेवा की उत्कृष्ट कृति की रचना के लिए कारीगर 23 कैरेट का पतला स्वर्ण फलक तैयार करतें हैं जिसे थेवा की पट्टी कहा जाता है। थेवा कला की विशिष्ट ऊँचाईयों तक पहुँचाने में प्रतापगढ़ के राजसोनी परिवार का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। राजसोनी परिवार थेवा कला के प्रवर्तक रहे हैं, पहले यह कला मीनाकारी के

साथ की जाती थी।[22] 1707 ई. में नाथू जी स्वर्णकार द्वारा इस कला का प्रारंभ किया गया जो मीनाकारी के समान नजर आती है।[23] वर्तमान में भी राजसोनी परिवार थेवा कला की कलाकृतियों को उत्पादित करने का कार्य कर रहा है। इस परिवार के द्वारा गोपनीयता के साथ थेवा कला को स्वयं तक ही सीमित रखा गया है इसी कारण यह कला प्रतापगढ़ तक ही सीमित है।[24]

उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि राजस्थान में मीनाकार हस्तशिल्प विविध स्वरूपों में ऐतिहासिक रूप से विद्यमान है। मीनाकृत कलाकृतियाँ धातु, पत्थर, चीनी मिट्टी, कांच, ऊँट की खाल पर की जाती रही है। मीनाकारी हस्तकला को विकसित करने में जहाँ एक ओर राजस्थान के शासकों का महत्वपूर्ण योगदान रहा। वहीं कलाकारों ने अपनी कार्य कुशलता व योग्यता से इसे नए आयाम प्रदान किए। मीना को विभिन्न रूपों में विशिष्टता प्रदान करने में मीनकारी के कलाकारों की प्रमुख भूमिका रही। राज्य सरकारों के सरंक्षण, प्रोत्साहन के द्वारा कलाकारों ने मीनाकारी को विशिष्ट तथा पृथक पहचान दी है।

संदर्भ

1. *कमलादेवी चट्टोप्धाय, राजस्थान हस्तशिल्प परम्परा।*
2- *Arts and crafts, Chapter XVIII in Jaipur album of all about Jaipur, 1935 (Jaipur: Rajasthan Directories Publishing House)*
3- *R.J. Verney, 'Enamelling in Rajasthan,' Roopa Lekha, Vol.XXIX, No. 1 & 2, 1958, 31*
4- *M.K. Pal, Craft and craftman in Tradition India, (1978), 101*
5- *Jamila Brij Bhushan, 'Enmels and Jewellery' in marg Homage to Jaipur Vol XXX, No. 4 (Bomboy. 1977), 101*
6- *Ananda K. coomaraswany, 'An Indian Enamel,' Bulletin of the museum of fine Arts, Vo1.38, (1940). 24-28*
7- *Howard C. Hollis. 'An Indian Enamel Pendent,' The Bulletin of the Cleveland museum of Art, Vol.35, (1948), 18*
8- *Henery Harcling Caniyanghame, The Journal of the society of Arts, Vol.48 (1899), 46*
9- *Stephen Pudney, The Journal of the Decorative Arts Society 1850, vol.2, (1999), 72*
10- *Marian Campbell, medieval Enamels, London: His majesty & Stationary office, (1983), 5*
11. *इन्दर सिंह (मीनाकारी के वरिष्ठ कलाकार) से 6/09/2016 को ज्ञातव्य तथ्य के आधार पर।*
12. *वही*
13. *बसन्त जोशी, उन्नीसवीं सदी का राजस्थान (व्यापारिक एवं औद्योगिक सर्वेक्षण), जयपुर पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, (1988), 57 तथा मोहनलाल गुप्ता, राजस्थान जिलेवार सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक अध्ययन, खण्ड 2, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर (2004), 114*
14. *जयसिंह नीरज व भगवती लाल शर्मा, राजस्थान की सांस्कृतिक परम्परा, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, संस्करण 38 (2016), 216*
15. *राजस्थान की हस्तकलाएँ, The Rajasthan Small Industries Cor., Limited का प्रकाशन*
16. *वही*
17- *Alexender Hunter 'Enameling on Precious metals in India', The Art Journal (1875-1887), Vol. 2 (1876), 75*
18- *Ibid*
19- *Ibid*
20. *जयपुर का मशहूर मार्बल मीनाकारी आर्ट, पंजाब केसरी, 25 दिसम्बर 2016*
21- *The Journal of Indian Art No. 2, April (1884), 5*
22- *Rita Devi Sharma & M. Varadarajan, Handicraftecl Indian Enamel Jewellery, Roli books, New Delhi, (2008), 97*
23- *Ibid*
24- *Ibid*

ऐतिहासिक धरोहर उदयपुर की प्रमुख हवेलियों का अध्ययन

डॉ. सुशीला शक्तावत

मेवाड़ में महाराणा के दरबारी सामन्त सरदारों, सेठ-साहूकारों एवं विशिष्ट जनों के निजी आवास हवेली कहलाती थी। "हवेली" का अर्थ अस्थायी भी होता है अर्थात् मुख्य आवास से अन्यत्र अस्थायी निवास हेतु बनी जगह "हवेली" कहलाती थी जैसे सामंत्-सरदारों अथवा ठिकानेदारों के अपने-अपने ठिकानों में बने विशाल भवन को रावला या महल कहा जाता था। उस ठिकाने विशेष के जागीरदार, कामदार, अधिकारी पुरोहित, नगर सेठ आदि के भवन को 'हवेली' कहते थे।[1] परन्तु इन्हीं ठिकानेदार सामंत सरदारों के भवन मेवाड़ राज्य की राजधानी उदयपुर में बने होते थे उन्हें 'हवेली' ही कहा जाता था, जहाँ सम्बंधित सामंत सरदार उदयपुर के महाराणा की चाकरी अथवा हाजरी देने समय उदयपुर आकर रहते थे।[2]

हवेली से तात्पर्य पक्का बड़ा मकान अथवा भवन जिसमें सुविधायुक्त कई कमरे उनसे जुड़े बरामदा, दरीखाना, बैठक, गवाक्ष आदि एक अथवा अधिक मंजिलों से युक्त इमारत से है।[3] सामंत सरदारों की अपनी हवेलियाँ थी जैसे सलूम्बर की हवेली, बदनोर की हवेली, बनेड़ा की हवेली, शाहपुरा की हवेली, बागौर की हवेली, कानोड़ की हवेली, देलवाड़ा की हवेली, सरदारगढ़ की हवेली, देवगढ़ की हवेली, सनवाड़ की हवेली, आसीन्द की हवेली, कांकरवा की हवेली आदि। इसी प्रकार से पुरोहित जी की हवेली, मेहता जी की हवेली, कोठारी जी हवेली नगर सेठ की हवेली, नाथूराम जड़िया की हवेली, आदि विशेष उल्लेखनीय है।

हवेली स्थापत्य

विभिन्न हवेलियों के प्रमुख द्वारों की भिन्न-भिन्न लम्बाई-चौड़ाई एवं ऊँचाई देखते हुए स्पष्ट कहा जा सकता है कि संबंधित 'हवेली' का स्वामी अपनी स्वेच्छा से उसका निर्माण नहीं कर सकता था वरन् महाराणा द्वारा (दरबार से) स्वीकृत नाप-चौप के अनुरूप ही उसे अपनी हवेली के कामठाणे को पूर्ण करना होता था।[4] मुख्य द्वार जिसे हवेली का दरवाजा कहते थे ऊँचाई और विशालता लिये होता था, किन्तु यह प्रमुख द्वारा महाराणा के महलों के प्रमुख द्वार से किसी भी स्थिति में ऊँचा अथवा बराबर का नहीं होता था। बड़ी हवेली दो अथवा तीन अथवा कई मंजिल हो सकती थी।

सामान्य तथा मुख्य द्वार के आजू-बाजू कलाकृतियों से युक्त गवाक्ष होते थे, मुख्य द्वार से प्रवेशकर एक लम्बी अथवा छोटी पोल पर करनी पड़ती थी। यह पोल प्रायः पुरूष वर्ग के लिए बैठक का काम करती थी। पोल के बाद बड़ा अथवा छोटा हवेली के स्वरूप के अनुरूप चौक आता था। चौक के अगल-बगल में कमरे सामने चौबारा और चौबारे के अगल-बगल और पृष्ठ में कमरे होते थे। छत के चारों ओर की दीवारें कंगुरेदार अथवा सीधी बड़ी होती थी। हवेली के नीचे के कमरों को प्रायः 'ओवरा' कहा जाता था। ऊपर के कमरे को 'मेड़ी' कहते थे, इसमें प्रायः कीमती सामान आदि रखे जाते थे। कमरों के कोने में दीपक रखने की जगह इस भांति छेद बना होता था कि एक कमरे में रखे 'दीप' से कई कमरों तक एक दूसरे से जुड़े उस छेद के माध्यम से रोशनी हो जाती थी। दिन के समय बालकनी व छोटी खिड़कियों से पर्याप्त रोशनी हो जाती थी। हवेली के आंतरिक भाग में रसोई होती थी। कोने में स्नानागार बने होते थे।

हवेलियों में विशेषाधिकार एवं सम्मान प्रदान करने के लिए महाराणा समय-समय पर कांच की ओवरी अथवा काँच का कमरा, फव्वारे एक-दो अथवा तीन गुम्बद बनाने, भित्ति चित्र एक, दो अथवा अधिक कमरों, बरामदों पर बनवाने, बाड़ी या बगीची लगाने की अनुमति प्रदान करता था। हवेलियों में स्त्रियों को रहने के लिए अलग से कमरे बने हुए थे, जिन्हें जनाना कक्ष कहा जाता था।[5]

हवेली चित्रकला - विशेष सम्मान से युक्त हवेलियों के भित्ति चित्र तत्कालीन सांस्कृतिक जीवन की अनुपम धरोहरे हैं। चित्रकला के विविध दृश्य, हाथियों के युद्ध शिकार दृश्य, राग-रागिनियों का चित्रण, गणगौर की सवारी, लैला मंजनू व अन्य कई चित्र उल्लेखनीय है। भित्ति चित्रों की दृष्टि से बागौर की हवेली, देलवाड़ा की हवेली, सेठजी की हवेली, नाथूराम जी जड़िया की हवेली, देवगढ़ की हवेली महत्त्वपूर्ण हैं। जिस पर अलग से विस्तारपूर्वक आलेख लिखा जा सकता है। मेरे द्वारा भी लिखा गया है व प्रकाशित हो चुका है। उदयपुर में कई महत्त्वपूर्ण हवेलियाँ हैं जिन्हें महाराणाओं के द्वारा बख्शीश के तौर पर दिया गया था। कुछ स्वयं के द्वारा निर्मित थी।

मिर्जा अब्दुल रहीम बेग को मेवाड़ का सत्रहवां उमराव का पद दिया गया था। मराठों के आतंक काल में सिन्ध से मुसलमानों को बुलाकर उनकी फोजी टुकड़ी बनायी गयी थी। 1770 में माधव राव सिंधिया और महाराणा अरिसिंह के बीच लड़े गये युद्ध में इस टुकड़ी ने बिना वेतन लिये वीरतापूर्वक युद्ध किया और मेवाड़ के पक्ष में अपना बलिदान दिया। महाराणा अरिसिंह ने महुवाड़ा की जागीर, उदयपुर में हवेली[6] सादड़ी के बराबर बैठक एवं जमादार के संबोधन से सत्रहवें उमराव का दर्जा प्रदान किया। इसे नक्कारा सिरोपाव, चेवर, छत अमर बेलणा घोड़ा प्रदान किया। गणगौर के अवसर पर सवारी की नावों में जिसमें एक में महाराणा एवं दूसरी नांव में सत्रहवां उमराव बैठता था। इसमें हिन्दू मुस्लिम एकता की मेवाड़ की महती परम्परा के दर्शन होते है। इसकी हवेली सिन्धी सरकार की हवेली के नाम से प्रसिद्ध है।

आचार्य सदाशिव महाराणा भीम सिंह के समकालीन थे, इन्होंने महाराणा के प्रिय हाथी की चिकित्सा की और उसे स्वस्थ कर दिया। इस पर महाराणा ने जगदीश चौक में एक शानदार हवेली संवत् 1856 में बनवाकर इस परिवार को बकशीस में दी। इस हवेली पर आचार्यों की पोल के साथ बड़ी पोल भी लिखा हुआ है। इस परिवार के अनुसार बड़ी पोल (महल) के बाद आचार्यों को ही बड़ी पोल कहलाने का अधिकार था, इसमें रसायन शालाा, मर्दाना एवं जनाना चिकित्सा केन्द्र थे। राज परिवार के सदस्यों को अपना इलाज करवाने यहां आना पड़ता था।[7] ड्योढ़ी वाले मेहता मोजीराम जी के दो पुत्रों गणराज जी और जवेरचन्द जी के वंश में तीन-तीन हवेलियाँ थी और ड्योड़या ठाकुर की जागीर माताजी का खेड़ा थी, जिसकी हवेली भटियानी चौहट्टा में स्थित थी।[8]

कवि दुरसा आढ़ा के वंशज किसना आढ़ा को महाराणा जवान सिंह ने बाग भेंट किया जो सीसोदा की बाड़ी कहलायी। इनकी हवेली रावजी का हाँटा में पासवान जी मंदिर के पास हैं।[9] कवि बख्तावर की कविता एवं वाकचातुर्य से प्रभावित होकर महाराणा स्वरूप सिंह ने इन्हें अपना दरबारी बनाया, तथा अनेक सम्मान बैठक पात्या, हाथी, सिरोपाव, पैर में सोना, पान बीड़ा एवं हवेली प्रदान की। इसके अलावा कविराज को मिहारी एवं डांगरी गांव बख्शीश दिये। उपरोक्त सम्मान उनके परिवार को भी प्राप्त रहे हैं।[10] कविराम प्रताप सिंह की पुश्तैनी हवेली धोली बावड़ी के पास है।

महाराणा जवान सिंह की धाय सुखी बाई और धना सेवाजी गुर्जर थे। इनकी एक हवेली बारियों की घाटी पर और दूसरी हवेली कांजी का हाटा में स्थित है। महाराणा शंभु सिंह जब बागोर से गोद आये तो इनके धाय परिवार भी उदयपुर आ गया। धाबाई अमरसिंह की कांच की गोखड़े की हवेली गणेश घाटी मार्ग पर प्रसिद्ध है।[11]

प्रधान केसरी सिंह कोठारी की हवेली रेवास की हवेली भट्टियानी चौहट्टा में है, इस पर कीमती काम कराया गया था। इस हवेली को मराठों ने आक्रमण के दौरान लूटा था।[12] कोठारी केसरी सिंह से प्रसन्न होकर महाराणा स्वरूप सिंह ने नेतावला गांव जागीर में दिया और उसकी हवेली पर मेहमान होकर उसका मान बढ़ाया और उसी वर्ष उसे प्रधान बनाया और बौरांव गांव तथा पैरों में पहनने के सोने के तोड़े प्रदान किये।[13]

6 मार्च, 1844 ई. को महाराणा स्वरूप सिंह ने मेहता राम सिंह की हवेली पर मेहमान होकर उसकी मानवृद्धि की और उसे ताजीम तथा काकाजी की उपाधि देकर सम्मानित किया। 1833 में राम सिंह के पौत्र अक्षय सिंह के ज्येष्ठ पुत्र जीवन सिंह के विवाह के अवर पर महाराणा ने उसकी हवेली पर मेहमान होकर उसकी प्रतिष्ठा बढ़ाई।[14]

कर्नर टॉड की सलाह से महाराणा भीम सिंह ने इन्दौर से सेठ जोरावरमल को उदयपुर बुलाया। उसकी सेवाओं के उपलक्ष में 20 मार्च, 1827 को महाराणा ने पालकी

तथा छड़ी के सम्मान के साथ वंश परम्परा के लिये बदनौर परगने का पारसोली गांव और सेठ की उपाधि दी। सेठ जोरावरमल बापना ने कठिन अवसरों पर महाराणा को ऋण देकर तथा अन्य प्रकार से मेवाड़ की अच्छी सेवा की थी। महाराणा स्वरूप सिंह के समय राज्य पर 20 लाख रूपये से अधिक कर्ज था, जिसमें अधिकांश उसी का था। कर्ज का फैसला कर देने की महाराणा फतहसिंह की इच्छा जानकर, उसने अपनी हवेली पर महाराणा की मेहमान नवाजीकी, और महाराणा की इच्छानुसार ऋण का निपटारा कर दिया। सेठ जोरावर मल के इस बड़े त्याग से प्रसन्न होकर महाराणा फतहसिंह ने उसे कुंडाल गांव दिया और उसके पुत्रों तथा पौत्रों की प्रतिष्ठा बढ़ाई।[15]

जब महाराजा सवाई जयसिंह अपने दूसरे कंवर माधोसिंह को महाराणा से रामपुर का परगना प्राप्त करने की इच्छा से उदयपुर गया तथा धायभाई नगराज के मारफत महाराणा संग्राम सिंह को निवेदन कराया, तब प्रधान बिहारीदास ने इसका विरोध किया, जिस पर महाराजा ने उसकी हवेली पर जाकर उसको समझाया कि हमारे घर का बखेड़ा, आपके हाथ में है। इसलिये इस काम में मेरी सहायता करे। बिहारीदास की सलाह से ही वह परगना महाराणा ने अपने भानजे माधो सिंह को दिया।[16]

महाराणा अरिसिंह ने मराठा आक्रमण की विकट स्थिति में स्वयं अमरचन्द बडवा की बागोरी हवेली जाकर पुनः प्रधान के पद को ग्रहण करने के लिए उससे आग्रह किया था।[17] ठिकानेदार को वर्ष में तीन माह अपनी जमीयत के साथ राजधानी में रहना अनिवार्य था। प्रत्येक ठिकाने की अपनी हवेलियाँ थी। पूर्व में इसकी सैनिक एवं सुरक्षात्मक महत्ता थी। ब्रिटिश कम्पनी सरकार के साथ संधि हो जाने पर जागीरदारों की फौज का महत्त्व कम हो गया। जागीर से दूर रहने के कारण जागीर में अव्यवस्था होने लगी मराठों के प्रभावकाल में संबंधों में शिथिलता आ गयी इस कारण चाकरी की अवधि 15 दिन और जमीयत के बजाय निश्चित रकम बाँध दी गई।[18]

मेवाड़ में दशहरे का त्यौहार सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता था। मेवाड़ के सामन्तों को दशहरे के दस दिन पूर्व उदयपुर पहुँचना पड़ता था तथा दशहरे के बीस दिन बाद तक वही रहना पड़ता था। इस अवसर पर सामन्त अपनी जमीयत के साथ उदयपुर पहुँचते थे। जमीयत की संख्या उनकी जागीर के पट्टे में दर्ज रेख की रकम पर आधारित होती थी। जब सामन्त उदयपुर पहुँच जाते थे, तब स्वयं महाराणा सलूम्बर के साथ-साथ कोठारीया, सादड़ी व बेदला के सामन्तों से मिलने उनकी हवेलियों पर जाता था।[19]

दशहरे के पश्चात् जब सामन्त अपनी जागीर में जाना चाहते तो उसके लिए महाराणा से आज्ञा लेनी पड़ती थी। महाराणा इन सामन्तों को आज्ञा देते हुए सीख का बीड़ा प्रदान करता था। सलूम्बर रावत को दशहरे का सरोपाव व तीज का सरोपाव प्राप्त करने का अधिकार था।[20]

दशहरा दीपावली की बीड़ी – इन मुख्य त्यौहारों पर पान बीड़ी महाराणा की ओर से ठिकानेदारों की हवेलियों पर भेजी जाती थी। इसे ले जाने का कार्य महाराणा के नजदीकी पासवान आदि करते थे। ठिकानेदार के सम्मान के अनुसार ही ले जाने वाला जरूरी था। इस बीड़ी में 5 लोंग और अन्दर सूखे मेवे मिश्री रखते थे। ठिकानेदार वस्त्राभूषण से सज्जित होकर इसे स्वीकार करता था। प्रत्येक ठिकाने का नेग बंधा हुआ था, जो ले जाने वाले को दिया जाता था। 2 रूपये से 50 रू. तक के नेग के प्रमाण मिलते हैं। यह महाराणा के नजदीकी लोगों को तेवारी पुरस्कार दिलाना था।[21]

महाराणा किसी विशिष्ट अतिथि का स्वागत करते थे अथवा कोई विशिष्ट व्यक्ति महाराणा की अपनी हवेली में पधरावणी करता था उस समय सोने के वर्क से सुशोभित सूखे मेवे से पूर्ण बीड़े नजर किये जाते थे।[22] यदि महाराणा किसी रास्ते से गुजरते समय किसी उमराव की हवेली के पास से निकले और उमराव हवेली में हो तो महाराणा अपना चोबदार भेजकर उस उमराव को "जूहार" कहलाता था। तब वह उमराव भी अपना आदमी भेजकर महाराणा को जुहार कहलाता था।[23]

महाराणा द्वारा अपने भाई-बेटों यथा करजाली बागोर, शिवरती, धनेरिया आदि हवेलियों पर अपने खासा रसोड़े से खल्ले भेजने की परम्परा थी। कुछ ठिकानों के उमराव जब तक उदयपुर में रहते थे, उन्हें महाराणा के खासे रसोड़े से जीमण चांदी की थाली में हवेली भेजा जाता था। इस सम्बन्ध में सलूम्बर, बेदला, शाहपुरा के नाम मिलते हैं।[24]

जब तक उमराव राजधानी में रहते थे उनकी हवेलियों पर नियमित नगारखाना होता था। बनेड़ा एवं शाहपुरा की हवेलियों में अथवा डेरों पर घड़ियाल बजता था। महाराणा अपने भाई बेटों की हवेलियों पर दीवाली के दिन हीड़ सिंचवाने जाते थे।[25]

आखातीज पर सवारियों में सम्मिलित होने वाले ठिकानेदारों की अंगरखिया शुद्ध केसर में रंगकर केसरिया बनाकर पहनी जाती थी। बाद में केसर के छीटों का चलन शुरू हुआ। सवारी से पहले चाँदी के कटोरे मे घुटी हुई केसर हवेलियों पर भेजना चालू रहा।[26] ठिकाने के उमराव सरदार के देवलोक हो जाने पर महाराणा शोक निवारण की रस्म करते थे, इसे मातमपुरसी कहा जाता था। कुछ ठिकानों में महाराणा को स्वयं जाने की परम्परा थी। इसे लेकर कुछ विवाद भी पैदा हुए। सामान्यतया महाराणा संबंधित हवेली जाकर यह रस्मपुरी करते थे। महाराणा उत्तराधिकारी को एक मोरवणिया घोड़ा प्रदान कर उस पर सवार कराते एवं सिर पर ओढ़ा हुआ श्वेत वस्त्र हटाकर शोक मुक्त कर देते थे।[27]

ठिकाना बदनोर के ठाकुर गोवर्धन सिंह की मातमपुर्सी की रस्म अदा करने के लिये 1 सितम्बर 1922 को महाराणा फतेहसिंह जी उदयपुर स्थित बदनोर की हवेली पर पधारे थे। महाराणा सादी पोशाक में थे। सादे ढंग से ही उनकी अगवानी की गई। घुटने

में तकलीफ होने के कारण महाराणा ने बैठक में (ऊपर) नहीं पधारे। अत: आप नीचे ही मुख्य द्वार के दाहिने ओर बने तिबारे पर कुछ देर बिराजे। शोक संताप के बाद महाराणा बिदा हुए। मेवाड़ सरकार की ओर से नीला घोड़ा भेंट किया गया जिस पर बैठकर ठाकुर साहब दरबार के आगे-आगे चले। कुम्हारों के मन्दिर के पास दस्तुर के मुताबिक बिदा कर पान दिया गया। संध्या समय लगभग 7 बजे सादी पोशाक मे ठाकुर साहब शिव निवास पधारे। दरीखाने में बीड़ा आया और दरबार में पधारने के बाद नजर न्यौछावर की गई जिसमें 1 मुहर तथा 5 रूपये सरूपशाही भेंट किए गये। चाँदोड़ी 50 रूपया पुरोहितों के नेग का पुरोहित शंभूनाथ जी की हवेली भेजा गया।[28]

मेवाड़ में सामन्तों की हवेलियाँ अपराधियों के लिए शरण स्थल समझी जाती थी, अर्थात् सामन्तों को अपनी हवेली में अथवा गढ़ में शरण देने का अधिकार था। यह अधिकार सलूम्बर व कोठारिये ठिकाने को प्राप्त था।[29] महाराणा स्वरूप सिंह के समय मेहता शेरसिंह से जो तीन लाख रूपये दण्ड के लिये गये थे। वे रीजेन्सी कौंसिल के समय उसकी इच्छा के विरूद्ध उसके पुत्र सवाई सिंह ने राज्य के खजाने से पीछे ले लिए। इसके कुछ ही वर्ष बाद मेहता शेरसिंह के जिम्मे चित्तौड़ जिले के सरकारी रकम बाकी होने की शिकायत हुई। वह सरकारी रकम जमा नहीं करा सकता और जब ज्यादा तकाजा हुआ तब वह सलूम्बर रावत की हवेली में जा बैठा, जहाँ उसकी मृत्यु हुई। बाकी रकम की वसूली के लिए उसकी जागीर राज्य के उत्तराधिकार में ले ली गई।[30] महाराणा स्वरूप सिंह ने लसाणी के सरदार जसकरण चुण्डावत के छोटे पुत्र समर्थसिंह पर सरदारों का बहकाने का दोष लगाकर उसे नजर कैद कर लिया। यह देखकर उदयपर में जो सरदार उस समय उपस्थित थे वे सभी बिगड़ उठे और समर्थसिंह को छुड़ाकर भीण्डर की हवेली में पहुँचा दिया।[31]

महाराणा स्वरूप सिंह की उपपत्नी (पासवान) ऐजांबाई महाराणा के साथ सती हो गई, जिससे पोलिटिकल एजेन्ट मेवाड़ ने गोपालदास को यद्यपि उस काम में उसका कोई हाथ नहीं था, तो भी उसके लिए दोषी ठहराया, जिससे उसने भागकर कोठारिया की हवेली में शरण ली।[32] 1854 के कोलनामे के अनुसार उदयपुर नगर में सरदारों की जो हवेलियाँ हैं वे जब तक आबाद व अच्छी दशा में रहेगी तब तक पोलिटिकल एजेन्ट की अनुमति के बिना न तो जब्त की जाएगी और न दूसरों की दी जाएगी। पोलिटिकल एजेन्ट की अनुमति के बिना किसी हालक में ऐसा न किया जायेगा। उनके बागों की सिंचाई पिछोला तालाब से बिना महसूल होगी।[33] नि:सन्देह उदयपुर की हवेलियाँ स्थापत्य व चित्रकला की अनुपम धरोहर है। ये हवेलियाँ इतिहास के कई घटनाओं की साक्षी रही है। इसमें कई परम्पराओं का निर्वहन हुआ हे। वर्तमान में हवेली का मूल स्वरूप परिवर्तित किया जा रहा है। वर्तमान में इनका संरक्षण व इन्हे मूल रूप से सुरक्षित

रखना अत्यन्त आवश्यक है। नहीं तो हवेलियाँ केवल इतिहास की पुस्तकों का एक विषय बनकर रह जायेगी। हवेली संस्कृति को पुनर्जीवित कर संरक्षण करना होगा।

संदर्भ

1. *राजस्थानी हिन्दी शब्द कोष (संपादक बद्री प्रसाद साकरिया) खण्ड 3 पृ. 1557*
2. *श्यामलदास वीर विनोद राज यंत्रालय उदयपुर प्रथम संस्करण 1886, पृ. 1536*
3. *हवेली रो कमठाणा खाता रो चोपान्यो, कानोड़ संग्रह बस्ता नं. 1 चोपान्या नं. 5*
4. *वही, चोपान्या नं. 6*
5. *उदयपुर की हवेलियों का अध्ययन हेतु निरीक्षण*
6. *शर्मा धर्मपाल – मेवाड़ संस्कृति एवं परम्परा 1999, पृ. 117*
7. *श्री जगदीश चन्द्र आचार्य – आचार्यों की पोल साक्षात्कार*
8. *साक्षात्कार मेहता परिवार व राणी मंगा पोथी पर आधारित*
9. *शर्मा धर्मपाल – मेवाड़ संस्कृति एवं परम्परा 1999, पृ. 144*
10. *वही पृ. 146 11 वही प1. 147*
11. *गो.ही. ओझा उदयपुर राज्य का इतिहास भाग–2, राजस्थान ग्रंथागार जोधपुर 2015, पृ. 839*
12. *कोठारी तेजसिंह – कोठारी बलवन्त सिंह का जीवन चरित प्रथम संस्करण 1939 राज यंत्रालय उदयपुर पृ. 528*
13. *गो.ही. ओझा – उदयपुर राजय का इतिहास भाग–2, पृ. 830–831*
14. *वही, पृ. 829*
15. *वही, पृ. 814*
16. *वही, पृ. 817*
17. *उदयपुर, सरदार रा कब्जा परवानो रो नकला हाल हकीकत रो चोपनियो, बही संख्या 80, पृ. 82*
18. *बांकीदास री ख्यात, गन्थाक 21, बात 1118 सं. नरोत्तमदास स्वामी*
19. *उदयपुर सरदार रा कब्जा परवाना री नकलां का हाल हकीकत रो चोपनियो वही सं. 80, पृ. 83*
20. *एजेन्सी रिकार्ड फाइल नं. 8 (1858) पृ. 81*
21. *फतहसिंह हकीकत बहीड़ा भाग 1 पृ. 30*
22. *वही पृ. 31*
23. *उपरोक्त बही सं. 86*
24. *नाथूलाल व्यास संग्रह साहित्य संस्थान रजिस्टर संख्या 3 पृ. 25*
25. *मेहता संग्राम सिंह कलेक्शन हवाला नं. 706*

26. *एजेन्सी रेकार्ड फाईल नं. 8 1858 खण्ड 2, पृ. 70*
27. *महाराणा फतहसिंह हकीकत बहिड़ा भाग 4 राजस्थानी ग्रंथागार जोधपुर पृ. 458*
28. *उदयपुर सरदार रा कब्जा परवाना रो नकला, हाल हकीकत रो चोपनियो, बही संख्या 8, पृ. 82*
29. *ओझा गो ही उदयपुर राज्य का इतिहास भाग 2, पृ. 823*
30. *उपरोक्त पृ. 635*
31. *उपरोक्त पृ. 844*
32. *ब्रुक, हिस्ट्री ऑफ मेवाड़ सी.बी. लुईस बेपटिस्ट मिशन प्रेस कलकत्ता 1859, पृ. 68*
33. *उपरोक्त पृ. 70*

जैन गज़ल साहित्य में धार्मिक जीवन

निर्मला दैय्या

भारतीय वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में धर्म की सर्वदा सर्वाधिक महत्ता रही है। जैन धर्म के उत्कर्ष का श्रेय उन जैन साधुओं की परम्परा को है, जिसने जैन धर्म एवं समाज में सुधार के लिए विधि-चैत्य आन्दोलन का संचालन किया। जिसका शुभारम्भ जैन आचार्य हरिभद्रसूरि ने किया और उद्योतनसूरि तथा सिद्धर्षिसूरि जैसे आचार्यों ने जिसे व्यापक आधार प्रदान किया। हरिभद्रसूरि ने अपनी रचनाओं एवं उपदेशों द्वारा समस्त जैन चिंतन को प्रभावित किया। उनकी रचनाओं में 'अनेकान्तजय' तथा 'धर्मबिन्दु' विशेष उल्लेखनीय है। अभिलेखों द्वारा धर्म तथा धार्मिक विश्वासों एवं मान्यताओं का अनुमान लगाया जा सकता है।[1]

मध्यकालीन राजस्थान में अनेक जैन गच्छों एवं आचार्यों का उदय हुआ है। आचार्यों ने राजस्थान में जैन धर्मों को लोकप्रिय बनाने में विशेष योगदान दिया था। उन्होंने निरन्तर पदयात्रा कर अपने उपदेशों द्वारा जनसाधारण में जैन धर्म के प्रति नई चेतना जागृत की। जगह-जगह व्रत, उपवास तथा उत्सवों को आयोजन किया गया था। जैन साधुओं की राजस्थान को एक महत्वपूर्ण देन उनके द्वारा रचा गया विशाल साहित्य है। इन विद्वान जैन मुनियों ने ज्ञान की विभिन्न शाखाओं पर सहस्रों ग्रन्थ लिखे थे और उनका अपने धर्म स्थानों में संरक्षण किया था। भारतीय इतिहास दर्शन एवं साहित्य हमारी अमूल्य निधि है।[2] इसमें सबसे महत्वपूर्ण जैन मुनियों द्वारा रचित ग़ज़ल साहित्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इन जैन ग़ज़लों से धार्मिक जीवन पर प्रकाश पड़ता है। जैन ग़ज़लों में पौराणिक देवी-देवताओं, जैन तीर्थंकरों, लोक देवताओं एवं मुस्लिम सम्प्रदाय के पीरों का भी उल्लेख मिलता है तथा साथ ही उनकी पूजा, अर्चना एवं प्रमुख धार्मिक स्थलों की जानकारी प्राप्त होती है।

प्रमुख पौराणिक देवी-देवता

ग़ज़ल साहित्य में पौराणिक देवी-देवताओं का उल्लेख किया गया है। ग़ज़ल लिखने से पूर्व लेखक पहले सरस्वती देवी का वंदन करते हैं। उदाहरणार्थ गिरनार की ग़ज़ल में कवि कल्याण ने ग़ज़ल शुरू करने से पूर्व सरस्वती की वंदना इस प्रकार की है—'वरदे माता वागेश्वरी, गजल कहुं गुण खांण।'[3] इसी प्रकार बीकानेर की ग़ज़ल,[4] मारोठ की ग़ज़ल[5] में भी सरस्वती का उल्लेख है। नागौर की ग़ज़ल में कवि ने सरस्वती एवं गणेश की वंदना से ग़ज़ल की शुरूआत की है[6]—

सरसती समरूं सदा, प्रणामुं गणपति पाय।
कहुं गजल नांगाण की, भल कवियणमन भाय।।

इसी प्रकार बंगाल देश की ग़ज़ल में भी यति श्री निहाल ने सरस्वती एवं गवरी पुत्र गणेश की वंदना कर ग़ज़ल लिखना प्रारम्भ किया[7]—

श्री सतगुरु सारद प्रणामि, गवरी पुत्र मनाय।
गजल बंगाला देश की कहुं सरस बनाय।।

उदयपुर की ग़ज़ल में कवि खेतल ने इकलिंग जी, देवी दुर्गा, अम्बा माता, शिव, हनुमान, गणपति, हरसिद्धी देवी एवं सरस्वती का उल्लेख किया है।[8] इसी ग़ज़ल में कृष्ण का भी उल्लेख है।[9] गिरनार की ग़ज़ल में अम्बा माता, कालका माता का उल्लेख है।[10] इसी के साथ लक्ष्मण एवं हनुमान का भी उल्लेख इस ग़ज़ल में है।[11] चित्तौड़ की ग़ज़ल में कवि खेतल ने चतुर्भुज धारी अर्थात् विष्णु का उल्लेख किया है, यथा[12]—

चरण चतुर्भुज धारि चित ठीक करी चित ठौड़।

इसी ग़ज़ल में हनुमान एवं श्रीराम का भी उल्लेख है।[13] चामुण्डा माता एवं नीलकण्ठ अर्थात् शिव का भी उल्लेख है।[14] इसी ग़ज़ल में ब्रह्मा एवं विष्णु का भी उल्लेख है, यथा[15]-

रहते रुद्र इग्यारेक, जोगी पंथ जिहां बाराक।
चित इक सिद्ध चौरासीक, ब्रह्मा विष्णु मठवासीक।।

बीकानेर की ग़ज़ल लक्ष्मण, सीता, राम, लम्बी पूंछ वाले हनुमान, महादेव, उमा (पार्वती), चतुर्भुज, ब्रह्मा, विष्णु, गणपति आदि के चित्रों का उल्लेख है।[16] इससे तत्कालीन समय के देवी-देवताओं के विषय में जानकारी प्राप्त होती है। मारोठ की ग़ज़ल में कृष्ण का उल्लेख मिलता है।[17] इस प्रकार ग़ज़ल साहित्य से पौराणिक देवी-देवताओं के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी उपलब्ध होती है।

जैन देवालय

ग़ज़ल साहित्य में जैन देवालयों का भी उल्लेख है। बीकानेर की ग़ज़ल वि.सं. 1765 में यति उदयचंद ने लिखी। इस ग़ज़ल में आठ जैन प्रासादों का वर्णन है जो ऐसे लगते हैं मानो गगन से बातें कर रहे हों।[18] भांडेशाह का देवालय यहां स्थित है जिसके ऊपर सुन्दर कलश एवं ध्वजदण्ड है जो कि ब्रह्माण्ड के समान है।[19] यहां लक्ष्मीनाथ एवं नेमीनाथ के बड़े देवल है।[20] मारोठ की ग़ज़ल में भी पारसनाथ एवं नेमीनाथ के मंदिर का वर्णन है।[21] दोनों जगह सच्चे जैन साधु उपासक रहते हैं देखने से लगता है मानो कृष्ण ही द्वारिका हो। इस ग़ज़ल में दादाजी का देवरा का भी उल्लेख है।

नागौर की ग़ज़ल कवि मनरूप ने लिखी। इस ग़ज़ल में जैनों के सुन्दर भवनों का उल्लेख किया। नगर में आदिनाथ (ऋषभदेव) का देवालय बना हुआ है[22] जो कि बहुत ऊंचा है, ऐसा लगता है मानो आकाश से बातें करता है, इसके पास परकोटा बना हुआ है,

मानो बड़ा गढ़ हो। इसके दरवाजे बहुत सुन्दर है, इसके प्रत्येक दरवाजे के निर्माण की कीमत साठ रुपये हैं।[23] नागौर की ग़ज़ल में एक देवालय का उल्लेख है जिसकी पूजा सत्तर प्रकार से होती है।[24] देवरा स्थित मूर्ति को केसर, चंदन, बाजुबंध, कुंडल, हार आदि से श्रृंगारित किया जाता है। भक्तजन धूप, दीप, आरती एवं ध्यान द्वारा धर्म लाभ लेते हैं, गुणीजन गाने के साथ-साथ नाचते हैं लोग दर्शन के लिए भजन-संगीत के साथ प्रभु की अर्चना करते हैं। इसके अलावा यहां एक शांतिनाथ का दूसरा देवालय भी स्थित है।[25] यहां लोग हाथ जोड़कर अर्चना करते हैं। यहां एक हीरावाड़ी भवन भी है इसमें प्रतिदिन पूजा में नारियल चढ़ते हैं।[26] यहां नेमिनाथ का देवल भी है, इस देवल में भी लोग आकर वंदना करते हैं। यह तपागच्छ धर्म की शाखा का बड़ा धाम है।[27] यहां उपासरा (जैन यतियों का निवास स्थान) बड़ा ऊंचा बना हुआ है जिसकी तुलना कवि ने कैलाश पर्वत के छोटे बच्चे से की है।[28] देखने से ऐसा प्रतीत होता है मानो विमान हो। यहां आकर मानव मोक्ष पाते हैं, यहां माणिक वीर निस दिन धूप, दीप करते हैं। उदयपुर की ग़ज़ल में ऋषभदेव के देवल का उल्लेख है। इस ग़ज़ल में शीतलनाथ एवं दिगम्बर सम्प्रदाय के भैरू के देवालय का भी उल्लेख है जिनके हाथ में त्रिशूल एवं डमरू है।[29] गिरनार की ग़ज़ल में कवि कल्याण ने बड़े जैन देवालय का उल्लेख किया है।[30] यथा-

वडा जैन का देहराक, श्रावक वंदत साधराक।

नागौर की ग़ज़ल में आदिनाथ के देवालय का उल्लेख है।[31] नागौर की ग़ज़ल में शांतिनाथ एवं नेमीनाथ का उल्लेख है।[32] बंगाल देश की ग़ज़ल में कवि निहाल ने जिन प्रासाद का उल्लेख किया जो कि महिमापुर में है।[33] लाहौर की ग़ज़ल में यति जटमल नाहर ने बड़े एवं अद्‌भुत जैन प्रासाद का उल्लेख किया है।[35] मेड़ता की ग़ज़ल में आदिनाथ के देवालय का वर्णन है।[36] जिसके झरोखे बहुत सुन्दर हैं एवं एक चौक है जिसमें साधु-संत बैठते हैं। बारह मास श्रावक तप एवं उपासना करते हैं एवं शास्त्रों का अध्ययन करते हैं।

लोक देवता

ग़ज़ल साहित्य में लोक देवताओं का उल्लेख मिलता है। बीकानेर की ग़ज़ल में लोक देवता गोगाजी के चबूतरे का उल्लेख है इस पर भक्त तेल एवं सिंदूर चढ़ाते हैं।[37] मारोठ की ग़ज़ल में सात लोक माताओं के थान, खेतल (क्षेत्रपाल), गोगापीर लोक देवता के थान का उल्लेख है।[38] चित्तौड़ की ग़ज़ल में कवि खेतल ने रगतिया भैरू का थान, महाराणा कुंभा द्वारा बनवाये गये कुम्भश्याम मंदिर एवं मीरा बाई महल आदि का उल्लेख है। महाभारत कालीन पांडवों ने यहां चौसठ योगिनियों के देवल (थान) की स्थापना की।[39] जसधाम नामक देवालय का भी उल्लेख कवि ने अपनी ग़ज़ल में किया है। इस धाम पर 18 वर्णों के लोग आते हैं एवं भक्तिभाव के साथ पूजा करते हैं। यहां नौबत बजती है जिसकी आवाज चारों तरफ सुनाई देती है। उदयपुर की ग़ज़ल में शीतला

माता का उल्लेख मिलता है।[40]

जोधपुर की ग़ज़ल में चामुण्डा माता के मंदिर,[41] ज्वालामुखी देवी का मंदिर (जिसकी जोत प्रतिदिन जलती रहती है),[42] महामंदिर, मंडोर[43] आदि का वर्णन है। ग़ज़ल में घनश्याम (गंगश्याम) का मंदिर एवं कुंजबिहारी मंदिर का भी उल्लेख है।[44]

ग़ज़ल साहित्य में पौराणिक, जैन एवं लोक देवताओं के अतिरिक्त पीरों की मस्जिदों एवं अन्य धार्मिक स्थलों का भी वर्णन मिलता है। विशेष रूप से गोरमनाथ की ग़ज़ल इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है, यह ग़ज़ल गोरमनाथ के तीर्थ स्थल पर ही लिखी गई है। गोरमजी की ग़ज़ल कवि पेमल ने संवत् अठारह में ज्येष्ठ मास की सुदी चौथ को लिखी।[45] ग़ज़ल शुरू करने से पहले कवि ने गोरमनाथ की वंदना की है। उन्होंने इस ग़ज़ल में पर्वत का उल्लेख किया है।[46] इस पर्वत की प्रशंसा कवि ने की है। सिद्धों, साधुओं का यह स्थान है, इस पर्वत पर जोगी ध्यान लगाते हैं।[47] यहां अम्बा, इमली, सीसम, सालर आदि के बहुत से पेड़ हैं।[48] जिनकी छाया बहुत अधिक होने के कारण मन को प्रसन्नता मिलती है। यहां कंटीले पौधों के समूह मिलते हैं। बंदर डाल-ढाल पर कूदते-उछलते नजर आते हैं। यह गोरमनाथ की जगह है इस कारण सिंह और बकरी दोनों साथ-साथ रहते हैं।[49] अर्थात् किसी भी प्राणी में भय नहीं है सभी साथ-साथ मिलकर शांत भाव से रहते हैं। रीछ एवं चीते की गर्जना से मन में भय उत्पन्न होता है। चीतल, बाघ की मोटी धाक से सभी भयभीत होते हैं। तीतर, मोर, कोयल, चकवा की आवाजें सभी को बहुत प्यारी लगती है। यहां बहुत सी सब्जियां भी उत्पन्न होती हैं।[50] यहां भारी मेला भरता है। हर माह की चांदनी रात की चौदस को गोरमनाथ की जात जगती है।[51] अर्थात् वर-वधू का किसी तीर्थ या देवस्थान पर जाकर अभिवादन करना। फाल्गुन मास में जो मेला भरता है[52] उसमें सभी समूहों, जातियों के लोग इकट्ठे होते हैं। इस मेले में लाखों लोग आते हैं। कहा जाता है कि देवी देवता भी इस मेले में आते हैं। 64 योगिनियां हैं उनके बाल और 52 वीर विकराल (भयंकर) हैं जो कि यहां दिन-रात खेलते हैं।[53] जो गोरमनाथ को प्यारे लगते हैं। कवि कहते हैं कि पूरी दुनिया इनको पूजती है एवं स्त्रियां गीत गाती हैं, उनको नमन करती हैं। कवि कहते हैं कि सभी लोग बाबा गोरमनाथ की सेवा अर्चना करते हैं। जोगी लोग भांग घोटते हैं, तपस्वी लोग ध्यान मग्न रहते हैं। गोरमनाथ का मेला बहुत ही उल्लासपूर्वक भरता है इसमें तूरीया, झींगर, चंग आदि वाद्य यंत्र बजते हैं और बालक खेलते हैं। आदमी सिर पर पंचरंगी पगड़ी पहनते हैं एवं स्त्रियां भी बहुत मोहक लगती हैं। दोनों (स्त्री एवं पुरुष) ख्याल गाते हैं। आगे एक बाजार भी है जहां लोग व्यापार करते हैं।[54] कोने-कोने से लोग व्यापार करने के लिए यहां आते हैं। चूंकि यह मेला फाल्गुन मास में भरता है अत: इस मेले में लोग कई प्रकार से होली खेलते हैं। लोग 32 रागों में घूम-घूम कर फाग के गीत गाते हैं। कवि कहते हें कि रावत जाति के लोग भी गोरमनाथ के दर्शन करने आते हैं।[55] एवं अमल (अफीम) के प्याले

पीकर गीत गाते हैं।[56] राणा भी यहां दर्शन को आते हैं। अंत में कवि ने गोरमनाथ की वंदना के साथ ग़ज़ल की इतिश्री की है। नागौर की ग़ज़ल में कवि मनरूप ने एक रामनामी साधुओं के ठहरने के स्थान अर्थात् रामद्वारा का उल्लेख किया है।[57] इसी ग़ज़ल में ताउसर नामक बाड़ी बहुत बड़ा धाम है।[58] यहां लोग बैठकर रामनाम रटते हैं अर्थात् भगवान राम का स्मरण करते हैं।

गिरनार की ग़ज़ल में कवि कल्याण ने खुतका घाट का उल्लेख किया है जो कि बहुत प्रसिद्ध घाट है। साधु यहां मुक्ति के लिए साधना करते हैं। यहां वंदना करने से शारीरिक दुखों का भी विनाश होता है।[59] इसी ग़ज़ल में भवेसरनाथ का उल्लेख है। चित्तौड़ की ग़ज़ल में सहस्रलिंग, रगतिया भैरू, चौसठ योगिनियों का उल्लेख है।[60] ग़ज़ल में आबू देवरा का उल्लेख है जिसकी तुलना कवि ने तारागण से की है।[61]

ग़ज़ल साहित्य में हिन्दू एवं जैन धर्म के अतिरिक्त मुस्लिम सम्प्रदाय का भी उल्लेख किया है। आगरा की ग़ज़ल में भी एक मस्जिद का उल्लेख है।[62]

किल्ला मांहि है महजीत, जुम्मा नाम की शुभरीत।

इसी ग़ज़ल में एक अन्य बेगम की मस्जिद का भी उल्लेख है।[63]

ता विच खाख है महजीद, बेगम रानि की सुभरीत।

चित्तौड़ की ग़ज़ल में भी पीरों के थान का उल्लेख है।[64] नागौर की ग़ज़ल में एक मस्जिद का उल्लेख है जिसका नाम तारकीन है।[65]

मोटी पीर की म्हैजीत, भारी काम अद्‌भुत।
ताका नाम है तारकान, देखत दरस नर हुये लीन।

बंगाल देश की ग़ज़ल में हजरत कुतब के मक्कान का उल्लेख है, यह थान खपरेलों से छाया हुआ घर (पड़वा) है।[66] बीकानेर की ग़ज़ल में कवि उदयचंद ने बहुत सी पीर की दरगाहों का उल्लेख किया है[67]–

बहु है पीर की दरगाह, मांने लोक मनधर चाह।
इसमें धवलां पीर के थान का भी उल्लेख है।[68]

मारोठ की ग़ज़ल में यति दुर्गादास ने एक मस्जिद का वर्णन इस प्रकार किया है–

मोटी एक है महजीत, लागै मुसलमांनू चीत।[69]

जैन ग़ज़ल साहित्य में जो धार्मिक जीवन का परिचय मिलता है उससे लेखक या कवि के धार्मिक सहिष्णुता के दृष्टिकोण का पता चलता है। ग़ज़ल साहित्य में सभी धर्मों एवं वर्गों के लोगों के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। जैन यतियों की इन रचनाओं में जैन धर्म के अतिरिक्त सनातन धर्म एवं मुसलमानों की दरगाहों, मस्जिदों एवं उनके पीरों के बारे में जानकारी देना उनके धार्मिक सहिष्णुता के गुण को दर्शाता है जो कि भारत की प्राचीन काल से ही विशेषता रही है।

सन्दर्भ

1. *इ.आई., भाग 14, पृ. 295*
2. *आई.ए., भाग 14, पृ. 8*
3. *गिरनार की ग़ज़ल, यति कल्याण, संपादक विक्रमसिंह राठौड़, परम्परा, पृ. 27*
4. *बीकानेर की ग़ज़ल, यति उदयचुद, वही, पृ. 57*
5. *मारोठ की ग़ज़ल, यति दुर्गादास, वही, पृ. 69*
6. *नागौर की ग़ज़ल, कवि मनरूप, वही, पृ. 42*
7. *बंगाल देश का ग़ज़ल, यति निहाल, वही, पृ. 51*
8. *उदयपुर की ग़ज़ल, यति खेतल, वही, पृ. 22*
9. *वही, पृ. 25*
10. *गिरनार की ग़ज़ल, यति श्री कल्याण,, वही, पृ. 28*
11. *वही, पृ. 28*
12. *चित्तौड़ की ग़ज़ल, यति श्री खेतल, वही, पृ. 36*
13. *वही, पृ. 36*
14. *वही, पृ. 37*
15. *वही, पृ. 38*
16. *बीकानेर की ग़ज़ल, यति उदयचंद, वही, पृ. 58-59*
17. *मारोठ की ग़ज़ल, यति श्री दुर्गादास, वही, पृ. 70*
18. *आठों जैन के प्रासाद, करते गगन सेती वाद।*
    वही, पृ. 59
19. *भांडेशाह का देहराक, देव विमान जेसा खडाक।*
    ऊंचा देखता असमान, हिमगिरी किंधु मेरु समान।
    सुन्दर कलस अरु धजदण्ड, ऊंचा जांण कै ब्रह्मदण्ड। वही, पृ. 60
20. *देवल हेम गिरंद, नमियै नेमिनाथ जिणंद। वही*
21. *अद्‌भुत देव पारसनाथ, सो तो सबन का है नाथ।*
    दूजा नेमिका प्रसाद, पूज्यां टलत है विषवाद। वही, पृ. 70
22. *आदिनाथ का देहराक, मांनूं सैहर का सेहराक। वही, पृ. 44*
23. *कहोया कोरणी कपाट, इक इक लाग रुपीया साठ। वही*
24. *पूजा होत सतर प्रकार, बाजूबंध कुंडल हार। वही, पृ. 45*
25. *सही इ देहरा सांतिनाथ, हितकर जगत जोड़त हाथ। वही*
26. *हीरावाड़ी भुवन ज्युं हेर, नित्य नित्य पूज चड नाळेर। वही*
27. *तपगच्छ तेजवंत हितांम, ध्रम कर ताहि को बाडधांम। वही*
28. *उपासरी वण्या है उंचाक, कहुं केलास का बच्याक। वही*
29. *उदयपुर की ग़ज़ल, यति खेतल, संपादक विक्रमसिंह राठौड़, परम्परा, पृ. 25*
30. *गिरनार की ग़ज़ल, यति श्री कल्याण, वही, पृ. 29*

31. नागौर की ग़ज़ल, यति मनरूप, वही, पृ. 44
32. वही, पृ. 45
33. बंगाल देश की ग़ज़ल, यति निहाल, वही, पृ. 53
34. बीकानेर की ग़ज़ल, यति उदयचंद, वही, पृ. 62
35. लाहौर की ग़ज़ल, यति श्री जटमल नाहर, वही, पृ. 77
36. सामो देहरो छानैक, तिनमै आदि जिन छांजैक।
मेड़ता की ग़ज़ल, अनुसंधान 64, विज्ञप्ति पत्र विशेषांक, खण्ड-4, अहमदाबाद, 2014, पृ. 143
37. थांनाक बहुत गोगा पीर, महिमा खूब खेतल वीर।
वचरचे तेलने सींदूर, बांटे सीख्यां भरपूर।
बीकानेर की ग़ज़ल, वही, पृ. 60
38. थिर है मावडयां का थांन, खेतल वीर गोगा मांन।
मारोठ की ग़ज़ल, वही, पृ. 72
39. चोसठ जोगणी चंडीक, पांडव थापना मंडीक।
चित्तौड़ की ग़ज़ल, कवि खेतल, वही, पृ. 41
40. उदयपुर की ग़ज़ल, कवि खेतल, वही, पृ. 22
41. चामुंडा वडी है महकाय, देवी बेचरा है साय।
जोधपुर की ग़ज़ल, अनुसंधान 64, विज्ञप्ति पत्र विशेषांक खण्ड-4, सूरत, 2014, पृ. 223
42. ज्वालामुखी देवी जोत, अहोनिस रहत हे उद्योत। वही, पृ. 225
43. विजयशीलचन्द्र सूरि, अनुसंधान 65, विज्ञप्ति पत्र विशेषांक, खण्ड-4, सूरत, 2014, पृ. 226
44. वही, पृ. 224
45. गोरमजी की ग़ज़ल, लेखक कवि पेमल, परम्परा, पृ. 35
संवत् 18 जीणु क, नीसायत वखाण क।
महीना जेठ सुद चोथीक, गजल कहहि परीक।।
46. वाता करत हुं सारीक, परबत पार है भारीक। वही, पृ. 32
47. सीधां साधां का जगा, जोगी ध्यावतै नगा। वही, पृ. 32
48. आंबा आंबली अनेक, सीसम सालरा देख। वही
49. आ तो नाथ की खेळीक, सीह बकरी भेळीक। वही
50. वही, पृ. 32
51. चवदस चांदणी की रात, गोरमनाथ की है जात। वही, पृ. 32
52. फागुण मास का मेलाक, भल यह होत है भेलाक। वही, पृ. 33
53. चोसठ जोगणी है बाळ, बावन वीर है वीकराळ। वही
54. आगु देखीयो बाजार, वड सा करत है व्यापार। वही, पृ. 34
55. रावत थाट मीलण आयेक, दरसण नथ रे पायेक। वही
56. घण थट साथ सहु लीधाक, प्याला अमल मद पीधाक। वही
57. द्वारा रामनामी देख, साधुभाव भक्ति विशेष।
नागौर की ग़ज़ल, वही, पृ. 48
58. वाडी ताउसर वड धांम, ऊंचा ही बेई रटीयै रांम।
वही, पृ. 50
59. गिरनार की ग़ज़ल, कवि कल्याण, सम्पादक विक्रमसिंह राठौड़, परम्परा, पृ. 27
60. चित्तौड़ की ग़ज़ल, कवि खेतल, पृ. 41
61. वही, पृ. 40
62. आगरा की ग़ज़ल, यति लक्ष्मीचंद, वही, पृ. 13
63. वही, पृ. 14
64. चित्तौड़ की ग़ज़ल, कवि खेतल, वही, पृ. 37
65. नागौर की ग़ज़ल, कवि मनरूप, वही, पृ. 49
66. बंगाल देश की ग़ज़ल, कवि निहाल, वही, पृ. 51
67. बीकानेर की ग़ज़ल, कवि उदयचंद, वही, पृ. 60
68. वही, पृ. 67
69. मारोठ की ग़ज़ल, कवि यति दुर्गादास, वही, पृ. 70

राजस्थान की संत परम्परा में पीपा और उनकी प्रासंगिकता

डॉ. (श्रीमती) सज्जन पोसवाल

आध्यात्मिक कह जाने वाने वाले हमारे देश में सन्तों की बड़ी महिमा और आदर रहा है। इन संतों ने अपने सरल एवं सात्विक जीवन में अहिंसा और अपरिग्रह को बराबर महत्व दिया।[1] लेकिन मध्यकालीन उत्तर भारत के भक्ति आन्दोलन में रामानन्द का महत्व इस बहुप्रचलित उक्ति से स्पष्ट है–'भक्ति द्रविड़ ऊपजी, लाये रामानन्द।' रामानन्द के बारह प्रमुख शिष्य थे। नाभादास ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ भक्तमाल में इन शिष्यों की परिगणना इस प्रकार की है–

अनन्तानन्द, कबीर, सुखा, सुरसुरा, पद्मावति, नरहरि।
पीपा, भावानन्द, रैदास, धन्ना, सेन, सुरसुर की घरहरि।।[2]

इस प्रकार संत सेन नाई, कबीर, रैदास तथा धन्ना आदि के साथ पीपा की गणना रामानन्द के प्रमुख शिष्यों में की जाती है। ये राजपूताना के गागरोन गढ़ (वर्तमान झालावाड़ जिले में स्थित) के शासक खीची राजपूत थे। लेकिन इनके जन्म एवं शासन काल के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। ब्रिटिश प्रशासक एवं सिक्ख धर्म अंगीकार करने वाले मेकालिफ ने अपने विस्तृत अध्ययन में[3] पीपा का जन्म 1425 ई. में माना है जिसे फर्कुहर[4] ने भी स्वीकार किया है लेकिन रामानन्दी परम्परा पर विचार करते समय एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल के सदस्य भोलानाथ चंदर ने कनिंघम की गणना के आधार पर पीपा का शासनकाल 1360 ई. से 1385 ई. के मध्य माना है।[5] इस प्रकार पीपा के जन्म एवं जीवनकाल की निश्चित तिथि के बारे में विद्वानों में एकमत न होने पर भी हमें उनके जीवन वृत्तान्त एवं जीवन दर्शन की जानकारी मिलती है जिसका आधार नाभाकृत भक्तमाल एवं उपलब्ध परचई साहित्य है।

कतिपय वैष्णव भक्त अतिथियों की प्रेरणा से ही पीपा रामानन्द के शिष्य बनने के लए बनारस गये जहाँ रामानन्द ने इन्हें माया का त्याग करने को कहा और परीक्षा लेकर इन्हें अपना शिष्य बना लिया।[6] प्रसिद्ध है कि गागरोन लौट आने के बाद पीपा ने अपना सारा ठाटबाट बदल डाला और साधु सेवा एवं भक्ति में लीन रहने लगे। पीपा के निवेदन करने पर एक वर्ष बाद रामानन्द, कबीर, रैदास आदि अनेक संतों के साथ गागरोन आये थे। यहाँ से रामानन्द जब द्वारिका के लिए रवाना हुए और इसी समय पीपा भी राज्य का परित्याग कर अपनी 12 रानियों में से सबसे छोटी रानी सीता को लेकर द्वारिका चले गये। द्वारिकाधाम में काफी लम्बे समय तक भक्ति साधना में लीन होकर, साधु संतों की संगति में रहकर इन्होंने आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्त करने की कोशिश की।[7]

भक्तमाल में पीपा के सम्बन्ध में अनेक चमत्कारपूर्ण किस्सों का विवरण दिया गया है और प्रियदास ने उसका सटीक वर्णन किया है जैसे–

गूजरी को धन दियौ, पियौ दही संतनि नै
ब्राह्मण को भक्त कियौ, देवी दी निकारिकै।
तेलि को जिवायौ, भैसि चोरनि फेरि लायौ।
गाड़ी भरि आयौ तन पाँच ठौर जारिकै।।

सिंह जैसे पशु को प्रभावित करना, गूजरी का दही सन्तों को पिलाकर स्वर्ण मुद्रायें देना, देवी भक्त ब्राह्मण शिष्य बनाना, तेली को मार कर जीवित करना, कृष्ण के दर्शन के लिए समुद्र में कूदने के नौ दिन बाद निकलना आदि। इन कथानकों में कितना सत्यता का अंश है, यह कहना तो कठिन है पर इनके अध्ययन से हम इस नतीजे पर पहुँचते है कि ये एक उच्च कोटि के संत थे।[8] पीपा के सम्बन्ध में प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, भारतीय विद्यामन्दिर शोध प्रतिष्ठान, बीकानेर एवं नरायणा के हस्तलिखित संग्रहालय जैसै ग्रन्थ भण्डारों में विपुल साहित्य उपलब्ध है, जिनमें पीपा की कथा पीपा परची, पीपा की वाणी, साखियाँ पद आदि प्रमुख है। 17वीं शताब्दी में लिखित एक ग्रन्थ में पीपा द्वारा रचित चेतावनी नामक ग्रन्थ भी प्राप्त हुआ है।[9] इस प्रकाशित एवं अप्रकाशित साहित्य से पीपा की विचारधारा को समझा जा सकता है जो भक्तिकालीन संत साहित्य का प्रतिनिधित्व करता है। दरअसल, रामानन्द के शिष्यों में कबीर, सेन नाई, रैदास, धन्ना के साथ पीपा का नाम भी प्रमुखता से शामिल किया गया है। इनमें से किसी पर भी साम्प्रदायिकता की छाप लगी हुई नहीं दिखाई देती और ना ही उदारता की कमी दिखाई देती है। इन सबकी विचारधारा लगभग एक समान प्रवाहित हुई थी। सभी प्राय: एक रंग में रंगे, उन्मुक्त तथा स्वच्छन्द आध्यात्मिक व्यक्ति जान पड़ते हैं।[10] इनकी उपलब्ध रचनाओं के आधार पर इनके जीवन और चिन्तन के उन पक्षों पर विचार करना आव यक है जो आज भी उतने ही प्रासंगिक है जितने कि सदियों पहले थे।

कबीर की भाँति पीपा ने भी आडम्बर और दिखावे पर बार बार प्रहार किया। वस्तुत: नागरिक समाज के निर्माण के लिए कथनी और करनी में एकरूपता एक अपरिहार्य तत्व है। भक्ति संतों का व्यक्तित्व इस एकरूपता से लवरेज था। वे सामान्य गृहस्थ व्यक्ति से भी इसी प्रकार के सरल और एकरूप जीवन की अपेक्षा करते थे। आज के भौतिकवादी और बाहरी चमक दमक के युग में आडम्बर पर प्रहार करने वाला पीपा का उपदेश सर्वाधिक प्रासंगिक लगता है–

पीपा जिनके मन कपट, तन पर उजरौ भैस।
तिन को मुख कारौ करो, संत जनां का लेख।।

उठ भाग्यो वाराणसी, न्हायो गंग हजार।
पीपा वे जन उतमा, जिन राम कह्यो इक बार।।

भव्य सिंहासनों पर बैठ कर धर्म का उपदेश देने के व्यवसाय में डूबे आधुनिक धर्म गुरुओं को यह दोहा उचित अस्वीकार करता है–

पग धोऊँ उण देव का जो धाले गुरूधार।
पीपा तिनकुँ ना गिणुँ, जिनके मठ और ठाठ।।
भेस धर्‌यों सो हरि मिलै तो धर ले सब कोय।
पीपा परचा ना मिले, जो मन साँच न होय।

आज बाहर की जिस चकाचौंध से व्यक्ति के अन्दर जो खालीपन और खोखलेपन का अंधकार फैल रहा है उससे बाहर आने के लिए बाहर के दिखावे के बजाय उसे अपने अन्दर देखने की जरूरत है–

उन उजियारो दीप को सब जग फैली जोत।
पीपा अन्तर नैन सो मन उजियारो होत।।
इण घट अन्दर बाग बगीचा, इनमें सिरजन हारा रे।
इण घट अन्दर सात समन्दर, इण में नवलख तारा रे।।
इण घर अन्दर अणहद गूँजे दूण में सब संसारा रे।
पीपा के तो घणो भरोसो इण मज साँई म्हारा रे।।

पीपा का मानना था कि मानव जीवन की सार्थकता के लिए अन्दर देखना तो आवश्यक है लेकिन यह इतना आसान भी नहीं है, क्योंकि इसके लिए अहंकार को त्यागना आवश्यक है जिस राजसी परिवेश से वे आये थे उसमें ऐसा करना और भी कठिन था–

(i) *पीपा दास कहाबो कठिन है, मन नहीं छांड़े मानि।*
सतगुरू सों परचो नहीं, कलियुग लागौ कानि।।
(ii) *स्वामी होनो सहज है, दुर्लभ होणो दास।*
पीपा हरि के नाम बिन, कटै न जम की पाँस।।
(iii) *जाकै बाई आनि तेज पवन चलते दल भारी।*
लंकापति हारि गयो, रावण सो अहंकारी।।

लेकिन उन्होंने राजसी वैभव की निरर्थकता को भलिभाँति समझ लिया था, तभी तो गौतम बुद्ध की तरह उन्होंने उसे ठुकरा दिया और उसकी न वरता को रेखांकित करते हुए कहा–

(i) *राजपाट अबला बहुतेरी, होत घोड़ा हाथी।*
परम हंस जब किया पयाना, बिरचि रहे सब साथी।।
(ii) *लखा खोहणि खीजिगए, कैरों पांडौ लड़ते।*
बसुधा कीनि न जीती पीपा, दोड गरब करते।।

सांसारिक एवं मानवीय दुर्बलताओं और अवगुणों को उजागर करने के लिए साथ ही संत ने इस पर बल दिया कि सत्संग से ही व्यक्ति इनसे निजात पा सकता है–

पीपा पारस पर सताँ, लोहा कंचन होई।
सिध के कांठे बैंसताँ, साधिक भी सिध होई।।

इस प्रकार सच्ची खोज के लिए व्यक्ति का गुणज्ञ या प्रकांड पण्डित होना तो जरूरी नहीं लेकिन अनुभवी, सद्गुरु एवं पथप्रदर्शक का होना आवश्यक बताया जो व्यक्ति को सही मार्गदर्शन दे सके। भक्त संतों ने जीवन के अंतिम एवं गहन सत्य की खोज के लिए जिस सद्गुरु की आवश्यकता पर जोर दिया था, आज के भौतिकवादी युग में दैनंदिन जीवन की चुनौतियों और आम जीवन की समस्याओं के तुरन्त समाधान के लिए लोग गुरुओं की ओर आकर्षित हो रहे है। परिणाम स्वरूप सामान्य सी पृष्ठभूमि से आकर प्रवचक गुरु बनने वाला व्यक्ति शीघ्र ही भव्य आश्रम, भारी अनुयायी और धनवान होकर[11] सन्त परम्परा के विपरीत, सर्वाधिक शक्तिशाली, ऐश्वर्य एवं सत्ता भोगी धर्म व्यवसायी होकर उभरा है अतः सन्त परम्परा के गुरु की खोज आज की सबसे बड़ी जरूरत और चुनौती है।

भक्त संतों में पीपा का स्थान इस पक्ष को लेकर अनोखा है कि उनके सन्त जीवन में पत्नी सीता हमेशा साथ रही जिसे 'सीता सहचरी' कहा गया।[12] आमतौर पर भक्तिकालीन सन्तों ने स्त्री को मुक्ति के मार्ग में बाधक माना, लेकिन पीपा ने संन्यासी जीवन पत्नी के साथ यापन किया और नारी नहीं, अपितु परनारी को सर्वनाश का हेतु बताया–

(i) *पीपा परनारी परतखि छुरी, बिरला बँचे कोई।*
नाँ पेटि संचारिए, सो सेना की होई।।
(ii) *परनारी परतख छुरी, पीयो लीजै न आंगि।*
रावण सरिखा बाहि गया, परनारी के संगि।

इस प्रकार आध्यात्म एवं मुक्ति, संतों का परम लक्ष्य था लेकिन इसके साथ ही उन्होंने लोक जीवन का मार्गदर्शन कर भ्रम और अज्ञान को दूर करने की सार्थक पहल की, जिसमें रामानन्दी परम्परा एवं राजस्थान के इतिहास में पीपा का अग्रणी स्थान है। दादू, जसनाथ, जाम्भोजी, धन्ना आदि सन्तों के समान ही संत पीपा ने प्रचलित व्यैक्तिक अवगुणों एवं सामाजिक बुराइयों के प्रति संवेदनशील दृष्टिकोण अपनाया। उन्होंने आत्मोद्धार के साथ-साथ अपने जीवन और कृतित्व के द्वारा धर्मनिष्ठा, क्षमा, शील, दया और सहिष्णुता का संदेश दिया जो आज भी उतना ही प्रासंगिक है।

यहाँ पीपा के जीवन से जुड़े प्रमुख स्थानों का संक्षिप्त परिचय देना प्रासंगिक होगा–

1. सर्वप्रथम गागरोन का किला जहाँ उनका जन्म हुआ और जहाँ के वे शासक हुए।
2. गागरोन गढ़ के सामने, आहू और कालीसिंध नदी के संगम पर स्थित पीपाधाम

जहाँ उनकी साधना गुफा एवं समाधिस्थल है। यही रामानन्द चरणपादुका स्थल है।

3. वाराणसी में स्थित पीपाकूप जिसमें अपने गुरु रामानन्द के कहने पर कूदने के लिए पीपा दौड़ पड़े थे।

4. टोंक जिले में स्थित टोडारायसिंह जहाँ उनकी ससुराल थी और जहाँ के राजा ने उनका शिष्यत्व ग्रहण किया था। यहाँ उनकी पत्नी सीता सहचरी की छतरी भी स्थित है।

5. श्री कृष्ण के दर्शन के लिए द्वारिका में समुद्र में कूदने के बाद वापसी में राज दम्पत्ति के शरीर पर प्रामाणार्थ लगाई गई छाप की परम्परा में, द्वारकापुरी में स्थित पीपामठ में आज भी उनकी स्मृति में यात्रियों पर छाप लगाई जाती है।

6. कोटा जिले में रामगंजमण्डी के पास स्थित पीपाखेड़ी गाँव तथा जोधपुर जिले में स्थित पीपाड़ कस्बा संत पीपा के प्रभाव के परिचायक हैं।

उल्लेखनीय है कि अन्य संतो की तरह पीपा ने भी अपना कोई पंथ नहीं चलाया। उनके जीवन काल में उनके अनुयायी तो बहुत हुए लेकिन पीपापंथ बाद में अस्तित्व में आया। पीपा द्वारा श्रम की प्रतिष्ठा में सुई-धागे (सिलाई) का स्वयं प्रयोग करने के कारण उनके अनुयायी 'पीपावंशी राजपूत दर्जी' कहलाये जो आज भी मारवाड़ क्षेत्र में बड़ी संख्या में है, हालांकि भक्तमाल में इसका कहीं उल्लेख नहीं है। लेकिन क्षत्रिय दर्जियों की पंडा बहियों एवं जोधपुर शासक सूरसिंह द्वारा धरमदास सोलंकी दर्जी को सम्वत् 1616 (सन् 1604) में दिये गये ताम्रपत्र[14] के आधार पर पीपा के प्रभाव के आकलन के साथ-साथ उनके काल निर्धारण में मदद मिल सकती है।

संत समाज में पीपा के स्थान का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि उत्तर भारत में भक्ति आन्दोलन के सबसे महत्वपूर्ण संत रामानन्द के प्रमुख शिष्यों में उन्हें गिना जाता है। फर्कुहर ने भी धन्ना और पीपा की पदों को इस परम्परा में उल्लेखनीय बताया है।[15] पीपा ने राजस्थान के विभिन्न क्षेत्रों के अलावा बनारस से लेकर द्वारिका तक भ्रमण किया था। भक्त नरसिंह मेहता को पीपा का अवतार माना गया।[16] इससे गुजरात के वैष्णव आन्दोलन पर पीपा के प्रभाव को आँका जा सकता है। सिख धर्म पर पीपा का प्रभाव उल्लेखनीय है। सिक्खों के पहले गुरु नानक ने जब प्रमुख धर्मस्थानों का भ्रमण किया। (1459-1539) तो वे संत हरि के साथ गागरोन गढ़ में पीपा की गुफा पर गये थे।[17] सिख गुरु अर्जुनदेव के गुरुग्रन्थ साहिब में संकलित पीपा के पद (धनसारी)[18] उनकी विचारधारा की सर्वग्रहयता एवं सर्वकालीनता को प्रतिपादित करते हैं-

कायड देवा काइअउ देवल, कादूअउजंगम जाति।
काइअऊ धूप दीप नइदेव काइअउ पूजउ पाती।।1।।
काइआ बहुशंड शोजते नव निधि पाई।

ना कुछ आइबो न कुछु जाइबो राम की दुहाई।
जो ब्रह्मांडे सोई पिंड, जो शोजे सो पावै।
पीपा प्रणवे परमततु है, सतगुरू होई लशावे।।2।।[19]

इस प्रकार सन्त पीपा के संगठित प्रयास राजस्थान और पश्चिमी क्षेत्र को भारत के भक्ति मानचित्र पर लाये और एक ऐसे धर्म का आव्हान किया जो आरम्भ से लेकर गाँधी, विनोबा तक मानवीय प्रेम की पैरवी करता है और इसीलिए उसकी प्रासंगिकता सर्वकालिक एवं सर्वदेशीय है।

सन्दर्भ

1. *आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, उत्तरी भारत की संत-परम्परा, भारती भण्डार, इलाहाबाद, सम्वत् 2021 (1974), पृ. 8-9*
2. *नाभादास, श्री भक्तमाल, श्री प्रियदास प्रणीत, तेज कुमार बुक डिपो, लखनऊ, 2005 नवाँ संस्करण, पृ. 282*
3. *एम.ए. मेकालिफ द सिक्ख रिलिजन, खण्ड 6, ऑक्सफोर्ड, 1909, पृ. 111*
4. *जे.एन. फर्कुहर, एन आउट लाइन ऑफ द रीलिजियस लिटरेचर ऑफ इंडिया, ऑक्सफोर्ड 1920, पृ. 323*
5. *भोलानाथ चन्दर, ट्रेवल्स ऑफ अ हिन्दू, खण्ड 1, एन. ट्रवनर एंड कम्पनी, लन्दन, 1869, पृ. 57*
6. *पीपा की परची, (ह.ग्र.) क्रमांक 37025, 1826 ई. प्रा.वि. प्र. जोधपुर*
7. *नाभाकृत भक्तमाल, पूर्वोक्त, पृ. 495-499*
8. *प्रो. पेमाराम, राजस्थान में भक्ति आन्दोलन, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2014, पृ. 90*
9. *उपर्युक्त, पृ. 90-91*
10. *आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, पूर्वोक्त, पृ. 218*
11. *राजेन्द्रदास महायोगी वैष्णव संत श्री पीपा जी, श्री धाम मथुरा, सन् 2000, पृ. 156-180*
12. *नाभाकृत भक्तमाल, पृ. 497*
13. *ए.एच. निजामी, आर.एस. खींची, सर्वे ऑफ खीची चौहान हिस्ट्री खींची चौहान शोध संस्थान, इंडोका (जोधपुर), 1990, पृ. 107*
14. *उपर्युक्त, 108*
15. *जे.एन. फर्कुहर, पूर्वोक्त, 328*
16. *ए.एच. निजामी, आर.एस. खीची, पूर्वोक्त, 101*
17. *विकास नौटियाल, पीपा जी एंड सिक्ख रिलिजन, अ हिस्टोरिकल पर्सपेक्टिव, राजस्थान हिस्ट्री कांग्रेस प्रोसीडिंग, खण्ड 24, दिसम्बर 2008, पृ. 22*
18. *एम.ए. मेकालिफ, पूर्वोक्त, 119*
19. *परशुराम चतुर्वेदी, संत काव्य, किताब महल, इलाहाबाद, 2008, पृ. 111*

मारवाड़ के लोक देवताओं का उपाश्रयी चिन्तन

डॉ. संदीप प्रजापत

मारवाड़ के लोक देवताओं ने उपाश्रय चिन्तन को चरितार्थ किया। जिसका तात्पर्य है-''अधिकार विहीन वर्ग से जुड़ाव या लगाव रखना।'' बाबा रामदेवजी पहले व्यक्ति थे जिन्होंने अछूतों का उद्धार और कल्याण किया। इसी तरह पाबूजी भी अछूतोद्धारक बने थे जिन्होंने थोरियाँ जाति के सात भाइयों को आश्रय दिया। गोगाजी, हरभूजी और मेहाजी ने भी निम्न जातियों की अध्यात्मिक उन्नति पर ध्यान दिया अर्थात् मारवाड़ के पंच पीरों ने जन योद्धा के रूप में स्थानीय जनता और उनके अधिकारों की सुरक्षा के साथ ही समाज में उनके स्तर को ऊँचा उठाया। वैसे तो सभी ने इसमें अपना योगदान दिया परन्तु बाबा रामदेवजी इसमें सबसे व्यापक और अग्रणी रहे। यहाँ एक रोचक तथ्य हमारे सामने यह आता है कि रामदेवजी और पाबूजी की पूजा-अर्चना इनकी अपनी जाति के अनुयायियों की अपेक्षा इन तथाकथित पिछडी जातियों द्वारा अधिक श्रद्धा एवं उत्साह से की जाती रही है।

रामदेवजी - मध्यकालीन समाज में छुआछूत और ऊँच-नीच की भावना अपने चरम पर पहुँच चुकी थी। दुर्व्यवहार, अत्याचार और बहिष्कार जैसी घटनाएं भी होती रहती थी। इसी समय बाबा रामदेवजी का अवतरण हुआ, जिन्होंने स्वयं को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करते हुए एक नवीन समाज को परिभाषा प्रदान की। रामदेवजी के अपनी पत्नी और स्वजनों के विरोध करने पर भी वे इस कार्य में अटल और अडिग रहे। रामदेवजी ने अछूत वर्ग के उत्थान हेतु अपना पर्चा दिखाया जब बाबा रामदेवजी के विवाह के शुभ अवसर पर उनकी बहन सुगणा बाई के ससुराल पक्ष ने संदेश वाहक रतना राईका को कैद कर लिया और सुगणा बाई को विवाह में भेजने से इसलिए इंकार कर दिया क्योंकि सुगणा बाई के ससुराल वाले रामदेवजी का अछूत वर्ग के सामने बैठना और सत्संग करना उन्हें पंसद नहीं था। डॉ. पेमाराम के अनुसार ''बाबा रामदेवजी ने कभी जाति-व्यवस्था को कभी स्वीकार नहीं किया। वे वर्ण व्यवस्था को अस्वीकार करते हुए कहते हैं कि इस संसार में ऊँच-नीच जैसी कोई चीज या वस्तु नहीं है तथा हर प्राणी में एक ही ईश्वर का वास है। इन्होंने हरिजनों को गले के हार के हीरे, मोती और मूंगे बतलाया है।''[1]

राजस्थान में अधिकांश घरों में रामदेवजी की पूजा होती है जिसमें खेतीहर और निम्न जातियों के लोग अपने घरों में एक खुली ताक में संगमरमर या जैसलमेर के पीले पत्थर के बने रामदेवजी के चरण (पगलिये) स्थापित करते हैं। इनकी चांदी व सोने के पत्र पर मूर्ति खुदवाकर जिसे फूल कहते हैं, श्रद्धालु गले में पहनते हैं।[2] डॉ. सोनाराम बिश्नोई लिखते हैं कि बाबा रामदेवजी सच्चे समाज सुधारक थे। उन्होंने भेदभावों से ऊपर उठकर मानवमात्र का कल्याण किया और यही कारण है कि उन्हें हर जाति के लोग श्रद्धापूर्वक पूजते हैं।[3]

अछूत कन्या डालीबाई और बाबा रामदेवजी की समाधि का साथ-साथ होना इस तथ्य की पुष्टि करता है कि वे निम्न जातियों का सम्मान करते थे। डालीबाई उनकी शिष्या और बहन समान थी तथा वे उनके साथ सत्संग किया करते थे। बाबा रामदेवजी ने पिछड़े वर्ग, अनाथों और गरीबों को सहारा दिया वे रात्रि जागरणों (जुम्मा) में मेघवालों, हरिजनों व कामडियों के साथ बैठकर हरि-कीर्तन किया करते थे। धार्मिक स्थलों पर उनके द्वारा पूजा-अर्चना करने को पूर्ण समर्थन देते थे। डॉ. बिश्नोई ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि ''बाबा रामदेवजी ने डालीबाई नामक अछूत अनाथ कन्या का पालन-पोषण किया। भक्त शिरोमणि डालीबाई ने बाबा रामदेवजी को अपना गुरु माना और उनकी समाधि से एक दिन पूर्व वि.सं. 1442 की भाद्रपद शुक्ला दशमी को जीवित समाधि ली। उसके दूसरे ही दिन एकादशी को उसके निकट ही बाबा रामदेवजी ने भी समाधि ली। डालीबाई के अतिरिक्त भी दलित वर्ग के अनेक ऐसे लोग है जो बाबा रामदेवजी के श्रद्धालु भक्त हुए जिनमें मानोजी मेघवाल और धारूजी मेघवाल भी है। आज भी मेहवा नामक गांव और जैन तीर्थ नाकोड़ा के बीच 'धारू मेघ के झोंपड़े' के नाम से स्थान लोक-आस्था का आधार है। बाबा रामदेवजी ने आम जन विशेषत: दलित और अछूत वर्ग के लोगों के साथ बैठकर 'तामल तार तन्दूरा' बजाया एवं अपनी बांणियां गाई, ज्ञान की गंगा बहाई और आत्मोद्धार का उपदेश दिया। तन्दूरा संत-वाणी के प्रचार-प्रसार का लोकप्रिय साधन बना। बाबा रामदेवजी का वाहन अश्व (लीलो घोड़ो) है और उनकी वेशभूषा राजकुमार की है, वे पोकरण के शासक भी रहे किन्तु राजा नहीं अपितु जनसेवक बन कर रहे। गरीबों, दलितों, कुष्ठादि, असाध्य रोगग्रस्त रोगियों, अंधों, बहरों तथा लूले-लंगडों (अपाहिजों) की सेवा ही उनका परम लक्ष्य था और यही उनके कर्तव्य का प्रमुख पहलू है। यही कारण है कि तत्कालीन सामन्ती वर्ग बाबा रामदेवजी के प्रति उदासीन रहा जिसके परिणामस्वरूप राज्याश्रित लेखकों द्वारा लिखे गए समसामयिक इतिहास-ग्रन्थों में उन्हें यथोचित स्थान नहीं दिया गया, इन इतिहास ग्रन्थों में बाबा रामदेवजी के विषय में तथ्यात्मक जानकारी का नितान्त अभाव दिखता है। बाबा रामदेवजी का जीवनवृत तत्कालीन इतिहास की पुस्तकों में नहीं अपितु श्रद्धालु भक्तजनों का कंठहार एवं लोक हृदय का सम्राट बन कर जनवाणी में अक्षुण्ण और सुरक्षित रहा।''[4]

डॉ. कुमुद शर्मा ने लिखा है कि बाबा रामदेवजी ने अछूतोद्धार के लिए उपदेश दिये तथा इसे व्यावहारिक रूप से भी दूर करने के लिए स्वयं को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया था। इसी कारण से उन्हें अपनी जाति वालों का विरोध व अपमान भी सहन करना पड़ा।[5] इसको विस्तार से समझाते हुए डॉ. शर्मा आगे लिखती है कि बाबा

रामदेवजी ने अपने संपूर्ण जीवन में अस्पृश्यता को खत्म करने का प्रयास किया। शूद्रों में कुछ जातियाँ अत्यंत निम्न थी, इनकी स्थिति को सुधारने का विशेष प्रयत्न किया। सुधार नीतियाँ, कार्यक्रमों और सेवाओं तथा मन, कर्म और वचन से इन जातियों का उद्धार किया। अछूत कन्या डालीबाई रामदेवजी के घर में एक परिवार के सदस्य की तरह रहती थी। मध्यकालीन राजस्थान में अछूतों के लिए मंदिर का प्रवेश, पवित्र नदी का उपयोग, देवी-देवताओं की पूजा, धर्मग्रन्थों का अध्ययन आदि अनेक कार्य उनके लिए वर्जित थे। उन्हें उत्सवों, समारोह, पंचायत, विवाह, मेले, चोपाल, स्कूल आदि में जाने पर प्रतिबंध था। उनकी आर्थिक स्थिति इतनी कमजोर और विकट थी कि उन्हें सफाई करने का कार्य करना पड़ता था। इन्हें गांव और उससे सम्बन्धित कार्यों में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप का अधिकार नहीं था। ऐसे कठिन समय में बाबा रामदेवजी ने इनका कल्याण करने का बीड़ा उठाया। बाबा रामदेवजी ने समाज में व्याप्त छुआछूत को आज से छः शताब्दी पूर्व मिटाने का अनूठा प्रयत्न किया था और फिर वही प्रयास सक्रिय रूप से जब भारत स्वतंत्र हुआ तो यह प्रारंभ हुआ, जिसके परिणामस्वरूप निम्न जातियों के लोगों की सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक स्थिति में महत्वपूर्ण उन्नति हुई है।[6]

वे लिखती है कि ''एक धार्मिक समूह के नेतृत्व में विकसित हुआ जिसका मुख्य उद्देश्य मानव धर्म था। इस समूह या सम्प्रदाय ने जांति-पांति, ऊंच-नीच, छुआछूत कर्मकाण्डों और धार्मिक आडम्बरों के विरुद्ध अभियान प्रारंभ किया। बाबा रामदेवजी के जीवन काल में इस प्रकार के समाज-सुधार आंदोलन के परिणामस्वरूप ही एक सम्प्रदाय का उदय हुआ और वह आज रामदेव सम्प्रदाय के नाम से जाना जाता है। इस सम्प्रदाय या पंथ के नाम, उद्देश्यों और अनुयायियों का वर्णन ऐतिहासिक अर्थात् लिखित न होने से केवल यही कहा जा सकता है कि बाबा रामदेवजी ने एक परम्परा को विकसित किया था और समय के अनुसार यह रूप बदलता गया और आज वह रामदेव लोक धार्मिक परम्परा के रूप में अपने उद्देश्यों की पूर्ति हेतु समाज में सदियों से जीवन्त है। वर्तमान में यह परम्परा श्रद्धालुओं द्वारा प्रसारित हो रही है इसका प्रमाण रामदेव-मेले के दौरान स्पष्ट दिखाई देता है।''[7] कवियों ने लिखा है-

बड़े पीर रामदेव बाबा, गाँव रूणीचा काशी करबा।
छुआछूत शोषण को मिटाया, जीवन भर दुखियों से भेंट।।
ग्रामोत्थान के सूत्र सिखाए, करूणा के जल कण बरसाए।
आज जगत ईश्वर सम पूजे, चहुँ दिस में जैकारे गूंजे।।

डॉ. कुमुद शर्मा ने बाबा रामदेवजी और उनके भक्तों के बारे में यह लिखा है कि ''वैसे तो सभी जातियों में बाबा रामदेवजी की मान्यता है लेकिन मुख्य अनुयायी शूद्र वर्ण की अछूत जातियाँ जैसे- रैगर, खटीक, हरिजन, मेघवाल, चमार, बुनकर, मोची, धानका, कोली, राईका, कंजर, नट, भांड, कामड़िया, जुलाहा आदि मुख्य है। बाबा रामदेवजी अथवा इनके भक्तों ने एक स्थान संगठित होकर ऐसी कोई आचार-संहिता नहीं बनाई जो रूढ़िवादिता और बन्धनयुक्त कर्मकाण्डों की पूजा पद्धति हो।''[8]

बाबा रामदेवजी ने अछूतों को ऊपर उठाने तथा भेदभाव मिटाने के प्रयास करने के कारण ही रामदेवजी आज भी निम्न जाति के परिवार में सम्मिलित होते हैं, इसलिए यह कहावत है कि ''रामदेवजी नै मिल्या जिका डेढ़ ही डेढ़''। इनमें सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि सर्वप्रथम बाबा रामदेवजी ने ही मारवाड़ की सम्पूर्ण भंगी जाति को बेलवान, राठौड़, हाड़ा, चौहान और सिसोदिया पाँच भागों में विभाजित करके क्षात्र वर्ग में सम्मिलित किया था।[9]

विदेशी विद्वानों ने भी बाबा रामदेवजी के उपाश्रयी चिंतन पर विचार व्यक्त किये हैं। रसैल ने लिखा है कि कामड़ जो राजस्थान के गायक है। वे मारवाड़ के लोक देवता बाबा रामदेवजी के पद चिन्हों की पूजा करते हैं।[10] इन्थ्रोवेन ने भी इस बात की पुष्टि की है कि मारवाड़ी एवं गुजराती मेघवाल प्रारम्भ से ही रामसापीर के मुख्य अनुयायी थे।[11] कारस्टेयर्स के 1950 के अध्ययन के अनुसार भी रामदेवजी या रामसापीर एक मुख्य पूजनीय क्षेत्रीय लोक देवता थे जो कबीर आदि की तरह हिन्दू-मुस्लिम एकता के मुख्य सूत्रधार थे।[12] मीरा बिनफोर्ड ने अपने अध्ययन में यह बताया है कि बम्बई (मुम्बई) में बाबा रामदेवजी की भजन संध्या, जागरण आदि नियमित होते रहते हैं। यहाँ सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इन भजनों को गाने और सुनने वाले सभी जातियों के लोग होते हैं।[13]

बाबा रामदेवजी जाति प्रथा कुल पर कलंक लगाने के विरोधी और तँवर बाबा रामदेवजी की बहन सुगना बाई का पति रामदेवजी से द्वेष रखता और उनके विवाह पर आने वाले रतना रईका को यह कहता है-

बोल उठे पड़ियार जब, करके नेत्र विशाल।
उण मोडा रो ब्याव है, जो अजमल जी रो लाल।।
ढेढां के घर जाय कर, रोज तन्दूर बजाय।
जमा जगातो वो फिरै, अर परसादी भी खाय।।
नीच करम नितका करे, जिणरो मंडियो ब्याव।
तँवर वंश के रामदेव दीनो कलंक लगाय।।

बाबा रामदेवजी से सम्बन्धित साहित्य में इसकी पुष्टि होती है कि पंद्रहवी शताब्दी में जब छुआछूत की भावना अपने चरम सीमा पर थी तो रामदेवजी ने अछूतोद्धार की भावना को व्यावहारिक रूप प्रदान किया। उनके अनुसार छुआछूत की भ्रान्त धारणा रखने वालो की भक्ति व्यर्थ है और जातिवाद से दूर रहकर धर्मक्रांति और नैतिक मूल्यों को विकसित किया-

नेम बिना जिकै संत बाजै, ज्यांरा धुक समार है।
जमले मिळ भ्रांत राखै, ज्यांरी भगती बेकार है।।[14]

बाबा रामदेवजी ऊँच-नीच के भेदभावों को भुलाकर तत्कालीन समय में अछूत समझे जाने वाले लोगों के घर भजन-भाव किया करते थे। इस तथ्य का संकेत उनके एक पद की इन पंक्तियों से मिलता है-

फळ नेजा नूर बरते, मेघां घर महमा बंटै।
भारियो कांकण फेरे भरसी, भेष में इमरत बंटै।।[15]

बाबा रामदेवजी ने मुक्ति प्रमाण में छुआछूत का पूर्ण रूप से बहिष्कार किया। उन्होंने स्पष्ट उल्लेख किया है कि जिस भक्ति मार्ग में लोग छुआछूत की भावना रखते हैं, शूद्र आदि से घृणा करते हैं, वह कोई भक्ति नहीं अपितु अनादर अथवा तिरस्कार का भाव मात्र है-

मिले प्याले भान्त राखै, सोई भगति अनादर विचार है।
सेंस धारा इन्द्र बरसै, अखण्ड इमरत धार है।।[16]

बाबा रामदेवजी ने छुआछूत और भेद का विरोध करते हुए इस प्रकार कहा है-

मेटो भेद अभेद कर लेणा, दुरमत दूर मिटाया।
अनेक रीति और कर देखो, है सब त्रिणुण माया।।[17]

समस्त प्रकार के भेदभावों को मिटाकर प्राणी मात्र में एक ही ईश्वर के दर्शन का उपदेश देते हुए रामदेवजी ने कहा-

सब में अंश ईश्वर कर देखो, चली शक्ति की धारा।
पहली पंथ चलायो शिव शक्ति, महा धर्म विस्तार।।[18]

बाबा रामदेवजी ने समस्त प्रकार के भेदभावों से ऊपर उठने का संदेश दिया और मानव को आपस में भाईचारा के साथ रहने का उपदेश दिया है-

रिळमिळ रेवौ हेत सूं हालौ, कठिन पंथ है खांडै री धार।[19]

ऊँच-नीच और छूत-अछूत की भ्रान्ति मिटा का पारस्परिक स्नेह व समता के भाव से एक साथ बैठकर भगवद्-भजन का कल्याणकारी संदेश रामदेवजी की बाणी में इस प्रकार मिलता है-

भांगो भान्त भाव नै पाळै, भजन बिना दिन अहळा जाय।[20]

इसी कारण राजपूत समाज में रामदेवजी के प्रति जो आक्रोश भरी धारणा थी वह हरजी भाटी के शब्दों में इस प्रकार व्यक्त हुई है-

म्है पुगळिया वै कांमड़िया, बारै म्हारै कदरी सगाई।
दीठां रामदे नै नी ओळखां, कामडिया कदै रा बिहाई।।
दसूं इग्यारस रा वे जम्मा जगावै, घर-घर काढे घाई।
म्हारै घर बाजै नौपत नगारा, वारै तन्दूरा री छाई।।[21]

रामदेवजी के भक्त कवियों ने भी स्पष्ट कहा है कि जात-पांत या धर्म आदि का कोई भेद नहीं देखकर बाबा रामदेवजी अपने स्मरण करने वाले भक्तों की सेवा में सदैव तत्पर है-

कळस में कना नैजे में नूर सिंवरै ज्यारै बाबो हाथ रौ हजूर।।[22]

डॉ. ब्रजमोहन जावलिया के अनुसार 'जाइये जबूदीप जरगह' नामक पाठ के छन्द संख्या 2 के आठवें और नवमें पद्यों में यह स्वत: ही स्पष्ट हो जाता है कि बाबा रामदेवजी छुआछूत के खिलाफ थे जिसका पद्य निम्नलिखित है-

जरगह जंजा जुगां जुगि जागै, लोक दुनी सहु पाए लागै।
अभा रहै जोडि कर आगै, भेंटता दुख दाळ्दि भागै।।8।।
मेदपाट सिवरति का मेळा, भोजन करे बैसि सहु भेळा।
खेले चिरत निरत का खेला, विदुर चरण वंदे तिण वेळा।।9।।[23]

इन पद्यों में जरगा[24] पर होने वाले रामदेवजी के जम्मा जागरण और शिवरात्रि के अवसर पर भरने वाले मेले का वर्णन दिया गया है। इस मेले में सभी जातियों के लोग बिना किसी भेद-भाव और छुआछूत का ध्यान रखे बिना मंडली में एकत्र होते हैं और बलाइयों के द्वारा दिये जाने वाले प्रसाद को ग्रहण करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मध्यकाल में इस अवसर पर सभी वर्णों की स्त्री-पुरुषों के साथ बैठकर भोजन करने की प्रथा रही होगी। मेवाड़ के दलितोद्धारक नाथ सम्प्रदाय के अनुयायियों, बाबा बालीनाथजी और उनके योग शिष्य बाबा रामदेवजी के ही प्रचार का यह प्रभाव मालूम होता है। जरगा के प्रदेश में ऐसी मान्यता प्रचलित है कि रामदेवजी स्वयं यहां आये थे वे जरगा नाम के एक बळाई (हिन्दू जुलाहा) को अपना घोड़ा थमा कही चले गये। 12 वर्षों पश्चात् वे लौट कर आये तब तक प्रतीक्षारत बळाई घोड़े सहित सूख कर कंकाल मात्र रह गया। रामदेवजी ने उन्हें पुन: जीवित किया और तभी से जरगा बळाई के नाम से ही इस पर्वत की प्रसिद्धि हो गई और उसके नाम से यह धाम चलता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि रामदेवजी का प्रभाव मारवाड़ में ही नहीं अपितु मेवाड़ में भी था।

इस प्रकार महान् अछूतोद्धारक बाबा रामदेवजी से सम्बन्धित साहित्य में अछूतोद्धार की कल्याणकारी भाव धारा सदैव प्रवाहित रही है।

अत: रामदेवजी ने इतिहास में एक नवीन अध्याय और आयाम स्थापित किया जो भविष्य में आने वालों के लिए एक प्रेरणास्रोत उदाहरण साबित होगा।

पाबूजी - पाबूजी ने भी छुआछूत को अस्वीकार किया और ऊँच-नीच में उनका कोई विश्वास नहीं था। इसकी पुष्टि इस प्रकार से होती है कि ''पाबूजी ने म्लेच्छ समझी जाने वाली थोरी जाति के सात भाइयों को न केवल आश्रय दिया बल्कि अपने प्रधान सरदारों में स्थान देकर हमेशा उनको अपने पास रखा। उनका उठना, बैठना, खाना-पीना आदि सभी कार्य उन थोरियों के साथ होता था।'' इस कथन की पुष्टि इस तथ्य से होती

है कि आना बघेला जैसे शक्ति सम्पन्न शासक के भगौड़े सात थोरी भाइयों को जब किसी ने भी आना बघेला के भय से आश्रय नहीं दिया तो बालक पाबू ने उन्हें आश्रय देकर उनकी रक्षा की तथा ऐसी ही और अनेक साहसिक कार्य किये। इस प्रकार पाबूजी ने समाज में घृणित एवं म्लेच्छ समझी जाने वाली थोरी जाति को ऊपर उठाने एवं समाज में उचित स्थान दिलाने का प्रयत्न किया तथा इन थोरियों ने भी मरते दम तक पाबूजी का साथ देकर अपने कर्तव्य का पालन किया। अत: पाबूजी ने म्लेच्छ समझी जाने वाली थोरी जाति को आश्रय देकर समाज सुधारक का कार्य किया।

पाबूजी का गायों के प्रति जबरदस्त समर्पण था क्योंकि गायों की रक्षा करते हुए वे घायल हो गए और उनके शरीर से खून की धाराएं निकल कर भील सैनिकों के खून में जाकर कर मिलने लगी–

वहै रूधर अंग सांकां। धड़ सूं छूटी धार।।
रळके पाबू रौ रूहर। मिळियौ जिकण मझार।।[25]

इसी बीच देवल दौड़कर आयी और रणभूमि में रेत की छोटी पाल बनाने लगी जिससे यह खून आपस में न मिल जाये–

देवल देवी दोड़ने। पिड़में कीधी पाळ।।
रूधर रहै नह रौड़ियौ। खळक वलोक खाळ।।[26]

पाबूजी कहते हैं कि देवल शक्ति तुम इसको मत रोको! इसे भीलों के साथ मिलने दो–

भालाळो भाखेह। सांभळ देवल दे सगत।।
रूधर मती राखेह। मिळवा दै भीलों मही।।[27]

आगे पाबूजी फिर कहते है कि भीलों ने मुझे अपना राजा माना है इसलिए रणभूमि में बहता हुआ हमारा खून एक होता है, तो होने दो–

सर पर गणियौ सांवळां। अडग मनै नृप एक।।
जुध में वै लोही जिको। मिळवा दै एकमेक।।[28]

इस प्रकार हम देखते हैं कि पाबूजी ने आखिरी क्षण तक वचन पालनता का निर्वाह और भेदभाव की भावना को दरकिनार कर एक आदर्श उदाहरण पेश किया। मरते दम तक अपने वचन पर अडिग रहे और आने वाले समय के लिए अविस्मरणीय उदाहरण प्रस्तुत किया।

गोगाजी – रामदेवजी और पाबूजी की भांति गोगाजी ने खेतीहर और निम्न जातियों में नवीन भक्ति भावना का संचार किया। गोगाजी का थान खेजड़ी या नीम वृक्ष के नीचे स्थित होता है जिससे स्थानीय पूजा का विकास आरंभ हुआ। इनकी आध्यात्मिक उन्नति के साथ उपाश्रयी चिंतन को भी संबल मिला। खेतीहर और निम्न जातियों के लोगों में आत्मविश्वास का संचार हुआ।

हरभूजी – हरभूजी भी उपाश्रयी चिंतन के समर्थक थे। वे कमजोर वर्ग के प्रति दया और प्रेम रखते थे। ये कमजोर, खेतीहर और निम्न जातियों में कोई मतभेद नहीं रखते इस तथ्य की पुष्टि इस बात से प्रमाणित होती है कि वे अजनबी मेहमानों का सत्कार व सम्मान करते और उनके यहाँ हमेशा सदा–व्रत बंटती थी जिससे कोई भी व्यक्ति भूखा नहीं लौटता था।

मेहाजी – गोगाजी और हरभूजी की भांति मेहाजी ने भी कमजोर वर्ग के प्रति कल्याण का कार्य किया। ये शकुन–शास्त्र के अच्छे ज्ञाता होने के कारण सबकी एक समान सहायता करते थे। इस तथ्य की पुष्टि इस बात से प्रमाणित होती है कि इन्होंने तालाब खुदवाए जो किसानों या खेतीहर वर्ग के लिए जीवनयापन का एक महत्वपूर्ण स्रोत था वे दूसरों के जीवन मूल्यों के रक्षक थे। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि मारवाड़ के लोक देवताओं ने छुआछूत, ऊँच–नीच और जाति प्रथा का विरोध किया। खेतीहर और निम्न जातियों में भक्ति का संचार किया और भेदभाव की भावना को मिटाया। कमजोर वर्ग के प्रति आश्रय और दया का भाव दर्शाया। आध्यात्मिक उन्नति के साथ उपाश्रयी चिंतन को बल प्रदान किया।

संदर्भ

1. *डॉ. पेमाराम, मध्यकालीन राजस्थान में धार्मिक आंदोलन, पृ. 55, 2009, जोधपुर*
2. *वही, पृ. 57*
3. *डॉ. सोनाराम बिश्नोई, बाबा रामदेव इतिहास एवं साहित्य, पृ. 39, तृतीय संशोधित संस्करण, 2016, जोधपुर*
4. *डॉ. विक्रमसिंह भाटी, राजस्थान के लोक देवता में प्रो. (डॉ.) सोनाराम बिश्नोई का लेख 'लोक देवता बाबा रामदेवजी', पृ. 68, 2017, जोधपुर*
5. *डॉ. कुमुद शर्मा, लोकनायक बाबा रामदेव लोकधर्म एवं लोक परम्परा, पृ. 41, 2007, जयपुर*
6. *वही, पृ. 70–71*
7. *वही, पृ. 116–117*
8. *वही, पृ. 126–127*
9. *रमेश चन्द्र गुणार्थी, राजस्थान की जातियाँ, पञ्च. 287*
10. *आर.वी. रसैल एण्ड आर. बी. हीरालाल, द टाईब्स एण्ड कास्ट ऑफ द सैण्ट्रल प्रोविसिज ऑफ इण्डिया, कोस्टर हाऊट, 1969, नीदरलैण्ड*
11. *आ.इ. इन्थ्रोवेन, टाईब्स एण्ड कास्टज ऑफ बोम्बे गवनमेंट, पृ. 50, 1922*
12. *जी.एम. कारस्टेयर्स, पैट्रन ऑफ रिलिजियस ओब्सवेर्सेज इन थ्री विलेज ऑफ राजस्थान, पृ. 69*

13. *मीरा बिनफोर्ड, मिक्सिंग इन द कलर ऑफ राम ऑफ राणुजा, इन हिंदूज्म : न्यू ऐसेंज इन हिस्ट्री ऑफ रिलिजन्स, एडिटिड बील एल. स्मिथ लेदेन, 1976, ई.जी. ब्रिल*
14. *सोजी प्रमाण, बांणी सं. 3*
15. *वही*
16. *मुक्ति प्रमाण, बांणी सं. 7*
17. *ज्ञान प्रमाण, बांणी सं. 15*
18. *मूलारंभ प्रमाण, बांणी सं. 17*
19. *लछ प्रमाण, बांणी सं. 21*
20. *अन्न प्रमाण, बांणी सं. 22*
21. *हरजी भाटी कृत रामदेवजी रौ बधावौ*
22. *डॉ. सोनाराम बिश्नोई, पूर्वोक्त, पृ. 193-194*
23. *मरु-भारती, वर्ष-3, अंक-3, अक्टूबर 1955 में डॉ. ब्रजमोहन जावलिया का लेख 'राजस्थान के लोक-देवता पश्चिमाधीश रामदेवजी', पृ. 20*
24. *उदयपुर से कुंभलगढ़ के मार्ग में मचींद के पास एक पहाड़ का नाम है।*
25 *मोडजी आशिया कृत पाबू प्रकास, पृ. 443, 2009, जोधपुर*
26. *वही*
27. *वही, पृ. 444*
28. *वही*

पुष्टिमार्गीय-वल्लभ सम्प्रदाय एवं अष्टछाप : एक ऐतिहासिक विवेचन

डॉ. दिनेश राठी

शास्त्र एक गीता ही है, जिसको कि देवकीनन्दन श्री कृष्ण ने गाया। देव भी एक देवकीसुत कृष्ण है। मंत्र भी बस उनके नाम ही है और कर्म भी केवल उसकी सेवा ही है। -महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्य जी

महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्य ने वात्सल्यरस से ओतप्रोत (प्रेमलक्षणा) भक्ति पद्धति की सीख दी, जिसे वल्लभ सम्प्रदाय या पुश्टिमार्ग कहा जाता है। भक्त को प्रेमरस में डुबाकर, अहंता-ममता को भुलाकर, दीनतापूर्वक प्रभु की सेवा कराने वाली भक्ति पुष्टि-भक्ति कहलाती है। पुष्टि अर्थात पोषण का अर्थ है भगवान श्रीकृष्ण का अनुग्रह या कृपा। पुष्टिमार्ग में पूजा का अर्थ ठाकुरजी की सेवा जबकि अन्य भक्ति मार्गों में भगवान की अर्चना को पूजा कहा जाता है। पुष्टिमार्ग में प्रभु की अर्चना को सेवा कहा जाता है।

चित्त को भगवान से जोड़ देना ही सेवा है। पुष्टिमार्ग में भगवान की सेवा पूर्ण समर्पण के साथ नंदनन्दन को प्रसन्न करने और सुख देने के लिए की जाती है। पुष्टिमार्ग में भाव ही साधन है और भाव ही फल है। पुष्टिभक्त के हृदय में भावात्मक भगवान विराजते हैं और इस भाव की सिद्धि के लिए वह प्रभु के अनेक मनोरथ करता है। प्रभु को आरती, स्नान, भोग, वस्त्रालंकार पुश्पमाला, कीर्तन और विभिन्न उत्सव आदि से रिझाया जाता है। पुष्टि-भक्ति की सिद्धि प्रभु के चरण में सर्वस्व तन-धन का समर्पण करने से होती है।[1] वल्लभाचार्य जी का कथन है कि सदा सर्वत्र पति, पुत्र, धन, गृह सब कुछ श्री कृष्ण ही है इस भाव से श्रीकृष्ण की सेवा करनी चाहिए भक्तों का यही धर्म है। पुष्टिमार्ग में अश्टायाम सेवा का विशेष महत्व है। यह सेवा आठ प्रहरों (यामों) में की जाती है। प्रात:काल से षयन तक इसके मंगला, श्रृंगार, ग्वाल, राजभोग, उत्थापन, भोग, संध्या आरती और षयन ये आठ रूप है। अष्टायाम सेवा का उद्देश्य भगवान की लीलाओं में मन को लगाये रखना है। पुष्टि सम्प्रदाय में बालभाव एवं गोपीभाव से प्रभु की सेवा होती है। सेवा के अंग है-भोग, राग तथा श्रृंगार। भोग में विविध व्यंजनों का भोग प्रभु को लगता है। राग में वल्लभीय (अष्टछाप) भक्त कवियों के पदों का कीर्तन होता है तथा श्रृंगार में ऋतुओं के अनुसार भगवान के विग्रह का श्रृंगार होता है।[2]

श्रीकृष्ण को ही अपना एकमात्र अनन्य आश्रय मानना पुष्टिमार्गीय जीवन

प्रणाली की आवश्यक शर्त है। 'श्रीकृष्ण शरणम मम्' इस मंत्र की दीक्षा से भक्त अपने को भगवान में अर्पित कर देता है। इस प्रकार भगवत्स्वरूप की प्राप्ति का आनन्द ही पुष्टिभक्ति का एकमात्र फल है।[3] तात्त्विक दृष्टि से इस सम्प्रदाय को शुद्धाद्वैत सिद्धांतवादी, ब्रह्मवादी तथा अधिकृत परिणामवादी कहते हैं और साधन की दृष्टि से यह मार्ग पुष्टिमार्ग कहलाता है।

विष्णुस्वामी सम्प्रदाय की उच्छिन्न गद्दी पर श्रीवल्लभाचार्य जी बैठे और उन्होंने श्री विष्णुस्वामी के सिद्धांतों से प्रेरणा लेकर शुद्धाद्वैत सिद्धान्त तथा भगवद् अनुग्रह अथवा पुष्टि द्वारा प्राप्त प्रेम भक्ति के मार्ग की स्थापना की। अष्टछाप भक्त इसी सम्प्रदाय से है। श्रीवल्लभाचार्य के पिता का नाम लक्ष्मण भट्ट था। वे एक दक्षिणी तैलंग ब्राह्मण थे और कृष्ण के परम भक्त थे।[4] इनकी माता का नाम इल्लमागारू था। इनका जन्म वि.स. 1535 में चम्पारण्य नामक स्थान पर हुआ था। श्री वल्लभाचार्य के समय दिल्ली में शासक सिकंदर लोदी व विजयनगर में शासक कृष्णदेवराय थे। श्रीवल्लभाचार्य ने काशी में विद्याध्ययन किया तत्पश्चात माता से आज्ञा लेकर देश की यात्रा आरम्भ की। उन्होंने सम्पूर्ण भारतवर्ष के तीर्थ तथा मुख्य-मुख्य स्थानों की कई बार यात्राएं की थी। ये यात्राएं वल्लभ सम्प्रदाय में आचार्य जी की 'पृथ्वी प्रदक्षिणा' कहलाती है। सम्वत् 1549 में आचार्यजी ब्रज में आये और उन्होंने गोवर्द्धन से श्रीनाथजी के स्वरूप को निकालकर वही उन्हें एक छोटे मंदिर में स्थापित किया।[5] उसी समय उन्होंने अष्टछाप के भक्त कवि कुम्भनदास जी को शरण में लिया। कालांतर में सम्वत् 1556 में पूर्णमल के सहयोग से गोवर्धन पर श्रीनाथजी का एक भव्य मंदिर का निर्माण करवाया गया। तत्पश्चात क्रमशः सूरदास, कृष्णदास और परमानन्दास को अपना शिष्य बनाया। सम्वत् 1587 वि. में श्रीवल्लभाचार्य का काशी में गंगा प्रवाह अवस्था में गोलोक वास हुआ। इस समय आचार्य जी की आयु 52 वर्ष की थी।[6]

श्रीवल्लभाचार्य के दो पुत्र थे-श्रीगोपीनाथ और गोस्वामी विट्ठलनाथ। वल्लभाचार्य के बाद गोपीनाथ आचार्य हुए। उन्होंने वैष्णव धर्म का प्रचार किया। सम्वत् 1595 वि. में लगभग 28 वर्ष की आयु में गोपीनाथ का निधन हो गया। इसके बाद श्रीवल्लभाचार्य जी के द्वितीय पुत्र श्री विट्ठलनाथ आचार्य पद पर आसीन हुए उन्होंने इस सम्प्रदाय का वैभव बहुत बढाया। इनके भी चार प्रमुख शिष्य थे- नन्ददास, चतुर्भुजदास, गोविन्द स्वामी तथा छीत स्वामी।[7]

पुष्टिमार्गीय वल्लभ सम्प्रदाय में आठ कविभक्त अष्टछाप के नाम से प्रसिद्ध है। सूरदास, परमानंदास, कुंभदास, कृष्णदास अधिकारी, नन्ददास, चतुर्भुजदास, गोविन्द स्वामी तथा छीत स्वामी। इनमें से प्रथम चार श्रीवल्लभाचार्य (संवत् 1535 वि.से. सम्वत् 1587 वि. तक) के शिष्य थे और अंतिम चार आचार्यजी के उत्तराधिकारी गोस्वामी श्री विट्ठनाथ (सम्वत् 1572 वि.से. 1642 वि.) के शिष्य थे। ये आठों

भक्त-कवि गोस्वामी विट्ठलनाथ के सानिध्य में (लगभग सम्वत् 1606 वि.से सम्वत् 1635 वि. तक) एक दूसरे के समकालीन थे और ब्रज में गोवर्द्धन पर्वत पर स्थित श्रीनाथजी के मंदिर में कीर्तन की सेवा और वही रहकर भगवद्भक्ति के रूप में पद-रचना करते थे। उस समय के वल्लभसम्प्रदायी अनेक कवियों का उल्लेख उक्त सम्प्रदाय की वार्ताओं में आता है। परन्तु गोस्वामी विट्ठलनाथजी ने अपने सम्प्रदाय के अनुयायी भक्त कवियों में से सर्वश्रेष्ठ भक्त, काव्यकार तथा संगीतज्ञ, इन्हीं आठ सज्जनों को छांटा और इन पर अपनी प्रशंसा और आशीर्वाद की छाप लगाई। गोस्वामी विट्ठलनाथ की इस मौखिक तथा प्रशंसात्मक छाप के बाद ही ये विद्वान-भक्त 'अष्टछाप' कहलाने लगे थे।8 ये आठों भक्त कवि वल्लभसम्प्रदाय में कृष्ण के अष्टसखा भी कहलाते हैं। कहीं-कहीं नन्ददास के नाम के स्थान पर विष्णुदास का भी उल्लेख मिलता है।

अष्टछाप के सभी उच्चकोटि के भक्त, कवि तथा संगीतकार थे। अपनी रचनाओं में प्रेम की बहुरूपिणी अवस्थाओं के जो चित्र इन कवि-भक्तों ने उपस्थित किये है, ये काव्य की दृष्टि से उत्कृष्ट नमूने हैं। वात्सल्य, सख्य, माधुर्य और दास्य भावों की भक्ति का जो स्त्रोंत अपने काव्य में इन भक्तों ने प्रवाहित किया है वह अत्यन्त ही सुखकारी है। लौकिक तथा आध्यात्मिक दोनों अनुभूतियों की दृष्टि से इनका काव्य महान् है।

अष्टछाप-भक्तों की जीवनियों और रचनाओं को देखने से ज्ञात होता है कि उनमें से कुछ ने तो वैराग्य और संन्यास-मार्ग ग्रहण किया था, परन्तु साथ में वे बिना वेश बदले ही घर-बार छोड़कर, साधु-संगति और श्रीनाथजी के मन्दिर में रहकर इनकी सेवा करते थे और कुछ गृहस्थ में ही रहकर भक्ति की साधना करते थे। सूरदास त्यागी के आरम्भिक जीवन से ज्ञात होता है कि वे बाल्यकाल से ही वैरागी हो गये थे। उन्होंने अपनी रचना में लौकिक सुख की अनित्यता तथा वैराग्य धारण करने का भाव अनेक पदों में प्रकट किया है। गृहस्थी के जंजाल में रहकर स्थायी आनन्द प्राप्ति के साधन को वे भ्रम और दुविधा कहते है।

दौ में एकौ तो न भई,
ना हरि भजै न गृह सुख पावै बृथा विहाई गई। [9]

सूरदास के अतिरिक्त अन्य सात भक्तकवियों में से नन्ददास, छीतस्वामी और गोविन्दस्वामी वल्लभ सम्प्रदाय में आने से पहले पूर्ण गृहस्थ थे। परमानन्दास और कृष्णदास अविवाहित रहकर माता-पिता के साथ गृहस्थी में रह रहे थे। तत्पश्चात इन पाँच भक्तों ने वैराग्य ले लिया था और ये भी सूरदास की तरह श्रीनाथजी की, बिना वेष बदले, सेवा भक्ति करते थे। कुम्भनदास और चतुर्भुजदास गृहस्थ भक्त थे और मरण-पर्यन्त गृहस्थी में रहकर ही उन्होंने श्रीनाथजी की सेवा की।[10] परमानन्ददास ने आरम्भ में घर में रहकर भक्ति का अभ्यास किया था। यह भाव उन्होंने नीचे लिखे पद में व्यक्त किया है।

मेरो मन गोविन्द सो मान्यो ताते और न जिय भावे।
छोड़ि अहार विहार देह सुख और न चाली काऊ।
परमानन्द बसत है घर में जैसे रहत बटाऊ।।[11]

सन्दर्भ

1. *श्री महाप्रभुजी वार्ता, श्रीवल्लभ पुष्टिदर्शन माला-2 पृ. 3-4 (प्रस्तोता- डॉ. गजानन शर्मा)*
2. *डॉ. पेमाराम, मध्यकालीन राजस्थान में धार्मिक आन्दोलन पृ.196-197*
3. *वही*
4. *राय बहादुर मुंशी हरदयालसिंह-रिपोर्ट मरदुमशुमारी - राजमारवाड़ 1891 ई. पृ. 267*
5. *डॉ. एस.पी.व्यास, जोधपुर राजघराना और वल्लभ सम्प्रदाय, राजस्थान हिस्ट्री कांग्रेस प्रोसिडिंग 18, पृ. 266.*
6. *वही*
7. *डॉ. दीनदयालु गुप्त, अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, प्रथम भाग, पृ. 1-2*
8. *वही*
9. *डॉ. दीनदयालु गुप्त, अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, द्वितीय भाग, पृ. 691*
10. *वही, पृ. 692*
11. *वही*

लोक देवी-देवताओं की अवधारणा में सामाजिक समरसता

प्रो. दिग्विजय भटनागर

राजस्थान वीर तथा वीरांगनाओं की भूमि रही है तथा यहाँ के निवासियों में वीर एवं त्यागी पुरूषों तथा नारियों के प्रति श्रद्धा की भावना परम्परागत रूप से रही है। इसी कारण यहाँ अनेक विभूतियों को जिन्होनें वीरता, सतीत्व, शौर्य, त्याग प्रतिज्ञा पालन की प्रतिभूति के रूप में तथा पर हितार्थ आत्मोसर्ग किया तथा साधारण जीवन बिता कर लोगों के लिए उदाहरण प्रस्तुत किया।

लोक देवता का अर्थ

वीर पुरुष जन कल्याण की भावना से अपने जीवन मे त्याग, बलिदान, सेवा और उदारता आदि गुणों को अपनाकर अमर हो जाते है। ऐसे पुरुष देश, समाज और धर्म की मर्यादाओं का पालन करते हुए अपने सम्पूर्ण जीवन को लोकहित में लगा देते है। शोर्य और पराक्रम, सूरों और संतों की धरती राजस्थान के कण-कण में बलिदान की रंगत विद्यमान हैं।[1] इस धरती पर अनेक लोक वीरों, पुण्यात्माओं, प्रजा-पालक, समाज के उद्धारकर्त्ता लोक प्रशासकों का जन्म हुआ जिन्होनें समाज को आतंकियों तथा उनके अत्याचारों से बचाया, गो-रक्षा का और निर्धन वर्ग को अपना सरंक्षण दिया। इस कारण वे जन मानस मे इतने रच-बस गए कि लोग इन महापुरुषों को देवता की भांति पूजने लगे। वे अपने कार्यों के कारण दूसरों के लिए उदाहरण बन गए। ऐसे लोक वीर लोक देवता के रूप मे पूज्य हो जाते हैं। इन्ही वीरों के बलिदानों एवं कार्यों के स्वरूप लोग इनका आदर करके उन्हें अपना आदर्श स्वरूप मानकर पूजते लगते हैं। यही लोक देवता बनने का रहस्य हैं।[2]

लोक देवता दो शब्दों से 'लोक+देवता' से मिल कर बना है। लोक का अर्थ है सामान्य रूप से जनता से है तथा लोक देवता जो सामान्य जनता से उत्पन्न हुए है और अपने कार्यों एवं बलिदानों के कारण लोगों के आदर्श बन गए एवं पूजे जाने लगे हैं इन वीरों को देवतो की उपाधि दी गयी हैं। राजस्थान के अधिकांश लोक देवता अपनी वीरता, त्याग एवं बलिदान के लिए ही प्रसिद्ध हैं।[3] आज के परिवेश में ये 'लोक देवता' हमारी सामान्य जनता के सुख-दु:ख, आशा-निराशा, जीवन-मृत्यु और दैनिक जीवन की हर समस्या का समाधान करते हैं। इन्हें प्रसन्न करने के लिए विशिष्ट भोजन परिपाटी, छत्र, मन्दिर, यन्त्र-तन्त्र आदि की आवश्यकता नहीं होती बल्कि बोलचाल की भाषा से

निकला गीत ही इनका मन्त्र हैं।[4]

मध्य युग में विदेशी आक्रान्ताओं से यहाँ की राजनैतिक व्यवस्था ही नहीं गड़बड़ाई बल्कि सामाजिक एवं धार्मिक जीवन भी प्रस्त हो गया तथा सांस्कृतिक स्वरूप भी परिवर्तित होने लगा। ऐसे समय में यहाँ के लोक देवताओं ने जो मानव योनी में थे लोगों को एक नवीन संदेश व आत्मबल प्रदान कर अपनी संस्कृति की रक्षा हेतु प्रेरित किया। लोक देवताओं में अधिकांश ने गायों की रक्षार्थ अपने प्राणों का उत्सर्ग किया है। समाज में बुराइयों एवं श्रापों से त्रस्त था और निम्न जाति वर्ग की दशा खराब हो चली थी। ऐसे समय में कई लोक देवताओं ने सामान्य और निम्न जाति में छुआछूत को मिटाने एवं विभिन्न बुराइयों को भी दूर करने और निम्न जाति वर्गों के लोगों को सम्मान दिलवाया और वे आदर्शों के रूप में पूजे जाने लगे यद्यपि इन लोक देवताओं में अधिकांश उच्च वर्णीय क्षत्रिय वर्ग में ही पैदा हुए थे। आज भी राजस्थान की निम्न जातीय वर्ग में इन लोक देवताओं को आदर, सम्मान से पूजा जाता है और उनके गीत गुनगुनाये जाते है। राजस्थान के इन वीर महापुरुषों ने धर्म रक्षार्थ अपने प्राणों तक का उत्सर्ग किया। इनके अप्रतिम बलिदानों के समक्ष जन-मानस ने इन्हे देव-तुल्य पूज्य तथा श्रद्धा प्रदान करके युगो-युगों तक इनकी स्मृति और उनके सिद्धान्तों के प्रति अपनी आस्था को अक्षुण्ण बना दिया। राजस्थान में ऐसे कई लोक देवता है जैसे-रामदेवजी, तेजाजी, पाबूजी, गोगाजी, हडबूजी, सगसजी, कल्लाजी बावजी आदि।[5]

इन लोक देवताओं ने अपने बलिदानों से अमरत्व प्राप्त कर लोगों को मार्गदर्शन प्रदान किया है और समान्य जनता के आदर्श स्वरूप पूजनीय हो गए है।[6]

लोक देवताओं का वर्गीकरण

1. लोक मान्यता के आधार पर
2. उत्पति के आधार पर
3. अमरत्व प्रदान होने के आधार पर

1. लोक मान्यता के आधार पर वर्गीकरण निम्न प्रकार है :

(क) उपचार के देवता

1. ऊंटों के देवता - पबूजी
2. सर्प-दंश के देवता - तेजाजी, गोगाजी

(ख) अवतारी के देवता

1. गोगाजी (शेषावतार)
2. जांभोजी (विष्णु अवतार)
3. पाबूजी (लक्ष्मण अवतार)

4. रामदेवजी (कृष्ण अवतार)

2. उत्पति के आधार पर वर्गीकरण निम्न प्रकार हैं :

(क) वीर पुरुष - कल्लाजी, केसरिया कुंवर, गोगाजी, तेजाजी देवता, रामदेवजी, पाबूजी आदि।

(ख) सिद्ध और त्यागी पुरुष - जांभोजी, जेसल, जावेड़, हड़बू जी आदि।

3. अमरत्व के आधार पर : वे लोक देवता है जिन्होंने अपने कार्यों द्वारा अमरत्व ग्रहण किया जैसे उदयपुर के सर्वऋतु विलास के सगस जी बावजी एवं राजमहल के सगसजी बावजी व कल्लाजी जी बावजी आदि।

लोक देवियाँ

लोक देवियों से हमारा तात्पर्य ऐसी देवीय शक्ति से है, जिन्होंने धरती पर नारी रूप मे जन्म लेकर अपने असाधारण व लोकोपकारी कार्य व अपने चमत्कारों के कारण देवी अंश के प्रतीक के रूप में स्थानीय जनता द्वारा स्वीकारे गए हैं।

देवी शक्ति पूजा की भावना विश्व के अनेक देशों मे प्रचलित रही हैं। ये देवियाँ किसी महान उद्देश्य के लिए अपना जीवन अर्पित करती है। राजस्थान का इतिहास सतीत्व व वीरता की घटनाओं से समृद्ध हैं। यहाँ पर हर युग मे समाज मे कई देवियाँ हुई है जिन्होनें जाति-पांति, जन्म व वर्ग के भेद को नहीं मानकर सारे मानव मात्र को अपना समाज माना व उनके कल्याण के लिए कई कार्य किए, जो देवी चमत्कारों के रूप में जाने जाते हैं। जिस तरह भगवान पुरुष रूप मे धर्म-अधर्म का यथार्थ बोध कराने हेतु समय-समय पर माता के गर्भ से उत्पन्न होते रहे है उसी प्रकार 'शक्ति' माता भी युगो-युगो से विभिन्न रूप धारण करती रही है, इनमें कई देवियाँ अपने गुणों व चमत्कारों के कारण अधिक प्रसिद्ध हो गई जिन्हें समान्य जनता ने बहुत अधिक सम्मान दिया और अपना यह आदर प्रकट करने की भावना से इन सती, वीर, त्यागी महिलाओं को देवियाँ मानने लगे और यह लोक देवियों के रूप मे पूजनीय हो गई। विशेषत: राजस्थान मे ऐसी लोकदेवीयो की भरमार हैं एवं राजस्थान का इतिहास, साहित्य इन लोक देवियों के सतीत्व, चमत्कारों व वीर गाथाओं से ओत-प्रोत हैं। इन लोक देवियों की गाथाओं ने साहित्य, कलाओं, भजनो, आरतियों, गीतों आदि को जन्म दिया।

लोक देवियों का आदर्श चरित्र जनसाधारण उनका अनुसरण करने के लिए प्रेरित करता है। इस प्रकार लोक नाट्यों का स्मरण हमारे जीवन के लिए महत्वपूर्ण होता है इन देवीयों के सतीत्व, वीरता की गाथाओं के बारे में जानकर हमारे जीवन में भी सतकर्म करने की भावना का विकास होता हैं। करणी माता, आवरा माता, आई माता, आवड़ आशापुरा माता।

जहां इन देवताओं के त्याग, बलिदान, साहस व वीरता को भुलाया नहीं जा

सकता वही देवियों के भी महत्व का वर्णन मिलता है, जहाँ माँ आवड आसापूरा ने जन्म लेकर जन कल्याण के कार्य किए तथा आठवी व नवीं शताब्दी में उन्होंने हूण एवं ईरानी आक्रमणकारियों से सम्पूर्ण क्षेत्र मुक्त करवाया तथा तेमड़ा नामक राक्षस का वध किया।

वही करणी माता ने भी जनकल्याण के कार्य किए तथा जोधपुर व बीकानेर राज्यों की स्थापना की उन्होनें लोगों के दु:खों को सुना समझा तथा उसका समाधान किया। आवरा माता की शरण मे जो भी अंग रोगी जिसे लकवा हो, अंधा या गूंगा आदि कोई भी आता है तो माता उसके रोगो को दूर कर उसे नवजीवन प्रदान करती है। आई माता ने सीरवी के जनकल्याण का कार्य किया उन्होंने कई अभिमानियों के अभिमान का अन्त किया, उन्होने लोगों को सांसारिक कर्म करते-करते प्रभु स्मरण तथा समर्पण का संदेश दिया।

लोक देवी देवताओं की मान्यता

ढ़ाणी-ढ़ाणी और गांव-गांव में लोक देवी-देवताओं के इनके 'धातु' 'देवरे' देवालय, मंडप स्थापित है। चबूतरों, छतरियों, मंदिरों, समाधियों में इन लोक देवताओं का प्रति वर्ष अनुसरण किया जाता है। इनके पूजा स्थलों पर संगमरमर पर उत्कीर्ण प्रतिमायें या मूर्तियां स्थापित रहती हैं।[7] भावावेश में इनके 'घोडले'[8] घूमते हैं, प्रतीक चिन्हों, ध्वजा के साथ जुलुस निकलता है। जामणे, जात 'जडूले' इनके 'थानों' देवरों पर होते रहते है।[9]

देवी-देवता पुजारियों के माध्यम से श्रद्धालुओं को 'पर्चे'[10] देते हैं, उनके मन्नत (मांगे गये कार्य) सफल होते हैं। पशुधन की बीमारियों को ठीक करते हैं। जच्चा-बच्चा को सुरक्षित रखते हैं और सर्पदंश के विष को सोख कर स्वस्थ कर देते हैं।[11] इनका पावड़े[12], गीत और फड़ों के माध्यम से यशस्वी जीवन का गुणगान किया जाता है। जोगियों, भोपो[13], पुजारियों को देवताओं के विशेष प्रिय जानकर उनका आशीर्वाद लिया जाता हैं।[14]

'रखजगे' किये जाते हैं और 'सवामणियाँ की जाती है तथा खीर, मालपूवे, चूरमा, दाल बाटी का भोग विशेष तिथियों पर लगाया जाता है। चन्दन, गुलाल, सिंदूर, घृत के साथ 'थोते' चढ़ाये जाते हैं। कई जगह पर शराब की बोतल धार के रूप मे चढ़ाई जाती है। उनके थानों पर ध्वजा-पताकायें चढ़ाई जाती हैं।[15] देवरे के समीप के वृक्षों पर मनोतियाँ के धागे, नारियल बांध अपनी आशाओं आंकाशाओं की पूर्ति हेतु मनोतियाँ मांगी जाती है। विशेष अवसरों पर घृत के दीपक जलाकर 'मोर चुग्गा' डाला जाता है। सुगंधित इत्र-फुलेल और रंग बिरंगी मालाएँ चढ़ायी जाती हैं।

'थानों' एवं 'देवरो' की परिक्रमा 'कनक दण्डवत्' की जाती हैं, छतरियाँ बनाकर संगमरमर पर उत्कीर्ण 'पगल्या'[16] स्थापित कर उनकी समय-समय पर आराधना की जाती है। कई देवरों पर आज भी 'पाती'[17] मांगी जाती हैं। पाती के रूप मे फूल पत्ती

आदि होती है आज भी लोक देवताओं के देवरो पर आके दिये जाते हैं। इस तरह जनमानस में प्रचलित लोक देवी-देवताओं की मान्यता भरी पड़ी हैं।[18]

लोक देवताओं की परम्पराएं

1. वचन निर्वाह - एक बार वचन दे दिया तो वह अनेक बाधाएं आने पर भी उसे पूरा करते थे। वचन को पूरा करने के लिए अपने प्राणों की बाजी लगाने से नहीं हिचकिचाते थे।

2. गौरक्षा - गायों की रक्षा के लिए भी राजस्थान के इन पीरों ने अपने प्राण गवाएं और देवताओं के रूप में ख्याति प्राप्त की।[19]

3. स्त्री रक्षा - स्त्री रक्षा को अपना धर्म मानते हुए यहां के वीरों ने अपने प्राणों की आहूति दी और अमरत्व ग्रहण कर देवतुल्य पुजनीय हो गए।

4. दानशीलता - दानशील प्रवृति उनकी प्रमुख विशेषताएँ रही हैं। याचकों और निर्धनों के लिए यह सदैव तैयार रहते हैं और उनकी सेवा किया करते हैं।

5. युद्ध में अपरान्मुखता - इन महापुरुषों ने कभी भी युद्ध में पीठ नही दिखाई बल्कि अपनी वीरता, त्याग, बलिदान के कारण देव तुल्य बन गए। जब तक इनके शरीर में सांस रही थी, तब तक अपने शत्रु का सामना करते थे। युद्ध से विमुख होने के बजाय मृत्यु का आलिंगन करना अधिक श्रेयस्कर समझते थे।

6. शरणार्थी एवं निशस्त्र शत्रुओं पर वार नहीं करते थे। इन महापुरुषों, वीरों ने कभी बल छल से विजय की कामना नहीं की एवं शरण मे आए हुए शरणार्थी की रक्षा करना अपना धर्म समझा।[20]

लोक देवताओं द्वारा जातीय कट्टरपन्थ को दूर करने में हमें मानवीय भावना और समाजिक समरता की अवधारणा दिखायी देती है। पांच पीरों की चर्चा दंतकथा में 'रामदेव जी' को 'पीरों का पीर' कहा है और मुसलमानों ने उन्हें 'राम शाह पीर' कह कर पुकारा है। इस प्रकार हिन्दू मुस्लिम दोनों जातियां रामदेव में समान श्रद्धा रखती है।[21]

रमता रामदे रूणिचा आया।
परचा दिया जद पीर कहलाया।।

रामदेवजी छुआछूत की भावना से दूर निम्न जाति के लोगों के घर जाकर तम्बूरे की संगत में भजन करते थे। उनकी भजन मण्डली में मेघवाल कन्या 'डाली बाई' थी।[22] रामदेव ने अपने बहनोई विजनसिंह को सामाजिक सरलता के महत्व को समझाया[23] साथ ही बाबा रामदेव ने गांव-गांव में घूमकर लोगों को समझाया कि जब ईश्वर ने सभी मनुष्यों को एक जैसा बनाया है तो आपस मे भेदभाव का व्यवहार ठीक नहीं हैं।

हरिजन म्हारे हारे हियेरा।
मोरयो पुत्रों कहावे म्हारा लाला।।

बाबा रामदेव और पाबूजी राठौड़ ने इस्लामीकरण की प्रक्रिया को रोक कर पश्चिम भारत में जन जागृति लाने का काम किया।[24] रामदेव की समाधि स्थल रूणिचा पर भव्य मेला भाद्रप्रद शुक्ला द्वितीया एकादशी तक भरता है। इसमे गुजरात, पंजाब, सिंध आदि दूर-दूर के स्थानों से हिन्दू, मुसलमान, सभी वर्गों के लोग दर्शनार्थ आते हैं। राजस्थान मे कामड़, मेघवाल, बंजारा, रेबारी आदि जातियां प्रमुख रूप से अपना देवता मानती हैं। तेजाजी का राजस्थान के अजमेर जिले के हर गांव में चबूतरा है। परवतसर (नागौर) मे भादवा की ग्यारस से चौदस तक पशु मेला भरता है। जिसमें दूर-दूर से हजारों लोग एकत्र होते हैं। तेजाजी को जाट और गुर्जर जाति अधिक मानती है। किसान खेती के लिए हल जोतने से पहले तेजाजी के नाम की 'जेबड़ी' हलों व बैलों पर बांधते हैं।

तेजाजी की गाथा से राजस्थानी साहित्य का विकास हुआ है[25]-

1. *हा चार तो खूमला की बोली बनाख*
   चार तो खूमला तेजाजी या तो
   माना मकर लाई ये है मक लाई
   मानां तो कीजे यूजरी हां .....
2. *ए जीजाजी म्हारा पाईछा तो बाई बड़*
   ए जीलाजी म्हारा आज का मुजमानी
   ए मुजमानी हो गूजर की कमाई ले हारे

कल्लाजी राठौड़ कल्याण, सेहर, कमधज, योगी, कमधण आदि नामों से पूजित है और मारवाड़, मेवाड़,बांसवाड़ा, डूंगरपुर, गुजरात एवं मध्यप्रदेश मे लगभग 500 मंदिर है। चित्तौड़गढ़ के किले मे जिस स्थान पर (भैरो पोल) उनका बलिदान हुआ था, वहाँ प्रतिवर्ष अश्विन शुक्ला नवीं को विशाल मेला आज भी लगता है।

कल्ला कीरत रावरी-हेलो कोस हजार।
बांह पकड़ बोढ़ा करो है हटवडियों आधार।।

इस प्रकार जन समस्याओं का समाधान लोक देवी देवताओ द्वारा किया जाता है जैसे पशु बीमारी, मनुष्यों की बीमारी, भूत-प्रेत, क्लेश जैसी समस्याओं से ये छुटकारा दिलाते है, ऐसी प्रचलित मान्यता है। इन प्रकार लोक देवी-देवताओं का महत्व जनमानस के बीच उनके कार्यों के कारण अपने आप प्रमाणित हो जाता हैं।[26] इन देवताओं की प्रसिद्धि, सुचरित्र एवं आदर्शों को पढ़कर एवं सुनकर लोगों के विचारों में परिवर्तन हुए है। इसके अलावा लोक देवताओं की स्तुति में गाये जाने वाले पदों, भजनों, गीतों, पवाड़ों आदि के माध्यम से विशाल साहित्य का निर्माण हुआ। इससे एक और जहां हमें लोक देवताओं सम्बन्धी बाते ज्ञात होती है वही तत्कालीन युग की ऐतिहासिक प्रवृतियों का पता

चलता है। लोक देवताओं सम्बन्धी रचित यह लोक साहित्य यहाँ की धार्मिक भावनाओं व अन्य सामाजिक परम्पराओं का दिग्दर्शन कराता हैं। इस प्रकार यह साहित्य मौखिक व लिखित दोनों रूपों मे मिलता है। लोक देवताओं सम्बन्धी गीत, भजन, पवाड़े (कविता), बात, ख्यात इत्यादि आज भी बडे भाव से गाये जाते हैं। इस प्रकार यहां का साहित्य एवं संस्कृति भी लोक देवताओं की ही देन हैं।[27] कहा जा सकता है कि समाजिक समरसता और धार्मिक सहिष्णुता के विचारों से ओत-प्रोत राजस्थान विभिन्न धर्मों की संगम स्थली के रूप मे अनुपम रहते हुए सदैव सहिष्णुतावादी नीति का प्रेरक रहा हैं।

लोक देवताओं का महत्व आज भी लोगो के दैनिक जीवन में है, आज भी लोगो की मान्यता एवं श्रद्धा पूरी तरह से है। जीवन के विभिन्न पहलुओं को प्रभावित करने वाले लोक देवताओं की सांस्कृतिक देन ने समाज में समाजिक समरसता एवं मानवीय भावनाओं के विकास की आधारशिला का निर्माण किया हैं। जीवन में सहजता, सरलता एवं शिष्टता को महत्व देने वाले उदान्त जीवन मूल्यों के कारण मानवीय भावनाओं को सम्बल मिला। प्रत्येक जाति व वर्ग के लोगो में स्नेह रखना व सामुदायिक उत्थान हेतु तत्पर रहने की सुख-दु:ख में एक दूसरे का सहयोग करने की, प्रेम तथा भाईचारे की भावना से 'वासुदेव-कुटुम्बकम' की भावना साकार होती है।

संदर्भ

1. *जगदीश सिंह गहलोत, राजस्थान के लोक देवता, जयपुर, 1971, पृ. 6*
2. *सागरमल शर्मा, राजस्थान के लोक देवता, झुंझनु, 1999, पृ. 11*
3. *पुष्पा भाटी, राजस्थान के लोकदेवता एवं लोक साहित्य, उदयपुर, 1991, पृ. 15*
4. *सागरमल शर्मा, तेजाजी, झुंझनु, 1999, पृ. 10*
5. *दिनेश चंद्र शुक्ला, राजस्थान के प्रमुख संत एवं लोक देवता, जोधपुर, 1992, पृ. 2*
6. *सुरेश सालवी, राजस्थानी लोक संस्कृति एवं लोक देवी देवता, उदयपुर, 2009 पृ. 139-140*
7. *पेमाराम, मध्यकालीन राजस्थान में धार्मिक आंदोलन, जोधपुर, 1998, पृ. 22*
8. *'घोडले' से तात्पर्य इसकी सवारियों से है, जैसे राम रेवाड़ी आदि*
9. *'जडूले' से तात्पर्य नवजात शिशु के बालों की बोलमा उतारना*
10. *'पर्चे' से तात्पर्य अपनी शक्ति एवं साधना का परिचय देने से हैं।*
11. *सोनाराम विश्नाई, बाबा रामदेव इतिहास एवं साहित्य, कोलकता, 1989, पृ. 13*
12. *'पावडे' से तात्पर्य कविता की तरह इनकी गाथाओं का संग्रह*
13. *'भोपे' जो देवता की पूजा करते है एवं उनके शरीर में देवता पधारते हैं*
14. *जगदीश सिंह गहलोत, राजस्थान के लोक देवता, जयपुर, 1971, पृ. 13*
15. *दिनेश चंद्र शुक्ल, राजस्थान के प्रमुख संत एवं लोक देवता, जोधपुर, 1992, पृ. 12*
16. *'पगल्या' पैरों के निशानों को पत्रों पर अंकित करने से हैं*
17. *'पाती' से अर्थ पत्ती एवं फूल गिरने से हैं*

18. सागरमल शर्मा, राजस्थान के लोकदेवता, झुंझनु, 1999, पृ. 17
19. पुष्पा भाटी, राजस्थान के लोक देवता एवं लोक साहित्य, उदयपुर, 1991, पृ. 20
20. महेन्द्र जी भाणावत, पाबूजी, भोपाल, 2000, पृ. 20
21. सोनाराम विश्नोई, बाबा रामदेव इतिहास एवं साहित्य, कोलकाता, 1989, पृ. 35
22. सोनाराम बिश्नोई, बाबा रामदेव इतिहास एवं साहित्य, कोलकाता, 1989, पृ. 60
23. सागरमल शर्मा, राजस्थान के लोक देवता, झुंझनु, 1999, पृ. 78
24. सोनाराम विश्नाई, बाबा रामदेव इतिहास एवं साहित्य, कोलकाता, 1989, पृ. 72
25. महेन्द्र भाणावत, लोकदेवता तेजाजी, उदयपुर, 1970, पृ. 39-40
26. पेमाराम, मध्यकालीन राजस्थान में धार्मिक आन्दोलन, जोधपुर, 1998, पृ. 29
27. सागरमल शर्मा, राजस्थान के लोक देवता, झुंझनु, 1991, पृ. 26

पूर्ववर्ती उत्तर पश्चिमी राजस्थान में जाट जमींदारी का स्वरूप

डॉ. कनिका भनोत

एक जाति, सामाजिक समुदाय और खेतीहर समाज के रूप में जाटों से संबंधित अध्ययन का न केवल ग्राम्य क्षेत्र में वरन् शहरी क्षेत्र में भी विशिष्ट महत्त्व रहा है। तद्विषयक अध्ययन न केवल इतिहासकारों वरन् समाजशास्त्रियों के अध्ययन का आकर्षण केन्द्र भी रहा है।[1] नि:संदेह जाटों का आबादिक क्षेत्र उत्तरी भारत में काफी फैला हुआ रहा है। विस्तृत क्षेत्र में इस जाति ने अपना अस्तित्व और प्रभाव क्षेत्र स्थापित किया[2], यह एक निर्विवाद सत्य है। कतिपय अध्ययनों में शोधार्थियों और शोध अध्येयताओं ने समसामयिक स्रोत सामग्री के आधार पर यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि मध्ययुगीन भारत में इस जाति ने कृषि के क्षेत्र में अद्वितीय योगदान कर अपने आप को एक सशक्त खेतीहर समाज प्रमाणित कर दिखाया है।[3] जहाँ तक राजस्थान का प्रश्न है यह बात निर्विवाद रूप से प्रमाणित होती है कि यह समुदाय उत्तर-पश्चिमी राजस्थान के पूर्ववर्ती बीकानेर राज्य के बहुत बड़े क्षेत्र में अपने आप को आबाद कर पाने में सफल रहा है तथा अपने-अपने क्षेत्र के राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक परिदृश्य को प्रभावित करने में इनकी अहम् भूमिका रही है।

अपने वर्चस्व क्षेत्रों में जाट जाति के लोगों में न केवल ग्राम्य वरन् शहरी क्षेत्रों में भी वहाँ के सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक क्षेत्र में जो योगदान दिया उसके महत्त्व पर अभी तक शोध अध्येयताओं ने अपनी पर्याप्त दृष्टि नहीं डाली है।[4] इस संदर्भ में यदि यह कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि इस क्षेत्र पर कार्य करने वाले शोध अध्येयताओं ने अपना ध्यान अभी इस विषय पर केन्द्रित ही नहीं किया है जबकि इस विषय से सम्बन्धित शोध सामग्री और प्राथमिक स्रोत सामग्री की समुपलब्धता की कोई कमी नहीं है।[5]

मध्यकाल के प्रारम्भिक दौर में थार मरुस्थलीय पश्चिमी राजस्थान में जाट-जाति के कुछ समूहों अथवा समुदायों के द्वारा शासक समूहों के रूप में उत्कर्ष किए जाने के उल्लेख देखने को मिलते हैं[6], परन्तु यह भी सही है कि आने वाले विजेताओं ने उन्हें अपने प्रयासों से शासक से शासित वर्ग में तब्दील कर दिया और उन्हें राजनीतिक वर्चस्व की स्थिति में बदलाव आता हुआ दिखाई दिया।[7] इस दौर में और इसके बाद जाटों की स्थिति में बहुआयामी परिवर्तन आए[8] परन्तु यह परिवर्तन कैसे थे तथा समाज को एकांगी और समग्र रूप से इन परिवर्तनों ने किस प्रकार से प्रभावित किया इस पर भी वांछित

शोध की सम्भावनाएं बनी हुई हैं और यहाँ तत्सम्बन्धी शोधपरक मूल्यांकन करने का प्रयास किया जा रहा है। समसामयिक रिकॉर्ड और अभिलेखीय स्रोत-सामग्री को आधार बना कर यहाँ हम इस बात का प्रयास करेंगे कि तत्कालीन सामाजिक स्तरीकरण में जाटों की क्या स्थिति थी ? तद्विषयक अध्ययन के लिए जब हम अपनी दृष्टि उत्तर पश्चिमी राजस्थान स्थिति पूर्ववर्ती बीकानेर के राठौड़ राज्य पर केन्द्रित करते हैं तो कतिपय आश्चर्यजनक जानकारियां मुखरित होकर सामने आती हुई दिखाई देती हैं। बीकानेर के पूर्ववर्ती राठौड़ राज्य[9] में रही जाटों की स्थिति पर अपना अध्ययन केन्द्रित करने के लिए कुछ अहम् कारण हैं। इस दृष्टि से पहला कारण इस सम्भाग में राठौड़ राज्य की संस्थापना से पूर्व ही जाटों का वर्चस्व में होना रहा है।[10] राव बीका[11] के इस सम्भाग में आने और यहाँ राठौड़ राज्य को संस्थापित करने की विकास यात्रा के दौरान यहाँ विद्यमान रही जाट खांपों[12] की भूमिका का विशेष महत्त्वपूर्ण रहना भी तत्सम्बन्धी अध्ययन के महत्त्व को बढ़ा देता है। राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर में उपलब्ध विविध बहियां और उनके दस्तावेज इस सम्बन्ध में विविध प्रकार की समृद्ध जानकारियां और सूचनाएं प्रदान करते हैं[13], जिनसे भी इस अध्ययन का महत्त्व कई गुणा बढ़ जाता है।

राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर में उपलब्ध प्राथमिक स्रोत-सामग्री से हमें इस सम्भाग के ग्रामीण और शहरी क्षेत्र में जाटों की स्थिति, उनके महत्त्व तथा उनके योगदान की पर्याप्त जानकारी मिलती है। हासिल बहियां[14], परगना बहियां[15] तथा रामपुरियां रिकॉर्ड्स की कागदों की बहियां[16] जाटों पर बहुआयामी तथा विविध प्रकार की जानकारियां प्रदान करती हैं। इन स्रोतों में मिलने वाली सूचनाएं जाट कास्तकारों के निज भू-स्वामित्व, उनकी मालगुजारी या लगान देनदारी तथा उनके कर देयता बोझ पर तथ्यात्मक जानकारियों से युक्त प्रकाश डालती हैं। इस सम्भाग के समकालीन राजस्व कर्मचारियों के द्वारा तैयार किए गए लेखा रिकॉर्ड्स और आंकड़ों के ब्यौरे से भी हमें इनके सम्बन्ध में अनेक प्रकार की सूचनाएं प्राप्त होती हैं जिनके विश्लेषण से कई महत्त्वपूर्ण तथ्य उद्घाटित होते हैं। अभिलेखागार में प्राप्त होने वाली इस प्रकार की अभिलेखीय सामग्री जिसे हम ऑफिसियल रिकॉर्ड कह सकते हैं, जितना महत्त्वपूर्ण है उतना ही महत्त्वपूर्ण वह रिकॉर्ड है जो वंशानुगत बही-भाटों द्वारा या पुरोहितों द्वारा अपनी निज-बहियों के द्वारा संधारित किया जाता रहा है।[17] इसी प्रकार राजस्थानी भाषा में रचित संत साहित्य में भी कुछ ऐसा साहित्य है जिसका सृजन जाट संतों के द्वारा किया गया।[18] इन्हें भी महत्त्वपूर्ण सूचना स्रोत के रूप में देखा जा सकता है। इन सभी स्रोतों का अध्ययन करने से इस सम्भाग में अस्तित्वमान रहे जाट जमींदार परिवारों की स्थिति का आंकलन तो होता ही है, इस क्षेत्र में जाट जमींदारी क्षेत्रों के सम्भावित सर्वेक्षणों से भी कई मूल्यवान जानकारियां प्राप्त होती हैं।[19] इन सभी स्रोतों का अध्ययन करने से पूर्ववर्ती बीकानेर सम्भाग में रहे जाट जातीय जमींदारी वर्ग की स्थिति और उनसे जुड़े विविध आयामों को समझने में सहायता मिलती है।

राठौड़ों के द्वारा जांगलू पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् जब राठौड़ों ने यहाँ अपने राजत्व को संस्थापित किया उस समय यहाँ कतिपय जाट जमींदार अस्तित्व में थे और काफी प्रभावशाली स्थिति में थे।[20] इन जमींदारों[21] को भूमिचारा[22] तथा चौधरी[23] कहा जाता था। दयालदास ने अपनी ख्यात में इन कुल मुखियाओं और भू-स्वामियों को वर्णित करते हुए इनके अधिकार क्षेत्र के गाँव तथा विस्तार के सम्बन्ध में तथ्यात्मक जानकारी प्रदान की है।[24]

दयालदास ने अपने इस वृतान्त में जाट कुल मुखियाओं, उनके राजधानी गाँव तथा उनके अधीन रहे गाँवों की संख्या के बारे में जो जानकारी प्रदान की है वह इस प्रकार है - दयालदास के अनुसार गोदारा जाति के जाटों का कुल मुखिया पाण्डू गोदारा था। शेखसर और लाधड़िया पाण्डू गोदारा की राजधानी थी और इनके अधीन 360 गाँव थे। सियाग जाति के जाटों का कुल मुखिया चौखा जाट था तथा इसकी राजधानी सुई थी और इसके अधीन 140 गाँव थे। सहुआ जाटों का मुखिया अमरा जाट था और इसकी राजधानी धानसिया थी तथा इसके अधीन कुल 84 गाँव थे। सारण जाटों का मुखिया पूला था और इसकी राजधानी भाडंग थी, इसके अधीन कुल 360 गाँव थे। बेनीवाल जाटों का मुखिया रायसल था और रायसलाना इसकी राजधानी थी। इसके अधीन भी 360 गाँव थे। कस्वां जाटों का मुखिया कंवरपाल था तथा सीधमुख इनकी राजधानी थी। इसके अधीन भी कुल 360 गाँव थे। पूनिया जाटों का मुखिया कान्हा पूनिया था और इसकी राजधानी क्षेत्र का नाम बड़ी लूण्डी था, इसके अधीनस्थ गाँवों की संख्या भी 360 होना उल्लिखित मिलता है।[25]

जाट कुल मुखिया के अधिकार क्षेत्र के गाँवों की संख्या को लेकर मत-मतांतर देखने को मिलते हैं।[26] परन्तु यह एक निर्विवाद सत्य है कि बीकानेर के पूर्ववर्ती राठौड़ राज्य के इस क्षेत्र में उस समय विद्यमान विविध जातीय जाट कुल मुखिया काफी प्रभावशाली स्थिति में थे। उन्होंने राजधानी के रूप में अपने शक्ति केन्द्र भी स्थापित कर रखे थे।[27] इनके अधीन स्वजातीय जाटों की अच्छी संख्या वाले गाँव भी थे। गोविन्द अग्रवाल कृत 'चूरू मण्डल का शोधपूर्ण इतिहास'[28] नामक ग्रंथ में भी उस समय इस क्षेत्र में विद्यमान रहे जाट कुल मुखियाओं के विषय में जानकारी प्रदान की गई है। उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि इन क्षेत्रों में जाट जाति के लोग लगभग 4000 वर्ग मील क्षेत्र में विस्तीर्ण थे। अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि गोविन्द अग्रवाल के अनुसार इस सम्भाग में लगभग 4000 वर्ग मील क्षेत्रफल में जाट जाति के लोग बसे हुए थे परन्तु इतना महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष प्रतिपादित करते समय वे इस बात पर अपना संदेह व्यक्त करते हैं कि यह कहना संदिग्ध है कि इनके गाँवों की संख्या कितनी थी।[29] 15वीं शताब्दी के अंतिम पूर्वार्द्ध में इन जाट अधिकृत क्षेत्रों को जोधपुर के राठौड़ वंशीय राव बीका ने अपने अधिकार में कर लिया था।[30] इस आशय के उल्लेख देखने को मिलते हैं कि गोदारा जाटों के प्रमुख पाण्डु गोदारा ने राठौड़ों का आधिपत्य स्वीकार करते समय यह विशेष सुविधा

प्राप्त की थी कि बीकानेर के राठौड़ राज्य की राजगद्दी पर गद्दी नशीन होने वाले हर नए राठौड़ राजा के राजसिंहासनारोहण के समय पर उस नए राजा को राजतिलक करने का विशेषाधिकार गोदारा जाट प्रमुख को होगा। गोदारा जाटों को यह विशेषाधिकार बीकानेर राज्य के संस्थापक नरेश राव बीका के द्वारा प्रदान किया गया था।[31] इस प्रकार गोदारा जाटों की स्थिति इस क्षेत्र में विद्यमान रहे अन्य जाट जमींदारों की तुलना में वर्चस्व तथा प्रधानता प्राप्त हो गयी। इस बात की पुष्टि बीठू सूजा ने अपने छन्द राव जैतसी रो[32] नामक कृति में तथा इतिहासकार मुहणोत नैणसी ने अपने ग्रंथों में की है।[33]

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि नव संस्थापित बीकानेर राज्य में जाटों की स्थिति क्या रही? क्या उनकी स्थिति को पूर्व की अपेक्षा अधोमूल्यांकित कर उन्हें एक साधारण कृषक का दर्जा प्रदान कर दिया गया अथवा उन्हें अपनी जमींदारी अथवा भूमिचारे में कुछ वर्चस्व युक्त स्थिति प्रदान की गयी। इस सम्बन्ध में वस्तुस्थिति को समझने में हमें राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर में संरक्षित राजस्व सम्बन्धी अभिलेख सामग्री से काफी सहायता मिलती है। इस सम्बन्ध में विक्रम संवत् 1657 की एक पट्टा बही को विशेष रूप से उद्धृत किया जा सकता है जिसमें किए गए इंद्राजों से गाँवों में जाटों के अधिकारों का पता चलता है। इस बही में आए उल्लेख से हमें यह ज्ञात होता है कि गाँव में गाँव की हासिल पर 'तुड़ी' नामक प्राप्ति पर जाटों का अधिकार होता था।[34] इससे यह ध्वनित होता है कि गाँवों में जाट काश्तकारों की स्थिति गाँव के अन्य काश्तकारों की तुलना में उत्तम दर्जे की थी। जहाँ तक बीकानेर राज्य का प्रश्न है हमें इस बात के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं कि यहाँ विद्यमान जाट काश्तकार कतिपय भू-क्षेत्रों पर अपना वंशानुगत और पैतृक अधिकार रखा करते थे। विक्रम संवत् 1822 की एक बही के दस्तावेजों से इस बात की पुष्टि भी होती है। तद्नुसार, पूनिया नामक परगने के दस गाँवों का अधिकार चौधरियों के पास होना प्रमाणित होता है। इस भू-क्षेत्र से प्राप्त राजस्व में इन चौधरियों को हिस्सेदारी मिलना भी प्रमाणित होता है। चौधरियों या जमींदारों के द्वारा राजस्व की वसूली सम्बन्धी कार्य को सम्पादित करने के प्रतिफल के रूप में भी चौधरियों को कुछ भुगतान प्राप्त होता था।

रेणसर, सोनपालसर, सूही, राणियों, कालासर इत्यादि गाँवों पर सियाग जाति के जाट चौधरियों का अधिकार होना उल्लेखित मिलता है।[35] इस प्रकार के उल्लेखों से जाटों के जमींदारी अधिकारों के बारे में कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। प्राप्त दस्तावेजों के विश्लेषण से यह निष्कर्ष तो निकाला ही जा सकता है कि जाट जाति के जमींदारों को कुछ विशेषाधिकार प्राप्त थे और उनकी स्थिति इस सम्भाग में अन्य काश्तकारों की तुलना में कहीं अच्छी थी। हमें इस आशय के उल्लेख भी देखने को मिलते हैं कि राज्य के द्वारा कतिपय जाट मुखियाओं को पसाइती काश्तकार का विशेष दर्जा भी प्रदान किया गया था। इस दर्जे के काश्तकार ग्रामीण क्षेत्र में कतिपय विशेष सुविधाएं व अधिकार प्राप्त करने वाले काश्तकार हुआ करते थे। इन्हें लगान या मालगुजारी में भी कुछ रियासतें

प्राप्त होती थीं। शेखसर नामक गाँव में गोदारा तथा घड़सी सारण नामक जाट समुदाय को पसायती काश्तकार होने का दर्जा प्राप्त होने के उल्लेख मिलते हैं।[36] उन्हें ये विशेष दर्जा करों की वसूली का कार्य सम्पादित करने की सेवाओं के प्रतिफल में प्रदान किया गया था। जाटों के पास बड़ी संख्या में गाँवों का होना भी उल्लेखित मिलता है। चौधरी भरत सारण नामक चूरू के एक जाट कुल मुखिया के अधिकार में 140 गाँवों का होना उल्लेखित मिलता है। उसके अधिकार के क्षेत्र को 'जाटायत'[37] नाम से जाना जाता था। इस नाम से स्पष्ट रूप से ध्वनित होता है कि इस इलाके में जाट जाति के लोग रहा करते थे।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर हम यह बात बड़ी दृढ़ता से कह सकते हैं कि बीकानेर सम्भाग में जाटों के पास जमींदारी अधिकार थे। यही नहीं उन्हें ग्रामीण क्षेत्र में कुछ विशेषाधिकार भी हासिल थे। यह विशेषाधिकार निश्चित रूप से उन्हें इस पृष्ठभूमि में प्रदान किए गए थे कि ये लोग इस क्षेत्र में राठौड़ राज्य की संस्थापना से पूर्व वर्चस्वयुक्त स्थिति में थे। इस अध्ययन से यह प्रमाणित होता है कि इस क्षेत्र में कुछ जाट जमींदारी प्रभाव क्षेत्र विद्यमान थे। यहाँ यह बात भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है कि इस बिन्दु पर भी अपनी दृष्टि को केन्द्रित किया जाना चाहिए कि राठौड़ शासकों के अधीन अन्य जाट जमींदारी क्षेत्र रहे अथवा नहीं, और रहे तो वो कौन से क्षेत्र थे। जहाँ तक बीकानेर राज्य का प्रश्न है, यहाँ विद्यमान जागीरों पर अपनी दृष्टि केन्द्रित करने से हमें पता चलता है कि समकालीन बीकानेर राज्य में तीन प्रकार की जागीरें हुआ करती थीं। प्रथम प्रकार की जागीर वतन जागीर थी, दूसरी प्रकार की जागीर को हम अर्द्धवतन जागीर के रूप में परिभाषित कर सकते हैं और तीसरे प्रकार की जागीर सामान्य जागीर हुआ करती थी।[38] वतन जागीर आठ परगनों की थी जिनमें से छः सूबा अजमेर के थे जिनमें बीकानेर, बीकमपुर, पूगल, बरसलपुर और देदरेवा तथा दो दिल्ली सूबे के थे जिनमें सीद्धमुख और भाडंग को सम्मिलित किया गया था।[39] बीकानेर के राठौड़ शासकों के पास यह वतन जागीर सन् 1570 ई. से लेकर 1728 ई. तक बनी रही। बीकानेर के शासकों को अपने इस वतन जागीर पर पैतृक तथा वंशानुगत अधिकार प्राप्त थे और वे अपने क्षेत्र में स्वायत्तशासी थे।

दूसरे प्रकार की जागीर को हम वतन जागीर तो नहीं कह सकते हैं परन्तु वह इससे कुछ मिलती जुलती अवश्य थीं। इसमें मुगल शासकों ने बीकानेर के शासकों को उनके वतन की एवज में उनके पैतृक क्षेत्राधिकार के परगनों को जागीर के रूप में प्रदान कर रखा था। बीकानेर के शासकों के साथ यह क्षेत्र ऐतिहासिक रूप से जुड़े हुए थे क्योंकि इन्हें बीकानेर के संस्थापक नरेश राव बीका और उनके उत्तराधिकारियों के द्वारा जीत कर अपने क्षेत्र में मिलाया गया था और कालांतर में ये दिल्ली सूबे की सरकार सिरसा के हिस्से थे।[40] ये क्षेत्र बीकानेर राज्य के उत्तर तथा उत्तर-पूर्वी क्षेत्र में स्थित थे। इनमें भटनेर, पूनिया, बेनीवाल, सिवरान, तोसाण, हिसार आदि आते थे। यह सभी क्षेत्र

जाट जाति के वर्चस्व वाले क्षेत्र थे। यह क्षेत्र बीकानेर के शासकों के अधीन सन् 1574 ई. से लेकर 1698 ई. तक बने रहे। इस प्रकार ये इलाके लगभग एक शताब्दी से भी अधिक वर्षों तक बीकानेर के शासकों के अधीन रहे और तदनन्तर इनको वतन की श्रेणी के अंतर्गत नहीं माना गया।

तीसरी श्रेणी में वे इलाके आते थे जिन्हें अस्थायी तौर पर प्रदान किया गया अथवा जिन्हें तेजी से स्थानांतरित किया गया। फलौदी (अजमेर), मारोठ, दिपालपुर लखी (लाहौर), बहलौल, दडीवाला, बैरवा, अग्रवा, अतागढ़ (दिल्ली) और कसूर (थट्टा) आदि ऐसे ही परगने थे। उल्लेखनीय है कि इनमें से फलौदी तथा अग्रवा राठौड़ शासकों के अधिकार में लम्बे समय से बने रहे थे।[41] इन तीनों ही प्रकार की जागीरों में जाट जमींदार काफी अच्छी संख्या में थे। खासतौर पर बीकानेर राज्य के इन जागीरी क्षेत्रों में जाट जमींदारों का अच्छा प्रभाव था। अबुल-फजल द्वारा आईने-अकबरी में राठौड़ शासकों को अकबर के द्वारा प्रदत्त परगनों का उल्लेख किया गया है एवं वतन परगनों में सीद्धमुख तथा भाडंग को जाटों के परगनों के रूप में रेखांकित किया गया है। ये दोनों ही दिल्ली सूबे के सरकार हिसार के हिस्से थे। बीकमपुर, पूगल, बरसलपुर, दैदरेवाला (देदरेवा) के बारे में हमें कोई विशेष तथ्यात्मक जानकारी नहीं मिलती है। यह सर्वेक्षण यद्यपि जाट जमींदारी के बारे में कोई बहुत स्पष्ट तस्वीर प्रस्तुत नहीं करता है तथापि इससे यह तो ध्वनित होता ही है कि उत्तर-पश्चिमी राजस्थान स्थित भूतपूर्व बीकानेर राज्य के बड़े क्षेत्र में जाट जमींदार वर्चस्व पूर्ण स्थिति में थे। समसामयिक दस्तावेजों में इनकी स्थिति, विशेषाधिकारों के बारे में अनेकानेक उल्लेख देखने को मिलते हैं जो इस धारणा की पुष्टि करते हैं और यहाँ के जमींदारों में जाटों को एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करते हैं।

संदर्भ

1. *माहेश्वरी प्रसाद, जाट्स इन एन्सिएन्ट इण्डिया; विमल चन्द्र शुक्ल, जाट और हूण आक्रमण; दिलबाग सिंह, आस्पैक्ट्स ऑफ जाट अपराइजिंग; एस.पी. गुप्ता; एग्रेरियन कण्डीशन्स इन द टैरीटरीज ऑफ जाट्स; बी.एल. भादाणी, द रोल ऑफ द जाट्स कल्चरल प्रोफाईल ऑफ जाट्स इन नोर्थ वेस्ट इण्डिया; दी जाट्स, देयर रोल एण्ड कन्ट्रीब्यूशन टू द सोशो-इकोनोमिक लाईफ एण्ड पोलिटी ऑफ नोर्थ एण्ड नोर्थ वेस्ट इण्डिया, संपा. - वीर सिंह, दिल्ली, 2004; गोविन्द अग्रवाल; चूरू मण्डल का शोधपूर्ण इतिहास, अजमेर, 1974, पृ. 100-124; जी.एस.एल. देवड़ा, राजस्थान की प्रशासनिक व्यवस्था (1574-1818), बीकानेर, पृ. 3-4*
2. *द्रष्टव्य - वीरसिंह, द जाट्स, देयर रोल एण्ड कन्ट्रीब्यूशन टू द सोशो-इकोनोमिक लाईफ एण्ड पोलिटी ऑफ नोर्थ एण्ड नोर्थ वेस्ट इण्डिया, दिल्ली, 2004*
3. *द्रष्टव्य - डॉ जा. दलोश एवं डॉ. वीर सिंह, हिन्दुस्तान में जाट सत्ता, आविर्भाव, विकास तथा 1768 की स्थिति, नई दिल्ली, 2001*

4. *वही*
5. *राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर; राजस्थानी शोध संस्थान चौपासनी, जोधपुर; नेशनल आकाईव्ज, नई दिल्ली तथा नटनागर शोध संस्थान, सीतामऊ (म.प्र.) में ऐसी विपुल मूल स्रोत सामग्री संग्रहीत है।*
6. *इनमें गोदारा, सिहाग, सोहुवा, सारन, बेनीवाल, कस्वां तथा पूनिया जाट समूहों के नाम विशेष रूप से उद्धृत किए जा सकते हैं।*
7. *जोधपुर से आए राव जोधा के पुत्र बीका के द्वारा इन्हें अधीनस्थ बना कर इस सम्भाग में बीकानेर के राठौड़ राज्य की संस्थापना की गई थी। द्रष्टव्य - दयालदास री ख्यात, जिल्द-1, अनूप संस्कृत पुस्तकालय, लालगढ़, बीकानेर*
8. *प्रो. कलिका रंजन कानूनगो एवं वीरसिंह, जाटों का इतिहास, दिल्ली, 2005*
9. *राव बीका द्वारा वैशाख सुदि बीज, विक्रम संवत् 1545 को जांगल देश में संस्थापित बीकानेर का राठौड़ राज्य*
10. *लाधड़ियां, शेखसर, सूई, धानासिया, भाडंग, रायसलाना, सीधमुख, बड़ी लूण्डी आदि स्थल जाटों के महत्त्वपूर्ण शक्ति केन्द्र थे।*
11. *जोधपुर नरेश राव जोधा का पुत्र जिसने बीकानेर राज्य की संस्थापना की थी।*
12. *यहाँ विद्यमान जाट खांपों में मुख्य थी - गोदारा, सिहाग, सारन, बेनीवाल, कस्वां, सींवर तथा पूनियां। द्रष्टव्य - दयालदास री ख्यात (अप्रकाशित), अनूप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर*
13. *रामपुरिया रिकॉर्ड्स की कागदों की बहियां तद्विषयक तथ्यों और जानकारियों से भरी पड़ी हैं। द्रष्टव्य - बीकानेर बहियात, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर*
14. *हासिल बहियां, बीकानेर बहियात, रा.रा.अ.बीकानेर*
15. *परगना बहियां, रा.रा.अ.बी.*
16. *यहाँ बहियां संख्या में 51 हैं। द्रष्टव्य - रामपुरिया रिकॉर्ड्स, रा.रा.अ.बी.*
17. *गोविन्द अग्रवाल एवं सुबोध अग्रवाल के द्वारा भाटों और पुरोहितों की कतिपय बहियों का सर्वेक्षण किया गया है और उन्हें 'चूरू मण्डल का शोधपूर्ण इतिहास' में उद्धृत किया गया है जो ध्यान देने योग्य है। द्रष्टव्य - गोविन्द्र अग्रवाल, चूरू मण्डल का शोधपूर्ण इतिहास, अजमेर, 1974, पृ. 115-119*
18. *विविध जाट संतों के द्वारा रचित पद्यात्मक रचनाएँ आम जनता में बड़ी लोकप्रिय हुई हैं। इस दृष्टि से धन्ना भगत और कर्माबाई जाटणी को विशेष रूप से उद्धृत किया जा सकता है।*
19. *सुबोध अग्रवाल, नगरश्री, चूरू के द्वारा जाट जमींदारी के कतिपय महत्वपूर्ण इलाकों का सर्वेक्षण किया गया है*
20. *दयालदास री ख्यात, सं. दशरथ शर्मा, दीनानाथ खत्री एवं जसवंत सिंह, बीकानेर, 1948, पृ. 7; कैप्टन पी.डब्ल्यू. पाउलेट, गजेटियर ऑफ द बीकानेर स्टेट, बीकानेर, रीप्रिंट 1932, पृ. 4*

21. *मुहणोत नैणसी री ख्यात, सं. बद्रीप्रसाद साकरिया, तृतीय, जोधपुर, 1964, पृ. 14; दयालदास (बीकानेर) ने अपनी ख्यात में इन्हें 'मालिक' का सम्बोधन दिया है। द्रष्टव्य – दयालदास री ख्यात, सं. शर्मा, खत्री, जसवंतसिंह, पूर्व., पृ. 7*
22. *वही*
23. *दयालदास री ख्यात, पूर्व, पृ. 7*
24. *वही*
25. *द्रष्टव्य – दयालदास री ख्यात, अप्रकाशित, अनूप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर*
26. *जेम्स टॉड द्वारा गाँवों की संख्या 2200 बताई गई है। द्रष्टव्य – जेम्स टॉड, एनल्स एण्ड एन्टीक्विटीज ऑफ राजस्थान, पृ. 139*
27. *शेखसर, सूई, धानसिया, भाडंग, रायसलाणा, सीधमुख, बड़ी लूण्डी आदि।*
28. *गोविन्द अग्रवाल, चूरू मण्डल का शोधपूर्ण इतिहास, पूर्व., पृ. 115–19*
29. *वही, पृ. 108–109*
30. *दयालदास री ख्यात, अप्रकाशित, अनूप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर*
31. *पाउलेट, गजेटियर ऑफ द बीकानेर स्टेट, पूर्व., पृ. 4*
32. *बीठू सूजा रचित छन्द राऊ जैतसी रो, सं. मूलचंद प्राणेश, बीकानेर, 1991, पृ. 42*
33. *नैणसी, पूर्व., तृतीय, पृ. 13–15*
34. *बीकानेर रे पट्टा रे गांवा री विगत, वि.सं. 1657, सं. बी.एल. भादाणी (एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ बीकानेर स्टेट), बीकानेर, 1979, पृ. 27*
35. *बही हासल रे चीरा री फुटकर गांवां री, बीकानेर बहियात, वि.सं. 1761, बही नं. 17, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर*
36. *गाँव शेखसर रे चीरा रे हासल री बही, वि.सं. 1770, बीकानेर बहियात, बही नं. 22, रा.रा.अ.बी.*
37. *गोविन्द अग्रवाल, चूरू मण्डल का शोधपूर्ण इतिहास, पूर्व., पृ. 183, पाद टिप्पणी क्र. 6*
38. *जी.एस.एल. देवड़ा, बीकानेर राज्य की प्रशासनिक व्यवस्था, पूर्व., पृ. 36*
39. *दयालदास री ख्यात, पृ. 112–13; जी.एस.एल. देवड़ा, पूर्व., पृ. 36–37*
40. *दयालदास री ख्यात, पृ. 112–13; जी.एस.एल. देवड़ा, पूर्व., पृ. 36–37*
41. *अबुल फजल, आईने अकबरी, अनु. जैरेट, वोल्यूम द्वितीय, पृ. 298–300*

बीकानेर के ठिकानेदार (सामंत) एवं उनके किले – महाजन, बीदासर (ठिकाने के किले के विशेष संदर्भ में)

डॉ. गोपाल कृष्ण व्यास

1488 ई. में राव बीका द्वारा रोपित एक छोटा सा बीज अब एक घना फलदार वृक्ष का रूप ले चुका था। बीकानेर राजस्थान की प्रमुख रियासतों में गिना जाने लगा था। महाराजा गंगासिंह के समय बीकानेर राज्य का नाम न केवल देश अपितु विदेश में भी काफी प्रचलित रहा। यहाँ के शासकों का केन्द्रीय सत्ता से हमेशा से मित्रतापूर्वक सम्बंध रहा, चाहे वे फिर मुगल शासक हो या ब्रिटिश हुकूमत। इसी कारण बीकानेर राज्य का कोई भयंकर आक्रमण देखने को नहीं मिलता है। यह सब वहाँ के शासकों की बुद्धिमता विवेकशीलता के कारण ही सम्भव हो सकता था।

बीकानेर राज्य में सामन्तों की स्थिति

राव बीका द्वारा स्थापित बीकानेर में राव बीका के साथ उनके चाचा एवं अनेक भाईयों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा था। इस बात को राव बीका भली–भाँति समझते थे। साथ ही वे अपने परिवारजन को भी काफी महत्त्व देते थे। इसी संदर्भ में उन्होंने अपने नवीन राज्य की प्रशासन व्यवस्था सुसंगठित एवं सुरक्षित बनाये रखने हेतु अपने परिवारजन को जागीरें आदि प्रदान कर एक महत्त्वपूर्ण कार्य किया। 1572 ई. में मुगलों के साथ सम्बंध से पहले बीकानेर के शासकों व सामन्तों के सम्बंध समानता पर आधारित थे। बीकानेर में सामन्तों को तीन मुख्य भागों में विभक्त किया गया। इनमें प्रथम राव बीका के वंशज, दूसरा – राव बीका के भाई एवं चाचा के वशंज एवं तीसरा – परदेशी अधीनस्थ। प्रथम श्रेणी में बीका बीदावत एवं कान्धलोत आते थे, इन्हें आसामीदार, चाकर, पट्टायत कहते थे। इनकी जागीरें वंशानुगत होती थी। दूसरी श्रेणी में शासकों के छोटे भाई और निकट सम्बंधी जिन्हें जीवन निर्वाह के लिये जागीर दी जाती थी। तृतीय श्रेणी में वे सामन्त थे जो बीकानेर राज्य में राठौड़ों की स्थापना से पूर्व इस क्षेत्र में विद्यमान थे। इनमें सिसोदिया, कच्छावा, चौहान, भाटी, तंवर, परमार एवं परिहार आदि प्रमुख हैं। इनमें भाटियों के पास अधिकतम ठिकाने थे। राठौड़ों ने इन्हें उनके क्षेत्र में अधिकारों के उपयोग की अनुमति दी थी।

प्रथम दो श्रेणी के सामन्तों को शासकों से पट्टा प्राप्त करना आवश्यक था।

जिसमें उनके द्वारा राज्य को दी जाने वाली सैनिक और असैनिक सेवाएँ उल्लेखित होती थी। नये पट्टेदारों को पट्टा प्राप्त करने के लिए शासक को पेशकशी की राशि देनी पड़ती थी। जिसकी दर विभिन्न समयों पर अलग-अलग होती थी। इनकी जागीर वंशानुगत न होकर स्वामीभक्ति और शासक की कृपा पर निर्भर करती थी। आसामीदार पट्टायत भी जब्ती कार्यवाही से मुक्त नहीं थे। किन्तु राजा सामान्यत: उनके अधिकारों का सम्मान करते थे। आसामीदारों को अपनी जागीर क्षेत्र की भूमि अपने छोटे भाईयों को देने का अधिकार था।

बीकानेर राज्य में सामन्तों का मुख्य रूप से तीन स्तर थे जो निम्नलिखित हैं -

1. राजवी सरदार - ये महाराजा के निकटतम सम्बंधी होते थे और इनका ओहदा भाई के समान था। महाराज गजसिंह के वंशज इस श्रेणी में आते थे। जिन्हे गजसिंहगोत राजवी कहकर पुकारा जाता था, जो बाद में दो शाखाओं में विभक्त हो गये।

1. ड्योढ़ी वाले राजवी - महाराज चतरसिंह, महाराजा डूंगरसिंह एवं महाराज गंगासिंह आदि के वंशज और अनूपगढ़, खारदा एवं रिड़ी ठिकाना आदि इसमें शामिल थे।

2. हवेली वाले राजवी - महाराजकुमार सुल्तान सिंह, मुकम सिंह और देवी सिंह के वशंज आदि इनके ठिकाने - बेनीसर, नाभासर, आलसर, साईनसर, सलूंडिया, कुरजाड़ी, बिलनियांसर और धरनोक आदि थे।

इनके अलावा कुछ और राजवी थे जो अमर सिंह, तारासिंह एवं गुदर सिंह (आनन्दसिंहगोत) के वंशज थे लेकिन इनमें से कुछ ताजीमी सरदार ता कुछ गैर ताजीमी सरदार थे। इन राजवी सरदारों को सेवा एवं कर से छूट प्राप्त थी। बीकानेर राज्य में इनके अलावा ताजीव (सम्मान) की दृष्टि से सामन्तों को तीन भागों में बाँटा गया है, जो करीब 130 ताजीम सरदार थे, जो निम्न प्रकार से हैं -

(1) दोलरी ताजीम-कुर्ब हाथ (2) इकलोरी ताजीम-बाँह पसाव (3) अन्य ताजीम

1. दोलरी ताजीम - ये प्रथम श्रेणी सामन्त थे इनकी संख्या 33 थी। इन सामन्तों के दरबार में आगमन एवं निगमन के समय महाराजा कुर्सी से उठकर अपना हाथ मिलाकर स्वागत करते थे। इस प्रकार के सामन्तों में चार प्रमुख ठिकाना महाजन, बीदासर, रावतसर एवं भूकरका थे। इन्हें "सिरायत" कहा जाता था। महाजन का राजा राज्य का प्रमुख सामन्त था। बीदासर का ठाकुर, भूकरका का राव एवं रावतसर के राव का दरबार में समान महत्त्व था एवं दरबार में इनको उचित सम्मानित स्थान पर बैठाया जाता था।

इन चार के अलावा जिन सामन्तों को दोलरी ताजीम (कुर्बहाथ) प्राप्त थी वो इस प्रकार से है-

क्रम सं.	ठिकाना	उपाधि	शाखा
1.	सांखू	ठाकुर	किशनसिंहगोत/बीका
2.	कुचोर (चुरूवाला)	ठाकुर	कांधल/बनीरोत
3.	माणकरासर (भादरावाला)	ठाकुर	कांधल/सेनदासोत
4.	सिधमुख	ठाकुर	श्रीगोत/बीका
5.	पूगल	राव	भाटी/पूगलिया
6.	सांडवा	ठाकुर	बीदावत
7.	गोपालपुरा	ठाकुर	बीदावत
8.	वाय	ठाकुर	बीदावत
9.	जसाणा	ठाकुर	बीदावत
10.	जैतपुर	ठाकुर	बीदावत
11.	राजपुरा	ठाकुर	बीदावत
12.	कुमांणा	ठाकुर	बीका/रतनसिंहगोत
13.	जैतसर	ठाकुर	बीका/रतनसिंहगोत
14.	चांडवास	ठाकुर	बीदावत
15.	मलसीसर	ठाकुर	बीदावत
16.	हरासर	ठाकुर	बीदा/पृथ्वीराजोत
17.	लोहा	ठाकुर	बीदावत
18.	खुडी	ठाकुर	बीदा/खंगारोत
19.	कनवारी	ठाकुर	बीदावत
20.	सारूण्डा	ठाकुर	बीदावत
21.	रानासर	ठाकुर	बीदावत
22.	नीमा	ठाकुर	बीदावत
23.	नोखा	ठाकुर	
24.	जारिया	ठाकुर	
25.	ददरेवा	ठाकुर	

26.	साभसर (सोभागदेसर)	ठाकुर	बीदावत
27.	गड़ियाला	ठाकुर	बीदावत
28.	हरदेसर	ठाकुर	बीका/अमरसिंहगोत
29.	मगरासर	ठाकुर	बीका/अमरसिंहगोत

उपर्युक्त दोलरी ताजीमी सरदारों ने नीमा के ठाकुर, नोखा, झारिया, ददरेवा, सोभासर, गडियाला, हरदेसर एवं मगरासर को 1929 में सरकारी आदेश द्वारा पदोन्नत कर दोलरी ताजीमी में शामिल किया गया।

2. इकलोरी ताजीमी - बाँह पसाव - ये द्वितीय श्रेणी के सामंत थे जिनकी संख्या 28 थी। महाराज दरबार में इनके केवल आगमन पर ही अपनी गद्दी से उठाकर अभिनन्दन करता था, जाने के समय नहीं। एक तरह से आंशिक स्वीकारोक्ति द्वारा इनका अभिनन्दन किया जाता था। बाँह पसाव के ताजीम के अन्तर्गत जिनको सम्मान मिलता था उन सामन्तों का दरबार में उपस्थित होने पर अपनी तलवार राजा के चरणों में रखकर उसका घुटना या अचकन का पल्ला छूना पड़ता था। ऐसा करने पर राजा उसके कंधे पर हाथ रख देता था। इस प्रकार के सामन्त निम्नलिखित थे : -

क्रम सं.	ठिकाना	उपाधि	शाखा
1.	पड़िहार	ठाकुर	राठौड़ जोधा/बीदावत
2.	सांतु	ठाकुर	राठौड़ जोधा/बीदावत
3.	देपालसर	ठाकुर	राठौड़ जोधा/बीदावत
4.	सांवतसर	ठाकुर	राठौड़ जोधा/बीदावत
5.	गारबदेसर	राव	राठौड़ जोधा/बीदावत
6.	कुदसू	ठाकुर	राठौड़ जोधा/बीदावत
7.	बीरकाली	ठाकुर	राठौड़ जोधा/बीदावत
8.	शिमला	ठाकुर	राठौड़ जोधा/बीदावत
9.	अजीतपुरा	ठाकुर	राठौड़ जोधा/बीदावत
10.	कनौता	ठाकुर	राठौड़ जोधा/बीदावत
11.	बिसरासर	ठाकुर	राठौड़ जोधा/बीदावत
12.	चारला	ठाकुर	राठौड़ जोधा/बीदावत
13.	फोगा (फोगन)	ठाकुर	राठौड़ जोधा/बीदावत
14.	मेहरी	ठाकुर	बीदावत
15.	छानगोई	ठाकुर	बीदावत

16.	सत्तासर	ठाकुर	बीदा/पृथ्वीराजोत
17.	जयमलसर	ठाकुर	बीदावत
18.	सुईन	ठाकुर	बीदा/खंगारोत
19.	मेघाना	ठाकुर	बीदावत
20.	थिराना	ठाकुर	बीदावत
21.	लोसना	ठाकुर	बीदावत
22.	लाखसर	ठाकुर	बीदावत
23.	घड़सीसर	ठाकुर	
24.	जोधासर	ठाकुर	
25.	रसलाना	ठाकुर	
26.	घंटियाल (बड़ी)	ठाकुर	बीदावत
27.	बेसु	ठाकुर	बीदावत
28.	राजासर	ठाकुर	बीका/अमरसिंहगोत

3. सामान्य ताजीमी सरदार - ये तृतीय श्रेणी के सामन्त थे। इनकी संख्या 69 थी। इनके दरबार में आगमन पर महाराजा गद्दी से उठकर अभिनन्दन करता था। परन्तु कोई अतिरिक्त स्वागत आदि का प्रावधान नहीं था। इनमें जो ठिकाने आते थे वे निम्नलिखित हैं : -

क्र.सं.	ठिकाना	उपाधि	शाखा
1.	पृथ्वीसर (पिरथीसर)	ठाकुर	
2.	वाडावार	ठाकुर	
3.	कानसर	ठाकुर	
4.	माहेला	ठाकुर	
5.	आसपालसर		
6.	मेनसर	ठाकुर	
7.	भादला	ठाकुर	
8.	कक्कू	ठाकुर	
9.	पतलीसर	ठाकुर	
10.	तिहनदेसर	ठाकुर	
11.	रनसीसर	ठाकुर	
12.	कातर (बड़ी)	ठाकुर	

13.	मैनासर	ठाकुर
14.	गौरीसर	ठाकुर
15.	नौसारिया (नोसरिया)	ठाकुर
16.	दूधवा मीठा	ठाकुर
17.	सिजंगुरू	ठाकुर
18.	खारी	ठाकुर
19.	परेवाड़ा	ठाकुर
20.	कल्लासर	ठाकुर
21.	पारवा	ठाकुर
22.	सिंदू	ठाकुर
23.	नाईयासर	ठाकुर
24.	जोगलिया	ठाकुर
25.	जबरासर	ठाकुर
26.	रायसर	ठाकुर
27.	राजासर	ठाकुर
28.	सोनपालसर	ठाकुर
29.	माहरसारा	
30.	बालेरी	
31.	खारबारा	
32.	गतरूपदेसर	
33.	पांडूसर	
34.	गजसुखदेसर	
35.	बीना देसर	
36.	धांधूसर	
37.	रोजड़ी	
38.	बीठनोक	
39.	भीमलारिया	
40.	आसलसर	
41.	पुनालसर	
42.	रानेर	
43.	ऊँचाएड़ा	
44.	केला	

45.	जांगलु
46.	टोकला
47.	हाडलां (बड़ी)
48.	हाडलां (छोटी)
49.	चानेरी
50.	झझू
51.	लूणासर
52.	धीरासर
53.	दूलरासर
54.	इन्द्रपुरा
55.	मालासर
56.	संमदसर
57.	हमूसर
58.	दाऊसर
59.	नांदरा
60.	खियेरन
61.	पिथरासर
62.	खीनासर
63.	सुरनाणा
64.	रामपुरा
65.	देसलसर
66.	सरोठिया
67.	रावतसर कुजला

इस प्रकार बीकानेर राज्य में सम्मान की दृष्टि से सामंतों का विभाजन कर रखा था। सामन्तों को फौजदारी एवं राजस्व मुकदमें सुनने का अधिकार प्राप्त नहीं था। ये सामंत प्रारम्भ में पैदल सैनिक, घुड़सवार, ऊँट सवार और अपनी सेना से अपनी हैसियत द्वारा राजा की सेवा करते थे। लेकिन महाराजा सूरतसिंह के समय में नकद अदायगी भी आरम्भर कर दी गयी। कुछ सामन्तों को दरबार में उपस्थित से छूट दे रखी थी।

1818 की संधि के पश्चात् बीकानेर राज्य में सामंतों की स्थिति में परिवर्तन

अंग्रेजों से सहायक संधि के पश्चात् सामंतों की स्थिति गौण एवं दुर्बल हो गई। इनका महत्त्व सर्वोपरि सत्ता पर निर्भर रह गया। राज्य में शक्तिशाली सामंतों पर नियंत्रण रखने के लिये रियासत ने अंग्रेजी संरक्षण को स्वीकार किया था। अंग्रेजों ने विद्रोही सामन्तों को दबाने में बीकानेर महाराजा की सहायता की। इस सहायता के बदले में

अंग्रेजों ने रियासत पर अपना अधिकार जमाना शुरू कर दिया। 1868 ई. में राज्य में पोलिटिकल एजेन्ट की नियुक्ति इसी का एक उदाहरण था। इस व्यवस्था से यहाँ की सामन्त व्यवस्था में भी परिवर्तन आया। बीकानेर में मोहता एवं ओसवाल जाति के लोगों की प्रशासन में मुख्य भूमिका रहने लगी और इस प्रकार व्यवहारिक सत्ता गैर राजपूत लोगों के हाथ में आ गई। सामंत देखने में तो प्रभावशाली थे परन्तु वास्तविकता कुछ अलग ही थी।

महाराजा का ठिकाना

महाजन बीकानेर राज्य के चार बड़े ठिकानों में सबसे बड़ा ठिकाना था। पहले इसका नाम शाहोर था। राव लूणकर्ण के कुँवर रत्नसिंह को वि.सं. 1562 (1505 ई.) में यह ठिकाना मिला। तब से इसका नाम महाजन हुआ। यहाँ के सरदार रत्नसिंहोत बीका कहलाते हैं। मुंशी देवीप्रसाद ने लिखा है कि राव बीका खंडेले के स्वामी रिड़मल को पराजित कर उसकी विधवा बहन प्राण कुंवरी को बीकानेर के महल में ले आया। उससे अमरा और बीसा नाम के दो पुत्र हुए, जिनमें से अमरा के वंशज महाजन के ठाकुर हैं, जो अमरावत बीका कहलाते हैं।

लेकिन ख्यातों आदि के अध्ययन द्वारा उक्त कथन असत्य प्रमाणित होता है। अमरा के वंशज को महाजन ठिकाने के मुख्य कार्यकर्त्ता (प्रधान) रहे हैं।

महाजन ठिकानेदारों का वंशक्रम

1. रत्नसिंह
2. अर्जुन सिंह
3. जसवन्त सिंह
4. देवीदास
5. उदयभाण (उदय सिंह)
6. प्रताप सिंह
7. अभय सिंह (अभयराम या अजबसिंह)
8. भीमसिंह
9. शिवदान सिंह
10. शेरसिंह
11. वैरिशाल
12. अमरसिंह
13. रामसिंह
14. हरिसिंह
15. भूपालसिंह

महाजन किले का मुख्य द्वारा "श्री गंगाप्रोल" वर्तमान में यह किला मुख्य बाजार के नजदीक ही स्थित है। इसके दायें एवं बायें दोनों और दो मजबुत बुर्ज बने हुए हैं। मुख्यद्वार को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि यह किला आज भी काफी सुदृढ़ है परन्तु अन्दर की ओर के हालात काफी अलग है।

महाजन किले के मुख्य द्वार का भीतरी प्रोल जो काफी क्षत-विक्षत हो चुकी है। किले के भीतर का दृश्य जहाँ पर देवी का ठाण (स्थान) भी बना हुआ है। भीतर में

किले का टूटा-फूटा स्थान जहाँ पर पहले कभी ठिकानेदार आदि बैठकें करते थे।

बीदासर का ठिकाना

राव जोधा के पुत्र राव बीदा (राव बीका भाई) छापर-द्रोणपुर का स्वामी था। यह इलाका बीदा ने मोहिलो (चौहानों की एक शाखा) से लिया था, किन्तु मोहिल बरसल ने दिल्ली के सुल्तान की सहायता से यह इलाका पुनः अपने अधिकार में ले लिया। तब राव बीका ने राव बीदा की सहायता कर पुनः उसे वापस यह इलाका दिलवाया। इस सहायता की एवज में बीदा ने बीका की अधीनता स्वीकार कर ली। फलतः उसके वंशज बीकानेर राज्य के सामंत और उनके वंशज बीदावत कहलायें। इनकी उपाधि "ठाकुर" थी बीदावतों के ठिकानों में बीदासर का ठिकाना मुख्य है।

बीकानेर राज्य के रियासतों में महाजन के बाद बीदासर एवं रावतसर के सरदारों का स्थान था।

बीदासर ठिकानेदारों का वंशक्रम

1. बीदा
2. संसारचंद्र
3. सांगा
4. गोपालदास
5. केशवदास
6. गोविंददास
7. मानसिंह
8. धनराजसिंह
9. कुशलसिंह
10. केशरीसिंह
11. जालिमसिंह
12. उम्मेदसिंह
13. रामसिंह
14. शिवनाथसिंह (शिवदान सिंह)
15. बहादुर सिंह
16. हुक्मसिंह
17. हीरासिंह
18. प्रतापसिंह

मुख्य दीवान खाना (कोर्ट) जहाँ ठिकानेदार बैठकें करते थे। वर्तमान में इस दीवानखाने को स्कूल कक्ष में परिवर्तित कर दिया गया। अन्दर दीवार पर ब्लैकबोर्ड बने दिखाई दे रहे हैं। बायां भाग का दालान जहाँ पर पाँच-छः कमरे बने हुए हैं। बायें भाग के ऊपरी हिस्से के कमरे में बी.एस.एन.एस. विभाग द्वारा अपनी बैटरियाँ रख दी है।

बैटरी कक्ष के सामने की तरफ पत्थर की जाली से भीतरी भाग का दृश्य लिया गया। फिलहाल यह भाग बंद कर रखा है। किले का दायें भाग की ओर बंद पोल, बंद और पास में देवता का ठाण (स्थान) है। किले के भीतर दायें तरफ अस्तबल का हिस्सा जो अब पूर्ण रूप से खण्डहर हो चुका है। खण्डहर का दृश्य जहाँ कभी घोड़े, ऊँट आदि बाँधे जाते थे।

संदर्भ

1. *चीफ एण्ड नोबेल्स फाईल्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार*
2. *बही पट्टा री, राजस्थान राज्य अभिलेखागार*
3. *दयाल दास री ख्यात*
4. *तवारिख राजश्री मुंशी सोहनलालन*
5. *ताजीमी राजवीज खवासवाल्स ठाकुर्स ऑफ बीकानेर - श्रीराम मीर मुंशी*
6. *गजेटियर ऑफ द बीकानेर स्टेट-पाउलेट*
7. *गजेटियर ऑफ द बीकानेर स्टेट-अर्सकिन*
8. *देश दर्पण*
9. *बीकानेर राज्य का इतिहास भाग-2 - गौरीशंकर हीराचंद ओझा*
10. *मध्यकालीन राजपुताना का इतिहास-राजवी अमर सिंह*
11. *एनाल्स एण्ड एण्टीक्वीटीज ऑफ राजस्थान-कर्नल जेम्स टॉड*
12. *बीदावत राठौड़ों का इतिहास-श्रवण सिंह*

मेवाड़ में शिकार परम्परा एक विश्लेषण

डॉ. प्रियदर्शी ओझा

शिकार का नीति से घनिष्ठ सम्बन्ध है। ऐसी अवस्था में यदि आखेट को नीतिशास्त्र का मूल कहा जाये तो कोई अनुचित नहीं होगा। बंधन में रहने वाले बाज जैसे जीव भेद नीति से मनुष्य के लिए शिकार आदि में उपयोगी बनाये गये थे।[1] राजस्थान के दक्षिणी भाग में स्थित मेवाड़ राज्य का अधिकांश भाग पहाड़ी होने की वजह से यहां जंगल विशेष है, जिनमें आम, इमली, महुआ, सागवान, फालसा, टीबरू बड़, पीपल, चंदन, नीम, सीसम, खैर, गुलर, जामुन, खजूर, खेजड़ा, बबूल, रूजड़ा, आंवला, बहेड़ा, हलदू, हिंगोटा, कचनार, शिरीष, सालर, मोखा, सेमल, गूगल, कड़ाया पेड़ बहुतायतता से पाये जाते हैं।[2] रियासत के बहुत से हिस्सों में झाड़ और छोटे-छोटे वृक्षों से ढके विशाल भूमि के भाग हैं और बहुत छोटी-छोटी पहाड़ियां भी अच्छी तरह से आच्छादित है। अरावली पर्वत स्वयं बांस और अनेक प्रकार के छोटे-छोटे वृक्षों से ढका हुआ है।[3] हिंसक जानवरों में यहां सुनहरी शेर (नाहर), बघेरा (अधवेसरा) टीमर्या, चौफूल्या, चीता (बरगड़ा), भेड़िया, सूअर, रीछ (भालू) तथा अन्य जानवरों में साम्भर, रोझ (नील गाय), चीतल, हिरण, जंगली कुत्ते (करू), वनबिलाव, लोमड़ी, गीदड़ (सियार) जरख (लकड़बग्घा), खरगोश आदि हैं।[4]

मध्यकालीन राजस्थान में शिकार शासकों एवं सामंतों का प्रिय मनोरंजन था।[5] राज्य परिवार के सदस्यों को बाल्यावस्था से ही घुड़ सवारी तलवारबाजी, बंदूकबाजी एवं अस्त्र शस्त्र संचालन के साथ-साथ 'शिकार' करने की विद्या भी सिखायी जाती थी।[6] स्वभावत: मेवाड़ राज-परिवार में भी शिकार खेलने की परम्परा रही थी। महाराणा राजसिंह प्रथम की आखेट प्रियता का अनुमान 'संतु के मगरे' में स्थित देवली की एक प्रशस्ति से होता है जिसमें महाराणा द्वारा सांभर का शिकार करने का उल्लेख मिलता है।[7]

आखेट को 'अहेड़ा' कहा जाता था।[8] प्रतिवर्ष शिकार खेलने का कार्यक्रम माह मगसर में एक राजकीय उत्सव के साथ प्रारम्भ होता था। जिसे 'मुहूर्त का शिकार' कहा जाता था।[9] इस शुभ अवसर पर राज्य के प्रमुख सरदारों एवं पासवानों को राजमहल में दावत पर आमंत्रित किया जाता था। बाड़ी महल नामक स्थान पर महाराणा अपने सरदारों तथा पासवानों के साथ में भोजन करने के बाद आमंत्रित व्यक्तियों को महाराणा की ओर से चौसरे एवं हरे रंग (अमवा) के रूमाल वितरित किये जाते थे।[10] रूमाल की किस्म व्यक्ति के दर्जे के अनुसार निर्धारित थी। मात्र शिकार के दरोगा को उक्त अवसर पर महाराणा द्वारा पहनी हुई पोशाक प्राप्त होती थी। राज्य के पण्डित ज्योतिषी महाराणा को

शिकार का मुहूर्त बतलाते थे[11] यदि मुहूर्त में कई दिन बाकी होते तो महलों में ही दावत का आयोजन होता रहता था और यदि मुहूर्त शीघ्रता का होता था तो दावत का इंतजाम किसी रमणिक स्थान पर होता था।[12] महाराणा एवं अन्य सामंत सरदार शिकारी पोशाक में नक्कारे की सवारी के साथ जिस दिशा का मुहूर्त होता था उसी दिशा में सूअर आदि का शिकार करते थे।[13] सूअर प्राय: शाकाहारी होते थे। ये प्राय: घास और कंदफूल ही खाया करते थे किंतु भूखे होने पर प्राप्त होने वाले मांस को भी खा जाते थे। क्रोधित होने पर ये सूअर शेर के समान मुकाबला करते थे। जानवरों में सूअर बहादुरी में सबसे बढ़कर थे। ये राज्य के आखेट रक्षित जंगलों तथा सरदारों के इलाकों में अधिक संख्या में पाये जाते थे। राजपूत लोग इसका शिकार बड़े ही उत्साह के साथ बन्दूक अथवा घोड़े पर सवार होकर बर्छे से करते थे।[14] सूअरों को राज्य संरक्षण प्राप्त था।[15] राज्य के जंगल एवं उसके आस-पास के इलाके जंगली सूअरों के आतंक से त्रस्त थे। फलत: 20वीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल में इनके संरक्षण के विरुद्ध जन आंदोलन किया गया। मेवाड़ सरकार ने कृषकों को राहत पहुंचाने के उद्देश्य से सूअर संरक्षण को कुछ क्षेत्र विशेष तक ही सीमित कर दिया।[16] शिकार खेलने के मैदान को 'रमणा' कहा जाता था।[17] सफलतापूर्वक शिकार होने पर शिकार-स्थल पर दरबार लगता था जिसमें सभी उपस्थित सरदार पासवान आदि महाराणा को नजराने पेश करते थे। इसी मौके पर बाद में चारण कवि-कविता सुनाते थे। फिर सायंकाल में महाराणा पुन: राजमहलों में जाते थे।[18] इस दिन के पश्चात् महाराणा के शिकार अभियान की शुरूआत हो जाती थी। शिकार पर जाने से पूर्व महाराणा को स्थान विशेष पर शिकारी जानवर की मौजूदगी की खबर कर दी जाती थी। इसके बाद महाराणा के आदेश पर राज्य का शिकार खाना उस स्थान विशेष पर शिकार हेतु प्रबंध करता था। राज्य का मुख्य शिकारी उक्त स्थान पर पहुंचकर जंगल का निरीक्षण कर उचित पेड़ पर 'मचान' तैयार करवाकर आखेट का प्रबन्ध करते थे।[19] जैसे एक समय महाराणा द्वारा शिकार स्थल चित्तौड़ के समीप बोकड़िया नामक शिकारगाह थी। वहां शिकार के प्रबंध के लिए तुलसीनाथसिंह को भेजा गया। दो दिन वहां रहने के बाद पता चला कि शेर व शेरनी ने एक भैंसे को मारा है। तत्पश्चात् उसी स्थान पर शेर-शेरनी को आंखों से देख लेने के बाद जब यह विश्वास हो गया कि अब ये कहीं अन्यत्र नहीं जा सकते तब यह सूचना महाराणा को पहुंचाई कि शिकार तैयार हैं आप शीघ्र पधारें। कुछ समय पश्चात् ही कुछ शिकारी महाराणा के मचान की कुर्सी व सीढी, रस्से वगैरह लेकर पहुंच गए और मचान तैयार किया गया।[20] यदि शिकार स्थल पर 'औदी' निर्मित होती तो मचान की आवश्यकता नहीं होती थी। जहां एक पहाड़ ढाल पर हो और दूसरा पहाड़ प्रारम्भ हो रहा हो, ऐसा स्थान औदी या मोडा (मचान) बनाने के लिए उपयुक्त है। अत: माछला मगरा उदयपुर, नाहर मगरा उदयपुर, राजनगर, चित्तौड़गढ़, कुम्भलगढ़, गंगरार मेजा की पहाड़ियों, बनेड़ा में बने ओदी स्मारकों से यह बोध होता है कि ये क्षेत्र वन सम्पदा एवं जंगली जानवरों की अधिकता लिए हुए थे।[21] राज्य की महत्वपूर्ण शिकारगाहों में जयसमंद, नाहर मगरा, चित्तौड़, मांण्डलगढ़, कुआखेड़ा थे। चित्तौड़ कुम्भलगढ़, कुआखेड़ा और कुम्भलगढ़ में शेर बहुतायत से मिलते थे।[22] महाराणा फतहसिंह एवं भोपालसिंह के राज्यकाल में मेवाड़ के प्रमुख शिकारी रामनाथसिंह तथा तुलसीनाथसिंह तंवर प्रसिद्ध थे जो समय-समय पर महाराणा के आदेशानुसार व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर स्थान विशेष पर शिकार अभियान एवं प्रबंध किया करते थे।[23] जब शिकारी मचान मूल या मांडे आदि पर ठीक प्रकार से व्यवस्थित बैठ जाता तो उस पहाड़ के जिस तरफ शिकार हो उधर आदमियों द्वारा घेरा डालकर हांकर अर्थात् आवाज करते हुए शिकार को मचान के पास ले जाते थे इसके लिए शिकार पर पटाखे, पत्थर फैंक कर, शोरगुल करते हुए शिकार को महाराणा के मचान के समक्ष तक पहुंचाया जाता था। जिस पर महाराणा गोली चलाकर शिकार करते थे।[24] हाका शिकार के लिए प्राचीन कालीन तकनीकी है।[25] शिकार हेतु कुछ प्रशिक्षित पालतु पशु एवं पक्षी भी साथ ले जाया करते थे। हाथी, शेर का शिकार करने के वक्त मजबूत और दिलेर होते हैं।[26] शिकार हेतु विशेष प्रकार के कुत्तों को प्रशिक्षण दिया जाता था जो शेर, चीता, भालू आदि जंगली जानवरों के शिकार में बड़ी सहायता पहुंचाते थे।[27] मेवाड़ के शासक विभिन्न स्थलों जैसे जयसमंद, नाहर मगरा, चित्तौड़, कुम्भलगढ़, मांडलगढ़ आदि क्षेत्रों में अपने शिविर लगाते थे जिसके पीछे प्रयोजन मात्र शिकार ही नहीं होता था अपितु राज्य क्षेत्र का प्रत्यक्ष निरीक्षण करना, प्रजा के दुख सुख को जानना, प्रकृति को नजदीकी से जानना एवं जनसमस्याओं के हितार्थ भी होता था।[28] जैसे उदयपुर के रिषभदेव को रास्ते वाले गांव के समीप अध्वेसरों (बघेरा) द्वारा आतंक फैलाने पर वहां के निवासियें द्वारा महाराणा भूपालसिंह को शिकायत करने पर महाराणा ने शिकारियों को वहां शिकार हेतु जाने के लिए आदेश दिया।[29] इसी तरह 31.1.1847 को गांव ढींकली से खबर आई कि एक अधबेसरे ने गाय को मार दिया है तो तुरंत प्रभाव से महाराणा ने शिकारियों को वहां जाने के लिए आदेश्क दिया।[30] एक अन्य उदाहरण यथा गांव साठपुर से खबर मिली की तीन-चार अधबेसरे (बघेरा) बहुत नुकसान करते हैं और एक आदमी को भी मार दिया है। इसकी सूचना मिलने पर महाराणा भूपालसिंह ने शीघ्र ही शिकारी तुलसीनाथसिंह तंवर को वहां भेजा और उसने उन्हें मार गिराया।[31] महाराणा फतहसिंह सदैव हिंसक जानवरों का शिकार गाय आदि पशुओं की सुरक्षार्थ करते थे। वे पक्षियों एवं मछलियों का शिकार नहीं करते थे। शिकार का आयोजन कभी-कभी अतिथियों के मनोरंजन एवं सत्कारार्थ भी किया जाता था। महाराणा फतहसिंह ने 1890 ई. में ब्रिटेन के प्रिंस एल्बर्ट विक्टर के आतिथ्य में शिकार का आयोजन किया था।[32]

मध्यकाल में मुगल हरम की महिलायें भी बादशाह के साथ शिकार खेलने जाती थी। ठीक उसी प्रकार राजस्थान में भी राजपरिवार की महिलाएं भी शिकार खेलने का शोक रखती थी।[33] दीपंग कुल प्रकाश में डोडिया राव का अपनी नवविवाहिता वधु के साथ शिकार खेलने जाने का उल्लेख मिलता है।[34] 1941 ई. में मेवाड़ की महारानी

वीरजकुंवर ने चित्तौड़गढ़ के शिकार अभियान में बंदूक से एक शेर का शिकार किया था।[35] इस प्रकार मेवाड़ राज्य में आखेट जहां एक मनोरंजन का एक हिस्सा था तो वही बहादुरी व साहस बतलाने का एक तरीका भी था जिसमें महिलायें भी पीछे नहीं रही। ज्यादातर शिकार उन्हीं हिंसक व जंगली जानवरों का किया जाता था जिनकी वजह से प्रजा त्रस्त व परेशान हो जाया करती थी। अत: जनहितार्थ भी शिकार हेतु कदम उठाये जाते थे।

संदर्भ

1. *तँवर तुलसीनाथसिंह, शिकारी और शिकार, पृ.1 जयपुर*
2. *ओझा, गौरीशंकर हीराचंद, उदयपुर राज्य का इतिहास, जि. 1, पृ.10, वैदिक यंत्रालय, अजमेर*
3. *श्यामलदास, वीर-विनोद भा. प्रथम, पृ. 112*
4. *ओझा, गौरीशंकर हीराचंद, उदयपुर राज्य का इतिहास, जि. 1, पृ.10*
5. *शर्मा, जी.एन., सोशियल लाईफ इन मिडाइवल राजस्थान, पृ. 137, 1968 ई. आगरा*
6. *ओझा, गौरीशंकर हीराचंद, उदयपुर राज्य का इतिहास, जि. 2, पृ.858*
7. *व्यास, आर.पी., महाराणा राजसिंह, पृ. 163, 1974 ई. जयपुर*
8. *शक्तावत, सुशीला, मेवाड़ का सांस्कृतिक इतिहास, पृ. 140, 2011 उदयपुर*
9. *पुरोहित, राजेन्द्रनाथ, मेवाड़ दरीखाने के रीति-रिवाज एवं संस्कार पृ. 145, राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर 2005*
10. *वही*
11. *वही*
12. *श्यामलदास, वीर-विनोद भा. प्रथम, पृ. 133*
13. *वही*
14. *श्यामलदास, वीर-विनोद, भा. प्रथम, पृ. 115*
15. *येटे, गजेटियर ऑफ मेवाड़, पृ. 18*
16. *व्यास, गोपाल वल्लभ, मेवाड़ का सामाजिक एवं आर्थिक जीवन, पृ. 15, 1989, राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर*
17. *शक्तावत, सुशीला, मेवाड़ का सांस्कृतिक इतिहास, पृ. 141*
18. *श्यामलदास, वीर-विनोद, भा. प्रथम, पृ. 133*
19. *तँवर, तुलसीनाथसिंह, शिकारी और शिकार, पृ.159*
20. *वही, पृ. 92*
21. *ओझा, जे.के., मेवाड़ के पुरातात्विक स्मारकों का ऐतिहासिक स्रोतों के रूप में अध्ययन 15वीं से 18वीं शताब्दी पृ. 85, अप्रकाशित प्रोजेक्ट रिपोर्ट*
22. *रिपोर्ट एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ मेवाड़ स्टेट फोर इयर 1940, 1941 और 1942 पृ. 99, 1944, मद्रास*

23. *पुरोहित, राजेन्द्रनाथ, मेवाड़ दरीखाने के रीति-रिवाज एवं संस्कार, पृ. 146, राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर 2005*
24. *वही*
25. *तँवर, तुलसीनाथसिंह, शिकारी और शिकार, पृ. 49*
26. *श्यामलदास, वीर-विनोद, भा. प्रथम, पृ. 135*
27. *ओझा, जे.के., मेवाड़ का इतिहास, पृ. 298, एस.चांद, 1980 नई दिल्ली*
28. *शर्मा, धर्मपाल, मेवाड़ की संस्कृति परम्परा, पृ. 106, प्रताप शोध प्रतिष्ठान, उदयपुर*
29. *तँवर, तुलसीनाथसिंह, शिकारी और शिकार, पृ. 232*
30. *वही, पृ. 228*
31. *वही, पृ. 230*
32. *पुरोहित, राजेन्द्रनाथ, मेवाड़ दरीखाने के रीति-रिवाज एवं संस्कार, पृ. 146, राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, 2005*
33. *शर्मा, जी.एन., सोशल लाईफ इन मिडाइवल राजस्थान, पृ. 137*
34. *सं. जावलिया, बी.एम., दीपंग कुल प्रकाश सं. पृ. 20, प्रताप शोध प्रतिष्ठान 1995 ई., उदयपुर*
35. *पुरोहित, राजेन्द्रनाथ, मेवाड़ दरीखाने के रीति-रिवाज एवं संस्कार, पृ. 146, राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर 2005*

पद्मिनी - इतिहास या मिथक

प्रोफेसर मीना गौड़

पद्मिनी इतिहास है या मिथक? प्रारम्भ से ही यह प्रश्न विवाद का विषय रहा है। किन्तु हाल में तथाकथित फिल्म निर्माण के दौरान कुछ लोगों के विरोध प्रदर्शन के कारण यह मुद्दा पुनः चर्चा में है तथा सभी के लिए जिज्ञासा व उत्सुकता का कारण है। कुछ इतिहासकार पद्मिनी को ऐतिहासिक पात्र मानते है तो कुछ उसे जायसी द्वार रचित 'पदमावत' का काल्पनिक पात्र। श्यामलदास, गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा, डॉ. दशरथ शर्मा, डाँ आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव प्रो. एम. हबीब तथा प्रो. जी.एन. शर्मा ऐतिहासिक पात्र मानते हैं। जबकि कुछ इतिहासकार पद्मिनी की ऐतिहासिकता को अस्वीकार करते हैं। इन इतिहासकारों में डॉ. के.आर. कानूनगो तथा बनारसी प्रसाद प्रमुख है। इनका मानना है कि पद्मिनी मध्ययुगीन मेवाड़ इतिहास की कोई ऐतिहासिक पात्र नहीं थी बल्कि मलिक मुहम्मद जायसी रचित 'पदमावत' की कल्पनिक पात्र थी जिसे पदमावत की रचना के बाद चित्तौड़ की रानी पद्मिनी के रूप में प्रतिरूपित कर दिया गया।

पद्मावत कथानक का आधार है - रतनसेन चित्तौड़गढ का राजा पद्मिनी या पद्मावती उसकी रानी और अलाउद्दीन दिल्ली का सुल्तान था जिसने रत्नसेन से लड़कर चित्तौड़ का किला छीना था। अलाउद्दीन के चित्तौड़ आक्रमण के राजनीतिक, आर्थिक और सैनिक कारण के साथ पद्मनी को प्राप्त करने की लालसा भी एक कारण बताया जाता है। इसकी वास्तविकता को जानने के लिये आवश्यक है कि हम पद्मनी की कथा तथा उससे संबंधित व्यक्ति रत्नसिंह, राघवचेतन, गोरा, बादल आदि व्यक्तियों की ऐतिहासिकता का भी विश्लेषण कर लें और देखें कि इन व्यक्तियों और पात्रों के अस्तित्व में कोई सरलता है या नहीं। इस कथा का प्रारंभ मुख्य रूप से मलिक मुहम्मद जायसी के पद्मावत नामक हिंदी काव्य ग्रंथ से आरंभ होना माना गया है। इस ग्रंथ की रचना शेरशाह सूरी के समय 1540 में की गयी थी। पद्मिनी की कथा का पूरा वर्णन जायसी के पद्मावत में इस प्रकार है-

पद्मिनी सिंहलद्वीप के गन्धर्वसेन की पुत्री थी। उसके पास हीरामन नामक एक सुशिक्षित तोता था। एक दिन वह तोता पिंजड़े से उड़ गया और एक व्याध के हाथ पड़ा। व्याध ने उसे ब्राह्मण को और ब्राह्मण ने उसे रत्नसिंह के हाथ बेचा। तोते द्वारा पद्मनी की सुंदरता का वर्णन सुनने पर रत्नसिंह पद्मनी से विवाह करने को व्यग्र हो उठा। वह योगी बन कर पद्मिनी की खोज करता हुआ सिंहल पहुँचा और पद्मनी को देखकर मुग्ध हो गया। सिंहल के राजा को जब योगी की असलियत का पता चला तो उसने अपनी पुत्री का विवाह अपनी पुत्री के साथ कर दिया। कई वर्षों बाद जब रत्नसिंह चित्तौड़ आया तो उसकी सेना में राघवचेतन नामक ब्राह्मण जो जादू-टोने में सिद्ध था आ रहा था। रत्नसिंह को जब राघवचेतन के बारे में ज्ञात हुआ तो उसने उसे चित्तौड़ से निकलने की आज्ञा दी। चित्तौड़ से जाने से पूर्व राघवचेतन ने पद्मनी को देखा और उसने दिल्ली पहुँच कर सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी को पद्मनी की सुंदरता का वर्णन किया जिसे सुनकर सुल्तान ने पद्मनी को प्राप्त करने के लिये चित्तौड़ आक्रमण की ठानी। सुल्तान आठ साल के घेरे के बाद भी चित्तौड़ के किले को नहीं जीत सका तो उसने छल की युक्ति निकाली। राणा से मेल कर उसने दिल्ली जाने के पूर्व पद्मनी को देखने की इच्छा प्रकट की। राणा ने उसकी इच्छा को देखते हुए दुर्ग में उसका आतिथ्य किया और पद्मनी का प्रतिबिम्ब दर्पण में सुल्तान को दिखाया गया। सुल्तान ने पद्मनी की सुंदरता पर मुग्ध होकर उसे हथियाने की ठानी। उसने विदाई देने के लिये महाराणा को अपने खेमें में रोक लिया। जब राजपूतों ने उसे लौटा देने को कहा तो उसने बदले में पद्मनी की मांग की। जब इस घटना का पता पद्मनी को चला तो उसने सामंतों से मंत्रणा की। उन्होंने छल से राणा को छुड़ाने की ठानी। 1600 डोलियों मे पद्मनी की सहेलियों के भेष में राजपूत सैनिक बिठाये गये और उसे सुल्तान के खेमे तक पहुँचाया गया। उनके पहुँचने पर अलाउद्दीन के पास यह सूचना भेजी कि पद्मनी उसके खेमें में आ गयी है। वह थोड़े समय अपने पति से मिलकर सुल्तान की सेवा में उपस्थित हो जायेगी। सुल्तान ने उसकी स्वीकृति दे दी। तुरंत राजपूत सैनिकों ने रत्नसिंह को सुल्तान के चंगुल से छुड़ा कर चित्तौड़ की ओर भेज दिया। जब सुल्तान को संपूर्ण छल का पता चला तो वह ससैन्य राजपूतों के साथ लड़ा जिसमें रत्नसिंह मारा गया और पद्मनी ने जौहर कर आत्मोसर्ग किया। इस संपूर्ण कार्य में गोरा बादल का शौर्य बहुत प्रशंसनीय रहा। इस प्रकार चित्तौड़ बादशाह के हाथ आया पर वह पद्मनी को प्राप्त नहीं कर सका।[1]

पद्मिनी के सम्बंध में मान्यताओं के पीछे इतिहासकारों के अपने-अपने तर्क हैं। पद्मिनी को काल्पनिक चरित्र मानने वाले इतिहासकारों के तर्क का सर्वप्रमुख आधार ऐतिहासिक मापदंडों पर खरे उतरने वाले समसामयिक लिखित मौलिक स्रोतों का अभाव है। समकालीन फारसी इतिहासकार अमीर खुसरो (1253-1325) जो स्वयं अलाउद्दीन खिलजी के चित्तौड़ आक्रमण के समय उसके साथ था, पद्मिनी के सम्बंध में किसी प्रकार का उल्लेख नहीं किया है। इस कारण पद्मिनी को काल्पनिक पात्र मानने वालों को काफी बल मिला है। किन्तु पद्मिनी की ऐतिहासिकता का दावा करने वाले इतिहासकारों का मानना है कि खुसरो त 'तारीख-ए-अलाई', तथा 'खजाइन- अल-फुतुह' (खजाईनुल फुतूह) में अलाउद्दीन द्वारा चितौड़ आक्रमण, राजस्थान का वर्णन, राजपूतों की युद्ध कला, तथा चित्तौड़ की पराजय का वर्णन है। किन्तु अपनी दोनों पुस्तकों में अमीर खुसरो ने पद्मिनी का उल्लेख नहीं किया है। खुसरो के बाद इस घटना के सबसे नजदीकी इतिहासकार जियाउद्दीन बरनी (1285-1357) ने अपनी पुस्तक

'तारीख-ए-फिरोजशाही' तथा इसामी ने 'फतूहु-उस-सलातीन' (900 ई. से 1350 ई. तक का विवरण) जिसमें सुल्तान महमूद गजनी से लेकर मोहम्मद बिन तुगलक तक का इतिहास है। इन ग्रंथों में भी पद्मिनी के संबंध में किसी प्रकार का उल्लेख नहीं मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन फारसी इतिहासकारों ने चित्तौड़ विजय के बाद जौहर की घटना को सुल्तान के अपमान के रूप में लिया हो। जौहर की प्रथा निश्चित रूप से अपने गौरव व आत्मस्वाभिमान की रक्षा के लिए उठाया जाने वाला साहसिक कदम था, साथ ही यह शत्रु के प्रतिकार और अस्वीकार्य का रूप था। इस कारण संभवत: तत्कालीन मुस्लिम इतिहासकारों ने इसकी चर्चा नहीं की हो। पद्मावत के लगभग 70 वर्ष के बाद मुहम्मद कासिम फरिश्ता ने अपनी पुस्तक 'तारीखे फरिश्ता' लिखी। पद्मावती की कथा जो आम जनजीवन में प्रचलित थी उसमें कुछ हेर-फेर के साथ अलाउद्दीन के चित्तौड़ आक्रमण के प्रसंग को जोड़ दिया।[2]

जिस पद्मिनी के सम्बन्ध में किसी प्रकार का उल्लेख खुसरो, बरनी और इसामी ने नहीं किया तथा फरिश्ता ने भी अस्पष्ट उल्लेख किया, पद्मिनी के जौहर की घटना के लगभग ढ़ाई सौ वर्षों के बाद अबुल फजल ने अपनी पुस्तक 'अकबरनामा' (1589-1601) में इसका उल्लेख किया है।[3] अबुल फजल के लेखन के पूर्व शेरशाह के काल में मलिक मुहम्मद जायसी द्वारा 'पद्मावत' की रचना 1540 ई. में की जा चुकी थी। ये दोनों ग्रन्थ अलाउद्दीन खिलजी के चित्तौड़ विजय के लगभग 240 से 300 वर्ष के उपरान्त लिखे गये थे। ऐसा प्रतीत होता है कि अबुल फजल ने 'अकबरनामा' लिखते समय राजपूत सरदारों, बड़वा, भाटों आदि से पद्मिनी के संबंध में जानकारी प्राप्त की और अपने ग्रन्थ में इसका उल्लेख किया था।

समसामयिक लिखित इतिहास के अभाव के अतिरिक्त बाद के साहित्य में पद्मिनी के विवरण और वर्णन के सम्बंध में भी एकरूपता का अभाव दिखाई देता है। फरिश्ता ने पद्मिनी का उल्लेख चित्तौड़ के राजा रतनसिंह की पुत्री के रूप में किया है। अबुल फजल और फरिश्ता के कथानक का आधार भी भिन्न है। इसी प्रकार औरंगजेब के समकालीन इतिहासकार मनूची ने अपनी पुस्तक 'हिस्टोरिया-डायोगोर' में पद्मिनी की कथा को अकबर के साथ जोड़ा है।

पद्मिनी के निवास के सम्बंध में भी इतिहासकारों के मध्य विवाद है। कुछ इतिहासकारों का मानना है कि पद्मावत में वर्णित पद्मिनी का सिंहलद्वीप का निवासी होना पूर्णरूप से काल्पनिक और अव्यवहारिक है। राजा रतनसिंह जिसका शासन एक वर्ष से भी कम था ऐसे में उसका योगी बनकर सिंहलद्वीप जाना उसके समय में सिंहलद्वीप का राजा गंधर्वसेन नहीं सम्भवत: राजा कीर्तिनि शंकदेव पराक्रमबाहु (चतुर्थ) या भुवनेन बाहु (तृतीय) था। सिंहलद्वीन में गंधर्वसेन नाम का राजा ही नहीं हुआ। वहाँ से पद्मिनी को विवाह कर चित्तौड़ लाने की कथा पूर्णरूप से काल्पनिक है।

कुछ अर्वाचीन वंशावलियों में पद्मिनी का निवास 'समलद्वीप पाटन' लिखा हुआ प्राप्त होता है तथा इन कथाओं में उसे चौहान वंश की कन्या माना गया है जो मालवा या पश्चिमी राजस्थान के किसी भू-भाग सिंगोली ग्राम की रही होगी।[4] राजा रतनसिंह के सिंहलद्वीप (सिलोन) जाने और वहाँ से पद्मिनी को विवाह कर लाने की कथा पूर्ण रूप से कल्पना है क्योंकि रतनसिंह का शासनकाल बहुत अल्पकालीन था (1302-1303) लगभग एक वर्ष, अत: यह वर्णन सर्वथा अनुपयुक्त व अव्यवहारिक प्रतीत होता है। वैसे पद्मिनी के निवास सम्बन्धी विवाद को यदि सम्पूर्ण कथानक से निकाल भी दिया जाए तो भी पद्मिनी की ऐतिहासिकता पर कोई अन्तर नहीं आता है।

स्पष्ट है कि शताब्दियों की इस ऐतिहासिक यात्रा में पद्मिनी के मूल चरित्र में विभिन्न कथा, किवदंतियो, कल्पनाओं ने अपना आकार ग्रहण कर लिया जो स्वभाविक है। साहित्य समाज का दर्पण है। यह भी संभव है कि जायसी ने पद्मिनी के चरित्र व समाज में व्याप्त उसकी लोकप्रियता से प्रभावित होकर ही 'पद्मावत' की रचना की हो। उस समय तक भाटों, चारणों के गायन व लोकगीतों द्वारा यह घटना समाज में काफी लोकप्रिय और चर्चित हो चुकी थी। एक लेखक या साहित्यकार अपनी रचना के लिए अपने आस-पास के चरित्र से प्रभावित होकर ही कथानक का चयन करता है तथा उसे प्रभावी बनाने के लिए मूल कथानक के साथ विभिन्न काल्पनिक चित्रों को भी जोड़ता है। किसी भी वास्तविक घटना की कलात्मक अभिव्यक्ति में सृजन की अपनी वैयक्तिक सोच, संस्कार, विचारधारा, दृष्टिकोण और परिवेश का शामिल हो जाना स्वभाविक हैं।[5]

जायसी ने अपने काव्य को सरस व रोचक बनाने के लिए तत्कालीन काव्य और साहित्य के निर्धारित मापदंडों को अपनाया। जैसे उस समय के कथा एवं काव्यों में समुद्र पार के देशों में जाना और राजकुमारियों से विवाह का बहुत वर्णन प्राप्त होता है। इस कारण जायसी ने भी पद्मिनी को सिंहलद्वीप की राजकुमारी बताया। तत्कालीन काव्य ग्रंथों में सिंहलद्वीप (सिलोन) में विवाह करना प्रतिष्ठा का प्रतीक माना जाता था। उदाहरण के लिए अपभ्रंश के 'करकण्डुचरिऊ' में नायक के सिलोन जाकर विवाह करने, लौटते समय समुद्र में तूफान आने का वर्णन है।[6] 'जिणदतचरित' 'भविसयत कहा' आदि में भी इसी प्रकार के प्रसंग है। 'श्रीपालचरित' में समुद्र पार के देशों से कई राजकुमारियों को विवाहित करके लाने का उल्लेख है।[7] 'रयन सेहरी कहा' में भी कई काल्पनिक प्रसंग हैं जो जायसी के पूर्व की कृति है।[8] इसकी नायिका भी सिंहल द्वीप की राजकुमारी है। इसका कथानक भी पद्मावत से मिलता जुलता है। स्पष्ट है कि काल्पनिक कथाएं भारतीय कथा साहित्य में ही नहीं बल्कि तत्कालीन फारसी साहित्य में भी प्रचलित थी और किसी भी कथा के ये आवश्यक अंग होते थे। जायसी ने भी अपने ग्रंथ पद्मावत में पद्मिनी को मूल कथानक में रखते हुए अनेक काल्पनिक बातों को जोड़ा जिसका वास्तविकता से कोई सम्बंध नहीं था। अपनी पुस्तक के अन्त में वह कहता है इस कथन में चित्तौड़ देश का राजा रत्नसिंह मस्तिष्क का, सिंहलद्वीप उदय का,

पद्मिनी चातुर्य का और सुल्तान अलाउद्दीन का प्रतिरूप है। जायसी की इस टीका से स्पष्ट है कि वह एक दृष्टान्त कथा लिख रहा था कोई सरल ऐतिहासिक घटना नहीं।

कुछ लोगों की मान्यता है कि चित्तौड़ में स्थित महल जिसे पद्मिनी का महल भी उसका नहीं है बल्कि इसका निर्माण बहुत बाद में सज्जनसिंह के काल में किया गया था, जब गर्वनर जनरल लॉर्ड रिपन नवम्बर 1881 ई. को चित्तौड़ की यात्रा पर आने वाले थे। किन्तु यह तर्क बिलकुल गलत है क्योंकि पद्मिनी के महल का वर्णन 'अमर काव्य' एवं अनेक प्राचीन गीतों में भी प्राप्त होता है। 'अमर काव्य वंशावली' में सांगा के प्रसंग में वर्णित है कि पद्मिनी के महलों में कुछ समय के लिये मालवा के सुल्तान को बंदी रखा गया था। कुछ प्राचीन लोकगीतों में बीकानेर के नरेश रामसिंह का विवाह जब चित्तौड़ में महाराणा उदयसिंह की पुत्री से हुआ तब पद्मिनी के महलों में जाने और प्रत्येक सीढ़ी पर जाते हुए दान देने का वर्णन मिलता है।

डॉ. जी.एन. शर्मा का मत है कि पद्मिनी की कथा परम्परा जायसी के 'पद्मावत' से आरम्भ होती है यह सर्वथा भ्रम है। पद्मावत की रचना के पूर्व ही 'छिताई चरित' नामक ग्रन्थ लिखा जा चुका था। यह ग्रन्थ वि.स. 1583 तंवर शासक सलहदी के शासन काल में पूरा हुआ था। इस ग्रन्थ में अलाउद्दीन द्वारा चित्तौड़ आक्रमण का वर्णन और पद्मिनी के जौहर का उल्लेख है।[9] स्पष्ट है कि जायसी के पूर्व ही पद्मिनी की घटना समाज तथा लोक जीवन में वीर गाथा के रूप में प्रसिद्ध व लोकप्रिय हो चुकी थी। हेमन्त के गोरा बादल चौपाई में तथा लब्धोदय के पद्मिनी चरित्र में इस कथा को स्वतंत्र रूप से लिखा गया है।

पद्मिनी की सत्यता पर संदेह करने वाले इतिहासकारों की मान्यता है कि पद्मिनी के सम्बंध में कोई भी समसामयिक शिलालेख या मौलिक स्रोतों का अभाव है इन्हीं विचारों को मान्यता देते हुए डॉ. बनारसी दास लिखते हैं कि कोई भी इतिहासकार जो मूल ग्रन्थों को पढ़ता है वह इनके 1303 ई. में पद्मिनी के कथानक को प्राप्त करने में असमयता का अनुभव करता है।[10] अत: पद्मिनी की कथानक की प्रामाणिकता स्पष्ट नहीं होती। किन्तु जैसा कि पूर्व में भी उल्लेख किया जा चुका है कि रतन सिंह का काल बहुत एक वर्ष से भी कम था। रतनसिंह अपने पिता समरसिंह की मृत्यु के पश्चात् 1302 ई. में मेवाड़ की गद्दी पर बैठा था और 1303 ई. में अलाउद्दीन के विरुद्ध युद्ध करता हुआ मारा गया। इस संबंध में यह ध्यान रखना भी महत्वपूर्ण होगा कि शिलालेखों में राणियों के नामों का उल्लेख प्राय: बहुत कम हुआ है। किसी भी शिलालेख में मीरा, हाडी रानी, करमेती (कर्णावती) या अन्य के नामों का उल्लेख भी नहीं मिलता है। किन्तु इस आधार पर इन सभी की ऐतिहासिकता इंकार करना गलत होगा, उसी आधार पर पद्मिनी की ऐतिहासिकता पर संदेह करना अनुचित होगा।[11]

पद्मिनी के कथानक को आधुनिक काल में सर्वाधिक महत्व आधुनिक इतिहासकार जेम्स टॉड की पुस्तक 'एनाल्स एण्ड एन्टीक्वीटिज ऑफ राजस्थान' 1829 के द्वारा मिला। इसमें टॉड ने पद्मावत के आधार पर ही अलाउद्दीन द्वारा पद्मिनी के सौन्दर्य की चर्चा सुनकर उसको प्राप्त करने के लिए चित्तौड़ पर आक्रमण करने की बात कही है। जेम्स टॉड ने रतनसिंह का नाम भीमसिंह दिया है।[12] उसने भाटों की पुस्तकों में समरसिंह के पीछे रतनसिंह का नाम न होने से पद्मिनी का सम्बंध भीमसिंह के साथ जोड़ा है और उसे लक्ष्मणसिंह के समय की घटना माना है किन्तु यह वर्णन गलत है। टॉड ने अपनी पुस्तक में पद्मावत का अनुसरण करते हुए नाटकीय घटनाक्रम का उल्लेख किया है और अंतिम लड़ाई में राजपूतों की हार और पद्मिनी द्वारा जौहर की घटना का वर्णन किया है। संभवत: कर्नल टॉड ने पद्मिनी की कथा मेवाड़ के बड़वा भाटों से ली हो और भाटों ने यह कथा पद्मावत से।

वीर विनोद (1874-1887) में श्यामलदास ने महाराणाओं की वंशावलियों के संबंध में विभिन्न प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। उन्होंने तवारीखों के आधार पर अलाउद्दीन के साथ रतनसिंह की लड़ाई और पराजय के बाद गोरा-बादल और हजारों स्त्रियों के साथ पद्मिनी का आग में जलकर जौहर किये जाने का उल्लेख किया है।[13]

अलाउद्दीन अपने समय का एक साम्राज्यवादी शासक और वीर सेनानायक था। कूटनीतिक और आर्थिक प्रभुत्व हासिल करना उसका प्रमुख उद्देश्य था। उसने अपने साम्राज्य का विस्तार दूर-दूर तक किया था। इसी कारण उसे 'सिकन्दर-ए-सानी' या 'सिकन्दर द्वितीय' की संज्ञा दी गई थी। साम्राज्य प्रसार की इस कड़ी में राजस्थान (राजपूताना) सबसे महत्वपूर्ण क्षेत्र था। उत्तर भारत के अनेक शक्तिशाली राज्यों का यह केन्द्र स्थल था। विजय के उद्देश्य से उसने पहले जैसलमेर पर अधिकार किया तथा उसके बाद रणथम्भौर के दुर्ग का घेरा डाला और रणथम्भौर की विजय से उत्साहित होकर उसने चित्तौड़ विजय की योजना बनाई। दक्षिण भारत की विजय तथा उत्तरी भारत पर उसके प्रभाव का स्थापित्व तभी सम्भव था जब वह चित्तौड़ जैसे अभेद्य दुर्ग को अपने अधिकार में करे। यहाँ से होकर गुजरात, मालवा, मध्य प्रदेश, संयुक्त प्रान्त सिन्ध आदि भागों में व्यापारिक मार्ग जाते थे। व्यापारिक उपयोगिता के लिए। अत: पद्मिनी को प्राप्त करने के उद्देक्य से चित्तौड़ पर अलाउद्दीन द्वारा आक्रमण की बात बेतुकी, बेमानी और कपोल कल्पित है।

उपरोक्त मत मतान्तरों के मध्य में निष्कर्ष के रूप में प्रसिद्ध इतिहासकार गौरी शंकर हीराचन्द ओझा के विचार बहुत महत्वपूर्ण प्रतीत होते हैं-'पद्मावत', तारीख-ए-फरिश्ता, तथा टॉड के राजस्थान के लेखों की यदि कोई जड़ है तो केवल यही है की अलाउद्दीन ने चितौड़ पर चढ़ाई कर 6 मास के घेरे के बाद उसे 1303 ई. में विजय किया। वहाँ का राजा रतनसिंह इस युद्ध में अनेक सामंतों सहित मारा गया। रानी पद्मिनी ने कई स्त्रियों सहित जौहर की अग्नि में प्राणाहुती दी। चितौड़ पर थोड़े समय के लिए मुसलमानों का अधिकार हो गया। बाकी बाते कल्पना से खड़ी की गई है।[14] डॉ.

ओझा ने इस सम्बंध में लिखा है कि ''इतिहास के अभाव में लोगों ने पद्मावत को ऐतिहासिक पुस्तक मान लिया, परन्तु वास्तव में वह आजकल के ऐतिहासिक उपन्यासों की तरह कविताबद्ध कथा है। कहानी के परम्परागत वर्णन को ताक पर रखने के पश्चात् सत्य यह है कि सुल्तान अलाउद्दीन ने 1303 ई. में चित्तौड़ पर आक्रमण किया और आठ माह के विकट संघर्ष के पश्चात् उसे अधिकृत कर लिया। वीर राजपूत योद्धा आक्रान्ताओं से युद्ध करते हुए स्वेत रहे और वीर राजपूत स्त्रियाँ जौहर कर ज्वाला में समाधिस्थ हो गयी। जो स्त्रियाँ समाधिस्थ हुई उनमें रत्नसिंह की रानी भी थी जिसका नाम पद्मिनी था। इन तथ्यों के अतिरिक्त और सब कुछ एक साहित्यिक सं यना है और उसके लिए ऐतिहासिक समर्थन नहीं है।[15]

'पद्मिनी' की ऐतिहासिकता एवं कल्पना के विवाद से परे भी एक अलग पक्ष हैं। वह यह कि पद्मिनी का चरित्र सम्पूर्ण भारतवासियों के जनमानस में विलक्षण आदर्श और गौरवशाली नारी के रूप में प्रतिस्थापित हो चुका है। अपने आत्म सम्मान की रक्षा के लिए शत्रु के हाथों में जाने के बजाय पद्मिनी द्वारा किया गया जौहर भारतीय समाज को हमेशा-हमेशा अनुप्राणित करता रहेगा। यह कथा एक राजपूत प्रणाली के अनुरूप विशुद्ध तथा स्वस्थ परम्परा के रूप में चली आई है उसे सहज में अस्वीकार करना ठीक नहीं। यद्यपि समय के साथ उसके वास्तविक इतिहास में अनेक प्रकार की काल्पनिकता का समावेश हो गया है कई बातें पाठ भेद से तथा वर्णन शैली से विभिन्न रूप में प्रचलित रही हो किन्तु उनका आधार सत्य से हटकर नहीं ढूंढा जा सकता।[16] किन्तु इस तरह के चरित्र का व्यवसायीकरण या प्रतिरूपित छवि के साथ किसी प्रकार की छेड़छाड़ समाज में तनाव, अंतर्विरोध और आक्रोश को ही जन्म देगा भले ही उसका चित्रण कल्पना में ही क्यों न किया गया हो।

पद्मिनी की ऐतिहासिकता को अविश्वनीय, कपोल कल्पित मानने वालो को अपना दृष्टिकोण बदलने की आवश्यकता है। इतिहास लेखन सिर्फ फारसी तवारीखों या किसी एक स्रोत पर आधारित नहीं हो सकते हैं। राजस्थान के डिंगल साहित्य, गीत, परम्परा एवं जैन भंडारों में संग्रहित सांस्कृतिक इतिहास भी बहुत महत्वपूर्ण ऐतिहासिक स्त्रोत है। इतिहास में जनश्रुतियों का भी अपना सांस्कृतिक महत्त्व है, जिसका उपयोग लिखित इतिहास के पूर्व के इतिहास को जानने के लिए किया जाता है। एक या दो अभिलेखों के आधार पर भी किसी अवधारणा या सिद्धान्त को प्रतिपादित करने की परम्परा उचित नहीं है। उपलब्ध एवं मान्य सभी ऐतिहासिक स्रोतों एवं संदर्भ के आधार पर आज इतिहास लेखन और उसके विश्लेषण की आवश्यकता है।

सन्दर्भ

1. *मलिक मोहम्मद जायसी कृत पद्मावत तथा लोकप्रचलित कथा का सारांश*
2. *ब्रिग्ज, फरिश्ता, जि. 1, पृ. 592-93*
3. *अकबरनामा भाग -2, पृ. 274*
4. *भारतीय साहित्य वर्ष 2, अंक 2 में प्रकाशित श्री रतनचन्द्र अग्रवाल का लेख*
5. *गोपीनाथ शर्मा, राजस्थान का इतिहास, पृ. 170*
6. *मरूवाणी मार्च 1967, में प्रकाशित राजवल्लभ सोमानी का लेख पृ. 21-24*
7. *उपरोक्त*
8. *उपरोक्त*
9. *गोपीनाथ शर्मा, राजस्थान का इतिहास, पृ. 172*
10. *ए कॉम्प्रीहेंसन हिस्ट्री ऑफ इंडिया भाग 5, पृ. 370*
11. *शोध पत्रिका, वर्ष 19, अंक 3, पृ. 72-73 में प्रकाशित राम वल्लभ सोमानी का लेख*
12. *एनाल्स एण्ड एन्टीक्वीटिज ऑफ राजस्थान, जेम्स टॉड भाग-1, पृ. 307-11*
13. *श्यामलदास, वीर विनोद, भाग-1, पृ. 237*
14. *(i) उदयपुर राज्य का इतिहास, गौरी शंकर हीराचन्द्र ओझा, भाग- 1, पृ. 189*
    (ii) डॉ. लाल, खिलजी वंश का इतिहास, पृ. 102-107
15. *डॉ. लाल, खिलजी वंश का इतिहास, पृ. 102-107*
16. *गोपीनाथ शर्मा, राजस्थान का इतिहास, पृ. 172*

भित्ति चित्रों से सुसज्जित महामंदिर (जोधपुर)

डॉ. भरत देवड़ा

मारवाड़ महाराज विजयसिंह की मृत्यु 1793 ई. में होने के पश्चात् उनको पौत्र भीमसिंह मारवाड़ का शासक बना। शासक बनने के उपरान्त भीमसिंह ने अपने राजनीतिक प्रतिद्वंद्वियों अर्थात् अपने भाई-भतीजों को मरवाना शुरू किया। भीमसिंह के चचेरे भाई मानसिंह (जो विजयसिंह के पुत्र गुमानसिंह का पुत्र था) ने जालोर दुर्ग में शरण लेकर स्वयं को मारवाड़ का शासक घोषित कर दिया। उसी बीच भीमसिंह की सेना ने मानसिंह को जालोर के किले में घेर लिया यह घेरा 10 वर्षों तक चलता रहा। अन्ततः मानसिंह को जोधपुर की सेना से बचने को कोई रास्ता नहीं दिखाई दिया तो उन्होंने जालोर दुर्ग छोड़ने का निश्चय किया। जब यह समाचार जालोर दुर्ग में स्थित जलन्धरनाथ पीठ के योगी आयस देवनाथ ने सुना तो उन्होंने मानसिंह से 4-5 दिन (21 अक्टूबर 1803 ई. तक) किला नहीं छोड़ने का आग्रह किया तथा कहा कि ''यदि कार्तिक सुदि 6 तक जालोर किले में ही रहे तो मारवाड़ का राज तुम्हें ही मिलेगा।'' इस बीच 19 अक्टूबर 1803 ई. (कार्तिक सुदी 4) को मारवाड़ महाराजा भीमसिंह का स्वर्गवास हो गया।[1] अब मारवाड़ के सेनापति इन्द्रराज सिंघवी ने मानसिंह को मारवाड़ का शासक घोषित कर उन्हें आदर सहित जोधपुर ले आया। 17 जनवरी 1804 ई. को मानसिंह मारवाड़ की गद्दी पर बैठे।[2] महाराजा मानसिंह शासक ही नहीं बल्कि कला एवं साहित्य के प्रेमी भी थे। उन्होंने भक्ति, काव्य और कला की त्रिवेणी ही प्रवाहित कर दी थी। उसके बारे में कहा गया है कि-

जोध बसाई जोधपुर, ब्रज कीनी बिजपाल।
लखनऊ, काशी, दिल्ली, मान करी, नेपाल।।

अर्थात राव जोधा ने जोधपुर बसाया, विजयसिंह ने इसे (पशु-हिंसा बंद करके तथा वैष्णव धर्म का प्रचार-प्रसार करके) ब्रज बनाया और महाराजा मानसिंह ने जोधपुर को (रसिकता में) लखनऊ, (विद्वता में) काशी, राजनीति में (दिल्ली) तथा नाथ सम्प्रदाय के रूप में नेपाल बना दिया।[3] महाराजा मानसिंह द्वारा नाथ सम्प्रदाय के योगियों के लिए बनवाये गये प्रमुख मंदिरों में महामंदिर एवं उदयमंदिर का नाम आता है। यह मंदिर स्थापत्य एवं भित्ति चित्रकला के अद्वितीय कलाकृति है। नाथ साधु आयस देवनाथ की भविष्यवाणी के सही साबित होने से प्रसन्न हो, महाराजा मानसिंह ने उन्हें जोधपुर बुला कर अपना गुरु बनाया।[4] महाराजा मानसिंह ने जोधपुर शहर में जलंधरनाथ का एक भव्य मंदिर बनाया जिसे महामन्दिर के नाम से जाना जाता है। इस मंदिर की प्रतिष्ठा वि. सं. 1861 माघ सुदी 5 (4 फरवरी 1805 ई.) को की गई तथा यहाँ का प्रमुख आयस देवनाथ को नियुक्त किया गया।[5] महाराजा मानसिंह ने 23 सितम्बर 1805 ई. को नाथ सम्प्रदाय की दीक्षा ली तथा वह प्रत्येक सोमवार को अपने गुरु आयस देवनाथजी के दर्शनार्थ महामंदिर जाते थे।[6]

महामंदिर का मुख्य द्वार उत्तर दिशा में खुलता है। मंदिर की अद्भुत कला का दर्शन उसके प्रवेश द्वार से ही हो जाता है। प्रवेश द्वार के ऊपरी भाग में कंगूरों, गवाक्षों तथा झरोखों की उत्कृष्ट कारीगरी दिखायी देती है। संगमरमर के तोरण द्वार पर गरूड़ मूर्तियां मंदिर में प्रवेश करने वालों को सीधे देवलोक ले जाने की प्रतीक मानी गयी है। मंदिर एक विशाल चबूतरे पर बना है। इसके गर्भगृह के चारों ओर 100 कलात्मक स्तम्भ युक्त बरामदा बना हुआ है। मुख्य मन्दिर का काष्ठद्वार भी कलात्मक खुदाई करके बनाया गया है। मुख्य मंदिर के द्वार के पास दायीं तरफ संगमरमर का शिलालेख लगा है। इस अभिलेख के अनुसार महाराजा मानसिंह तथा राजकुमार छतरसिंह के वचनों से वि.सं. 1866 मिगसर सुदी 5 से महामंदिर (नाथपुर) के शरण में आए हुए व्यक्ति की रक्षा की मर्यादा बांधी गयी है।[7] मंदिर में जलंधरनाथ के चरण चिह्न पर चंदन की लकड़ी का गुम्बज बना हुआ है तथा जलंधरनाथ की संगमरमर की मूर्ति सिंहासन पर स्थापित है। लकड़ी के इस गुम्बज पर बारीक नक्काशी तथा सोने की पोलिश कर रखी है। मंदिर के भीतरी भाग में 84 योगासनों तथा प्रसिद्ध नाथ योगियों के भित्तिचित्र बने हुए है। छोटे-छोटे शिखरों के बीच बना मुख्य शिखर अत्यन्त भव्य प्रतीत होता है।[8] महाराजा मानसिंह ने मंदिर परिसर में अपने गुरु आयस देवनाथ तथा जलंधरनाथ के लिए भवन बनवाये। जलंधरनाथ के निवास के बारे में माना जाता है कि इसमें योगियों की आत्मा निवास करती है।[9] मंदिर की सुरक्षा के लिए चारों ओर विशाल प्राचीर बनवायी गयी है। मंदिर खर्च के लिए मानसिंह ने आयात, निर्यात, विक्रय आदि उपकर की आय में से एक भाग देने का निश्चय किया था।[10] महामंदिर को जोधपुर सीमा शुल्क की आय से प्रतिमाह 375 रुपये अनुदान प्राप्त करने का अधिकार था।[11]

महाराजा मानसिंह का चित्रकला में विशेष रुचि थी। उनका समय मारवाड़ चित्रकला का चरमोत्कर्ष काल माना जाता है। इस समय के प्रमुख चित्रों में बारहमासा, जुलूस एवं शिकार दृश्यों, नायक-नायिकाओं के चित्रों के साथ-साथ हमें नाथ भक्ति ग्रंथों जैसे 'नाथ चरित', 'सिद्ध-सिद्धांत पद्धति', 'शिव रहस्य' का चित्रण एवं नाथ मंदिरों के भित्ति चित्रों का चित्रांकन व्यापक स्तर पर देखने को मिलता है। नाथ सम्प्रदाय से संबंधित बने चित्रों से हमें महाराजा मानसिंह की नाथ सम्प्रदाय के प्रति अटूट आस्था एवं चित्रकला में उनकी रूचि दृष्टिपात होती है।[12] महाराजा मानसिंह द्वारा भित्तिचित्रों का निर्माण उनके समय की प्रमुख उपलब्धि है। उनके द्वारा बनवाये गये महामंदिर के भित्ति चित्र अपने आप में अद्वितीय है। महाराजा मानसिंह अपने आप को नाथ योगियों श्री जलंधारनाथ, श्री देवनाथ, लाडूनाथ के साथ चित्रित करवाने में विशेष रुचि लेते थे।[13]

महामंदिर के मुख्य गर्भगृह की दीवार के बाहरी तरफ नाथ-योगियों, लोक देवताओं तथा नाथ-भक्तों के मुख्यत: छवि चित्र देखने को मिलते हैं। यह चित्र हमें गुरु-शिष्य परम्परा में बने हैं। यहाँ गुरु के रूप में गोरखनाथ, जलंधरनाथ, देवनाथ आदि के चित्र मिलते हैं तथा नाथ भक्तों के रूप में गोपीचन्द, गोगा चौहान, जेपसा राठौड़, चिड़ियानाथ, रतन राठौड़, गोगादे राठौड़, मल्लीनाथ, गौड़रामसिंह, दला चारण, काना चारण, भीमा चारण, सबला लालस, धरमसी सोनी, तोली कठियांणी, साहसधीर, दो डाहलीया राजपुत, जयीमल सा, मोहम्मद मुस्तफा आदि के चित्र मिलते है।[14] मंदिर गर्भगृह की दीवार के बाहरी तरफ बने गुरु-शिष्य परम्परा के चित्रों में कुछ चित्र महाराजा मानसिंह के नाथ योगियों के साथ चित्रित किये गये हैं। इस चित्रों में नाथ योगियों के प्रति उनकी श्रद्धा दृष्टिपात होती है। हरे-भरे प्राकृतिक वातावरण के बीच बने पक्के बरामदों में श्री जलंधरनाथ, आयस देवनाथ तथा लाडूनाथ के चित्र अलग-अलग चित्रों में आसन पर बैठे हुए चित्रित किये गये हैं। इन योगियों के सामने भक्त (शिष्य) के रूप में महाराजा मानसिंह को हाथ जोड़े हुए खड़े चित्रित किया गया है। नाथ योगियों को साधु वेश में हाथ तथा गले में रुद्राक्ष माला धारण किये हुए, सिर पर टोपी तथा सिर के पीछे आभामण्डल का चित्रण देखने को मिलता है।[15] महाराजा मानसिंह को घेरदार लम्बा जामा पहने दिखाया गया है। यह जामा इस समय की चित्रकला पर मुगल प्रभाव का सूचक है।

गर्भगृह की दीवार के बाह्य तरफ बने भित्तिचित्रों में हमें गुरु-शिष्य परम्परा के एक अन्य चित्र में नाथ योगी को वट वृक्ष के नीचे तेंदूए की खाल पर बैठे दिखाया गया है जिसके सामने गोगा चौहान नामक नाथ भक्त हाथ जोड़े खड़ा है। राजस्थान के पंच पीरों (पाबूजी, हरभूजी, रामदेवजी, मेहाजी और गोगाजी) का नाथ सम्प्रदाय के साथ गहरा संबंध था। जहाँ एक तरफ इन पंच पीरों की वाणियों में नाथों का वर्णन मिलता है तो वही दूसरी तरफ महामंदिर के भित्तिचित्रों में नाथ योगी गोरखनाथ के सम्मुख गुरु-शिष्य परम्परा के अन्तर्गत गोगाजी चौहान का चित्र मिलता है। लोक देवता गोगाजी चौहान पर नाथ योगी गोरखनाथ का प्रभाव था।[16] यह चित्र हमें योगियों के प्रति पंच पीरों की श्रद्धा का चित्रण करता है। इस चित्र के ऊपरी भाग में एक मंदिर चित्रित है जिस पर केसरिया रंग की ध्वजा लगी है। इस चित्र में हमें नदी, तालाब एवं मोरों के चित्र भी मिलते हैं। इसी के पास घने हरे-भरे वनों, पड़ों पर नृत्य करते मोरों के पास चित्रित नाथ योगी एवं नाथ भक्त चिड़ियानाथ का चित्रण अत्यधिक मनमोहन लगता है। छत को भी अन्तर की तरफ से फूल-पत्तियों, बेल-बूटों से चित्रित किया गया है।[17] एक अन्य चित्र में हरे-भरे पेड़-पौधों के बीच नक्काशीदार पत्थर की रैलिंग के बीच बने जलकुण्ड तथा उसमें लगे फुव्वारें तथा जल में तैरती बतखों को चित्रित किया गया है। इसमें नाथ योगी के सामने दो राजपूत नाथ भक्तों को बैठे हुए चित्रित किया गया है जिनके हाथ में रुद्राक्ष मालाएं धारण कर रखी है। [18] अन्य चित्र में हमें वन के प्राकृतिक दृश्यों के बीच नाथ योगी को विचरण करते हुए दिखाया गया है जिनके पीछे एक स्त्री तोती कठीयांणी का

चित्र है जिसके हाथ में चावर ग्रहण किया हुआ है।[19] नाथ योगियों ने धार्मिक आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया इसकी जानकारी हमें उन भित्ति चित्रों से मिलती है जिनमें गुरु-शिष्य परम्परा के अन्तर्गत नाथ योगियों के सम्मुख नाथ भक्त के रूप में मोहम्मद मुस्तफा तथा साह सधीर का चित्रण मिलता हैं। नाथ सिद्धों को पीर के नाम से पुकारा जाता था। इस प्रकार नाथ योगियों ने हिन्दू-मुस्लिम समन्वय स्थापित करने का कार्य भी किया। हमें गोरखनाथ के पद से भी हिन्दू-मुस्लिम समन्वय का ज्ञान होता है जिसमें कहा गया है कि-

हिन्दू ध्यावै देहुरा, मुसलमान मसीत।
जोगी ध्यावै परमपद, जहां देहुरा न मसीत।। [20]

मंदिर के आतंरिक भाग में बीचों-बीच बना हुआ चंदन की लकड़ी का नक्काशीदार गुम्बज जिस पर सोने की पौलिश की हुई है काष्ठ कला का अद्वितीय नमूना है। इस गुम्बज के नीचे सिंहासन पर योगी जलंधरनाथ की संगमरमर की मूर्ति रखी है। गर्भगृह के भीतर की दीवार व छत पर भित्तिचित्रों का चित्रण किया गया है इनमें श्री जलंधरनाथ, आयस देवनाथ आदि नाथ योगियों के चित्र दीवार के ऊपरी भाग में चित्रित मिलते हैं आंतरिक भागों के भित्ति चित्रों में हमें सुनहरे, हरे, सफेद एव गहरे नीले रंग की प्रधानता देखने को मिलती है। सोने की पोलिश इन चित्रों में बहुतायत में मिलती है। इनमें गुम्बज के नीचे नाथ योगियों को चित्रित किया गया है। इन नाथ योगियों को भगवा वेश में, ध्यान की मुद्रा में, माला जपते हुए चित्रित किया गया है। गुम्बज व उसके स्तम्भों को स्वर्ग रंग से पोलिश किया गया है। नाथ योगी का चित्रण गहरे नीले रंग की पृष्ठभूमि पर किया गया है।[21]

महामंदिर के आंतरिक भित्ति चित्रों के नीचे के भागों में 84 योगासनों का चित्रण किया गया है। यह चित्र हमें नाथ योगियों का योग साधना के प्रति रुचि एवं आसक्ति को दर्शाते हैं। योगासनों के प्रति उनका प्रेम इस उक्ति से चरितार्थ होता है जिसमें कहा गया है कि, 'आसन छूटे नहीं, बंधा टुटे नहीं।' नाथ योगी अपनी शारीरिक विकृतियों को दूर करके स्वस्थ जीवन बिताने के लिए आसन करते। हठयोग के ग्रंथों में 84000 आसनों को वर्णन है जिनमें से 84 विशेष उपयोगी है तथा इनमें भी सिद्धासन, पद्मासन, सिंहासन और भद्रासन को योगसाधना के सर्वोत्तम आसन मानते है जो 72 हजार नाड़ियों को शुद्ध कर मुक्ति का मार्ग खोलते हैं। आसन का अर्थ स्थिर तथा सुखपूर्वक बैठना बताया गया है 'स्थिर सुखम् आसनम्'। नाथ योगी प्राणायाम में भी निपुण थे। प्राणयाम के माध्यम से प्राणवायु को नियंत्रित किया जाता है।[22] नाथ योगियों को आसन एवं प्राणायाम रुचि का प्रमुख उद्देश्य परमात्मा में ध्यान लगाना तथा समाधि की स्थिति को प्राप्त करना इसकी जानकारी हमें नाथ साहित्य से भी होती है जिसमें कहा पाया है कि -

जोगी जा रे जा, अपने प्रीतम सो नेह लगा।
औरन को नाही को बतिया, अपनी पैंज बढ़ा।। (राग तिलंग)
सो जोगी जाके मन में मुद्रा, रात दिवस न करई निद्रा।

मन ये आसण मन में रहणा, मन का जप, तप, मन सूं कहणां।। [23]

इन गीतों में परमात्मा के प्रति योगी की निष्ठा केन्द्रित होने की बात कही गयी है। इसी कारण महामंदिर को भी मुक्ति का स्थान माना गया है। महामंदिर के भिति चित्रों में बने 84 योगासनों का चित्रण प्राकृतिक दृश्यों के बीच किया गया है। यहाँ चक्राकार बादलों, घने वनों, नदी-नालों तथा तालाबों के बीच नाथ योगियों की घास-फूस की बनी कुटियाओं का चित्रण देखने को मिलता है जो वट, पीपल, आम, खजूर जैसे पेड़ों तथा विभिन्न पौधों की फूल-पत्तियों से घिरी हुई है। इन पेड़ों पर मोरों का चित्रण सर्वाधिक देखने को मिलता है। इसमें हमें एक योगी के पास दो सारस तथा एक अन्य योगी के पास एक कोयल का चित्रण मिलता है। इन 84 भित्ति चित्रों में 84 नाथयोगियों द्वारा अपनी कुटियों के सम्मुख, खुले प्राकृतिक वातावरण में योग करते हुए चित्रित किया गया है। इन योगासनों में मुख्यत: सिद्धासन, सुखासन, मयूरामन, शिर्शासन, सूर्य भद्रासन, पद्मासन, पश्चिमोत्तानासन, बालासन के साथ-साथ अनुलोम-विलोग जैसे प्राणायामों को करते हुए नाथ योगियों को चित्रित किया गया है। इन नाथ-योगियों द्वारा अपने बिछौने के रूप में तेंदूएं की खाल, वस्त्र के रूप में लंगोटी का प्रयोग, कानों में कुंडल, गलें में रूद्राक्ष माला तथा जनेऊ धारण किये हुए चित्रिण किया गया है। इन भित्ति चित्रों में कुछ योगियों के लम्बे बाल जो पीछे की तरफ मुड़े हुए तथा दाढ़ी-मूंछ के साथ दिखाया गया है तो कुछ नाथ-योगियों के घुँघराले बालों का चित्रण मिलता लेकिन उनके दाढ़ी-मूंछ का चित्रण नहीं किया गया है। इन चित्रों में सुनहरे व सफेद रंगों की पोलिश, हरे तथा नीले रंगों की प्रधान देखने को मिलती है।[24]

महामंदिर के भित्तिचित्रों की रंग योजना बड़ी आकर्षक है। यहाँ मंदिर के गर्भगृह की दीवारों पर पहले आलागीला (फ्रेस्को-बानो) पद्धति के तहत् गीले पलस्तर पर सफेद रंग का लेप किया गया है जिससे दीवार चमकदार बन गयी तथा सफेद रंग ने स्थायित्व प्राप्त कर लिया। तत्पश्चात् टेम्परा पद्धति (फ्रेस्को-सेको) द्वारा इस दीवार के सूखने के पश्चात यह भित्ति चित्र बनाये गये। इसकी जानकारी हमें वर्तमान में कालकलवित हो रहे इन भित्ति चित्रों के नीचे निकलने वाली चिकने सफेद स्थायी पलस्तर से ज्ञात होती है। दीवारों पर सीप व शंख के चूर्ण के सफेद रंगों का प्रयोग मुगलों ने ईरानियों से तथा राजपुतों ने मुगलो से सीखा था। शंख व सीप के साथ-साथ मारवाड़ में सफेद रंग खड़िया पत्थर, जस्ता तथा सीसे की खाक मिलाकर बनाया जाता इस रासायनिक रंग का नाम जिंक ऑक्साइड था। इन भित्ति चित्रों में हरा, नीला, काला तथा सुनहरी रंग का प्रयोग अधिक देखने को मिलता है। हरा रंग दाना फारंग (पन्नई हरा रंग) तथा हरा भाटा से तथा नील रंग लाजवर्द नामक पत्थरों से बनता जबकि काला रंग काजल में तिल्ली का तेल मिलाकर एवं सुनहरा रंग स्वर्ण से तैयार किया जाता था। स्वर्ण का आकर्षण एवं उसकी चमक के आधार पर महामंदिर के भित्तिचित्रों का चित्रण किया गया है। स्वर्ण चूर्ण को हिलाकारी नाम से जाना जाता है। चित्र में बड़े स्थान पर स्वर्ण लगाने हेतु स्वर्ण

पत्रों को चिपकाया जाता था लेकिन जहाँ कम स्थान एवं बारीक अलंकरण की आवश्यकता होती, वहाँ स्वर्ण चूर्ण में गोंद आदि मिलाकर तूलिका से सुनहरा रंग भरा जाता था। तुलिका मुख्यत: गिलहरी की पूंछ के बालों से बनी होती थी। चित्रांकन से पूर्व चित्रकार सर्वप्रथम अपने विचारों को साकार रूप देने के लिए एक मोटा-मोटा खाका तैयार करते थे जिसे टिपाई रेखांकन कहा जाता था।[25] महाराजा मानसिंह के समय के प्रमुख चित्रकारों में हमें अमरदास भाटी, दाना भाटी, शंकरदास भाटी, रामसिंह भाटी, उदैराम, मोतीराम, माधोदास, सतिदास आदि के नाम मिलते हैं जिन्होंने मारवाड़ चित्रकला शैली को चर्मोत्कर्ष तक पहुँचाया।[26]

इस प्रकार महामंदिर के भित्ति चित्रों में हमें महाराजा मानसिंह तथा अन्य नाथ भक्तों का नाथ योगियों के प्राकृतिक दृश्यों के बीच गुरु-शिष्य परम्परा में बने चित्र हमें महाराज मानसिंह, गोगाजी चौहान, मोहम्मद मुस्तफा आदि का नाथ योगियों को प्रति श्रद्धा को दर्शाता है। प्राकृतिक सौन्दर्य के रूप में पेड़-पौधों, फूल-पत्तियों तथा बेल-बुटों के चित्रण के साथ-साथ चक्राकार बादलों, पक्षियों, जल स्रोतों, फव्वारों का चित्रण मिलता है। मंदिर के आंतरिक भाग में प्राकृतिक सौन्दर्य एवं वनों के बीच 84 नाथ योगियों को विभिन्न आसनों में उनकी कुटिया के समक्ष नीले रंग की पृष्ठभूमि में चित्रित किया गया है। योगियों को ध्यान मुद्रा में चित्रित किया गया है।[27] इन भित्तिचित्रों पर हमें मुगल चित्रकला का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है। जैसे महाराजा मानसिंह का लम्बा घेरदार जामा, सफेद व सुनहरे रंगों की प्रधानता, बेल-बुटों, गुम्बजों, फव्वारों आदि का चित्रण।[28] इस प्रकार महामंदिर के भित्तिचित्र हमें मारवाड़ के शासक महाराजा मानसिंह की चित्रकला में रूचि तथा नाथ सम्प्रदाय के प्रति अटूट आस्था दर्शाते हैं। प्राकृतिक वातावरण में बने 84 योगासन हमें नाथ योगियों की योग एवं प्राणायाम में रुचि व निपूणता दर्शाने के साथ-साथ यह भित्तिचित्र योग, प्राणायाम तथा प्रकृति के महत्त्व को जन सामान्य में संचारित करते है। भौतिकवाद के युग में जहाँ आज मानव मन की अशांति व तनाव जैसी बीमारियों से ग्रसित होता जा रहा है। ऐसे में योग व प्राणायाम से मन की शांति एवं स्वस्थ शरीर के लिए इन योगासनों की उपयोगिता और अधिक बढ़ जाती है। आज आवश्यकता कला के इस अद्वितीय सांस्कृतिक निधिकोष को संरक्षित करने की है। क्योंकि पर्याप्त देखरेख व सुरक्षा नहीं होने के कारण यह मनोरम एवं ज्ञानवर्धक भित्तिचित्र कालकलवित होते जा रहे हैं।

संदर्भ

1. *जोधपुर राज्य की ख्यात, जिल्द - 4, पृ. 1-5; वीरविनोद भाग-2, पृ. 860*
2. *जोधपुर राज्य की ख्यात, जिल्द - 4, पृ. 6*
3. *दाधीच, डॉ. रामप्रसाद, महाराजा मानसिंह (जोधपुर) :व्यक्तित्व एवं कृतित्व, राजस्थानी शोध संस्थान, चौपासनी, जोधपुर 1972, पृ. 94*

4. *जोधपुर राज्य की ख्यात, जिल्द - 4, पृ. 15; वीरविनोद, भाग-2, पृ. 861*
5. *जोधपुर राज्य की ख्यात, जिल्द - 4, पृ. 25*
6. *श्रीमाली, गोविन्दलाल, राजस्थान के अभिलेख, भाग-2, राजस्थानी ग्रंथागार,जोधपुर 2000, पृ. 512; महामंदिर शिलालेख के मूलपाठ से।*
7. *वही*
8. *शर्मा, पद्मजा : जोधपुर के महाराजा मानसिंह एवं उनका काल, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 1974, पृ. 242; व्यक्तिगत सर्वे पर आधारित जानकारी।*
9. *सांखला, कमल किशोर, राजस्थान के नाथ सम्प्रदाय का सांस्कृतिक इतिहास, महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाश शोध केन्द्र, जोधपुर, 2011, पृ. 155-156*
10. *क्षीर सागर, डी.बी. एवं नवलकृष्ण (सम्पादक), राजस्थान के नाथ सम्प्रदाय और साहित्य, खण्ड- चतुर्थ, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, 1997, पृ. 147*
11. *शर्मा, पद्मजा, उपरोक्त, पृ. 147-48*
12. *राठौड़, डॉ. गोविन्दसिंह, मारवाड़ की सांस्कृतिक धरोहर, सुधन प्रकाशन, जोधपुर 1990, पृ. 199; भाटी, डॉ. हुकमसिंह, भारत में नाथां रा आसण, राजस्थानी शोध संस्थान, चौपासनी, जोधपुर 2003 पृ. 88*
13. *भाटी, डॉ. हुकमसिंह, उपरोक्त, पृ. 89; व्यक्तिगत सर्वे पर आधारित जानकारी।*
14. *वही*
15. *व्यक्तिगत सर्वे पर आधारित जानकारी।*
16. *सांखला, कमल किशोर, उपरोक्त, पृ. 170*
17. *व्यक्तिगत सर्वे पर आधारित जानकारी।*
18. *वही*
19. *वही*
20. *सांखला, कमल किशोर, उपरोक्त, पृ. 170*
21. *व्यक्तिगत सर्वे पर आधारित जानकारी।*
22. *बनर्जी, अक्षय कुमार, नाथ योग, पृ. 33-34; नाथा रा आसण, खण्ड-2, प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, पृ. 39*
23. *नाथा रा आसण, खण्ड-3, प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, पृ. 32-33*
24. *व्यक्तिगत सर्वे पर आधारित जानकारी।*
25. *वशिष्ठ, डॉ. धर्मवीर, मारवाड़ की चित्रांकन परम्परा एवं चित्रकार, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी जयपुर, 2011, पृ. 126; व्यक्तिगत सर्वे पर आधारित जानकारी।*
26. *गहलोत, सुखवीर सिंह, जोधपुर का सांस्कृतिक वैभव, राजस्थानी ग्रंथागार, सोजती गेट, जोधपुर 1996, पृ. 113*
27. *सांखला, कमलकिशोर, उपरोक्त, पृ. 41-42; व्यक्तिगत सर्वे पर आधारित जानकारी।*
28. *वशिष्ठ, डॉ. धर्मवीर, उपरोक्त, पृ. 92; व्यक्तिगत सर्वे पर आधारित जानकारी।*

मारवाड़ सनद परवाना बहियों में पंचायत व्यवस्था विषयक संदर्भ (1700-1800 ए.डी.) - एक अध्ययन

प्रो. शिव कुमार भनोत

अठारहवीं शताब्दी कालीन मारवाड़ राज्य में पंचायत-व्यवस्था विषयक अध्ययन के लिये जिन मूल पुरालेखीय स्रोतों[1] का उपयोग बहुत ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो सकता है, उनमें से कतिपय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पुरालेखीय स्रोत शृंखलाएं बीकानेर स्थित राजस्थान राज्य अभिलेखागार में सुरक्षित एवं संगृहीत हैं तथा शोधार्थियों के उपयोगार्थ समुपलब्ध हैं। राज्य अभिलेखागार के जोधपुर खण्ड में प्राप्य बहियों[2] में मारवाड़ सनद परवाना बहियां, मारवाड़ राज्य में पंचायत व्यवस्था विषयक विविध आयामों के सांगोपांग विवेचन के लिये अति समृद्ध सूचनाओं एवं जानकारियों से अटी पड़ी हैं। राज्य अभिलेखागार में मारवाड़ी भाषा तथा मुड़िया (कामदारी) लिपि में लिखी गई इस श्रृंखला की कुल 157 बहियां समुपलब्ध हैं। इनमें से 18वीं शताब्दी कालीन बहियों की कुल संख्या 54 है जो वि.सं. 1821 से प्रारम्भ होकर वि.सं. 1857 तक के कालानुक्रम से सम्बन्धित हैं।[3]

मारवाड़ सनद परवाना बहियात श्रृंखला की इन बहियों में परवानों तथा दरबारी पत्रों आदि की नकलें हैं। इन बहियों में समाहित बहुआयामी सूचनाओं से हमें अठारहवीं शताब्दी कालीन राज मारवाड़ में विद्यमान रही पंचायतों के स्वरूप, प्रकार, गठन, पंचों की नियुक्ति, पंचायतों की बैठक बुलाये जाने की स्थितियों, पंचायतों के कार्यक्षेत्र एवं विषय, कार्य पद्धति, विविध प्रकार के विवादों, जाति[4], गांव[5] एवं व्यावसायिक पंचायतों[6] के क्रियाकलापों, उनके निर्णयों एवं पंचायत-राज्य सम्बन्धों पर विपुल एवं तथ्यात्मक जानकारी प्राप्त होती है। ग्राम्य जनजीवन में उत्पन्न होने वाले विविध प्रकार के पारस्परिक विवादों के स्वरूप तथा उन्हें निबटाने में रही सम्बन्धित पंचायतों की भूमिका, न्यायिक प्रक्रिया आदि को समझने और विवेचित-विश्लेषित करने की दृष्टि से भी इन बहियों में समाहित जानकारियां अपना विशिष्ट एवं असमानान्तर महत्त्व रखती हैं और शोध के अनेक नवीन आयाम प्रशस्त करती हैं।

इन बहियात में समाहित बहुआयामी सूचनाओं का विवेचन और विश्लेषण यह संकेत करता है कि इस कालावधि के दौरान मारवाड़ राज्य में प्रशासन में केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति की विद्यमानता के बावजूद प्रशासन के विकेन्द्रीकरण की महत्ता की स्वीकारोक्ति

पंचायत संस्था को राज्य द्वारा प्रदत्त स्वायत्तता एवं संरक्षण के रूप में दृष्टिगत होती है। जहाँ एक ओर इस कालावधि में राज मारवाड़ के राठौड़ नरेशों[7] द्वारा इस शताब्दी में सत्ता और प्रशासन के केन्द्रीयकरण एवं सुदृढ़ीकरण के प्रयासों से स्थानीय स्तर पर कुलीय राजनीतिक व्यवस्था की स्वतंत्रता एवं स्वायत्तता को अंकुशित एवं नियंत्रित कर उन पर सशक्त नृपतंत्र की पकड़ को सुदृढ़ बनाया गया वहीं स्थानीय स्तर के सामाजिक-सांस्कृतिक, आर्थिक जनजीवन को प्रचलित परम्पराओं और मान्यताओं के परिवेश में जीवित रखते हुए पंचायत जैसी स्वायत्तशासी संस्था को समुचित स्वायत्तता एवं प्रोत्साहन प्रदान किया गया। इससे इस कालावधि में इस संभाग में 'पंचायत' संस्था का महत्त्व तथा प्रभाव और अधिक मुखरित होकर सामने आता दिखाई देता है।

राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर की बहियात शाखा के जोधपुर खण्ड में संरक्षित इस कालावधि की इन मारवाड़ सनद परवाना बहियों में समाहित बहुआयामी सूचनाओं और विपुल तथ्यों से हमें अभी तक अनुत्तरित रहे पंचायत व्यवस्था विषयक कई महत्त्वपूर्ण प्रश्नों के तथ्यात्मक उत्तर ढूंढ़ने में भी मदद मिलती है जैसे - इस कालावधि में हमारे अध्ययन क्षेत्र में पंचायतों का स्वरूप क्या था?; जाति और गांव पंचायतों के अतिरिक्त क्या कोई अन्य प्रकार की पंचायत भी हुआ करती थी?; यदि हाँ, तो उसके गठन एवं कार्य पद्धति विषयक किस प्रकार की सूचनाएं प्राप्त होती हैं और उनसे किस प्रकार की भिन्न पंचायत का स्वरूप मुखरित होकर सामने आता दिखाई देता है?; इनकी संरचना व गठन कैसा था?; पंच कौन व्यक्ति हुआ करते थे?; सुपरिचित कार्य क्षेत्र के अतिरिक्त इनके कार्यपालिका एवं न्यायपालिका सम्बन्धी और क्या कार्य थे?; क्या पंचायतें प्रचलित परम्पराओं की संरक्षा का कार्य ही करती थी?; इनकी स्वायत्तता की परिसीमाएं क्या थीं? राज्य द्वारा इनके क्रियाकलापों व क्षेत्राधिकार में क्या कोई हस्तक्षेप किया जाता था?; यदि हाँ, तो वह हस्तक्षेप किस प्रकार का होता था?; पंचायत और राज्य की पारस्परिक निर्भरता किस प्रकार की थी? राज्य का हस्तक्षेप किस सीमा तक प्रभावी था तथा उस हस्तक्षेप के उपरांत पंचायतों का स्वायत्तशासी स्वरूप अपनी मूल प्रकृति बनाये रखने में किस सीमा तक सफल रहा? सामान्य व्यक्ति को इन संस्थाओं से कितना न्याय मिल सका एवं समाज के मूल स्वरूप को विकृत होने से बचाने की दृष्टि से एवं यथास्थिति बनाये रखने की दृष्टि से पंचायतों का क्या योगदान रहा? आदि।[8]

इन मारवाड़ सनद परवाना बहियों में विविध जाति-पंचायतों के जातीय और सामाजिक आधार पर गठित होने के उल्लेख देखने को मिलते हैं जो न केवल गांवों वरन् कस्बों तथा शहरों में भी सक्रिय थीं।[9] ऐसे गांव भी थे जो एक ही जाति के लोगों से आबाद थे अतएव उन गांवों में वहाँ की जाति पंचायत ही गांव-पंचायत का कार्य भी करती हुई दिखाई पड़ती है।[10] जाति पंच कौन होते थे तथा उनके चयन या नियुक्ति का आधार क्या था?[11] इनकी बैठक किन-किन परिस्थितियों में बुलाई जा सकती थी या

एतदर्थ जाति पंचों को नियुक्ति किया जाता था?[12] क्या राज्य को भी जाति पंचों की नियुक्ति का अधिकार था और आवश्यकता पड़ने पर क्या राज्य ऐसा करता था?[13] क्या दो भिन्न गांवों के समान जाति के व्यक्तियों के पारस्परिक सामाजिक विवादों का निपटारा करने हेतु तीसरे गांव के समान जाति के पंच भी नियुक्त किये जा सकते थे?[14] क्या एक गांव में एक जाति के थोड़े से परिवार होने की स्थिति में वे अपने सामाजिक विवादों के निस्तारण के लिये निकटस्थ गांव की समान जाति-पंचायत से जुड़ सकते थे?[15] जाति पंचायतों की बैठकें प्राय: किन स्थानों पर आयोजित होती थीं?[16] उनकी कार्य पद्धति और प्रक्रिया क्या रहा करती थी[17], इत्यादि प्रश्नों के उत्तर ढूंढ़ने में इन बहियों में समाहित सामग्री बहुत ही उपयोगी प्रमाणित होती है। इन बहियों के अध्ययन से हमें यह ज्ञात होता है कि जाति पंचायतों के कार्य क्षेत्र में आने वाले विवाद प्रमुख रूप से सगाई[18], विवाह[19], विवाहित जीवन[20], पति की मृत्युपरांत विधवा स्त्री की दशा[21], पुनर्विवाह (नाता, पले लगाई, घर में घालना आदि)[22], खोला[23], नारी का क्रय-विक्रय[24], पैतृक सम्पत्ति के बंटवारे[25] तथा अन्य विविध प्रकार के सामाजिक किस्म के विवादों आदि से सम्बन्धित होते थे। इनके द्वारा किये गये विवादों के निस्तारण का और दिये गये दण्डों का स्वरूप क्या था?[26] जैसे विषय पर भी इन बहियों में समाहित सूचनाएं काफी मूल्यवान सूचनाएं प्रदान करती हैं जो समसामयिक मारवाड़ के सामाजिक-सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से अपने आप में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कही जा सकती हैं।

इन बहियों में समाहित जानकारियों से यह भी विदित होता है कि गांव स्तर के अधिकांश नागरिक प्रकृति के तथा ग्राम-समुदाय स्तर के अन्य विवादों का निस्तारण समसामयिक राज मारवाड़ में गांव-पंचायतों के द्वारा किया जाता था। इनका स्वरूप कैसा था तथा इनका गठन किस प्रकार हुआ करता था?[27] इनकी बैठक कब और किन परिस्थितियों में बुलाई जाती थी तथा इनकी बैठक प्रक्रिया क्या थी?[28] इन गांव पंचायतों के कार्यक्षेत्र में किन-किन विषयों को शामिल किया जाता था?[29] आदि प्रश्नों के उत्तर ढूंढ़ने के लिये ये बहियां बहुत ही उपयोगी साबित होती हैं। इन बहियों का अवलोकन करने पर हमें यह ज्ञात होता है कि गांव के पुलिस प्रशासन एवं भू-राजस्व वसूली के प्रशासन को संचालित करने में गांव पंचायतों की कोई स्वतंत्र भूमिका नहीं थी। गांव सम्बन्धी क्षेत्र में शांति व्यवस्था स्थापना का दायित्व सम्बन्धित थानेदार एवं फौजदार का होता था। गांव का मुखिया, ठाकुर और जमींदार आदि सम्बन्धित गांव में यह भूमिका निभाते थे। इसी प्रकार राजस्व वसूली भी सम्बन्धित कर्मचारियों के द्वारा ही की जाती थी।[30] गांव पंचायतों के समक्ष जो समस्याएं समाधान हेतु प्रस्तुत होती थीं या जो विवाद उनके द्वारा सुलझाये जाते थे वे मुख्य रूप से भूस्वत्व अधिकार सम्बन्धी कृषि विवाद जैसे खेत, घर, जमीन, कुएं के स्वामित्व सम्बन्धी झगड़ों[31]; इनके बंटवारे अर्थात् हिस्सा-पांती सम्बन्धी मामलों[32]; खेतों की सींव अर्थात् हद या सीमा सम्बन्धी विवादों[33]; पैतृक भूमि-घर, सम्पत्ति के बंटवारे सम्बन्धी मामलों[34]; साझे की जमीन के बंटवारे[35]; खेत-जमीन

पर अनधिकृत कब्जे[36]; कृषि उपज एवं अतिरिक्त उपज के बंटवारे से सम्बन्धित विवादों[37], दान-अनुदान की भूमि के स्वामित्व से सम्बन्धित झगड़ों[38]; भू-स्वामी को अपनी भूमि काश्त नहीं करने देने सम्बन्धी विवादों[39]; मलबा[40] एवं मुकाता[41] व्यवस्था से जुड़े विवादों आदि से सम्बन्धित थे।[42] इसी के साथ ही साथ ग्रामीण स्तर के आपराधिक मामलों[43], नागरिक प्रकृति के विवादों[44]; दो गांवों की सीमा को लेकर हुए झगड़ों[45]; विविध प्रकार के कर-अवबाब को लेकर उत्पन्न विवादों[46]; करों के निर्धारण, लेहणा-कर्ज को लेकर हुए विवादों[47]; भूमि या वस्तु रेहन रखने से सम्बन्धित विवादों[48]; संतानहीन व्यक्ति की सम्पत्ति के बंटवारे[49], क्रय-विक्रय से जुड़े विविध प्रकार के विवादों आदि को भी इन्हीं गांव-पंचायतों के द्वारा ही सुलझाया जाता था। इन गांव पंचायतों द्वारा विवादों को किस प्रकार निस्तारित किया जाता था और इनके द्वारा दिये गये दण्डों का स्वरूप क्या था?[50] आदि विषयों को समझने की दृष्टि से भी ये बहियां बेहद उपयोगी साबित होती हैं।

इन बहियों में समुपलब्ध जानकारियों से हमें अठारहवीं शताब्दी कालीन राज मारवाड़ में एक तीसरे प्रकार की पंचायतों के अस्तित्वमान होने के प्रमाण भी मिलते हैं जो किसी विशिष्ट व्यवसाय से जुड़े लोगों द्वारा अपने व्यावसायिक हितों के सम्वर्द्धन एवं विवादों के निस्तारण हेतु गठित होती थीं और जिन्हें हम व्यावसायिक पंचायतों का नाम दे सकते हैं। इन पंचायतों के स्वरूप, गठन, कार्य क्षेत्र, कार्य पद्धति एवं निर्णय नि पादन को लेकर विविध प्रकार की सूचनाएं इन बहियों में देखने को मिलती हैं। इनके समक्ष निस्तारण के लिये प्रस्तुत होने वाले विषय मुख्यत: निम्नांकित प्रकार के थे - दो व्यावसायियों के मध्य होने वाला हिसाब का झगड़ा अर्थात् 'लेखे-चोखे का असरचा'[51]; साझे के झगड़े[52]; माल के झगड़े[53]; लेन-देन के झगड़े[54]; ऋण तथा ब्याज अदायगी से जुड़े झगड़े[55] तथा हुण्डी भुगतान सम्बन्धी झगड़े[56] आदि। इनके द्वारा दिये जाने वाले दण्ड मुख्यत: आर्थिक ही होते थे। ये पंचायतें अपने सदस्यों के सामूहिक व्यावसायिक हितों के सम्वर्द्धन एवं रक्षण का कार्य भी करती थीं।

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि अठारहवीं शताब्दी कालीन राज मारवाड़ के सामाजिक-सांस्कृतिक एवं आर्थिक जनजीवन के एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आयाम 'पंचायत-व्यवस्था' सम्बन्धी विविध पक्षों को समझने एवं तद्विषयक टीका-टिप्पणी एवं शोधपरक मीमांसा करने के लिये राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर में संगृहीत मारवाड़ सनद परवाना बहियां और उनमें समाहित बहुआयामी जानकारियां अपना एक विशिष्ट महत्त्व रखती हैं और शोध के नवीन आयाम प्रस्तुत करती हैं।

संदर्भ

1. *द्रष्टव्य - जी.एस.एल. देवड़ा, रिकॉर्ड्स ऑन दी पंचायत सिस्टम इन दी राजस्थान आरकाईव्ज (1700-1800 ए.डी.), शोध लेख, प्रकाशित, दि सोर्सेज ऑफ सोशल एण्ड इकोनोमिक हिस्ट्री ऑफ राजस्थान, सेन्टर फॉर राजस्थान स्टडीज, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, 1977; शिव कुमार भनोत, राजस्थान में पंचायत व्यवस्था, अध्याय-1, जयपुर, 2000*
2. *द्रष्टव्य - शिव कुमार भनोत, पश्चिमी राजस्थान में पंचायत प्रणाली के पुरालेखीय स्रोत, शोध लेख, प्रकाशित, सम आस्पैक्ट्स ऑफ सोशो-इकोनोमिक हिस्ट्री ऑफ राजस्थान एण्ड मालवा (सं. डॉ. नारायण सिंह भाटी), पृ. 155-165, जोधपुर, 1989*
3. *सनद परवाना बही (मारवाड़), नं. 1, वि.सं. 1821; वही, नं. 2, वि.सं. 1822; वही, नं. 3, वि.सं. 1822; वही, नं. 4, वि.सं. 1823; वही, नं. 5, वि.सं. 1823; वही, नं. 6, वि.सं. 1824; वही, नं. 7, वि.सं. 1824; वही, नं. 8, वि.सं. 1825; वही, नं. 9, वि.सं. 1826; वही, नं. 10, वि.सं. 1827; वही, नं. 11, वि.सं. 1828; वही, नं. 12, वि.सं. 1829; वही, नं. 13, वि.सं. 1830; वही, नं. 14, वि.सं. 1831; वही, नं. 15, वि.सं. 1832; वही, नं. 16, वि.सं. 1833; वही, नं. 17, वि.सं. 1833; वही, नं. 18, वि.सं. 1834; वही, नं. 19, वि.सं. 1834; वही, नं. 20, वि.सं. 1835; वही, नं. 21, वि.सं. 1835; वही, नं. 22, वि.सं. 1836; वही, नं. 23, वि.सं. 1836; वही, नं. 24, वि.सं. 1837; वही, नं. 25, वि.सं. 1838; वही, नं. 26, वि.सं. 1838; वही, नं. 27, वि.सं. 1839; वही, नं. 28, वि.सं. 1839; वही, नं. 29, वि.सं. 1840; वही, नं. 30, वि.सं. 1841; वही, नं. 31, वि.सं. 1841; वही, नं. 32, वि.सं. 1842; वही, नं. 33, वि.सं. 1842; वही, नं. 34, वि.सं. 1843; वही, नं. 35, वि.सं. 1843; वही, नं. 36, वि.सं. 1844; वही, नं. 37, वि.सं. 1844; वही, नं. 38, वि.सं. 1845; वही, नं. 39, वि.सं. 1845; वही, नं. 40, वि.सं. 1846; वही, नं. 41, वि.सं. 1846; वही, नं. 42, वि.सं. 1847; वही, नं. 43, वि.सं. 1848; वही, नं. 44, वि.सं. 1849; वही, नं. 45, वि.सं. 1850; वही, नं. 46, वि.सं. 1851; वही, नं. 47, वि.सं. 1852; वही, नं. 48, वि.सं. 1853; वही, नं. 49, वि.सं. 1854; वही, नं. 50, वि.सं. 1854; वही, नं. 51, वि.सं. 1854; वही, नं. 52, वि.सं. 1855; वही, नं. 53, वि.सं. 1856; वही, नं. 54 वि.सं. 1857*
4. *द्रष्टव्य - शिव कुमार भनोत, ऑर्गेनाईजेशन एण्ड रोल ऑफ कास्ट पंचायत्स इन वैस्टर्न राजपूताना (1700-1800 ए.डी.), शोध लेख, प्रकाशित, सम आस्पैक्ट्स ऑफ सोशियो-इकोनोमिक हिस्ट्री ऑफ राजस्थान (सं. जी.एल.एल. देवड़ा), पृ. 226-39, बीकानेर, 1980*
5. *द्रष्टव्य - शिव कुमार भनोत, विलेज पंचायत्स एण्ड रुरल डिस्प्यूट्स इन वैस्टर्न राजपूताना (1700-1800 ए.डी.), शोध लेख, प्रकाशित, इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस (59वां पटियाला सेशन), प्रोसीडिंग्स, 1999*
6. *द्रष्टव्य - शिव कुमार भनोत, पश्चिमी राजस्थान में व्यावसायिक पंचायतें (1750-1818 ई.), शोध लेख, प्रकाशित, राजस्थान हिस्ट्री कांग्रेस प्रोसीडिंग्स ऑफ सिरोही सेशन, पृ. 97-102, जोधपुर, 1984*
7. *महाराजा भीमसिंह जी (1793-1803 ई.), इकतीसवें नरेश; महाराजा मानसिंह जी (1803-1843 ई.), बत्तीसवें नरेश; महाराजा तखतसिंह जी (1843-73 ई.), तेतीसवें*

नरेश; महाराजा जसवंत सिंह जी (द्वितीय) (1873-95 ई.), चौतीसवें नरेश; महाराजा सरदारसिंह जी (1895-1911 ई.), पैंतीसवें नरेश। द्रष्टव्य - पं. विश्वेश्वरनाथ रेउ, मारवाड़ का इतिहास, भाग-1 एवं 2, पृ. 396-517, जोधपुर, 1938 एवं 1940

8. पाद टिप्पणी क्र. 3 की विविध मारवाड़ सनद परवाना बहियां, जोधपुर बहियात खण्ड, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर
9. सनद परवाना बही (मारवाड़), वि.सं. 1822, नं. 3, पृ. 20, 90, 99; वही, नं. 5, वि.सं. 1828, पृ. 236, 257, रा.रा.अ.बी.
10. वही, वि.सं. 1823, नं. 5, पृ. 54; वही, वि.सं. 1824, नं. 6, पृ. 7, रा.रा.अ.बी.
11. वही, वि.सं. 1821, नं. 1, पृ. 22, रा.रा.अ.बी.
12. वही, वि.सं. 1822, नं. 3, पृ. 30, 90, 94; वही, वि.सं. 1828, नं. 10, पृ. 261; वही, वि.सं. 1830, नं. 3, पृ. 40; वही, वि.सं. 1832, नं. 15, पृ. 6
13. वही, वि.सं. 1822, नं. 3, पृ. 93-94
14. वही, पृ. 24
15. वही, पृ. 56
16. वही, वि.सं. 1830, नं. 13, पृ. 74
17. वही, वि.सं. 1822, नं. 3, पृ. 22; वही, वि.सं. 1824, नं. 6, पृ. 5, 30; वही, वि.सं. 1830, नं. 13, पृ. 74
18. वही, वि.सं. 1822, नं. 3, पृ. 90; वही, वि.सं. 1823, नं. 5, पृ. 28(वही, वि.सं. 1824, नं. 6, पृ. 3; वही, वि.सं. 1825, नं. 8, पृ. 149
19. वही, वि.सं. 1822, नं. 3, पृ. 28; वही, वि.सं. 1823, नं. 5, पृ. 105, 257; वही, वि.सं. 1824, नं. 6, पृ. 152; वही, वि.सं. 1825, नं. 8, पृ. 149
20. वही, वि.सं. 1823, नं. 5, पृ. 106; वही, वि.सं. 1828, नं. 11, पृ. 10
21. वही, वि.सं. 1822, नं. 3, पृ. 56; वही, वि.सं. 1824, नं. 6, पृ. 37
22. वही, वि.सं. 1822, नं. 3, पृ. 20; वही, वि.सं. 1823, नं. 5, पृ. 52, 176, 236; वही, वि.सं. 1830, नं. 13, पृ. 40, 136; वही, वि.सं. 1832, नं. 15, पृ. 7
23. वही, वि.सं. 1822, नं. 3, पृ. 61; वही, वि.सं. 1823, नं. 5, पृ. 167
24. वही, वि.सं. 1822, नं. 3, पृ. 130; वही, वि.सं. 1823, नं. 5, पृ. 54, 67, 114; वही, वि.सं. 1824, नं. 6, पृ. 27; वही, वि.सं. 1825, नं. 8, पृ. 252
25. वही, वि.सं. 1822, नं. 2, पृ. 68; वही, वि.सं. 1823, नं. 5, पृ. 83, 87, 119, 132, 133, 135
26. वही, वि.सं. 1822, नं. 3, पृ. 31-32; वही, वि.सं. 1823, नं. 5, पृ. 260; वही, वि.सं. 1824, नं. 6, पृ. 152; वही, वि.सं. 1830, नं. 13, पृ. 136
27. वही, वि.सं. 1823, नं. 5, सावण बद 3; वही, वि.सं. 1832, नं. 15, पृ. 37; वही, वि.सं. 1845, नं. 38, पृ. 7, 13; वही, वि.सं. 1857, नं. 54, पृ. 2
28. वही, वि.सं. 1822, नं. 3, पृ. 39; वही, वि.सं. 1835, नं. 20, पृ. 68; वही, वि.सं. 1840, नं. 29, पृ. 2, 7; वही, वि.सं. 1857, नं. 54, पृ. 6
29. वही, वि.सं. 1822, नं. 3, पृ. 39, 56, 65, 71, 73, 85; वही, वि.सं. 1823, नं. 5, पृ. 32, 51, 119, 142, 243, 301
30. वही, वि.सं. 1835, नं. 20, पृ. 68; वही, वि.सं. 1857, नं. 54, पृ. 6
31. वही, वि.सं. 1822, नं. 3, पृ. 40; वही, वि.सं. 1823, नं. 5, आसाढ़ सुद 3, 89, 90
32. वही, वि.सं. 1822, नं. 3, पृ. 39
33. वही, वि.सं. 1823, नं. 5, आसाढ़ सुद 3
34. वही, वि.सं. 1823, नं. 5, पृ. 89, 90
35. वही, वि.सं. 1822, नं. 3, पृ. 56
36. वही
37. वही, पृ. 57
38. वही, वि.सं. 1823, नं. 5, पृ. 32, 51, 119, 142, 143
39. वही, पृ. 119, 142, 143
40. कोई भी 'चौधरी' या 'आसामी' अपनी अतिरिक्त भूमि, किसी अन्य को जोत पर देने पर उससे 'मलबा' नामक कर वसूला करता था।
41. जब कोई काश्तकार अपनी भूमि को जोतने के लिये उसे किसी अन्य को ठेके पर देता था तो उसे 'मुकाता' कहा जाता था।
42. सनद परवाना बही (मारवाड़), वि.सं. 1823, नं. 5, पृ. 191
43. वही, वि.सं. 1822, नं. 3, पृ. 73
44. वही, वि.सं. 1823, नं. 5, पृ. 190
45. वही, वि.सं. 1822, नं. 3, पृ. 65
46. वही, वि.सं. 1823, नं. 5, पृ. 113, 127
47. वही, वि.सं. 1822, नं. 3, पृ. 71; वही, वि.सं. 1823, नं. 5, पृ. 130, 131
48. वही, वि.सं. 1822, नं. 3, पृ. 85; वही, वि.सं. 1823, नं. 5, पृ. 74
49. वही, वि.सं. 1822, नं. 3, पृ. 71, 85; वही, वि.सं. 1823, नं. 5, पृ. 140, 144, 243, 301
50. वही, वि.सं. 1822, नं. 3, पृ. 39; वही, वि.सं. 1823, नं. 5, पृ. 119
51. वही, वि.सं. 1823, नं. 5, पृ. 79, 273
52. वही, वि.सं. 1822, नं. 3, पृ. 73
53. वही, वि.सं. 1822, नं. 2, पृ. 156; वही, वि.सं. 1822, नं. 3, पृ. 28
54. वही, वि.सं. 1822, नं. 3, पृ. 59; वही, वि.सं. 1823, नं. 5, पृ. 84
55. वही, वि.सं. 1823, नं. 5, पृ. 127, 128
56. वही, वि.सं. 1855, नं. 52, पृ. 10, 18

18वीं सदी में मारवाड़ के व्यापारिक कस्बों का विकास एक पुरालेखीय अध्ययन

डॉ. ताराचन्द बैरवा

अठारहवीं शताब्दी के दौरान मारवाड़ में अनेक व्यापारिक केन्द्रों का विकास हुआ जिनमें जोधपुर, नागौर, पाली, जालौर, मेड़ता, परबतसर, सांभर, मूण्डवा, पचपदरा आदि प्रमुख थे। इन कस्बों का व्यापारिक केन्द्रों के रूप में क्रमशः किस प्रकार विकास हुआ तथा उनका व्यापार में क्या महत्त्व था? इसका वर्णन हम निम्न प्रकार करेंगे –

जोधपुर मारवाड़ राज्य का सबसे बड़ा कस्बा था। व्यापारिक दृष्टि से इसका स्थान बड़ा महत्त्वपूर्ण था। जोधपुर में कापास की सबसे बड़ी मण्डी थी, जहाँ राज्य के समस्त परगना से कपास बिक्री के लिए आती थी और यहाँ से अन्य स्थानों पर व्यापारियों द्वारा ले जायी जाती थी।[1] जोधपुर कपड़ों की रंगाई-छपाई, बन्धेज, चाँदी के छापे के ओढ़ने, लकड़ी और काँच के हिन्डोलें आदि उद्योगों के लिए प्रसिद्ध था।[2] ये वस्तुएँ यहाँ से राजस्थान के विभिन्न प्रदेशों के अलावा देश के अन्य प्रान्तों को भी निर्यात की जाती थी। जोधपुर का व्यापारिक सम्बन्ध राजस्थान के ही नहीं देश के अन्य भागों से भी था, जिनमें जैसलमेर, उदयपुर, कोटा, बीकानेर, सिन्ध, मुल्तान, गुजरात, दिल्ली, बुरहानपुर आदि प्रमुख थे। इन प्रदेशों के व्यापारी अपने साथ वहाँ की निर्मित वस्तुएँ बिक्री के लिए यहाँ लाते थे और यहाँ की निर्मित वस्तुएँ ले जाते थे। जोधपुर की आयात और निर्यात की वस्तुएँ निम्न प्रकार थी –

जोधपुर में आयात की जाने वाली वस्तुएँ

क्र.सं.	कस्बों के नाम जहां से वस्तुंएँ आयात की जाती थीं	आयातितिवस्तुओं के नाम
1.	नागौर[3]	ऊनी कम्बल, बैलों की जोड़ी, लोहे की घरेलू वस्तुएँ, ऊँट, तांबा एवं कांसा के बर्तन, धान, हाथी दाँत की वस्तुएँ।
2.	सोजत[4]	घोड़े की काठियाँ, बन्दूकें, तलवारें, लकड़ी के खिलौने।
3.	पाली[5]	तांबे के बर्तन, अफीम, चन्दन का तेल, चावल, हाथी दाँत की चूड़ियाँ, सिन्दूर, नारियल, कपड़ा।
4.	जयपुर[6]	कपड़ा, गोटा किनारी, धान, कागज, नील, हीरे, मोती आदि।
5.	कोटा[7]	गेहूँ, चना, अफीम आदि।
6.	मेवाड़[8]	गुड़।
7.	फलौदी[9]	नमक।
8.	सिन्ध[10]	ऊँट, घोड़े, सूखे फल आदि।
9.	जैसलमेर[11]	साजीखार।
10.	मुल्तान[12]	घोड़े।
11.	गुजरात[13]	कपूर, मोती, हाथी दाँत, मसाले, खजूर सोहागा, नारियल, कत्था एवं तम्बाकू।

जोधपुर से निर्यात की जाने वाली वस्तुएँ

क्र.सं.	कस्बों के नाम जहाँ से वस्तुएँ निर्यात की जाती थीं	निर्यात की जाने वाली वस्तुओं के नाम
1.	जयपुर[16]	साफे, गुलुबन्द और बैल।
2.	बीकानेर[17]	साफे, बैल, मिर्ची, लकड़ी का सामान आदि।
3.	अजमेर[18]	घोड़े और ऊँट।
4.	कोटा[19]	बैलों की जोड़ी।
5.	सोजत[20]	कपास औ तांबे के बर्तन
6.	रतलाम (मालवा)[21]	घोड़े।
7.	दक्खण (हैदराबाद)[22]	ऊँट एवं घोड़े।
8.	सिन्ध[23]	ऊँट।
9.	फाजिल्का[24]	ऊन।

पाली

पाली मारवाड़ का जोधपुर के बाद सबसे बड़ा और महत्त्वपूर्ण व्यापारिक कस्बा था। 18वीं शताब्दी से पूर्व भी पाली मारवाड़ का एक समृद्ध व्यापारिक कस्बा माना जाता था। जी.एच. ओझा एवं कर्नल टॉड ने अठाहरवीं शताब्दी के दौरान पाली को मारवाड़ का एक बड़ा महत्त्वपूर्ण व्यापारिक केन्द्र बतलाया है।[25] समकालीन स्रोतों से हमें इस दौरान पाली में अनेक व्यापारियों के नाम मिलते हैं जिनमें मुख्य मैसर्स अखैचन्द, केसरीचन्द, शाह नानूराम, रामगोपाल मोहनदास खत्री, तेजभान मुल्तानी, सेठ कुशालचन्द आदि थे।[26] समकालीन स्रोतों से हमें उन व्यापारियों के बारे में भी जानकारी मिलती है जिनकी पाली में भी अपनी व्यापारिक शाखाएँ थी – उनमें जयपुर के नानूराम, गोपालदास, बीकानेर के अखैचन्द, केसरीचन्द आदि प्रमुख थे।[27] पाली में सूती वस्त्रों, बन्दूकों, तलवारों, लोहे एवं

चद्दर के बक्सों तथा लोहे एवं तांबे के बर्तनों का निर्माण बड़े पैमाने पर होता था।[28]

कर्नल टॉड ने पाली का व्यापारिक महत्ता का उल्लेख करते हुए लिखा है – 'पाली पूर्व एवं पश्चिमी प्रदेशों के लिए व्यापार विनिमय का केन्द्र था, जहाँ पर काश्मीर, मालवा और चीन के उत्पादों को यूरोप, अफ्रीका, फारस और अरब के उत्पादों के साथ विनिमय किया जाता था। व्यापारियों के कारवाँ कच्छ और गुजरात के बन्दगाहों से यहाँ हाथी-दाँत, तांबा, खजूर, सुहागा, नारियल, कपड़े, कॉफी, चन्दन की लकड़ी और मसाले लाते थे बदले में यहाँ मुल्तानी हींग, छींट, सूखे मेवे, वस्त्र, जींरा कोटा और मालवा की शक्कर और अफीम और मारवाड़ में निर्मित रेशम, उत्तम-महीन कपड़े, पोटाश, शॉल, रंगे हुए कम्बल, हथियार और नकम अपवने साथ ले जाते थे।[29] पाली के आयात और निर्यात निम्न प्रकार थे –

पाली में आयात की जाने वाली वस्तुएँ

क्र.सं.	कस्बों के नाम जहाँ से वस्तुएँ आयात की जाती थीं	आयातित वस्तुओं के नाम
1.	बीकानेर[30]	धान
2.	पचपदरा[31]	नमक
3.	जालौर[32]	शोरा
4.	किशनगढ़[33]	अफीम
5.	बरेली, कानपुर और मुजफरनगर[35]	शक्कर एवं चावल
6.	कोटा, मेवाड़[36]	अफीम
7.	सिन्ध[36]	चावल एवं सूखे मेवे
8.	मालवा[37]	तम्बाकू

पाली से निर्यात की जाने वस्तुएँ

क्र.सं.	कस्बों के नाम जहाँ से वस्तुएँ निर्यात की जाती थीं	निर्यात की जाने वाली वस्तुओं के नाम
1.	जोधपुर[38]	किमखाब के कपड़े, जायफल, डोडा, चन्दन, केसर, कपूर एवं तांबा।
2.	पचपदरा[39]	गन्धक, लोहा, सूतली, नमक एवं चावल।
3.	नागौर[40]	लोहा।
4.	सोजत[41]	लोहा।
5.	जालौर[42]	गंधक।

6.	जैसलमेर[43]	उत्तम किस्म की सूती कपड़ा, मोटा कपड़ा (रिजा) एवं अफीम।
7.	उमरकोट[44]	अफीम, गुड़, तम्बाकू, तेल एवं काली मिर्च।
8.	सिन्ध[45]	कपड़ा, सूत, हींग, किराना, काली-मिर्च, हल्दी, कत्था, अफीम, हींगलू, गुड़ एवं ऊँट।

नागौर

नागौर भी मारवाड़ का एक प्रसिद्ध व्यापारिक कस्बा था। 'तवारीख तहफतुलकाम' नामक कृति में उल्लेख है कि नागौर एक प्रमुख व्यापारिक कस्बा था, जहाँ सकरलता (बनात) हिन्दुस्तान के दूसरे शहरों से अच्छे बनते थे। महाराजा बख्तसिंह ने व्यक्तिगत रूचि दिखाकर दूर-दूर के प्रान्तों से प्रत्येक कला-कौशल के दक्ष कारीगरों को नागौर में बसने के लिए आमंत्रित किया। 'ऊन' के उत्पादन में नागौर का सबसे प्रमुख स्थान था।[46] कला-कौशल में हाथी-दाँत के खिलौने, पीतल के बर्तन, ऊनी, कम्बल, लोहे, के कड़ाव, ताले, हथियार आदि वस्तुएँ उच्च कारीगरी के साथ निर्मित की जाती थी।[47] नागौर के बैल अपनी उच्च नस्ल के लिए समूचे भारतवर्ष में प्रसिद्ध थे। सिन्ध, मुल्तान और राजस्थान के विभिन्न राज्यों को नागौर से बैल निर्यात किए जाते थे।[48] खनिज पदार्थों की दृष्टि से भी नागौर काफी समृद्ध था। खनिज पदार्थों में यहाँ लाल पत्थर, अभ्रक और जिप्सम की खानें थी, साथ ही नागौर के विभिन्न गांवों में जेसे चूटीसरा, भदाना, मांगलोद एवं खेराट में खड्डी की खानें स्थित थी।[49]

समकालन स्रोतों में हमें उन अनेक व्यापारियों के नाम मिलते है जो यहाँ विभिन्न व्यापारिक गतिविधियों में सक्रिय थे। मलूकचन्द गाँधी, जीवणदास, भारमल, जयकरण जोशी, ठाकुरदास खत्री, बुलाकीदास आदि नागौर के प्रसिद्ध व्यापारी थे।[50] इनके अलावा यहाँ अनेक ऐसे बाहरी व्यापारी भी थे जिनकी यहाँ व्यापारिक शाखाएँ थी, इनमें राधाकिशन, श्यामचन्द्र, वर्धमान, जैतरूप, अखैचन्द, केसरीचन्द आदि प्रमुख थे।[51] सनद परवाना बही नं. 21 में उल्लेख है कि अनेक मुल्तानी व्यापारी नागौर में स्थायी रूप से बस गए थे जिनमें मैसर्स नवनीत राय, ठाकुर भवानीदास आदि प्रमुख थे।[52]

नागौर में आयात की जाने वाली वस्तुएँ

क्र.सं.	कस्बों के नाम जहाँ से वस्तुएँ आयात की जाती थीं	आयातित वस्तुओं के नाम
1.	जोधपुर[53]	कपड़ा।
2.	बीकानेर[54]	धान, किराना, रेशम, सूखे मेवे, सेंधा नमक, हींग, अदरक एवं जायफल।
3.	पाली[55]	लोहा एवं जस्ता।

4.	कधार[56]	घोड़े।
5.	काश्मीर[57]	पश्मीना।

नागौर से निर्यात की जाने वस्तुएँ

क्र.सं.	कस्बों के नाम जहाँ से वस्तुएँ निर्यात की जाती थीं	निर्यात की जाने वाली वस्तुओं के नाम
1.	जोधपुर[58]	धान, मलमल, ऊनी कम्बल, लोहे की घरेलू वस्तुएँ।
2.	जयपुर[59]	बैल।
3.	उदयपुर[60]	बैल।
4.	उमरकोट[61]	कपड़ा, कांसे एवं पीतल के बर्तन, धान, ऊनी कम्बल आदि।
5.	दक्खण (हैदराबाद)[62]	घोड़े।
6.	मुल्तान[63]	ऊँट।
7.	सिन्ध[64]	कपड़ा, सूत, रूई, मिश्री, किराना, लोहे की घरेलू वस्तुएँ, अभ्रक, ऊनी कम्बल।

सांभर

सांभर का व्यापारिक महत्त्व नमक उद्योग के कारण था। सांभर में 'नमक की झील' स्थित होने से यह कस्बा मारवाड़ का एक प्रमुख व्यापारिक केन्द्र बन गया था।[65] सांभर में नमक के खिलौने और कांसे के बर्तन अच्छे बनते थे। यहाँ राजस्थान की नमक की सबसे बड़ी मण्डी थी। यहाँ से नमक निम्न स्थानों को बड़े पैमाने पर निर्यात किया जाता था।[66]

1.	जोधपुर	6.	जयपुर
2.	शेखावाटी	7.	ग्वालियर
3.	बीकानेर	8.	झांसी
4.	बून्दी	9.	गुजरात
5.	कोटा		

फलौदी

फलौदी भी 18वीं सदी के दौरान मारवाड़ का एक प्रमुख व्यापारिक केन्द्र था। यहाँ के व्यापारी अत्यन्त कुशल थे और भारत वर्ष के बड़े-बड़े नगरों में व्यापारिक गतिविधियों में सक्रिय थे। हकीकत बही नं. 3 में उल्लेख है कि सूरतराम फलौदी के सबसे बड़े व्यापारी थे जिनकी उमरकोट जोधपुर पाली आदि में भी शाखाएँ थी।[67] सनद परवाना बही नं. 14 में उल्लेख मिलता है कि फलौदी में नमक की अनेक खानें थीं जहाँ से इसको जोधपुर भेजा जाता था।[68] मारवाड़ री परगना री विगत के अनुसार फलौदी में

नमक की खानें कापरड़ा, कांकाणी, बिलाड़ा, दसोर, भांभी, खारला आदि गांवों में थी।[69]

पचपदरा

यह कस्बा जोधपुर के पश्चिम में स्थित है। पचपदरा का महत्त्व भी 'नमक' उद्योग के कारण रहा है। यहाँ नमक की झील है जिसमें बड़े पैमाने पर नमक तैयार किया जाता था। यहाँ से नमक राजस्थान के समस्त भागों को निर्यात किया जाता था। सनद परवाना बही नं. 9 में उल्लेख है कि पाली के व्यापारी बैलगाड़ियों के द्वारा पचपदरा नमक लेने आते थे।[70] यहाँ से जिन नगरों को नमक का बड़े पैमाने पर निर्यात किया जाता था उनमें पाली, जोधपुर, बीकानेर, जयपुर, बूंदी, कोटा, मेवाड़ और आगरा मुख्य थे।[71] पचपदरा में बाहर से जो वस्तुएँ आयात की जाती थी वे इस प्रकार थीं –

पचपदरा में आयात की जाने वाली वस्तुएँ

क्र.सं.	कस्बों के नाम जहाँ से वस्तुएँ आयात की जाती थी	आयातित वस्तुओं के नाम
1.	जोधपुर[72]	तांबे के बर्तन एवं कपड़े।
2.	पाली[73]	गंधक, लोहा, तांबा एवं लोहे की घरेलू वस्तुएँ।
3.	जयपुर[74]	चावल।
4.	परबतसर[75]	बैल एवं ऊँट।
5.	नागौर[76]	बैल, ऊँट एवं चमड़े की वस्तुएँ।

परबतसर

परबतसर भी मारवाड़ एक महत्त्वपूर्ण व्यापारिक कस्बा था। यहाँ बहुत बड़ा पशु मेला लगता था जिसमें बैलों का बड़ी संख्या में क्रय-विक्रय होता था। यहाँ राजस्थान के समस्त भागों से पशु एवं अन्य व्यापारिक वस्तुएँ क्रय-विक्रय के लिए आती थी।[77] समाकलीन साहित्यिक एवं अभिलेखीय साक्ष्यों में हमें ऐसे अनेक व्यापारियों के विवरण मिलते हैं जिनकी शाखाएँ परबतसर में विद्यमान थी। बीकानेर के कोठारी ज्ञानचन्द और गुलाबचन्द यहाँ के सबसे बड़े व्यापारी थे।[78] खास रूक्का परवाना बही नं. 1 में उल्लेख है कि बीकानेर के व्यापारी हरिनारायण के बेटे-पोते परबतसर में व्यापार करते थे।[79] इन्हीं साख्यों में परतबसर के अनेक स्थानीय व्यापारियों के नाम भी मिलते हैं जिनमें प्रमुख सोभागचन्द, हरकिशोर और जीवराम थे।[80] सनद परवाना बही नं. 24 में उल्लेख मिलता है कि केसरीलाल ब्राह्मण भी परबतसर का एक प्रसिद्ध व्यापारी था, जो परबतसर और नागौर के बीच में व्यापार करता था।[81]

मूण्डवा

मूण्डवा कस्बा जिला नागौर में स्थित है। व्यापारिक दृष्टि से मूण्डवा भी एक

सम्पन्न कस्बा था। यहाँ हर वर्ष चैत्र महीने में बहुत बड़ा पशु मेला लगता था। जिसमें पशुओं के क्रय-विक्रय के अलावा अन्य वस्तुओं का भी व्यापार होता था।[82] सनद परवाना बही नं. 19 में उल्लेख है कि शाह हरकिशन 9 ऊँट माल से भरे हुए उमरकोटसे मूंडवा लाया।[83] सनद परवाना बही नं. 23 में उल्लेख मिलता है कि जोधपुर के सूरतराम व्यास में एक मन अनारदाना मूंडवा से खरीदकर जोधपुर ले गया।[84] सनद परवाना बही नं. 23 में उल्लेख है कि जोधपुर का मूलचन्द कसेरा दो मन तांबा खरीदकर ले गया।[85] हकीकत बही नं. 1 में उल्लेख मिलता है कि दौलतपुर के मनोहरदास, मोहकमदास मूंडवा मेले से 500 ऊँट खरीदकर ले गये।[86]

संदर्भ

1. *सनद परवाना बही नं. 9 वि.सं. 1826 (1769) जोधपुर रिकार्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार बीकानेर।*
2. *जगदीश सिंह गहलोत, मारवाड़ राज्य का इतिहास पृ. 220।*
3. *सनद परवाना बही नं. 21 पृ. 275 वि.सं. 1835 (1778 ई.), सनद परवाना बही नं. 27, पृ. 10 वि.सं. 1838 (1781 ई.), सनद परवाना बही नं. 13, पृ. 8 वि.सं. 1830 (1773 ई.), सनद परवाना बही नं. 10, पृ. 56 वि.सं. 1827 (1770 ई.), जोधपुर रिकार्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।*
4. *सनद परवाना बही नं. 25, पृ. 259 जोधपुर रिकार्ड्स वि.सं. 1838(1781 ई.), राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।*
5. *सनद परवाना बहीनं. 13, पृ. 366, वि.सं. 1830 (1775 ई.),बही परगना री कचेड़ी री जमाखर्च री मासवार, नं. 26 (दफ्तरी हजुरी) जोधपुर रिकार्ड्स राज्य अभिलेखागार, बीकानेर। जोधपुर कोतवाली चौंतरा जमाबन्दी बही नं. वि.सं. 1825 (1768 ई.) जोध ापुर रिकार्ड्स, जोधपुर जिला अभिलेखागार, जोधपुर।*
6. *सनद परवाना बही नं. 21 पृ.292, वि.सं. 1835 (1778 ई.) हकीकत बही नं. 7 पृ. वि. सं. 1857 (1800 ई॰) बही खासै खजाने री बही जमाखर्च (दफ्तरी हजूरी) पृ. 4, वि. सं. 1810 (1735 ई.), जोधपुर रिकार्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।*
7. *राजपूताना गजेटियर भाग द्वितीय, पृ. 119*
8. *वही*
9. *सनद परवाना बही नं. 11, पृ. 44, वि.सं. 1829 (1772 ई.), जोधपुर रिकार्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।*
10. *जोधपुर कोतवाली चौंतरा जमाबन्दी बही नं. 884, वि.सं. 1824 (1764 ई.), जोधपुर रिकार्ड्स, जोधपुर जिला अभिलेखागार, जोधपुर।*
11. *सनद परवाना बही नं. 5, पृ. 312 वि.सं. 1823 (1766 ई.), जोधपुर रिकार्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर। राजपूताना गजेटियर - भाग द्वितीय पृ. 119*
12. *सनद परवाना बही नं. 28, वि.सं. 1838 (1781 ई.), जोधपुर रिकाड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।*

13. *सनद परवाना बही नं.2 वि.सं. (1765 ई.), सनद परवाना बही नं. 13, वि.सं. 1830 (1773 ई.), सनद परवाना बही नं. 19, पे.नं. 17, वि.सं. 1834 (1777 ई.)*
14. *हकीकत बही नं. 4 पृ. 110, 1841 (1784 ई.) हकीकत बही नं. 8, पृ. 445, वि.सं. 1860 (1803 ई.), जोधपुर रिकार्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।*
15. *सनद परवाना बही नं. 25, पृ. 257, वि.सं. 1838 (1781 ई.), जोधपुर रिकार्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।*
16. *राजपूताना गजेटियर भाग पृ. 119।*
17. *सावा मण्डी बहीनं. 4, वि.सं. 1807-10 (1950-53 ई.), खास रूक्का परवाना बही नं. 1, वि.सं. 1821-88 (1764-1831 ई.), जोधपुर रिकार्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।*
18. *सनद परवाना बही नं. 25, पृ. 139, वि.सं. 1838 (1781 ई.), जोधपुर रिकार्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।*
19. *सनद परवाना बही नं. 25, पृ. 470, वि.सं. 1838 (1781 ई.), जोधपुर रिकार्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।*
20. *सनद परवाना बही नं. 20, वि.सं. 1835 (1778 ई.), जोधपुर रिकार्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।*
21. *सनद परवाना बही नं. 13, पृ. 13, वि.सं. 1830 (1773 ई.); जोधपुर रिकार्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।*
22. *सनद परवाना बही नं. 17, पृ. 299, वि.सं. 1833 (1776 ई.); जोधपुर रिकार्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।*
23. *डिस्ट्रिक्ट गजेटियर ऑफ जोधपुर पृ. 220-223*
24. *राजपूताना गजेटियर भाग द्वितीय पृ. 119-120*
25. *जी.एच. ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, पृ. 56 एवं 57*
26. *खास रूक्का परवाना बही नं. 1, 1825 (1768 ई.), जोधपुर रिकार्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।*
27. *खास रूक्का परवाना बही नं. 1, 1847 (1790 ई.) पृ. 84 वि.सं. 1848 (1791 ई.), जोधपुर रिकार्ड्, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।*
28. *टॉड भाग द्वितीय पृ. 27*
29. *वही*
30. *हकीकत बही नं. 4, पृ. 109, वि.सं. 1841 (1784 ई.), जोधपुर रिकार्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।*
31. *हकीकत बही नं. 4, पृ. 105, वि.सं. 1841 (1784 ई.), जोधपुर रिकार्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।*
32. *सनद परवाना बही नं. 25, वि.सं. 1838 (1781 ई.), जोधपुर रिकार्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।*

33. हाथ बहीनं. 4, वि.सं. 1885 (828 ई.), जोधपुर रिकार्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।
34. डिस्ट्रिक्ट गजेटियर ऑफ पाली पृ. 170 एवं 178
35. वही
36. वही
37. वही
38. सनद परवाना बही नं. 25, पृ. 205, वि.सं. 1839 (1781 ई.); जोधपुर रिकार्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर
39. परगना पाली जमाखर्च री हाकम री दफतर री बही नं. 1529 वि.सं. 1835 (1778 ई.), बही परगना पंचपदरा रे कचेड़ी रे कचेड़ी री जमा खर्च री बही नं. 26, वि.सं. 1833 (1776 ई.), जोधपुर रिकार्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।
40. नागौर हुकुमत जमाबन्दी बही नं. 1295, वि.सं. 1834, (1777 ई.), जोधपुर रिकार्ड्स, जोधपुर जिला अभिलेखगार, जोधपुर।
41. सोजत कोतवाली चौतरा जमाबन्दी बही नं. 1830, वि.सं. 1840, (1738 ई.), जोधपुर रिकार्ड्स, जोधपुर जिला अभिलेखागार, जोधपुर।
42. जालौर कौतवाली चौतरा जमाबन्दी बही नं. 759, वि.सं. 1878 (1827 ई.) जोधपुर रिकार्ड्स, जोधपुर जिला अभिलेखागार, जोधपुर।
43. सनद परवाना बही नं. 21 पृ. 235, वि.सं. 1835 (1778 ई.), जोधपुर रिकार्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।
44. सनद परवाना बही नं. 25, पृ. 203, वि.सं. 1838 (1781 ई.), जोधपुर रिकार्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।
45. परगना फलौदी री कचैड़ी री जमाबन्दी बही नं. 1500, वि.सं. 1852 (1795 ई.), बीकानेर रिकार्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।
46. सावा मण्डी सादर बही नं. 4, वि.सं. 1807-10 (750-1753 ई.), बीकानेर रिकार्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।
47. सनद परवाना बही नं. 13, पृ. वि.सं. 1830 (1773 ई.), सनद परवाना बही नं. 20, पृ. 17, वि.सं. 1838 (1778 ई.) सनद परवाना बही नं. 30 पृ. 371, जोधपुर रिकार्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।
48. सावा मण्डी सादर बही नं. 4, वि.सं. 18078-10 (1750-1753 ई.), बीकानेर रिकार्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।
49. मारवाड़ रा परगना री विगत, भाग द्वितीय पृ. 423-24 ।
50. सनद परवाना बही नं. 14, पृ. 44, वि.सं. 1831 (1774 ई.) सनद परवाना बही नं. 19, पृ. 43, वि.सं. 1835 (1778 ई.); सनद परवाना बही नं. 22 पृ. 138, वि.सं. 1836 (1779 ई.) जोधपुर रिकार्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।
51. खास रूक्का परवाना बही नं. ।, पृ. 34, वि.सं. 1827 (1770 ई.), जोधपुर रिकार्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।
52. सनद परवाना बही नं. 21, पृ. 279, वि.सं. 1835 (1778 ई.), जोधपुर रिकार्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।
53. नागौर हुकुमत जमाबन्दी बही नं. 1295, वि.सं. 1834, (1777 ई.), जोधपुर रिकार्ड्स, जोधपुर जिला अभिलेखागार, जोधपुर।
54. सनद परवाना बही नं. 9, वि.सं. 1825 (1768 ई.), सनद परवाना बही नं. 21 पृ. 285, वि.सं. 1835 (1778 ई.)
55. सनद परवाना बही नं. 21, पृ. 285, वि.सं. 1835 (1778 ई.), जोधपुर रिकार्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।
56. सनद परवाना बही नं. 21, पृ. 283, वि.सं. 1835 (1778 ई.), जोधपुर रिकार्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।
57. सनद परवाना बही नं. 25, पृ. 77, वि.सं. 1838 (1781 ई.), जोधपुर रिकार्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।
58. जकता बही नं. 81, वि.सं. 1807 (1750 ई.); बीकानेर रिकार्ड, सनद परवाना बही नं. 21, पृ. 285, वि.सं. 1835 (1778 ई.), जोधपुर रिकार्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।
59. सनद परवाना बही नं. 6, पृ. 31, वि.सं. 1824 (1767 ई.), जोधपुर रिकार्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।
60. सनद परवाना बही नं. 5, पृ. 313, वि.सं. 1823 (1766 ई.), जोधपुर रिकार्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।
61. सनद परवाना बही नं. 25, पृ. 28, वि.सं. 1838 (1781 ई.), सनद परवाना बही नं. 29, पृ. 39, वि.सं. 1840 (1783 ई.); जोधपुर रिकार्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।
62. सनद परवाना ही नं. 26, पृ. 25, वि.सं. 1838 (1781 ई.); जोधपुर रिकार्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।
63. सनद परवाना बही नं. 21, पृ. 39, वि.सं. 1835 (1778 ई.), जोधपुर रिकार्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।
64. परगना फलौदी री कचैड़ी री जमाबन्दी बही नं. 1490, वि.सं. 818 (1761 ई.), जोधपुर रिकार्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, जोधपुर।
65. परगना फलौदी री कचैड़ी री जमाबन्दी बहीनं. 1490, वि.सं. 1818 (1761 ई.), जोधपर रिकार्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, जोधपुर।
66. हाथ बही नं. 2, पृ. 71 वि.सं. 1838 (1781 ई.), जोधपुर बहियात्, बही खेमा रे कारखाने री, नं. 9, वि.सं. 1823 (1766 ई.); जोधपुर रिकार्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।
67. हकीकत बहीनं. 3, पृ. 454, वि.सं. 1840 (1783 ई.), जोधपुर रिकार्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।
68. सनद परवाना बही नं. 14, पृ. 212, वि.सं. 1831 (1774 ई.), जोधपुर रिकार्ड्स,

राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।

69. *मारवाड़ रा परगना री विगत भाग द्वितीय पृ. 34, 35 ।*
70. *सनद परवाना बही नं. 9, पृ. 152, वि.सं. 1826 (1769 ई.), जोधपुर रिकार्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।*
71. *सनद परवाना बही नं. 25, वि.सं. (1781 ई.); सनद परवाना बही नं. 21, पृ. 240, वि. सं. 1835 (1778 ई.); सनद परवाना बही नं. 15 पृ. 4, वि.सं. 1832 (1775 ई.); हाथ बही नं. 4, पृ. 407, वि.सं. 1906 (1849 ई.) हकीकत बही नं. 4 पृ. 109, वि.सं. 1841 (1784 ई.) जोधपुर रिकार्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर। परगना पाली जमाखर्च री बही नं. 1529 वि.सं. 1835 (1778 ई.), जोधपुर रिकार्ड्स, जोधपुर जिला अभिलेखागार, जोधपुर।*
72. *बही परगने पंचपदरा रे कचेड़ी री मासवार नं. 26, वि.सं. 1833 (1776 ई.) जोधपुर रिकार्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।*
73. *वही*
74. *वही*
75. *वही*
76. *वही*
77. *राजपूताना गजेटियर, भाग द्वितीय, पृ. 258 ।*
78. *खास रूक्का परवाना बही नं. ।, 103, वि.सं. 1850 (1793 ई.) जोधपुर रिकार्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।*
79. *खास रूक्का परवाना बही नं. ।, पृ. 225, वि.सं. 1824 (1767 ई.) जोधपुर रिकार्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।*
80. *वही।*
81. *सनद परवाना बही नं. 24, पृ. 237 वि.सं. 1827 (1770 ई.), जोधपुर रिकार्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।*
82. *खास रूक्का परवाना बही नं. ।, पृ. 25-29, वि.सं. 1824 (1767 ई.) जोधपुर रिकार्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।*
83. *सनद परवाना बही नं. 19, पृ. 43, वि.सं. 1835 (1788 ई.), जोधपुर रिकार्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।*
84. *सनद परवाना बही नं. 23, पृ. 20, वि.सं. 1837 (1780 ई.), जोधपुर रिकार्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।*
85. *सनद परवाना बही नं. 23, पृ. 22, वि.सं. 1837 (1780 ई.), जोधपुर रिकार्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।*
86. *हकीकत बही नं. ।, पृ. 640, वि.सं. 1828 (1771 ई.), जोधपुर रिकार्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।*

साहूकारी व्यवसाय : रियासतों एवं ठिकानेदारों के ऐतिहासिक दस्तावेजों का महत्त्व

डॉ. कुलवन्त सिंह शेखावत

देशीय वित्तीय व्यवस्था में साहूकारों की बोहरगत बहियाँ साहूकारी व्यवसाय के संबंध में विभिन्न तथ्यात्मक सूचनाएँ और व्यवस्थाओं पर प्रकाश डालती हैं। मेड़ती की लोकमणी संग्रह बहियाँ एवं नगर-श्री चूरू में उपलब्ध पोद्दार सेठों की बहियों के दस्तावेजों से ऋणी ऋणदाता की सूचना ब्याज दरों ऋण वसूली के तरीकों एवं जमानती व्यवस्था की अच्छी जानकारी मिलती हैं। राजस्थान राज्य अभिलेखागार बीकानेर में उपलब्ध विभिन्न रियासतों : बीकानेर जोधपुर राज्य की क्रमशः कागदों-री-बहियों औरसनद परवाना बहियों के दस्तावेजों तथा राजस्थान अध्ययन केन्द्र, राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर में उपलब्ध मेवाड़ के बेदला पेपरस एवं रूपाहेली पेपरस नाम के नामक संग्रह ठिकानों के दस्तावेजों से साहूकारी व्यवसाय के संबंध में रोचक एवं महत्त्वपूर्ण जानकारियाँ मिलती है जिसमें ऋणदाता के आपसी विवाद राज्य के द्वारा किये गये निर्णय, ऋणियों के हितों की रक्षा के लिए किये गये उपाय एवं ऋण वसूली के तरीके प्रमुख है।

बीकानेर राज्य के दस्तावेज - बीकानेर राज्य की कागदों-री-बहियाँ शासकीय आदेशों का एक अच्छा संग्रह है जिसमें शासन के आदेशों में सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास की भी जानकारी मिलती है। कागदों-री-बही नं. 33/2 में राज्य के द्वारा भादरा, छत्रगढ़, नोहर एवं रावतसर के हवलदारों को शासकीय पत्र भेजे गये। उसमें उन राजस्व अधिकारियों को भादवा बदी द्वितीया विक्रम सम्वत् 1884 (1827 ई.) में आदेश दिया गया कि वे ऋण वसूली की प्रक्रिया में सेठ के मुनीम गुमाश्तों की सहायता करेंगे इन पत्रों से अडाण रखे गये राजस्व स्त्रोतों की प्रक्रिया की अच्छी जानकारी मिलती हैं। चिट्ठा खाता री बही नं. 1 एवं कागदों-री-बही नं. 33/2 में बीकानेर राज्य में छोटे साहूकारों द्वारा ऋण देने की प्रवृति दिखाई देती हैं जो 24 एवं 36 प्रतिशत वार्षिक ब्याज दर पर राज्य को ऋण उपलब्ध करवाते थे। कागदों-री-बही नं.10 के पत्र के अनुसार अजकुमोणी री बहू के पूर्वजों का खेत अडाणे रखा हुआ था जबकि उसकी दयनीय एवं कमजोर स्थिति को देखते हुए दरबार ने साहूकार से रियासत बरतने की हिदायत दी।

जोधपुर राज्य के दस्तावेज - जोधपुर राज्य की सनद परवाना बही नं. 105 एवं 116 के विभिन्न दस्तावेजों से कई ऋण विवादों का उल्लेख मिलता हैं। जो साहूकारी व्यवसाय में प्रचलित नियमों प्रावधानों को रेखांकित करता हैं। राज्य के न्यायालयों द्वारा

प्रचलित प्रावधानों के अनुसार निर्णय दिये थे। सनद परवाना बही नं. 105 में उल्लेख मिलता है कि जोधपुर राज्य के साहूकार बैणी राम के पास संवत् 1865 (1808 ई.) में तेली मुसता अल दादरी ने एक धान का कोठा (अनाज कोष्ठागार) अडाणे रखा था जिसे 1812 ई. में उसकी पुत्री अणदे ने अन्य साहूकार के पास गिरवी रख दिया था। इस पर जोधपुर राज्य साहूकार बैणी राम के पक्ष में निर्णय दिया। सनद परवाना बही नं. 116 में प्राप्त दस्तावेज के अनुसार राज्य की परबतसर कचेड़ी में एक विवाद आया जिसके अनुसार बगसीरात के पास हिन्दूमल की दुकान गिरवी थी। ऋण राशि चुकाने पर भी दूकान देने से बगसीराम इन्कार कर रहा था। राज्य की कचेड़ी ने बगसीराम को ऋण राशि लेकर हिन्दूमल को दूकान सौंपने का आदेश दिया।

ठिकानेदारों के दस्तावेज –ठिकानेदार अपने ठिकाने क्षेत्र में कुछ विशेषाधिकार रखते थे। वह न्यायिक शक्तियाँ भी रखते थे जिससे अपने क्षेत्र की व्यवस्था बनाये रख सके। इसी परिपेक्ष्य में ठिकाने की आर्थिक गतिविधियाँ सुचारू रूप से संचालित रहे, इस हेतु ठिकानेदारों ने साहूकारों को इस प्रकार के निर्देश दिये जो साहूकारी व्यवसाय के प्रावधानों के इतर आदेश थे फिर भी ठिकानेदार द्वारा मानवीय आधार पर ऐसी व्यवस्था थी जिससे ऋणी के हितों की सुरक्षा के साथ साहूकारी व्यवसाय भी चलता रहे। बेदना ठिकानेदार के विक्रम सम्वत् 1827 एवं 1908 के परवानों में क्रमश : साहूकार गुमान बोहरा को जुणदा गाँव के चतुर्भुज चमार को उसका खेत सौंपने का आदेश दिया एवं रामगढ़ शाह धन्ना सुराणा के पास कालू जै सिंह की दूकान गिरवी थी वह गाँव छोड़ कर चला गया तब ठिकानेदार ने उसे पुन: बुलाया और साहूकार धन्ना सुराणा को उससे सवा रुपया प्रतिमाह की किश्त में वसूलने के निर्देश दिये इससे स्पष्ट है कि ठिकानेदार अपने क्षेत्र के कृषक एवं छोटे व्यापारियों के हितों की रक्षा के लिए विशेष परिस्थितियों में ऐसे निर्देश देते थे। इस तरह परम्परागत साहूकारी व्यवसाय के संबंधित इन दस्तावेजों से ऋण वसूली की प्रक्रिया न्यायिक विवादों राज्य की भूमिका और ऋण प्रणाली की सामाजिक पृष्ठभूमि की अच्छी जानकारी मिलती हैं।

सन्दर्भ

1. *कागदो-री-बही नं. 33/2 वि.सं. 1884 (1827 ई.) बीकानेर रिकार्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर*
2. *चिट्ठा खाता री बही नं.1 वि.सं. बीकानेर रिकॉर्ड्स, रा.रा.अ.बी.*
3. *कागदो-री-बी नं. 10 वि.सं. 1854 (1797 ई.) बीकानेर रिकॉर्ड्स, रा.रा.अ.बी.*
4. *सनद परवाना बही नं. 105 वि.सं. 1899 (1824 ई.) जोधपुर रिकॉर्ड्स, रा.रा.अ.बी.*
5. *सनद परवाना बही नं. 116 वि.स. 1906 (1849 ई.) जोधपुर रिकार्ड्स, रा.रा.अ.बी.*
6. *ठिकाना बेदला के परवाने, राजस्थान अध्ययन केन्द्र, रा.वि.वि. जयपुर*

मारवाड़ रियासत के मालाणी परगने की कृषि एवं भू-राजस्व व्यवस्था : सन् 1707 से1818 तक

शंकरसिंह पोटलिया

मालाणी परगना मारवाड़ रियासत का पश्चिमी सीमान्त परगना था। जो अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण मारवाड़ रियासत के 'राठौड़ राजवंश का पालना' कहलाता था।[1] मालाणी परगने का नामकरण 14वीं शताब्दी के एक राठौड़ सरदार एवं सन्त श्री मल्लिनाथ के नाम पर किया गया था। वे रावल की उपाधि धारण करने वाले इस क्षेत्र के पहले शासक थे। मल्लिनाथ जी के पश्चात् यह परगना सम्पूर्ण मध्यकाल में अर्ध स्वतंत्र स्थिति में स्थानीय ठिकानेदारों के अधीन ही रहा।[2] सन् 1818 ई. में जोधपुर राज्य तथा ईस्ट इण्डिया के मध्य हुई सहायक सन्धि के समय मालाणी परगने को भी जोधपुर राज्य का ही भाग मान लिया गया। सन् 1892 ई. में जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंह द्वितीय के आदेश पर मालाणी परगने के तत्कालीन सुपरिन्टेन्डेन्ट मुंशी हरदयालसिंह द्वारा लिखित 'ब्रिफ अकाउण्ट ऑफ मालाणी' के अनुसार मालाणी परगने का कुल क्षेत्रफल 6,488 वर्ग किलोमीटर एवं सन् 1891 की जनगणना के अनुसार जनसंख्या 2,31,184 थी। सम्पूर्ण मालाणी परगना 9 ठिकानों में विभाजित था, जो इस प्रकार थे-जसोल, सिणधारी, बाड़मेर, बिसाला, सियानी, सेतराऊ, चौहटन, गुड़ा एवं नगर।

इस समयावधि में मालाणी परगने की आबादी मुख्यत: ग्रामीण थी तथा यह विरल रूप से अधिवासित थी अर्थात् घरों के मध्य पर्याप्त दूरी होती थी। वर्तमान में भी इस क्षेत्र में अधिकांश विरल अधिवास ही मिलता है। एक गांव में कई जातियों के लोग एक साथ रहते थे। जिस जाति के लोग अधिक होते थे, उस जाति का कोई एक व्यक्ति गांव का मुखिया होता था। गांव में किस जाति के लोग बसते थे? इसकी जानकारी ठिकानों की बहियों में मिलती है।[3] जाट, पटेल, कलबी, रेबारी आदि जातियां खेतीबाड़ी एवं पशुपालन का कार्य करती थी। गांव दैनिक उपयोग की वस्तुओं के लिए आत्मनिर्भर हुआ करते थे। अत: लगभग प्रत्येक गांव में मिट्टी के बर्तन बनाने के लिए कुम्हार, हल, चारपाई व लकड़ी की अन्य वस्तुएं बनाने के लिए सुथार, लोहे की वस्तुओं का निर्माण करने लिए लोहार, घानी से तेल निकलने के लिए तेली, कपडे रंगने के लिए छीपा जैसी जातियाँ निवास करती थी। कुछ गांवों में कंसारा, दरजी, कलाल, हलालखोर, नाई आदि जातियाँ भी निवास करती थी। ये जातियाँ स्वयं प्रत्यक्ष रूप से कृषि से जुड़ी हुई नहीं थी अपितु अपने द्वारा उपलब्ध सेवाओं के बदले लाटा लाटते समय अथवा होली, दीपावली पर कृषकों तथा ठिकानेदारों से अनाज (मुख्यत: बाजरा) प्राप्त करती थी।[4]

कृषिगत परिस्थितियाँ एवं प्रमुख कृषि उत्पाद

मालाणी परगने की जलवायु शुष्क व उष्ण प्रकार की थी। यहाँ सिंचाई के साधनों का नितांत अभाव था। अत: कृषि मुख्यत: वर्षा के साधनों पर ही निर्भर थी। वर्षा के जल का संचय टांकों तथा बावड़ियों में किया जाता था। कुछ गांवों में कुएँ भी होते थे। जिन्हें स्थानीय भाषा में 'बेरा' या 'तळा' का कहा जाता था। कुओं से पानी बैलों या ऊंटों की सहायता से निकाला जाता था। वर्तमान में इस क्षेत्र में खरीफ की फसलों के रूप में बाजरा, मूंग, मोठ, ग्वार, तिल आदि की खेती की जाती है। आलोच्य अवधि में भी इन्हीं फसलों की खेती की जाती थी, जिन्हें 'सावणू' अथवा 'बरसाली' फसलें कहा जाता था। फसल की निराई-गुड़ाई से लेकर भूसी से धान अलग करने तक के कार्य घर-परिवार के सभी सदस्यों द्वारा मिलकर संपन्न किये जाते थे। हासल तथा अन्य करों की अदायगी के बाद इतना अनाज बच जाता था कि अगले वर्ष की फसल पकने तक पर्याप्त हो। फसलों की भूसी को पशुओं के चारे के रूप में प्रयोग किया जाता था। अच्छी वर्षा होने पर कुछ अतिरिक्त अनाज बच जाता था, जिसे बेचकर किसान अन्य आवश्यक वस्तुएं खरीद सकता था।

भू-राजस्व निर्धारण की पद्धति एवं कृषि कर

मारवाड़ के अन्य परगनों की अपेक्षा मालाणी परगने के बहुत कम भाग पूर्ण रूप से आबाद थे। भूमि की ऊर्वरा शक्ति तथा जनसंख्या बहुत कम थी। अत: यहाँ काश्तकारों पर भू-राजस्व की दर भी कम ही निर्धारित थी। यही कारण है कि इस परगने के ठिकानेदारों की आमदनी मारवाड़ के अन्य परगनों के ठिकानेदारों की तुलना में कम थी। जागीरदारों की आय का मुख्य स्रोत भू-राजस्व ही था, जिसे 'हासल' कहा जाता था। यह कुल फसल की उपज पर वसूल किया जाता था। फसल की उपज का हिस्सा भूमि की ऊर्वरा शक्ति पर निर्भर करता था। मालाणी परगने की भूमि की उर्वरा शक्ति बहुत कम थी। अत: हासल की दर भी कम ही थी। सन् 1843-44 ई. में जब अंग्रेजों ने मारवाड़ के अन्य परगनों से कुछ कृषकों को मालाणी परगने में बसाना प्रारम्भ किया, तब ठिकानेदारों ने केवल बाजरे का चौहदवाँ हिस्सा हासल के रूप में लेना तय किया था।[5] इस तथ्य से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इससे पहले भी हासल की दर इतनी ही रही होगी। हासल के निर्धारण की कई प्रणालियाँ प्रचलित थी। 'कूंता प्रणाली' प्रमुख रूप से प्रचलित थी, जिसमें खलिहान में भूसे से अनाज को अलग करने के बाद बनाये गए अनाज के ढेर को देखकर जागीरदारों के कणवारिये उसका अनुमान लगाकर निर्धारित भाग भूमिकर के रूप में ले जाते थे। कभी-कभी कणवारिये खेत में खड़ी फसल को देखकर भी कुल उपज का अनुमान लगा लेते थे। इस पद्धति को 'कांकर कूंता' कहा जाता था।[6] 'लाटा प्रणाली' का भी प्रचलन था, जिसमें अनाज को तोलकर निर्धारित उपज कर के रूप में वसूल की जाती थी।[7] कृषकों से कुछ अन्य कर भी वसूल

किये जाते थे। जैसे-सेरीणो, धुमालो, पान चराई, घासमारी, लिखवाणी, तुलावट, बाड़ आदि।[8]

कृषक वर्ग का जमींदारों के साथ सम्बन्ध

इस समयावधि में मालाणी परगने की प्रशासनिक व्यवस्था मारवाड़ रियासत के अन्य परगनों से भिन्न थी। अन्य परगनों में जहाँ मारवाड़ के महाराजा द्वारा भू-राजस्व वसूल करने तथा सुरक्षा सम्बन्धी कार्यों के लिए हाकिम की नियुक्ति की जाती थी। वहीं मालाणी परगने में इसके अंतर्गत आने वाले ठिकानेदारों को ही ये कार्य करने होते थे। जागीरदार अपने स्तर पर ही भू-राजस्व की वसूली अपने कर्मचारियों की सहायता से करता था। हासल तथा अन्य करों का अनुमान लगाकर उनको वसूल करने वालों को स्थानीय भाषा में 'कणवारियां' बोला जाता था।[9] गाँव का मुखिया चौधरी होता था जो कणवारियों की मदद करता था। जमीन की किस्म, पैमाइश, लगान, आय आदि का हिसाब-किताब कणवारियों को ही रखना होता था। किसानों द्वारा उनकी अच्छी खिदमत की जाती थी, ताकि वे उपज को रिकॉर्ड में कम ही अंकित करे जिससे कि उन्हें कम हासल अदा करना पड़े।

जागीरदारों तथा किसानों के मध्य सम्बन्ध सामन्ती व्यवस्था पर आधारित थे। उन्हें ठिकानेदारों को गद्दी-नशीनी, विवाह एवं विशेष समारोहों तथा त्योहारों पर नजराना भेंट करना पड़ता था। ठिकानेदार, गाँव के लोगों से लाग-बाग वसूल करते तथा बेगार में कार्य करवाते थे। कुछ ठिकानेदार काम के बदले मजदूरी भी दिया करते थे। परगने में भूमि-विषयक अधिकार बहुत स्पष्ट नहीं थे। तात्कालिक परिस्थितियों में इसकी आवक्यकता भी नहीं थी। कृषक ठिकाने की जमीन पर खेती के बदले नियमित हासल की अदायगी करता था। ठिकाने की आर्थिक स्थिति अच्छी होने पर ठिकानेदार गांव के लोगों को आवश्यकतानुसार रुपये उधार देते थे। विवाह, मृत्यु-भोज, तथा गाय, बैल आदि पशुओं को खरीदने के लिए ठिकाने से राशि उपलब्ध करवाई जाती थी, जिसका ब्याज एक से दो रुपये तक लिया जाता था।[10]

सन् 1707 से 1818 ई. तक मालाणी परगने की कृषि भू-राजस्व व्यवस्था अपनी भौगोलिक एवं स्थानीय परिस्थितियों के कारण मारवाड़ रियासत के अन्य परगनों की भू-राजस्व व्यवस्था से विशिष्ट थी। इसकी विशिष्टता के प्रमुख कारण-अनुपजाऊ भूमि, कम जनसंख्या घनत्व, पशुपालन एवं कृषि के अलावा जीविकोपार्जन के न्यूनतम साधन, समय-समय पर पड़ने वाले अकाल व सूखे की स्थिति, आसपास के क्षेत्रों के जागीरदारों तथा डाकुओं द्वारा समय-समय पर की जाने वाली लूटपाट, परगने के ठिकानों पर जोधपुर राजदरबार के न्यूनतम वर्चस्व की स्थिति आदि थे। इस समयावधि में परगने के ठिकानों द्वारा कर मुख्य रूप से कृषि एवं पशुपालन पर ही वसूल किया जाता था।

परगने की सामाजिक एवं राजनैतिक व्यवस्था का इसकी कृषि एवं भू-राजस्व व्यवस्था से घनिष्ठ सम्बन्ध था।

सन्दर्भ

1. *नगर, महेन्द्र सिंह, राड़धरा के जैतमालोत राठौड़ों का ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाश शोध केन्द्र, जोधपुर, 2012, पृ. 15*
2. *सिंह, मुंशी हरदयाल, ब्रीफ अकाउण्ट ऑफ मालाणी, जोधपुर दरबार के आदेश द्वारा प्रकाशित, जोधपुर, 1892, पृ. 17-18*
3. *भाटी, डॉ. हुकमसिंह, मारवाड़ के ठिकानों की पुरालेखीय सम्पदा, राजस्थानी शोध संस्थान, चोपासनी जोधपुर, 2002, पृ. 14.*
4. *वही, पृ. सं 12*
5. *चौधरी, महेश कुमार, मालाणी के महामना क्रांतिवीर चौधरी रामदान, श्री किसान बोर्डिंग हाऊस बाड़मेर, बाड़मेर, 2002, पृ. 148*
6. *सनद परवाना बही संख्या 52, पृ. 33, (वेबसाइट-राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर) URL:- http://rsadapp.rajasthan.gov.in/RSAD.aspx*
7. *सनद परवाना बही संख्या 63 पृ. सं. 16, (वेबसाइट-राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर) URL:- http://rsadapp.rajasthan.gov.in/RSAD.aspx*
8. *मुहता, नैणसी, (संपादक-फतेह सिंह) मारवाड़ रा परगनां री विगत, खण्ड-1, राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, 1968, पृ. 158-159*
9. *सनद परवाना बही संख्या 14, वि. सं 1831, पृ. 59. (वेबसाइट-राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर) URL:- http://rsadapp.rajasthan.gov.in/RSAD.aspx*
10. *भाटी, डॉ. हुकमसिंह, मारवाड़ के ठिकानों की पुरालेखीय सम्पदा, राजस्थानी शोध संस्थान, चोपासनी जोधपुर, 2002, पृ. 13*

कृषि और जल प्रबंधन : बीकानेर के संदर्भ में विश्लेषण

डॉ. मीना कुमारी

राजपूतानें में स्थित बीकानेर रियासत का अधिकांश कृषि क्षेत्र वर्षा जल पर आधारित था। बीकानेर की भौगोलिक परिस्थितियों में यहाँ का अधिकतर भू-भाग रेतीली भूमि से आच्छादित एवं वर्षा की अनियमितता और न्यूनता से युक्त था इस कारण कृषि उचित जल-प्रबंधन पर निर्भर थी। जहाँ कृषि हेतु उचित जल व्यवस्था एवं उपयुक्त भूमि होती थी उसी के अनुरूप उस क्षेत्र में जनसंख्या का घनत्व होता था। राज्य का उतर-पूर्वी भाग अधिक घना बसा हुआ था, जबकि दक्षिणी एवं मध्य भाग छितरा बसा हुआ और पश्चिमी भाग की आबादी बहुत ही कम थी।[1] जी.एस.एल. देवड़ा ने यहाँ की भूमि को पांच भिन्न-भिन्न रूपों में वर्गीकृत किया है जो इस प्रकार से है- धोरा- वह भूमि जो छोटे-बड़े रेतीले टीलों युक्त; ताल-समतल व कुछ सख्त भूमि जहाँ पानी एकत्रित हो जाता हो, खारी पट्टी-क्षारीय तत्व युक्त भूमि; मगरा- बीकानेर के दक्षिण भाग में कंकरीली सख्त भूमि एवं सूंई-समतल एवं चिकनी भूमि।[2] उचित प्रशासनिक व्यवस्था के अन्तर्गत भी भूमि की उत्पादन क्षमता के अनुरूप विभाजन किया गया था।[3] भूमि की बनावट हल्की होने के कारण तेज आंधी बार-बार इसकी उपजाऊ शक्ति को समाप्त करती रहती है। यहाँ कृषि के अधिकांश क्षेत्र में उत्पादन क्षमता बढ़ाने के लिए वर्षा के अलावा सिंचाई के साधन न के बराबर ही थे। पानी पीने के लिए तीन सौ-चार सौ फुट गहरे कुएं से पानी निकालकर सिंचाई करना नामुमकिन था।[4] भूमि की उर्वरता के साथ-साथ यहाँ की जमीन का जल के आधार पर या फिर कृषि हेतु सिंचाई की व्यवस्था के अनुसार भी विभाजन किया गया था। यहाँ सिचाई के कौन-कौन से साधन थे? कितनी और कौनसी भूमि सिंचित होती थी? सिंचाई के अतिरिक्त इस मरुभूमि में कृषि हेतु उचित जल प्रबंधन के कौन-कौनसे तरीके अपनाये जाते थे?

शोधपत्र 'कृषि और जल प्रबंधन : बीकानेर के संदर्भ में विश्लेषण' के अन्तर्गत बीकानेर रियासत की भौगोलिक स्थिति के अनुसार कृषि हेतु जल प्रबंधन के विभिन उपाय, रूपों एवं प्रयत्नों का गवेषणात्मक अध्ययन करेंगे, साथ ही यहाँ के समाज पर इनके प्रभावों को स्पष्ट कर वर्तमान में इसकी प्रासंगिकता को भी व्यक्त किया जायेगा।

बीकानेर रियासत के सम्पूर्ण क्षेत्र में वर्षा की औसत मात्रा में ज्यादा विभेद नहीं था वही यहाँ की भौगोलिक परिस्थितियों के अनुसार यहाँ के भू-जल (पाताल जल)

की प्रकृति एवं उपलब्धता भिन्न-भिन्न थी। कृषि भूमि को जिस रूप और प्रकार से सिंचाई हेतु जल उपलब्ध होता था, उसी के अनुसार उस कृषि भूमि का नामकरण होता था जैसे-जुताई योग्य जमीन मजरुआ नाम से जानी जाती है और इसमें ताल की जमीन उत्तम होती थी। बरसात के पानी से सिंचित होने के उपरान्त यहीं भूमि बारानी नाम से जानी जाती है।[5] वह भूमि जो कृषि हेतु प्रयोग में नहीं ली जाती हो और लेकिन अत्यधिक वर्षा होने के कारण कभी-कभार काम में आये 'बंजर' भूमि कहलाती थी।[6] यहाँ की दक्षिण-मध्यवर्ती भू-भाग में श्रेष्ठ श्रेणी की जमीन होती थी। साथ ही यहाँ भू-जल की प्रकृति एवं उपलब्धता कृषि योग्य थी, जिससे यहाँ की जमीन कुओं द्वारा सिंचित होती थी। कुओं से सिंचित यह भूमि बाड़ी, चाही, एवं बेरी नाम से जानी जाती थी।[7] इसी प्रकार से जिस कृषि भूमि की जल की आवश्यकता की पूर्ति बरसाती नाले से होती थी वह जमीन उन्नाव कहलाती थी। यह भूमि खेती के लिए सर्वश्रेष्ठ श्रेणी में आती थी वहीं बीकानेर का उतर-पूर्वी क्षेत्र पंजाब से बहकर आने वाले पानी से सिंचित होता था उसे नाली की जमीन कहा जाता था।[8] हनुमानगढ़, नोहर, भादरा व रावतसर क्षेत्र में नाली द्वारा खेती किये जाने के तत्कालीन पुरालेखीय स्रोतों में उल्लेख मिलते हैं।[9] जहां पंजाब से जुड़ी कुछ नहरों का पानी लगता था और नाली के पानी से भी अच्छी फसलें होती थी। वि.सं. 1749/1692 ई. में यहाँ उन्हाळू साख की फसल सावणी साख में भी उत्पादित करने का उल्लेख मिलता है। जिससे राज्य को 7048 रुपये 4 आना हासल के रूप में प्राप्त होने की जानकारी मिलती है। इस क्षेत्र में सामान्यत: वर्ष भर में तीन फसलें पैदा की जाती थी, परिणामत: राज्य को तीन बार हासल भी प्राप्त होता था।[10] सुजानगढ़ में भी इस तरह की जमीन थी, जिसमें वहाँ की पहाड़ियों से निकल कर आने वाले जल से सिंचाई होती थी।[11]

इसी तरह राज्य का चुरू क्षेत्र भी बहुत उपजाऊ क्षेत्र था जहाँ वर्षा जल के अतिरिक्त कुओं व तालाबों से भी कृषि की जाती थी। यहाँ के धीरसागर, रामसागर, बाघलों का कुआँ, पावटा कुआँ, नखतराय की कुई, चोलावा कुआँ, आदि मुख्य बड़े तालाब व कुएँ थे, इनके अतिरिक्त बनियों, खातियों, सुनारों, नाईयों, सिसगीर, मणिहारी, कुम्हार, रेगर, मोची तथा खटीक आदि अनेक जातियों के लोगों के पास कुएँ थे, जिनसे राज्य बीघेड़ी कर वसूल करता था।[12] इससे स्पष्ट है कि राज्य को कृषि उत्पादन के बढ़ने से अच्छी आय प्राप्त होती थी।[13]

अध्ययन की सुविधानुसार बीकानेर के कृषि क्षेत्र को दो भागों में विभाजित करते हैं जिसमे प्रथम पूर्ण रूप से वर्षा पर निर्भर कृषि एवं द्वितीय वह कृषि जो वर्षा के साथ-साथ संग्रहित वर्षा जल एवं भू-जल से भी सिंचित होती थी। प्रथम कृषि क्षेत्र में फसल उस क्षेत्र की वर्षा के आधार पर की जाती थी, जबकि वर्षा की कमी एवं अनियमितता के कारण दूसरे सूखा क्षेत्र में जल को धरातल पर या पाताल (भू-जल) में ज्यादा से ज्यादा मात्रा में संग्रहीत किया जाता था। इस मरुस्थलीय क्षेत्र में बहुत ही कम

क्षेत्र की भौगोलिक स्थिति इस प्रकार से थी कि वहां पर सिंचाई के लिए जल संग्रहित किया जा सके। यहाँ की अधिकतर कृषि भूमि में जमा वर्षा के जल पर आश्रित होती थी, इसलिए यहाँ उगाई जाने वाली फसलों को उपयुक्त समय पर और सही मात्रा में उनकी आवश्यकतानुसार जल मिल सके, के हिसाब से ही कृषि की जाती थी।[14] इन सभी विशेषताओं से युक्त होने पर भी कृषि में उत्पादन अच्छा हो, इसके लिए यहाँ के समाज ने ऐसी फसल का चयन किया जो यहाँ की भूमि एवं भौगोलिक वातावरण के अनुकूल हो।[15]

भौगोलिक दृष्टि से बीकानेर की भूमि पड़त की भूमि थी। रेतीली अनुपजाऊ भूमि, सिंचाई के साधनों का अभाव पेयजल की न्यूनता, खाद्य-फसलों की अधिक महत्ता, प्राकृतिक आपदा (अकाल) की अधिकता एवं कृषि योग्य जमीन भी अत्यन्त सिमित थी। यहाँ तक की जोत वाली जमीन भी बिना वर्षा एवं सिंचाई के साधनों के अभाव में बंजर रह जाती थी।[16] यहाँ की भूमि में जल की महत्ता अपने आप में प्रतिपादित होती है कि वर्षा जल से बंजर भूमि में भी उत्पादन संभव होता है।

यहाँ की भौगोलिक परिस्थितियों के अनुसार स्थानीय किसान ने कृषि की व्यवस्था व प्रबंधन इस प्रकार किया था कि वर्षा की कमी के बावजूद यहाँ खेती-बाड़ी होती थी। इस परम्परागत खेती हेतु यहाँ के कृषक वर्षा के आगमन से पूर्व ही तैयारियों में लग जाते थे। वर्षा का जल अच्छी प्रकार से जमीन में समाहित हो जाए, इसके लिए भूमि की उपरी परत पर कुछ सुधार कर उसे जलसह्य बनाकर वर्षा जल की उपलब्ध मात्रा को बहुत हद तक बढ़ाया जाता था। वर्षा से पूर्व खेत में पाड़ की जाती थी। पाड़ में खाली जमीन पर हल से बान (जुताई) किया जाता था, जिससे की वहाँ पर उगे झाड़-घास कटकर जमीन में दब जाते और उनसे बोई जाने वाली फसल के लिए खाद तैयार हो जाती थी। साथ ही पाड़ से जो खूड (हलरेखा) बनती थी उसमें आंधी से उड़कर उपजाऊ मिट्टी भी ठहर जाती थी।[17] जिससे भूमि की उर्वरता बढ़ जाती थी। इसके बाद वर्षा के आने से अनुमानित दस-पन्द्रह दिन पहले सूड़ काटी जाती थी। सूड़ में वहाँ पर खड़े फोग, खीम्प, झाड़ी, बुई, घास, सरकणा को काटकर इकट्ठा करके अळसोटी [18] की जाती थी। तत्पश्चात ऊँट या बैल पर लगे हुए हल से खेत की जुताई की जाती थी,[19] ताकि भूमि से जल सोखने की क्षमता अधिकाधिक बनी रहे और उस भूमि-सतह पर गिरने वाला वर्षा का सारा जल उसी स्थान पर सोख लिया जाए और वहाँ से कम से कम जल बह पाए। इसी के साथ जैसे ही बरसात होनी शुरू होती थी, किसान कस्सी[20] लेकर खेत में मेड़ बंधाई शुरू कर देते थे। एक खेत के पानी को दूसरे खेत में जाने से रोका जाता था, जिससे कि खेतों में पानी की साम्यता और उपजाऊपनता बनी रहे।[21] वर्षा के होने के उपरान्त फसल हेतु बिजाई की जाती जिसमें मुख्य फसल बाजरा, मोठ, ग्वार एवं मूंग थी, इसे तेड़ा[22] का अनाज कहा जाता। इसी के साथ इस ओर विशेष ध्यान दिया जाता था कि भूमि द्वारा सोखा या ग्रहण किया हुआ सारा जल वहाँ पर उगी हुई

अथवा उगायी जाने वाली फसल के लिए ही उपलब्ध रहे और उसकी जड़ों की पहुँच से बाहर न चला जाए।[23] इसी सिद्धांत को अपनाते हुए फसल के उगने और उसके आठ-दस सेमी. बढ़ने के बाद, फसल के साथ पैदा होने वाली घास को काटा या खोदा जाता था, जिसे यहाँ निनाण[24] या 'खुदाई' कहते थे। इन सभी कार्यों से कम वर्षा जल में भी यहाँ की फसल लहलहाती थी। उपर्युक्त सभी कार्य खरीफ की फसल के लिए किए जाते थे जिसे यहाँ सावणी फसल कहा जाता है।[25]

सावणी का अनाज निकालने के बाद रबी की फसल हेतु कृषकों के प्रयास शुरू हो जाते थे। यहाँ रबी की फसल साढ़ी के नाम से जानी जाती है। जैसे ही बीज बोने का समय आता खेत की पाड़ की जाती थी। साढ़ी की खेती के लिए दो पाड़ की जाती थी, एक फसल की बिजाई से लगभग एक महीने पहले और दूसरी दस-बारह दिन पहले जिससे की जो भी घास उगी हुई है वो अच्छे से कट जाये। दूसरी पाड़ (जुताई) के बाद सुहागा[26] लगाया जाता था। सुहागे द्वारा जुताई से जो हलरेखा बनी होती थी उन्हें पाटकर खेत को समतल किया जाता था, जिससे की जमीन की आल (नमी या आद्रता) बनी रहे। रबी की फसल उगने के उपरान्त उसके थोडा बढ़ने पर, फसल के साथ उगी हुई घास (गंदिया घास, घोभी, बेलड़ी इत्यादि) को काटा जाता था, जिसे खोदी करना कहते थे।[27] रबी की फसल के दौरान बारिश होती है वह मावठ कहलाती है। इस प्रकार से यहाँ का किसान अपनी मेहनत और सूझबुझ से अपने जीवनयापन हेतु अच्छी पैदावार प्राप्त कर लेता था।

दूसरी श्रेणी की भूमि जहाँ की सतह से कुछ गहराई पर कड़ी सतह का होना, भूमि की जल रोकने एवं सोखने की क्षमता में कमी ला देता है और वर्षा का अधिकाधिक जल संग्रह-स्थल जैसे-कुआँ, तालाब, झील एवं नाली में संग्रहित किया जाता था। वहीं ताल की भूमि वाली जगह भी वर्षा का पानी इकट्ठा हो जाता था। सुजानगढ़ के तालछापर, पड़िहारा एवं बीदासर के क्षेत्र में ताल की भूमि थी, जिस पर एकत्रित वर्षा जल से खेती की जाती थी। सुजानगढ़ के आसपास वर्षा जल के तर हो जाने वाली नाली में गेहूँ और जौ भी बोया जाता था। बीदावतों की ख्यात में लिखा है कि राव दूदा से जब मेड़ता छूट गया तब वह राव बीदा के पास छापर, द्रोणपुर आया और राव बीदा ने दूदा को कुछ जमीन दी थी जिसमें गेहूँ होती थी।[28] यह जमीन छापर के ताल में दूदा-डाबर के नाम से आज भी ख्यात है। इस तरह से यहाँ गेहूँ की खेती 16वीं शताब्दी में भी होती थी। बीकानेर बहियात के अनुसार बीकानेर रियासत में तालाबों और कुओं से सिंचाई का उल्लेख मिलता है। उदाहरणार्थ चूरू की सावा बही वि.सं. 1882/1825 ई. से ज्ञात होता है कि बीकानेर के चूरू में कुओं और तालाबों से खेतों में सिंचाई होती थी।[29] बीकानेर रियासत में कुओं से सिंचित भूमि बाड़ी नाम से जानी जाती थी। इस तरह की जमीन का उल्लेख मिलता है कि राज्य सरकार द्वारा जब कुआं निर्मित करने की मंजूरी दी जाती थी तो कुछ बड़े कुओं के साथ जमीन का पट्टा भी जारी करने की जानकारी

मिलती है। उदाहरणार्थ नगर-श्री, चूरू के संग्रहालय से प्राप्त ताम्र पत्र की प्रतिलिपि से ज्ञात होता है कि 1812 ई. में महाराजा सूरत सिंह (1787-1828 ई.) ने रतनगढ़ में एक मन्दिर और कुआँ बनवाया था, साथ ही कुएं के नीचे बाड़ी की पांच बीघा जमीन भी दी थी।[30] इसी तरह से राजगढ़ कस्बे में वि.सं. 1974/1917 ई. को शिवप्रताप रामनारायण टिकमाणी को टिकमाणी कुएं के निर्माण के साथ-साथ बाड़ी की जमीन की भी अनुमति मिली थी।[31] चूरू के जोहरी सागर के दक्षिण में करमचन्द नैणसुख, रुक्मानन्द लोहिया ने भी वि.सं. 1921/1964 ई. को 25 बीघा जमीन बाड़ी हेतु मिली थी, इसी के साथ कुआँ भी बनाया गया था साथ ही मालियों को बसाने का आदेश हुआ ताकि बाड़ी-कुएँ की सार-सम्भाल हो सके।[32] आज भी इस बाड़ी को लोहियों की बाड़ी के नाम से जाना जाता है। मालियों द्वारा खेत व बाड़ी बहाई जाती थी और राज्य द्वारा उन पर इस कार्य हेतु कर वसूल किया जाता था।[33] बीदावतों की ख्यात के अनुसार बीदासर के ठाकुर केशवदास ने चाचा मिसण को डोभड़ा नाम से जिहली गाँव में 2000 बीघा जमीन कुएं-तालाब के साथ दी थी।[34] इससे ज्ञात होता है कि सुजानगढ़ के पास के क्षेत्र में कुएं-तालाबों से भी सिंचाई होती थी।

वर्षा की अनियमितता और सिंचाई के साधनों के सीमितता ने यहाँ के जन-जीवन को अत्यन्त प्रभावित किया। जहाँ जिस क्षेत्र में सिंचाई के साधन और भूमि की किस्म अच्छी होती थी, वही जगह लोगों को रहने के लिए अनुकूल लगती थी। भूमि की उर्वरता और कृषि हेतु जल का प्रबन्धन कुछ प्रयत्नों के उपरान्त हो जाता था वहीं राज्य में बस्तियां बसाई जाती थी। यही कारण था चीरों में गाँव की संख्या का कम ज्यादा होना। उत्तर-पूर्व क्षेत्र के चीरे और परगने नोहर, रीणी एवं राजगढ़ में क्रमशः 124, 129 एवं 157 गाँव थे, जबकि महाजन, खेदड़ा और पूगल में क्रमशः 69, 25 और 50 गाँव थे।[35] कृषि की आधारभूत जरूरतों के अभाव में 50 प्रतिशत से ज्यादा जमीन कृषि योग्य होने के बावजूद भी, एक तिहाई से कम जमीन में जुताई-बुवाई होती थी।[36] बीकानेर राज्य के अधिकांशतः मध्य व दक्षिणी भाग में कृषि कार्य मुख्यतः वर्षा के जल पर ही निर्भर करता था। इन क्षेत्रों में बाजरा, मोठ, ज्वार तथा तिल आदि की खेती की जाती थी।[37] बीकानेर राज्य के भटनेर, अनूपगढ़ क्षेत्र में नाली (घग्घर नदी का पानी) का अपवाह तंत्र विस्तारित था जहाँ नाली के पानी से वर्ष में 3 बार फसलें उत्पादित की जाती थी। नाली के प्रभाव क्षेत्र में भी रैय्यत द्वारा जल के वितरण को लेकर अवरोध उत्पन्न किये जाते थे जिसे सरकार द्वारा निर्बाधित किया जाता था।[38] इस प्रकार राज्य प्रशासन द्वारा कृषि को प्रोत्साहन देने के लिए भरसक प्रयत्न किए जाते थे।

कृषि हेतु परम्परागत जल-प्रबंधन होने पर भी यह पर्याप्त नहीं था, इसी कारण यहाँ के कृषक वर्ग ने पक्षुपालन को अपनी आजीविका के पर्याय के रूप में अपनाया। सन् 1930 की बैकिंग इन्क्वायरी कमेटी के अनुसार यहाँ के अधिकांश ग्रामीण लोग विशेष रूप से पशुपालन पर ही निर्भर थे।[39]

निष्कर्षत: कह सकते है कि बीकानेर राज्य में कृषि के विपरीत परिस्थतियों के होने के बाद भी यहाँ के कृषक वर्ग ने कम व र्ा जल का कृषि हेतु इस तरह से प्रबंधन किया कि उससे यहाँ खाद्य फसल की पैदावार अच्छे से हो जाती थी। उचित फसल के लिए न केवल यहाँ कुए-तालाब से सिंचाई होती थी बल्कि जो वर्षा जल जमीन पर गिरता था उसकी एक बूंद भी अपने परम्परागत तरीके से व्यर्थ नहीं जाने देते थे। कृषि हेतु उचित जल प्रबंधन बुवाई से पहले ही शुरू हो जाता था और कटाई के बाद भी अगली फसल हेतु खाद-जल की व्यवस्था हेतु आवश्यकतानुसार कार्य किये जाते थे। जल प्रबन्धन और भूमि सुधार के जो भी कार्य किये जाते थे वो पर्यावरण को किसी तरह से नुकसान नहीं पहुंचाते थे। आज की तरह वैज्ञानिक तकनीकी युक्त खेती नहीं थी, जो पैदावार तो भरपूर देती है परन्तु पर्यावरण के लिए अत्यन्त हानिकारक सिद्ध होती जा रही है। अत: आज के इस आधुनिक दौर में यदि सीमित वैज्ञानिक कृषि पद्धति के साथ पारम्परिक कृषि प्रणाली को अपनाया जाये तो न केवल हम पर्यावरण को दूषित होने से बचायेंगे अपितु जल की कमी की समस्या से भी निपट लेंगे। इस समस्या को मरुस्थलीय क्षेत्र में कृषि हेतु बूंद-बूंद या फव्वारा प्रणाली अपनाकर कम जल में भी अच्छी पैदावार प्राप्त की जा सकती है।

सन्दर्भ

1. *जी.एस.एल. देवड़ा, राजस्थान की प्रशासनिक व्यवस्था (1574 से 1818 ई.), धरती प्रकाशन, बीकानेर, प्रथम संस्करण 1981, पृ. 213*
2. *जी.एस.एल. देवड़ा, राजस्थान की प्रशासनिक व्यवस्था, पृ. 211; धान रे भोग री बही, वि.सं. 1736/1679 ई., नं. 57; फेगन - सेटलमेंट रिपोर्ट, पृ. 3-4; सोढ़ी हुकुमसिंह, ज्योग्राफी ऑफ बीकानेर, पृ. 3-5*
3. *जी.एस.एल. देवड़ा, रेगिस्तानी क्षेत्र में कृषि भूमि व उसका वर्गीकरण, राजस्थान हिस्ट्री कांग्रेस प्रोसिडिंग, वोल्यूम 9, कोटा, 1976, पृ. 37-38*
4. *मीना कुमारी, चुरू मंडल का परम्परागत जल प्रबंधन (अप्रकाशित शोध प्रबंध), कोटा विश्वविद्यालय, कोटा 2015, पृ. 244; जी.एस.एल. देवड़ा, रेगिस्तानी क्षेत्र में कृषि भूमि व उसका वर्गीकरण, राजस्थान हिस्ट्री कांग्रेस प्रोसिडिंग, वोल्यूम 9, कोटा 1976, पृ. 36*
5. *सूरजभान, बारानी क्षेत्रों में जल प्रबंधन, भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली 2006, पृ. 1, 2; जी.एस.एल. देवड़ा, राजस्थान की प्रशासनिक व्यवस्था, पूर्वोक्त, पृ. 211*
6. *जी.एस.एल. देवड़ा, पूर्वोक्त, पृ. 211*
7. *मरू-श्री, लोक-संस्कृति शोध संस्थान, नगर-श्री,चुरू, जुलाई-दिसम्बर 1982 वर्ष 11, अंक-4, वर्ष 12, अंक-1, पृ. 48; जी.एस.एल. देवड़ा, राजस्थान की प्रशासनिक व्यवस्था, पृ. 212*
8. *जी.एस.एल. देवड़ा, पूर्वोक्त, पृ. 212*

9. *सावा बही हनुमानगढ़, जमा खर्च, नं. 5, वि.सं. 1888-94/1831-37 ई., पृ. 55, 59, बीकानेर रिकॉर्ड्स*
10. *राजेन्द्र कुमार, थार मरुस्थल में जल वितरण से सम्बद्ध कराधान प्रणाली (18-19वीं सदी के सन्दर्भ में) उद्धृत - जल, जीवन और समाज (संपा.) डॉ. जिब्राइल, एनी पब्लिकेशन, दिल्ली, 2018, पृ. 134-136*
11. *बीदावतों की ख्यात, पृ. 19; गौरीशंकर हीराचंद ओझा, बीकानेर राज्य का इतिहास, प्रथम भाग, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, 1939, पृ. 9*
12. *राजेन्द्र कुमार, थार मरुस्थल में जल वितरण से सम्बद्ध कराधान प्रणाली (18-19वीं सदी के सन्दर्भ में), पृ. 134-136*
13. *राजेन्द्र कुमार के आलेख - 'थार मरुस्थल में जल वितरण से सम्बद्ध कराधान प्रणाली (18-19वीं सदी के सन्दर्भ में)' से जानकारी प्राप्त होती है कि बीकानेर राज्य में बंजर जमीन को अधिक से अधिक खेतिहर बनाने के लिए राज्य द्वारा अनेक नियम बनाए गए थे, जिनका पालन कृषक वर्ग तथा पसायतियों के लिए अनिवार्य था।*
14. *कागद बही, नं. 33, वि.सं. 1884/1827 ई., पृ. 69, बीकानेर रिकॉर्ड्स*
15. *मीना कुमारी, चुरू मंडल का परम्परागत जल प्रबंधन (अप्रकाशित शोध प्रबंध), कोटा विश्वविद्यालय,कोटा 2015, पृ. 245*
16. *जी.एस.एल. देवड़ा, रेगिस्तानी क्षेत्र में कृषि भूमि व उसका वर्गीकरण, राजस्थान हिस्ट्री कांग्रेस प्रोसिडिंग, वोल्यूम 9, कोटा 1976, पृ. 37-38*
17. *सर्वे के दौरान श्रीडूंगरगढ़ के वयोवृद्ध किसानों से जानकारी मिली श्री शम्भूलाल, श्री हरदत राम।*
18. *अळसोटी - घास-फूस को इकट्ठा कर ढेर लगाना, जिसे यहाँ की क्षेत्रीय भाषा में मिरड़ा भी कहते हैं।*
19. *साक्षात्कार- स्थानीय किसानों से।*
20. *कस्सी - लोहे का आयताकार फावड़ा, जिसका हत्था खेजड़ी के पेड़ की लकड़ी का होता है।*
21. *सर्वेक्षण के दौरान बनवारी लाल जांगिड़ (कृषक उम्र 87 वर्ष), रोजड़ी, सिद्धमुख से जानकारी प्राप्त हुई।*
22. *तेड़ा - मूंग-मोठ-बाजरा-गवार चारो अनाज की इकट्ठी बुवाई।*
23. *सूरज भान, बारानी क्षेत्रों में जल प्रबंधन, भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली 2006, पृ. 5*
24. *निनाण - कसिये से, जो की लोहे का एक त्रिभुजाकार ओजार होता है जिसका हत्था सात-आठ फुट का बांस का होता है ऋ खेत की गुड़ाई या खुदाई करना।*
25. *साक्षात्कार-कुननाराम, गिरधारीलाल एव खिराजराम (सभी की उम्र लगभग 85 से ऊपर), बिरमी बड़ी, राजगढ़*
26. *सुहागा - खेजड़ी के पेड़ का एक लम्बा-चोकोर फट्टा, जिसे ऊंट या बैल के पीछे बांधा जाता था और अच्छे दबाव हेतु उसपर एक व्यक्ति भी खड़ा हो जाता था।*

27. साक्षात्कार - जयमल मंडवाल, अमरचंद खाती, मनीराम बैनीवाल, भिरानी, हनुमानगढ़
28. गोविन्द अग्रवाल, चुरू मण्डल का शोधपूर्ण इतिहास, लोक संस्कृति शोध संस्थान, नगर-श्री, चूरू, प्रथम संस्करण 1974, पृ. 9; बीदावतों की ख्यात (अप्रकाशित), पृ. 19; गौरीशंकर हीराचंद ओझा, बीकानेर राज्य का इतिहास, प्रथम भाग, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर 1939, पृ. 9
29. सावा बही, चूरु, नं. 2, वि.सं.1882/1825 ई. इमेज 49-63 (ऑनलाइन सर्वर), राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर
30. ताम्र पत्र नकल, लोक संस्कृति शोध संस्थान, नगर श्री, चूरू; गोविन्द अग्रवाल, पूर्वोक्त पृ. 353
31. नम्बर मिसल 398 तारीख मरजुआ 27.6.17 नाम तहसील राजगढ़ नम्बर 96, टिकमाणी मुनीम लक्ष्मीनारायण के सौजन्य से पट्टा नकल प्राप्त हुई
32. मरू-श्री, जुलाई-दिसम्बर 1982 पूर्वोक्त, पृ. 48
33. बही जमा खर्च, नं. 2, वि.सं. 1855/1798 ई., पृ. 2, बीकानेर रिकॉर्ड्स
34. गोविन्द अग्रवाल, पूर्वोक्त, पृ. 359
35. जी.एस.एल. देवड़ा, पूर्वोक्त, पृ. 213
36. जी.एस.एल. देवड़ा, पूर्वोक्त, पृ. 213, उद्धृत-फेगन सेटलमेंट रिपोर्ट, बीकानेर, पृ. 6-7
37. कागद बही, नं. 24, वि.सं. 1875/1818 ई., पृ. 180, बीकानेर रिकॉर्ड्स
38. राजेन्द्र कुमार, थार मरुस्थल में जल वितरण से सम्बद्ध कराधान प्रणाली (18-19वीं सदी के सन्दर्भ में), पृ. 134-154
39. गिरिजाशंकर शर्मा, मारवाड़ी व्यापारी, कृष्ण जनसेवी एण्ड को., बीकानेर, पृ. 99 उद्धृत - रिपोर्ट ऑफ बीकानेर बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी, 1930, पृ. 70, रा. रा. अभि. बीकानेर

राजस्थान में मेघवाल जाति का ऐतिहासिक आधार एवं सामाजिक स्वरूप : एक दृष्टिकोण

प्रो. अरविन्द परिहार

प्राचीन भारतीय इतिहास पटल पर कई ऐसी कौमें हुई हैं जिन्होंने भारतीय संस्कृति को समृद्ध किया, किन्तु आज उनके बारे में उपलब्ध इतिहास बहुत कम है या लुप्त प्राय: है। विजेता जातियों ने पराभव को प्राप्त इन कौमों का इतिहास के पन्नों से नामो-निशान मिटाने का प्रयास किया। फलस्वरूप आज की दलित-पिछड़ी जातियां स्वयं यह मान बैठी कि वे सदा से ही ऐसी दयनीय स्थिति में रहे हैं।

अतीत के कई गौरवशाली जातियां जो कभी-कभी शासक वर्ग से भी सम्बन्धित रही, आज बहिष्कृत अथवा वंचित समाज के रूप में जानी जाती है। वर्तमान युग की कई दलित-पिछड़ी जातियां अपना गौरवशाली इतिहास खोजने में सफल हो रही हैं। अतीत में विजेता जातियों ने पराभव को प्राप्त इन कौमों के न केवल अधिकार हड़पने अपितु इतिहास के पन्नों से उनका नामो-निशान तक मिटाने का कार्य भी किया। कई जातियां काल-कलवित हो गई और आज इनका नाम लेने वाला तक कोई नहीं है। ऐसे में मेघवंश अर्थात् मेघवाल जाति ने अपना पराभव के बाद भी खुद का वजूद बनाये रखा तो इतिहास के परिप्रेक्ष्य में इनका सामाजिक अध्ययन काफी महत्वपूर्ण हो जाता है। इस जाति की कालावधि ई.पू. प्रथम सदी से चौथी सदी ई. तक बैठती है। हालांकि मेघवंश या मेघवाल शब्द का नामकरण, उदय, इनका मुख्य केन्द्र कहां था? प्रारम्भ में किस भू-भाग पर विस्तृत रूप से निवास किया, इत्यादि प्रश्नों से सम्बन्धित न्यूनाधिक शोध-कार्य ही प्रकाश में आया है। मेघवालों पर दासत्व की बेड़ियां शायद बहुत बाद में पड़ी ओर समाज में निश्चित रूप से विद्या व धर्म की इजारिदारी ने ही अवरोध का काम किया।

यदि हम प्राचीन मेघों (मेघवाल) के सामाजिक और धार्मिक वातावरण पर नजर डालें तो हमें नि:सन्देह यह अनुभूत हो जाता है कि मध्य व आधुनिक काल के इस समाज के जीवन में मूल्यों के बिना जीवन को जीना कितना निरर्थक हो गया था। प्राचीन व मध्यकालीन मठों, विहारों और मंदिरों की मूर्तियों पर उत्कीर्ण लेख न स्मारक इत्यादि को देखकर इनके प्राचीन गौरव को भली-भांति अनुभव किया जा सकता है। सिद्धों, नाथों, सन्तों की वाणियों में भी मेघवालों का गौरवशाली उल्लेख उनकी सांस्कृतिक विरासत की अनवरता को बनाये रखने के पर्याप्त प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। मेघवालों ने मनुष्य जाति

के एकाएक विराट रूप को देखा जो सदैव जाति, धर्म-मजहब आदि खण्डित सोपानों से ऊपर उठा हुआ था। यह समाज विभिन्न दृष्टिकोण से देखने पर प्राचीन कालीन बौद्ध परम्पराओं को अपनाने वाला या बुद्धानुयायी होने का आभास भी दिलाता है।

आजादी के पश्चात् इतिहास अध्ययन-लेखन की नवीन विचारधारा के अन्तर्गत विशिष्ट व्यक्तियों या घटनाओं, राजा-महाराजाओं या साम्राज्यों के उत्थान-पतन, आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक गतिविधियों तक ही सीमित न रहकर नवीन इतिहास शोध का केन्द्र वह आम आदमी या समाज बना, जिसकी भूमिका इतिहास निर्माण में अब तक अपेक्षित थी। भारत की जटिल जातीय संरचना में चौथे वर्ण में धकेले गये शूद्रों को समाज में निम्नतम स्थान दिया गया किन्तु समाज के आधारभूत निर्माण में एवं ऐतिहासिक पड़ावों पर दलित-पिछड़े निम्न वर्ग ने अपना एक निश्चित महत्वपूर्ण स्थान बनाये रखा। जनसंख्या की दृष्टि से राजस्थान में मेघवाल समाज लगभग तृतीय स्थान पर रहा जो कि सदियों से इस भू-भाग पर निवास कर रहा है लेकिन इस बहुसंख्यक वर्ग की उच्च वर्ग द्वारा सामाजिक-सांस्कृतिक रूप से उपेक्षा की गयी। मेघवाल जाति की उत्पत्ति मूलत: एक वैष्णव धर्मावलम्बी (विष्णुभक्त) बड़े आचार-विचार वाले तेजोमय, पूज्य व्यक्ति द्वारा हुई होगी जो निश्चित रूप से एक राजा या वैदिक मंत्रोच्चारण के साथ यज्ञ क्रिया करने वाला एक ब्राह्मण (देव) रहा होगा। जिसके प्रतीक गुण आदि काल से इस समाज के लाक्षणिक कर्मों में दृष्टिगोचर होते हैं, भले ही बदलती परिस्थितियों में इस जाति ने कई उतार-चढ़ाव देखे हों। यह भी सम्भव है कि समय के साथ-साथ यह जाति अपने मूल स्वरूप से भटक गयी लेकिन भारतीय समाज में उसका वजूद जिन्दा रहा। फलस्वरूप पूर्वमध्यकालीन (राजपूत युगीन) व मध्यकालीन भारतीय क्षत्रियों व ब्राह्मणों ने परिस्थितिवश या समाज बहिष्कृत के बाद 'मेघवाल' समाज को अपनाया, वर्तमान में भी इन वर्णों की विभिन्न जातियों के गौत्र इस समाज में परिलक्षित होते हैं।

मेघवालों के इतिहास लेखक स्वामी गोकुलदास ने इस जाति का आदिपुरुष मेघ ऋषि बताया है। और उसे ब्रह्मा का मानस पुत्र माना है। अन्यत्र गोकुलदास ने इस जाति को राजसत्ता से भी जोड़ा है।[1] आर.सी. गुणार्थी मेघवालों को हारे हुए या कुचले हुए क्षत्रप मानते हैं,[2] वहीं मुंशी हरदयालसिंह इस जाति का आदि पूर्वज ब्राह्मण मानते हैं।[3] ब्रिटिश कालीन इतिहासकार कर्नज ब्रिज[4] ने लिखा है कि राजपूताना में नागौर इत्यादि एकाध स्थान पर मेघवालों को चमार भी कहते हैं जबकि वे चमार नहीं है। बाकी सभी जगह इस जाति को मेघवाल नाम से जाना जाता है। यह जाति नागपंचमी का उत्सव, तुलसी व पीपल की पूजा इत्यादि धार्मिक कार्य करती है। शंकरराव खरात के अनुसार महाराष्ट्र प्रदेश में महार संघर्ष में जब महार जाति पराभूत हो गयी तो वह गुजरात, राजस्थान, पंजाब, उत्तरप्रदेश, दक्षिण भारत में चले गये और वही महार आज भारत के विभिन्न भागों में अलग-अलग अस्पृश्य जाति में सम्मिलित हैं जिनमें से मेघवाल भी एक है। इसे अलग-अलग प्रदेश में मेर, मेघ, मोधीया, मघ, मालो, मेघवाल नाम से जाना

जाता है।[5] मेघवंश इतिहास व संस्कृति के लेखक तारारामः[6] ने मेघवालों से सम्बन्धित विभिन्न अवधारणाओं पर विचार-विमर्श करते हुए पुरातात्विक व साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर तथा के.पी. जायसवाल, एस.आर. गोयल, एस.एन. राय आदि इतिहासकारों के मत का अनुसरण करते हुए इसे एक प्राचीन क्षत्रिय कौम गवेषित किया है। उनके अनुसार पुराणों में जहां नौ मेघ राजाओं का उल्लेख होना मेघों का प्रबल राजनीतिक साक्ष्य प्रस्तुत करता है, वहीं बौद्ध जातक कथाओं में मेघवंश की उत्पत्ति के बारे में एक बड़ी जातक कथा का उल्लेख उन्होंने अपनी पुस्तक में किया है। जिसकी कहानी मेघवाल जाति में प्रचलित कहानी के अलावा रिपोर्ट मरदुमशुमारी राजमारवाड़-1891 में वर्णित किंवदंति आदि से भी मिलती है।

राजस्थान की विभिन्न जातियों में मेघवाल, एक प्रमुख जाति है। जिसे मेघ, मेघवाल, मेघवंशी, बलाई, बुनकर, रिखी, बाम्बी, राजबलाई, सालवी, सूत्रकार आदि नामों से पुकारते हैं। वर्तमान में इस जाति का कोई एक पेशा नहीं है। प्राचीन काल में ही इस जाति के विभिन्न प्रकार के व्यवसाय और सेवा चाकरी से जुड़ने के कारण विभिन्न प्रान्तों में इसके भिन्न-भिन्न नाम प्रचलन में आये। वर्तमान में यह जाति भारतीय संविधान में 1956 ई. में संशोधन के तहत अनुसूचित जाति में परिगणित की जाती है। राजस्थान के अलावा यह जाति चण्डीगढ़ व पंजाब में मेघ, छत्तीसगढ़ व दिल्ली में मेघवाल, गुजरात में मेंगवार, मेघवाल, हरियाणा में मेघ, हिमाचल प्रदेश में मेघ, जम्मू व कश्मीर में मेघ व कबीरपंथी, कनार्टक में मेघवाल, मेगवार, माला, महाराष्ट्र में महार, मेगू, मेहरा, घेगू-मेगू, मेघवाल, मेगवार आदि नामों में मुख्यत: मेघ नाम से अभिधेय करते हुए इसे अनुसूचित जाति में परिगणित किया गया है। इस प्रकार लगभग सम्पूर्ण भारत में इस जाति के विस्तार को देखने के साथ इसके संगठित रूप से उभर कर सामने आना भी दिखाई देता है।

समय के प्रवाह ने मेघवाल जाति को भी अछूता नहीं छोड़ा। यह जाति अनेक शाखाओं में विभक्त होकर अलग-अलग भू-भाग पर अलग-अलग नामों से फैल गयी। इसकी जीविका के साधन भी परिस्थिति और काल भेद के कारण एक दूसरे से भिन्न हो गये तथा वेशभूषा में अन्तर आने लगा। अलग-अलग टुकड़ों में बंट जाने तथा दूसरी जातियों के समावेश के कारण मेघवालों का सामाजिक स्तर एक सा नहीं रह सकता। रीति-रिवाजों की असमानता के साथ कई सामाजिक कुरीतियों ने भी घर कर लिया। ब्रिटिश शासन की स्थापना तक यह जाति अत्यन्त हीन अवस्था में पहुंच चुकी थी। मेघवालों की सामाजिक स्थिति का पता उनके द्वारा शुद्ध व विशुद्ध कार्यों द्वारा लगाया जा सकता है। जहां शुद्ध कार्य उन्हें उनकी पौराणिक वास्तविकता के साथ उनके वीर, साहसी, भक्ति, सिद्धता, ईमानदारी, भरोसा व गम्भीरता के अलावा अपनी निम्नतम सामाजिक स्थिति तक पहुंचने के बावजूद बांबी, बांबी राजा, रिखिया, बलाई आदि नामों व विभूषणों से अपनी पहचान स्थापित रखने में सफल रहे वहीं प्रत्येक परिस्थिति में

शुद्ध-अशुद्ध हर तरह के कार्य कर अपना वजूद कायम रखा व उसके बदले पाया तो नाम मात्र का, बस सिर्फ खोया ही खोया।

राजस्थान का मेघवाल समाज मुख्यत: चार शाखाओं (खांपों) में विभाजित हैं। जिसमें प्रथम शाखा आदू मेघवालों की है, जो मेघवालों की मूल शाखा है। इसमें रागी, चन्देल, आदरा, जोगड़, महचन्द और जोगचन्द है। द्वितीय शाखा मारू मेघवालों की है, जो मुख्यत: राजपूतों से अलग हुए हैं। जिसमें अणखिया, अहीनिया, आगलेचा, आदरा, आयचा, ऊचल, एभा, कचावा, कड़ेल, कनड़, कलेचा, कागया, काला, कुदणेचा, कोहनी, खतन, खदेट, खयाली, खाड़य, गड़बड़, गांगली, गण्डेर (भाटी), गूजाईया, गूजर, गुरड़ा, गोदा, गोयल, घाटा, चडेल, चवाडिया, चिखड़ा, चिरल, चुडियाल, चुराणिया, चौहान, छागणिया, जणवाणिया, जाम, जेपाल, जोइया, जोगल, जोगचन्द, भाटिया, झरिया, टंडोलिया, डांगी, डाबी, डोचरा, तीरगर, तुरकिया, थावलेचा, दादलिया, देइया, देपन, पंवार, देवरिया, देप्पू, धतरवाल, धनदे, नमा, चोहाणिया, नराणिया, निबेल, पन्नू, पलासिया, परमार, पारगीर, पालेचा, पांचल, पांचाल, पिड़ियार, पेगड़, बरबड़, बलोच, बगाणा, बाणिया, बामनिया, बारूपाल, बोचिया, बोराणा, बोसी, बावल, बेगड़, बिकुदिया, बोगरेचा, बोगू, भवरिया, भादरा, भावरू, भिटल, भीगाडिया, भूगड़िया, मकाणी, मरवण, मागेस, मादोकी, मादोलिया, मीटी, मुवास्पा, मेचर, मेरड़ा, रांगी, राड़बड़ा, राठौड़िया, राणवा, रीड़ा, रूला, राठौड़, लहुआ, लिकाला, लीलड़, लूकड़ा, लेवा, लोइया, लोथिया, लोहा, वालाच, सिगल, सुदल, सेजु, सेनेटा, सोतल, सोदरा, सोलंखी, हटेला, हिंगड़। स्वामी गोकुलदास ने राजपूतों की 18 जातियों के गौत्र मेघवाल जाति से मिलते बताये हैं, जिनमें मेघवालों के कुछ उपगौत्र 196 बताये हैं। तृतीय शाखा जाटा मेघवालों की है, जो मुख्यत: जाटों से अलग हुई है। जिसमें आला, खटिया, कूणिया, गडेर, गुंदेच, चवाणिया, जोआसख, जोरमवी, देपन, पनड़ियानल, पंवार, लीलड़, लूणो, लोईया, बरबड़, बाणिया, बामणिया, बिरठ, बेगड़, मीड़ा, मेरड़ा इत्यादि। चौथी शाखा बामणिया मेघवालों की है जो कि पल्लीवाल ब्राह्मणों से अलग हुए, इसमें पल्लीवाल, पीलवाल, पारगी इत्यादि आते हैं।

इस प्रकार मेघवाल समाज एक विशाल समुदाय होने के साथ-साथ भारत के विभिन्न प्रान्तों में अलग-अलग नामों से जाना जाने वाला अपने आप में छिन्न-भिन्न व प्रत्येक दृष्टि से पिछड़ा हुआ समाज है। यद्यपि इस जाति में विद्वानों, महापुरुषों, विचारकों, साधु-सन्तों की कोई कमी नहीं है, शालीनता, कुलीनता, सुसंस्कृत व संघर्षशीलता में भी यह जाति अग्रणी है लेकिन इस जाति में घृणित, संकुचित व शोषित भाव आज भी देखे जा सकते हैं। इसका मुख्य कारण शायद रूढ़िवादी मान्यताएं, दासता के संस्कार, गुलामी के भाव, संकीर्ण विचारधारा ही प्रमुखतया रहे हैं। इस जाति में आपत्ति को, समय की मांग को, साहस के साथ उठाने वालों की आज कमी है। जबकि यदि देखा जाय तो समाज की विशालता, वैभवशालिता, आध्यात्मिकता, राष्ट्रवादिता में

किसी अन्य जाति से कमी दिखाई नहीं देती, फिर भी इसमें सामाजिक पिछड़ापन है। 21वीं सदी के भारत में राजस्थान के मेघवाल सामाजिक विकास, जागृति, स्वाभिमान, परिश्रम व हिम्मतपन की दृष्टि से अग्रणी बन रहे हैं। मेघवाल समाज के गौरवशाली इतिहास की झलक, बुद्धिजीवियों, सामाजिक कार्यकर्ताओं तथा अपने-अपने क्षेत्र में महारत हासिल महानुभावों के जीवन परिचय, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक व सांस्कृतिक पहलुओं के बारे में जानकारियां देने के प्रयास किये जा रहे हैं। विभिन्न लेखकों ने सामाजिक कुरीतियों के अलावा महिला शिक्षा पर अधिक जोर देकर समाज को आगे बढ़ाने तथा भावनात्मक रूप से एकता के सूत्र में बांधने के सन्देश दिये हैं। यद्यपि सामन्तीकाल में इस समाज की स्थिति अन्य दलितों की तरह गूंगे व्यक्ति के समान थी परन्तु आज समय व परिस्थितियां अनुकूल हो रही हैं, बल व तलवार की जगह बुद्धि व कलम ने ले ली है। प्रजातंत्र में राजा व रंक के मत का मूल्य समान है, अत: मेघवाल जाति को बदली परिस्थितियों के साथ अपने आपको समयोजित करते हुए शिक्षा व स्वाभिमान प्राप्त करना होगा, अपने हक के लिए भीख मांगकर संघर्ष करके न्याय पाते हुए एक गूंगे व्यक्ति की तरह बेबस नहीं रहना होगा तभी यह जाति व समाज अपने प्राचीन गौरव को हासिल करने में सफल हो सकेगा।

सन्दर्भ

1. *स्वामी गोकुलदास, मेघवंश का इतिहास, पृ. 58-59*
2. *रमेशचन्द गुणार्थी, राजस्थान की जातियों की खोज, पृ. 257*
3. *मुंशी हरदयालसिंह, द कास्ट ऑफ मारवाड़, पृ. 196, 527*
4. *कर्नल ब्रिज, द चमार, पृ. 21*
5. *शंकरराव खरात, महाराष्ट्र के महारों का इतिहास, पृ. 69*
6. *तारााराम, मेघवाल इतिहास-संस्कृति, पृ. 11*

उन्नीसवीं सदी के मेवाड़ की राजनीतिक-आर्थिकी के कतिपय पहलू : गोगुन्दा की ख्यात पर आधारित अध्ययन

विक्रम सिंह अमरावत

राजनीतिक-अर्थशास्त्र का सैद्धान्ति ढाँचा मार्क्सवादी लेखन पद्धति का एक महत्त्वपूर्ण ढाँचा है। इतिहास के स्रोतों को विभिन्न दृष्टियों से देखने के संदर्भ में राजनीतिक-अर्थशास्त्र के सैद्धान्ति ढाँचे के अंतर्गत किसी स्रोत को देखने से समकालीन इतिहास के अन्य दूसरे आयामों को जाना जा सकता है। राजस्थान के इतिहास लेखन में ख्यातों का उपयोग हुआ है और आगे भी अलग-अलग संदर्भों में होता रहेगा। 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में जब राजपुताना के विभिन्न राज्यों और अन्य ठिकानों, राजपूत खांपों का इतिहास लिखा जा रहा था उसी समय राज्य के निर्देशानुसार जागीरदारों ने अपने-अपने ठिकानों से संबंधित इतिहास विषयक सामग्री भेजी, जो ख्यात या तवारीख के नाम से थी। मेवाड़ राज्य के एक महत्त्वपूर्ण ठिकाने गोगुन्दा की ख्यात भी इसी प्रक्रिया का परिणाम थी। उक्त ख्यात में मेवाड़ राज्य के एक प्रमुख ठिकाने गोगुन्दा के झाला राजराणाओं की मुख्य उपलब्धियों, राजनीतिक गतिविधियों और उनकी संतति का वर्णन मेवाड़ के शासकों से उनके संबंध, तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक स्थिति आदि पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।[1] यह ख्यात सिर्फ एक ठिकाने की है किन्तु इससे मेवाड़ राज्य के इतिहास के विभिन्न पहलुओं पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। प्रस्तुत शोध पत्र में इसी ख्यात (गोगुन्दा की ख्यात) के कुछ विवरणों के आधर पर 19वीं सदी में मेवाड़ की राजनीतिक-आर्थिकी को समझने का प्रयास किया जाएगा।

मार्क्सवाद राजनीतिक अर्थशास्त्र के अध्ययन का विषय उत्पादन सम्बन्ध होते हैं। एंगेल्स के अनुसार, अर्थशास्त्र वस्तुओं की नहीं बल्कि लोगों के बीच के सम्बन्धों और अन्ततः वर्गों के बीच के सम्बन्धों की जाँच-पड़ताल करता है। उत्पादन सम्बन्धों के इस अध्ययन को देश-काल के संदर्भों में अलग-अलग तरह से समझा जा सकता है। उत्पादन के लिये लोगों के बीच कुछ निश्चित आपसी सम्बन्ध कायम होना जरूरी है। उत्पादन की प्रक्रिया के दौरान लोगों द्वारा बनाये गये इस प्रकार के संबंधों को उत्पादन संबंध कहते हैं। वर्ग समाज में ये सम्बन्ध वर्ग सम्बन्धों में प्रतिबिम्बित होते हैं। इन उत्पादन सम्बन्धों का एक महत्त्वपूर्ण पहलु स्वामित्व का स्वरूप है और दूसरा महत्त्वपूर्ण पहलू उत्पादन में लोगों की भूमिका और उनके आपसी सम्बन्ध है।

उत्पादन प्रक्रिया का परिणाम सीधे तौर पर आय से है। इस प्रकार आय की प्रक्रियाएँ अनिवार्य रूप से उत्पादन सम्बन्ध से जुड़ी हैं। मार्क्स लिखते है कि, उत्पादन में लगने के लिऐ लोग कुछ सम्बद्धताएँ और सम्बन्ध बनाते हैं। इन सामाजिक सम्बद्धताओं और सम्बन्धों के बीच ही उनमें तथा प्रकृति में सम्बन्ध हो सकता है तथा उत्पादन हो सकता है। इस प्रकार आय के लिये की जाने वाली सभी ही प्रकार की प्रक्रियाओं को उत्पादन प्रक्रियाओं का हिस्सा कहा जाना चाहिए और इसीलिये इस पूरी प्रक्रिया में जो सम्बन्ध बनते हैं वो उत्पादन-सम्बन्धी होंगे। उपरोक्त सैद्धान्ति ढाँचे में 19वीं सदी के मेवाड़ के ठिकाने गोगुन्दा से सम्बन्धित कुछ तथ्यों और आंकड़ों, जो कि गोगुन्दा की ख्यात से प्राप्त होते हैं, के आधार पर समकालीन राजनीतिक-अर्थव्यवस्था को समझा जा सकता है। यह काल राजपूताना के विभिन्न राज्यों में सामन्तीय व्यवस्था का सुदृढ़ ढाँचा था और यह प्रशासनिक-राजनीतिक व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण अंग था। लेकिन साथ ही यह सामन्तीय व्यवस्था की राजनीतिक-आर्थिकी का भी महत्त्वपूर्ण अंग थी। ख्यात में कतिपय राजनीतिक-आर्थिक और सामाजिक-सम्बन्धों के संदर्भ में अनेक बिखरे हुए तथ्य प्राप्त होते हैं। ख्यात में मूल रूप से ये विवरण राजनीतिक-सांस्कृतिक विवरण के बतौर दिये गये हैं किन्तु सूक्ष्म अध्ययन से इन विवरणों को अन्य विभिन्न संदर्भों में भी देखा जा सकता है। यहाँ हम उन्हीं विवरणों में से कुछ विवरणों के आधार पर समकालीन राजनीतिक-आर्थिकी को देखने का प्रयास करेंगे। ख्यात में छटूंद, तलवार बंधाई, नजर-निछरावळ-बख्शीश और बेगारसे सम्बन्धित कतिपय न्यूनाधिक विवरण प्राप्त होते हैं। इन विवरणें में प्रत्यक्ष तौर पर उत्पादन-सम्बन्धों को नहीं देखा जा सकता किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से उत्पादन-सम्बन्धों को अवश्य समझा जा सकता है।

ख्यात के विवरणों से पता चलता है कि राजनीतिक सम्बन्धों को आर्थिक-व्यवहार पूरी तरह से प्रभावित करता है। ख्यात में विशेष रूप से समय-समय पर गोगुन्दा के राजराणाओं को मेवाड़ के शासकों द्वारा दिये गये पट्टे के नकलें दी हुई है।[2] इन नकलों में गाँवों के नाम और उनकी आय का विवरण भी दिया गया हैं। इससे गोगुन्दा ठिकाने राजराणा और मेवाड़ के शासक के बीच राजनीतिक सम्बन्धों के उतार चढ़ाव को आर्थिक आँकड़ों के आधार पर देखा जा सकता है। आय और उत्पादन सम्बन्धों में स्वामित्व के स्वरूप का विशेष महत्त्व है। मार्क्सवादी राजनीतिक-अर्थशास्त्रों के सैद्धान्ति ढाँचे में सामन्ती समाज के उत्पादन सम्बन्ध भूस्वामी वर्ग द्वारा भूमि के स्वामित्व और भूदासों पर उनके लगभग पूर्ण नियंत्रण पर आधारित थे। इस संदर्भ में यदि हम आलोच्यकाल को देखेंगे तो उसमें उत्पादन-सम्बन्ध दो स्तरों पर प्राप्त होंगे। उच्च स्तर पर राज्य और ठिकाने या शासक और सामन्त के बीच के सम्बन्ध और दूसर स्तर जो कि निचला या जमीनी स्तर है, वह है सामन्त और उसकी रैय्यत के बीच के सम्बन्ध।

मूल रूप से भूस्वामी तो शासक ही था और समय-समय पर उस भूस्वामिता के

दर्शन ख्यात के विवरणों में प्राप्त होते हैं। यही स्वामीत्व शासक वर्ग आगे बढ़ाते हुए सामन्तों को प्रदान करता था किन्तु यह स्थाई नहीं था। यही अस्थाईत्व ऊपरी स्तर के उत्पादन-सम्बधों को प्रदर्शित करता है। सामन्ती वर्ग इसी अस्थाई स्वामित्व का उपभोग करते हुए उसी भूमि को अपनी रैय्यतों को उत्पादन-प्रक्रियाओं के लिये दे देते थे। इस प्रकार स्वामित्व का यह स्तरीकरण न सिर्फ राजनीतिक-आर्थिक सम्बन्धों को दिखाता है बल्कि इसके परिणामस्वरूप एक नया सामाजिक-सांस्कृतिक परिदृश्य विकसित होता है, जिसको हम सामाजिक-वर्गीय सम्बन्धों के संदर्भ में देखते हैं।

ख्यात में एक अन्य प्रथा का विवरण है जिसे तलवार-बंदाई की रस्म कहा गया है। तलवार बंधाई एक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक रस्म होती थी किन्तु इसके साथ ही इसके आर्थिक सरोकार भी थे। इसी समय जागीरदार की जागीर में वृद्धि आदि की घोषणा की जाती थी। कई बार इस रस्म के नहीं होने की वजह से जागीरदार को आर्थिक नुकसान भी उठाना पड़ता था। राजराणा शत्रुसाल जब गद्दी पर बैठे तक उनकी उम्र महज सात साल ही थी और महाराणा ने उनकी तलवार बंदी की रस्म नहीं करवाई इससे भंडार आदि में जो गहने आदि थे वे नहीं मिल पाए। फिर सत्रह वर्ष पश्चात् जब तलवार बंदी की रस्म अदा की गई तब परवना भी लिख कर दिया। तलवार बंधाई की रस्म अदाईगी के समय जागीरदार राज्य को एक निश्चित रकम देता था जिस तलवार बंधाई की रकम कहा जाता था। महाराणा अमरसिंह प्रथम ने गोगुन्दा के राजराणा कान्हदास के तलवार बंधाई की रकम में छूट दे दी थी।[3] यही छूट राजराणा शत्रुसाल को भी मिली थी।[4] तलवार बंधाई की रस्म में होने वाले खर्च का विस्तृत विवरण ख्यात में प्राप्त होता है। सन् 1867 में राजराणा लालसिंह की तलवार बंधाई की रस्म के समय का खर्च ख्यात में दिया गया है। उस समय दिया जाने वाला नजराना, सिरोपाव, बख्शीश आदि का विवरण दिया गया है।[5]

इस प्रकार तलवार बंधाई की रस्म मुख्य रूप से संस्कृति का हिस्सा थी लेकिन यह राजनीतिक परम्पराओं को प्रदर्शित करती थी। किन्तु इसका एक महत्त्वपूर्ण पहलू आर्थिक था जो कि ख्यात के विवरणों से प्राप्त होता है। ख्यात में इस रस्म को आर्थिक-सम्बन्धों में ही प्रायः दिखाया गया है। तलवार बंधाई के समय राज्य को दी जाने वाली रकम को महत्त्व दिया गया है। साथ ही उसमें छूट दिये जाने को भी इंगित किया गया है। तलवार बंधाई की यह रकम राज्य की आय का स्रोत थी। साथ ही इसी मौके पर जो आर्थिक-व्यवहार होते थे जो कि नजर-निछरावळ-बख्शीश आदि की सांस्कृतिक प्रवृत्तियों के नाम से जानी जाती थी, भी त्री-स्तरीय समाज (रैय्यत-सामनत-शासक) के द्वि-स्तरीय स्वामित्व के राजनीतिक-आर्थिक सम्बन्धों को प्रभावित करते थे। मूल रूप से उत्पादन कार्य रैय्यत द्वारा ही किया जाता था किन्तु इस उत्पादन से प्राप्त आय विभिन्न स्तरों पर, विभिन्न प्रकार से वितरित होती थी। आय के मुख्य स्रोत के रूप में भू-राजस्व को होना स्वाभाविक था। भू-राजस्व से जो आय सामन्त वर्ग को प्राप्त होती थी वह मूल

रूप से उनके अस्थाई स्वामित्व का परिणाम थी। यही आय सामन्तों के शासक वर्ग से प्रायः सभी प्रकार के सम्बन्धों यथा - राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक सम्बन्धों, को तय एवं प्रभावित करती थी। क्योंकि यहाँ पर स्वामित्व शासक वर्ग का है जो कि उन्होंने सामन्त वर्ग को अस्थाई रूप से प्रदत्त किया था।

सन्दर्भ

1. *गोगूंदा की ख्यात, मज्झमिका, अंक - 28-29, डॉ. हुकमसिंह भाटी (संपा), प्रताप शोध प्रतिष्ठान, उदयपुर 1996, संपादकीय।*
2. *वही, पृ. 11, 13, 28-30, 46-50*
3. *वही, पृ. 10*
4. *वही, पृ. 29*
5. *वही, पृ. 42-43*

रावराजा विनय सिंह का अलवर राज्य में स्थापत्यकला में योगदान

डॉ. अंशुल शर्मा

अलवर राज्य की स्थापना 18वीं शताब्दी में राव प्रताप सिंह के द्वारा की गई। अलवर राज्य में राव प्रताप सिंह, राव राजा बख्तावर सिंह, विनय सिंह, श्योदान सिंह, मंगल सिंह, जय सिंह आदि नरूका शासकों ने अपने शासन काल में स्थापत्य कला के क्षेत्र में अभूतपूर्व योगदान दिया।[1] राव राजा विनय सिंह ने अलवर राज्य में विभिन्न किलों का निर्माण करवाया और कईयों का जीर्णोद्धार करवाया।[2]

अलवर राज्य के संस्थापक राव प्रताप सिंह के काल से ही स्थापत्य कला पर विशेष जोर दिया गया।[3] राजगढ़ के किले का निर्माण इन्हीं के काल में किया गया साथ ही कई छत्रियों, चित्रशालाओं व मन्दिरों का निर्माण इन्हीं के काल विशेष में हुआ।[4] इसी प्रकार बख्तावर सिंह द्वारा राजगढ़ के महलों में चित्र बनवाये। स्थापत्य की दृष्टि से जनाना महल का निर्माण करवाया और कृष्ण कुण्ड के पानी को रोककर विशाल सागर बनवाया। वहीं विनय सिंह द्वारा स्थापत्य की दृष्टि से अलवर की स्थापत्य कला में चार चाँद लगा दिये। विशेषकर मूसी महारानी की छत्री, विनय विलास महल व सिटी पैलेस इनकी अनूपम कृति है जिसका विस्तृत वर्णन निम्नलिखित है।[5]

राव राजा विनय सिंह और स्थापत्य कला

राव राजा विनय सिंह का समय 1815 ई. से 1857 ई. तक रहा है। इन्होंने अपने समय में अलवर राज्य के अन्तर्गत कला एवं संस्कृति को ऊँचा स्तर प्रदान किया। स्थापत्य एवं अन्य कलाओं में उनकी गहरी रूचि थी इसलिए अलवर राज्य में पोथीखाना, पीलखाना, रथखाना, रत्नशाला, शस्त्रशाला आदि की स्थापना के साथ ही शहर में विनय विलास महल, मोती डूंगरी, सिलीसेढ़, दरबार हॉल आदि का निर्माण करवाया।[6] राव विनय सिंह का व्यक्तित्व अत्यधिक प्रभावशाली था और स्थापत्य कला के क्षेत्र में इनका काल विशेष स्वर्णिम युग के रूप में जाना जाता है। अलवर को कलात्मक परिवेश से सुशोभित करने का श्रेय इन्हीं को है। स्थापत्य कला की दृष्टि से राव राजा विनय सिंह ने हर महल से लेकर विनय विलास तक कलात्मक अभिरूचि स्पष्ट रूप से दिखाई देती है।[7] स्थापत्य कला के प्रति जितने जागरूक महाराजा विनय सिंह जी थे उतना अन्य कोई शासक नहीं दिखाई देता। इनके कला प्रेमी हृदय के कारण जनता को इनमें अटूट विश्वास था।[8] स्थापत्य के क्षेत्र विशेष में शीतल निवास या शीश महल का निर्माण भी इन्हीं के द्वारा करवाया गया। वहीं सिटी पैलेस में एक विशालकाय पुस्तक शाला का निर्माण भी इनके द्वारा करवाया गया।[9] अलवर शहर के शीश महल, दीवाने खास व विभिन्न छत्रियाँ राजपूत एवं मुगल स्थापत्य से प्रभावित है। इनके प्रमुख स्थापत्य में सर्वप्रथम मूसी महारानी की छत्री महत्वपूर्ण है।[10]

मूसी महारानी की छतरी

अलवर राज्य को दो राज्यों अलवर एवं तिजारा में विभाजनकाल विनय सिंह के ही काल में हुआ। अलवर का राजा राव विनय सिंह रहे जबकि तिजारा के शासक मूसी महारानी के पुत्र बलवंत सिंह थे। बाद में पुन: इन्हें अलवर राज्य में मिला लिया गया तब विनय सिंह ने मूसी महारानी की छतरी बनवायी। अलवर सागर पर स्थित मूसी महारानी की विशाल ऐतिहासिक छतरी नरूका वंशीय राजपूत शान तथा स्थापत्य कला की एक महान धरोहर के रूप में आज भी विद्यमान है।[11] इस सागर के दक्षिण की ओर यह विशाल गोलाकार लाल पाषाण तथा संगमरमर की बनी सुंदर छतरी है। इस छतरी को महाराजाधिराज श्री बख्तावर सिंह की छतरी भी कहते है। सागर के तट पर इस छतरी को बनाने की आज्ञा स्वयं महाराजाधिराज श्री बख्तावर सिंह ने अपनी मृत्यु से पहले ही प्रदान कर दी थी। उनके स्वर्गवास होने के पश्चात् उनके उत्तराधिकारी सवाई महाराज श्री विनय सिंह जी ने इसे पूर्ण करवाया।

अलवर नगर के दार्शनिक स्थानो में यह छतरी भी दर्शनीय है। इसकी शिल्पकारी प्रशंसनीय है। सागर के ऊपरी दक्षिण दिशा में लगभग 150 फुट लंबा तथा उतना ही चौड़ा एक चबूतरा है। इस चबूतरे के बीचों-बीच दो मंजिल की यह छतरी बनी हुई है। छतरी के निचली मंजिल पर नाली, लाल पत्थरों से बनी है जिसे भी अंलकृत किया गया है। मूसी रानी की छतरी के चारो ओर एक परिक्रमा पथ भी है और छतरी के मध्य में अलंकृत चित्रकारी की गई है। छतरी के चारों ओर लाल पत्थरों से चार बुर्ज बनाए गए है और इन चारों बुर्जो को लाल पत्थरों से अलंकृत किया गया है। इस छतरी में संगमरमर के विशाल स्तंभ भी बनाए गए है जिन पर यह छतरी टिकी हुई है। इसके बाहर चारो ओर सत्ताइस संगमरमर के स्तंभ भी हमें दिखाई देते है। जिस समय महाराजा बख्तावर सिंह मृत्यु को प्राप्त हुए तो महारानी इसी जगह सती हुई थी। उनकी चरण पादुकाएं यहां पर मध्य में स्थित है। साथ ही साथ श्री कृष्ण, श्री रामचन्द्र जी, लक्ष्मण तथा सीता माता जी आदि देवताओं के चित्र हमें दिखाई देते है।[12]

इन चित्रों के उपर हमें महाराजा की आकृति खुदी हुई दिखाई देती है जो कि हाथी पर सवार युद्ध कौशल के चित्र में दिखती है। इस छतरी में प्रवेश के लिए तीन मार्गों का प्रयोग किया गया। राजदरबार से संबंधित लोग सागर के उपर से इसमें प्रवेश करते थे जबकि आमजन एक छोटे से तबेले से इसमें प्रवेश करते थे। इस सम्पूर्ण छतरी के निर्माण में लगभग दो लाख रूपये खर्च हुए थे।[13]

विनय विलास महल

विनय विलास राव विनय सिंह जी द्वारा 1849 ई. में बनाया गया जिसे महाराजा विनय सिंह ने अपने आवास के रूप में रखा।[14] यह कलात्मक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण महल है। बहुत बड़ा बाग लगवाकर उसके बीच में उन्होंने संगमरमर के स्तम्भों एवं जालियों से युक्त राजपूत एवं मुगल शैली का यह सुन्दर महल बनवाया। उसके सामने संगमरमर के पत्थरों की जड़ाई का बना सरोवर कला का अनूपम उदाहरण है।[15] यह महल मुगल कला की चारबाग प्रणाली को भी दर्शाता है। इस महल की शैली भरतपुर राज्य के डीग के महलों के अनुरूप है। पुराने महलों की अपेक्षा इसमें एक विशेषता यह है कि इसके कमरे बड़े है जो कि पाश्चात्य दृष्टिकोण से प्रभावित होकर अधिक सुविधाप्रद बनाये गये है।

यद्यपि विनय विलास महल पूरी तरह वर्तमान में जर्जर और खण्डर है किन्तु इसका अतीत अत्यन्त समृद्ध रहा है। जहां एक ओर महल के बाग में आम, जामुन, अमरूद अनार, नींबू के फलदार वृक्ष थे वहीं दूसरी ओर गुलमोहर सुगन्धित देवदार जैसे छायादार वृक्ष भी थे।[16] कहीं-कहीं संगमरमर का प्रयोग महल के निर्माण में किया गया। महल में बसन्तोत्सव मनाया जाता था। इस अवसर पर नृत्यगान, नाटक आदि कार्यक्रमों का आयोजन होता था। जिसमें राजपरिवार के सदस्य भाग लेते थे और यह कार्यक्रम संभवत: रात भर चलता था। विनय विलास महल इण्डोसोरसेनिक शैली का अनुपम दृष्टांत है।[17] जिसमें आजकल राजर्षि कॉलेज चल रहा है। यह महल का चतुष्कोणीय प्रांगण बहुत ही भव्य है। अनेक सीढियाँ दरबार, सभागार तक ले जाती है और सीढियों के दोनों ओर सफेद छतरियाँ बनी है, जिसमें भी हमें राजपूत व मुगल शैली का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

सिटी पैलेस

महाराजा विनय सिंह द्वारा निर्मित भव्य सिटी पैलेस बनवाया गया। यद्यपि विनय सिंह एक साधारण अनपढ़ व्यक्ति के रूप में प्रतिष्ठित थे, परन्तु उनकी कला परख मार्मिक थी। कला प्रेमी होने के नाते महाराजा ने भारत के कोने-कोने से कला विशेषज्ञों चित्रकारों को आमंत्रित कर श्रेष्ठतम बनवाये जिसकी वर्तमान में भी झलक देखी जा सकती है।[18] सिटी पैलेस भी मुगल व राजपूत शैली का सम्मिश्रण का अनुपम उदाहरण है। वर्तमान में इसे संग्रहालय के रूप में स्थापित किया गया है।

सिलीसेढ़ महल

अलवर नगर से दक्षिण पश्चिम की ओर 9 किमी. की दूरी पर किशनपुरा ग्राम के पास सिलीसेढ नामक बांध है जो कि एक रमणीय स्थल है। इस बांध का निर्माण राजा विनय सिंह ने करवाया था। इस बांध के उपर एक पहाड़ी पर सुंदर भवन बनाया गया है जो वर्तमान में आर.टी.डी.सी. के होटल के रूप में विकसित हो चुका है। इस महल के

निर्माण उद्देश्य शहर से बाहर की ओर करना था। यह रानीवास के रूप में भी जाना जाता है।[19] महाराजा विनय सिंह जिसका अलवर राज्य में स्थापत्य कला के अंतर्गत अनुपम योगदान है। विशेषकर चित्रकला, भवन निर्माण कला आदि में राजपूत एवं मुगल शैली का प्रभाव देखने को मिलता है। महाराजा विनय सिंह का अलवर के इतिहास में वहीं स्थान है जो मुगल इतिहास में शाहजहां का है।

संदर्भ

1. *डॉ. जयसिंह नीरज, अलवर की चित्रांकन परंपरा, पृष्ठ 5-13*
2. *श्यामलदास, वीर विनोद, पृष्ठ 1377*
3. *विनय..... अलवर, अंक 1969 पृष्ठ 80*
4. *डॉ. जयसिंह नीरज, अलवर की चित्रांकन परंपरा, पृष्ठ 21*
5. *वही, पृष्ठ 21-22*
6. *वही, पृष्ठ 23*
7. *राजाराम सिंह, जयजगदम्बे सुयश, पृष्ठ 13*
8. *डॉ. जयसिंह नीरज, विनय, अलवर, अंक पृष्ठ 50*
9. *डॉ. जीवन सिंह मानवी, अलवर राज्य के संस्थापक राव प्रताप सिंह नरूका पृष्ठ 65*
10. *वही, पृष्ठ 66*
11. *डॉ. जयसिंह नीरज, विनय, अलवर, अंक पृष्ठ 50*
12. *राजाराम सिंह, जयजगदम्बे सुयश, पृष्ठ 4*
13. *डॉ. जयसिंह नीरज, विनय, अलवर, अंक पृष्ठ 136, 137*
14. *डॉ. जयसिंह नीरज, विनय, अलवर, अंक पृष्ठ 137*
15. *अनिल जोशी, अलवर का कलात्मक खजाना, पृष्ठ 30*
16. *कमलेश, सैलानियों का स्वर्ग राजस्थान, पृष्ठ 152*
17. *डॉ. जयसिंह नीरज, विनय, अलवर, अंक पृष्ठ 60-61*

महाराजा मानसिंह और हरियाणा में नाथ सम्प्रदाय

डॉ. जगदीश प्रसाद

ताम्रपत्र अभिलेख इतिहासिक पुनर्निर्माण में एक महत्वपूर्ण स्रोत है। यह राज्य के सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन की झलक दिखाते हैं। समकालीन स्रोत होने के कारण ताम्रपत्र अन्य स्त्रोतों से अधिक भरोसेमंद एवं विश्वसनीय हैं। जोधपुर के महाराजा मानसिंह (1803-43 ई.) ने हरियाणा राज्य के अनेक नाथों के आसनों/डेरों कों ताम्रपत्र दान दिए। हरियाणा राज्य अभिलेखों, शिलालेखों तथा ताम्रलेखों में बहुत समृद्ध हैं। हरियाणा से हमें चार ताम्रपत्रों का पता चला हैं जो जोधपुर के महाराजा मानसिंह ने इन आसनों कों दान स्वरूप दिए थे। इन ताम्रपत्रों पर परगने के गांव की फसल की पैदावार तथा एकमु त रकम महंत एवं इनके वंशज को पीढ़ी-दर मिलती रहेगी। ऐतिहासिक अध्ययनों में अभिलेखों का अध्ययन बड़े पैमाने पर अनदेखा किया गया है। इस शोधपत्र में हरियाणा राज्य के नाथ ताम्रपत्रों[1] की खोज करके, इन दानपत्रों के योगदान को उजागर करने का मात्र प्रयास किया गया है।

नाथ सम्प्रदाय को बारह मुख्य पंथों में बाटा गया हैं, हालांकि सम्प्रदाय के भीतर कोई निश्चित सहमति नही है।[2] बारह पंथों का गुरु ग्रंथ साहिब[3] और दबिसतान-ए-मजाहिब[4] में संदर्भ मिलता हैं, दोनो ग्रंथ सतरहवीं शताब्दी के पहले के है। आई पंथ इस समुह में सबसे लोकप्रिय है। जो बिमला या विमला देवी गोरखनाथ की महिला शिष्या के रूप में पता चलता है। चौदहवी शताब्दी में एक प्रसिद्ध शैक्षणिक टकराव में हजरत गेसूदराज को एक तांत्रिक योगी का सामना करना पड़ा था जिसके नाम के अन्त में भी आई बाल्गुंडाई[5] था।

नाथ सम्प्रदाय समूचे भारतवर्ष में फैला हुआ है। हरियाणा में भी इनके अनेक आसन/मठ हैं। हरियाणा एन्साइक्लोपीडिया में हरियाणा में नाथों के 53 डेरों का वर्णन दिया गया हैं।[6] महाराजा मानसिंह ने भारत भर के नाथों के आसनों का सर्वेक्षण करवाकर उनकी एक सूची बही में लिपिबद्ध कराई,[7] जिसमें हरियाणा तथा दिल्ली में 57 आसनों का वर्णन मिलता हैं[8] इससे पता चलता है कि 4 या 5 आसन दिल्ली में रहे होंगें तथा शेष 52-53 हरियाणा में, जैसा कि हरियाणा एन्साइक्लोपीडिया में दिया गया हैं। सबसे अधिक आसन आई पंथ के 26, दूसरे स्थान पर कपल (कपिल) पंथ के 22, बैराग तथा राम पंथ के दो-दो तथा धरमनाथ, सतनाथ, पाव पंथी, अदराम पंथी, नाटेसरी पंथ का एक-एक आसन मिलता हैं। भारत में नाथ सम्प्रदाय का प्रवर्तक का आदिनाथ को माना जाता है।[9] इस परम्परा के अन्तर्गत मानव गुरुओं में सिद्ध-पुरुष मत्येन्द्रनाथ प्रथम आचार्य माने गये हैं। शिव द्वारा प्रवर्तित पंथों में से आई सम्प्रदाय हरियाणा के अस्थल बोहर, रोहतक में स्थापित हुआ।[10] दूसरा नाथ पंथ का प्रसिद्ध तीर्थस्थल पेहोवा है। राजा-महाराजाओं की अटूट श्रद्धा और जनसमुदाय के श्रद्धाभाव से नाथ योगियों के डेरे नगर-नगर और गांव-गांव में स्थापित हो गए। राज्य की ओर से उनकी भरण-पोषण की व्यवस्था होने से आसनों की संख्या बढ़ती गई, जो निम्न हैं-

रेवाड़ी से प्राप्त ताम्रपत्र - रेवाड़ी से प्राप्त ताम्रपत्र की लम्बाई 12.74 इंच व चौड़ाई 8.8 इंच तथा भार 1.114 किलोग्राम है जो दिनांक 15 जुलाई 1972 को गुरुकुल झज्जर संग्रहालय को प्राप्त हुआ था, इसको ताम्र फुटकर बाजार से खरीदा गया था जो रेवाड़ी के आस-पास के किसी गांव से आया होगा। जिसको श्री विरजानन्द दैवकरणि ने प्रथम बार अपनी पुस्तक प्राचीन ताम्रपत्र एवं शिलालेख, सन् 2003 में प्रकाशित किया था।[11] इस दानपत्र को राजस्थानी भाषा में उत्कीर्ण किया गया है (चित्र 1) जो निम्न है-

श्रीजलंधरनाथ जी सहायै
श्रीजलंधरनाथ जी (कटार के साथ चिह्न विशेष)
।। स्विस्ति श्री राजराजे वर महाराजाधि-
राजमहाराजा श्री मानसिंघजी वचनात
। तथा कवाल हिमतशां सकरशां अलाबंदशां
रानै नागोर रौ गाव खिडोद परगनै इदांणौ रेष
7000) 1 अषरे सात हजार री मैं संवत् 1884 री
सख सावणु था तांबापत्र इंनायत कीयो है सो
हासल वगैरे पैदा सदिरी जीयाकरसी नै इंण आ-
ल ऋस औलाद पायां करसी नै दरबार नैदवादे सी
। संवत् 1884 रा सावण बद 5 मुकाम पायत
शत गढ़ जोधपुर।। श्लोक।। स्वदत्तां परदात्तां ये पा
लंति बसुंधरां।। ते नरा: स्वरगं यांति यावच्चन्द्रदिवाकरौ।।1।।
स्वदत्तां परदत्तां वा ये हरंति बसुंधरां।। ते नरा नरकं
यांति यावच्चन्द्रदिवाकरौ।।2।।
ताम्रपत्र के दूसरे पक्ष का लेख -
1. नकल लीवी श्री हजुर रै दफतर
2. नकल लीवी दीवाण रै दफतर नकल लीवी वख्शी रै दफतर
3. नकल लीवी चोकीन्वेस रै दफतर नकल लीवी चौकी न्वेस रै दफतर
4. नकल लीवी चोकीनवेस रै दफतर नकल लीवी चौकी न्वेस रै दफतर
5. नकल लीवी चोकीनवेस रै दफतर नकल लीवी चौकी न्वेस रै दफतर
6. नकल लीवी चोकीनवेस रै दफतर नकल लीवी चौकी न्वेस रै दफतर

7. नकल लीवी चोकीनवेस रै दफतर नकल लीवी चौकी न्वेस रै दफतर
8. नकल लीवी चोकीनवेस रै दफतर नकल लीवी चौकी न्वेस रै दफतर
9. नकल लीवी नकल चोकीन्वेस रै दफतर नकल लीवी चौकी न्वेस रै दफतर

अनुवाद – श्री जलंधरनाथ जी की जय हो! श्री जलंधरनाथ जी! कल्याण हो! यह ताम्रपत्र जोधपुर के राजाओं के राजा, महाराजाधिराज महाराज श्री मानसिंह जी के आदेश से हिम्मत खां, सकर खां और अलावद खां को परगना इदाणे का ग्राम खिड़ोद की श्रावणी फसल सात हजार रुपये में देने हेतु संवत् 1884 श्रावण बदि 5 में दिया था। इस भूमि की आय उपर्युक्त लोगों की संतान को भी मिलती रहेगी। इसके आगे दान देने के फल तथा दान देकर वापिस लेने के पाप को द र्शाने वाले दो श्लोक लिखे हैं 1) अपनी दी हुई अथवा दूसरे द्वारा दान में दी हुई भूमि की जो रक्षा करते हैं वे लोग तब तक स्वर्ग में रहते हैं, जब तक चन्द्र और सूर्य विद्यमान हैं 2) अपनी अथवा दूसरे द्वारा दान में दी गई भूमि को जो लोग छीन लेते हैं, वे तब तक नरक में बसते हैं, जब तक चांद और सूर्य स्थित रहेंगे।

ताम्रपत्र के दूसरे पक्ष में उन कार्यालयों के नाम लिखे हैं, जिनमें इस ताम्रपत्र की प्रथम प्रति महाराजा मानसिंह के कार्यालय में, दूसरी प्रति दीवान के कार्यालय में तथा तीसरी प्रति बख्शी के कार्यालय में रखी गई थी। इस ताम्रपत्र की शेष 14 प्रतियां चौकी नवीस के चौदह कार्यालयों में सुरक्षित की गई थीं। इस सूची के पश्चात ताम्रपत्र की समाप्ति-सूचक श्री पद लिखा है।

पेहवा जिला कुरुश्रेत्र से प्राप्त ताम्रपत्र[12] – पेहवा तहसील कुरुक्षेत्र जिले मुख्यालय से 27 किमी. की दूरी पर स्थित है। पेहवा से 9 वीं शताब्दी का संस्कृत भाषा में गरीबनाथ मन्दिर पर प्रतिहार राजा महेन्द्रपाल का एक महत्वपूर्ण अभिलेख भी मिला है।[13] पेहवा एक धार्मिक स्थान होने के कारण भी यहां राजा-महाराजा आते रहे हैं। जिससे पता चलता है कि पेहवा को प्राचीन काल से ही राजकीय संरक्षण मिलता रहा है। महाराजा मानसिंह का दानपत्र अभिलेख जो पेहवा के नाथ डेरे को मिला है (चित्र 2) वह इस प्रकार है-

।। स्विस्ति श्री राजराजे वर महाराजाधिरा-
ज महाराजा श्री मानसिंघजी वचनात
। तथा जोगेश्वर श्री केसरनाथ जी श्री फ
दमनाथ जी रै गढ़ जोधपुर रो गांव बैंन
णत पैहवे जी रेष 3750) 1 अषरे साढा सैं
तीस सो री मैं भेट कियो है सो संवत् 1883
री सायणू नावुथा हासल पोहचाया कर
सी। संवत् 1883 रा फागुण सुद 4 मुकाम

पाय तखत गढ़ जोधपुर।। श्लोक।। स्वद
तां परदात्तां वा ये पालंति बसुंधरां।। ते
नरा स्वरंग यांति यावच्चन्द्र दिवाकरौ।।
स्वदत्तां परदत्तां वा ये हरंति बसुंधरां।।
ते नरा नरकं यांति यावच्चन्द्र दिवाकरौ।।2।।

अनुवाद – कल्याण हो! यह ताम्रपत्र राजाओं का राजा, महाराजाधिराज महाराजा मानसिंह के आदेश से तथा जोगे वर श्री केसरनाथ जी व पदमनाथ जी के गढ़ जोधपुर में पेहवा गांव के ठिकाणे को 3750 रुपय (अक्षरों में साढ़े सैतीस सौ रुपए) भेट किया। सवंत् 1883 सावण में साख मुनाफे के रुप में प्राप्त करके पहुंचाया करेंगें। यह दानपत्र फागुन माह की सुदी 4, सवंत् 1883 को प्राप्त किया। तखतगढ[14], जोधपुर। इसके आगे दान देने के फल तथा दान देकर वापिस लेने के पाप को दर्शाने वाले दो श्लोक लिखे हैं 1) अपनी दी हुई अथवा दूसरे द्वारा दान में दी हुई भूमि की जो रक्षा करते हैं वे लोग तब तक स्वर्ग में रहते हैं, जब तक चन्द्र और सूर्य विद्यमान हैं 2) अपनी अथवा दूसरे द्वारा दान में दी गई भूमि को जो लोग छीन लेते हैं, वे तब तक नरक में बसते हैं, जब तक चांद और सुर्य स्थित रहेंगे।

गांव छातर जिला कैथल से प्राप्त ताम्रपत्र (चित्र 3) जो इस प्रकार है-

श्रीजलंधरनाथ जी सहायै
श्रीजलंधरनाथ जी (कटार के साथ चिह्न विशेष)
।। स्विस्ति श्री राजराजे वर महाराजाधिराज महारा-
जा श्री मानसिंघजी वचनात। तथा आयस जी श्री
ग्यांन नाथजी सुखम नाथजी राये वा कैथल रै गांव
छातर रै आसण विराजे तिणां रै परगने सोझत रो
गांव अषा वस रेष 2700) 1 सताईस सोरी मैं संव
त् 1878 री साष सावणु वा भेट कीयो है सो हास
ल पोंह चीयां कर सी। संवत 1877 रा असाढ़ ब
द 10 मुकाम पाय तषतगढ़ जोधपुर।। श्लोक।। स्व
दत्तां परदात्तां ये पालंति बसुंधरां।। ते नराः स्व
रगं यांति यावच्चन्द्रदिवाकरौ।।1।। स्वदत्तां परदत्तां
वा ये हरंति बसुंधरां।। ते नरा नरकं यांति यावा
च्चन्द्रदिवाकरौ।।2।।

ताम्रपत्र के दूसरे पक्ष का लेख -

1. नकल लीवी श्री हजुर रै दफतर
2. नकल लीवी दीवाण दफतर

3. नकल लीवी दीवाण रै दफतरा नकल लीवी बषसी रै दफतर

4. नकल लीवी चोकी नवेस रै दफतर नकल लीवी चौकी नवेस रै दफतर

5. नकल लीवी चोकी नवेस रै दफतर

अनुवाद – श्री जलंधरनाथ जी की जय हो! श्री जलंधरनाथ जी! कल्याण हो! यह ताम्रपत्र राजाओं का राजा, महाराजाधिराज महाराजा मानसिंह के आदेश से तथा आयस जी, श्री ज्ञाननाथ जी, श्री सुखमनाथ जी के गढ़ जोधपुर में कैथल के छातर गांव के ठिकाणे को परगने सोझत के गांव से कर 2700) रुपये (अक्षरों मे सताईस सौ रुपये) सवंत् 1878 की फसल साख सावण की मुनाफे के रुप में भेंट प्राप्त करके पहुंचाई। यह दानपत्र आसाढ़ माह की बदि 10, सवंत् 1877 को तखतगढ़ जोधपुर से प्राप्त किया। इसके आगे दान देने के फल तथा दान देकर वापिस लेने के पाप को दर्शाने वाले दो श्लोक लिखे हैं – 1) अपनी दी हुई अथवा दूसरे द्वारा दान में दी हुई भूमि की जो रक्षा करते हैं वे लोग तब तक स्वर्ग में रहते हैं, जब तक चन्द्र और सूर्य विद्यमान हैं 2) अपनी अथवा दूसरे द्वारा दान में दी गई भूमि को जो लोग छीन लेते हैं, वे तब तक नरक में बसते हैं, जब तक चांद और सूर्य स्थित रहेंगे।

इस ताम्रपत्र के दूसरे पक्ष में उन कार्यालयों के नाम लिखे हैं, जिनमें ताम्रपत्र की प्रथम प्रतिलिपि श्री महाराज मानसिंह के कार्यालय में, दो प्रतियां दीवान के कार्यालय में तथा तीसरी प्रति बख्शी[15] के कार्यालय में रखी गई थी। इस ताम्रपत्र की शेष तीन प्रतियां चौकी नवीस के तीन कार्यालयों में सुरक्षित की गई थीं।

गांव बालन्द जिला रोहतक से प्राप्त ताम्रपत्र

बालन्द[16] ग्राम रोहतक में बेरी मार्ग पर स्थित है। इसमें नाथ सम्प्रदाय से सम्बद्ध दो मठ (डेरे, गद्दी) हैं। इनमे बड़ा मठ लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व स्थापित हुआ था। इसके संस्थापक महन्त बाबा मस्तनाथ के शिष्य बाबा मिरचनाथ थे। मठ में बहुत से आधे-अधूरे हस्तलिखित ग्रन्थ पड़े थे जो अब गुरुकुल झज्जर में सुरक्षित हैं। उन्हीं के साथ यह ताम्रपत्र भी था जिसको श्री विरजानन्द दैवकरणि ने प्रथम बार सुधारक में 1995 ई. में प्रकाशित किया था[17] जो इस प्रकार है – 'यह ताम्रपत्र जोधपुर के महाराजाधिराज श्री मानसिंह ने संवत् 1885 वि. (सन् 1837 ई.) में बालन्दवाली मीन्त वीर श्री मिरचनाथ की गद्दी को 2000) रुपये (दो हजार रुपये), कुम्भारी परगने के अन्तर्गत भुंडेल का रैनगोर गांव तथा उसकी श्रावणी फसल दान में दी थी। यह महान दानपात्र तखतगढ़ जोधपुर में दिया गया था। यह दानपत्र श्रावण माह की बदि 3, संवत् 1884 को दिया गया है। दानपत्र में दान देने वाले की प्रशंसा तथा दान देकर वापिस लेने वाले की निन्दा दो श्लोकों के द्वारा वर्णित की गई है। जैसे – 1. अपनी दी हुई अथवा दूसरे द्वारा दान में दी हुई भूमि की जो रक्षा करते हैं वे लोग तब तक स्वर्ग में रहते हैं, जब तक चन्द्र और सूर्य विद्यमान हैं। दूसरा अपनी अथवा दूसरे द्वारा दान में दी गई भूमि को जो लोग छीन लेते हैं,

वे तब तक नरक में बसते हैं, जब तक चांद और सूर्य स्थित रहेंगे।

श्लोकों के अन्त में राजा, दीवान, चोकीनवीस आदि आठ अधिकारियों के कार्यालय की स्वीकृति लिखी है। सम्भव है इन आठों के पास इस ताम्रपत्र की प्रतिलिपि आदि रही होगी। इनके कार्यालय में इस दानपात्र का उल्लेख तो अव य ही रहा होगा।'

अस्थल बोहर, रोहतक में एक भिति-चित्र में मस्तनाथ अपने सिंहासन पर विराजमान है तथा महाराजा मानसिंह उनके पास खड़े उनसे बातें करते हुए दिखाई दे रहे है (चित्र 4)। ऐसा ही चित्रण जलंधरनाथ के महामन्दिर में भी चित्रण किया गया है। मान्यता के अनुसार, मानसिंह को मारवाड़ राज्य का सिंहासन पर बैठाने में मदद करने में मस्तनाथ ने भी भूमिका निभाई थी। श्रीमस्तनाथचरितम् से पता चलता है कि देवनाथ ने मस्तनाथ के आदेश पर काम किया था। इसके अलावा, धर्मानुसार शासन करने के लिए मानसिंह को आदेश दिया।[18]

ताम्रपत्रों की विशेषता

ताम्रपत्रों में राजस्थानी भाषा का प्रयोग करते हुए तत्कालीन प्रचलित उर्दू भाषा के शब्दों को देवनागरी लिपि में लिखा गया है। ख अक्षर को ष के द्वारा लिखा गया है। जैसे हिम्मत खां को हिमत षां तथा बख्शी को वषसी लिखा है। 'आस औलाद' शब्द के स्थान मे भूल से 'आल औलाद' लिखा गया है। इसी प्रकार 'पालयंति' के स्थान में 'पालंति' शब्द अशुद्ध लिखा है।

ताम्रपत्रों द्वारा दान देने की यह गुप्तकालीन परम्परा 19 वी शताब्दी तक प्रचलित रही है, ये ताम्रपत्र इसका प्रमाण है। दानदाता शासक ने श्रीजलंधरनाथ के यश का वर्णन करते हुए, दान को संस्कृत भाषा में श्लोक के माध्यम द्वारा, दान की महिमा बताकर दिये हुए दान को वापिस लेने वाले को मिलने वाले पाप की चर्चा की है। दान की महिमा आदि विषयक श्लोक प्राय: सभी ताम्रपत्रों में मिलते हैं। ये श्लोक प्राचीन परम्परा से चले आ रहे हैं।

राजा की ओर से नाथ डेरे/आसन को डेरे में पूजापाठ और उसकी रक्षा आदि के निमित कर दिया जाता था। यह सब सम्पति राज्य की होती थी। नित्य की पूजा में होने वाले व्यय, पुरोहित के परिवार का व्यय तथा डेरे/आसन की सुरक्षा, उसकी मरम्मत और परिवर्तन, परिवर्द्धन आदि पर होने वाला व्यय राज्य की ओर से मिलता था। यह व्यय बार-बार न दिया जाये, इसलिए डेरे तथा उसके निकटवर्ती भूमिभाग अथवा परगने का पूरा ग्राम नाथ डेरे/आसन के नाम लिख देते थे। उसकी आय से यह सारा व्यय पूरा करते रहते थे। इसलिए नाथ तथा उसके सम्बन्धियों आदि के लिए ताम्रपत्र लिखकर प्रदान कर दिया जाता था, जिससे उनकी भावी पीढ़ी भी उस आय से अपना जीवन निर्वाह कर सके। ऐसे दानग्राही डेरे इन दानपत्रों को पीढ़ी दर पीढ़ी सुरक्षित रखते चले जाते थे। ऐसे ताम्रपत्रों से इतिहास की सही-सही जानकारी प्राप्त होती है।

संदर्भ

1. मैं डॉ. ईसा कुमारी, शोधार्थी, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ का हार्दिक धन्यवाद करता हूं जिन्होंने मुझे छातर तथा पेहवा के ताम्रपत्रों के चित्र उपलब्द करवाये, इसके अलावा मैं डॉ. सुमेष्टा तथा श्री विरजानन्द दैवकरणि जी का भी धन्यवाद करता हूं जिन्होंने इन ताम्रपत्रों को पढ़वाने में हमारी मदद की।
2. इन बारह पंथों के अलावा, कई अन्य उप-संप्रदाय हैं जो या तो संप्रदाय में शामिल नहीं किए गए या सपेरा (सपेला) का आधा दर्जा दिया गया है।
3. गुरु ग्रंथ साहिब, (अनु.) प्रीतम सिंह चाहिल, खण्ड-3, छत्र सिंह जीवन सिंह, अमृतसर, 2000, पृ. 939, सिद्ध गोष्ठा रामकली महाला-1, श्लोक-8.
4. दबिस्तान-ए-मजाहिब : या शिष्टाचार का स्कूल, (अनु.) डेविड शी और एंथनी ट्रॉयर, खण्ड-2, ग्रेट-ब्रिटेन और आयरलैंड का प्राच्य अनुवाद कोष, 1843, पृ. 128. इससे पता चलता है कि इन बारह सम्प्रदायों को 'नेक पंथ' या 'अच्छे संम्प्रदाय' के नाम से जाना जाता है।
5. जेम्स मल्लिन्सन, नाथ सम्प्रदाय, हिन्दू धर्म का ब्रिल एन्साइक्लोपीडिया, खण्ड-3, 2011, पृ. 10.
6. शमीम शर्मा (सम्पादक), नाथ सम्प्रदाय और उनके मठ, हरियाणा एन्साइक्लोपीडिया, संस्कृति खण्ड, भाग-दो, नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन, 2010, पृ. 152-153 (हरियाणा में नाथों के मठ निम्न हैं - 1. कोथकलां जींद, 2. कोरड़पाया, 3. अम्बाला, 4. पेहवा, 5. थानेसर, 6. कैथल, 7. सिरसा, 8. हिसार, 9. लेघा, 10. भिवानी, 11. पुर, 12. बवानी खेड़ा, 13. बणीपुर, 14. रेवाड़ी, 15. नारनौल, 16. अस्थल बोहर, 17. बलम्भा, 18 बालंद, 19. सिकन्दरपुर, 20. रोहतक, 21. गद्दी खेड़ी, 22. बुटाणा, 23. कपूरी की पहाड़ी, 24. सीमा, 25. वीस्सा, 26. कनीना, 27. जोणवास, 28. झाण, 29.धनौरी, 30. खरक पांडो, 31. नांगली, 32. गोरखपुर, 33. सोंगल, 34. गंडील, 35. अलेवा, 36. (हूटा) छात्तर, 37. बालू (बाता), 38. सिमला, 39. करसिंघु, 40. रामगढ़, 41. अलीपुरा, 42. लोधर, 43. नरवाना, 44.करोड़ा, 45(पाई, 46. फतेहपुर, 47. पुण्डरी, 48. नेपेवाला, 49. कराड़, 50. दूबल, 51. हथवाला, 52. मोटाला, 53. लिजवाना, 54. छोगरी कलां और 55. सुन्दरपुर)
7. डॉ. हुकमसिंह भाटी, भारत में नाथां रा आसण, चौपासनी, जोधपुर, राजस्थानी शोध संस्थान, 2003, पृ. 5-6
8. वही, पृ. 37-39
9. डॉ. धीरेन्द्र वर्मा (सम्पादक), हिन्दी साहित्य कोष, द्वितीय खंड, वाराणसी, ज्ञान मंडल, 1964, पृ. 72
10. वही
11. विरजानन्द दैवकरणि, प्राचीन ताम्रपत्र एवं शिलालेख, गुरुकुल झज्जर, हरियाणा प्रान्तीय पुरातत्व सग्रंहालय, 2003, पृ. 27-28
12. महाराजा मानसिंह शोध केन्द्र, मेहरानगढ़, पट्टा बही न. 12, संवत 1883, पृ. 6
13. जी. बुह्लर, पेहवा के गरीबनाथ मन्दिर का अभिलेख, एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड 1, 1892, पृ. 184-90
14. तख्तगढ़ राजस्थान राज्य के पाली जिले की सुमेरपुर तहसील का एक कस्बा है, जो कि जालौर जिले की सीमा रेखा पर स्थित है।
15. बख्शी उस अधिकारी को कहते थे जो सैनिकों को वेतन देता था। नगरों से कर लेने वाला अधिकारी भी बख्शी कहलाता था तथा दानपत्र देने वाले कार्यालय को बख्शीशनामा कहते थे।
16. विरजानन्द दैवकरणि, बालन्द में स्थित नाथ सम्प्रदाय का मठ, सुधारक, मई 1995, पृ. 13-16
17. वही, पृ. 14
18. पंडित हरदत्त शास्त्री, श्री मस्तनाथचरितम्, (अनु. हिन्दी) डा॔ सुभाग्यवती नंदल, 1999, पृ. 311-338

जोधपुर राज्य में देशज बैंकिंग एवं ऋण व्यवस्था (19वीं सदी के विशेष संदर्भ में)

डॉ. सुखाराम

जोधपुर राज्य का व्यापारिक केन्द्र पाली अपने स्थानीय व्यापार व अन्तर राज्यीय व्यापार के साथ-साथ अन्तर राष्ट्रीय व्यापार के लिए भी प्रसिद्ध था।[1] इसके अलावा राज्य में अन्य व्यापारिक केन्द्रों में मेड़ता, परबतसर, नागौर, डीडवाना, पचपदरा, फलोदी, जालोर और बालोतरा इत्यादि थे।[2] राज्य में ऋणदाता व बैंकर्स थे जिन्हें महाजन, बोहरा, सेठ व सर्राफ के नाम से जाना जाता था।[3] मारवाड़ राज्य के विभिन्न गाँवों व कस्बों में अनेक बैंकर्स कार्यरत रहते थे। ये बैंकर्स दो प्रकार के होते थे-1. कोठीवाल व 2. बोहरे। कोठीवाल बड़े धनी सेठ होते थे जो जन सामान्य व व्यापारियों को वाणिज्यिक कार्यों के लिए धन उपलब्ध करवाते ही थे साथ ही आवश्यकता पड़ने पर राज्य को भी धन उधार दिया करते थे। इन कोठीवालों की राजपूताना के सभी महत्त्वपूर्ण व्यापारिक केन्द्रों के साथ-साथ देश के अन्य नगरों में भी अपनी व्यापारिक शाखाएँ होती जो उनके मुनीम-गुमास्तों द्वारा संचालित होती थी। बोहरे जिन्हें साहूकार भी कहा जाता था जो कोठीवालों की तुलना में छोटे बैंकर्स होते थे।

बैंकर्स ऋण संबंधी कार्यों के साथ-साथ मुद्रा-विनिमय का कार्य भी करते थे। राजस्थान के प्रत्येक राज्य की अपनी-अपनी टकसालें होती थी और इन बैंकर्स द्वारा राज्य में प्रचलित मुद्राओं का मूल्य व मुद्रा-विनिमय दरें निश्चित की जाती थी।[4] इसके अलावा ये बैंकर्स हुण्डियाँ जारी करने व इनकी अन्य शाखाओं द्वारा जारी की गई हुण्डियों का भुगतान करने का कार्य भी प्रमुखता से किया करते थे।

इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि उन्नीसवीं सदी से पहले भी बड़े बैंकर्स व वित्तीय घराने यहाँ पर मौजूद थे। इनमें से जो प्रमुख व्यापारी व ऋणदाता होते थे वे नगर सेठ कहलाते थे। ये बैंकर्स इतने धनी होते थे कि युद्ध व अन्य कारणों से जब राज्य पर वित्तीय संकट आ जाता था तब राजा की मांग पर उनको भी ऋण उपलब्ध करवाते थे। नंदवाला बोहरा ने सन् 1766 ई. में 1,10,000 रुपये तथा सेठ कुशालचंद ने सन् 1806 ई. में 50,000 रुपये जोधपुर राज्य को उधार दिए थे। खास रूक्का परवाना बही के अनुसार सन् 1790 ई. में जोधपुर के प्रसिद्ध बैंकर सेठ दयाराम रूपचंद ने मराठा तुकोजी होल्कर की मांग को पूरा करने के लिए जोधपुर दरबार को ढ़ाई माह के लिए एक लाख रुपये का ऋण दिया तथा ऋण के पुनर्भुगतान के लिए दरबार की ओर से दरीबा नावां, डीडवाना, परबतसर और मारोठ की सायर की आमदनी की वसूली का अधिकार सेठ दयाराम को दिए गए। इसी प्रकार 1809 ई. में हीराचंद ने 1,25,000 और 1811 ई. में सिंघवी लाला जग्गी ने जोधपुर महाराजा को 2012 रुपये का ऋण दिया था।[5] सनद परवाना बही में सेठ समीरमल उमेदमल ने राज्य को खर्च हेतु 1,25,000 रुपये उधार दिए जिनका ब्याज 8.25 प्रतिशत की दर से तथा ऋण की अदायगी दरबार की कुल आमदनी में से देने का उल्लेख बही में किया गया है।[6]

जोधपुर राज्य के छोटे बैंकर्स बोहरे जो कोठीवालों की तरह ज्यादा धनवान नहीं होते थे। ये लोग स्थानीय स्तर पर छोटे व्यापारियों, दस्तकारों, शिल्पकारों व किसानों को उनकी आवश्यकतानुसार ऋण उपलब्ध करवाते थे। गाँव के किसानों व अन्य लोगों की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी इसी कारण इन बोहरों से ऋण लेना पड़ता था। ऋण के बदले में बोहरे किसी व्यक्ति की जमानत लेते या उनकी कोई अचल सम्पत्ति गिरवी रखवाते थे और ऊँची ब्याज दरों पर ऋण दिया जाता था। फसल पकने पर किसान को अपना अनाज बोहरे को बेचना होता था। बोहरे द्वारा किसान का अनाज बाजार भाव से कम कीमत पर खरीदा जाता था। इस प्रकार बोहरे को अपने ऋण व्यवसाय द्वारा दोहरा फायदा तथा ऋणी व्यक्ति को दोहरी हानि होती थी।[7]

सामान्यत: किसानों को ऋण इस शर्त पर दिया जाता था कि वे फसल पकने पर ऋण लौटा देंगे। लेकिन बड़े व लम्बी अवधि के ऋण चल या अचल सम्पत्ति को गिरवी रखकर ही दिए जाते थे। ऋण देने से पहले ऋणदाता द्वारा ऋणी के नाम अपनी खाता बही में एक रूक्का (Deed) लिखा जाता था जिसमें ऋण दाता व उसके पिता का नाम व ऋणी व उसके पिता का नाम, दोनों का पूरा पता, ऋण की राशि, ब्याज की दर व अवधि जिसके लिए ऋण दिया गया है, गिरवी रखी सम्पत्ति का पूरा विवरण, ऋणी व गवाहों के हस्ताक्षर व पहचान आदि का विस्तृत ब्योरा लिखा होता था। इस प्रकार सांचोर का एक ऋण खाता, चैत्र मास की कृष्ण पक्ष की सप्तमी, वि. सं. 1869/1811 ई. का मिला है जो ऋण खातों का एक प्रकार है। इसमें लिखा गया है कि मालजी भंसाली ने बालजी से 140 रुपये अपने घर को गिरवी रखकर इस शर्त पर लिए थे कि घर का कब्जा बालजी के पास रहेगा। मालजी भंसाली से ब्याज नहीं लिया जाएगा तथा बालजी घर को किराए पर दे सकेंगे।[8]

साहूकारों द्वारा किसी व्यक्ति को धन उधार देते समय यह देखा जाता था अमुक व्यक्ति की साख अच्छी है तथा वह समय पर ब्याज सहित ऋण चुकता कर देगा। यदि साहूकार को इसमें कोई संशय लगता तो वह ऋण के बदले दूकान, घर, खेत या गहने अडाणा[9] के रूप में गिरवी रखवा लेता था। 18वीं व 19वीं सदी में बैंकर्स का एक अन्य प्रमुख कार्य था मुद्रा-विनिमय। इस समय राजपूताना व देश की अन्य रियासतों में अपनी-अपनी टकसालों में अलग-अलग वजन व शुद्धता के रुपये ढाले जाते थे। व्यापार व वाणिज्य के लिए यह आवश्यक था सभी प्रकार की मुद्राओं की स्वीकार्यता उनके अपने राज्य में तथा राज्य के बाहर भी हो। अत: ऐसी स्थिति में आवश्यकता थी

मुद्रा-विनिमय की। मुद्रा विनिमय का कार्य करने वाले वर्ग को 'सर्राफ'[10] के नाम से जाना जाता था। सर्राफों का मुख्य कार्य मुद्रा की शुद्धता की जाँच करके उसके बाजार मूल्य का निर्धारण करना। इस कार्य के लिए सर्राफों को मुद्रा के मूल्य का 1/16 से 1/30 भाग तक का शुल्क भी लेते थे।

सर्राफ मुद्रा विनिमय द्वारा मुद्रा के प्रचलन को बनाए रखते थे। राजस्थान में प्रचलित विभिन्न प्रकार के सिक्के वजन व मूल्य में एक दूसरे से भिन्न थे। सर्राफ इन सिक्कों को थोड़ा सा कमीशन लेकर स्थानीय प्रचलित मुद्रा में बदल देते थे। इनके कमीशन की दरें सिक्कों के वजन व शुद्धता के आधार पर भिन्न-भिन्न होती थी। सर्राफ इस व्यवसाय द्वारा अच्छा मुनाफा कमाते थे। मुद्रा विनिमय का यह व्यवसाय इतना लाभप्रद था कि कुछ व्यापारिक फर्मे केवल यही काम करने लगी थी। इस कार्य हेतु जोध ापुर दरबार की ओर से राज्य में कई मुद्रा विनिमय-केन्द्र बनाए गए तथा यहाँ पर सिक्कों की शुद्धता की परख के लिए सर्राफों को नियुक्त किया गया था।[11]

ऋण पद्धतियाँ-प्राचीन काल से ही इतिहास में ऋण व सूद के विवरण हमें मिलते है। उन्नीसवीं सदी में जोधपुर राज्य में ऋण की आव यकतानुसार विभिन्न क्षेत्रों में ऋण दिए जाते थे-

1. कृषि क्षेत्र - किसानों की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं होती थी। अत: किसानों को अपनी आर्थिक आवश्यकताओं-कृषि कार्यो व पशुओं की खरीद हेतु ऋण की आवश्यकता होती थी। कई बार अकाल की स्थिति या फसल खराब होने के कारण किसानों को लगान चुकाने के लिए साहूकारों से ऋण लेना पड़ता था जिसकी ब्याज दर बहुत ऊँची होती थी। हालांकि जोधपुर राज्य की ओर से सन् 1894-96 ई. में लागू किए गए कृषि बंदोबस्त द्वारा किसानों को कम ब्याज पर तकाबी ऋण दिए जाने से किसानों की दशा में कुछ सुधार आया।[12]

2. दस्तकारी क्षेत्र - मारवाड़ राज्य में किसानों के बाद दस्तकार वर्ग आता था जो गैर कृषि कार्यों में संलग्न था। दस्तकारों को कच्चा माल खरीदने के लिए धन की आवश्यकता होती थी तो वे भी साहूकारों का दरवाजा खटखटाते थे। साहूकारों द्वारा दस्तकारों को ऋण तो दिया जाता लेकिन दस्तकारों को अपने उत्पाद बाजार भाव से कम मूल्य पर इन्हीं साहूकारों को बेचने पड़ते थे। साहूकार द्वारा दस्तकार को दिया गया अग्रिम ऋण पेशगी कहलाता था।

3. वाणिज्यिक क्षेत्र - सभी व्यापारी भी धनी नहीं होते थे इसलिए उन्हें अपने व्यापार को शुरू करने के लिए धन की आवश्यकता होती थी। अत: ये व्यापारी भी कोठीवालों या बड़े व्यापारियों से ऋण लेकर अपना व्यवसाय शुरू करते थे। सनद परवाना बही के अनुसार जालोर के महाजन मोतीचंद धीरजमल ने महाजन धीरा किसना को रुपये उधार देकर व्यापार करवाया था।[13]

4. राजकीय क्षेत्र - मारवाड़ जैसे मरूस्थली राज्य के आय के साधन सीमित थे। राज्य को कई बार प्राकृतिक आपदाओं से निपटने, युद्ध के समय, विकास कार्यो जैसे रेलवे का विकास तथा अन्य प्रशासनिक व निजी खर्चों के लिए धन की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए ऋण लेना पड़ता था।[14] सनद परवाना बही में राज्य द्वारा लिए गए ऋण के रूक्के का विवरण मिलता है। जिसमें सेठ ईंदरमल से 24281 रुपये राज्य ने उधार लिए गये थे तथा इन रुपयों का ब्याज 9 प्रतिशत की दर से लगाया गया था।[15] इसी प्रकार सेठ राधाकिशनजी रूघनाथजी ने 9 प्रतिशत की ब्याज दर से 5000 रुपये राज्य को उधार दिए और ये ऋण दरीबा सांभर व पचपदरा से होने वाली आय से वापस चुकाया जाना था।[16]

ऋणों के प्रकार - साहूकारों व बैंकर्स द्वारा विभिन्न प्रकार के ऋण दिए जाने के विवरण अभिलेखागारिय बहियों व अन्य स्रोतों में मिलते है जिनमें ऋण देने के कुछ प्रचलित तरीके इस प्रकार से थे-

1. आभूषणों के बदले ऋण - जब किसी व्यक्ति को धन उधार लेना होता तो वह अपने सोने व चांदी के गहने साहूकार के पास अडाणा रखकर भी ऋण ले सकता था। साहूकार द्वारा उसे अडाणा की कुल कीमत का 50 से 75 प्रतिशत राशि का ऋण दे दिया जाता था। क्योंकि यह ऋण सुरक्षित प्रकार का माना जाता था इसलिए इसकी ब्याज दर सामान्य से कम होती थी।

2. साख आधारित ऋण - इस प्रकार के ऋण उनको दिए जाते थे जिनकी बाजार व समाज में साख अच्छी होती थी और साहूकार को उन पर भरोसा होता था। ऐसे ऋणों में ऋणी को किसी साहूकार के पास कोई अडाणा नहीं रखना होता था और साहूकार केवल किसी परिचित व्यक्ति की जामनी[17] (गारन्टी) पर ही रुपया उधार दे देता था। ऐसे ऋणों की ब्याज दरें अडाणा के विरुद्ध दिए गए ऋणों से कुछ ज्यादा ही होती थी जो कि 15 प्रतिशत या उससे भी अधिक होती थी।

3. अचल संपत्ति के विरुद्ध ऋण - इस प्रकार का ऋण देते समय साहूकार द्वारा ऋणी व्यक्ति की कोई अचल संपत्ति जैसे खेत, घर या दूकान आदि गिरवी रखवा लेते थे। ऐसे मामलों में ऋण चुकाने की अवधि रूक्के (ऋण का विवरण पत्र) में लिख दी जाती थी। निर्धारित अवधि में यदि ऋण न चुकाया गया तो कर्जदार की गिरवी संपत्ति पर साहूकार का अधिकार हो जाता था। सनद परवाना बही सं. 116 के अनुसार परबतसर के साहूकार हिन्दूमल की दूकान सूरजकरण बगसीराम के अडाणे थी जिसके रुपये देकर हिन्दूमल अपनी दूकान छुड़ाना चाहता था लेकिल सूरजकरण बगसीराम रुपये ले नहीं ले रहे थे। अत: जोधपुर दरबार की ओर से साहूकार को रुपये देकर दूकान वापस मालिक को दिलाने का आदेश कचेड़ी परबतसर को दिया।[18] इसी प्रकार से नागौर के सरावगी दौलतराम का घर सरावगी रामजीदास के गिरवी था जिसे ऋण न चुका पाने के कारण रामजीदास के पास ही रह गया और उसने बंटवारे में यह घर अपने पोते को दे दिया। इस

कारण ऋणी व ऋणदाता के मध्य झगड़ा हो गया तो हजार रूपये इस घर के चुकाने पर घर वापस दिया गया।[19]

4. खाद्यान्न ऋण – उन्नीसवीं सदी में अनाज को भी ऋण के रूप में दिया जाता था। यह परम्परा सामान्यत: ग्रामीण क्षेत्रों में प्रचलन में थी। इस प्रकार से दिए गए ऋण का भुगतान मूलधन का 25 प्रतिशत अधिक करना होता था। बोहरों द्वारा इस प्रकार के ऋणों के भुगतान की शर्तें अनाज की उपलब्धता व उस समय के भाव के अनुसार लगाई जाती थी जिसमें ऋण का ब्याज 50 से 100 प्रतिशत तक वसूल किया जाता था।[20]

राज्य में ऋण को चुकाने के दो तरीके प्रचलन में थे। एक-एक मुश्त व दूसरा-किश्तों में। एक मुश्त चुकाए जाने वाले ऋण को ऋणी व्यक्ति द्वारा निर्धारित अवधि में मूलधन व ब्याज दोनों को एक साथ चुकाया जाता था। जबकि किश्तों में चुकाए जाने वाले ऋण की राशि ब्याज सहित निश्चित किश्तों में चुकाई जाती थी। यह ऋण प्रतिमाह किश्तों के रूप में चुकाया जाता था। वि.सं. 1866/1809 ई. में सेठ राजाराम जोशी श्रीकिशन से कर्नल हीरासिंह ने 2080 रुपये उधार लिए जिसमें 80 रुपये काटा के 4 रुपये प्रतिदिन के हिसाब से 20 दिन तक चुकाने तथा 20 दिन का ब्याज भी अग्रिम दे दिया गया। शर्त के अनुसार अगर यह ऋण 20 दिन में नहीं चुकाया गया तो मूलधन 2000 रुपये पर 24 प्रतिशत की दर से ब्याज लिए जाने की शर्त भी लिखी गई थी।[21] राजस्थान की देशी रियासतों पर अंग्रेजी सर्वोच्चता के प्रभाव के कारण ही रियासतों की अपनी परम्परागत आर्थिक पद्धतियाँ जैसे राज्य की मुद्रा, देशी बैंकिंग व्यवस्था, ऋण पद्धतियाँ, अडाणा व्यवस्था, हुण्डी व्यवसाय जैसी देशी व मौलिक व्यवस्थाओं में या तो औपनिवेशिक आवश्यकताओं के अनुरूप परिवर्तन कर दिया गया अन्यथा उन्हें समाप्त ही कर दिया गया।

सन्दर्भ

1. *जेम्स टॉड, एनल्स एण्ड एन्टिक्यूटीज ऑफ राजस्थान (ब्रूक संपादित), भाग-2, पृ. 81*
2. *निर्मला उपाध्याय, द एडमिनिस्ट्रशन ऑफ जोधपुर स्टेट (1800-1947), पृ. 135*
3. *जी. एन. शर्मा, सोसियल लाइफ इन मेडिवल राजस्थान, पृ. 337*
4. *जी. एन. शर्मा, उपर्युक्त, पृ. 338*
5. *जी. एन. शर्मा, सोसियल लाइफ इन मेडिवल राजस्थान, पृ. 338-39*
6. *सनद परवाना बही सं. 145, वि. सं. 1932/1875 ई., जो.रि.रा.रा.अ.बी., पृ. 526 ब.*
7. *बोहरों को अधिक ब्याज तथा किसानों से बाजार भाव से कम कीमत पर अनाज मिल जाता था और किसानों को लिए गए ऋण पर अधिक ब्याज व अपने अनाज का कम मूल्य मिलता था। यह एक शोषण चक्र था जो पीढी दर पीढी चलता रहता था।*
8. *जी. एन. शर्मा, उपर्युक्त, पृ. 340*
9. *सनद परवाना बही सं. 105, वि.सं. 1899/1842 ई., जो.रि.रा.रा.अ. बी., (जोधपुर रिकॉर्ड्स राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर), पृ. 215*

10. *'सर्राफ' वर्ग का उदय मुगलकाल में हुआ था। यह वर्ग भूराजस्व की वसूली के साथ-साथ मुद्रा विनिमय का भी कार्य करता था। टेवरनियर के अनुसार ''भारत में वह गाँव वास्तव में बहुत छोटा होना चाहिए जहाँ सर्राफ मौजूद नहीं है।''*
11. *के. डी. अर्सकिन, राजपूताना गजेटियर्स, भाग-3 अ, दा वेस्टर्न राजपूताना स्टेट्स रेजिडेन्सी एण्ड दा बीकानेर एजेन्सी, पृ. 144*
12. *डी. सी. जोसेफ, गजेटियर ऑफ इण्डिया, राजस्थान, बाड़मेर, 1962, पृ. 123*
13. *चौंतरा जालोर, मिती आसोज बद 11 गुरू, तथा उठारो महाजन धीरा किशना ने महाजन मोतीचंद धीरजमल रूपीया देय व्यापार करायो थो सुं पूंजी ले बैठो है हमार बोपार भीणज आछीतरै सुं करे नै आगला रूपीया देवे नहीं सुं वाजबी मांगे छै दिराय दिजो। श्री हजुर रो हुकम छै। सनद परवाना बही सं. 105, वि. सं. 1899/1842 ई., जो.रि.रा.रा.अ.बी., पृ. 192*
14. *जोधपुर दरबार की ओर से समय-समय पर राज्य में स्थित साहूकारों व बड़े व्यापारिक घरानों से ऋण लिया जाता था। सन् 1898 ई में जोधपुर राज्य ने जोधपुर-बीकानेर रेलवे के विकास व विस्तार के लिए 25.5 लाख रुपये का ऋण मैसूर राज्य से लिया था। के.डी. अर्सकिन, राजपूताना गजेटियर्स, भाग-3 अ, दा वेस्टर्न राजपूताना स्टेट्स रेजिडेन्सी एण्ड दा बीकानेर एजेन्सी, पृ. 142*
15. *सनद परवाना बही सं. 126, वि. सं. 1914/1857 ई., जो. रि. रा. रा. अ. बी, पृ. 614*
16. *सनद परवाना बही सं. 116, वि.सं. 1906/1849 ई., जो. रि. रा. रा. अ. बी., पृ. 545.*
17. *ऋण के पुनर्भुगतान की गारन्टी को जामनी कहा जाता था। अगर कोई ऋणी व्यक्ति ऋण चुकाने में असमर्थ रहता तो जामनी देने वाले व्यक्ति को ऋण का भुगतान करना होता था। इसी कारण जो व्यक्ति जामनी देता था वह पूरी कोशिश करता की ऋणी व्यक्ति निध ार्रित अवधि में अपना ऋण चुकाए। जामनी देने वाले व्यक्ति की साख अच्छी होती थी। ऋण के पूरे लेन देन में जामन व्यक्ति को किसी भी प्रकार का कोई फायदा या कमीशन नहीं मिलता था, फिर भी वह व्यक्ति ऋण सम्बन्धी सारी जोखिम अपने उपर ले लेते थे। किसी भी व्यक्ति के ऋण की जामनी वही व्यक्ति देता जो या तो उसका रिसतेदार होता या जिससे उसके पारिवारिक सम्बन्ध बहुत अच्छे होते थे।*
18. *सनद परवाना बही सं. 116, वि. सं. 1906/1849 ई., जो. रि. रा. रा. अ. बी., पृ. 314*
19. *सनद परवाना बही सं. 106, वि. सं. 1900/1843 ई., जो. रि. रा. रा. अ. बी., पृ. 170*
20. *गाँव के किसानों व अन्य गरीब लोगों को सामान्यत: उस समय अनाज की आवश्यकता होती थी जब अनाज की उपलब्धता कम व बाजार भाव अधिक हो जाते थे। ऐसे समय में भाव सामान्य भावों से लगभग दुगुने हो जाते थे। अत: किसान की जब फसल पकती थी तब उसके भाव पुन: कम हो जाते थे। अत: किसान को बोहरे से उधार लिए गए अनाज का लगभग दुगुना ही देना पड़ता था।*
21. *सनद बही सं. 308, वि. सं. 1866/1809 ई., जिला अभिलेखागार, जोधुपर, पृ. 443*

राजस्थान से आए औद्योगिक घरानों का इन्दौर रियासत में योगदान : महाराजा तुकोजीराव होल्कर (द्वितीय) के संदर्भ में

डॉ. रश्मि सिंह

सन 1730 के बाद मालवा के दक्षिणी क्षेत्र पर होल्कर घराने का आधिपत्य हो जाने के बाद सूबा मालवा, सरकार उज्जैन, परगना कम्पेल के अन्तर्गत कस्बा इन्दौर धीरे धीरे उन्नति करने लगा था। राजस्थान के अनेक धनिक व्यापारी घराने इन्दौर और इन्दौर के आसपास आ बसे। मेलकम स्वयं लिखता है कि मराठों का मालवा पर अधिकार होने के बाद राजस्थान से आये व्यापारियों की संख्या गुजरात से आये व्यापारियों से अधिक थी।[1] इन्दौर को मालवा का प्रमुख व्यापारिक नगर होने का गौरव विगत एक शताब्दी से प्राप्त हो रहा है। इन्दौर के होल्कर राजाओं ने इन व्यापारियों को और बढ़ावा दिया तथा व्यापार संबंधी कई सुविधाएं प्रदान की। दिनांक 27 जून 1844 को महाराज तुकोजीराव बहादुर होल्कर-द्वितीय गद्दी पर आसीन हुए। तुकोजीराव बहादुर एक कुशल प्रशासक और दूरदर्शी थे। सिंहासन रूढ होने के पश्चात उन्होंने सर्वप्रथम राज्य में व्याप्त अस्थिरता को दूर किया और व्यापार वाणिज्य तथा औद्योगिक क्षेत्र को नई दिशा प्रदान की।

ग्यारह पंच संस्था की स्थापना महाराजा मल्हारराव होलकर द्वितीय के शासनकाल में हुई थी। यह मूलत: एक अशासकीय संस्था थी, किन्तु इस संस्था का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य दीवानी न्यायालय के रूप में किया जाता था। इस संस्था में इन्दौर के प्रमुख एवं प्रभावशाली व्यापारियों को सम्मिलित किया जाता था। दूसरा महत्वपूर्ण कार्य महाराजा तुकोजीराव द्वितीय का था कि उन्होंने राजस्थान से आए अनेक धनिक व्यापारियों को होलकर रिसायत में बसने और व्यापार करने में पूर्णत: सहायता प्रदान की। ऐसे राजस्थानी व्यापारिक घरानों की श्रृंखला में सर सेठ माणकचंद, सेठ रामप्रताप हरविलास जी, सेठ शिवाजीराव सालिगराम, सेठ बिनोदीराम बालचंदजी, महाजन बखतराम बच्छराज और महाजन बलदेवदास गोरखराम थे। ये समस्त व्यापारी, जो राजस्थान से नवस्थापित होलकर नवसधानी इन्दौर की और व्यापार की लालसा से आकर्षित हुए थे और इन्दौर में आ बसे थे। राजस्थान के व्यापारिक घराने जो तुकोजीराव (द्वितीय) के कार्यकाल में इन्दौर आ बसे थे।

1. श्रेष्ठि माणकचंद मनगीराम-ऐसे राजस्थानी व्यापारी घरानों की श्रृंखला में सर सेठ हुकुमचंद कासलीवाल के दादाजी का नाम आता है। सेठ हुकुमचंदजी के दादाजी सेठ मानकचंदजी इन्दौर में 'मानकचंद मनगीराम' फर्म के नाम से व्यापार करते थे। सेठ मानकचंद मनगीराम मारवाड़ के अन्तर्गत डीडवाना तहसील के निवासी थे। मारवाड़ की डीडवाना तहसील ने व्यापारिक भारत को अनेक रत्न दिये हैं, जिनमें सेठ मनगीराम (मगनीराम) बांगड़ तो सर्व विदित है। सेठ मनगीरामजी बांगड़ ने डीडवाना से निकलकर न केवल इन्दौर को अपितु सुदुरपूर्व की राजधानी कलकत्ता महानगरी को अपने व्यापारिक बुद्धि वैभव का केन्द्र बनाया था।[2] इस फर्म की प्रसिद्धि व व्यापारिक प्रगति से प्रभावित होकर महाराजा ने फर्म को कर में आधा कर माफ कर दिया था। तथा इन्दौर मालवा की प्रसिद्ध फर्म 'मानकचंद मनगीराम' को महाराजा शिवाजीराव होलकर के शासनकाल में ई. 1890 में राज्य की 'ग्यारह पंच' नामक संस्था की सदस्यता प्रदान की गई थी, जो एक दुर्लभ सम्मान था।[3]

मानकचंदजी के पांच पुत्र थे, जिनमें से दो पूर्व में ही काल कलवित हो चुके थे। शेष तीन पुत्र सरूपचंद, औंकारजी तथा तिलोकचंद ने संवत 1915 से 1954 तक संयुक्त रूप से अफीम का व्यापार किया और इस व्यापार में अतुलनीय धन कमाया।[4] चौथी पीढ़ी के सेठ सरूपचंदजी के पुत्र हुकुमचंद, औंकारजी के पुत्र कस्तूरचंद तथा सेठ तिलोकचंदजी के पुत्र कल्याणमल हुए, जिन्होंने उत्तराधिकार में अपने-अपने पिता के व्यापार की बागडोर संभाली और उत्तरोत्तर व्यापार-व्यवसाय में तथा बैंकिंग के कारोबार में ख्याति अर्जित की।

2. सेठ रामप्रतापजी हरविलास - राजस्थान के राज्य जयपुर का गांव फतेहपुर के निवासी सेठ रामप्रतापजी ने इन्दौर की ख्याति सुनकर अपना भाग्य अजमाने का निश्चय किया और वे महाराजा हरीराव होलकर के शासनकाल में ई. 1844 में इन्दौर आ गये। इन्दौर में उन्होंने सर्राफ का व्यवसाय प्रारंभ किया।[5] उनकी ईमानदारी और निष्ठा ने उन्हें शीघ्र ही नगर का प्रतिष्ठित सराफ बना दिया। 1862 में महाराज ने एक आदेश से सेठ को राजकीय हुण्डी विभाग का कार्य सौंपा गया जिसका निर्वाह उत्तम तरीके से किया गया।[6] सेठ रामप्रताप शीघ्र ही इन्दौर नगर के एक प्रतिष्ठित व्यापारी बन गये और उनकी ख्याति महाराजा तुकोजीराव होलकर (द्वितीय) के कानों तक भी पहुंची। तब महाराजा ने इस व्यापारिक परिवार को न केवल प्रोत्साहन व अपना संरक्षण प्रदान ही किया अपितु राज परिवार के लिए क्रय किये जाने वाले मूल्यवान आभूषणों तथा स्वर्ण निर्मित वस्तुओं का क्रय सेठ रामप्रतापजी के परामर्श व अनुमोदन पर ही किया जाने लगा। राजपरिवार का विश्वास सेठजी ने पूरी तरह से अर्जित कर लिया था।[7]

इन्दौर-खण्डवा के मध्य जब ब्रिटिश सरकार ने रेलवे लाइन डालने का कार्य आरंभ किया तब महाराजा होलकर ने ब्रिटिश सरकार को 1 करोड़ का ऋण स्वीकृत किया था।[8] ऋण की यह राशि सेठ रामप्रताप के माध्यम से ही ब्रिटिश सरकार को सौंपी गई थी। इसके अतिरिक्त भी महत्वपूर्ण आर्थिक लेन-देन का कार्य महाराजा होल्कर, सेठ रामप्रताप के माध्यम से ही किया करते थे।[9]

महाराजा होलकर सेठ की योग्यता पर अत्यधिक विश्वास रखते थे। अत: उन्होंने सेठ रामप्रताप को राज्य की 'ग्यारह पंच' संस्था में उन्हें 'नेस्टर' के पद पर नियुक्त किया था। श्रेष्ठि रामप्रताप के महाराजा तुकोजीराव (द्वितीय) तथा उनके पुत्र महाराजा शिवाजीराव होलकर (1886-1903 ई.) के साथ अत्यधिक घनिष्ठ और पारिवारिक संबंध थे। महाराजा होलकर द्वय (पिता-पुत्र) ने सेठ के आवास पर कई एक बार जाकर सौजन्य भेंट की थी। श्रेष्ठि रामप्रताप के योरोपीय अधिकारियों के साथ भी बड़े घनिष्ठ और मैत्रीपूर्ण संबंध थे।[10] श्रेष्ठि रामप्रताप के पुत्र श्री हरिविलास को राज्य की ओर से विशेष सम्मान प्राप्त था और उन्हें राज्य की प्रमुख 'ग्यारह पंच' संस्था का सदस्य मनोनीत किया गया था। नगर की व्यापारिक प्रगति में इस परिवार का उल्लेखनीय योगदान रहा था।

3. सेठ शिवाजीराव सालिगराम-जोधपुर राज्य के डीडवाना क्षेत्र से यह परिवार स्थानान्तरिक होकर इन्दौर में आया था और मालवा की समृद्धि ने इस परिवार को स्थाई निवास प्रदान किया। सेठ शिवाजी राम सालिगराम के फर्म के आदि पुरुष साबुलसिंह थे। सेठ शिवाजीराम के पिता का नाम धनरूपजी था और सेठ शिवाजीराम के पुत्र का नाम सालिगराम था। शिवाजीराम सालिगराम नाम से कार्यरत् इस फर्म ने पहले बैंकिंग व्यवसाय प्रारंभ किया था, तत्पश्चात अन्य व्यापारियों की भांति इस प्रतिष्ठान ने भी अफीम व्यापार को अपना लिया। अपनी व्यापारिक गतिविधियां बढ़ाने के लिए इस फर्म ने बम्बई, सीहोर और सुनेल में अपनी व्यापारिक शाखाएं स्थापित की।[11]

इस फर्म ने जयकृष्ण को गोद लिया था, जिन्होंने परिवार की व्यावसायिक परम्पराओं को आगे बढ़ाया। इन्दौर नगर में स्थापित राजकीय कपड़ा मिल का व्यवसाय जब गड़बड़ाने लगा और इस औद्योगिक इकाई से राज्य को आर्थिक क्षति पहुंचने लगी, तब महाराजा तुकोजीराव (द्वितीय) ने इस राजकीय मिल को ठेके पर देने का निर्णय लिया। नगर की व्यापारोत्तेजक इस फर्म ने राजकीय मिल के संचालक का ठेका ले लिया। राजकीय मिल के आधे शेयर सेठ जय कृष्णजी धूत ने खरीद लिये थे। वे राजकीय मिल के व्यवस्थापक बने और मिल को सफलतापूर्वक चलाया। श्रेष्ठि जयकृष्णजी को महाराजा होलकर के द्वारा 'ग्यारह पंच' संस्था का सदस्य मनोनीत किया गया था और साथ ही उन्हें महाराजा ने 'मानसेवी न्यायाधीश' भी नियुक्त किया था।[12]

सेठ शिवाजीराम सालिगराम प्रतिष्ठान के लोक कल्याणकारी कार्य - इस प्रतिष्ठान ने जहां व्यापार के क्षेत्र में अतिशय पूंजी अर्जित की थी, वहीं इस अर्जित पूंजी को इस फर्म में परमार्थिक कार्यों में लगाकर एक अनुकरणीय उदाहरण भी प्रस्तुत किया था। इस परिवार के द्वारा उज्जैन के प्रसिद्ध 'नरसिंह मंदिर' का निर्माण कराया गया था, साथ ही औंकारेश्वर में विगत 50 वर्षों से भी अधिक समय तक अन्नछत्र संचालित किया जाता रहा। वैदिक ज्ञान के प्रचार-प्रसार के लिए तथा भारतीय संस्कृति के विस्तार के लिए इन्दौर के बियाबानी क्षेत्र में एक संस्कृत पाठशाला भी संचालित की जाती रही थी। छत्रीबाग में निर्धनों के लिए अन्नछत्र भी स्थापित किया गया था।[13]

4. श्रेष्ठि बिनोदीराम बालचंदजी - श्रेष्ठि बिनोदीराम बालचंद अपने परिवार के साथ ई. 1824 में इन्दौर आ बसे थे। वह समय इन्दौर राज्य का संक्रमण काल था। उस समय मन्दसौर की सन्धि (ई. 1811) के पश्चात् इन्दौर होलकरों की राजधानी बना ही था और साथ ही इन्दौर में रेजीडेन्सी की स्थापना की जा रही थी। व्यापार की प्रबल संभावनाएं एवं धनोपार्जन की ललक इस परिवार को जोधपुर राज्य के नागोर क्षेत्र में स्थित झालरापाटन से इन्दौर खींच लाई।[14]

राजस्थान से इन्दौर मालवा को आए अन्य व्यापारी परिवारों की भांति इस परिवार ने भी अफीम के व्यापार में अपना भाग्य आजमाया। जिससे इन्हें अत्यधिक मुनाफा हुआ, धीरे-धीरे यही अफीम का व्यापार इनकी समृद्धि का आधार बना। व्यवसाय के विस्तार के साथ ही इस फर्म के मुनीम डंगरीदास तथा बिनोदीराम के बहनोई ने बम्बई में एक शाखा खोली।

ई. 1844 में जन्में श्रेष्ठि बिनोदीराम के पुत्र बालचंदजी ने भी पारिवारिक व्यापार को गति प्रदान की। इस श्रेष्ठि परिवार को महाराजा तुकोजीराव होलकर (द्वितीय) ने पर्याप्त सम्मान प्रदान किया था। विशेष अवसरों पर सेठ बिनोदीराम, उनके पुत्र बालचंद जी, पारिवारिक महिलाएं एवं मुनीम को भी महाराजा होलकर के द्वारा उपहार प्रदान कर सम्मानित किया गया था।

व्यापार के प्रोत्साहन हेतु ही महाराजा ने इन्दौर के कुछ अग्रणी व्यापारिक घरानों को 'अधकरी व पावकरी' (कर में रियासत की छूट) की छूट प्रदान की थी। सेठ बिनोदीराम के परिवार को 'अधकरी' प्राप्त थी, जिसके अन्तर्गत इस फर्म को राज्य द्वारा निर्धारित चुंगी कर में आधी छूट प्रदान की गई थी।[15] इस फर्म ने आगे चलकर सूती वस्त्र व्यवसाय प्रारंभ किया और निमाड़ से बड़ी मात्रा में कपास क्रय किया। धीरे-धीरे वे निमाड़ के सबसे बड़े कपास व्यापारी बन गये। उज्जैन के विनोद मिल के संचालन में इस परिवार का बड़ा योगदान रहा।

इस फर्म के मुनीम लुणकरण जी बहुत ही योग्य, बुद्धिमान और ईमानदार व्यक्ति थे, जिन्होंने बहुत निष्ठापूर्वक फर्म के कार्यों को आगे बढ़ाया। इस फर्म की 20 दुकानें, 5 जिनिंग फैक्ट्री तथा 2 जीनिंग-प्रेसिंग फैक्ट्री थी।[16] महाराजा तुकोजीराव (द्वितीय) के सेठ बिनोदीराम तथा उनके पुत्र बालचंद जी से बड़े घनिष्ठ और पारिवारिक संबंध थे। ई. 1881 में जब इस परिवार के सेठ दीपचंद जी का विवाह तय हुआ तो महाराजा तुकोजीराव होलकर ने अपनी ओर से एक हाथी, 15 अश्वारोही झालरापाटन भेजे थे। यह काफिला बूंदी तक दीपचंद जी की बारात के साथ गया था।[17]

राजस्थान के जैन धमावलम्बी और जाति के ओसवाल महाजनों ने इन्दौर में निवासरत् रहते हुऐ जो यश, कीर्ति तथा पूंजी अर्जित की, उसी का परिणाम था कि महाजन बिनोदीराम के परिवार को राजस्थान के झालावाड़ दरबार ने भी सम्मानित किया

था। इस परिवार के चारों भाईयों को अपने पैरों में सोने का 'तोड़ा' पहनने के अधिकार के साथ ही सेठ मानिकचंद तथा लालचंद को अपने नाम के साथ 'जी' शब्द जोड़ने की विशेष अनुमति दरबार ने प्रदान की थी।[18] इसी परिवार के सेठ माणिकचंदजी को ग्वालियर के सिन्धिया राजदरबार के द्वारा 'ताजिर-उल-मुल्क' की उपाधि से सम्मानित किया गया था और उन्हें ग्वालियर राज्य के आर्थिक विकास बोर्ड का सदस्य भी मनोनित किया गया था।

5. महाजन बखतराम बच्छराज - जोधपुर राज्य के नागोर से इस परिवार के आदि पुरुष सेठ फतहचन्द का ई. 1825-30 के मध्य इन्दौर में आगमन हुआ। इस संस्थान की एक शाखा श्रीकृष्ण गोपीनाथ के नाम से उज्जैन में भी संचालित होती रही। इस फर्म ने प्रमुख रूप से अफीम और कपास का व्यवसाय किया। इस फर्म के सेठ मांगीलालजी को इन्दौर राज्य की संस्था 'ग्यारह पंच' का सदस्य मनोनीत किया गया था और होलकर दरबार में उन्हें ससम्मान आसन्दी का मान प्रदान किया गया था।[19]

महाजन बख्तराम बच्छराज फर्म के लोक कल्याणकारी कार्य - इस फर्म ने बड़ी उदारतापूर्वक कल्याणकारी तथा धार्मिक कार्यो पर काफी धन व्यय किया था। इस फर्म के पूर्वजों द्वारा इन्दौर, उज्जैन तथा सूरत में राधाकृष्ण के मंदिरों का निर्माण करवाया गया था। पुष्कर के सत्यनारायण मंदिर का भी इन्हीं के द्वारा बनवाया गया था। इन्दौर तथा ऋषिकेश में इस फर्म के द्वारा अन्नछत्र चलाए जाते थे।[20]

6. महाजन बलदेवदास गोरखराम - बलदेवदास गोरखराम फर्म के संस्थापक भी राजस्थान के जयपुर राज्य में स्थित लक्ष्मणगढ़ के निवासी थे, जो व्यापार व्यवसाय के उद्देश्य से ई. 1866 में महाराजा तुकोजीराव होलकर (द्वितीय) के कार्यकाल में इन्दौर आ बसे थे। सेठ गोरखराम ने इस प्रसिद्ध फर्म की स्थापना इन्दौर में की थी। इस फर्म के सेठ जव्हारमल जी से महाराजा होलकर अत्यधिक प्रसन्न थे और महाराजा की चाहत ही इस फर्म की उन्नति का कारण बना। तुकोजीराव के पुत्र महाराजा शिवाजीराव होलकर (1886-1903 ई.) ने सेठ जव्हारमल को 'ग्यारह पंच संस्था' का सदस्य मनोनीत किया था। अफीम व्यापार से संबंधित कोई विवाद राज्य सरकार सम्मुख उपस्थित होता था, तो महाराजा होलकर सेठ जव्हारमल जी का अभिमत अवश्य लेते थे। इस फर्म ने 'रामनारायण बलदेव दास' नाम से बम्बई में अपनी शाखा स्थापित की थी। इसके अतिरिक्त धूलिया तथा भोपाल में भी इस फर्म की शाखाएं थी। इस फर्म के भावी धनाढ्य व्यापारियों ने अनेक लोक कल्याणकारी कार्य किये थे। इस फर्म ने कल्याण, मुकुन्दगढ़ तथा लक्ष्मणगढ़ में सीताराम के मंदिरों का निर्माण कराया था।

ये समस्त व्यापारी जो राजस्थान से नवस्थापित होकर होलकर रियासत की नव राजधानी इन्दौर की ओर व्यापार की लालसा से आकर्षित हुए और अपने व्यापार सहित इन्दौर में आ बसे थे। इन व्यापारिक घरानों ने राजस्थान के अपने मूल निवासों स्थानों के

साथ अपना निरन्तर संपर्क बनाए रखे किन्तु इन्दौर को ही उन्होंने अपनी कर्मस्थली बनाया और यहीं स्थायी रूप से बस गए।

संदर्भ

1. *जान मालकम, ए मेमायर ऑफ सेन्ट्रल इण्डिया केम्ब्रिज युनिवसिटी प्रेस , 1832 पृ. 162, अहिल्या स्मारिका, मेजर एम.एम. जगदाले, खासगी ट्रस्ट, देवी अहिल्याबाई होलकर चेरिटीज, इन्दौर, 1981 पृ. 13*
2. *सत्यदेव विद्यालंकर (सम्पादक) श्रीमंत सर सेठ हुकुमचंदजी अभिनंदन ग्रंथ 1951, दिल्ली पृ. 255*
3. *एम.डब्ल्यू.बर्वे, हिज हाइनेस महाराजा तुकोजीराव (द्वितीय) रूलर ऑफ इन्दौर, प्रकाशन, होलकर प्रेस ऑफ इन्दौर (1835-1864) पृ. 470*
4. *वही, पृ. 470-471*
5. *वही, पृ. 478*
6. *विज्ञप्ति त्रिवेणी, मुनि जिन विजय कृत भूमिका, जनरल मध्यप्रदेश इतिहास परिषद अंक 4, 1962, पृ. 132-133*
7. *अनंत नारायण भागवत, होलकराची, कैफीयत, खण्ड 6 प्रकाशक होलकर स्टेट प्रेस, 1926, पृ. 121*
8. *एम.डब्ल्यू.बर्वे, पूर्वोक्त, पृ. 478*
9. *इन्दौर राज्य गजेटियर, संस्करण प्रथम 1931, पृ. 45*
10. *एम.डब्ल्यू.बर्वे, पूर्वोक्त, पृ. 478*
11. *एम.डब्ल्यू.बर्वे, पूर्वोक्त, पृ. 50*
12. *एम.डब्ल्यू.बर्वे, पूर्वोक्त, पृ. 475*
13. *इन्दौर राज्य गजेटियर संस्करण प्रथम 1931 पृ. 52*
14. *एम.डब्ल्यू.बर्वे, पूर्वोक्त, पृ. 475-476*
15. *वानेडा ठिकाना और बनेडा संग्रह की अमलवाडी की बही से ज्ञात होता है कि अफीम का क्रय करने वाले मुख्यत: मारवाड़ व जैसलमेर क्षेत्र के व्यापारी थी। अमलवाडी री बही संवत 1935 पृ. 88*
16. *एम.डब्ल्यू.बर्वे, पूर्वोक्त, पृ. 475*
17. *एम.डब्ल्यू.बर्वे, पूर्वोक्त, पृ. 475-476*
18. *अहिल्या स्मारिका, मेजर एम.एम. जगदाले, खासगी ट्रस्ट, देवी अहिल्याबाई होलकर चेरिटीज, इन्दौर, 1981, पृ. 16-19 इन्दौर राज्य गजेटियर भाग-1, 1931 पृ. 54-55*
19. *एम.डब्ल्यू.बर्वे, पूर्वोक्त, पृ. 477*
20. *इन्दौर राज्य गजेटियर संस्करण प्रथम 1991, पृ. 58-58*

जयपुर राज्य के व्यापारिक मार्ग : एक अध्ययन (20वीं शताब्दी में)

डॉ. रश्मि मीना

जयपुर राज्य राजपूताना के उत्तर-पूर्वी भाग में अवस्थित था, जो कि 1727 ई. में जयपुर की स्थापना से पूर्व आम्बेर के नाम से जाना जाता था। आम्बेरनगर 1200 ई. के आसपास कच्छवाहा राजपूत शासक काकिलदेव द्वारा बसाया गया था जो कि अयोध्या नरेश श्री रामचन्द्र जी ज्येष्ठ पुत्र 'कुश' के वंशज माने जाते हैं।[1] इससे पहले यह राज्य ढूँढाड़ कहलाता था। महाभारत काल में यह मत्स्य प्रदेश का एक भाग था, जिसकी राजधानी बैराठ थी। इस प्रकार प्राचीलनकाल से ही इस राज्य का उल्लेख मिलता है। जयपुर राज्य 25° 41' उत्तरी अक्षांसों तथा 74°41' पुर्वी देशान्तरों के मध्य स्थित था तथा इसका कुल क्षेत्रफल 15,579 वर्ग मील था। यह राजपूताना का चौथा बड़ा राज्य था।[2] इसकी उत्तरी सीमाएँ बीकानेर, लोहारू तथा पटियाला राज्य तक, पूर्वी सीमाएँ अलवर, भरतपुर, करौली, धौलपुर व ग्वालियर राज्य तक, दक्षिणी सीमाएँ कोटा, बूंदी, टोंक व उदयपुर राज्य तक तथा पश्चिमी सीमाएँ अजमेर-मेरवाड़ा, किशनगढ़, जोधपुर तथा बीकानेर राज्य तक विस्तृत थीं। सवाई जयसिंह (ईस्वी सन् 1699-1743) के समय तक यह राज्य दिल्ली तक विस्तृत था। परन्तु 1743 ई. में उनकी मृत्योपरान्त धीरे-धीरे कामा, दबोई व पहाड़ी भरतपुर राज्य ने; थानागाजी, उजीबगढ़, बहरोड़, मंजपुर, प्रतापगढ़ आदि अलवर राज्य ने; नारनौल, कांति आदि झज्झर राज्य ने; फरीदाबाद वल्लभगढ़ राज्य ने; टोंक व रामपुरा, टोंक राज्य ने तथा होडल व पलवल को अंग्रेजों ने अपने अधिकार क्षेत्र में ले लिया। 1803-04 ई. के मराठा युद्ध में खेतड़ी के जागीरदार द्वारा अंग्रेजों की सहायता करने के फलस्वरूप लॉर्ड लैक द्वारा कोटपुतली खेतड़ी के जागीरदार को दे दिया गया था।[3] इस प्रकार समय-समय पर जयपुर राज्य की राजनीतिक सीमाओं में परिवर्तन आते रहे। 31 मार्च, 1949 ई. तक इसका कुल क्षेत्रफल 15,601 वर्गमील था।[4]

18वीं सदी के उत्तरार्द्ध तक समस्त राजपूताना से तीन बड़े व्यापारिक मार्ग गुजरते थे : प्रथम मार्ग - पश्चिमी समुद्र तट को उत्तरी तथा उत्तर-पश्चिमी भारत से जोड़ता था तथा यह मध्य एशिया से पंजाब व मुल्तान होता हुआ अहमदाबाद से गुजरता था।[5] दूसरा मुख्य मार्ग - पूर्वी भारत से पश्चिमी भारत की ओर जाता था जो आगरा से अलवर, आम्बेर (जयपुर), अजमेर, मेड़ता, फलौदी व जैसलमेर होता हुआ इस मुख्य मार्ग से जुड़ जाता था। तीसरा मुख्य मार्ग - उत्तर भारत से दक्षिण भारत की ओर जाता था, जो बीकानेर, सूरतगढ़ तथा अजमेर से गुजरता था।[6] जयपुर राज्य भी इन व्यापारिक मार्गों के माध्यम से राजपूताना के विभिन्न व्यापारिक केन्द्रों से जुड़ा हुआ था। जिनमें से कुछ प्रमुख मार्ग इस प्रकार थे[7] -

कोटा से जयपुर : कोटा-बूंदी-देवली-टोंक-निवाई-चाकसू-जयपुर

बीकानेर से जयपुर : बीकानेर-चूरू-सीकर-जयपुर

जैसलमेर से जयपुर : जैसलमेर-पोकरण-फलौदी-नागौर-रूपनगर-जयपुर

जोधपुर से जयपुर : जोधपुर-मेड़ता-परबतसर-सांभर-जयपुर

सांभर से सवाई माधोपुर : सांभर-नरैना-मौजमाबाद-फागी-सुमेल-सवाई माधोपुर - सांभर से रेवासा : सांभर-जयपुर-सवाई माधोपुर-खण्डार-रेवासा, इत्यादि।

इन आन्तरिक व्यापारिक मार्गों के अतिरिक्त कुछ अन्य व्यापारिक मार्ग भी थे जो जयपुर राज्य से गुजरते थे तथा राजपूताना को भारत के अन्य बाहरी क्षेत्रों से जोड़ते थे। इनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण मार्ग निम्नलिखित थे[8] -

आगरा से प्रतापगढ़ : आगरा - फतेहपुरा सीकरी - दौसा - जयपुर - मौजमाबाद - किशनगढ़ - अजमेर - नसीराबाद - भीलवाड़ा - चित्तौड़गढ़ - प्रतापगढ़

इन्दौर से जयपुर : इन्दौर - उज्जैन - सोजत - झालरापाटन - कोटा - बूंदी - देवली - टोंक - जयपुर

छत्तरपुर (बुन्देलखण्ड) से जयपुर : छत्तरपुर - झांसी - शाहबाद - बारां - कोटा - बूंदी - टोंक - जयपुर

जयपुर से सूरत : जयपुर - अजमेर - भीलवाड़ा - उदयपुर - डूंगरपुंर - अहमदाबाद - सूरत

मुल्तान से जयपुर : मुल्तान - बहावलपुर - पूगल - बीकानेर - चूरू - सीकर - जयपुर

जयपुर से ग्वालियर : जयपुर - करौली - ग्वालियर इत्यादि।

1727 ई. जयपुर नगर को बसाते समय यहाँ व्यापार को विशेष दर्जा दिया गया। ब्रिटिश भारत के भू-भागों के निकट स्थित होने के कारण भी इसका महत्त्व बढ़ गया था। जयपुर के शासकों ने भी व्यापारिक एवं वाणिज्यिक गतिविधियों को प्रोत्साहित किया तथा व्यापारियों को कई सुविधाएँ प्रदान की गई। फलत: जयपुर राजपूताना का विशालतम तथा धनाढ्यतम शहर तथा बैंकिंग एवं मुद्रा आदान-प्रदान का मुख्यालय बन गया।[9] वस्तुत: अंग्रेजों के आगमन से पूर्व जयपुर राज्य की अर्थव्यवस्था मुख्यत: कृषि आधारित थी तथा ग्रामीण अर्थव्यवस्था प्राय: आत्मनिर्भर थी। स्थानीय व्यापारी कृषि उत्पादों को गाँवों से खरीदकर आसपास के कस्बों अथवा गाँवों में ले जाकर बेचते थे। कस्बों के व्यापारी इन स्थानीय व्यापारियों से कृषि उत्पाद खरीदकर आसपास की मंडियों

में बेचते थे। चाकसू, मालपुरा, सांगानेर, आम्बेर, बस्सी, दौसा, बाँदीकुई, लालसोट इत्यादि जयपुर राज्य की महत्त्वपूर्ण मण्डियाँ थीं, जहाँ बड़े स्तर पर कृषि उत्पादों का क्रय-विक्रय किया जाता था। स्थनीय व्यापार में बंजारों की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी, जो मुख्यत: खाद्यान्नों, नमक, चीनी तथा घी का आपूर्ति विभिन्न स्थनों पर करते थे।[10] अन्य व्यापी वर्ग 'बिछायति' या 'बच्छायत' (बाहर से गाँवों में आकर अस्थायी रूप से रहने वाले व्यापारी), सहथानी (अनाज व्यापारी), 'बनिया' व 'महाजन' (ग्रामीण अथवा कस्बा स्तर पर व्यापार करने वाले धनिक वर्ग) इत्यादि थे।[11] अंग्रेजी मुद्रा प्रणाली के प्रचलन से पूर्व व्यापार मुख्यत: वस्तु विनिमय के माध्यम से किया जाता था।

जयपुर रियासत के शेखावटी क्षेत्र के 'मारवाड़ी व्यापारी' अत्यन्त प्रसिद्ध रहे हैं, जिन्होंने पूरे भारत में अपनी सफल व्यापारिक गतिविधियों से अपनी विशेष पहचान बनाई। मध्यकाल में राजपूताना के शासक मुगल सैनिक अभियानों के समय अपनी सेना की रसद एवं अन्य सामग्री की आपूर्ति हेतु अपने राजय के महाजनों को अपने साथ ले जाते थे, जो युद्ध क्षेत्र के आसपास के बाजारों से खाद्य सामग्री, अस्त्र-शस्त्र इत्यादि खरीदकर इन्हें उपलब्ध करवाते थे। धीरे-धीरे इन मारवाड़ी व्यापारियों ने भारत के विभिन्न भागों में अपने व्यापारिक संस्थान स्थापित कर लिए तथा उत्तरोत्तर प्रगति करते हुए ये व्यापारी अवध, बंगाल, हैदराबाद आदि के नवाबों व निजाम के साहूकार बन गए।[12] तत्पश्चात् ये लगभग पूरे भारत में अपने व्यापारिक कौशल के परिणामस्वरूप मजबूती से स्थापित हो गए।

अपनी आवश्यकतानुसार जयपुर राज्य द्वारा विभिन्न वस्तुओं का आयात-निर्यात अन्य राज्यों के साथ किया जाता था। जयपुर राज्य द्वारा बीकानेर को लोहे से निर्मित वस्तुएँ, चीनी, गुड़, अफीम, रेशम इत्यादि; जोधपुर राज्य को कागज, गोटा किनारी, चावल इत्यादि; कोटा राज्य को नमक; ऊनी कपड़े इत्यादि; जैसलमेर राज्य को लोहे की वस्तुएँ, चीनी गुड़, नौसादर इत्यादि वस्तुओं का निर्यात किया जाता था। इसी प्रकार जयपुर राज्य मारवाड़ से नमक (नावां से), पगड़ी व गुलबन्द इत्यादि; बीकानेर राज्य से ऊन, ऊनी कपड़े, सूखे मेवे, सिन्ध का नमक, फिटकरी, मिश्री इत्यादि तथा जैसलमे राज्य से घोड़ों व कम्बल का आयात करता था।[13] इसी प्रकार मुल्तान से घोड़े व हींग, दक्षिण से हाथी, कोटा से अफीम तथा शिकारपुर से घोड़ों का आयात जयपुर राज्य द्वारा किया जाता था। वस्तुत: जयपुर राज्य द्वारा निर्यात की जानी वाली सर्वप्रमुख वस्तु 'नमक' थी, जिसका उत्पादन सांभर झील से होता था। इस पर जयपुर एवं जोधपुर राज्य का संयुक्त स्वामित्व था तथा इसकी प्रशासनिक व्यवस्था 'सांभर शामलात बोर्ड' द्वारा की जाती थी।[14]

जयपुर राज्य द्वारा इन व्यापारियों से कई प्रकार के कर वसूल किए जाते थे। उदारणार्थ - 'राहदारी' (राज्य द्वारा लिया जाने वाल चुंगी कर), 'बैठकक (हाट बाजारों में वस्तुएँ बेचने वाले व्यापारियों से लिया जाने वाला कर), 'पसारू' (आयातित वस्तुओं

पर लिया जाने वाला कर), 'निकासू' (परगने या कस्बे से गुजरने वाली वस्तुओं पर लिया जाने वाला कर) 'भारोती' (व्यापारियों द्वारा अपनी गाड़ियों में सामान भरते समय लिया जाने वाला कर) इत्यादि। इस प्रकार जयपुर राज्य को व्यापारियों से लिए जाने वाले इन करों से अच्छी आय प्राप्त होती थी, जिसके बदले में राज्य द्वारा उन्हें विभिन्न सुविधाएँ एवं सुरक्षा प्रदान की जाती थी।[15]

1818 ई. में जयपुर राज्य ने ईस्ट इंडिया कम्पनी के साथ मैत्री संधि कर ली। तत्पश्चात् जयपुर राज्य पर अंग्रेजी नियंत्रण स्थापित हो गया। इसका प्रभाव जयपुर राज्य की व्यापारिक गतिविधियों पर भी परिलक्षित हुआ। अंग्रेजों द्वारा राजपूताना के औपनिवेशिक शोषण की गति तीव्र करने के उद्देश्य से यहाँ सड़कों तथा रेलमार्गों का निर्माण करवाना प्रारम्भ किया गया। अंग्रेजों की मंशा थी कि जो पारगमन व्यापार राजपूताना के व्यापारिक मार्गों से होता था, अब वह व्यापार ब्रिटिश नियंत्रित क्षेत्र से हो जिससे व्यापारिक गतिविधियों पर उनका नियंत्रण मजबूती से स्थापित हो सके तथा पारगमन व्यापार पर लगने वाले करों से उनकी आय में वृद्धि हो। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु उन्होंने सम्पूर्ण राजपूताना के सैनिक तथा आर्थिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण केन्द्रों को सड़कों तथा रेलमार्गों से जोड़ने की नीति अपनाई तथा इसी क्रम में राजपूताना की पहली विशाल सड़क का निर्माण 1865 ई. में आगरा से गुजरात के 'डीसा' के बीच किया गया, जिसकी कुल लम्बाई का 360 मील हिस्सा राजपूताना के भरतपुर, जयपुर, किशनगढ़, जोधपुर एवं सिरोही राज्यों से होकर गुजरता था।[16] इसी समय एक दूसरी महत्त्वपूर्ण सड़क का निर्माण नसीराबाद से नीमच केक बीच हुआ जो मूलरूप से एक सैनिक सड़क थी।[17] वर्ष 1936-37 ई तक जयपुर राज्य में निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण सड़कों का निर्माण हो चुका था[18] -

सारणी-1

क्र.सं.	सड़क मार्ग	कहाँ से	कहाँ तक	कुल लम्बाई (मील)
1.	अजमेर रोड़	सांगानेर गेट जयपुर से	राज्य की सीमा तक	52)
2.	आगरा रोड़	सांगानेर गेट जयपुर से	राज्य की सीमा तक	75)
3.	बस्सी लिंक रोड़	16 मील आगरा रोड़ से	बस्सी रेलवे स्टेशन तक	1.1
4.	बाँदीकुई रोड़	बाँदीकुई स्टेशन से	माधोगंज बाजार तक	3)
5.	दौसा-सवाई माधोपुरा रोड़	दौसा से	सवाई माधोपुर तक	67
6.	गंगापुर-लालसोट रोड़	गंगापुर से	लालसोट तक	26
7.	मंडावर-करौली रोड़	मंडावर कॉटन प्रैस से	करौली सीमा तक	43.2

8.	मालपुरा-तौरी रोड़	मालपुरा से	तौरी तक	7
	कुल लम्बाई			275.8

वर्ष 1946-47 ई. तक जयपुर राज्य में सड़कों का पर्याप्त विकास हो चुका था। सड़कों के माध्यम से यह दिल्ली (191 मील), आगरा (140 मील), अजमेर (82 मील) तथा अलवर, भरतपुर, बूंदी, जोधपुर, करौली, किशनगढ़ तथा टोंक से जुड़ चुका था। अब तक 850 मील लम्बाई की पक्की सड़कों तथा 260 मील लम्बाई की कच्ची सड़कों का निर्माण राज्य में हो चुका था।[19] इसके परिणामस्वरूप जयपुर राज्य में व्यापारिक गतिविधियों को बढ़ावा मिला।

सड़कों के साथ-साथ जयपुर राज्य में रेलमार्गों का भी निर्माण किया गया। सर्वप्रथम 1874 ई. में 'बॉम्बे-बड़ौदा सेंट्रल इंडिया रेलवे कम्पनी' ने आगरा किले से बाँदीकुई तक रेलमार्ग का निर्माण किया। तत्पश्चात् रेवाड़ी-अजमेर रेलमार्ग तथा सांभर-फुलेरा रेलमार्गों का निर्माण 1874 ई. में किया गया।[20] 1884-85 ई. में सांगानेर-सवाईमाधोपुर रेल मार्ग का निर्माण जयपुर राज्य द्वारा करवाया गया, जो दो प्रमुख व्यापारिक केन्द्रों, हाड़ौती अनाज उत्पादन क्षेत्र तथा सांभर नमक उत्पादन क्षेत्र, को जोड़ने में सहायक सिद्ध हुई।[21] उल्लेखनीय है कि 7 अगस्त, 1869 ई. में महाराजा रामसिंह जी ने अंग्रेजों के साथ शिमला में एक सन्धि की, जिसके अनुसार जयपुर राज्य द्वारा सांभर झील सीमा में नमक बनाने, बेचने तथा उस पर कर लगाने के अपने समस्त अधिकार अंग्रेजों को पट्टे पर दे दिये गए। जनवरी-अप्रैल, 1879 ई. तक राजपूताना के समस्त राज्यों के साथ अंग्रेजी सरकार ने नमक समझौते कर लिए तथा धीरे-धीरे इन नमक उत्पादन केन्द्रों को रेल मार्गों से जोड़ दिया गया। वर्ष 1905 ई. से 1924 ई. तक जयपुर राज्य में निम्नलिखित रेलमार्गों (मीटरगेज) का निर्माण हो चुका था[22] -

सारणी-2

क्र.सं.	रेलमार्ग	प्रारम्भ तिथि	कुल लम्बाई (मील)
1.	सांगानेर-सवाईमाधोपुर शाखा -		
	1) सांगानेर से निवाई	10 नवम्बर, 1905	32.18
	2) निवाई से वाई माधोपुर	17 अक्टूबर, 1907	41.23
	कुल लम्बाई		73.41
2.	जयपुर-झुन्झुनु शाखा -		
	1) जयपुर से रींगस	19 दिसम्बर, 1916	36.64
	2) रींगस से पलसाना	6 अप्रैल, 1918	14.17
	3) पलसाना से सीकर	1 दिसम्बर, 1922	17.02
	4) सीकर से नवलगढ़	18 सितम्बर, 1923	16.95
	5) नवलगढ़ से झुन्झुनु	1 अगस्त, 1924	22.92
	कुल लम्बाई		107.70

वर्ष 1924 तक जयपुरा राज्य द्वारा 18.11 मील लम्बी मीटरगेज (3 फुट 3/8 इंच वाली) रेलमार्गों का निर्माण कर लिया गया था। 31 मार्च, तक जयपुर राज्य बी.बी. एण्ड सी.आई. रेलवे कम्पनी के साथ मिलकर रेलमार्ग निर्माण का कार्य करता रहा परन्तु 1 अप्रैल, 1936 ई. को जयपुर राज्य द्वारा रेलवे प्रबंध का कार्य अपने हाथों में ले लिया गया।[23] वर्ष 1946-47 ई. की जयपुर राज्य प्रशासनिक रिपोर्ट में उल्लेख मिलता है कि इस समय तक झुन्झुनु जिले के उत्तरी एवं पश्चिमी भाग तथा दक्षिण पश्चिम में निजामत कोटकासिम एवं मालपुरा को छोड़कर लगभग सम्पूर्ण जयपुर राज्य में रेलमार्गों का निर्माण हो चुका था। झुन्झुनु से लोहारू रेललाईन को 1939 ई. में प्रारम्भ किया गया। सीकर-बिसाऊ रेलवे का कार्य 1940 ई. में प्रारम्भ हुआ।

यातयात के इन नवीनतम मार्गों के विकास के परिणामस्वरूप अब पुराने व्यापारिक मार्गों का महत्त्व कम होने लगा। अब ब्रिटिश सरकार की पहुँच राजपूताना के सभी आर्थिक संसाधनों तक हो गयी तथा अब यहाँ से कच्चे माल का निष्क्रमण एवं ब्रिटिश वस्तुओं का आगमन तीव्र गति से से होने लगा। इससे स्थानीय व्यापारियों, मुख्यत: बंजारों को, अत्यधिक हानि उठानी पड़ी। वस्तुत: 18वीं सदी के अन्त तक बम्बई बन्दरगाह विकासशील हो चुका था अब समुद्र मार्ग बम्बई से नियंत्रित होने लगे थे। अब पुरोन व्यापारिक मार्ग, जो अहमदाबाद और हैदराबाद (सिंध) से जुड़ते थे, वीरान हो गए तथा असुरक्षित भी हो गए। अपनी सैनिक आवश्यकताओं के अनुरूप अंग्रेज सरकार ने नई सैनिक छावनियों को अपने प्रशासनिक केन्द्र अजमेर से जोड़ा। नसीराबाद, नीमच, एरिनपुरा, डीसा आदि छावनियों की आवश्यकता के लिए नए मार्ग विकसित किए गए तथा अब जैसलमेर, पाली, नागौर, मालपुरा, राजगढ़ व रेणी का महत्त्व समाप्त हो गया।[24] इन व्यापारिक मार्गों में परिवर्तन आने के परिणामस्वरूप राजपूताना में व्यापारिक अवसरों का भी अभाव उत्पन्न हो गया, जिनका दुष्प्रभाव व्यापारियों एवं उनके आश्रितों पर पड़ा। अत: यहाँ के (मुख्यत: शेखावाटी के), मारवाड़ी व्यापारियों ने अब दोआब एवं गंगाघाटी की मंडियों - खुरजा, हापुड़, हाथरस, फिरोजाबाद एवं मिर्जापुर में अनाज व्यापायिों के रूप में कार्य करना आरम्भ कर दिया।[25] साथ ही इस क्षेत्र के नदी बन्दरगाहों - फर्रूखाबाद, मिर्जापुर, पटना तथा भागलपुर में मारवाड़ी व्यापारिक फर्में स्थापित हुई। इन क्षेत्रों से बंगाल एवं बिहार की तरफ बढ़े तथा यहाँ साहूकारी, अनाज व्यापार तथा अंग्रेजों के दलालों के रूप में कार्य करने लगे।[26] ये मारवाड़ी व्यापारी मालवा, बम्बई तथा हैदराबाद की तरफ भी गए, जहाँ इन्होंने अफीम व्यापार में रूचि दिखाई। महाराष्ट्र, अकोला, खानदेश तथा बरार में इन्होंने कपास व्यापार में रूचि दिखाई। जयपुर राज्य में

1893 ई. के पश्चात् अंग्रेजों द्वारा प्रचलित मुद्रा प्रणाली (रुपया) के कारण बैकिंग सर्राफा व हुण्डी व्यवसाय को भी नुकसान पहुँचा। मध्यकाल में जयपुर राज्य बैंकिंग एवं मुद्रा अदला-बदली (बट्टा) का मुख्य केन्द्र था, परन्तु अब यह व्यवसाय लाभदायक नहीं रह गया था तथा यहाँ के व्यापारी अब ब्रिटिश भारत के विभिन्न क्षेत्रों में निष्क्रमण करने लगे थे। ब्रिटिश भारत में इन व्यापारियों को विशेष सुविधाएँ प्रदान की गई तथा सूदखोरी के व्यवसाय को खूब प्रोत्साहन दया गया। क्योंकि अंग्रेजों की भूराजस्व नीतियों ने किसानों की वित्तीय आवश्यकताओं को भी बढ़ा दिया था।

इस प्रकार आवागमन के नए मार्गों एवं संसाधनों के विकास ने न केवल राजपूताना के प्राकृतिक संसाधनों के दोहन को गति प्रदान की अपितु मारवाड़ी व्यापारियों के निष्क्रमण के परिणामस्वरूप राजपूताना के व्यापार एवं वाणिज्य के विकास को भी गहरा आघात पहुँचा। परन्तु इन मारवाड़ी व्यापारियों के ब्रिटिश भारत में सफल एवं समृद्ध हो जाने पर अपने मल राज्य में भी इनके मान-सम्मान एवं महत्त्व में वृद्धि हुई। अपने राज्य में सिंचाई परियोजनाओं तथा रेलमार्गों के विकास हेतु शासकों द्वारा अपने राज्य के प्रवासी व्यापारियों से कई बार आर्थिक सहायता ली जाती थी। इन व्यापारियों को अब दरबार में तथा सलाहकार समितियों में सामन्तों के समकक्ष सम्मानित स्थान प्रदान किया जाने लगा। ये धनाढ्य व्यापारी अब अंग्रेज सरकार तथा राज्यों के राजाओं के मध्य मध्यस्थ की भूमिका भी निभाने लगे थे। परन्तु इनका सर्वप्रमुख योगदान जनहित के कार्यों में रहा। धर्मशालाएँ, अस्पतालों, नि:शुल्क औषधालयों की स्थापना, कुएँ खुदवाने तथा अकाल आदि प्राकृतिक आपदाओं के समय इन मारवाड़ी व्यापारियों ने उल्लेखनीय रूप से आर्थिक सहायता प्रदान की।

सन्दर्भ

1. *अर्सकिन, के.डी., इम्पीरिय गैजेटीयर ऑफ इण्डिया, प्रोविनशियल सीरीज - राजपूताना (पुनर्मुद्रित), बुक्स ट्रेजर, जोधपुर, 2007, पृ. 236*
2. *वही*
3. *गहलोत, जगदीशसिंह, कछवाहों का इतिहास, यूनिक ट्रेडर्स, जयपुर 2004, पृ. 1*
4. *जयपुर एडमिनिस्ट्रेशन रिपोर्ट, वर्ष 1947-48, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर, पृ. 5*
5. *जैन, एम.एस., आधुनिक राजस्थान का इतिहास, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, 1995, पृ. 105*
6. *वही*
7. *गुप्ता, बी.एल., ट्रेड एण्ड कॉमर्स इन राजस्थान (ड्यूरिंग दी 18वीं सेन्चुरी), जयपुर, 1997, पृ. 130-131*
8. *वही, पृ. 133-135*
9. *शर्मा, ब्रज किशोर, आधुनिक राजस्थान का आर्थिक इतिहास, पब्लिकेशन स्कीम, जयपुर, 1993, पृ. 348*
10. *शर्मा, जे.सी., एडमिनिस्ट्रेटिव सिस्टम ऑफ दी राजपूतस्, नई दिल्ली, 1979, पृ. 154*
11. *गुप्ता, एस.पी., एग्रेरियन सिस्टम ऑफ ईस्टर्न राजस्थान (1650-1750), दिल्ली, 1986, पृ. 104*
12. *शर्मा, ब्रज किशोर, आधुनिक राजस्थान का आर्थिक इतिहास, जयपुर, 1993, पृ. 332*
13. *गुप्ता, बी.एल., ट्रेड एण्ड कॉमर्स इन राजस्थान (ड्यूरिंग दी 8वीं सेन्चुरी), जयपुर, 1997, पृ. 86*
14. *जयपुर एडमिनिस्ट्रेशन रिपोर्ट, वर्ष 1939-40, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर, पृ. 14*
15. *पूर्वोक्त, गुप्ता, बी.एल., पृ. 211*
16. *पूर्वोक्त, अर्सकिन, के.डी., पृ. 59*
17. *वही*
18. *जयपुर एडमिनिस्ट्रेशन रिपोर्ट, वर्ष 1936-37, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर, पृ. 98*
19. *जयपुर एडमिनिस्ट्रेशन रिपोर्ट, वर्ष 1946-47, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर, पृ. 12*
20. *गुप्ता, सावित्री, जयपुर डिस्ट्रिक्ट गैजेटीयर, गवर्नमेंट ऑफ राजस्थान, जयपुर, 1987, पृ. 337*
21. *पूर्वोक्त, जैन, एम.एस., पृ. 187*
22. *जयपुर एडमिनिस्ट्रेशन रिपोर्ट, वर्ष 1935-36, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानरे, पृ. 40*
23. *वही*
24. *पूर्वोक्त, जैन, एम.एस., पृ. 107*
25. *टकनेट, डी.के., इंडस्ट्रियल एन्टरप्रन्योरशिप ऑफ शेखावटी मारवाड़ीज, साउथ एशिय बुक्स, दिल्ली, 1986, पृ. 59*
26. *शर्मा, ब्रज किशोर, आधुनिक राजस्थान का आर्थिक इतिहास, पब्लिकेशन स्कीम, जयपुर, 1993, पृ. 334*

व्यावसायिक समुदाय और बीकानेर का आधुनिक स्वरूप : एक अध्ययन

(आंग्ल-शासन काल के विशेष संदर्भ में)

डॉ. राजशेखर पुरोहित

समग्र विश्व के अन्तर्गत भारत तथा प्रमुख अंग्रेज संरक्षित भारतीय रियासतों में भी औद्योगिकीकरण ने आधुनिकता के स्वरूप में अपनी जड़ें जमाई। समसामयिक बीकानेर राज्य भी औद्योगिकीकरण की इस दौड़ में पीछे नहीं रहा। यह भी प्रासंगिक है कि आधुनिक विकास के प्रारम्भिक चरण में राज्य के शासक एवं सामन्त वर्ग ने नवीन धारा के इस अविरल प्रवाह में सहयोग करने की बजाय अनेक समस्याएं उत्पन्न कीं।[1] किन्तु राज्य के अनुभवशील उद्यमी एवं व्यापारिक वर्ग ने नव-आधुनिकीकरण को समय की आवश्यकता समझ, विकास की इस दिशा में पीछे हटना श्रेयकर नहीं माना। साहसी पूंजीपति, जो अब तक राज्य तथा राज्य के बाहर रहकर अपने उद्यम संचालित कर रहे थे, बिना किसी प्रशासनिक सहयोग के उन्होंने राज्य में ही आर्थिक संसाधन तलाशने प्रारम्भ कर दिए।

राज्य के आधुनिक विकास में प्रमुख बाधा यह भी थी, कि तत्कालीन अंग्रेज सरकार ने अंग्रेजी राज्य में पूंजी निवेश पर प्रतिबंध लगा रखे थे। इन प्रतिबंधों के रहते राज्य के प्रवासी उद्यमी एवं व्यापारी राज्य में औद्योगिक ईकाइयों की स्थापना नहीं कर सकते थे।[2] लेकिन कुछ समय बाद अंग्रेज सरकार ने कुछ ऐसी योजनाएं प्रारम्भ कीं जिनमें व्यापारियों को धन निवेश करने की छूट दी गई। अंग्रेजों द्वारा ऐसी योजनाओं का क्रियान्वयन स्पष्टत: औपनिवेशिक शोषण में वृद्धि करना था। फिर भी स्थानीय तथा प्रवासी उद्यमियों ने यहां पूंजी लगाई, किन्तु उचित परिणाम न मिलने पर उद्यमी और व्यापारिक वर्ग लाभ से वंचित रहा। ऐसी स्थिति में प्रवासी उद्यमी वर्ग ने नवीन मार्ग अपनाते हुए राज्य में बड़ी-बड़ी इमारतों तथा भवन निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया। इन उद्यमियों ने सार्वजनिक हित से जुड़े प्रतिष्ठानों के निर्माण में भी अपना धन लगाना प्रारम्भ किया। राज्य तथा प्रवासी उद्यमी इस तथ्य से भली भांति अवगत थे कि राज्य में निर्मित किसी भी प्रकार की अचल सम्पत्ति को न्यायालय अथवा राज्य सरकार नीलाम तथा कुर्क नहीं कर सकती थी।[3] इस बात को ध्यान में रख प्रवासी उद्यमियों और व्यापारियों ने लाखों रुपये भव्य इमारतों, हवेलियों, धर्मशालाओ, जल संग्रहण हेतु कुओं, प्याऊ, सार्वजनिक उद्यान, पुस्तकालयों, वाचनालयों एवं मंदिरों के निर्माण हेतु निवेश करने प्रारम्भ किए। आधुनिक विकास की धारा में यह एक सांस्कृतिक पहल भी थी।[4] उद्यमी तथा व्यापारिक वर्ग की इस सूझ-बूझ ने उन्हें अप्रत्यक्ष लाभ भी पहुंचाया, क्योंकि अंग्रेजी भारत में उद्यमियों तथा व्यापारियों को उनके लाभ के उस भाग पर आयकर में छूट का प्रावधान था, जो धार्मिक संस्थाओं (ट्रस्टों) व सार्वजनिक उपयोग के काम आने वाले कार्यों पर खर्च किया गया हो।[5] फलत: बीकानेर में विभिन्न धार्मिक ट्रस्टों एवं उनके द्वारा संचालित शिक्षा, स्वास्थ्य एवं मनोरंजन जैसी अनेक सार्वजनिक संस्थाएं प्रचलन मे आयीं। इस तरह व्यावसायिक वर्ग ने अपने लाभ को बनाए रखते हुए जनकल्याण के कार्यों द्वारा प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से बीकानेर राज्य के आधुनिक विकास में सक्रिय योगदान दिया।[6]

आधुनिकीकरण का ही एक अन्य महत्वपूर्ण पक्ष राज्य में औद्योगिक विकास का संवाहक बना। साहसी पूंजीपति व उद्यमियों ने राज्य में मशीन आधारित उद्योग स्थापित किए। इससे पर्याप्त मात्रा में राज्य में ही विभिन्न वस्तुओं का उत्पादन होने लगा। राज्य में स्थापित होने वाले नए उद्योगों ने अब फैक्ट्री अथवा कारखाने का रूप धारण कर लिया। आधुनिक वृहद् उद्योगों के अन्तर्गत बीकानेर राज्य में - कांच (ग्लास) फैक्ट्री, कॉटन जीनिंग फैक्ट्री, शुगर मिल, पावरलूम विविंग फैक्ट्री, क्रसिंग एण्ड बटन मेकिंग फैक्ट्री, आयरन फैक्ट्री, की शुरूआत हुई, वहीं छोटे लघु उद्योगों के अन्तर्गत टाईल फैक्ट्री, सॉप मेकिंग फैक्ट्री, सोडावाटर फैक्ट्री, दाल तथा तेल मिल, हैण्डलूम फैक्ट्री, चमड़ा फैक्ट्री जैसे नए उद्यम भी प्रचलन में आए।[7]

बीकानेर राज्य से जुड़ा व्यावसायिक वर्ग इस तथ्य से भी भली भांति अवगत था कि आधुनिकीकरण से तात्पर्य केवल यांत्रिकीकरण से ही नहीं है, वरन् आधुनिकीकरण आधारभूत भी होना चाहिए। इस संबंध में पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं कि यहां के साहसी पूंजीपतियों तथा सेठ-साहूकारों ने राज्य में जनकल्याण के कार्यों की आधारशिला रखी, जिनके अन्तर्गत राज्य में आधुनिक शिक्षा, के विद्यालय, स्वास्थ्य एवं चिकित्सा केन्द्र, यात्री धर्मशालाओं के निमार्ण के साथ-साथ यातायात प्रबंध में सहयोग तथा प्राकृतिक आपदा के समय राहत व रोजगार प्रबंध जैसे महत्वपूर्ण कार्यक्रम चलाए गए।[8] जनकल्याणक के कार्यों में उद्यमी एवं व्यापारिक वर्ग की भूमिका को निम्नलिखित आधारों पर अभिव्यक्त किया जा सकता है -

(अ) आधुनिक शिक्षा के विकास में व्यावसायिक वर्ग

अध्ययनकाल सामान्तीय व्यवस्था का प्रतिनिधित्व भी करता था। इस समय राज्य प्रशासन न तो जनकल्याण के कार्यों में रुचि लेता था और न ही ऐसे कार्यों में धन व्यय करना अपना दायित्व मानता था। यदा-कदा राज्य की आय में वृद्धि हो जाती तो उस लाभ को घर परिवार की सुख समृद्धि तथा सामन्तों के ठाठ-बाठ पर खर्च होता था। सार्वजिक हित के कार्यों के लिए सदैव उनके पास धनाभाव का बहाना था। ऐसे में राज्य में आधुनिक शिक्षा के प्रसार में अवरोध उत्पन्न होना स्वाभाविक था। दूसरी ओर सामन्त

वर्ग शिक्षा के प्रचार का पक्षधर भी नहीं था। इन विपरीत परिस्थितियों में राज्य के धनी एवं प्रबुद्ध सेठ साहुकारों ने आगे आकर राज्य के सांस्कृतिक गौरव की रक्षा के लिए सर्वप्रथम संस्कृत भाषा के प्रचार से राज्य में शिक्षा की अलख को जगाया।[9] शिक्षा प्रसार के इस पुनीत कार्य में राज्य के चूरू क्षेत्र के व्यावसायियों ने अपना नि:स्वार्थ सहयोग दिया।[10] यहां के प्रबुद्ध उद्यमियों ने चूरू के साथ-साथ निकटवर्ती क्षेत्रों में भी संस्कृत पाठशालाओं की शुरूआत की।[11] 1930 ई. तक आते आते राज्यभर में संस्कृत पाठशालाओं का प्रभुत्व कायम हो गया। इससे पूर्व 1891 ई. के उपरान्त राज्य में अंग्रेजी शिक्षा का सूत्रपात शासकीय संरक्षण में हो चुका था। अत: उद्यमी वर्ग ने भी अंग्रेजी शिक्षा को समय की आवश्यकता माना। राज्य और उद्यमियों के साझा प्रयासों से बीकानेर में अनेक अंग्रेजी शिक्षा आधारित विद्यालय खोले गए। 1892ई. में सर्वप्रथम राजगढ़ के सेठ टीकमानी परिवार ने राजगढ़ में पहला एंग्लो-वर्नाक्यूलर प्राइमरी स्कूल खोला गया।[12] तदुपरान्त बीकानेर शहर, रतनगढ़ नोहर, चूरू तथा मोमासर आदि प्रमुख क्षेत्रों में अंग्रेजी शिक्षा के प्राथमिक विद्यालय खोले गए। इसी क्रम में चूरू के ही बागला परिवार ने 1903ई. में अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार हेतु मिडिल स्कूल की नीव भी रखी।[13] उद्यमी वर्ग ने आधुनिक शिक्षा के विकास में बालिका शिक्षा को भी महत्वपूर्ण माना। राजगढ़ के सेठ गणपतराय तनसुखराय फतेहपुरिया ने सर्वप्रथम राजगढ़ में ही बालिका मिडिल स्कूल की स्थापना की।[14] बीकानेर में रामपुरिया परिवार ने पहली बार निजी स्तर पर हाईस्कूल की स्थापना की। यह भी उल्लेखनीय है कि राज्य के निजी क्षेत्र के अन्तर्गत रामपुरिया परिवार ने ही बीकानेर में सर्वप्रथम इन्टरमीडिएट कॉलेज की स्थापना 1945ई. में कर उच्च शिक्षा का मार्ग प्रशस्त किया।[15]

आधुनिक शिक्षा के विकास के साथ-साथ राज्य में आधुनिक सृजन एवं रचनात्मक अध्ययन के लिए पुस्तकालयों और वाचनालयों की स्थापना भी की गई। इनके निर्माण में भी राज्य के व्यावसायिक वर्ग का बड़ा योगदान था। इस दिशा में राज्य का सुप्रसिद्ध उद्यमी मोहता परिवार अग्रणी था, जिसने सर्वप्रथम बीकानेर में पुस्तकालय और सार्वजनिक वाचनालय की परिपाटी को जन्म दिया। इस उद्यमी परिवार के द्वारा ही 1902ई. में 'गुणप्रकाश सज्जनालय' वाचनालय की स्थापना की गई।[16] बीकानेर शहर के साथ-साथ चूरू, सरदारशहर, राजगढ़, तारानगर, नोहर, सुजानगढ़ और श्रीडूंगरगढ़ में भी वाचनालयों की स्थापना की गई।[17] फलत: लोक-भाषा और आधुनिक शैली पर आधारित नव साहित्य आम जन को सुलभ हुआ।

(ब) चिकित्सा एवं स्वास्थ्य के क्षेत्र में उद्यमी और व्यापारिक वर्ग

सार्वजनिक हित एवं जनकल्याण के कार्यों के अन्तर्गत आधुनिक चिकित्सा एवं स्वास्थ्य से जुड़ी विभिन्न संस्थाओं के उत्थान में भी उद्यमी एवं व्यापारिक वर्ग की सक्रिय भूमिका रही। अध्ययनकाल के प्रारम्भिक एवं मध्यचरण में अंग्रेजी प्रभाव के

कारण जहां एक ओर एलोपेथी चिकित्सा पद्धति का विकास हो रहा था, जो अत्यन्त मंहगी थी, वहीं बीकानेर के सेठ साहुकारों ने 19वीं सदी के अन्त तक आते आते प्राचीन भारतीय चिकित्सा पद्धति में रुचि तथा जन मानस की आर्थिक दशा को ध्यान मे रख आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति का प्रसार किया। इसी क्रम में रतनगढ़ में सेठ सूरजमल नागरमल, चूरू में सेठ मोतीलाल राधाकृष्ण बागला, सुजानगढ़ में सेठ विरधीचन्द सेठिया तथा चूरू में ही सेठ भजनलाल लोहिया एवं सेठ फूलचन्द गोयनका के द्वारा आयुर्वेद पद्धति पर आधारित दात्तव्य औषधालयों की स्थापना की गई।[18]

आधुनिक स्वास्थ्य उपचार के निजी क्षेत्र में एलोपेथी पद्धति पर आधारित हास्पिटल पद्धति को भी सर्वप्रथम चरू के बागला परिवार के द्वारा प्रारम्भ किया गया। 20 जुलाई 1896 ई. को चूरू में पहले आधुनिक शैली में निर्मित अस्पताल का उद्घाटन हुआ। इस अस्पताल में मरीजों को आधुनिक चिकित्सा पद्धति का लाभ तो मिला ही साथ ही शल्य चिकित्सा और मररजों को भर्ती की सुविधा भी दी जाने लगी। इस अस्पताल में एक अत्याधुनिक ऑपरेशन थियेटर का निर्माण भी किया गया जो उस दौरान अपने ढंग का प्रथम ऑपरेशन थियेटर था।[19] बीकानेर राज्य के आधुनिक हैल्थ एण्ड एज्यूकेशन मंत्रालय के दस्तावेजों से यह भी पुष्टि होती है कि राज्य के उद्यमियों एवं व्यापारियों ने विभिन्न हॉस्पिटल एवं डिस्पेन्सरियों की स्थापना के साथ-साथ राज्य के शासकों द्वारा निर्मित अस्पतालों के निर्माण में भी आर्थिक सहयोग दिया। उल्लेखनीय है कि जब बीकानेर महाराजा गंगासिंह ने राजकुमार विजयसिंह की स्मृति में राजधानी के सबसे बड़े अस्पताल (पीबीएम) की नीव रखी तो राज्य के उद्यमी और व्यावसायिक वर्ग ने भरपूर आर्थिक सहयोग दिया।[20]

(स) रोजगार प्रबंधन और यातायात संसाधनों का विकास और उद्यमी वर्ग

बीकानेर क्षेत्र में आधुनिकीकरण की इस अनवरत धारा में जहां एक ओर राज्य के उद्यमी एवं व्यापारी वर्ग ने आधुनिक शिक्षा व चिकित्सा एवं स्वास्थ्य के क्षेत्र में स्मरणीय योगदान दिया, वहीं दूसरी ओर राज्य हित में ऐसे दायित्वों का भी निर्वाह किया जो पूर्णत: राज्य प्रशासन के कर्त्तव्य क्षेत्र के अन्तर्गत आते थे। इनमें समुचित रोजगार प्रबंध एवं आवागमन की सुलभता हेतु यातायात के संसाधनों का विकास भी प्रमुख था। इस संदर्भ में यह भी प्रासंगिक है कि राज्य के उद्यमी एवं व्यापारी वर्ग ने जितने भी शिक्षण संस्थान खोले उनमें योग्यता के अनुरूप नए शिक्षको को रोजगार मिला।[21] इस भांति राजधानी एवं राज्य के विभिन्न क्षेत्रों में जितने भी चिकित्सालय खोले गए उनमें न केवल राज्य के बल्कि राज्य से बाहर के योग्य चिकित्सकों और सहायकों को रोजगार प्राप्त हुआ। इसके अतिरिक्त राज्य के प्रबुद्ध व्यापारिक वर्ग ने राज्य में आधुनिकीकरण के साथ-साथ राज्य की मूलभूत आवश्यकताओं को भी ध्यान में रख अनेक सामाजिक एवं सार्वजनिक कार्य भी करवाए, जिनमें कुओं, तालाबों, भवनों, जलमंदिरों आदि के

निर्माण कार्य प्रमुख थे। इन कार्यों से भी अप्रत्यक्ष रूप से सैकड़ों मजदूरों व बेरोजगारों को रोजगार प्राप्त हुआ।[22]

राज्य की भौगोलिक स्थिति यह प्रमाणित करती है कि बीकानेर राज्य में पूर्व से ही संस्थान सीमित थे और रोजगार के अवसर शून्य थें किन्तु साहसी उद्यमियों और पूंजीपतियों ने विषम परिस्थितियों में भी रोजगार के नए अवसर उत्पन्न किए। इसकी शुरूआत जलीय स्रोतों के निर्माण से हुई। भूमिगत जल का स्तर बहुत नीचा होने के कारण राज्य में जलकुण्डों, कुओं तथा तालाबों आदि का निर्माण अनिवार्य भी था। ऐसे में राज्य के व्यापारिक एवं उद्यमी वर्ग ने जल संरक्षण के संसाधनों के निर्माण का दायित्व अपने हाथ में लिया। इस कार्य में चूरू का बागला परिवार एवं पौद्दार परिवार और रतनगढ़ का जालान परिवार अग्रणी रहा। प्रमाणिकता के आधार पर कहा जा सकता है कि इन उद्यमी परिवारों का उद्दे य केवल जल संरक्षण ही नहीं था बल्कि जन सामान्य को रोजगार देना भी था।[23] इसके साथ ही पूर्व भारतीय संस्कृति के अनुरूप बीकानेर राज्य में यात्री विश्रामगृहों (धर्मशालाओं) के निमार्ण की परम्परा भी प्रारम्भ हुई। जहां यात्रियों के ठहरने के साथ-साथ लागत मूल्य पर भोजन एवं बिस्तर की व्यवस्था भी उपलब्ध करवाई जाती थी। आधुनिक चरण में स्थापित प्रमुख धर्मशालाओं में सेठ छज्जूराम टीहलीवाल द्वारा 1918 ई. में रतनगढ़ में, सेठ जेसराज अग्रवाल द्वारा 1920 ई. में सरदारशहर में, 1921 ई. सेठ दिलसुखराय द्वारा भादरा में 1930 ई. में सेठ कालूराम अग्रवाल द्वारा रतनगढ़ (डोकवा) में, 1931 ई. में सेठ गोविन्दराम पेड़ीवाल द्वारा छापर में, 1935 ई. सेठ ब्रह्मदत्त द्वारा निर्मित रतनगढ़ में तथा 1938 ई. में सेठ रामे वरलाल द्वारा दूधवाखारा में धर्मशालओं का निर्माण करवाया गया।[24] उल्लेखनीय है कि बीकानेर नगर में मोहता परिवार द्वारा 1891 ई. में ही मोहता धर्मशाला का निर्माण करवाया गया जो आज भी उनके वंशजों के द्वारा यात्रियों को न्यूनतम शुल्क पर आवास सुविधा देने का कार्य कर रही है।[25]

आधुनिक विकास के महत्वपूर्ण पहलुओं में यातायात के संसाधनों की उपेक्षा भी नहीं की जा सकती, अत: व्यावसायिक महत्व एवं सार्वजनिक हित को ध्यान में रख प्रगतिशील सेठ साहुकारों ने तत्कालीन अंग्रेजों की तर्ज पर सुलभ यातायात के संसाधनों के विकास में भी भरपूर सहयोग दिया। पूर्ववर्ती बीकानेर में व्यापारिक आवागमन हेतु स्थलीय मार्गों का प्रचलन था, जिन पर बैलगाड़ी, ऊंटों और घोड़ों आदि के द्वारा आवागमन और यातायात का कार्य होता था। अंग्रेजी संरक्षण काल में जब नए व्यापार-वाणिज्य प्रचलन में आए, तो बीकानेर भी एक प्रमुख व्यापारिक केन्द्र और मार्ग के रूप में जाना गया। राज्य के व्यापार में हुई इस परिवर्तनकारी घटना ने अंग्रेजों को भी अपनी ओर आकृष्ट किया। फलस्वरूप राज्य में 1903-07 के मध्य रेल लाईन बिछाने का कार्य प्रारम्भ हुआ।[26] तत्कालीन महाराजा गंगासिंह और अंग्रेजों द्वारा शुरू किए गए

कार्य के विकास और विस्तार में सबसे बड़ी बाधा धन की कमी थी। ऐसे में राज्य के उद्यमी और व्यावसायिक वर्ग ने इसे अपना नैतिक दायित्व मानते हुए खुले मन से भरपूर धन का सहयोग किया। इस सहयोग के साथ-साथ जब महाराजा गंगासिह ने इस कार्य में तीव्रता लाने के लिए गवर्नमेंट लोन जैसी व्यवस्था पारित की तो व्यापारियों और उद्यमियों ने सरकार को लोन दिया। जिसके उपरान्त राज्य सरकार ने व्यापारियों और उद्यमियों को सरकारी योजनाओं में भागीदार बनाने के उद्देश्य से पब्लिक बॉण्ड भी जारी किए। ऐसे में उद्यमियों ने सरकारी बॉण्ड खरीद कर न केवल सरकार को आर्थिक मदद की वरन् इसके बदले सरकार से राजकीय सम्मान भी प्राप्त किए।[27] यातायात विकास के संदर्भ में बीकानेर में रेल यातायात प्रबंधन के पश्चात् औद्योगिक और आधुनिक विकास के क्षेत्र में जो परिवर्तन और उत्थान हुआ। उसका श्रेय यदि व्यापारिक और उद्यमी समुदाय को दिया जाए तो किंचित् भी गलत नहीं होगा।

संक्षेप में बीकानेर राज्य में व्यावसायिक वर्ग ने यातायात प्रबंधन में सहयोग देने के साथ-साथ यह भी जताने का प्रयास किया कि राज्य का प्रबुद्ध एवं समृद्ध व्यावसायिक समुदाय राज्य में केवल दान-पुण्य और सेवाकार्यों में ही भागीदार नहीं होता, वरन् आवश्यकता पड़ने पर विकास कार्यों, शिक्षा, चिकित्सा, रोजगार और आधुनिकीकरण के क्षेत्र में भी एक योजक कड़ी बन सकता है।

संदर्भ

1. *पी.एम ऑफिस बीकानेर 1932ई. नं ए. 1108-09 पृ. 1-2, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर*
2. *सरक्यूलर नं. 81 भारत सरकार द्वारा मार्च 1891 में समस्त शासकों को भेजा गया था। (रा.रा.अ.)*
3. *पोलिटिकल डिपार्टमेंट, बीकानेर 1918 नं ए. 968-1105 पृ. 1-32, रा.रा.अ.*
4. *होम डिपार्टमेंट, बीकानेर 1935 फाईल नं 1 पृ. 1-20, रा.रा.अ.*
5. *पोलिटिकल डिपार्टमेंट बीकानेर 1918 नं 968-1105 पृ. 1-32, रा.रा.अ.*
6. *बरूआ -ऋषि जैमिनी कौशिक, मैं मारवाड़ी समाज से प्यार करता हूं, भाग 1 पृ. 100*
7. *होम डिपार्टमेंट बीकानेर 1921 नं बी 251-56 पृ. 3, रा.रा.अ., इण्डस्ट्रियल डेवलपमेंट इन द बीकानेर स्टेट पृ. 20-25, रा.रा.अ.*
8. *महकमा खास, बीकानेर 1900 नं 18 पृ. 678, रा.रा.अ.*
9. *सेठ सूरजमल नागरमल द्वारा संचालित रतनगढ़ कार्यालयान्तर्गत समस्त संस्थाओं का विवरण सन् 1948 पृ. 207-208*
10. *होम डिपार्टमेंट बीकानेर नं ए. 18-30 पृ. 97-100, रा.रा.अ.*
11. *होम डिपार्टमेंट बीकानेर नं ए. 18-30 पृ.100-119, रा.रा.अ.*
12. *पी.एम. ऑफिस, बीकानेर 1928 नं ए. 1-17 पृ. 3, रा.रा.अ*
13. *भण्डारी चन्द्रराज, अग्रवाल जाति का इतिहास, पृ. 451*

14. होम डिपार्टमेंट बीकानेर 1928 बी 210-212 पृ. 6, रा.रा.अ.
15. भूतोड़िया मांगीलाल, इतिहास की अमरबेल - ओसवाल खण्ड द्वितीय पृ. 162
16. विद्यालंकार सत्यदेव, एक आदर्श समत्व योगी, पृ. 35
17. पी.एम. ऑफिस, बीकानेर 1928 नं ए 1-17 पृ. 9, रा.रा.अ.
18. रेवेन्यू डिपार्टमेंट बीकानेर 1932 नं बी 2014-2022 पृ. 1, रा.रा.अ.
19. बरूआ जैमिनी कौशिक, श्रीसूरजमल जालान मधु श्री मंगल (पत्रिका) पृ. 208, भण्डारी चन्द्रराज, अग्रवाल जाति का इतिहास, पृ. 100
20. दी बेस्ट राजपूताना स्टेट रेजीडेंसी एण्ड द बीकानेर ऐजेंसी, पृ. 377, रा.रा.अ.
21. सेठ सूरजमल नागरमल, रतनगढ़ बीकोनर संचालित कार्यालयान्तर्गत समस्त संस्थाओं के कार्य का विवरण, सन् 1948 में प्रकाशित, पृ. 207-008
22. रेवेन्यू डिपार्टमेंट सन् 1930 बी. 780-837 पृ. 21-131 तक, रा.रा.अ.
23. रेवन्यू डिपार्टमेंट वही पृ. 201, रा.रा.अ.
24. रेवेन्यू डिपार्टमेंट वही, पृ. 131
25. विद्यालंकार, सत्येदव, एक आदर्श समत्व योगी (रामगोपाल मोहता स्मृति ग्रंथ) पृ. 21 श्रीमोहता धर्मशाला से उपलब्ध, पुरोहित, डॉ. राजशेखर, रियासतकालीन उद्योग एवं व्यापार पृ. 133-34 (ISBN No. 978-81-924629-7-4)
26. महकमाखास, बीकानेर 1904 नं 126 पृ. 38, रा.रा.अ., सिंह, डॉ. करणी, बीकानेर राजघराने के केन्द्रीय सत्ता से संबंध, 1968 पृ. 320-21
27. महाराजा गंगासिंह द्वारा एक खास रूक्का भैंरोदान सेठिया को प्रदत्त संवत् 1984 आसोज सुद 10 (सेठिया पुस्तकालय, बीकानेर)

मारवाड़ राज्य में महिलाओं से सम्बद्ध सामाजिक विवादों के प्रति समाज व राज्य का दृष्टिकोण

(18वीं शताब्दी के विशेष सन्दर्भ में)

डॉ. राजेन्द्र कुमार

18वीं सदी के दौरान मारवाड़ की महिलाओं को जिन सामाजिक समस्याओं से अधिकांशत: रूबरू होना पड़ता था उनमें महिलाओं की सगाई-विवाह, तलाक, नाता (पुनर्विवाह), पले लगाना, घर में डालना के अतिरिक्त बदसलूकी, मारपीट एवं यौन उत्पीड़न आदि जैसे सामाजिक मुद्दे प्रमुख थे।[1] महिलाएं इस काल के दौरान दोयम दर्जे का जीवन यापन कर रही थी। एक ओर परिवार की जिम्मेदारियों को संभालती थी वही दूसरी ओर सामाजिक गतिविधियों से भी परस्पर जुड़ी रहती थी। इसके उपरांत भी पुरुष प्रधान समाज द्वारा इन्हें हाशिये की ओर धकेल दिया गया। पारिवारिक स्तर पर अवश्य महिलाओं को सम्मान दिया जाता था परन्तु समस्त स्त्रियों के प्रति समाज का सकारात्मक दृष्टिकोण नहीं था। यहाँ तक कि कन्या के जन्म को ही निंदनीय माना जाता था। वि.सं. 1832/1775 ई. में मारवाड़ राज्य के गाँव सिसरवादा के भोमिया जैतावत जगतसिंह बख्तसिंहोत ने अपनी नवजात कन्या को जन्म लेते ही मार दिया था।[2] मारवाड़ राज्य के समाज में महिलाओं से जुड़े विवादों में कुछ ऐसे सामाजिक अपराध भी थे, जो महिलाओं की तत्कालीन स्थिति को बयान करते हैं। इनमें चामचोरी अपराध सर्वप्रमुख था। इसका अनुमान इस बात से सहज ही लगाया जा सकता है कि जोधपुर राज्य की बहियों [3] में इस तरह के अपराध बड़ी संख्या में देखने को मिलते हैं।

महिलाओं का शारीरिक उत्पीड़न चामचोरी कहलाता था। समाज की परम्पराओं को नजरंदाज करते हुए महिलाओं के साथ रजामंदी या बलपूर्वक किया जाने वाला शारीरिक सम्बन्ध इस श्रेणी में आता था।[4] अभिलेखों में दर्ज सूचनाओं के आधार पर इस अपराध की प्रवृत्ति को समझा जा सकता है। तत्कालीन समाज के प्रत्येक वर्ग में इस प्रकार के अपराध की घटनाएँ होती थी। जिस तरह से पुरुष इस अपराध में संलग्न होते थे, उसी तरह महिलाऐं भी इनमें संलिप्त होती थी। पुरालेखीय दस्तावेजों से ज्ञात होता है कि चामचोरी, लगवाड़ या व्यभिचार जैसी आपराधिक घटनाएँ घटित होने पर मामला चोतरे या कचैड़ी में पहुँचता था, जहां से अधिकांशत: जातीय पंचायत को स्थानांतरित कर दिया जाता था। अगर मामला अंतर्जातीय होता था तो वह मामला दरबार के समक्ष रखा जाता था। जातीय पंचायत या दरबार द्वारा ऐसे मामलों में निर्णय देने से पूर्व अभियुक्त की

आर्थिक व सामाजिक स्थिति एवं उसके द्वारा किये गए अपराध की गंभीरता को मद्देनजर रखा जाता था।[5] उदाहरणार्थ नागोर कस्बे के नंदवाना बोहरा फतेह पर चामचोरी अपराध हेतु 175 रुपए दंडस्वरूप आरोपित किये गए थे, जो उसकी आर्थिक स्थिति को मद्देनजर रखकर मुकर्रर किये गए थे। इस राशि को अदा करने के लिए उसने अपना घर गिरवी रखकर 104 रुपए राजकोष में जमा करवाए तथा शेष राशि अर्थात 71 रुपए राज्य से माफ करने की गुजारिश की, परन्तु राज्य ने अपराध की प्रवृत्ति को देखते हुए शेष सम्पूर्ण राशि माफ न करके मात्र 35 रुपए छूट किए व शेष 36 रुपए राजकोष में जमा करवाने के सख्त आदेश दिए।[6] इससे ज्ञात होता है कि राज्य प्रशासन सामाजिक परम्पराओं के विरुद्ध किये जाने वाले कार्यों के प्रति थोड़ा संवेदनशील था।

समाज का दृष्टिकोण

मध्ययुगीन राजस्थान में महिलाओं की स्थिति सामाजिक दृष्टि से बेहतर नहीं थी। यही स्थिति अठारहवीं शताब्दी में मारवाड़ राज्य में भी देखने को मिलती है। महिला को भोग की वस्तु समझा जाता था। महिलाओं से सम्बद्ध सामान्य अपराधों यथा-बदसलूकी, मारपीट तथा लगवाड़ आदि के आरोप में अभियुक्त पुरुष को जुर्माना राशि लेकर मुक्त कर दिया जाता था। परन्तु ऐसे अपराधियों पर, जो समाज की गरिमा को भंग करने वाले अपराधों को अंजाम देते थे, समाज द्वारा अंकुश लगाया जाता था। जातीय पंचायतें ऐसे मामलों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती थी।[7] जाति पंचायतों के कार्यक्षेत्र में जातीय व सामाजिक नियम और परम्पराओं को संरक्षण एवं सुरक्षा प्रदान करने का कार्य भी सम्मिलित था।[8]

पुरुष प्रधान समाज में औरतों के प्रति बदसलूकी करना आम बात थी। यह इसलिए भी अधिक प्रचलन में था क्योंकि समाज के साथ-साथ राज्य का दृष्टिकोण भी महिलाओं के सम्मान के प्रति इतना अधिक गम्भीर नहीं था। इसीलिए तत्कालीन समाज में नवजात कन्यायों की हत्या करना, लड़कियों व महिलाओं की खरीद-फरोख्त व उन पर और तरह के जुर्म करना आम बात थी।[9] तत्कालीन अभिलेखीय दस्तावेजों में चोतरे और कचेड़ी सीगे के अंतर्गत उद्धृत सामाजिक विवादों के अन्वेषणात्मक अध्ययन के आधार पर अगर चर्चा की जाए तो यह पाते है कि महिलाएं अधिकांश विवादों का हिस्सा बनी हुई है। किसी विवाद से वह स्वयं उत्पीड़ित है तो किसी विवाद में वह समाज के उत्पीड़न की जिम्मेवार है। इस कालखंड में अधिकांशत: प्रचलन में रहे विवादों अथवा अपराधों की प्रकृति का अध्ययन इस शोध पत्र का मुख्य उद्देश्य है। मध्यकाल में मारवाड़ राज्य के समाज में स्त्रियों एवं लड़कियों के क्रय-विक्रय की कुप्रथा बड़े स्तर पर प्रचलित थी। इस खरीद-फरोख्त के कई कारण थे। राजपूत लोग अपनी पुत्री के विवाह में दहेज के साथ गोला-गोली (दास-दासी) देते थे, जिसके लिए वे औरतों एवं लड़कियों को खरीदते थे। इसके अतिरिक्त कुछ सामन्त व आर्थिक दृष्टि से समृद्ध लोग (बडारणों) रखैलों के रुप में उन्हें खरीदते थे। कई वेश्याएं लड़कियाँ खरीदती थी, ताकि वे उनसे अनैतिक पेशा करवा सके।

यहाँ तक कि मारवाड़ में कन्याओं व महिलाओं की खरीद-फरोख्त का कार्य राज्य के संरक्षण में फल-फूल रहा था। यह कार्य मारवाड़ राज्य में ही नहीं बल्कि तत्कालीन पड़ोसी राज्यों - बीकानेर, जैसलमेर व मेवाड़ में भी इसी तरह प्रचलन में था। मारवाड़ राज्य में लड़कियों की खरीद-फरोख्त के कार्य में मेर, मेव, गवारिएँ तथा रेबारी जाति के लोग अधिकांशत: संलग्न थे।[10] ये लोग कन्याओं, बालकों व स्त्रियों का अपहरण करके उन्हे दूसरों को बेच देते थे।[11] इस काल के दौरान कुंजमाणा गाँव का रहने वाला कान्हा चारण मुख्य धाड़ायत था, जो लड़कियों की खरीद-फरोख्त करता था। उदाहरणार्थ नागौर के बलाया गाँव के चौधरी कर्मा ने कान्हा चारण से वि.सं. 1842/1785 ई. में एक 7-8 वर्ष की लड़की खरीद की थी।[12] इसी तरह परगना सोजत के गंवारियों द्वारा 25 औरतें व 4 लड़कियां बेचने हेतु सिंध ले जाने का उल्लेख मिलता है।[13]

लड़कियों को खरीदना व बेचना राज्य द्वारा वैध होता था। राज्य इसके लिए इस व्यवसाय में संलग्न लोगों को संरक्षण देता था तथा इसके एवज में उनसे चौथाई नामक कर भी वसूल करता था। उदाहरणार्थ वि.सं. 1835/1778 ई. की एक सूचना के अनुसार जैतारण परगने के मेर लाला ने मगरा क्षेत्र से 2 लडकियाँ लाकर जैतारण में बेचीं थी, जिसकी चौथाई के रूप में उसने 35 रुपये कचहरी में जमा करवाए थे। इसी प्रकार बाद में वह 2 और लड़कियां बीरमपुरी गाँव से लेकर आया जो उसके नियंत्रण से निकलकर वापस अपने गाँव भाग गई तब कचहरी के प्रयास से दोनों लड़कियों को लाकर पुन: लाला को सौंप दिया गया। इससे स्पष्ट होता है कि राज्य के समर्थन एवं संरक्षण से ही इस प्रकार के कार्य समाज में प्रचलन में थे, अत: तत्कालीन परिप्रेक्ष्य में ऐसी गतिविधियों का विरोध करना सरल भी नहीं था।[14]

तत्कालीन समाज में महिलाओं के साथ अव्यवहार व व्यभिचार आम बात थी। तत्कालीन दस्तावेजों में ऐसे अनेक उदाहरण मिल जाते है जो इस तथ्य की पुष्टि करते है। पुरालेखीय स्रोत में उद्धृत एक सूचना के अनुसार मेड़ता परगने के गाँव कुड़की के जागीरदार का अपने ही कामदार चंदा से किसी बात को लेकर विवाद हो गया था तब जागीरदार ने चंदा की अनुपस्थिति में उसकी पत्नी के पैरों में बेड़ी डलवा दी। इस मामले की प्रतिक्रिया स्वरूप दरबार ने यह निर्णय तो अवश्य लिया कि किसी महिला के पैरों में बेड़ी डालना सही नहीं है इसलिए चंदा की पत्नी की बेड़ी कटवाने के तुरंत आदेश दिए और मामला नहीं सुलझने तक चंदा के ससुर से हाजिर जामणी लेकर उसकी पत्नी को उसके ससुर के साथ भेज दिया गया। परन्तु, उस महिला के साथ किए गए अभद्र व्यवहार के लिए जागीरदार के प्रति दरबार द्वारा किसी प्रकार की कार्यवाही नहीं की गई।[15] इससे स्पष्ट होता है कि समाज महिला व पुरुष के मध्य समानता का व्यवहार नहीं करता था।

जहां एक ओर महिलाएं पुरुष प्रधान समाज में पुरुष वर्ग को प्राप्त विशिष्ट अधिकारों से पीड़ित थी, वहीं दूसरी ओर कुछ कार्य ऐसे भी थे, जिनमें महिलाएं सम्मिलित होती थी और वे कार्य समाज की दृष्टि में निंदनीय कहलाते थे। इसी अनुक्रम में, तत्कालीन समाज में भारतीय परम्पराओं के विरुद्ध महिलाओं द्वारा गर्भपात किये जाने के मामले देखने को मिलते है, जिसमें महिलाएं प्रत्यक्ष रूप से संलग्न देखी जा सकती है। वि.सं. 1835 के वर्ष की एक सूचना के अनुसार नागौर कस्बे की एक स्त्री का गर्भपात किया गया जिसमें तीन महिलाएं सम्मिलित थी, परिणामस्वरूप उक्त तीनों महिलाओं को राज्य द्वारा शहर से बाहर निकाल देने का स्पष्ट आदेश हुआ।[16]

राजकीय दृष्टिकोण

अपराध के प्रति मारवाड़ राज्य का रवैया लचीला दृष्टिगोचर दिखाई नहीं देता है क्योंकि ऐसे अपराध के अभियुक्त को राज्य द्वारा आर्थिक दंड देने का उल्लेख तो मिलता है साथ ही कठोर दंड देने का उल्लेख भी बहुतायत में देखने को मिलता है। इसी कालखंड के दौरान बीकानेर राज्य में ऐसे अधिकांश मामलों में अपराधी से जुर्माना राशि वसूल कर उसे छोड़ दिया जाता था शायद इसके पीछे बीकानेर राज्य की आर्थिक पृष्ठभूमि महत्वपूर्ण कारण के रूप में रही हो।[17] मारवाड़ राज्य में भी चामचोरी तथा लगवाड़ जैसे अपराधों की प्रवृत्ति को देखकर अभियुक्त से जुर्माना राशि वसूल कर उसे मुक्त कर दिया जाता था। परन्तु स्वजाति से बाहर की जाति में इस तरह के अपराध किये जाने पर अपराध को अधिक गंभीर मानते हुए राज्य द्वारा इसके लिए कठोरतम दंड की व्यवस्था की जाती थी। उदाहरणार्थ नंदवाना बोहरा फतेह पर चामचोरी बाबत 175 रुपये जुर्माने के ठहराए गए, जिसमें से 104 रुपए उसे अपना घर अडाणे (गिरवी) रखकर चुकाने पड़े, जबकि शेष 71 रुपए माफ करने के लिए उसके द्वारा दरबार से गुहार की गयी जबकि दरबार ने मात्र 35 रुपए छूट करके शेष 36 रुपए भरवाने के प्रशासन को आदेश दिए।[18] इससे ज्ञात होता है कि राज्य ऐसे अपराध के प्रति कठोरता से जुर्माना वसूल करता था। वि.सं. 1830/1773 ई. की एक सूचना से जानकारी प्राप्त होती है कि महिलाओं से जुड़े अन्य सामाजिक विवादों के प्रति भी राज्य का सख्त रवैया था। जैतारण के खाती सुखा ने अपनी ही पत्नी का नाक व हाथ काट दिए थे, जिसके लिए सुखा को कैद में डाल दिया गया था। साथ ही राज्य द्वारा आदेश दिया गया कि अगर ये अपराध उसने किसी के कहे-सुने के आधार पर किया है तो सजा बरकरार रखी जाए अथवा उसकी पत्नी में ही कोई कमी है तो इस मामले पर पुन: संज्ञान लिया जाए।[19] राज्य द्वारा कुछ विशेष परिस्थितियों में अपराधियों को छूट दिए जाने के उल्लेख भी मिलते हैं। उदाहरणार्थ पाली के नाई अमरिया को अपनी ही जाति के राजीया की बहू से चामचोरी के अपराध में गिरफ्तार किया गया परन्तु अमरिया के भाई ने दरबार से अर्ज की कि घर में कोई कमाने वाला नहीं है, परिवार के लोगों को खाने के लाले पड़ रहे हैं। अत: दरबार ने अमरिया नाई को मुक्त करने के आदेश दिए।[20] उपर्युक्त विवरण से यह बात तो स्पष्ट

होती है कि राज्य अपराध की बढती हुई प्रवृत्ति को नियंत्रित करने के लिए कठोर दंड का मार्ग भी अपनाता था। परन्तु, कहीं न कहीं अपराधी से सम्बद्ध परिवार की आर्थिक स्थिति को भी मद्देनजर रखता था, ताकि अपराधी के त्यों से उसके परिवार को हानि न उठानी पड़े।

मारवाड़ राज्य में कई ऐसे मामले देखने को मिलते हैं कि जब ऐसे अपराध अधिक गंभीर परिणामों तक पहुँच जाते थे तो इसमें संलिप्त पुरुष व महिला को राज्य द्वारा सख्त सजा दिए जाने का उल्लेख मिलता है। उदाहरणार्थ सोजत परगने के छिम्पा अहमद ने छिम्पा इशाक की कुंवारी बेटी से नाज़ायज सम्बन्ध स्थापित किया। परिणामत: गर्भ में पल रहे बच्चे को उस लड़की ने मार दिया, जब यह समाचार दरबार को प्राप्त हुआ तब दरबार के आदेश से छिम्पा अहमद व छिम्पा इशाक की बेटी, दोनों को शहर से निष्कासित कर दिया गया था।[21] इसी प्रकार की एक सूचना से जानकारी प्राप्त होती है कि एक गर्भवती ब्राह्मण महिला हेमा बलाई के घर रहती थी, जिसका प्रसव कुशलतापूर्वक हेमा बलाई की पत्नी किसनी ने करवाया परन्तु बाद में उसने नवजात शिशु की हत्या कर दी। इस अपराध के लिए उसके पति हेमा बलाई को कैद करने का आदेश दिया गया था।[22] 1775 ई. में मारवाड़ राज्य द्वारा यह आदेश जारी किया गया कि राज्य में चामचोरी व गर्भपात जैसी घटनाएँ बड़े स्तर पर घटित हो रही है। अत: इनको रोकने की विशेष व्यवस्था की जाए।[23]

व्यभिचार जैसी घटनाएँ भी तत्कालीन दस्तावेजों में बहुतायत में देखने को मिलती है। उदाहरणार्थ परगना सोजत में जोशी कान्हा की बहू श्रीमालियों के घर गई थी तब मार्ग में जस्सा गोलेचा व हेमा बलाई ने उसका हाथ पकड़ लिया और उसके विरोध करने पर सूरते भोजग के साथ लगवाड होने का झूठा आरोप लगाया। हालांकि मामले की छानबीन के पश्चात् झूठा आरोप लगाने वाले जस्सा गोलेचा को कैद में डालने का आदेश दिया गया।[24] इसी प्रकार गाँव गोराऊ के जाट देवा ने अपनी पत्नी के साथ महाजन खींवा द्वारा यौन उत्पीड़न करने का आरोप लगाया। परिणामत: जातीय पंचायत ने इस मामले पर संज्ञान लेते हुए खींवा पर 130 रुपए का हर्जाना लगाकर देवा जाट को देने का आदेश हुआ।[25] इससे स्पष्ट होता है कि समाज में इस तरह के अपराधों की पुनरावर्ती न हो इसलिए अपराधी पर भारी जुर्माना आरोपित किया जाता था।

कई बार महिलाओं के साथ परिवारिवारिक मुद्दों को लेकर भी मारपीट की जाती थी व उनको बेइज्जत करने के लिए उन पर कई तरह के कलंक लगाए जाते थे। ऐसे मामलों में दरबार द्वारा निर्णय दिए जाने का उल्लेख मिलता है। एक सूचना के अनुसार वि.सं. 1835/1778 ई. में बीलाड़ा कस्बे के कुम्हार नगा की बहू ने दरबार से गुहार की कि उसके ससुर ने उस पर बहनोई के साथ नाजायज संबंधों की तोहमत लगाई है, परिणामत: उसके पति ने उसे मारपीट कर घर से बाहर निकाल दिया है। अत: दरबार ने

उसके पति नगा को बुलाकर आदेश दिया कि अगर उसकी पत्नी गैर रीत नहीं चल रही है तो उसके साथ ऐसा व्यवहार न करे।[26] जैतारण परगने के गाँव पांचडोलिया की तैलण स्त्री उदकी को गाँव खालाडा का तेली राजीया नाते ले गया था परन्तु उसे पीटता था और खाना व कपड़ा भी नहीं देता था अत: उदकी की शिकायत पर राज्य ने राजीया को हुक्म दिया कि या तो वो उदकी के खाने पीने की व्यवस्था रीत के अनुसार करे या फिर उदकी को कही और नाते जाने की अनुमति दे।[27] इसी प्रकार अन्धविश्वास की आड़ में भी महिलाएँ ही सर्वाधिक जुर्म का शिकार होती थी। नागौर कचहरी की एक सूचना के अनुसार वि.सं. 1841/1784 ई. में एक लड़की पर भूत-प्रेत की छाया का प्रभाव खत्म करने के लिए एक ब्राह्मण ने उस लड़की को जलाकर मार दिया था। ऐसी घटना का समाज में तो विरोध नहीं था, परन्तु राज्य प्रशासन ने इस बात का संज्ञान लेते हुए उस ब्राह्मण पर 51 रुपये की गुनेहगारी लगाई। परन्तु जोधपुर महाराजा ने ऐसे जघन्य अपराध के लिए आर्थिक जुर्माने को कम सजा मानते हुए अपराधी को देश निकाला दिये जाने का आदेश दिया।[28]

राज्य के ऐसे सख्त व्यवहार से आम जन में हत्या सम्बन्धी अपराधों में तो कमी आई परन्तु फिर भी महिला के प्रति समाज की दृष्टि में कोई विशेष सुधार नहीं हुआ। इस तथ्य की पुष्टि वि.सं. 1818/1761 ई. की घटना से होती है जिसके अनुसार मेड़ता परगना के गाव बिखरणीया से जाट खींवा व चोखे की बहन को बोरुन्दा के जागीरदार का भाई सावंत सिंह उठा के ले गया और उसे अपने घर में जबरन रख लिया। परन्तु सत्रह वर्ष बाद जब खींवा को उसकी बहन के बारे में पता चला तो खींवा की अर्ज़दाश्त पर दरबार ने आदेश दिए कि सावंत सिंह व जाट महिला को कचहरी बुलाकर रूबरू करवाया जाए, अगर महिला इस जुर्म की पुष्टि कर देती है तो सावंत सिंह को आदेश दिया जाए कि वो उस जाट स्त्री को उसके भाइयों को सौंप दे।[29] परन्तु, तत्कालीन प्रचलित सामाजिक रीति के अनुसार स्वाभाविक सी बात थी कि जो महिला सत्रह वर्ष तक किसी पुरुष के साथ रह गई, तत्पश्चात् वो उसे छोड़कर कहीं ओर जाती तो समाज उसे स्वीकार नहीं करता। इसलिए, उक्त महिला द्वारा सावंत सिंह द्वारा किये गए इस जुर्म की पुष्टि नहीं की गयी। अत: सावंत सिंह के विरुद्ध किसी प्रकार की कार्यवाही नहीं की गयी।[30]

परिणामत: समाज के उच्च वर्ग में ही नहीं बल्कि निम्न वर्ग में भी महिलाओं के अधिकारों पर इसी प्रकार कुठाराघात होता रहा और इस कालखण्ड में समाज के हर वर्ग में इस तरह की घटनाएँ देखने को मिलती है। निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि 18वीं सदी के कालखंड के दौरान मारवाड़ राज्य में स्त्रियों की स्थिति का दोहरा स्वरूप दिखाई देता है। व्यक्तिगत रूप से परिवार में नारियों को आदर की दृष्टि से देखा जाता था, परन्तु सामाजिक दृष्टि से विभिन्न कुप्रथाओं के कारण स्त्रियों की दशा बहुत खराब थी।

सन्दर्भ

1. *जोधपुर राज्य की सनद परवाना बहियों में यत्र-तत्र ऐसी अनेक सूचनाएं देखने को मिलती है, जिनमें महिलाओं से जुड़ी विभिन्न सामाजिक समस्याओं को समझा जा सकता है।*
2. *सनद परवाना बही, नं. 3, वि.सं. 1822/1765 ई., पृ. 75 एफ-2, जोधपुर रिकॉर्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर*
3. *जोधपुर राज्य से सम्बद्ध विभिन्न बहियों की शृंखलाएँ राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर में संरक्षित है, जो 17वीं सदी के उत्तरार्द्ध से लेकर 20वीं सदी तक के दीर्घ कालखंड का प्रतिनिधित्व करती हैं।*
4. *राजेन्द्र कुमार, 18वीं सदी में राज-मारवाड़ में महिलाओं की दशा व दिशा, राजस्थान हिस्ट्री कांग्रेस प्रोसीडिंग्स, वॉल्यूम-26, पाली सेशन, दिसम्बर 2010, पृ. 286*
5. *सनद परवाना बही, नं. 20, वि.सं. 1835/1778 ई., पृ. 82 एफ-1, 203 एफ-2; सनद परवाना बही, नं. 35, वि.सं. 1843/1786 ई., पृ. 12 एफ-2, जोधपुर रिकॉर्ड्स, रा.रा. अ.बी.*
6. *सनद परवाना बही, नं. 20, वि.सं. 1835/1778 ई., मिति मार्गशीर्ष सुदी 7, जोधपुर रिकॉर्ड्स*
7. *सनद परवाना बही, नं. 5, वि.सं. 1823/1766 ई., पृ. 236, जोधपुर रिकॉर्ड्स*
8. *शिवकुमार, भनोत, राजस्थान में पंचायत व्यवस्था, यूनिवर्सिटी बुक हाउस, जयपुर, पृ. 83*
9. *सनद परवाना बही, नं. 20, वि.सं. 1835/1778 ई., पृ. 85 एफ-1-2, 184 एफ-2, जोधपुर रिकॉर्ड्स*
10. *सनद परवाना बही, नं, 20, वि, सं, 1835/1778 ई., पृ. 57 एफ-1, 85 एफ-1-2 जोधपुर रिकॉर्ड्स*
11. *राजेन्द्र कुमार, बीकानेर राज्य के व्यापार-वाणिज्य में दलाल वर्ग की भूमिका (18वीं सदी के उत्तरार्द्ध में), अभिलेख जर्नल, (संपा.) महेन्द्र खड़गावत, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर, वर्ष-2017, पृ. 51*
12. *राजेन्द्र कुमार, 18वीं सदी में राजमारवाड़ में महिलाओं की दशा व दिशा, पृ. 287*
13. *वही*
14. *सनद परवाना बही, नं. 20, वि.सं. 1835/1778 ई., पृ. 184 एफ-2, जोधपुर रिकॉर्ड्स*
15. *सनद परवाना बही, नं. 15, वि.सं. 1832/1775 ई., मिति आसोज सुदी 5, जोधपुर रिकॉर्ड्स*
16. *सनद परवाना बही, नं. 20, वि.सं. 1835/1778 ई., पृ. 42 एफ-2, जोधपुर रिकॉर्ड्स*
17. *सावा मंडी सदर बही बीकानेर, नं. 3, वि.सं. 1858/1801 ई., पृ. 67 एफ-2; कागद बही, नं. 29, वि. सं. 1880/1823 ई., पृ. 187 एफ-2, कागद बही, नं. 30, वि. सं. 1881/1824 ई.,पृ. 348 एफ-1, बीकानेर रिकॉर्ड्स, रा.रा.अ.बी.*
18. *सनद परवाना बही, नं. 20, वि.सं. 1835/1778 ई., पृ. 42, एफ-2, जोधपुर रिकॉर्ड्स*
19. *सनद परवाना बही, नं. 13, वि.सं. 1830/1773 ई., पृ. 217, जोधपुर रिकॉर्ड्स*

20. *सनद परवाना बही, नं. 15, वि.सं. 1832/1775 ई., पृ. 164 एफ–1, जोधपुर रिकॉर्ड्स*
21. *सनद परवाना बही, नं. 5, वि.सं. 1823/1766 ई., पञ्ज. 164 एफ–1, जोधपुर रिकॉर्ड्स*
22. *सनद परवाना बही, नं. 20, वि.सं. 1835/1778 ई., पृ. 171 एफ–1, जोधपुर रिकॉर्ड्स*
23. *सनद परवाना बही, नं. 17, वि.सं. 1833/1776 ई., पृ. 43 एफ–1, मिति श्रावण सुदी 8, जोधपुर रिकॉर्ड्स*
24. *सनद परवाना बही, नं. 20, वि.सं. 1835/1778 ई., पृ. 170 एफ–2, 171 एफ–1 जोधपुर रिकॉर्ड्स*
25. *सनद परवाना बही, नं. 20, वि.सं. 1835/1778 ई., पृ. 27 एफ–1, जोधपुर रिकॉर्ड्स*
26. *सनद परवाना बही, नं. 20, वि.सं. 1835/1778 ई., पृ. 193 एफ–2, जोधपुर रिकॉर्ड्स*
27. *वही, पृ. 181 एफ–2, जोधपुर रिकॉर्ड्स*
28. *सनद परवाना बही, नं. 30, वि.सं. 1841/1784 ई., पञ्ज. 34 एफ–2, जोधपुर रिकॉर्ड्स*
29. *सनद परवाना बही, नं. 20, वि.सं. 1835/1778 ई., पृ. 57 एफ–2, जोधपुर रिकॉर्ड्स*
30. *वही, पृ. 179 एफ–2, जोधपुर रिकॉर्ड्स*

राजस्थान में प्रारम्भिक अंग्रेजी शिक्षा का संक्षिप्त परिचय

डॉ. एकता व्यास

राजस्थान में अंग्रेजी शिक्षा अजमेर से प्रारंभ हुई, जहाँ सीरामपुरा बैप्टिस्ट प्रचारक डॉ. विलियम केरी को भेजा गया था। उसने रेजीडेन्ट आक्टरलोनी की सहायता से आरम्भ में अजमेर और पुष्कर तथा बाद में भिनाय और केकड़ी में स्कूल खोले, परन्तु उपर्युक्त स्कूलों में अपेक्षित अंग्रेजी शिक्षा की प्रगति नहीं हुई और 1827 ई. में अजमेर के अतिरिक्त तीनों स्कूलों को बन्द कर दिया गया, बाद में 1831 ई. में अजमेर के स्कूल को भी बन्द कर दिया गया। इन स्कूलों की असफलता का मुख्य कारण स्कूलों में दी जाने वाली धार्मिक शिक्षा थी, किन्तु अंग्रेजी भाषा राजकीय भाषा होने के कारण समाज में शिक्षा में परिवर्तन होना स्वाभाविक था। अत: अंग्रेजी शिक्षा का पुन: प्रयास किया गया एवं इसका पहला प्रयास अनवर के महाराजा बन्नेसिंह ने किया। 1842 ई. में पंडित रूपनारायण की सहायता से अलवर में एक स्कूल स्थापित किया गया। इस स्कूल ने संतोषजनक प्रगति की और 1870 ई. में इस स्कूल को हाई स्कूल बना दिया गया।[1] 1842 में भरतपुर में भी एक अंग्रेजी स्कूल की स्थापना की गई। राजस्थान में अंग्रेजी शिक्षा की प्रगति में जयपुर राज्य अग्रणीय रहा। 1844 ई. में जयपुर नरेश रामसिंह ने जयपुर में 'महाराज स्कूल' की स्थापना की। यह अंग्रेजी विद्यालय शीघ्र ही लोकप्रिय हो गया। 1847 ई. में पहली बार इस स्कूल में आधुनिक परीक्षा प्रणाली जारी की गई। 1873 ई. में इस स्कूल को 'महाराजा कॉलेज बना दिया गया। प्रारम्भ में यह इन्टरमीडियेट कॉलेज था। 1888 ई. में इसे डिग्री कॉलेज और 1900 ई. में पोस्ट डिग्री कॉलेज बना दिया गया। 1990 ई. तक राजस्थान में यही एक मात्र पोस्ट डिग्री कॉलेज था। 1861 ई. में महाराज रामसिंह ने जयपुर में एक मेडिकल कॉलेज भी स्थापित किया।

1848 ई. में अजमेर में एक अन्य सरकारी स्कूल खोला गया। प्रारम्भ में छात्रों से किसी प्रकार का शुल्क नहीं लिया गया, परन्तु बाद में चार आने से एक रुपये तक प्रवेश शुल्क लिया जाने लगा। इस बार अजमेर स्कूल ने संतोषजनक प्रगति की। 1961 ई. में एन्ट्रेस जी परीक्षा के लिए इस स्कूल की कलकत्ता विश्वविद्यालय से सम्बद्ध कर दिया गया। 1868 ई. में इसे इन्टरमीडियेट और 1869 ई. में डिग्री कॉलेज बना दिया गया। यह राजस्थान का प्रथम डिग्री कॉलेज था। यहाँ अंग्रेजी शिक्षा दी जाती थी। बुन्दी, कोटा और झालावाड़ के राज्यों में अंग्रेजी शिक्षा की शुरूआत अंग्रेज अधिकारियों के प्रयत्नों से हुई। जून 1863 ई. हाडौती एजेन्सी के तत्कालीन एजेन्ट बेनन ने इन राज्यों के शासकों के

नाम व्यक्तिगत खरीते भेजे, जिनमें उन्हें अपने राज्यों में अंग्रेजी स्कूल खोला गया। झालावाड़ नरेश ने पाटन और छावनी में अंग्रेजी स्कूल खोले। परन्तु कोटा नरेश रामसिंह ने वित्तीय कठिनाईयों के कारण राजकीय व्यय पर अंग्रेजी स्कूल खोलने में अपनी असमर्थता प्रकट की।

जोधपुर में अंग्रेजी शिक्षा की शुरूआत राज्य की तरफ से न होकर जनता की ओर से हुई। 1867 ई. में राव राजा मोतीसिंह ने कुछ प्रतिष्ठित नागरिकों के सहयोग से जोधपुर में एक अंग्रेजी स्कूल की स्थापना की। 1869 ई. में राज्य सरकार ने इस स्कूल को अपने नियंत्रण में ले लिया और इसका नाम 'दरबार स्कूल' रखा। 1876 ई. में इसे हाई स्कूल बना दिया गया और 1893 ई. में इसे इन्टरमीडियेट कॉलेज बना कर इसका नाम 'जसवन्त कॉलेज' रखा गया। 1896 ई. में इसे डिग्री कालेज कर दिया गया। अन्य राज्यों की अपेक्षा जोधपुर राज्य की जनता ने अंग्रेजी शिक्षा में अधिक रूचि प्रदर्शित की। कुछ जातियों ने अपने पृथक जातीय स्कूल स्थापित किये, जैसे कि कायस्थों ने "सर प्रताप हाई स्कूल" ओसवाल महाजनों ने "सरदार मिडिल स्कूल" और क्षत्रिय मालियों ने "श्री सुमेर सैनी मिडिल स्कूल" स्थापित किये। बीकानेर राज्य में अंग्रेजी शिक्षा की शुरूआत बहुत देर से हुई। 1872 ई. में बीकानेर में पहला सरकारी स्कूल खोला गया। 1885 ई. में एक नया स्कूल स्थापित किया गया, जिसमें भाषा सिखाने की व्यवस्था थी। इस नये स्कूल को बाद में हाई स्कूल बना दिया गया। उदयपुर के महाराणाओं तथा सामन्तों को शुरू से ही अंग्रेजी शिक्षा के प्रति विशेष रूचि न थी। महाराणा शम्भूसिंह (1861-74) की नाबालगी के समय एजेंट ईडन ने "शम्भरत्न पाठशाला" की स्थापना की और 1865 ई. में इस स्कूल में अंग्रेजी भाषा की शिक्षा प्रारम्भ की। 1885 ई. में इसे हाई स्कूल बना दिया गया और इसका नाम "महाराणा हाई स्कूल" रखा गया। बांसवाड़ा, डूंगरपूर और प्रतापगढ़ जैसे छोटे राज्यों में अंग्रेजी शिक्षा की शुरूआत उन्नीसवीं सदी के अंतिम वर्षों में ही प्रारम्भ हो पायी, जबकि जैसलमेर जैसे राज्य में सदी के अन्त तक भी सम्भव न हो पाई।[2]

प्रारम्भ में राजपूत शासकों का दृष्टिकोण शिक्षा के प्रति उत्साहपूर्ण नहीं था, वे इसे अपनी प्रतिष्ठा के विरूद्ध समझते थे एवं निम्न जातियों के साथ पढ़ने को तैयार न थे। अत: उनके लिए पृथक् अंग्रेजी विद्यालयों की व्यवस्था की गई। सर्वप्रथम जयपुर राज्य में 1866 ई. में सरदारों तथा राजपूतों के लड़कों के लिए नोबिल्स स्कूल स्थापित किए गए। 1871 ई. में अलवर में भी ठाकुरों के पुत्रों के लिए एक पृथक् स्कूल खोला गया। इस प्रकार के स्कूल जोधपुर, उदयपुर, बीकानेर आदि राज्यों में भी खोले गये। इन स्कूलों का पाठ्यक्रम सार्वतनिक स्कूल के पाठ्यक्रम से काफी भिन्न रखा गया था और यहाँ के शिक्षकों को भी सार्वजनिक स्कूलों के शिक्षकों की अपेक्षा अच्छा वेतन दिया जाता था।

औपनिवेशिक काल से भारत को 1947 में स्वतंत्रता प्राप्त हुई एवं नये राजस्थान

राज्य का गठन 1956 में हुआ। राजस्थान में राजनीतिक व प्रशासनिक व्यवस्थाएँ तो जल्द ही प्राप्त कर ली गई, किंतु शैक्षणिक गतिविधियाँ एवं नई शैक्षिक नीतियाँ अभी भी अधुरी ही थी। समाज को नई दिशा देने के लिए जल्दी ही नई शैक्षिक नीतियों का विकास किया गया। शैक्षिक उद्देश्य की पूर्ति हेतु बीकानेर में दिसम्बर 1949 को शिक्षा विभाग की स्थापना की गई एवं इसके दो महीने के बाद ही कार्यों का क्रियान्वयन प्रारंभ कर दिया गया।[3] राजस्थान में नए शासकों एवं प्रशासन ने प्रारंभिक शिक्षा में रूचि लेना प्रारंभ किया। 1950-51 में एक पर्याप्त धन के साथ नए विद्यालय खोले गए एवं वहाँ शिक्षकों की भर्ती की गई। 1981-82 तक पूरे देश में कुल विद्यार्थियों की संख्या 28 लाख के करीब हो गई एवं साथ ही शिक्षकों की संख्या में भी वृद्धि हुई। 1951-81 के तीन दशकों में संपूर्ण राज्य के प्राथमिक शैक्षिक उद्देश्यों की पूर्ति कर ली गई। माध्यमिक शिक्षा के प्रयास भी तुलनीय गति में उत्तम रहे।[4] इन सभी विद्यालयों में अंग्रेजी विषय प्रमुख ही रहा।

संदर्भ

1. *नेल्सन डब्ल्यू. एच., 'मेडिको टोपोग्राफिकल अकाउंट ऑफ अलवर' 1897 पृष्ठ 18*
2. *शर्मा कालुराम, राजस्थान का इतिहास, पंचशील प्रकाशन, जयपुर प्रथम संस्करण 1987*
3. *'रिपोर्ट ऑन द एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ राजस्थान' (अप्रैल 1949, मार्च 1950) पेराग्रॉफ 1, पृ. 47*
4. *वर्मा जी.सी., 'मॉडर्न एज्युकेशन इट्स ग्रोथ एंड डेव्हलपमेंट इन राजस्थान' (1818-1983) पब्लिकेशन्स स्कीम, जयपुर, प्रथम संस्करण 1984*

बीकानेर राज्य में संगीत व नृत्य का विकास (1885 से 1942 तक)

डॉ. महेन्द्र पुरोहित

महाराजा गंगासिंह को भी अपने राज्य में अन्य राज्यों के राजा-महाराजाओं की भांति संगीत, नृत्य तथा चित्रकला जैसी अमूल्य निधि विरासत के रूप में मिली। इन्होंने उक्त कलाओं के प्रतिभासम्पन्न कलाकारों को अपने यहां राज्याश्रय दिया और राज्य की ओर से अपने पूर्वजों की इस कलात्मक धरोहर को अपने मूलरूप में बनाये रखने तथा इसमें समय-समय पर नवीनीकरण व समन्वय के प्रशंसनीय प्रयास किये। महाराजा स्वयं उच्चकोटि के कलाविज्ञ द्रष्टा तथा कला-मर्मज्ञ थे।[1]

राज्याश्रय प्राप्त कलाकार अपनी कला की पूर्णता से राज्य के अतिथियों को आश्चर्यचकित करने में प्रवीण थे। इंग्लैण्ड के राजघराने के सदस्यों तथा वायसरायों के बीकानेर आगमन पर भारतीय संगीत व नृत्य द्वारा उनका स्वागत और मनोरंजन किया जाता था।[2] महाराजा की रजत जयंती तथा स्वर्ण जयंती के महत्वपूर्ण अवसरों पर संगीत व नृत्य के भव्य और चित्ताकर्षक कार्यक्रम प्रस्तुत किये गये।[3] राजपरिवार के सदस्यों के जन्म-दिवसों और राजकुमार व राजकुमारियों के विवाहोत्सवों के उपलक्ष में संगीत की महफिलों व मुजरों का आयोजन किया जाता था।[4] इन उत्सवों में भाग लेने के लिए भारत के प्रसिद्ध कलाकारों को मनोरंजनार्थ आमंत्रित किया जाता था। उक्त कार्यक्रमों में सिद्धेश्वरी, हीराबाई बड़ौदकर, मेनका, केसरबाई, गौहर बेनजीर आदि गायिकाओं के अतिरिक्त प्रसिद्ध नर्तकी दमयन्ती एवं ट्रावनकोर राज्य के राज-नर्तक कत्थककलि गोपीनाथ को भी बीकानेर में अपनी कला के प्रदर्शन का अवसर दिया गया।[5]

राज्य में संगीत के संरक्षण का महत्व इसी तथ्य से स्पष्ट है कि इसके लिए एक अलग से विभाग था जिसे गुणीजनखाना कहा जाता था। इस विभाग के अन्तर्गत संगीतशालाएं भी चलती थीं जिनमें विभिन्न राग-रागनियों, साजों तथा नृत्य कला की उच्च शिक्षा दी जाती थी। संगीत शिक्षकों को आकर्षक वेतन दिया जाता था और उदयीमान प्रतिभाओं को छात्रवृत्तियां दी जाने की व्यवस्था थी। संगीतशालाओं में शास्त्रीय रागों, बीकानेरी मांड एवं नृत्य में 'त' वर्ग की शैली पर आधारित शिक्षा की विशेष व्यवस्था थी। साजों में सारंगी, शहनाई, नक्कारा, तबला, सितार, तानपुरा, जलतरंग, करनाल आदि का अभ्यास कराया जाता था। शिक्षकों एवं शिक्षणार्थियों की संख्या लगभग 45 थी।[6]

गुणीजनखाना संगीत व नृत्य की शिक्षा के अतिरिक्त विशिष्ट अवसरों पर संगीत व नृत्यों के कार्यक्रमों को प्रस्तुत करता था।[7] गुणीजनखाने के अतिरिक्त आलमखाना भी संगीत से सम्बन्धित था।[8] नौबतखाना और नक्कारखाना आलमखोने के अंग थे। नित्य-प्रतिदिन, युद्ध व उत्सवों के अवसर पर नौबत व नगाड़ा बजवाने की व्यवस्था इस विभाग का मुख्य कार्य था। इन दोनों विभागों के कार्यों में समन्वय का पूरा ध्यान रखा जाता था।[9] इन विभागों के पदों पर दमामी व कत्थक जातियों का ही विशेषाधिकार था। दमामी जाति ने संगीत तथा कत्थक जाति ने नृत्य में वंशानुगत दक्षता व निपुणता प्राप्त कर रखी थी।[10] गुणीजनखाने के कलाकारों को विशिष्ट अवसरों पर प्रोत्साहन हेतु मूल्यवान पुरस्कारों से सम्मानित किया जाता था। गायकों, वादकों व नृतकियों को जरी की पोशाकें और सोने-चांदी के आभूषण प्रदान किये जाते थे।[11] संगीत व नृत्य में लोकगीत व लोकनृत्य को उचित स्थान प्राप्त था। बीकानेरी माड शैली में लोकगीत गाये जाते थे, जो जन भावनाओं से ओत-प्रोत होते थे। ऐलची, झीणी केसर, दारूदाखांळी, राणा काछवा, बधाई, जच्चा, लूहर, विवाह-गीत आदि बड़े लोकप्रिय गीत थे। इनमें से कुछ गीतों के बोल निम्न प्रकार से हैं—

बधाई गीत – आज तो बधाई बाजै छै....।

जच्चा गीत – जच्चा राणी रे मैलां में बाज रैयो सोवन थाल।

विवाह गीत – मौत्यां वालो बींद तो सुवावै म्हारा राज।

अन्य लोकगीत – मारू थारे मैलां नीचे घूमे छै गजराज।
म्हारी जोड़ी रा ढोला ओ लश्कर रैयो है लूभाय।
आवणियो करौनी म्हारा देस जी,
पिया प्यारी रा ढोला।[12]

शास्त्री संगीत के रागों का आधार लेकर राजस्थान में वंशानुगत गायकों द्वारा गायी जाने वाली शैली माड कही जाती है। इसमें गायक लय, स्वर, ताल, अलाप आदि का प्रयोग करते हैं। माड शैली में रागों का कोई प्रतिबंध नहीं है। माड शैली देस, सौरठ, पीलू, बिहाग आदि रागों में विशेष लोकप्रिय हैं तथा राजस्थानी लोकगीत भी इस शैली में गाये जाते हैं। इस शैली में गीत का प्रारम्भ तारसप्तक (उच्च स्तर) से किया जाता है। इसमें लगने वाले ठेके (तालें) अन्य शैलियों के ठेकों से भिन्न होते हैं। राजस्थान में भी क्षेत्रीय भाषाओं के आधार पर माड शैली में भिन्नता पायी जाती है।[13] लोक नृत्य में डांडिया, घूमर, दीपक नृत्य आदि अपनी विशिष्ट शैली के कारण जन-प्रिय थे। लोक-नृत्य के साथ नगाड़े की बाज अनिवार्य होती थी।[14] महाराजा ने बड़ी रुचि व लगन से लोकगीतों तथा उनकी धुनों को राज्य के बैंडमास्टर विलियम जेम्स द्वारा पाश्चात्य शैली में स्वरांकन करवाया। इस महती कार्य में गुणीजनखाने के मुख्य कलाकारों में

राजगायक शमसुद्दीन खां, सारंगीवादक गोणे खां, माड गायिका अल्लाह जिलाई बाई आदि ने योगदान दिया। महाराजा के इस प्रयत्न से बीकानेरी लोक संगीत व पाश्चात्य संगीत का सहज समन्वय हुआ। विलियम जेम्स द्वारा स्वरांकित लोकगीत आज भी पाश्चात्य देशों में लोकप्रिय है। बीकानेरी लोकगीतों को रामेन आंग्लभाषा में संक्षिप्त व्याख्या सहित 'इंडियान म्यूजिक' नामक पुस्तक में लिखा गया। विदेशी अतिथियों को यह पुस्तक 'सान्ध्य संगीत' कार्यक्रम के समय भेंट की जाती थी।[15]

महाराजा ने गुणीजनखाने के कलाकारों को अन्य राज्यों की गायन एवं नृत्य शैली समझने तथा अपनाने का अवसर देने हेतु संगीतज्ञों व नृत्याचार्यों को भी अपने राज्य में आमंत्रित किया। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत आमंत्रित कलाकारों में महाराष्ट्र के पटवर्द्धन, भातखण्डे, शंकरराव, पटियाले के मियां जानखां, आशिफ अलीखां तथा शाम चौरासी (उत्तर प्रदेश) के सलामत अली, नजाकत अली व भारत के विभिन्न भागों से गोपाल महाराज, शंभू महाराज, अच्छन महाराज, लच्छू महाराज जैसे महान् गायक एवं नृत्याचार्यों के नाम उल्लेखनीय हैं, जिनमें से कतिपय को अल्पावधि के लिए गुणीजनखाने में प्रशिक्षण हेतु नियुक्त भी किया गया।[16]

गुणीजनखाने के कई कलाकारों ने बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की थी, जिनमें हुसैनबख्श 'लंगड़े', शमसुद्दीनखां, अल्लाह जिलाई बाई, कासमखां चन्दवानी, कासमखां डग्गा, बिहारीलाल, हनुमान प्रसाद आदि चोटी के कलाकार थे। हुसैनबक्श 'लंगड़े' ने शास्त्रीय संगीत में पूर्णता प्राप्त की और उन्हें 'उस्ताद' की पदवी प्रदान की गई थी। वे अपने समय के 'गायक व नायक' कहलाये।[17] शास्त्रीय संगीत के एक अन्य गायक कलाकार मिर्चखां थे जिन्हें 'तान सम्राट' की उपाधि से विभूषित किया गया। इनके दो पुत्रों-रुकनुद्दीनखां व शमसुद्दीनखां ने अपने पिता के पदचिह्नों पर चलते हुए शास्त्री संगीत में निपुणता प्राप्त की। शमसुद्दीनखां काफी समय तक संगीत विद्यालय के मुख्य उस्ताद बने रहे। उनकी विशेषता यह थी कि गायन के समय उनके चेहरे पर मुस्कान व आभा बनी रहती थी तथा वे अपनी भाव-मुद्राओं से श्रोताओं और दर्शकों को मंत्रमुग्ध कर देते थे। दांतों के बीच सुइयां लगाकर 'नाभि की तान' लेने में उन्होंने बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की थी। यह उनकी सतत् साधना का परिणाम था। महाराजा ने इस राज-गायक को भव्य हवेली बनवा कर दी। ऐसा विशिष्ट सम्मान अन्य किसी कलाकार को राज्य की ओर से नहीं मिला था। इन्होंने राग भोपाली में ख्याल, ललित, देस, जौनपुरी आदि रागों व ठुमरी और तराना का प्रदर्शन भारत के प्रसिद्ध रियासतों में कर बीकानेर राज्य का गौरव बढ़ाया। महाराजा द्वारा इनको 'संगीत रत्न' की उपाधि से विभूषित किया गया। रुकनुद्दीनखां के पुत्र सराजुद्दीनखां व इलाउद्दीनखां को प्रारम्भ में छात्रवृत्ति द्वारा राज्य संरक्षण मिला, तत्पश्चात् इन गायकों ने बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की।[18]

अल्लाह जिलाई बाई समस्त भारत में माड गायिका के रूप में प्रसिद्ध हुई और

यह अपने आप में 'माड स्कूल' कही जाती है। इसने शास्त्रीय संगीत की शिक्षा हुसैनबख्श 'लंगड़े' से प्राप्त की। इसे गुणीजनखाने का रत्न कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। इसने भी कई राज्यों में अपनी कला का प्रदर्शन कर धन और यश अर्जित किया। इनके गीतों में माधुर्य है।[19] गुणीजनखाने के कलाकार कासमखां चन्दनवानी अद्वितीय नकारची थे। उन्होंने नक्कारे को तेज धारदार चाकू, छुरी व उस्तरों से तथा चोभों (नगाड़ा बजाने की लकड़ियों) पर तेल छिड़ककर आग प्रज्वलित कर नक्कारा बजाने में ऐसी विशिष्टता प्राप्त की जो अनहोनी मानी जायेगी। वे 'शोलों की बाज' के बादशाह कहलाते थे। आश्चर्य की बात यह थी कि तेज, धारदार उपकरणों व जलती हुई चोभों के तनिक भी चिह्न नगारे की चाम पर नहीं पड़ते थे। कासमखां डग्गा जल तरंग, नसतरंग, तबला तरंग आदि के विशिष्ट वादक थे। अलीदीनखां डग्गा गायन व फाजलखां तबला वादन के अच्छे कलाकार थे।[20]

गुणीजनखाने के प्रसिद्ध नर्तक बिहारीलाल व हनुमानप्रसाद थे। बिहारीलाल नृत्य में गुलाल द्वारा हाथी तथा गणेश की आकृतियों बनाने में प्रवीण था। नुकीली कीलों व तेज धार वाली तलवारों पर नृत्य करके वह दर्शकों को आश्चर्यचकित कर देता था। अनुमान प्रसाद ने कत्थक नृत्य में प्रवीणता प्राप्त की थी। आशिक हुसैन उर्फ हुसैनखां ने बीकानेर राज्य से बम्बई जाकर नृत्य सम्राट के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त की। 1937 ई. में 'स्वर्ण जयन्ती' महोत्सव पर इन्होंने कत्थक नृत्य में एक घंटे की अल्पावधि में 360 परण (वृत्ताकार घूमना) की 'धा' लेकर कीर्तिमान स्थापित कर दिया।[21] बख्यावरी, हुसैनी, छगनी, बदरी, मगनी, गवरा जवाहर, लाड बदन आदि बाइयां कुशल गायिकाएं व नर्तकियों थीं।[22]

महाराजा संगीत व नृत्य की बारीकियों के अच्छे ज्ञाता नहीं थे, बल्कि कलाकारों को निर्देश देने की क्षमता भी रखते थे। वे ललित कलाओं के संरक्षक थे। उन्होंने सदैव कलाकारों को आदर किया तथा उचित अवसरों पर पुरस्कारों से सम्मानित किया। उनके राज्याश्रय में गायकों, वादकों व नर्तकों ने अपनी कला-दक्षता द्वारा केवल बीकानेर राज्य में ही नहीं बल्कि अन्य रियासतों तथा ब्रिटिश भारत में बड़ी प्रसिद्धि पायी।

महाराजा गंगासिंह आतिथ्य सत्कार के लिए समस्त भारत में प्रसिद्ध थे। देशी और विदेशी अतिथि उनके राज्य से कृतज्ञता की भावना लेकर लौटते थे। वे अतिथियों की सुख-सुविधा के अतिरिक्त संगीत व नृत्य द्वारा उनके मनोरंजन की समुचित व्यवस्था करते थे। उन्होंने पूर्व की अमूल्य कलात्मक धरोहर से पश्चिम को अवगत करवाया और साथ ही पश्चिम की अनुकरणीय विशेषताओं को अपनाया। जहां उन्होंने पूर्व और पश्चिम की विशेषताओं से बीकानेर में आधुनिक प्रशासन की नींव डाली, वहां संगीत-कला को भी दोनों के समन्वय से प्रभावित किया।

संदर्भ

1. *महाराजा के आत्मकथा लेखक पन्नीकर ने लिखा है कि वे संगीत सुनने का चाव अवश्य रखते थे, लेकिन उन्होंने इस क्षेत्र में प्रोत्साहन देने में विशेष रुचि नहीं दिखाई-के.एस. पन्नीकर-हिज हाईनेस महाराजा आफ बीकानेर, पृ. 370, लन्दन, 1937, जबकि वह स्वयं पृ. 372, पर लिखते हैं कि दशहरा आदि उत्सव नृत्य व संगीत के साथ धूमधाम से मनाये जाते थे। इस अध्याय में इसी बात का यत्न किया गया है कि महाराजा गंगासिंह ने संगीत व नृत्य के क्षेत्र में भी पूरी रुचि ली व कलाओं को प्रोत्साहन दिया था तथा साथ ही उनके कौशल पर गर्व भी व्यक्त किया था।*
2. *फाइल नं. 15, 1925 ई., नं. 1, 1928, नं. 43, 1930 ई., प्रेस कटिंग रजिस्टर, बीकानेर*
3. *बीकानेर गोल्डन जुबली (1887-1937), पृ. 69-79, बीकानेर 1937*
4. *फाइल नं. 633, 1930 ई., सार्दुल म्युजियम, लालगढ़, बीकानेर*
5. *भेंट वार्ता, कैसेट नं. 1, गंगा ट्रस्ट, बीकानेर*
6. *भेंट वार्ता, कैसेट नं. 1, गंगा ट्रस्ट, बीकानेर*
7. *वही*
8. *कागदों की वही नं. 94 संवत् 1939*
9. *फौज खरच री बही सं. 1875/1818 ई. भैय्या संग्रह, बीकानेर बीकानेर के वीर, पृ. 32, बीकानेर*
10. *राजस्थान की जातियां-देखिये दमामी, दोलीजात आदि। जोधपुर, रमेशचन्द्र गुणार्थी, राजपरिजन परिचय, 1941 ई.*
11. *बीकानेर गोल्डन जुबली, पृ. 98-99, भेंट वार्ता, कैसेट नं. 1 (वही)*
12. *भेंट वार्ता, कैसेट नं. 1 (वही)*
13. *वही*
14. *बीकानेर गोल्डन जुबली, पृ. 96-99*
15. *यह पुस्तक लालगढ़ पुस्तकालय में उपलब्ध है।*
16. *भेंट वार्ता, कैसेट नं. 1 (वही)*
17. *वही*
18. *भेंट वार्ता, कैसेट नं. 1, यंग इंडिया, अंक 16, नं. 2, फरवरी, 1941, पृ. 32*
19. *भेंट वार्ता, कैसेट नं. 1 (वही)*
20. *वही*
21. *वही*
22. *के.एस. पन्नीकर (वही), पृ. 373-74*

(इसके अतिरिक्त गुणीजनखाने की सामग्री तथा मास्टर आफ सेरेमनी की फाइलें भी बहुत सहायक है, जो सार्दुल म्यूजियम, लालगढ़ तथा अभिलेखागार, गीकानेर में सुरक्षित है।)

बड़वा अमरचन्द का मेवाड़ की सुरक्षा में योगदान

डॉ. गिरीश नाथ माथुर

बड़वा अमरचन्द सनाढ्य ब्राह्मण था। उसके पूर्वज बाहर से आ कर मेवाड़ में बसे। उसके पिता महाराणा जगतसिंह द्वितीय (1734-51 ई.) के समय महाराणा की पाकशाला के अध्यक्ष थे। उस समय एक ओर मेवाड़ मराठा समस्या से जूझ रहा था तो दूसरी ओर वह आंतरिक अशंति में उलझा हुआ था। महाराणा अमरसिंह प्रथम (1592-1620 ई.) के समय से चल आ रहे चूंडावत - शक्तावतों के झगड़े, चूंडावतों के चौहानों तथा झालाओं से बढ़ते कटु संबंध, दरबारियों व प्रशासनिक अधिकारयिों में अनबन व आपसी संदेह तत्कालीन परिस्थितियों में बढ़ते जी जा रहे थे। अधिकारी वर्ग ने अपने हित में महाराणा व उसके पुत्र में भी अनबन करवा दी। कुंवर प्रतापसिंह द्वारा महाराणा के निर्णय के विरूद्ध कोटा के महाराव दुर्जनशाल की सिफारिश पर उम्मेदसिंह के छोटे भाई दीपसिंह को पच्चीस हजार रूपये की आमदनी वाला पट्टा प्रदान करने एवं भीलवाड़ा, पुर आदि मिला कर एक अलग राज्य बनाने के प्रयत्न की सूचना मिलने पर महाराणा ने उसे कैद करने का विचार किया। अपने विचार की क्रियान्विति उसने अपने छोटे भाई नाथसिंह के माध्यम से करवायी। जिसने उसे जनवरी 29, 1743 ई. को कृष्ण विलास महल में कई सरदारों के मध्य पकड़ लिया तत्पश्चात् उसे करण विलास महल में नजर कैद कर लिया। उसकी निगरानी का कार्य अमरचन्द के पिता शम्भूराम को सौंपा गया। उस समय उसने कुंवर की बहुत सेवा की। मेवाड़ के विद्रोही सरदारों ने राज्य के उत्तराधिकारी कुंवर प्रतापसिंह की हत्या का षडयंत्र रचा शम्भूराम ने स्वयं ने विषयुक्त भोजन खा कर स्वयं का बलिदान कर उसको बचाया।

शम्भूराम बड़वा के निधन के बाद कुंवर प्रतापसिंह की निगरानी की जिम्मेवारी उसके पुत्र अमरचन्द बड़वा को दी गई। उसने भी अपने पिता की तरह कुंवर की निष्ठा के साथ सेवा की। सेवा के बदले महाराणा बनने पर प्रतापसिंह ने उसे 'ठाकुर' का खिताब और ताजीम दे कर अपना मुसाहिब (प्रधानमंत्री) बनाया। प्रतापसिंह ने जून, 1751 ई. को गद्दी पर बैठने के पश्चात अमरचन्द बड़वा की सलाह पर मेवाड़ की आन्तरिक एवं बाह्य नीति में सुधार करने का प्रयास किया। आन्तरिक स्थिति सुधारने के लिए महाराणा ने अपने मित्रों व समर्थकों को उचित पारितोषिक दिये तो दूसरी ओर विरोधियों को भी संतुष्ट करने का सतत् प्रयास किया। अपने विरोधी नाथ जी उसके विरोध में जारी गतिविधियों के चलते भी उसने सलूम्बर रावत जैतसिंह के माध्यम से अपने पक्ष में लाने का सतत् प्रयास किया।

मेवाड़ की बाह्य नीति में परिवर्तन लाते हुए अमरचन्द की सलाह पर प्रतापसिंह राजस्थानी शासकों द्वारा मराठा विरोध के लिए किये जाने वाले संगठित प्रयासों का समर्थक बना रहा। इसके अतिरिक्त उसके विरोधी नाथजी के जयपुर पहुंचने व माधोसिंह द्वारा उसका हार्दिक स्वागत कर मेवाड़ की गद्दी दिलवाने के स्पष्ट आश्वासन देने के उपरान्त भी महाराणा ने जयपुर से अपने संबंध विच्छेद नहीं किये। इस नीति के परिणामस्वरूप ही वह माधोसिंह को अपनी मेवाड़ के प्रति नीति को परिवर्तित करवाने में सफल रहा। अमरचन्द बड़वा की महाराणा को दी गई सलाह के कारण उसके पूरे कार्यकाल में उसका सम्मान बना रहा।

महाराणा प्रताप सिंह का निधन गुरूवार, जनवरी 10, 1754 ई. को हुआ। तब महाराणा प्रताप सिंह का द्वितीय पुत्र राजसिंह शुक्रवार, जनवरी 11, 1754 ई. को मेवाड़ की राजगद्दी पर बैठा। किन्तु वह अपने पिता द्वारा मेवाड़ की सुधारने की प्रवृति के विपरित स्वभाव वाला रहा। आन्तरिक क्षेत्र में उसने अपने सरदारों से संबंध सुधारने की नीति का पालन नहीं किया अत: उनमें आपसी फूट व वैमनस्य में वृद्धि हुई। उन्होंने मेवाड़ के हितों की अनदेखी करते हुए अपनी शक्ति वृद्धि हेतु मराठों को आमंत्रित किया। मराठे मेवाड़ के दोनों ही गुटों के साथ विभक्त हो उनसे धन प्राप्त करते रहे। परिणामस्वरूप मेवाड़ की आर्थिक दशा इतनी हीन हो गई कि मराठों को वायदे के अनुसार रूपया चुकाने के लिए महाराणा ने लिखित में आश्वासन दिया। इस पर भी रूपया नहीं दिया। तब यहाँ के कई परगने ठेके पर रख कर उनकी आय सीधे मराठों को पहुँचाई जाने लगी। राजसिंह के काल में एक करोड़ नौ लाख दस हजार एक सौ तरानवे रूपये मराठों के पास पहुँचे। महाराणा के स्वभाव के कारण बिगड़ी परिस्थितियों को सुधारने में अमरचन्द बड़वा जैसे निष्ठावान मंत्री भी अधिक कुछ करने में असमर्थ रहे। महाराणा राजसिंह की नि:संतान मृत्यु होने पर उसका काका अरिसिंह (अड़सी) शुक्रवार, अप्रैल 3, 1761 ई. को गद्दी पर बैठाया। मराठा विरोध में आरम्भिक सफलता ने उसे घमण्डी बना दिया। तत्पश्चात् उसने निम्न कदम उठा कर मेवाड़ की राजनीतिक एवं आर्थिक स्थिति को शोचनीय स्थिति में ला दिया।

1. अरिसिंह ने आरम्भ से ही अपने सरदारों के साथ व्यवहासर को बिगाड़ लिया। एकलिंगजी से अपने ईष्ट के दर्शन कर लौटते समय उसके व्यवहार से नाराज सरदारों ने स्व. महाराणा राजसिंह की रानी से उत्पन्न पुत्र रतन सिंह का पक्ष लेकर उसे मेवाड़ की राजगद्दी दिलवाने का उपक्रम आरम्भ किया। इसी दौरान मल्हारराव होल्कर ने ठेके पर उसे सौंपे गए परगनों पर अधिकार कर लिया।
2. अरिसिंह ने अपने मुँह लगे व्यक्तियों की सलाह पर राज्य के सच्चे हिचिन्तक अमरचन्द बड़वा को हटा कर जसवन्तराय पंचोली को अपना मुसाहिब (प्रधान मंत्री) बना लिया।

3. सरदारों से संबंध सुधारने की बजाय सिन्ध व गुजरात से मुस्लिम सैनिकों को बुला कर उनकी नाराजगी में वृद्धि की।
4. भैंसरोड़गढ़ के रावत लालसिंह को प्रलोभन देकर उससे फरवरी 4, 1764 ई. को सिंहासन प्राप्ति के लिये प्रयासरत बागोर के नाथसिंह ही हत्या करवा दी। यही नहीं सलूम्बर के रावत जोधसिंह को भी आत्महत्या के लिये मजबूर किया।
5. विरोधी सरदारों को दबाने के लिये कोटा के झाला जालिम सिंह को चीता खेड़ी की जागीर दे कर, देलवाड़ा के झाला राघव दे को भी कुछ दे कर व शाहपुरा के उम्मेद सिंह को काछोला का परगना (1765 ई.) दे कर अपने पक्ष में कर अपनी स्थिति मजबूत करने का प्रयास किया।
6. सरदारों के विरोधी गुट के नेता ने महाराणा की स्थिति कमजोर करने के लिए माधवराव सिंधिया को सवा करोड़ रूपया देने के बदले अपने पक्ष में कर लिया। तब महारणा ने भी जालिम सिंह व मेहता अगरचन्द के माध्यम से सिंधिया के दो अधिकारी रघु पायगिया व दौलामिया को बीस लाख रूपयों के बदले अपने पक्ष में कर लिया। इसी दौरान उसने देलवाड़ा के झाला राघव दे पर संदेह कर उसे भी मरवा दिया।

उक्त कदम उठाने के पश्चात् महाराणा ने अपनी स्थिति मजबूत समझ माधोजी सिंधिया को अपने पक्ष में करने के प्रयास असफल होने पर युद्ध का निर्णय लिया। जनवरी 13, 1769 ई. को क्षिप्रा नदी के तट पर हुए युद्ध में मेवाड़ की सेना पराजित हुई। तब महाराणा के समक्ष अनेक कठिनाईयाँ उत्पन्न हो गई। क्योंकि अब उसके सहायक सरदारों में से केवल सलूम्बर का रावत भीमसिंह, कुराबड़ का रावत अर्जुन सिंह और बदनोर का ठाकुर अक्षयसिंह ही बचे थे। प्रधान मेहता अमरचन्द कैद में था। बिगड़ी आर्थिक अवस्था में मुस्लिम सैनिकों को वेतन चुकाने के लिए भी पैसा नहीं बचा और वे विद्रोह हो गये।

बिगड़ी परिस्थितियों में अमरचन्द बड़वा को पुन: प्रधान पद – कमजोर राजनीतिक एवं आर्थिक स्थिति के चलते जब महाराणा को अपने विरोधी सरदारों की चुनौति का खतरा महसूस होने लगा तब सलूम्बर के रावत भीमसिंह ने स्थिति को संभालने के लिए योग्य अमरचन्द बड़वा को पुन: प्रधान बनाने के लिए महाराणा को सुझाव दिया।

अमरचन्द द्वारा अपनी शर्त पर प्रधान पद – अमरचन्द को प्रधान पद स्वीकारने के लिए महाराणा ने उसके घर जाकर अनुरोध किया जब उसका उत्तर था ''मैं स्पष्ट वक्ता व मिजाज का तेज हूँ। मैंने पहले भी जब काम किया तब पूरे अधिकार के साथ ही। आप किसी की सलाह मानते नहीं अपनी इच्छा से सब कुछ करते हैं। इस समय की अवस्था बहुत विकट, वेतन न मिलने से सिपाही विद्रोही, खजाना खाली और प्रजा गरीब है

अतएव यदि आप मुझे पूरे अधिकार दे तो कुछ उपाय किया जा सकता है।'' तब महाराणा ने कहा जो तुम कहोगे वही हम करेंगे। महाराणा ने कहा कि यदि तुम हमारे जेवर भी मांगोगे तो इनकार नहीं करेंगे। तब अमरचन्द ने प्रधन पद स्वीकार किया।

अमरचन्द द्वारा स्थिति सुधारने के लिए उठाये गये कदम – प्रधान पद स्वीकारने के पश्चात् अमरचन्द ने राज्य के सोने चांदी के बर्तन व रत्नादि मंगा कर सोने चांदी के कम कीमत के सिक्के बनवाये तथा रत्नों को गिरवी रख कर सेना का चढ़ा वेतन चुकाया। जब फितूरी रतनसिंह के पक्ष में विरोधी सरदार माधव राव सिन्धिया को मेवाड़ पर चढ़ा लाये तब महाराणा ने अमरचन्द की सलाह पर ही गोला, बारूद व अन्य युद्ध सामग्री एकत्र कर अलग-अलग मोर्चों पर सरदारों व अधिकारयिों को नियत कर स्वयं उदियापोल पर पाँच सौ अरब सिपाहियों के साथ लड़ने को रहा। इसके पूर्व उसने शहर पनाह के चारों ओर छोटे-छोटे किले बनवाये, नगर के दरवाजों एवं खाई की मरम्मत करवाई। दुश्मनभंजन तोप को माछला मंगरा स्थित एकलिंगगढ़ पर चढ़वाई। अप्रैल 1769 ई. के दूसरे सप्ताह में महादजी सिंधिया का उदयपुर पर घेरा आरम्भ हुआ निरन्तर छः माह के घेरे के पश्चात् भी जब महादजी को नगर पर अधिकार करने में सफलता नहीं मिली तब वह अन्त में सत्तर लाख रू. लेकर घेरा उठाने पर स्वीकारोक्ति दी। फिर लालच में आ कर बीस लाख की ओर मांग की तब प्रधान अमरचन्द ने मेवाड़ की मजबूत स्थिति को समझते हुए संधि पत्र फाड़ दिया व युद्ध जारी रखा। अपनी स्थिति कमजोर पाकर जब कुछ दिनो बाद सिंधिया ने अपनी ओर से पुनः सुलह के लिए कहलवाया, तब अमरचन्द ने उसे सत्तर लाख भी देने से मना कर दिया। अन्त में सिंधिया को साठ लाख रूपयों के अतिरिक्त साढ़े तीन लाख रुपये अन्य खर्च को लेकर लौट जाना पडा। (जुलाई 21, 1769 ई.) मेवाड़ की इस कूटनीतिक विजय पर महाराणा ने प्रधान अमरचन्द के साथ ही अपने सरदारों को सम्मान स्वरूप ईनाम दिया।

टोपा मगरी का युद्ध (1770 ई.) – अमरचन्द बड़वा का विजय में योगदान

महादजी के मेवाड़ से लौट जाने के बाद रतनसिंह व उसके समर्थकों ने महापुरूषों (नागों) की सहायता से मेवाड़ पर सैन्य अभियान किया। महाराणा अपनी सेना सहित उनका सामना करते के लिए देलवाड़ा होते हुए जीलोला गाँव पहुँचा। नागा सेना तब मोकरूंदा गाँव में ठहरी हुई थी। टोपला गाँव में टोपल मगरी के पास मुकाबला हुआ। उसमें प्रधान अमरचन्द स्वयं अन्य सहयोगी सरदारों के साथ मौजूद था। उसकी युद्ध तकनिक से महाराणा की सेना विजयी रही। टोपल मगरी युद्ध के एक वर्ष पश्चात् ही अमरचन्द के निर्देशन में ही मेवाड़ की सेना ने गंगरार की लड़ाई में रतनसिंह के पक्षधरों को पराजित किया। प्रधान अमरचन्द की निष्ठापूर्वक मेवाड़ की सेवा का सम्मान करते हुए महाराणा ने उसे फरवरी 1, 1773 ई. को आठूण की जागीर प्रदान की।

अरिसिंह की मृत्यु के पश्चात् मेवाड़ की गद्दी पर हम्मीर सिंह द्वितीय मार्च 11, 1773 ई. को मेवाड़ के सिंहासन पर बैठा। वह देश की विकट स्थिति को संभालने में बिलकुल असमर्थ था। बाल्यावस्था होने के कारण मेवाड़ पर राजमाता के नेतृत्व में महिला शासन आरम्भ हुआ। उनकी नीतियों से परेशान हो अमरचन्द ने अपना सारा धन छकड़ों में भरवा राजमहल पहुँचा दिया। तब भी महिला प्रशसन के चलते उसे जहर दिलाने का प्रपंच रचा गया। उसी के चलते कुछ दिनों बाद उस नेक दिल इसांन की मृत्यु हो गई। वस्तुतः अमरचन्द बड़वा बुद्धिमान, कुशल प्रशासक, कूटनीतिज्ञ, सैन्य प्रबन्धक व योद्धा था। संकटकाल में मेवाड़ की सुरक्षा में उसका अतुलनीय योगदान रहा। मेवाड़ की सुरक्षार्थ उसके द्वारा करवाये गये निर्माण कार्य उपयोगी रहे।

कर्नल जेम्स टाड ने उसके बारे में लिखा कि अमरचन्द के समान चतु व दक्ष मंत्री संसार में बिरला ही था। आजादी के पश्चात् माछला मगरा अमरचन्द की स्मृति में शिलालेख लगवाया गया।

संदर्भ

1. *श्यामलदास, कविराजा, वीर विनोद पृ. 1535-1580*
2. *टाड, जेम्स, उदयपुर राज्य का इतिहास अनुवादक एवं सम्पादक बलदेव प्रसाद एवं ज्वाला प्रसाद मिश्र-यूनिक ट्रेडर्स चौड़ा रास्ता, जयपुर 1987*
3. *ओझा, गौरीशंकर हीराचंद, उदयपुर राज्य का इतिहास भाग 2, पृष्ठ 642, 653-656, 656-659, 661-67, 670, 998-1001 राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर 1999 ई.*
4. *ओझा, जे.के., मेवाड़ का इतिहास, पृष्ठ 134, 163, 10, 171, 173, 210, 214-216, 248, 283, 286, 327, एस. चन्द कम्पनी लि. रामनगर, नई दिल्ली, 1980 ई.*

ब्रिटिश काल में अजमेर का पुलिस प्रशासन

डॉ. लता अग्रवाल एवं डॉ. जितेन्द्र मारोठिया

25 जून, 1818 ई. को ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा अजमेर को मराठा से अधिग्रहित करने के बाद यहां की प्रशासनिक व्यवस्था हेतु अजमेर सुपरिन्डेन्टेन्ट की नियुक्ति की।[1] मुगल काल में सूबे में आन्तरिक व बाह्य सुरक्षा का जिम्मेदारी सूबेदार की थी। मराठा सूबेदार सूब्बेराव व राजस्व अधिकारी नरूखां के स्थान पर प्रथम ब्रिटिश सुपरिन्टेडेन्टेन्ट मिस्टर एफ. विल्डर ने इन पदों को समाप्त कर इनके अधिका प्राप्त कर लिये। अजमेर सुपरिन्टेडेन्टेन्ट ने यह जिम्मेदारी ग्रामणी क्षेत्रों में इस्तमरादार, ठिकानेदार और जागीरदारों को सौंप दी।[2] 1828 ई. में कम्पनी प्रशासन ने ग्रामीण प्रशासन हेतु 5 तहसीलदारों को भी नियुक्त किया। दीवान निकाय के रूप में कोई ब्रिटिश पुलिस व्यवस्था नहीं थी।[3] 1856 ई. में कर्नल डिक्सन ने अजमेर के 18 गांवों में 3 रु. मासिक वेतन पर चौकीदारों की नियुक्तियां की। इनके वेतन का एक भाग यात्रियों से कर के रूप में तथा शेष गांव के खर्चे की राशि से वसूल किया जाता था।[4] 1857 ई. की क्रांति के पूर्व डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट व रेवेन्यू कलेक्टर में पुनिलस के अधिकार समायोजित थे परन्तु कार्य की अधिकता के कारण पुलिस सम्बन्धित कार्य ग्रामीण व शहरी क्षेत्रों में अनुशासन, सुरक्षा, कानून व्यवस्था, दीवानी व आपराधिक कानून, सजा का प्रावधान, अपराध अन्वेषण व शांति व्यवस्था करने में असमर्थ रहे। मार्च, 1861 ई. के अधिनियम के तहत मेढ़ बटालियन के सैनिकों को भी पुलिस का कार्य सौंपा गया। तहसीलदार के निरीक्षण में एक पुलिस थानेदार का पद निश्चित करने का निर्णय लिया गया। जिसका कार्य अपने क्षेत्र में शांति और कानून व्यवस्था बनाना था। जिले में 10-15 मील की दूरी में प्रत्येक थाने में एक जमादार, एक पेशकर और तीन चपरासी नियुक्त किये गये। ब्यावर मुख्यालय में तैनात मेढ बटालियन में नियुक्त 01 रिसालदार, 01 जमादार दफ्तरी, 48 बस्तरबंद सिपाही, 60 सवार और 48 चौकीदार आदि को लोगों के जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा की जिम्मेदारी दी गई। अजमेर की म्यूनिसिपल को प्राप्त मकान कर जो मासिक 332 रु. संग्रहित होता था उसमें कुल 32 रु. इनमें वेतन के रूप में वितरित किये जाते थे। मेर रेजीमेन्ट मेरवाड़ा पुलिस बटालियन में परिवर्तित कर दी गई जिसे इन्सपेक्टर जनरल ऑफ पुलिस नार्थ-वेस्ट प्रोविन्स के अन्तर्गत रखा गया। केन्द्रीय ब्रिटिश सरकार ने 1859 ई. में भारतीय दीवानी प्रक्रिया, 1960 ई. में भारतीय दण्ड संहिता, 1861 ई. में इंडियन पुलिस एक्ट तथा 1861 ई. में आपराधिक प्रक्रिया संहिता पारित की गई।[5]

22 मार्च, 1861 ई. में गवर्नर जनरल की काउन्सिल ने प्रांतों में एक पुलिस अधिनियम कानून व्यवस्था के लिए पारित किया गया। जिसमें रेवेन्यू कलेक्टर और डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट पुलिस के प्रभार से मुक्त कर दिये गये। इसकी व्यवस्था का प्रभारी जिला अधीक्षक पुलिस डिस्ट्रिक्ट सुपरिन्डेन्टेन्ट ऑफ पुलिस को बनाया गया। इस अधिनियम के द्वारा अजमेर में 548 पुरुष पुलिस तैनात किये गये। जिला अधीक्षक पुलिस की सहायता के लिए एक सहायक जिला अधीक्षक की नियुक्ति भी की गई। ग्रामीण क्षेत्रों में आपराधिक प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाने के लिए ग्रामीण चौकीदार, इस्तमरादार, भूमिया और जागीरदारों को कानून व्यवस्था की जिम्मेदारी सौंपी गई। चौकीदार उसी ग्रामीण समुदाय से सम्बन्धित होता था जिसके पास ग्राम की छोटी सी भूमि अधिकृत होती थी। इसतमरारदारों को उनके अपने क्षेत्रों के अन्तर्गत घटती तो उन्हें इसका उत्तरदायित्व वहन करना होता था। भोमियों को उनकी भूसम्पत्ति के पूर्ण अधिकार इसी आधार पर प्राप्त थे कि वे अपने क्षेत्र की व्यवस्थित चौकसी एवं निगरानी रखेंगे। खालसा भूमि में भोमियों की प्रथा नहीं थी। वहां सरकार को निगरानी एवं चौकरी के लिए चौकीदारों की नियुक्ति की गई। चौकीदार बहुधा चीता एवं मेर जातियों के लोगों में से नियुक्त किए जाते थे। इन पर यह जिम्मेदारी थी कि अगर उनकी लापरवाही के फलस्वरूप किसी तरह की दुर्घटना घटती तो उन्हे क्षतिपूर्ति करनी होती थी।[7] इनकी नियुक्ति का उद्देश्य था कि जब तक वे नियुक्त होंगे तब उनके जाति भाई इन क्षेत्रों में चोरी करने का दुस्साहस नहीं करेंगे।

अजमेर के ग्रामीण जब किसी व्यक्ति का सामान इस्तमरारदारी या भौम गांव में चेारी हो जाता तो वे फौजदारी अदालतों में इस आशय का प्रार्थना-पत्र प्रस्तुत कर इस्तमरारदार या भौमियों से क्षतिपूर्ति की रकम अदालत के जरिये वसूल कर सकते थे। अजमेर-मेरवाड़ा के इस्तमरारदारों को अपने क्षेत्र की समूची पुलिस व्यवस्था का भार वहन करना होता था। केवल कुछ ही प्रमुख क्षेत्रों-अजमेर, पुष्कर, ब्यावर, टाडगढ़ और दिवेर में सरकारी पुलिस चोकियों की व्यवस्था थी जो कि नोटिस, सम्मन या वारण्ट तलबी का काम करती थी। अजमेर जिले के एक तिहाई क्षेत्र में इस्तमरारदारी व्यवस्था थी। इस क्षेत्र की समूची पुलिस सेवा उनके अधीनस्थ कार्यरत थी।[8] अप्रैल, 1870 ई. में अजमेर शहरी व ग्रामीण क्षेत्रों में ब्रिटिश सरकार ने 656 चौकीदार के पद स्वीकृत किये, साथ ही 39,360/- की राशि जारी की। इसमें से 7 रु. प्रति चौकीदार प्रतिमाह वेतन के रूप में तथा शेष राशि अधिकारियों में वेतन के रूप में वितरित की जानी थी।[9] 1874 ई. में भौमियों की क्षतिपूर्ति की जिम्मेदारी समाप्त कर दी और सरकार ने अजमेर में 33 चौकीदार जो पुलिस की वर्दी में रात-दिन नौकरी पर नियुक्त किये गये। यह व्यवस्था 1876 ई. तक बनी रही, इसके बाद अजमेर की नगर पालिका द्वारा चौकीदारों की नियुक्ति की जाने लगी। 1876 ई. के नगर पालिका कानून 20 के अन्तर्गत 40 चौकीदारों की नियुक्ति की गई। इन चौकीदारों को पुलिस के साथ साधारण सिपाही के समान अधिकार प्राप्त नहीं थे। 1 जनवरी, 1877 को अजमेर में चौकीदारों की संया 680

से घटाकर 490 कर दी गई। 1888 ई. में चौकीदार व्यवस्था में नये परिवर्तत किये गये। इनकी नियुक्ति जिला दण्ड नायक को सौंप दी गई। जिसमें ग्रामीण क्षेत्र में 150 घरों की आबादी पर 1 चौकीदार अधिक होने पर 2 चौकीदार और इससे अधिक होने पर जिला दण्ड नायक 5 चौकीदार नियुक्त कर सकता था। इनमें से 1 चौकीदार को मुखिया बनाया जाता था, वह जमादार कहलाता था। जमादार को छोड़कर चौकीदार को लाल-नीली पगड़ी, एक पट्टा और खाकी रंग का कोट पहनना अनिवार्य था, साथ में उसे एक भाला भी रखना पड़ता था और जमादार को नीली पगड़ी, खाकी कोट जिसकी बायीं आस्तीन पर एक लाल पट्टी लगी हुई रहती थी। ग्रामीण चौकीदार का वेतन 4 रु. मासिक और जमादार का वेतन 7 रु. मासिक होता था। वेतन का निर्धारण और भुगतान जिला दण्ड नायक द्वारा किया जाता था। वर्दी का व्यय चौकीदार और जमादार को देना पड़ता था।[10]

1889 ई. में एजेण्ट टू द गवर्नर जनरल ने राजपूताना में ठगी और डकैती का दमन करने के लिए एक ईस्टर्न राजपूताना एजेन्सी स्थापित की गई, जिसका सदर मुकाम अजमेर था और रियासतों में निरीक्षण चौकियां कायम की गई। अपराधियों का निर्णय अजमेर की अदालत में होता था। रियासतों से उनके वकील पैरवी करते थे।[11] 1871 ई. में अजमेर पुलिस विभाग को उत्तर-पश्चिमी सूबा के इन्सपेक्टर जनरल पुलिस के नियंत्रण से हटाकर अजमेर कमीश्नर के हाथों में सौंप दिया गया। इसी आधार पर अजमेर में थाने और चौकियां कायम की गई। 1877 ई. में पुलिस सेवा के अन्तर्गत 3 एस.ए.ओ. (स्टेशन हाउस आफिसर ऑफ पुलिस) और 1 इन्सपेक्टर ऑफ पुलिस पदों पर अंग्रेज अधिकारी, 93 हैड कान्सेटेबल भारतीय, 40 घुड़सवार और 446 सिपाही नियुक्ति किये गये। इसी वर्ष 6 प्रथम श्रेणी के पुलिस थाने, 6 द्वितीय श्रेणी के पुलिस थाने और 9 पुलिस चौकियां स्थापित की गई—

प्रथम श्रेणी - अजमेर रेलवे वर्क शॉप, नसीराबाद, मांगलियावास, भिनाय, गौयला और केकड़ी में पुलिस थाने, सराधना, दिल्ली दरवाजा, आगरा दरवाजा, त्रिपोलिया दरवाजा, ओस्वी दरवाजा, मदार दरवाजा, दाता, खरवा, बांदनवाड़ा, शोखला आदि में पुलिस चौकियां स्थापित की गई। इसी प्रकार पीसांगन, गेगल, श्रीनगर, मसूदा, सांवर, पुष्कर, हरमाढ़ा, देवली और नान्द में द्वितीय श्रेणी की पुलिस चौकियां कायम की गई। इनमें तैनात पुलिस अधिकारी व पुलिस बल को वेतन भी पुलिस विभाग से चुकाया जाने लगा। इनके अधिकार क्षेत्र में सम्बन्धित क्षेत्रीय व्यवस्था का निर्णय अधिकार जिला दण्ड नायक को दिया गया।[12] 1888 ई. में अजमेर में प्रथम बार पुलिस सेवा भर्ती परीक्षा प्रारम्भ की गई। इस सेवा भर्ती की परीक्षा समिति में जिला पुलिस अधीक्षक को अध्यक्ष, एक दण्ड नायक और परीक्षा इन्सपेक्टर नियुक्त किये गये। इस परीक्षा में भारतीय दण्ड संहिता, दीवानी और फौजदारी कानून और अपरिवर्तित पुलिस सेवा नियमों की जानकारी ली जाती थी।[13] 1903 ई. में अजमेर के पुलिस विभाग ने पुलिस सेवा में

भर्ती नये पुलिस दल को प्रशिक्षित करने, कानून व कानून व्यवस्था की प्रारम्भिक जानकारी तथा ड्रिल व शस्त्रों को पकड़ना व चलाना आदि में प्रवीण किया जाता था। प्रशिक्षित पुलिस की नियुक्ति अजमेर, नीमच और इन्दौर कहीं भी की जा सकती थी। यह प्रशिक्षण एक वर्ष का होता था। इस दौरान खाने व रहने की व्यवस्था नि:शुल्क दी जाती थी। सफल व ब्रिटिशर्स के स्वामीभक्त पुलिस कान्सटेबल उच्च पदों पर भी पदोन्नत किये जाते थे।[14]

नागरिक पुलिस का संगठनात्मक स्वरूप

1871 ई. में अजमेर-मेरवाड़ा का प्रशासन उत्तर-पश्चिमी प्रांत से मुक्त कर फोरन एण्ड पोलिटिकल डिपार्टमेंट ऑफ द गवर्नमेंट ऑफ इंडिया को सौंपे जाने के बाद अजमेर पुलिस व्यवस्था का कार्यभार अजमेर-मेरवाड़ा के कमीश्नर को सौंप दिया गया और 1912 ई. में आबू में एक इन्सपेक्टर जनरल ऑफ पुलिस का पद सृजित किया गया। जो कमीश्नर, अजमेर के प्रति उत्तरदायी था। 1920 ई. के आसपास सहायक अधीक्षक, पुलिस के पद को समाप्त कर अजमेर में डिप्टी सुपरिन्टेन्डेन्ट ऑफ पुलिस का पद सृजित किया गया। मार्च, 1935 में अजमेर-मेरवाड़ा में रेलवे पुलिस दल भी गठित किया गया। अजमेर में 784 हैड कान्सटेबल एक सर्जेन्ट के साथ, 99 हैड कान्सटेबल और 805 कान्सटेबल की नियुक्ति की गई। 1941 ई. में 15 पुलिस स्टेशन जो अजमेर, ब्यावर तथा नसीराबाद में तीन पुलिस सर्किल में विभक्त किये गये थे, स्थापित हुए।[15] द्वितीय विश्व युद्ध के बढ़ते प्रभाव के कारण 1134 हथियार बंद पुलिस कान्सटेबल की नियुक्ति अस्थायी तौर पर की गई। पुलिस दल की निगरानी का कार्य सुपरिन्टेडेन्ट ऑफ पुलिस डिप्टी कमीश्नर और चीफ कमीश्नर अजमेर-मेरवाड़ा को सौंपा गया जिसका केन्द्रीय नियंत्रण इन्सपेक्टर जनरल ऑफ पुलिस अजमेर-मेरवाड़ा का था जो राजपूताना रेजीडेन्ट का पुलिस सलाहकार था।[16]

आपराधिक जांच विभाग[17]

1 अगस्त, 1944 ई. को अजमेर में इन्सपेक्टर जनरल ऑफ पुलिस, अजमेर को स्वतंत्र प्रभार देकर आपराधिक जांच विभाग की स्थापना की गई। जिसकी 3 शाखाएं थी-1. जनरल ब्रांच, 2. क्राइम ब्रांच, 3. स्पेशल ब्रांच। इन तीनों शाखाओं का मुख्यालय अजमेर था। प्रत्येक शाखा का एक निरीक्षक नियुक्त किया गया इसके साथ ही अजमेर में डिस्ट्रिक्ट इन्टिलिजेन्स स्टाफ भी संगठित किया गया जो डिस्ट्रिक्ट सुपरिन्टेन्डेन्ट पुलिस ऑफ अजमेर के अधीन कार्यरत था। राजपूताना के निरीक्षण हेतु अजमेर में एक स्पेशल ब्रांच ऑफ राजपूताना का गठन किया गया। इस क्राइम स्टाफ का कार्य अपराध ा व अपराधियों को समाप्त करना, इन्हें भी क्रिमनल प्रोसीजर लॉ की जानकारी हेतु 30 दिवस का नि:शुल्क प्रशिक्षण दिया जाता था।

इस प्रकार ग्रामीण क्षेत्रों में घटित घटना, अपराध या चोरी के लिए तहसीलदार

और चौकीदार को जिम्मेदारी दी गई। अपराधी के नहीं मिलने पर क्षतिपूर्ति का भुगतान करने का जिम्मा भी तहसीलदार और चौकीदार को होता था। ग्रामीण क्षेत्रों में चोरी-डकैती की सूचना सम्बन्धित थाने या तहसीलदार को अविलम्ब दी जाती थी। चोरी, डकैती, लूटमार, जबरन वसूली या कोई आपराधिक घटना, हत्या, बलवा, बलात्कार, छेड़खानी, महिला को जबरन उठा ले जाना आदि का उत्तरदायित्व स्थानीय क्षेत्रों के इस्तमरारदार, भौमिया, जागीरदार, ठिकानेदार, जमीदार के जिम्मे ही था।

चौकसी व निगरानी का अधिकार स्थानीय लोगों को सौंपकर ब्रिटिश अधिकारी इस कार्य से मुक्त हो गये। जिन चौकीदार को नकद वेतन देय नहीं होता था उन्हें निश्चित मात्रा में अनाज देना होता था। 1887 ई. में कस्टम अधिकारियों की नियुक्ति की गई, 1905 ई. में लगभग 15 कस्टम अधिकारी अतिरिक्त नियुक्त किये गये। सड़क मार्ग पर व्यापारियों के आवागमन पर कस्टम अधिकारियों की नियुक्ति हुई जिससे घुसपैठियों की संख्या में कमी हुई। झांसी रिजर्व से बुलाये गये घुड़सवारों को भी तैनात करने से अपराधों में कमी आई। अपराधी के दूसरी रियासत में प्रवेश कर जाने पर 5 पुलिस कान्सटेबल का एक पुलिस उस अपराधी को उस रियासत से अजमेर लाकर अदालत में प्रस्तुत करना व दण्ड दिलाना था।[18] इस प्रकार घटती-बढ़ती पुलिस संख्या से ज्ञात होता है कि भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की राजनीतिक गतिविधियों से विचलित ब्रिटिश सरकार ने कानून व्यवस्था के लिए पुलिस बल में कमी या बढ़ोतरी होने लगी।

सन्दर्भ

1. *एचिसन सी.यू., कलेक्शन ऑफ द ट्रीटीज एगेजमेण्टस एण्ड सनद रिलेटिंग इण्डिया एण्ड नेबरिंग कन्ट्रीज, कलकत्ता, 1933, खण्ड पांच, पृ. 409-10*
2. *अजमेर-सुपरि. एफत्र विल्डर अजमेर द्वारा मेजर जनरल सर डेविड आक्टरलोनी को 24 सितम्बर, 1818 ई. को लिखा पत्र क्रमांक 238/ए*
3. *अजमेर-सुपरि. आर केवन्डिश द्वारा रेजीडेण्ट राजपूताना कोलब्रुक को 10 जुलाई, 1828 को लिखा पत्र क्रमांक 123/एजे*
4. *कमीश्नर, अजमेर-मेरवाड़ा द्वारा चीफ कमीश्नर जे. जोसफ लायल (कार्यवाहक) को लिखा पत्र 10 अप्रैल, 1857, संख्या 702*
5. *वाटसन, सी.सी., राजपूताना डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स, 1904, खण्ड 1, पृ. 30*
6. *कर्नल ए.जी. डेविडसन, डिप्टी कमिश्नर द्वारा आर.एच. कीटिंग, कमिश्नर व ए.जी. राजपूताना को पत्र, दिनांक 11 अप्रैल, 1868 नपत्र संख्या 568/1868*
7. *लेफ्टिनेंट जान लिस्टन, असिस्टेंट कमिश्नर द्वारा डिप्टी कमिश्नर को पत्र, दिनांक 9 अक्टूबर, 1866, पत्र संख्या 198/1866*
8. *डिप्टी कमिश्नर अजमेर-मेरवाड़ा द्वारा कमिश्नर व ए.जी.जी. राजपूताना को पत्र, दिनांक 11 अप्रैल, 1868 पत्र संख्या 568/1868*
9. *लेफ्टि. गवर्नर नार्थ-वेस्ट प्रोविन्स (फाईल ननं. 1, राजपूताना एजेन्सी सी.सी. ब्रांच, अजमेर द्वारा स्वीकृत मेमोरण्डम, 7 मई, 1870*
10. *जे.डी. लाटशू द्वारा कमीश्नर अजमेर-मेरवाड़ा को 18/5/1872 को लिखा पत्र, क्रमांक 144 राजपूताना एजेन्सी फाईल नं. 1*
11. *ढोढियाल, बी.एन., राजस्थान डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, अजमेर, राजस्थान सरकार, 1966, पृ. 495*
12. *सारडा, हरबिलास, अजमेर हिस्टोरिकल एण्ड डेस्केन्टिव फाईन आर्ट प्रिन्टिंग प्रेस, अजमेर, 1941, पृ. 266-67*
13. *द पुलिस ट्रेनिंग कॉलेज, अजमरे मेन्यूअल, भाग 3, नियम 41(5), अजमेर रेग्यूलेशन ऑफ पुलिस डिपार्टमेंट 1900, अजमेर, 1901, पृ. 24*
14. *सारडा, हरबिलास, पूर्वोक्त, पृ. 266*
15. *सेन्सस रिपोर्ट ऑफ अजमेर-मेरवाड़ा, तालिका 1950-51, पृ. 70-72*
16. *सारडा, हरबिलास, पूर्वोक्त, पृ. 268*
17. *अजमेर-मेरवाड़ा एण्ड रेजीडेण्ट फार राजपूताना द सेक्रेट ऑफ राजपूताना, इन्सपेक्टर ऑफ जनरल ऑफ पुलिस का पत्र नं. 3-14/44 दिनांक 04.07.1944 फाईल नं. ए/24-62, राजपूताना एजेन्सी क्राइम ब्रांच, अजमेर आर.एस.ए.बी.*
18. *अजमेर पुलिस मेन्यूअल, भाग 4, 1921, 1922, पृ. 42-43*

44 मेरवाड़ा बटालियन की स्थापना और उसका मेरों (रावत, मेरात) के जन-जीवन पर प्रभाव

जलालुद्दीन काठात

25 जून, 1818 को ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी सरकार और महाराज आलीजाह दौलतराज सिंधिया, ग्वालियर के मध्य संधि हुई जिसके अनुसार मेरवाड़ा का क्षेत्र अंग्रेजों को प्राप्त हुआ। 28 जुलाई, 1818 को मि. बिल्डर को अजमेर का प्रथम अधीक्षक नियुक्त किया गया। उसने मराठा सुबेदार बापू सिंधिया से कार्यभार ग्रहण किया। अजमेर पर अधिकार के बाद इनका ध्यान मेरवाड़ा में शांति स्थापना की ओर गया। ब्रिटिश सरकार द्वारा मेरवाड़ा पर आधिपत्य एवं नियंत्रण बनाये रखने के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप मेरों ने 1819 एवं 1821 ई. के मध्य ब्रिटिश सरकार, मेवाड़ व मारवाडत्र राज्यों के विरूद्ध विद्रोह कर दिया था।[1] अंतत अंग्रेजों ने उदयपुर एवं जोधपुर की संयुक्त सेनाओं के साथ मेरो पर आक्रमण कर दिया।[2] इस संयुक्त अभियान में बोरवा, अथूण, कोट-किराणा, बगडी, राजगढ़ आदि क्षेत्रों पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया। मेरों की पराजय से अंग्रेजों की सत्ता स्थापित हो गई।[3] सन् 1819 व 1820 ई. में मेरों के विद्रोह का दमन कर तथा मेवाड़ व मारवाड़ के राज्यों से समझौते पर तीन शक्तियों में विभाजित मेरवाड़ा क्षेत्र का एकीकरण कर, उसके सम्पूर्ण शासन प्रबन्ध और मेरों को नियंत्रण में रखने की जिम्मेदारी स्वीकार की साथ ही लूटमार समाप्त कर उन्हें शांतिपूर्वक बसाने के प्रयास किये। सन् 1822 ई. में यह निश्चय किया गया कि मेरों को स्वयं के सुधार का साधन बनाया जायें।[4] अत: अंग्रेज अधिकारियों ने उन्हें रोजगार देने एवं उनके शौर्य एवं साहस का उचित उपयोग करने के लिए उन्हें सेना में भर्ती किया जाये, यह निर्णय लिया। यह उनके धाड़ों (लूटपाट) को समाप्त कर उन्हें सभ्य बनाने की ओर महत्त्वपूर्ण कदम था।[5]

सर डेविड ने 6 नवम्बर, 1821 को मेरवाड़ा बटालियन बनाने के लिए एक प्रस्ताव भिजवाया। प्रस्ताव में उन्होंने स्पष्ट किया कि दु:स्साहसी व धाडो के पेशों में रह रहें मेरों उस माध्यम् से रोजगार देने के साथ-साथ उनकी सेवाओं एवं शौर्य का सही उपयोग भी किया जा सकेगा। यह प्रस्ताव उच्च प्रशासकों द्वारा 1822 ई. में स्वीकार कर लिया गया। 22 जून, 1822 ई. को गर्वनर जनरल ने मेरवाड़ा लोकल बटालियन बनाने की आज्ञा दे दी। केप्टिन हॉल को यह कार्य सौंपा गया।[6] आरंभ में मेरवाड़ा लोकल बटालियन में अमीर खां की बची हुई सेना को भी सम्मिलित कर लिया गया तथा 340 मेरों की भर्ती की गई।[7] इस टुकड़ी को पुरानी ब्यावर, जो अजमेर के दक्षिण-पश्चिम में 30 मील करीबन दूर था, के पास छावनी बनाकर रखा गया। प्रारम्भ में मेरों की भर्ती में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा लेकिन 100 मेरों, जिनकी आयु 50 से 64 वर्ष थी को 5/- रुपये ईनाम और दावत देकर प्रभावित कर भर्ती करने हेतु नियुक्त किया, लेकिन इससे भी अधिक कठिनाई भर्ती करने के बाद उन्हें रोकने में हुई। अनेक व्यक्ति कुछ समय की सेवा के बाद अपने-अपने गांवों को लौट गये, क्योंकि सेवा करना व आदेश मानना उनकी स्वतंत्रता की भावना के विपरित था। इस प्रकार मेर सिपाही तीन वर्ष की सेवा के बाद अपनी सेवामुक्ति प्राप्त करने लगे। इस समय तक वे एक बैलों की जोड़ खरीदन जितनी राशि बचा लेते थे और कृषि कार्यों में लग जाते थे।[8] बाद में धीरे-धीरे संख्या बढ़ने लगी। सन् 1823 में रजिमेंट का नाम 14वीं मेरवाडा स्थानीय बटालियन और तत्पश्चात् सन् 1843 ई. में मेरवाड़ा बटालियन के नाम से विभूषित किया गया, फिर सन् 1826 में नौवीं मेरवाड़ा स्थानीय बटालियन और तत्पश्चात् 1843 में मेरवाड़ा बटालियन के नाम से विभूषित किया गया।[9] सन् 1839 में मेरवाड़ा बटालियन मारवाड़ के डाकू ठाकुर चिम्मन सिंह के विरूद्ध कोट-किराणा, तहसील टॉटगढ़ गई। ठाकुर चिम्मन सिंह जो भागा हुआ था, कोट-किराणा में लूटपाट करता था। इस बटालियन के सैनिकों ने चिम्मन सिंह और उसके साथियों को मार गिराया लेकिन इस कार्यवाही में मेरवाड़ा बटालियन के भी 8 सिपाही मारे गये।[10] दूसरी बार मेरवाड़ा बटालियन की टुकड़ी ने डूंगर सिंह नामक मारवाड़ के बागी ठाकुर को गिरफ्तार किया। इस अवसर पर कर्नल डिक्सन, मेजर फोरेस्टर व ब्रिगेडियर रिचकी ने फौज की प्रशंसा की।[11]

वायसराय लार्ड मेयो ने इस बटालियन के स्वरूप में परिवर्तन करके इसे सैनिक कोर में पुनगर्ठित किया तथा सन् 1871 ई. में इसका मुख्यालय ब्यावर से बदलकर अजमेर कर दिया गया।[12] अंग्रेज शासकों द्वारा सन् 1878-79 ई. में बटालियन को सैनिक अभियान पर काबुल भेज दिया गया। वहाँ इस बटालियन ने अदम्ब साहस व शौर्य का प्रदर्शन किया। सन् 1891 ई. में अजमेर जिले के मेरों द्वारा किये गये अन्न विद्रोह को दबाने के लिये इस बटालियन का इस्तेमाल किया गया। सन् 1903 ई. में ब्रिटिश भारतीय सेनाओं के पुन: निर्धारण के समय इस सैनिक टुकड़ी का नाम बदलकर इसे 44वीं मेरवाड़ा पैदल सेना कहा जाने लगा।[13]

मेरवाड़ा बटालिन का स्थानीय लोगों पर प्रभाव

अंग्रेजों ने मेरों को मेरवाड़ा बटालियन में भर्ती कर एक अनुशासित सेना तैयार की थी। इन अनुशासित मेर सैनिकों पर अंग्रेज सरकार हर समय विश्वास कर सकती थी। बहुत ही कम समय में इन मेर टुकड़ियों को सैनिक तत्परता, चुस्ती और अन्य सैनिक नियमों के अनुरूप ढाल लिया गया। इस तरह के सैनिक अनुशासन ने मेरों को यथा सम जिम्मेदारी निभाना, स्वच्छता एवं आदेशों का पालन करना और सहज व्यवहार सिखाया तथा अधिकारियों के प्रति विश्वास की भावना उत्पन्न की। इस बटालियन ने मेरों को शांति व अनुशासन का अग्रदूत बना दिया। उनमें आवश्यक श्रम, संयम व शांति के प्रति लगाव बढ़ने लगा।[14] उनके व्यवहार के कारण अंग्रेज अफसर प्रभावित एवं प्रसन्न

हुए। उनके भत्तों व मासिक वेतन में वृद्धि हुई। अब प्रतिमास वेतन और पेंशन के रूप में उनकी आमदनी मेरों के घरों में आने लगी, जिससे उन्होंने खेती में भी काफी उन्नति की।[15] इसके अतिरिक्त, मेरों की मेहनत से स्थानीय आबादी में कुएँ खोदने व मेड़ बनाने आदि प्राथमिक कार्य सम्पन्न हो सके। इसके परिणामस्वरूप मेर समुदाय में शीघ्र ही परिवर्तन परिलक्षित होने लगे।[16] इस प्रकार मेरवाड़ा बटालियन ग्रामीणों को प्रगति की ओर ले जाने में काफी सहायक सिद्ध हुई।[17]

मेरवाड़ा बटालियन का विघटन

अंग्रेजों की योजनाओं से मेरवाड़ा के रावत, मेरात बटालियन में मिलकर काम कने लगे लेकिन समय के साथ धार्मिक कट्टरता के पनपने से उनके टुकड़े-टुकड़े हो गये।[18] सन् 1887 ई. को 03 रेजिमेंट जिन्हें बाद में 119वीं, 120वीं व 122वीं राजपूताना इन्फेन्ट्री के नाम से जाना जाने लगा। इनमें प्रत्येक में दो कम्पनी मेरों की भर्ती की जाने लगी। इन रेजिमेंटों के हिन्दू व मुसलमान सैनिकों से जब इनका सम्पर्क हुआ तो इनमें अलगाव की भावना का उदय होने लगा।[19] सन् 1903 तक मेरवाड़ा बटालियन में मेर और मेरातों के बीच में मतभेद नहीं हुआ, लेकिन बाद में वैमनस्य उत्पन्न हो गया। एक-दूसरे के हाथ का पानी न पीने व साथ-साथ खाना नहीं खाने से इनमें विरोध उत्पन्न होग गया। चीता व मेरातों में खतना, मुर्दे को गाड़ना, हलाल माँस खाना आदि रिवाज पुराने चले आ रहे थे। इससे दूसरे मुसलमानों ने इनको मुसलमान कहना शुरू कर दिया और चीता व मेरात अधिक से अधिक मुसलमानी रिवाजों को अपनाने लग गये और अपने को रावतों से अलग बताने लगे। इस प्रकार दोनों जातियों में अलगाव बढ़ गया। परिणामत: इनमें रोटी व बेटी का व्यवहार लगभग बंद हो गया।[20] इन सब कारणों से मेरवाड़ा बटालियन का संगठन टूटने लगा। आर. सी. ब्रामलो जिला पुलिस अधीक्षक को इस बारे में विस्तृत रिपोर्ट तैयार करने का कार्य सौंपा गया। उन्होंने इसका कारण बताते हुए कहा कि बम्बई रेजिमेंट की एक टुकड़ी कुछ समय के लिए इलाहाबाद भेजी गयी, जहाँ मेर-मेरातों का सम्पर्क ब्राह्मणों व मुल्लाओं से हुआ, इसी के साथ यह भी बताया गया कि रावतों की एक टुकड़ी इंग्लैण्ड भेजी गयी, तो उनके हिन्दू साथियों ने उनके मुसलमानों के साथ खाना खाने पर प्रताड़ना की। इसी प्रकार मुसलमानों को दाढ़ी रखने के लिये बाध्य किया।[21] सन् 1902 और 1903 में रावत, मेहरातों के जातिय सम्मेलनों के द्वारा आपसी रोटी-बेटी का व्यवहार बंद कर दिया। अंग्रेज सरकार का प्रारम्भ में मेरों पर पूर्ण विश्वास था, वह अब समाप्त हो गया। अन्त में मेरों की फोज में भर्ती बंद कर दी गई। जो मेर फौज में थे, उनकी धीरे-धीरे छंटनी कर दी गई। वेतन व पेंशन का स्रोत बंद हो जाने से मेरों को आर्थिक हानि हुई, जो मेरों की तरक्की हो रहीं थी वह 1903 में बंद सी हो गई। परिणामत् मेरों की सामाजिक अवनति आरंभ हुई। हालांकि छुटपुट भर्ती अभी हो रही थी लेकिन बड़ी मात्रा में भर्ती बंद होने से शिक्षा व धन की कमी होने लगी इस कारण कुछ लोग पुन: लूटमार का कार्य करने लगे।[22]

सन् 1878-79 ई. के अफगान युद्ध में प्रदर्शित वीरता एवं शौर्य से प्रसन्न होकर तत्कालीन कमाण्डर इन चीफ, भारत सरकार सर ओमोर क्रेग ने 44 अजमेर बटालियन को विक्टोरिया क्रॉस से नवाजा एवं सुबेदार मेजर गोपा एवं मदारी भिश्ती को ऑर्डर ऑफ इण्डियन मेरिट अवार्ड से नवाजा गया। 1902 ई. में 44 मेरवाड़ा बटालियन ने चायना युद्ध को बड़ी वीरता से जीता। सन् 1921 में उत्तरी एशिया के खिलाफ बॉलसेनिक आक्रमण में मेरवाड़ा बटालियन की एक कम्पनी ने भाग लिया एवं बहादुरी का प्रमाण दिया। सन् 1923 में हिन्दू-मुस्लिम दंगों के दौरान पुलिस कॉर्पस के रूप मेरवाड़ावासियों ने ले. कर्नल जे. सी. एम. हॉस्किन जो बाद में 10/4 बम्बई ग्रेनेडियर्स के कमाण्डर बनें थे, के नेतृत्व में शांति बहाली का कार्य बखूबी किया। पूरे देश में पुलिस के कार्यों के प्रशंसा हुई। सुबेदार अजीमा (बोरवा) को ऑर्डर ऑफ ब्रिटिश एम्पायर, हवलदार घीसा खाँ (गुंदा का बाला) को विक्टोरिया मेडल से नवाजा गया।

संदर्भ

1. *बी.के. शर्मा, राजस्थान में कृषक आन्दोलन -1996 पृ. 78-81*
2. *कर्नल जेम्स टॉड का बिल्डर को लिखा पत्र 18/06/1821, अजमेर म्युजियम*
3. *कर्नल एच. हॉल की रिपोर्ट, अजमेर म्युजियम*
4. *एच. आर. बुलवर्ट, मेडिको टोपोग्राफिकल अकाउण्ट ऑफ मेरवाड़ा रेजिमेंट 1905, पृ. 1*
5. *सी. सी वाटनसन, राजपूताना डिस्ट्रिक्टा गजेटियर्स, खण्ड-'ए' अजमेर-मेरवाड़ा, 1904*
6. *सी. सी. वाटसन, वही, पृ. 119, एच. आर. बुलवर्ट, वही - पृ. 01*
7. *शिवप्रसाद त्रिपाठी, मगरा मेरवाड़ा का इतिहास - 1914-79*
8. *सी. सी. वाटसन, वही, पृ. 119, केप्टिन एच. हॉल, वही, पृ. 32, 34*
9. *एच. आर. बुलवर्ट, वही, पृ. 1-3*
10. *शिवप्रसाद त्रिपाठी, मगरा-मेरवाड़ा का इतिहास, 1914, पृ. 19*
11. *नाथूलाल शर्मा, चीता-बरड वंश का इतिहास, 1971*
12. *एच.आर. बुलवर्ट, वही, पृ. 2, 3*
13. *एस.आर. बुलवर्ट, वही, पृ. 2, 3*
14. *सी. सी. वाटसन, वही, पृ. 5, 17*
15. *नाथूलाल शर्मा , वही, पृ. 18*
16. *केप्टिन एच. हॉल, वही, पृ. 33, 35*
17. *केप्टिन एच. हॉल, वही, पृ. 33, 35*
18. *नाथूलाल शर्मा, वही, पृ. 48*
19. *एच. आर. बुलवर्ट, वही, पृ. 36*
20. *नाथूलाल शर्मा, वही, पृ. 4, 49, एच. आर. बुलवर्ट, वही, पृ. 36*
21. *एच. आर. बुलवर्ट, वही, पृ. 36*
22. *नाथूलाल शर्मा, वही, पृ. 4, 50*

बीकानेर राज्य के महाराजा डूंगरसिंह के शासनकाल में सैन्य संगठन (1872-1887 ई.)

डॉ. मोहम्मद फारूक चौहान एवं डॉ. शारदा शर्मा

किसी राज्य की सुरक्षा व्यवस्था की जिम्मेदारी उसके सैन्य संगठन पर निर्भर करती है। सैन्य संगठन जितना अधिक सुदृढ़ होगा, राज्य उतना ही अधिक सुरक्षित होगा। बीकानेर राज्य में भी शनैः शनैः सैन्य संगठन मजबूत होता गया। राव बीकाजी द्वारा बीकानेर राज्य की स्थापना काल से ही राज्य की निजी फौज नहीं थी। जरूरत पड़ने पर जागीरदारों से सैनिक सहायता ले ली जाती थी। 1818 ई. में अंग्रेजों से संधि होने के बाद इस व्यवस्था में बदलाव जरूर हुआ लेकिन राज्य की निजी फौज न बन सकी। महाराजा डूंगरसिंह के शासनकाल से पहले के शासकों ने कर्जे ले रखे थे जिसका चुकारा करना विकट समस्या थी। महाराजा सरदारसिंह के काल में कर्ज बहुत बढ़ गया था। उनकी 1872 ई. में मृत्यु के बाद सेना की एक बड़ी व्यापारिक आपूर्ति को कम किया। जिससे एक वर्ष में उनका व्यय 1 लाख रुपए से कम हो गया था लेकिन यह राज्य और गढ़ में नियुक्त सवार व पैदल सैनिकों के अतिरिक्त था, जिसका विवरण निम्न प्रकार है-

मद	संख्या	व्यय प्रतिमाह (रु.)
घुड़सवार	228	4440
पैदल	593	3448
पेंशन व अन्य	46	466
	----	----
योग	867	8348
	----	----

विभिन्न आकार की 30 या 40 बंदूकें थीं। राज्य में अतिरिक्त घुड़सवार व पैदल सैनिकों की संख्या 1060 थी।[1]

वेतन

पैदल सैनिकों को 2 से 5 रु. प्रति माह वेतन मिलता था। राज्य के विभाग (जिलों) में तैनात घुड़सवारों को 'सिलहपोश' कहा जाता था। उन्हें प्रत्येक को 2 रु. प्रतिमाह और भोजन (राशन) दिया जाता था। अधिकारी वर्ग जिनकी संख्या 300 थी उनमें पड़िहार, राजपूत जाति जो बीका के साथ उनके संघर्ष में साथ थे। उनका वेतन महाराजा के विवेक पर निर्भर था। अर्थात् 'थारो पाट, म्हारो ठाठ' (Dignity Yours, Service Ours) आदर्श वाक्य (motto) था।[2]

इनके बाद अन्य घुड़सवार राठौड़ थे। आधी पैदल सेना में विदेशी हिन्दुस्तानी थे जिन्हें 'परदेसी' कहा जाता था। शेष कायमखानी व सैय्यद थे। आग्नेयास्त्र व तोप आदि चलाने में सैनिकों का अभ्यास कम था लेकिन वे बंदूक चला सकते थे। जागीरदारों की कोई सेना नहीं थी। वे ऐसी सेवा के लिए निर्धारित रकम या वार्षिक रकम दे दिया करते थे।[3] इसलिए महाराजा डूंगरसिंह ने खर्चों और सैनिकों की संख्या में कटौती की। विवरण निम्न प्रकार से है -

सारणी 1 : 1872-73 ई. में बीकानेर फौज की स्थिति व की गई कमी का विवरण[4]

क्र.सं.	नाम बेड़ा	पूर्व संख्या	कमी की	शेष रही
	प्यादगान (पैदल सेना)			
1.	डेरा सरहद का पूरबिया	207	6	201
2.	फौज किला बीकानेर	125	-	125
3.	डेरा गोलन्दाजान	167	77	90
4.	पलटन तिलंगान[5]	110	-	110
5.	डेरा राम नारायण	27	-	27
6.	डेरा झाकरू खान	57	5	52
7.	फौज झाहर बीकानेर	82	2	80
8.	पहरा दफ्तर	25	-	25
9.	डेरा कुमैदान गौर सहाय	12	11	01
10.	डेरा अकबर सिंह	13	13	-
11.	डेरा जरीफ खान	9	9	-
12.	डेरा करीब बख्झा	17	17	-
13.	डेरा अफजल खान	23	23	-
	योग प्यादगान (पैदल सेना)	874	163	711
	सवारान			
14.	इस्लाम पुरिया	69	2	67
15.	रिसाला साहबराम	161	-	161
16.	रिसाला रावतसिंह	180	52	128
17.	डेरा अब्दुल अजीज	29	29	-
18.	डेरा रामसिंह	9	9	-
19.	डेरा लालसिंह	7	7	-

	योग सवारान	455	99	356
	अन्य			
20.	कर्मचारी	32	9	23
21.	पेंशनदार	23	–	23
	योग अन्य	55	9	46
	सर्व योग	1384	271	1113

सारणी 2 : 1874–75 ई. से 1876–77 ई. तक बीकानेर फौज की संख्या[6]

वर्ष	सवारान			प्यादगान (पैदल सेना)							कुल
	बारगीर[7]	खुद अस्पा[8]	जागीर	योग	गोलंदाज	प्रशिक्षित	अप्रशिक्षित	पुलिस	अन्य	योग	योग
1874–75 ई.	602	213	29	844	139	109	1026	107	287	1668	2512
1875–76 ई.	541	301	23	865	126	135	813	131	600	1805	2670
1876–77 ई.	545	327	31	903	177	201	855	151	619	2003	2906

निजी फौज की आवश्यकता को महसूस करते हुए महाराजा डूंगरसिंह ने 1879 ई. में फौज तैयार करने की जिम्मेदारी फौजदार बिलिन्द खां को सौंपी।[9] उन्होंने फौज में 5 कम्पनियों के 596 सैनिकों और दो कम्पनियों के 131 गोलन्दाजों से एक फौज का निर्माण किया।[10] सैनिकों के लिए बन्दूकें जयपुर से मंगवाई गई।[11] 1884 ई. में कविराज भैरूंदान को फौज का अफसर नियुक्त किया।[12] 1885 ई. में ऋातुर सवार (ऊँट वाहिनी) सेना की एक कम्पनी तैयार करना प्रारम्भ किया।[13] इस प्रकार महाराजा डूंगरसिंह ने अपनी फौज की स्थिति मजबूत की।

जब फौज किसी स्थान के लिए रवाना होती तो उनकी माँग की पूर्ति की जाती थी। दारू व गोलियों की व्यवस्था बाबत आदेश निकलते थे[14] जिसकी जानकारी कौंसिल रे हुकमा री बही, नं. 33, बीकानेर, वि.सं. 1937/1880 ई., पृ. 144ब, पैरा क्रम सं. 817, रा.रा.अ.बी. से प्राप्त होती है –

''तोपषांने रा हुवालदार जोग्य तीथा दारू सेर 2 सीसे री गोली 55 ईये भांत देजो – दारू सेर 1 गोली 25 षुवास मघजी उदैपुर जासी तै वासता देजो।

दारू सेर 1 सीसे री गोली 30 चुहाण हरीसींघ रे डेरे रा पोरा 1 मघजी सागै जासी उदैपुर ता ने दे जो"

द. म्हाराव हरीसींघ ह. मघजी षुवास

अगर बंदूकें देने का हुक्म होता तो उसकी व्यवस्था की जाती थी।[15] जिसकी जानकारी हमें कौंसिल रे हुकमा री बही, नं. 33, बीकानेर, वि.सं. 1937/1880 ई., पृ. 134अ, पैरा क्रम सं. 763, रा.रा.अ.बी. से प्राप्त होती है –

''तोपषांने रा हुवालदार जोग्य तीथा बंदुकां 4 संगीन तोसदान उधां चुंहांण नाहल सींघ ने कंपनी रे सुपायां वासता देजो"

द. अहीर पुरण द. म्हाराव हरीसींघ

हा. नीहाल सींघ

फौज के साथ जो हाथी वगैरह जाते थे, उनके लिए घास आदि की व्यवस्था भी की जाती थी।[16] जिसकी जानकारी हमें कौंसिल रे हुकमा री बही, नं. 3, बीकानेर, वि. सं. 1931/1874 ई., पृ. 10ब, पैरा क्रम सं. 109, रा.रा.अ.बी. से प्राप्त होती है– ''फौजदार लिछमण सींघ जी जोग्य तीथा भाटी हुकम सींघ जी उदैपुर जासी तां रे घास री हाथी 2 रा दिन 15 रो अर हाथी 1 रा दिन 40 रो बंदोबस्त कर देजो वैसाख वद 2"

युद्ध होने की सम्भावना होने पर सैनिकों को तैयार रहने के लिए कहा जाता था।[17] जिसकी जानकारी हमें कौंसिल रे हुकमा री बही, नं. 3, बीकानेर, वि.सं. 1931/1874 ई., पृ. 5ब, पैरा क्रम सं. 60, रा.रा.अ.बी. से प्राप्त होती है–''साहांणी हमीर सींघ जोग्य तीथा थारे रसाले रा असवार 15 वा नगारो 1, नीसांण 1, सुधा सरब घोड़ा 17 फौजदार करमजी सागै उदैपुर जावण बासता तीयार कर रा। जो संवत 1931 चैत सुद 3"

फौज में समय-समय पर रंगरूटों (नए सिपाहियों) की भर्ती की जाती थी। पोलिटिकल एजेण्ट राजा को इस बाबत लिखते थे। शासक सभी परगनों में इस बाबत हाकमों को इत्तिला करने के लिए कहता था।[18] जिसकी जानकारी हमें कौंसिल रे हुकमा री बही, नं. 46, बीकानेर, वि.सं. 1938/1881 ई., पृ. 301अब, पैरा क्रम सं. 1163 से प्राप्त होती है – ''श्री हनुमानगढ़ रा हाकमा जोग्य तीथा मेजर राबट साहब बाहादुर पुलटीकल अजंट री कैफीयत आइी तै मे लीखा कै कगार पलटण वाली लंबर 17 रो वासते भरती करणे रंगरोट राजसथांने रे रवाना हुवो छै सु कोइी गारट आदमी भरती करण वासता श्री बीकानेर रे इीलाके में आवे तो उुवे सु कीस तरे री मुजांमत न हुइी चाहीजे इीये तरे लीषो छै सुश्री हनुमानगढ़ रे परगने में आवे तो थे परगने सारे मे केवाय दे जो के इीयां सु केइी तरे मुजांमत न हुवे तेरी थे सारे परगने में इीतला कर रपोट कर देजो" द.2 द.3

/भादरा	/श्री सीरदारसेहेर	/श्री रतनगढ़
/राजगढ़	/श्री लालगढ़	/नोहोर
/श्रीडुंगरगढ़	/रीणी	/श्री अनोपगढ़
/श्री सुजांणगढ़	/चुरू	/श्री सुरतगढ़
/टीबी	/	/सीरदारगढ़

सरब नी 14 अेक नकल रा दा 2 दा 3

/हा. चपरासी जलीयो

समय-समय पर सेना की गिनती व निरीक्षण किया जाता था। उसमें सैनिकों का पूर्ण रिकार्ड रखा जाता था जैसे सैनिक का नाम, पिता का नाम, उम्र, कितने साल नौकरी की आदि। साहब बहादुर पूरी रिपोर्ट मय सूची शपथ के साथ मंगा लिया करते थे। आधे सैनिकों को पहले भेजा जाता था। उनके वापिस आ जाने पर शेष आधे सैनिकों को भेजा जाता था।[19] जिसकी सूचना हमें कौंसिल रे हुकमा री बही, नं. 53, बीकानेर, वि. सं. 1941/1884 ई., पृ. 8ब, रा.रा.अ.बी. से प्राप्त होती है-

''चुरू रा हाकमां जोग्य तीथां चुरू में सुपाय रा आदमीं वा गोलादार वा असवार छै तीकां मांय सु आधा सुपाय रा आदमी वा आधा गोलादार आधा असवार अठे साहब बहादुर हाजरी लेसी तै वासता तुरत मेल देजो अर अेक फीरसत ईयां री हाजरी री ते मे आदमी रा नांव वा उुवै रै बाप रो नांव व उुमर वा जीतां बरसां रो नोकर हुवे तैरा सपत मीती री ईयां रे सागे मेल देजो अर ईयां री हाजरी अठे हुयर पुठा थारे कनै आय जावे तां रा लारे सुपाइी असवार वगैरे रै वै तीको ने फेर अठै तूरत मेल दे जो ईयै मे देर मतां करजो उप्र मुजब

राजगढ़ सुजांणगढ़ भादरा रीणी हनुमानगढ़, नोहर, टीबी,

1 1 1 1 1 1 1

श्रीरतनगढ़ श्रीसीरदारसेहेर श्रीसुरतगढ़ श्रीडुंगरगढ़''

1 1 1 1

अंग्रेजों द्वारा सहायता माँगने पर ऊँट, सवार सहित भेजे। समय पर सहायता पहुँचाने की दञ्ञढ़ इच्छाशक्ति ने महाराजा डूंगरसिंह की इज्जत अंग्रेज शासन ने की और उनको महत्त्व दिया। उनके द्वारा समय पर किए गए कार्य की सराहना की।

इस प्रकार हम कम सकते हैं कि महाराजा डूंगरसिंह के शासनकाल में सैनिकों का रख-रखाव चुस्त-दुरस्त था। अंग्रेजी सैनिक टुकड़ियों के अनुशासन व अभ्यास को देखकर उन्होंने भी अपनी सेना को प्रशिक्षित करवाया। उन्हीं की तरह फौज में अनुशासन बनाए रखने के लिए कठोर कदम उठाए व सख्त तथा जल्द निर्णय ले सुधारात्मक उपाय किए।

संदर्भ

1. *पाउलेट, पी.डब्ल्यू., गजेटियर ऑफ बीकानेर स्टेट, गवर्नमेंट प्रेस, बीकानेर, 1932 ई., पृ. 116*
2. *पाउलेट, पी.डब्ल्यू., गजेटियर ऑफ बीकानेर स्टेट, गवर्नमेंट प्रेस, बीकानेर, 1932 ई., पृ. 116-117*
3. *वही, पृ. 117*
4. *मुंशी ज्वाला सहाय, वकाए राजपूताना (उर्दू), जिल्द-3, आगरा, 1879ई., पृ.740-41*
5. *तिलंगा से तिलंगान शब्द बना है जो तिलंगा का बहुवचन है। तिलंगा से तात्पर्य फौज का बावर्दी (वर्दी सहित) सिपाही। अंग्रेजों ने जो पहली बावर्दी फौज भर्ती की थी मुल्क तिलंगाना में की थी। इसलिए सिपाहियों का ये नाम हुआ (डिक्शनरी-फीरोजुल लुगात (उर्दू)-मौलवी फिरोजुद्दीन, प्रकाश जे.एस. संतसिंह एण्ड सन्स, चूड़ियोंवालान, दिल्ली-6, बीसवां संस्करण, 1976 ई., पृ. 299)*
6. *मुंशी ज्वाला सहाय, वकाए राजपूताना (उर्दू), जिल्द-3, आगरा, 1879 ई., पृ. 742*
7. *बारगीर - वे सैनिक होते थे, जिन्हें लड़ने के लिए घोड़ा व शस्त्र राज्य की तरफ से मिलते थे। घोड़ों को दाना व घास सरकार से मिलता था।*
8. *खुद अस्पा - वे सैनिक जिनके अपने घोड़े होते थे। इनको भी राज की तरफ से दाना व घास मिलता था।*
9. *कौंसिल रे हुकमा री बही, नं. 30, वि.सं. 1934-36/1877-79 ई., पृ. 210अ, 211अब, रा.रा.अ.बी.*
10. *कौंसिल रे हुकमा री बही, नं. 30, वि.सं. 1934-36/1877-79 ई., पृ. 19ब, 20अ, रा.रा.अ.बी.*
11. *कौंसिल रे हुकमा री बही, नं. 30, वि.सं. 1934-36/1877-79 ई., पृ. 210अ, 211अब, रा.रा.अ.बी.*
12. *राव गोपालजी संग्रह (निजी संग्रह), बस्ता नं. 1, फाइल 3/सी, दिसम्बर, 1884 ई., रा.रा.अ.बी.*
13. *वर्मा, सीमा : महाराजा डूंगरसिंह : व्यक्तित्व, कृतित्व और बीकानेर राज्य के आधुनिकीकरण में उनका योगदान (1872-1887 ई.), अप्रकाशित पीएच.डी. शोध प्रबंध, महाराजा गंगासिंह विश्वविद्यालय, बीकानेर, 2010 ई., पृ. 133*
14. *कौंसिल रे हुकमा री बही, नं. 33, बीकानेर, वि.सं. 1937/1880 ई., पृ. 144ब, पैरा क्रम सं. 817, रा.रा.अ.बी.*
15. *कौंसिल रे हुकमा री बही, नं. 33, बीकानेर, वि.सं. 1937/1880 ई., पृ. 134अ, पैरा क्रम सं. 763, रा.रा.अ.बी.*
16. *कौंसिल रे हुकमा री बही, नं. 3, बीकानेर, वि.सं. 1931/1874 ई., पृ. 10ब,पैरा क्रम सं. 109, रा.रा.अ.बी.*
17. *कौंसिल रे हुकमा री बही, नं. 3, बीकानेर, वि.सं. 1931/1874 ई., पृ. 5ब, पैरा क्रम सं. 60, रा.रा.अ.बी.*
18. *कौंसिल रे हुकमा री बही, नं. 46, बीकानेर, वि.सं. 1938/1881 ई., पृ. 301अब, पैरा क्रम सं. 1163*
19. *कौंसिल रे हुकमा री बही, नं. 53, बीकानेर, वि.सं. 1941/1884 ई., पृ. 8ब, रा.रा.अ.बी.*

हाड़ौती क्षेत्र के सामाजिक जागरण में 'कालाबादल' का योगदान

डॉ. प्रणव देव

19-20वीं शताब्दी का सामाजिक-सांस्कृतिक जागरण समाजीकरण की वह विशिष्ट प्रक्रिया थी जिसके माध्यम से मानवतावाद पर आधारित नवीन जीवन मूल्यों की स्थापना हुई। इस विशिष्ट प्रक्रिया के प्रादुर्भाव के सूत्र यूरोप के इतिहास के उस चिन्तन और साहित्य में मिलते हैं जिसमें नवजागरण को एक सांस्कृतिक, ऐतिहासिक अवधारणा के रूप में परिभाषित किया गया है। यह सामाजिक-सांस्कृतिक जागरण गुणात्मक रूप से मध्यकाल से भिन्न है। इस जागरण के द्वारा मानवमात्र की समानता भ्रातत्व की भावना ने समाज में नये मानदण्ड स्थापित करने का प्रयास किया। जब आधुनिकीकृत समाज सामन्तवादी समाज के मानदण्डों एवं मूल्यों को ध्वस्त कर रहा था तथापि उनके सामाजिक मूल्यों एवं व्यवस्थाओं को कुरीतियों के रूप में परिभाषित कर उनके उन्मूलन की प्रक्रिया को, जिस उमंग से पूरा कर रहा था तब उस उमंग को सामाजिक जागरण का नाम दिया गया। यह मूलत: सामन्तवादी व्यवस्था विरोधी जागरण था। इसकी तीन प्रमुख विशेषताओं की ओर विद्वानों ने संकेत किया है : इसका धर्मनिरपेक्ष स्वरूप, मानवतावादी विश्वदृष्टि तथा प्राचीन संस्कृति पर इसकी निर्भरता। सामाजिक जागरण में समाज में व्याप्त कुरीतियों एवं बुराईयों के खिलाफ हम न केवल आवाज उठाते हैं अपितु सामाजिक कुरीतियों के खिलाफ जागृत व्यक्ति अन्तिम सांस तक लड़ता है, जबकि सांस्कृतिक जागरण में हमारी चेतना स्पन्दित होती है, और एक चेतस मन के साथ जीवन की समस्त गतिविधियों को हम देखते हैं। हाड़ौती क्षेत्र के सामाजिक जागरण में अनेक सुधारको में से श्री भैरव लाल कालाबादल का नाम अल्पज्ञात है। उनके जन्म शताब्दी वर्ष में हाड़ौती क्षेत्र के सामाजिक जागरण में उनकी भूमिका के मूल्यांकन का प्रयास करना समीचीन प्रतीत हो रहा है। प्रस्तुत शोधपत्र में हाड़ौती क्षेत्र के स्वतन्त्रता सेनानी, साहित्यकार, पत्रकार श्री भैरव लाल कालाबादल के सामाजिक जागरण के योगदान को रेखांकित किया जा रहा है।

राजस्थान का हाड़ौती क्षेत्र मध्यकाल से अपनी विशिष्ट सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक पहचान रखता है। हाड़ा राजपूतों द्वारा शासित क्षेत्र हाड़ौती क्षेत्र कहलाया। वर्तमान में इस क्षेत्र में मुख्यत: कोटा, झालावाड़, बाराँ एवं बून्दी जिले शामिल किए जा सकते है। इस क्षेत्र में स्वतन्त्रता संघर्ष सामन्तवादी सामाजिक व्यवस्था के प्रतिरोध के रूप में मुखरित होकर सामाजिक जागरण का रूप लेता गया।

भैरव लाल 'कालाबादल' का जन्म 4 सितम्बर 1918 में ग्राम काकोड़ीखेड़ी सारथल जागीर, छीपाबड़ौद जिला बाराँ में मीणा परिवार में हुआ, जबकि आपका पैतृक गाँव तूमड़ा तहसील छीपाबड़ौद जिला बाराँ था, पिता श्री कालूराम मीणा एवं माता श्रीमती धन्नी बाई की आर्थिक स्थिति बहुत कमजोर थी। इनकी कक्षा पाँच तक की शिक्षा खानपुर (वर्तमान जिला झालावाड़, तत्कालीन कोटा रियासत) में हुई। उसके बाद आठवीं तक की शिक्षा बाराँ में हुई। स्वाभिमानी व जुझारू स्वभाव के भैरव लाल बचपन से ही विचारशील एवं अध्ययन के प्रति रुचि रखने वाले थे। सन् 1936 में प्रजामण्डल की सदस्यता स्वीकार करने के बाद ही मास्टर बद्री प्रसाद के सानिध्य में शिक्षा प्राप्त करते-करते उनका परिचय प्रजामण्डल के प्रचार पर निकले कोटा राज्य प्रजामण्डल में मंत्री श्री तनसुखलाल जी मित्तल से हुआ, उन्हीं से उन्होंने स्वतन्त्रता का मंत्र सीखा। तरुणाई में आजादी की डगर पर चलते-चलते उन्हें पं. अभिन्नहरि एवं श्री मोतीलाल जी जैन जैसे हमराही मिल गये। प्रजामण्डल के कार्यों में व्यस्त रहने के कारण उन्होंने सरकारी नौकरी में जाने का विचार त्याग दिया।[1] आजादी के लिए संघर्षरत रहते हुए वे सन् 1945 में रामनवमी के दिन ज्ञानवतीजी के साथ विवाह बन्धन में बंध गए।

प्रजामण्डल के सक्रिय सदस्य के रूप में कार्य करते हुए कालाबादल की मुलाकात बिजौलिया आन्दोलन के प्रणेता श्री विजयसिंह पथिक से हुई, और उनका सानिध्य प्राप्त हुआ, यही वह समय था जब उन्हें पं. नयनूराम जी शर्मा का भी आशीर्वाद प्राप्त हो रहा था। उन्होंने पं. नयनूराम शर्मा एवं हरिभाई किंकर आदि के साथ गाँव-गाँव घूम कर प्रजामण्डल के कार्यो को गति दी एवं प्रजामण्डल की शाखायें खोली। लोक बोली में स्वरचित गीतों के माध्यम से चेतना प्राप्ति की उत्कृष्ट भावना जागृत की। दमन एवं त्रास के सामन्ती माहौल में पथिक जी के सम्पादन में उनका 'आजादी की लहर' नामक गीत संकलन प्रकाशित हुआ। सन् 1942 में उन्होंने भारत छोड़ो आन्दोलन में भाग लिया, जिसके कारण ब्रिटिश सरकार ने उनके गिरफ्तारी के आदेश निकाल दिये, गिरफ्तारी से बचने के लिए वे भैंसरोड़गढ़ में अज्ञातवास में रहे। सन् 1946 ई. में उदयपुर में आयोजित देशीराज्य लोक परिषद के सम्मेलन में पण्डित नेहरू के समक्ष जब भैरव लाल द्वारा एक जागरण गीत गाया गया- 'कालाबादल रे'

काला बादल रे अब तो बरसादे बलती आग।
बादल राजा कान बिना रे, सुणे न म्हांकी बात।
थारा मन की तू करे, जद चाले वांका हाथ।।
कसाई लोग खींचता रहे, मरी गाय की खाल।
खींचे हाकम हत्यारा, ये करसाणां की खाल।।
माल खावे चोरड़ा रे, खावे करज खलाण।
कच्चेड़ियां में हाकम खावे, भूखा कंथ को प्राण।।
पेट बांध खेती करां रे, सगळा का तकार।

घर में म्हांके ऊदर खेले, भरां जगत भंडार।।
गड़ा पड़े रोली सड़े रे, उल्टो लेले दंड।
संड मुसंडा पापी हाकिम खावे म्हांको पंड।।
कड़ता का पड़ता नहीं रे, हड़क्या खुड़ खुड़ खाये।
हाथ जोड़कर गाल्यां खावां, तो भी इज्जत जाये।।
छोरा छोरी दूध बिना रे, चूड़ बिना घर नार।
नाज नहीं छे, लूण नहीं छे, नहीं तेल की धार।।
धांसी चाले डग गम होल, बेगी आ गई हार।
भरी जवानी बीच में ही, म्हारो सूख गयो भरतार।।
फाटी-टूटी सेपटयां रे, लीरक लीरा पाग।
फटी धोवती फटी अंगरखी, फूट्या म्हांका भाग।।
फाटो-टूटो लूगड़ो रे, लहंगो बिना सज्याब।
थेगला पे थेगला देवाँ, तो भी दीखे आब।।[2]

इस गीत पर पण्डित जी ने भैरव लाल को धन्यवाद देते हुए उनका उपनामकरण 'कालाबादल' कर दिया। इसी दिन से इन्हें कालाबादल के नाम से जाना जाने लगा। आप राजस्थान की प्रथम विधानसभा सन् 1952 में तथा 1957-67 और 1977 में राजस्थान विधानसभा के सदस्य रहे। सन् 1978 से 1980 जनता पार्टी सरकार में आयुर्वेद राज्यमंत्री रहे। सन् 1967 से 1976 तक राजनीति से दूर रहकर आप समर्पण भाव से सामाजिक जागरण का कार्य करते रहे। इस दौरान आपने 'मीणा-संसार' पत्रिका का सम्पादन किया। आपने जीवन पर्यन्त हाड़ौती सहित पूरे राजस्थान में सामाजिक संगठनों के विभिन्न महत्वपूर्ण पदों पर रहकर जनकल्याण और सामाजिक जागरण के बहुआयामी प्रेरणादायक कार्यो को किया। एक सरस लोकगीतकार के रूप में आपकी रचनाओं में सामाजिक जागरण की भावना कूट-कूटकर भरी है। चेतो रे अब तो मर्दाओं, बोट की कीमत, देश की भलाई करसा काँधे, हलधर प्यारा देश, जन सेवा, देखो रे लोगों, मानवता देती धिक्कार, कौन सुनेगा गीत हमारे, भारत में फिर गई राम दुहाई, विजय होगी, उठो किसानो, उठो उठो, दारू मत पिवो ढोला, पालो पाड़ो मत भगवान, ना समझ रहेगी जब तक यह घर वालियाँ, बनी तू सीख हिये धर जै, माण्ड, भंवर पर नारी मत ताको, त्यागी तो भोगी बणग्या रे, धनवानों की दुनियाँ, प्रजा पर जुल्म, कलम कसाई, जागीरी जुल्म रसिया, कलम कसाई देश के दुश्मन जैसे गीतों में अपने समय एवं समाज की चिन्ता लगातार 'कालाबादल' करते हैं। वे अपने सामाजिक जागरण में जहाँ एक ओर राजनीतिक चेतना, सामन्तवादी सामाजिक व्यवस्था का विरोध करते है वहीं दलित वर्ग में नशे, अस्वच्छता आदि को त्यागने का भी संदेश देते हैं। 'कालाबादल' के सामाजिक जागरण को दो भागों में बाँटकर समझ सकते हैं। पहले भाग में आजादी से पहले की समस्याएँ और 'कालाबादल' की चिन्ताएँ दिखाई पड़ती है तो आजादी के बाद भ्रष्टाचार

नेताओं के बदलते स्वभाव आदि पर विचार किया गया है। आजादी से पहले वे सामन्तवादी सामाजिक संरचना में गरीब किसानों की चिन्ता करते हुए उन्हें जाग्रत करते है-सन् 1939 में जागीरी जुल्म रसिया में जुल्म की इंतहा देखी है-

जागीरी में जीबा सूँ तो भलो कुआ में पड़बो।
जागीरी का गाँव सूँ तो भलो नरक में सड़बो।।[3]

सन् 1941 ई. में ढोला! जा कीज्यो नेहरू सूं गीत में किसानों की मालीहालत इस प्रकार बताई-

बैल बिक गया नाज बिक गयो, ओर बिक्यो घर बार।
छोरा बिकग्या, छोरियां बिकगी, अब कांई बेचूं नार।।[4]

सन् 1945 में कलम कसाई देश के दुश्मन नामक गीत में वे लिखते हैं-

राजा के महलां में बिजली जग-गम करती है।
डामर की सड़क्यां पर मोटर चलती किसकी है।।
वकील हाकिम और सेठ किसका धन खाते है।
किसके बल से जहाज हवाई ऊपर उड़ते है।।
शहरों के लोगों के दुख की राजा सुनते है।
शक के दुख की कौन सुने सौतेली माँ के है।।[5]

यद्यपि कलम कसाई नाम से सन् 1939 ई. में लिखे एक अन्य गीत में भी वे गाँवों की खेती करने वाली आम जनता का दुख दर्द व्यक्त दूसरी तर्ज पर एवं दूसरे बोलो में पहले ही कर चुके थे।

प्रजा पर जुल्म नामक कविता में 1946 में कालाबादल लिखते है-

लाग बाग बेगार करावे दाणो खूब दलावे।
करे कलेवो, कँवर जी तो म्हां पर लाग लगावे।।
नाई धोबी कुम्हार खाती, कहार भी दुख पावे।
हुक्म अदा जो नहीं हुआ तो जूतां सूं पिटवावे।।
दूध दही घी करसाणा से मुफ्त में मंगवावे।
गाजर, कांदा, बेंगण पालक चूट चांट ले जावे।।[6]

सन् 1952 में कालाबादल बोट की कीमत और राजनेताओं के झूठे वादों से बचने के लिए सामाजिक जागरण इस प्रकार करते है-

गाँधीजी की मंशा छी, यहां करसो बणे प्रधान।
जींके नीचे नेहरू बैठे, करे देश को काम।।
भोली-भाळी माछली ने, यह बगला भगत फंसाई।
करसाणा का बोट मांग बा, बहरूप्या बण आई।।
शहरी नेता मीठा ठग छै, छल सूं कर ले वार।
यां परदेशी पंच्छयां सूं, सब रीज्यो होशियार।।[7]

आजादी के बाद तेजी से बदलते परिदृश्य में सन् 1953 में कालाबादल त्यागी तो भोगी बणग्या रे, में राजनीति में आई गुटबन्दी भ्रष्टाचार पर लिखते है-

त्यागी तो भोगी बणग्या रे,
करसाणा की धूल उड़ाती मोटर जावे रे।।
धनवान की नाड़ काटे, करसाणा को कंठ।
मजदूरों को मांस लूंचे, बण्या फिरे लफटंट।।
गाँधी का नांव सूँ रे भली मचाई लूट।
खूब लड़ावे घणा लड़े छे, गुटबंदी में फुट।।[8]

सन् 1955 में सामाजिक बुराईयों के प्रति जाग्रत करते हुए लिखते हैं-

चेतो रे अब तो मर्दाओ रे, आई आजादी आंख्या खोल दो।।
वकीलां की फूँक सूँ रे हां रे, मर्दा घर-घर लागी आग।
बळै गाँवड़ा बळै शहर भी बळै देश का भाग।।
छत्री डूब्या शराब मैं रे, हां रे मर्दा बामण बण्या डाकी।
साहूकार तो चोर बण गया, धर्म बचे क्यों बाकी। ।
देख दशा निज देश की रे, हां रे मर्दा पलटो आपणी चाल।
नहीं चेतो तो दु:ख पाओगा, बण्यां रहो कंगाल।।[9]
साँचा नेता त्याग का रे, सत की बोले बात।
नकली नेता लीद कर छै, मूंडा सूं दिन-रात।।

\+ + +

कांई सूता छो नींद में रे, कुत्ता खावै चार।
पटवारी, कानूगो, नाज़म, चौथो थाणादार।।

\+ + +

करसां थांका अन्नदाता छै, क्यों लाग्या धमकाबा ने।
जो थां यां सूं बेर करो तो, मिले न टुकड़ो खाबा ने।।

\+ + +

भारत के वीरों, जनहित बात विचारो।
दुखिया जनता कष्ट पा रही, उसकी ओर निहारो।।
आज़ादी घर लाने में, लाखों ने प्राण गँवाया है,
चन्द्रशेखर-भगत सिंह ने फाँसी पर प्राण चढ़ाया है।
बापू ने भी गोलियाँ खाई, तुमने उनको बिसराया है,
देश-प्रेम की छोड़ भावना, भोग से नेह लगाया है।
शहीदों की कठिन तपस्या 'बादल' मत बिसराओ।।[10]

हाड़ौती के इस अनूठे लोक कवि ने कविताओं को सामाजिक जागरण के लिए अपनी ताकत बनाया गाँव-गाँव जाकर अपने गीतों के माध्मय से लोगों के मन में न

केवल आजादी की चाह पैदा की अपितु उनका दुख दर्द भी बांटा। आजादी के पूर्व हमारे सेनानियों ने जो सपने देखे वो किस तरह तार-तार हुए यह कालाबादल जी ने 'हम रास्ते से भटक गये है' आलेख लिखकर व्यक्त किया। वे अपने संस्मरणों में तीन गीत संग्रहों के प्रकाशन की चर्चा करते है- गाँवों की पुकार, आजादी की लहर और सामाजिक सुधार इनमें से आजादी की लहर पुस्तक को अंग्रेज सरकार द्वारा प्रतिबन्धित भी किया गया।[11]

समाजसेवक के रूप में आपने छुआछूत, दलित तिरस्कार, पर्दाप्रथा मृत्यु भोज आदि के बारे में जाग्रति पैदा कर हाड़ौती की उल्लेखनीय सेवा करते हुए आम जनता के बीच रहने वाले सहज किसान, पिछड़ी जातियों के पुरोधा, जनकवि और स्वतन्त्रता सेनानी कालाबादल आजादी की 50 वीं वर्षगांठ न देख सके और 20 अप्रेल 1997 को इनका देवलोक गमन हो गया। वे दलित वर्ग के उत्थान एवं विकास के लिए कृत संकल्प थे। अत: राजतन्त्र में भी उनकी हरिजन उद्धार एवं प्रजामण्डल के प्रचार कार्यक्रमों में भागीदारी को सामाजिक जागरण के रूप में रेखांकित किया जा सकता है। वे अपने व्याख्यानों में सामाजिक कुरीतियों के निराकरण के लिए अनेक तर्क देते हुए इनकी निन्दा करते थे।

कालाबादल ने अपने जीवन काल में हाड़ौती क्षेत्र के साथ-साथ सम्पूर्ण उत्तर-भारत के जनजीवन को आलोकित कर पाथेय दिया। तत्कालीन राजपूताना के समय एवं समाज को स्वाधीनता के लिये आवश्यक रचनात्मक एवं आलोचनात्मक संघर्ष के लिए तैयार किया। वे प्रजामण्डल के सक्रिय सदस्य के रूप में स्वतन्त्रता संघर्ष से जब एक बार जुड़ गये तो फिर आजादी का सूरज उग आने तक कभी पीछे मुड़कर नही देखा। सन् 1942 का भारत छोड़ो आन्दोलन हो या फिर विनोबा जी का भूदान आन्दोलन पूर्ण समर्पित भाव से हाड़ौती की जनता के बीच सामाजिक जागरण की अलख जगाते रहे। उनके गीतों में एक ओर जहाँ हाड़ौती भाषा के उजले देशज स्वरूप के दर्शन होते हैं वहीं दूसरी ओर आजादी के पहले और आजादी के बाद के समाज का असली रूप भी साफ-साफ दिखाई पड़ता है।[12] हाड़ौती अंचल के अनोखे लोक कवि एवं सेवक कालाबादल ने अपने गीतों को बड़ा हथियार बनाकर गाँव-गाँव, ढाणी-ढाणी जाकर न केवल आम जनता में आजादी की अलख का जागरण किया अपितु ग्रामीण समाज में व्याप्त बुराईयों से छुटकारा पाने की भी पहल की। राजस्थान के सन्दर्भ में राजनैतिक चेतना और सामाजिक सांस्कृतिक जागरण एक ही सिक्के के दो पहलुओं जैसे रहे हैं। देशी रियासतों के दमन चक्र ने जब राजनैतिक जन जागृति को कुचला तब सामाजिक-सांस्कृतिक एवं साहित्यक जागरण की दिशा में कालाबादल ने प्रगति पथ प्रकाशित किया जिससे स्वतंत्रता संग्राम को नित नई ऊर्जा मिलती रही।

इस प्रकार कालाबादल ने अपनी संघर्षमय जीवन यात्रा का प्रारम्भ गांधीयुगीन स्थानीय कार्यकर्ता के रूप में प्रांरम्भ किया जो शीघ्र ही सम्पूर्ण हाड़ौती में कवियों,

लेखकों, पत्रकारों एवं समाजसेवियों के लिए उल्लेखनीय हो गई। उन्होंने अपने बहुआयामी कृतित्व के माध्यम से तत्कालीन समय एवं समाज को ऊर्जावान बनाया।

सन्दर्भ

1. *स्वातंत्र्याय स्वर्ण जयंतिका कोटा जिला प्रशासन 1997 के पृ. 63-64 पर श्री जितेन्द्र निर्मोही का लेख 'कालाबादल' नाम दिया पण्डित नेहरू ने।*
2. *(अ) भैरूलाल कालाबादल (सं.), किसानों की पुकार सन् 1941 ई., जे.के. जैन सं. स्वाधीनता के गीत, राजस्थान राज्य अभिलेखागार बीकानेर, 1987 पृ. 73*
   (ब) रामनारायण मीणा हलधर, ओम नागर (सं.), कालाबादल रे, बोधि प्रकाशन जयपुर, 2017 पृ. 188
3. *(अ) रामनारायण मीणा हलधर, ओम नागर (सं.), कालाबादल रे, बोधि प्रकाशन जयपुर, 2017 पृ. 171-172*
   (ब) किसान संदेश 9 मई 1951 अंक 20 राजस्थान राज्य अभिलेखागार बीकानेर, फाइल बस्ता नं. 4, क्रम सं. 33
   (स) जे.के. जैन सं., स्वाधीनता के गीत, राजस्थान राज्य अभिलेखागार बीकानेर, 1987 पृ. 85 पर गाँव की पुकार सन् 1941 ई.
4. *जे.के. जैन सं., स्वाधीनता के गीत, राजस्थान राज्य अभिलेखागार बीकानेर, 1987 पृ. 84 पर गाँव की पुकार सन् 1941 ई.*
5. *रामनारायण मीणा हलधर, ओम नागर (सं.), कालाबादल रे, बोधि प्रकाशन जयपुर, 2017 पृ. 170*
6. *वही, पृ. 174*
7. *वही, पृ. 179*
8. *वही, पृ. 176-177*
9. *वही, पृ. 178*
10. *पूर्वोक्त, पृ. 182*
11. *(अ) भैरूलाल कालाबादल (सं.), किसानों की पुकार सन् 1941 ई., जे.के. जैन सं. स्वाधीनता के गीत, राजस्थान राज्य अभिलेखागार बीकानेर, 1987 पृ. 73*
    (ब) रामनारायण मीणा हलधर, ओम नागर (सं.), कालाबादल रे, बोधि प्रकाशन जयपुर, 2017 पृ. 96
12. *(अ) ओम नागर, आजादी की स्वर्णिम पोथी के अनूठे जिल्दसाज, रामनारायण मीणा हलधर, ओम नागर (सं.), कालाबादल रे, बोधि प्रकाशन जयपुर, 2017 पृ. 13-16*
    (ब) राजस्थान पत्रिका कोटा संस्करण, पृ. 2

पूर्ववर्ती बीकानेर राज्य में राजनीतिक जागृति एवं चेतना के अभिप्रेरक घटक - एक अध्ययन

डॉ. (श्रीमती) बेला भनोत

बीकानेर राज्य के एक नगर चूरू में सन् 1907 ई. में स्वामी गोपालदास के द्वारा सर्वहितकारिणी सभा की स्थापना, उसकी सक्रियता एवं बीकानेर राज्य की निरंकुश राजशाही द्वारा उसके दमन के प्रयासों[1]; राज्य के गंगानगर क्षेत्र में किसानों में व्यापक असंतोष का उभरना, जमींदारा एसोसिएशन की स्थापना एवं कृषक संघर्ष[2]; बीकानेर राजद्रोह तथा बीकानेर षड्यंत्र केस एवं तदनन्तर चला व्यापक दमन चक्र व जन प्रतिक्रिया[3]; बीकानेर में प्रजामण्डल की स्थापना तथा बीकानेर सेफ्टी एक्ट के तहत हुई गिरफ्तारियां एवं सत्यनारायण सर्राफ, लक्ष्मीदास स्वामी, बाबू मुक्ता प्रसाद आदि क्रांतिकारियों को देश निकाला दिया जाना एवं तद्जनित व्यापक प्रतिक्रिया[4]; बीकानेर के कतिपय साहसी नागरिकों द्वारा कलकत्ता में 'हितवर्द्धन सेवा सदन' नामक संस्था की स्थापना व उसकी सक्रियता[5] बीकानेर राज्य में हुए शहरी आंदोलनों[6]; बाबू रघुवरदयाल के नेतृत्व में बीकानेर में प्रजामण्डल आंदोलन का पुनर्निर्माण व उसकी सक्रियता[7]; रायसिंहनगर गोलीकाण्ड और किसानों की जबर्दस्त प्रतिक्रिया[8] व बीकानेर राज्य में हुए विविध किसान आंदोलनों जैसे - जसाणा, कुम्भाणा, महाजन के किसान आंदोलन[9], दूधवाखारा का किसान आंदोलन[10], कांगड़ किसान आंदोलन[11] आदि की घटनाओं को तद्विषयक विकासक्रम के रूप में विशेष रूप से उद्धृत किया जा सकता है।

पूर्ववती बीकानेर राज्य में आई इस राजनीतिक जनजागृति एवं चेतना के मूल में अंतर्निहित रहे अभिप्रेरक घटकों को राजस्थान स्टेट आर्काईव्ज, बीकानेर में संरक्षित मूल पुरालेखीय स्रोत सामग्री के आधार पर विवेचित और विश्लेषित करना इस शोध-पत्र का मुख्य ध्येय है।

राजस्थान में राजनैतिक जागरण के पीछे परम्परागत रूप से 19वीं शताब्दी के सामाजिक सुधारों, अंग्रेजी शिक्षा व समाचार-पत्रों के योगदान, प्रवासी व्यापारी-वर्ग की भूमिका, कृषक-आंदोलन एवं कांग्रेस तथा ऑल इण्डिया स्टेट्स पीपुल्स कॉन्फ्रेन्स जैसी संस्थाओं के योगदान को मुख्य रूप से उत्तरदायी ठहराया जाता रहा है। आर्थिक कारणों में विशेष रूप से करों के बोझ, करों की मनमाने ढंग से वसूली, उद्योग-धन्धों का पतन एवं अकाल जैसी समस्याओं को प्रशासन द्वारा न सुलझा पाना आदि घटक विशेष रूप से सुझाये जाते हैं।[12] पूर्ववर्ती बीकानेर राज्य में हुई राजनीतिक जागृति एवं चेतना के पीछे भी

कतिपय कारण एवं घटक विद्यमान रहे थे। जिन्हें निम्नांकित शीर्षकों के अंतर्गत विवेचित एवं विश्लेषित किया जा सकता है।

शिक्षा एवं समाचार-पत्रों का प्रभाव

बीकानेर सम्भाग में हुई राजनीतिक जनजागृति के दृष्टिकोण से शिक्षा एवं समाचार पत्रों की भूमिका महत्त्वपूर्ण मानी जा सकती है। वैसे आंकड़ों की दृष्टि से शिक्षा का विशेषकर अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार बहुत कम एवं धीमा था। लेकिन अंग्रेजी शिक्षा का प्रभाव आंकड़ों से नहीं आंका जा सकता। जो नवयुवक राज्य से बाहर शिक्षा लेने के लिए गये वे लौटकर आये तो वे ही नयी चेतना के प्रतिनिधि बने जबकि उनकी संख्या बहुत कम रही।[13] इसी प्रकार ब्रिटिश इण्डिया में रहने वाले बीकानेर वासियों ने वहाँ शिक्षा ग्रहण करके अपने राजनैतिक दायित्वों को समझा। राज्य में न केवल प्रजामण्डल आंदोलन बल्कि समाजवादी व किसी सीमा तक साम्यवादी विचारों की पुष्टि इन्हीं प्रतिनिधियों द्वारा सम्भव हुई।[14] बीकानेर नरेश महाराजा गंगासिंह ने बीकानेर को एक आधुनिक राज्य का स्तर देने की होड़ में शिक्षा के प्रसार पर पर्याप्त ध्यान दिया था। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में राज्य में कुल 29 शिक्षण संस्थाएं, 49 अध्यापक, 1606 अध्ययनरत छात्र एवं 18126/- वार्षिक शिक्षा-व्यय तथा 80 निजी पाठशालाएं थीं। महाराजा के देहावसान के समय (1943 ई.) राज्य में 141 राजकीय विद्यालय, 137 अनुदान प्राप्त एवं 191 मान्यता प्राप्त निजी विद्यालय और एक स्नातकोत्तर महाविद्यालय था, जिसमें अध्ययनरत छात्र संख्या 29,803 तक पहुँच चुकी थी।[15] ये सरकारी आंकड़े सम्भवत: अतिरंजना से भी ओत-प्रोत हों, लेकिन एक बात स्पष्ट है कि इस दौर में बीकानेर राज्य में शिक्षा के क्षेत्र में प्रसार हुआ था। फिर छात्र उच्च शिक्षा प्राप्ति हेतु बनारस भी भेजे जाते थे। महाराजा ने इस बात का भरसक प्रयत्न किया था कि राज्य में छात्र आंदोलन जैसी गतिविधियों का विकास न हो लेकिन शिक्षा के पाठ्यक्रम जो कि ब्रिटिश इण्डिया में चल रहे पाठ्यक्रमों के अनुरूप थे, शिक्षक जो कि अधिकांश संख्या में पुन: ब्रिटिश इण्डिया से आए थे और नई शक्तियों के उदय के विरुद्ध नहीं थे तथा शिक्षा के सामान्य-ज्ञान से उत्पन्न चेतनाओं के प्रभाव को तो रोका नहीं जा सकता था।[16] शिक्षा के प्रसार ने राजतंत्र की अटूटता एवं निरन्तरता को स्वीकार कराने में बाधाएं ही उत्पन्न की। इस मध्य सामंती-परिवारों से जुड़े कम शिक्षित लोगों को ऊँची नौकरियों में प्राथमिकता दी गई तो अन्य वर्गों के शिक्षित लोग राजतंत्रीय व्यवस्था के विरुद्ध भड़क गए। बीकानेर में हुए प्रजामण्डल आंदोलन के अधिकतर नेता पेशे से अध्यापक, वकील, चिकित्सक व व्यापारी थे। इन्हीं लोगों ने आगे चलकर राजस्थान में एकीकरण की आवाज उठायी ताकि समानता के आधार पर सबको अवसर प्राप्त हो सकें।

कुलीय राजतंत्र की व्यवस्था के विरुद्ध समाचार-पत्रों ने भी पुरजोर आवाज उठायी और उसका बीकोनर सम्भाग के वासियों पर व्यापक प्रभाव पड़ा। 'राजस्थान केसरी', 'तरुण राजस्थान', 'नवजीवन', 'नव ज्योति', 'लोकवाणी' आदि पत्रों में

राजतंत्रीय व्यवस्था के जुल्मों व उसके विरोध के समाचार भरे रहते थे, जिन्हें पढ़कर लोगों का व्यवस्था के प्रति मोह भंग होता जाता था। सरकार भी दमनकारी नीति पर चलते हुए इन समाचार पत्रों पर प्रतिबंध लगाने में कसर नहीं छोड़ती थी, लेकिन चोरी-छुपे ये पत्र सम्बन्धित व्यक्तियों के पास पहुँचा दिए जाते थे।[17] इन समाचार पत्रों के अतिरिक्त विशेष 'सर्कुलर लैटर्स', 'बुलेटिन', 'रिपोर्ट्स' आदि का प्रकाशन भी इस दृष्टि से कम महत्त्वपूर्ण नहीं था।[18] लंदन में गोलमेज कॉन्फ्रेन्स के समय महाराजा गंगासिंह की दमनकारी नीतियों के विरुद्ध हुई रिपोर्ट ने बीकानेर प्रशासन को हिला दिया था तथा 'बीकानेर षड्यंत्र मामले' की नींव पड़ी थी।[19] राष्ट्रीय समाचार पत्रों विशेषकर 'बोम्बे क्रोनिकल', 'हिन्दुस्तान टाईम्स' एवं 'प्रताप' ने भी बीकानेर के शासकों की दमनकारी नीतियों पर विशेष लेख निकाले थे। बल्कि स्थिति यह बन आयी थी कि राष्ट्रीय दल बीकानेर राज्य की सही अवस्था का परिचय पाने के लिए इन राष्ट्रीय समाचार पत्रों के विशेष संवाददाताओं से ही सहायता प्राप्त करते थे। 'बीकानेर षड्यंत्र मामले', 'दूधवाखारा किसान आंदोलन' तथा राजगढ़ व गंगानगर में कृषक आंदोलनों के दमन की भर्त्सना इन संवाददाताओं के समाचारों के आधार पर ही की गयी थी।[20] बल्कि प्रजामण्डल के अधिकांश नेता पत्रकार का कार्य भी करते थे। उनकी इच्छा रहती थी कि किसी प्रकार वे प्रेस लगाकर अपना समाचार पत्र निकालें ताकि उनकी आवाज को सुना जा सके। यद्यपि वित्तीय समस्याओं के कारण बहुतों की इच्छा मन में ही रह गयी थी। बीकानेर में सत्यनारायण सर्राफ, खूबचन्द सर्राफ, वैद्य मघाराम, रघुवर दयाल गोयल एवं दाऊदयाल आचार्य इस दिशा में प्रयत्नशील रहे थे।[21]

आर्य समाज आंदोलन का प्रभाव

आर्य समाज आंदोलन ने राजस्थान में बहुत से भागों में यूरोप के पुनर्जागरण सा कार्य किया। यद्यपि आर्य समाज के अपने राजनैतिक कार्यक्रम नहीं थे, लेकिन इसके द्वारा प्रचारित धार्मिक व सामाजिक सुधारों ने अपने ही प्रकार की एक राजनैतिक चेतना को जन्म दिया। सामाजिक भेदभाव मिटाने की शिक्षा ने अनेक मध्यम व पिछड़े वर्ग के लोगों में एक नया उत्साह भर दिया। उनके द्वारा स्थापित की गयी अपनी नयी पहचान ने परम्परावादी एकाधिकार रखने वाली शक्तियों को चुनौती देने के लिए उन्हें सक्षम बना दिया। आर्य समाज ने प्रत्येक प्रकार के एकाधिकार व जुल्म का विरोध करने की एक विलक्षण चेतना उत्पन्न की जिसका सीधा प्रभाव राजनैतिक चेतना को जागृत करने में सहायक सिद्ध हुआ।[22] स्वामी जी अपने जीवनकाल में चूरू आए थे और बीकानेर सम्भाग में चूरू कस्बा, जो खालसा क्षेत्र में था, ही उनके प्रचार का प्रथम केन्द्र बना। चूरू में राजनैतिक जागृति का झण्डा फहराने वाले स्वामी गोपाल दास आर्यसमाजी ही थे, जिन्होंने नागरिक अधिकारों की प्राप्ति के लिए सर्वप्रथम 1907 ई. में ही लोक हितकारिणी सभा बना ली थी।[23] शीघ्र ही आर्यसमाजी केन्द्र अपनी गतिविधियों में राजनैतिक अधिकारों की व्याख्या करने लगे। यहाँ तक कि किसान आंदोलनों को भी आर्य

समाजियों ने प्रभावित करना प्रारम्भ कर दिया था। स्वामी कर्मानन्द आर्यसमाजी थे व कृषक आंदोलनों के प्रमुख सूत्रधार थे। स्वामी गोपालदास तो बीकानेर षड्यंत्र मामले के प्रमुख नायक थे। जब-जब सरकार ने दमन की नीति अपनाकर लोगों की वैयक्तिक स्वतंत्रता की माँग की कमर तोड़ दी तो उसकी आखिरी सांस को पुनः गठित करने व उसमें निरन्तरता लाने का कार्य आर्य समाज की गतिविधियों की आड़ में ही पुनः सम्भव हो सका। बीकानेर नरेश महाराजा गंगासिंह इसी कारण आर्य समाज के विरोधी थे। उन्होंने इस बात का भरसक प्रयत्न किया कि आर्य समाज की गतिविधियों पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगा दिया जाये लेकिन मध्यम व पिछड़े वर्गों के लगाव ने उसे किसी न किसी रूप में जीवित रखा।[24]

प्रवासी व्यापारी-वर्ग की भूमिका

यद्यपि यूरोपीय घटनाक्रम में वाणिज्य एवं व्यापार से संलग्न वर्गों को गैर-सामंतीय शक्तियों का प्रतीक माना गया है परन्तु भारतीय अध्ययन में उसे राजतंत्र की सत्ता का समर्थक समझा गया है।[25] यह वर्ग सत्ता के साथ होकर भी तीसरी शक्ति के रूप में विद्यमान था। यह सही है कि बीकानेर सम्भाग के व्यापारियों ने ब्रिटिश एजेन्ट बनकर दूरस्थ क्षेत्रों में लाभ कमाने हेतु पूरी 19वीं शताब्दी में स्वयं को व्यस्त रखा लेकिन शनैः शनैः उनके इन्हीं हितों ने उन्हें राष्ट्रीय धारा से भी जोड़ना प्रारम्भ कर दिया। अंग्रेजों की प्रतिस्पर्धा एवं नियंत्रण की नीति ने भारतीय व्यापारियों के कदम जब रोकने प्रारम्भ किए तो उन्हें राष्ट्रीय धारा के स्वदेशी कार्यक्रमों में अपना हित दिखा। इन प्रवासी मारवाड़ियों की अन्य बाधा अपने वतन में सामंतों के अहं के रूप में सामने थी तो उन्होंने अंग्रेजों के साथ-साथ देशी नियंत्रणों से भी लड़ने की ठान ली। फिर पूर्वी भारत में फैली उग्र राष्ट्रीयता की लहर ने भी उन्हें झकझोर दिया। अंततः इसी वर्ग में से कुछ लोगों ने सामने आकर गैर-सामंती शक्तियों को गठित करना प्रारम्भ किया ताकि वे वैयक्तिक स्वतंत्रता का अधिकार लेकर अपने आर्थिक आधार को विस्तृत बना सकें।[26] 1918-19 ई. में 'मारवाड़ी हितकारिणी' और 'राजपूताना मध्य भारत सभा' की स्थापना हुई। 1920 ई. में 'राजस्थान सेवक संघ' की शाखाएं राजस्थान में स्थान-स्थान पर खुलीं। इन संस्थाओं ने समाज-सुधार के अनेक कार्यक्रमों को अपनाकर एक नयी चेतना उत्पन्न की।[27] राज्य में नोहर, भादरा, राजगढ़, चूरू, रतनगढ़ के अनेक व्यवसायी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से नयी जागृति का संदेश फैलाने में एकजुट हो गए। बीकानेर के सत्यनारायण सर्राफ व खूबचन्द सर्राफ, मालचन्द हीसारिया की कहानी किसी अन्य प्रान्त के आंदोलनकारियों की गाथा से कम नहीं है। बल्कि राज्य में उत्तरदायी सरकार की माँग करने वालों में प्रथम - सत्यनारायण सर्राफ, खूबचन्द सर्राफ व स्वामी गोपालदास ही थे।[28]

राज्य के प्रशासनिक एवं आर्थिक कार्यक्रम

बीकानेर राज्य के नरेश विशेषकर महाराजा गंगासिंह ने इस बात का विशेष

प्रयत्न किया था कि राजतंत्र जैसी पुरानी संस्था को नयी पृष्ठभूमि व नये आधार देकर दृढ़ करें। उन्होंने एक ओर राजा के कर्त्तव्य, विशेशकर प्रजा के प्रति उसके दायित्व, शास्त्रीय मतों के अनुसार होने चाहिए, बताने प्रारम्भ किए तो दूसरी ओर उन्होंने प्रजा में भौतिक-प्रगति लाकर एवं प्रशासन को आर्थिक दृष्टि से दृढ़ करके समाज के सभी वर्गों का मन जीतने का प्रयास किया। उनकी धारणा थी कि उन्नत अवस्था का राजतंत्र प्रजा के लिए कल्याणकारी कार्यक्रम जुटाने में सक्षम है।[29] महाराजा ने शिक्षा की उन्नति की ओर ध्यान दिया, गंग नहर लाकर रेगिस्तानी क्षेत्र में सिंचाई पर आधारित कृषि का क्रांतिकारी युग ला दिया, परिवहन में विशेषकर रेलवे में 76.40 किलोमीटर से 1394 किलोमीटर की प्रगति की, आधुनिक अस्पताल का निर्माण किया, नये न्यायालय स्थापित किए, पशु चिकित्सालय खोले, अनाथालय बनाए आदि।[30] महाराजा गंगासिंह द्वारा शासन के पूर्णाधिकार प्राप्त करते समय (1897-98 ई.) राज्य की आय 20,08,462 रु. थी, जो कि उनके देहांत के समय (1942-43 ई.) बढ़कर 2,02,98,744 रु. हो गयी यह वृद्धि 910.66 प्रतिशत की थी।[31]

संक्षेप में उनके शासनकाल में बीकानेर का पिछड़ा रेगिस्तानी राज्य भारत के मानचित्र पर उभरकर सामने आ गया। महाराजा के कटु आलोचकों ने भी उनके इन प्रयासों की प्रशंसा की है। लेकिन व्यक्ति की स्वतंत्रता का दमन करके उसे भौतिक-प्रगति का लोभ दिखाकर महाराजा वस्तुतः अपने राजतंत्र के लिए कुछ नहीं प्राप्त कर सके। इस प्रकार महाराजा के प्रशासनिक व आर्थिक परिवर्तनों ने राजतंत्र का समर्थक नहीं बल्कि विरोधी गुट ही तैयार किया। महाराजा जैसे चतुर राजनीतिज्ञ यह भूल गये कि आर्थिक परिवर्तन बिना सामाजिक व राजनैतिक परिवर्तनों के असंतोष की नयी पृष्ठभूमि ही तैयार करते हैं।[32]

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि देश के स्वाधीनता संग्राम के दौर में देशभर में चली राजनीतिक जागृति एवं चेतना की लहर की पृष्ठभूमि में अंतर्निहित रहे घटकों व कारणों के साथ ही साथ समसामयिक बीकानेर राज्य के तत्कालीन राजनतिक, सामाजिक एवं आर्थिक परिदृश्य में भी कुछ ऐसे घटक विद्यमान रहे जिन्होंने इस क्षेत्र विशेष में राजनीतिक जागृति व चेतना लाने में अहम् भूमिका निभाई थी।

संदर्भ

1. *हजूर डिपार्टमेंट, 1914, नं. बी-4, बीकानेर, पृ. 35-39, रा.रा.अ.बी.; सहादत गवाहान बयान तहरीरी पेश करदा मुलाजिमान, दि. 24.11.33, पृ. 164/1-4, रा.रा.अ.बी.; गोविन्द अग्रवाल, स्वामी गोपालदास जी का व्यक्तित्व एवं कृतित्व, पृ. 164*
2. *फाइल महकमा खास, बीकानेर, 1926-32, नं. सी-2, रा.रा.अ.बी.; होम डिपार्टमेंट, बीकानेर (गोपनीय), जमींदारा ऐसोसियेशन, 1929-37, नं. सी-10, पृ. 4-8, रा.रा.अ.बी.*

3. के.एम. पन्नीकर, हिम हाईनैस दी महाराजा ऑफ बीकानेर, ऑक्सफोर्ड, 1937, पृ. 182; गोविन्द अग्रवाल, पूर्वोक्त, पृ. 204
4. होम डिपार्टमेंट, बीकानेर (गोपनीय), 1937, नं. सी-ट, पृ. 1-8 एवं 8सी, पृ. 1-23, 36सी, पृ. 11-26, रा.रा.अ.बी.; आर.एल. हाण्डा, हिस्ट्री ऑफ फ्रीडम स्ट्रगल इन दि प्रिंसली स्टेट्स, पृ. 90, दिल्ली, 1964
5. होम डिपार्टमेंट (गोपनीय), बीकानेर, 1937, नं. 36सी, पृ. 11-26, रा.रा.अ.बी.
6. ऑल इण्डिया स्टेट्स पीपल्स कॉन्फ्रेन्स पेपर्स, फाइल नं. 187, पृ. 80-92, नेहरू मेमोरियल म्यूजियम एण्ड लाईब्रेरी, नई दिल्ली; आर.एल. हाण्डा, पूर्व., पृ. 90-92
7. होम डिपार्टमेंट (गोपनीय), बीकानेर, 1937, नं. सीट, पृ. 1-8; वही, 1942, नं. स्टप्प्ए पृ. 105, नं. 101, पृ. 1-7, 1945, नं. 101, पृ. 11-16, 1945, नं. टग्प्प्ए पृ. 1-2; ऑल इण्डिया स्टेट्स पीपुल्स कॉन्फ्रेन्स पेपर्स, फाईल नं. 102, पृ. 40-42, होम डिपार्टमेंट (गोपनीय), बीकानेर, 1949, नं. 101 (हिस्ट्री शीट ऑफ रघुवरदयाल गोयल), पृ. 1-9; सत्यदेव विद्यालंकार, बीकानेर की राजनैतिक स्थिति, पृ. 64-66; स्वतंत्रता सेनानी दाऊदयाल आचार्य का टेप किया गया संस्मरण, रा.रा.अ.बी.; गंगा दास कौशिक, बस्ता नं. 2, पत्रावली सं. 15, रा.रा.अ.बी.
8. होम डिपार्टमेंट (गोपनीय), 1948, नं. 8, पृ. 29-31; वही, 1946, नं. 72, पृ. 11-33; दाऊदयाल आचार्य का टेप संस्मरण, पूर्व.
9. एम.एस. जैन, आधुनिक राजस्थान का इतिहास, पृ. 281-86; चेतना मुद्गल, पूर्व., पृ. 146-49
10. होम डिपार्टमेंट, बीकानेर, 1945, नं. XXXVI, पृ. 18; वही, 1946, नं. XXVI, पृ. 12, 62, 64, 72-73; सत्यदेव विद्यालंकार, पूर्व., पृ. 159-62
11. होम डिपार्टमेंट, बीकानेर (गोपनीय), 1946, नं. 40, पृ. 1-32, रा.रा.अ.बी.
12. एम.एस. जैन, आधुनिक राजस्थान का इतिहास, पूर्व., पृ. 315-20
13. वही
14. चेतना मुद्गल, बीकानेर में जन आंदोलन, अप्रकाशित शोध कार्य, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, 1991, पृ. 114-30
15. शिव कुमार भनोत, बीकानेर राज्य में शिक्षा की प्रगति (महाराजा गंगासिंह सेन्टेनरी वोल्यूम), बीकानेर, 1980, पृ. 46-49 (हिन्दी भाग)
16. वही
17. एम.एस. जैन, आधुनिक राजस्थान का इतिहास, पूर्व., पृ. 317-19
18. वही
19. इस बिन्दु को इसी अध्याय में इसी शीर्षक के अंतर्गत स्पष्ट किया गया है।
20. द्रष्टव्य - पाद टिप्पणी क्र. 3
21. सत्यदेव विद्यालंकार, बीकानेर का राजनीतिक विकास, पं. मघाराम, बीकानेर, 1962, पृ. 186-90
22. एम.एस. जैन, आधुनिक राजस्थान का इतिहास, पूर्व., पृ. 316-17
23. हजूर डिपार्टमेंट, 1914, नं. बी-4, बीकानेर, पृ. 35-39, रा.रा.अ.बी.
24. चेतना मुद्गल, बीकानेर में जन आंदोलन, अप्रकाशित शोध कार्य, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, 1991, पृ. 13-17
25. मोरिस डॉब, कैपिटलिस्ट एंटरप्राईज एण्ड सोशियल प्रोग्रेस, लंदन, 1926, पृ. 4, 6, 21; डी.आर. गाडगिल, ओरिजिन्स ऑफ दी मोडर्न इण्डियन बिजनस क्लास, न्यूयॉर्क, 1956, पृ. 16-17
26. गिरिजा शंकर शर्मा, मारवाड़ी व्यापारी, आर्थिक व सामाजिक विश्लेषण, बीकानेर, 1990, पृ. 3-7 (आमुख)
27. एम.एस. जैन, आधुनिक राजस्थान का इतिहास, पूर्व., पृ. 319-20
28. गोविन्द अग्रवाल, स्वामी गोपालदास जी का व्यक्तित्व एवं कृतित्व, चूरू, 1968, पृ. 18-21
29. जी.एस.एल. देवड़ा, महाराजा गंगासिंह सेन्टेनरी वोल्यूम, पूर्व., पृ. 26
30. वही, पृ. 20-27
31. शिवरतन भूतड़ा, महाराजा गंगासिंह सेन्टेनरी वोल्यूम, पूर्व., पृ. 9-10
32. जी.एस.एल. देवड़ा, महाराजा गंगासिंह सेन्टेनरी वोल्यूम, पूर्व., पृ. 26

ऊपरमाल की नजरों में श्री विजयसिंह पथिक (ऊपरमाल किसान गायनों के संग्रह से)

डॉ. शिल्पी गुप्ता

बिजोलियां में पथिक जी ने ऊपरमाल किसान पंचायत का प्रभावशाली संगठन खड़ाकर आंदोलन चलाया, जिसमें राजस्थान के राजनीतिक जागरण का प्रकाश प्रछन्न था, इससे राजस्थान में राजनीतिक चेतना आयी। पथिक जी के नेतृत्व में विद्या प्रचारिणी सभा (चितौड़), ऊपरमाल सेवा समिति बनायी गई, 'ऊपरमाल का डंका', राजस्थान केसरी समाचार पत्र निकाला गया।[1] पथिक जी के अथक परिश्रम से ऊपरमाल के किसान जाग गये थे, उन्होंने किसानों का एक स्थायी और दृढ़ संगठन खड़ा कर, राज्य तथा ठिकाने के विरुद्ध किसानों की समस्याओं को लेकर संघर्ष छेड़ दिया। किसानों की दयनीय दशा, उनसे लिये जाने वाले 74 लागतें, बैठ-बेगार की अमानवीय, क्रूर प्रथा के विरुद्ध आवाज उठाई तथा समय-समय पर अपने प्रयासों से कठोर शर्तों को उदार बनाने की बात कही।[2] किसानों में पथिक जी का इतना प्रभाव था कि उन्हें वे 'महात्मा' के नाम से आदर देते थे, किसी मुद्दे पर बातचीत होने पर हर उत्तर उनसे पूछकर ही देते थे। महात्मा गांधी भी पथिक जी की कार्य क्षमता, सूझ-बूझ साहस व संगठन दक्षता से बहुत अधिक प्रभावित थे। गांधी ने कलकता में दीनबंधु ऐंड्रूज को पथिक जी का परिचय इस प्रकार दिया कि 'पथिक एक सच्चा कार्यकर्त्ता है और सब बातूनी है, पथिक एक सैनिक है, बहादुर है। उल्लेखनीय बात यह है कि बिजोलियां के जन-जन का उन पर विश्वास है।'[3] बिजोलियां आंदोलन काफी लंबा चला परन्तु इसके सफल प्रयासों से प्रेरणा लेकर बेगूं, भैंसरोड़गढ़, धांगडमऊ, बोराव, पारसोली, बस्सी, अमरगढ़ आदि क्षेत्रों में किसान आंदोलन तेजी से बढ़ चले, मेवाड़ के सभी आंदोलनों ने पथिक जी की नीति का ही अनुसरण कर राजस्थान सेवा संघ का मार्गदर्शन लिया। पथिक जी ने स्वयं अनेक कष्ट झेले पर उन्होंने किसानों को पीछे हटने नहीं दिया, वे हर स्थिति में किसानों के साथ खड़े रहे, उनका हौंसला बढ़ाते रहें। चाहे वर्धा में रहना पड़ा हों या अजमेर में[4], जेल से आकर भी मेवाड़ प्रवेश निषेधाज्ञा के बावजूद पथिक जी अजमेर से अपना नेतृत्व संचालन करते रहे।

एक क्रांतिकारी, एक अध्यापक, एक जन नेता, संगठनकर्त्ता, एक कवि- लेखक[5] जैसे बहुमुखी व्यक्तित्व के धनी पथिक जी का जीवन संघर्षमय ही रहा, उनके द्वारा किया जाने वाला किसान आंदोलन, राजनीतिक कार्य जितना प्रभावी रहा, उतना ही प्रभावी रहा है उनका काव्यमय व्यक्तित्व व कृतित्व, जहां उन्होंने अपने अनेक गीतों, गद्य काव्य, साहित्य, उपन्यास, कहानी संग्रह[6] आदि से राजस्थान व उसके कर्मठ कार्यकर्त्ताओं, देश प्रेमियों, क्रांतिकारी वीरों को झकझोर दिया है, वहीं उनसे आम मानस, महिलाओं, किसान भी अछूते नहीं रहे। बिजोलियां किसान आंदोलन के दौरान पथिक जी, श्री माणिक्यलाल वर्मा, प्रज्ञाचक्षु भंवरलाल स्वर्णकार, प्रेमचंद भील आदि के मेवाड़ी भाषा के ओजस्वी गीत इस समय ऊपरमाल अंचल[7] में बच्चे, युवक, स्त्रियों, वृद्ध सभी को प्रेरित करते थे, सामूहिक रूप से ये गीत ऊपरमाल में गाये जाते थे तथा किसानों का उत्साहवर्धन और उनमें सत्याग्रह के लिए जोश भरते थे। अत: पथिक जी का व्यक्तित्व, कार्य, रचनायें तो हमें आन्दोलित करती ही हैं और उनके माध्यम से उनका योगदान भी स्पष्ट हो जाता है। लेकिन पथिक जी की वास्तविक छवि और महानता की झलक, उस साहित्य से ज्यादा स्पष्ट होती है जो जनसाधारण ने उनके लिए रचे हैं, जो एक मौखिक और लौकिक स्रोत है। ऊपरमाल के आमजन ने जो पथिक जी के लिए महसूस किया और उन्हें जिस रूप में देखा है, उसका एक महत्वूर्ण संदर्भ स्रोत है- 'ऊपरमाल किसान भजनावली' नाम से किसान गायनों का संग्रह, जो ऊपरमाल किसान पंचायत द्वारा प्रकाशित की गई। इसमें सत्याग्रह, राष्ट्र, देशभक्तिपरक, विद्यार्थियों, बालिकाओं, किसानों, प्रजामंडलादि संबंधी लगभग 50 गीतों का संग्रह है, जिसमें से आरती भारतमाता की, मार्च गीत, किसानों का झंडा, ऊपरमाल, विद्यार्थियों-बालिकाओं के लिए कई गीत पथिक जी द्वारा भी लिखे गये हैं परन्तु इसमें कुल 6 गीत ऐसे भी है जो विजयसिंह पथिक जी के लिए लिखे गये हैं, जो उनके चरित्र, योगदान को ऊपरमाल के लोगों की नजरों से देखते हैं। इनमें दो गीत 'भवंरलाल स्वर्णकार द्वारा रचित है जिसमें से एक में 'एक सत्याग्रह की रेल' चलने का जिक्र है जो ऊपरमाल पहाड़ में 3 साल के संघर्ष के साथ घूमती है, फिर रावड़दा गांव से होती हुई बेगूं की तरफ जाती है, इसी तरह से यह आगे बढ़कर बस्सी, सादड़ी, देलवाड़े, भीलवाड़ा, उदयपुर के मध्य चलती रहती है, अन्याय का विरोध करती है, ऊपरमाल के किसानों के संघर्ष को दर्शाती है जिसने लूटने वालों की दाल नहीं गलने दी है क्योंकि इस 'सत्याग्रह के संघर्ष रूपी रेल' के गार्ड विजयसिंह जी जोधा महाबली है, जो अंतत: अजमेर में रहकर भी इसे संचालित कर रहे हैं।

सत्याग्रह की रेल 'ऊपरमाल' सूं चली पाछो
ईको अंजन लौटयो सादड़ी चली,
गारड़ म्हां का विजयसिंह जी जोधा महाबली,
अजमेर सूं सीटी दी दी फूली और फली।।[8]

दूसरे गीत 'भावना' से मेवाड़ के नर नारी द्वारा पथिक जी के प्रति गुणगान करने, उनकी महिमा गाने की बात करते हुए कहते हैं कि हमारी कोई सुनता नहीं था, इस देश में लंबे समय से काफी दु:ख परेशानी थी। पर ईश्वर ने हम पर कृपा कर विनती जल्दी सुन ली है और पथिक जी को अवतार के रूप में हमारे उद्धार के लिए भेजा है। जिन्होंने आकर ज्ञान बता, सत्याग्रह करना सिखलाया है, वंदे मातरम् का मंत्र पढ़कर हमें दुख से उबार लिया है,

पथिक जी बड़े तपधारी महात्मा हैं, जिनका गुणगान सारा मेवाड़ कर रहा है।

पथिक की महिमा भारी जी, गुण गावे मेवाड़ देश सारा नर-नारी जी
पथिक भेज्यों अवतारी जी सत्याग्रह करनो सिखलायो।
वंदे मातरम् मंत्र पढायो, दुख सूं लिया उबार।।
महात्मा है तपधारी जी।।[9]

पथिक जी ने अपनी सभाओं में महिलाओं को भी आमंत्रित किया क्योंकि स्त्रियों के जागृत होने से परिवार जागृत रहता है। पथिक जी ने यहां आकर उन्हें जगाया है, जूते से पीटने से बचाया है, सत्याग्रह का रास्ता दिखाया, हमारे बच्चों को वीर बनाया, देशप्रेम सिखलाया है, राज वालों को नीचा दिखाया है। स्त्रियों की आवाज सुन, उनकी स्थिति का ध्यान रखते हुए पथिक जी ने स्त्री जाति को डूबने से बचाया है। उन्हें धरती, भारत माता के प्रति कर्त्तव्यों का सच्चा ज्ञान कराया है इसलिए ये महिलायें पथिक जी के गुणों को नहीं भूल सकती, ऐसा सुंदर विचार इस गीत के माध्यम से महिलाओं ने पथिक जी के लिए रखा है।

म्हांने पथिक जी आय जगाया ए माय, इण सूं म्हां गुण नहीं भूलां
म्हाने सत्याग्रह को मारग दिखायो ए माय म्हां का टाबरां ने
वीर बणाया ए माय .[10]

इसी तरह 'बाजे छै' नामक गीत में कहा गया है कि जिस तरह गांधी जी का डंका सारे भारत में बज रहा है, वैसे रजवाड़ा में पथिक जी, इन्द्र जैसे गरज रहे हैं। यहां बहुत दिनों के बाद फिर से सुख के दिन आये हैं, अब पापियों की छाती-कलेजा धड़क रहे हैं, अन्यायी लजा रहे हैं, किसानों का समय आ गया है और उनके दुख दूर हो रहे हैं।

गांधीजी को डंको सारा भारत में बाजे छै रे।
रजवाड़ा में विजयसिंह जी इन्दर ज्यूं गाजै छै रे।।[11]

'राजस्थान जगाने वाले' शीर्षक कविता में पथिक जी को समस्त राजस्थान को जगाने वाला बताया गया है कि जिसने राजस्थान में आकर उसकी पुरानी शान, पहचान को बरकरार रखा है, जो कमजोर हुआ जा रहा था। जहां गरीब किसान की दुर्बल, बेबस स्थिति थी, जिसे सुधारकर उन्होंने किसानों को एक किया। बिजोलियां से उन्होंने अपना कार्य प्रारंभ किया है, कांग्रेस का साथ भी लिया। पथिक जी की चारों दिशाओं में धाक है, कितने भी उनके खिलाफ प्रयास हो रहे हैं पर उनकी चाक (चक्की) चलती रहेगी क्योंकि उनका नाम भी 'विजय' ही है।

धन्य धन्य पथिक महाराज, राजस्थान जगाने वाले
प्रथम ले बिजोलियां को साथ, बढ़ाया जग में अपना हाथ
दस्यु गण लगा रहे हैं ताक, पड़ी है चहुँ दिशि तेरी धाक
चलेगा किंतु तुम्हारा चाक, नाम से विजय कहाने वाले।।[12]

राजस्थानी द्वारा लिखित एक गीत 'गाढ़ा रीजो रे मंर्दाओं थांका दुख सभी मिट

जाय' में यहां के मर्दों को धैर्य, हिम्मत रखते हुए डट कर रहने की बात समझायी गई है कि जब आप लोग नेता के बिना भटक रहे थे, तब पथिक जी ने ठीक समय पे आकर बागडोर संभाली। सेठ-जागीरदार दोनों किसानों को लूट-लूटकर अपनी सेहत बना रहे थे, किसानों का कोई अपना सगा नहीं था, तब किसानों के बीच आकर जालिमों के फंदे से बचा के स्वराज्य दिलाने हेतु पथिक जी ने झंडा फहराया। हर गांव में पंचायत बनाकर अपनी शिक्षा, शासन व्यवस्था, शुद्ध न्याय खुद करने की बात कही, एकता का पाठ सिखलाया, जिससे अन्यायी, रिश्वतखोरी को बढ़ावा न मिले। जब यहां पर अधिकांश किसान है तो उन पर सबसे ज्यादा लगान नहीं रहे तथा पथिक जी के जिन्दा रहते किसानों का हक कोई नहीं छीन सकता है, इस तरह की उचित नीति की राह दिखाते हुए सबसे हिम्मत रख, दुख को मिटाने की बात कही गई है।

था नेता बिन भटक रया हां छूजा दारा पटक रया हो।
विजयसिंह जी ठीक बखत पर बाग सम्हाली आय। गाढ़ा रीजो रे।
गांव-गांव पंचायत थापो, एक कर या फूट उचापो।
शिक्षा, शासन, चौकीदारों, सब पर ही थांकी मुखत्यारी।
सौ में नब्बे है करसाण, सब सूं ज्यादा भरा लगाण।
फिर कुण है जो म्हां जीतां म्हां को हक खा जाय। गाढ़ा रीजो रे।[13]

पथिक जी के जेल से वर्षों बाद छूटने पर भी जब मेवाड़ प्रवेश पर निषेध आज्ञा लगा दी गई, तब पथिक जी ग्वालियर राज्य के सिंगोली पट्टे के बिजोलियां की सीमा से लगे फुसरिया गांव में बिजोलियां के किसानों से मिलने पहुंचे, तब काफी सारे किसान अपने प्रिय नेता के दर्शन करने आये, बहुत से युवकों ने शपथ रखी थी कि जब पथिक जी जेल से छूटेगें तभी अपने केश कटवायेगें अत: इसी समय किसानों ने अपनी जटा कटवायी, दाढ़ी बनवायी। इस दिन मानो फुसरिया गांव में किसानों का एक मेला लग गया था।[14] ये घटनायें एवं गीत विजयसिंह जी की ऊपरमाल में पैठ को दर्शाते हैं, उनके द्वारा जागृत करने से जनता, किसान किस तरह अपने नेता, देश के लिए समर्पित है, सत्याग्रह, देशप्रेम, स्वतंत्रता की चाह रख रहे हैं, किसान, महिलायें, आम जनता सीखने की प्रेरणा ले रहे हैं, इन गीतों में पथिक जी के कृतित्व की इतनी प्रशंसा है कि ऊपरमाल के लोगों ने उन्हें, अपने लिए एक उद्धारक, अवतार के रूप में देखा है। श्री माणिक्यलाल वर्मा जी के प्रसिद्ध गीत 'पंछीड़ा' में भी ''सुण कर अर्जी एक देवता आयो छै। जी को पता नहीं पायो छै।। बूटी सत्याग्रह लायो छै। सब लोगां के मन भायो छै। मर्दा ओंरे काली।।''[15] में भी 'देवता' से वर्मा जी का संकेत पथिक जी की ओर था जो गुप्त होकर आंदोलन संचालित कर रहे थे, सत्याग्रह की बूटी सबको खिला रहे थे। वस्तुत: किसी व्यक्ति की सफलता की पहचान इस बात से होती है कि वहां के स्थानीय लोगों का उसके प्रति क्या नजरिया है? पथिक जी के नेतृत्व, कार्यों के प्रति क्या उत्तर है, तो निसंदेह हमें पथिक जी का अमूल्य योगदान, न सिर्फ ऊपरमाल, मेवाड़ अपितु राजस्थान

के लोकप्रिय नेता के रूप में दीख पड़ता हैं, जहां वह जनसाधारण, स्त्री-पुरुष, किसान, बच्चे-बूढ़े सभी को अन्याय के विरुद्ध अपनी आवाज बुलंद करने के लिए तैयार कर देते हैं तथा अपनी लड़ाई स्वयं लड़ने योग्य बना देते हैं।

संदर्भ

1. *सक्सेना, शंकरसहाय, पद्मजा शर्मा, बिजोलियां किसान आंदोलन का इतिहास, बीकानेर, राजस्थान राज्य अभिलेखगार, 1972, पृ. 59-66*
2. *राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर, उदयपुर कॉन्फिडेंशियल रिकॉर्डस् फाइल नं. 31, बस्ता नं. 4 में पृ. 27-28 पर राजस्थान सेवा संघ के अध्यक्ष विजय सिंह पथिक का 24.4.1932 का पत्र है, जिसमें उन्होंने शर्तों को उदार करने की बात कही है। (शर्मा बृजकिशोर, राजस्थान में किसान एवं आदिवासी आंदोलन, जयपुर, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, 2008, पृ. 54)*
3. *सक्सेना शंकरसहाय, पद्मजा शर्मा, बिजोलियां किसान आंदोलन का इतिहास, पूर्वोक्त, पृ. 89*
4. *पेमाराम, एग्रेरियन मूवमेन्ट इन राजस्थान, जयपुर: पंचशील प्रकाशन, 1986,पृ. 25*
5. *पथिक, विजयसिंह, प्रहलाद विजय, नई दिल्ली, अरूण प्रकाशन, 1961, पृ. घ-ड (जीवन परिचय) जब महाराणा की विशेष आज्ञा से पथिक जी को उदयपुर जेल में पांच साल तक रहना पड़ा तब इस अवधि में पथिक जी से ढेर सारे साहित्य की रचना की। 1928 में जेल से रिहा होने के बाद उन्हें मेवाड़ प्रवेश निषेधाज्ञा तथा उनका सारा साहित्य राज्य ने अपने पास रोक लिया था। आजादी के बाद यह साहित्य उन्हें वापस मिला और मुख्यतया उनके निधन के बाद प्रकाशित हुआ।*
6. *गुप्ता,के. एस. 'विजयसिंह पथिक व्यक्तित्व उनके स्वयं के लेखन के आधार पर', समऑसपेक्टस ऑफ राजस्थान हिस्ट्री एंड कल्चर, पेमाराम (संपा.), वनस्थली विद्यापीठ, इतिहास विभाग, 2002, पृ. 270*
7. *सक्सेना शंकरसहाय,पद्मजा शर्मा, बिजोलियां किसान आंदोलन का इतिहास, पूर्वोक्त, पृ. 87*
8. *ऊपरमाल किसान भजनावली (किसान गायनों का संग्रह), ऊपरमाल किसान पंचायत (संग्रहकर्त्ता), बिजोलियां, राजस्थान प्रकाशन भवन, पृ. 11-12*
9. *पूर्वोक्त, पृ. 23-24 (गीत के आधार पर स्वयं का विश्लेषण)*
10. *पूर्वोक्त, पृ. 23 (गीत के आधार पर स्वयं का विश्लेषण)*
11. *पूर्वोक्त, पृ. 22 (गीत के आधार पर स्वयं का विश्लेषण)*
12. *पूर्वोक्त, पृ. 18 (गीत के आधार पर स्वयं का विश्लेषण)*
13. *पूर्वोक्त, पृ. 38-39 (गीत के आधार पर स्वयं का विश्लेषण)*
14. *सक्सेना शंकरसहाय, पद्मजा शर्मा, बिजोलियां किसान आंदोलन का इतिहास, पूर्वोक्त, पृ. 224*
15. *पूर्वोक्त, पृ. 277-78*

समाजसुधारक एंव स्वतन्त्रता सेनानी चिमनलाल मालोत

डा. हेमेन्द्र चौधरी

स्वतन्त्रताकालीन भारत में 1885 ई. में कांग्रेस की स्थापना के साथ भारत में चल रहे अलग-अलग नेतृत्व के आन्दोलनों को एक मंच की प्राप्ति हुयी और इन आन्दोलनों ने राष्ट्रीय स्तरीय आन्दोलन में परिवर्तित होकर एक रूपता और एक उद्देश्य में आन्दोलित होना शुरू कर दिया। कांग्रेस के नेतृत्व में चले आन्दोलन ने अलग-अलग विचारधारा के तहत चलते हुए पूरे भारत की जनता को राष्ट्रीयता की धारा में जोड़ने का प्रयास किया। नरम दल, गरम दल एवं क्रान्तिकारी विचारों से न केवल प्रान्तीय भारतीय जनता अपितु रियासती भारतीय जनता भी स्वतन्त्रता की अलख जगाने में शामिल हो गयी। महात्मा गांधी के अवतरण के बाद आन्दोलन गांधीवादी विचारों के तहत चलने लगे। इस समय के आन्दोलनों ने देश के गरीब आदिवासी, दलित, अशिक्षित वर्ग को शामिल करने हेतु कार्यक्रमों को चलाया।

प्रान्तीय भारत में रहने वाली जनता से ज्यादा त्रस्त रियासती जनता थी। रियासती जनता त्रिहरी गुलामी अंग्रेज, राजा एवं सामन्तवादी प्रणाली में पिस रही थी, ग्रामीण जनता में सामाजिक जाग्रति एवं राजनीतिक जाग्रति का प्रस्फुटन ना हो, इसके लिए भरकस प्रयास किये गये, जिससे जनता न केवल अशिक्षित रही बल्कि शोषित जनता अपने सीमित दायरे से बाहर नहीं आ सकी। महात्मा गांधी एवं गांधीवादी विचारों के जन नेताओं ने इस शोषित जनता को बाहर निकालने के लिए ऐसे कार्यक्रम बनाये, जिससे इनका न केवल सामाजिक विकास हुआ, बल्कि आर्थिक स्वावलम्बन के साथ राजनीतिक जागृति भी पैदा हुयी, ये कार्यक्रम रचनात्मक कार्यक्रम थे।

इन रचनात्मक कार्यक्रमों से दक्षिणी राजस्थान भी अछूता नही रहा। दक्षिणी राजस्थान के बांसवाड़ा-डूंगरपुर ऐसे क्षेत्र हैं, जहाँ आदिवासियों एवं दलितों का बाहुल्य है। यहाँ की जनता भी अंग्रेजों की दासता एवं सामन्तवादी गुलामी से त्रस्त थी। बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक दशको में महात्मा गांधी के रचनात्मक कार्यक्रमों से वांगड़ के जननेता जुड़े और आदिवासी जनता में सामाजिक एवं राजनीतिक जागृति के कार्यक्रमों को शुरू किया, परिणामत: 20वी शताब्दी के 30-40वें दशक में स्वाधीनता संघर्ष उफान पर आया। समूचे देश के साथ वागड़ के नवयुवक भी अपनी राष्ट्रीय चेतना के क्रियात्मक अभिव्यक्ति देने के लिए उदत्त थे। संगठनों के गरमदल, नरमदल, सशस्त्र क्रान्ति एवं असहयोग आन्दोलन से युवक अनभिज्ञ नही रहा तथा वही वांगड़ की धरती

पर गुजरात (अहमदाबाद) से आती हवाओं ने ऊर्जा का कार्य किया। इस रचनात्मक कार्यक्रमों द्वारा वागड़ के नेताओं ने आम जन को बेगारी, दोहरी गुलामी, सामाजिक विषमता और जड़ता के दंश के गहरे दर्द का अहसास कराया। इस जन नेताओं मे वांगड़ में जन-आन्दोलन एवं सामाजिक जाग्रति पैदा करने वालों में महात्मा चिमनलाल मालोत का नाम अग्रणीय रहा है।

आरम्भिक जीवन - श्री चिमनलाल का जन्म राजस्थान के बांसवाड़ा नगर में एक सामान्य वणिक परिवार में दिनांक 06 जून 1908 ई. को हुआ, इनके पिता का नाम नारायण लाल एवं माता का नाम श्रृंगार देवी था। चार भाइयों में सबसे चिमनलाल छोटे थे। अन्य तीन भाइयों ने परिवार की परम्परा के अनुसार अनाज के सामान्य व्यापार द्वारा अपने गृहस्थ जीवन का निर्वाह का कार्य किया। चिमनलाल मालोत ने एक सामाजिक कार्यकर्ता बनकर अपना पूरा जीवन हरिजनोंद्धार एवं गरीबों की सेवा में निकाल दिया।

देश भक्ति - चिमनलाल मालोत के समय में रियासत में शिक्षा के लिए मिडिल स्कूल था, जिसमें मालोत मिडिल से आगे नही पढ़ सकें और शिक्षा केवल पांचवी कक्षा तक प्राप्त की, इस स्कूल के हेडमास्टर बेनर्जी थे। मालोत उनके अत्यन्त प्रिय छात्रों में से एक थे। इन्होंने मालोत में राष्ट्रीयता की भावना जागृत की। इस बंगाली हेडमास्टर ने स्कूल की प्रार्थना में गीता अनिवार्य कर दी और प्रत्येक विद्यार्थी को प्रतिदिन गीता का एक श्लोक याद करके सुनाना था। इन्होने ही मालोत के जीवन में राष्ट्रीयता के बीज बोये। इसी स्कूल के हेडमास्टर के बाद मेवाड़ के होकमीचन्द सुराणा ने आर्य समाजी प्रवृतियों के माध्यम से बांसवाड़ा के संभ्रांत परिवारों में समाज-सुधार विषयक जाग्रति फैलायी, इनकी कार्य शैली का प्रभाव भी मालोत पर भी पड़ा और इनकी प्रेरणा से ही उन्होंने समाज के निम्न वर्ग को ऊंचा उठाने के लिए हरिजनों को पढ़ाना शुरू किया। किशोरावस्था से मालोत युवावस्था में प्रवेश कर चुके थे, राष्ट्रीयता के बीज जो विद्यार्थी काल में बोए थे, वो अंकुरित होने लगे कुछ क्रान्तिकारी कार्यो को कर गुजरने के लिए वे बैचेन थे, उन्हीं दिनों वागड़ के गांधीवादी कार्यकर्ता बाबा लक्ष्मण दास के सम्पर्क में आये। बाबाजी ने उन्हे हिंसक क्रान्ति की निरर्थकता समझाकर गांधीवादी रचनात्मक कार्यक्रमों की ओर आकर्षित किया।

चिमनलाल मालोत इस उम्र में पहुच चुके थे, जब परिवार उनसे आशा करने लगा कि मालोत परिवार की आर्थिक मदद करे तथा परम्परा के अनुसार विवाह की उम्र भी हो गयी थी। लेकिन मालोत ने परिवार वालो को इन दोनो बातो से इन्कार कर दिया। मालोत के बगावती विचारों से मालोत के परिवार वालो में राजभय छा गया। अत: परिवार वालो ने परिवार की परम्पराओं से बागी मानकर उन्हें परिवार से अलग कर दिया, जिनसे उन पर अपने जीवन निर्वाह का भार भी आ गया।

सार्वजनिक जीवन में प्रवेश - बांसवाड़ा की जनता अंग्रेजो की दासता एवं सामन्तवादी गुलामी में पीस रही थी। इन जुल्मों से बाहर निकालने का प्रण मालोत ने किया और गांधीवादी रचनात्मक कार्यों को अपने हाथो में लिया और वागड़ की जनता में सामाजिक जागृति का कार्य शुरू किया। बांसवाड़ा तब छोटी सी देशी रियासत थी और महारावल पृथ्वीसिंह यहाँ के शासक थे, वो निरंकुश थे।

ऐसी परिस्थितियों में मालोत ने राष्ट्रीय जागरण का कार्य की शुरूआत की, जिसमे घर-घर जाकर कुछ पुस्तकें इकट्ठी की और छोटे पैमाने पर एक पुस्तकालय स्थापित किया और युवा छात्रों में पुस्तक वितरण का काम प्रारम्भ किया। उन्होंने दो राष्ट्रीय समाचार पत्र मंगवाना शुरू किया जो उनकी दुकान पर सार्वजनिक वाचनालय के रूप में उपलब्ध रहते थे। वहाँ राष्ट्रीय विषयों पर चर्चा होती थी। इस प्रकार मालोत ने राष्ट्रीय विचार-प्रचार का कार्य शुरु किया। जीवन निर्वाह के लिए मालोत ने प्रारम्भिक काल में सिलाई का कार्य आरम्भ किया। लेकिन ये अधिक समय नही चला, बाद में अपना पूरा समय सार्वजनिक कार्यो में देने लगे, उनके भोजन व्यवस्था उनके युवा साथी चुपचाप अपने घरो से करते थे। 1931-32 ई. के जमाने में जब कुछ राष्ट्रीय प्रेमियों ने खादी बिक्री का कार्य शुरू किया तब मालोत खादी कार्य से जुड़ गये और 1930-32 ई. के आस-पास वे खादीधारी बन गये। लेकिन रियासत के शासको को खादी में बगावत की बू आती थी ओर वे उसे सहन नही कर सकते थे। किसी प्रकार खादी बिक्री को बन्द करवा दिया गया, लेकिन शासन को मालोत को इस कार्य से छुड़ाना था, तो कई बार झूठे आरोप लगाकर उनके घर की तलाशी ली गयी। इसके सहयोगी युवा साथियों के परिवार वालों को बुलाकर डराया गया ताकि वे मालोत का साथ छोड़ दे।

राष्ट्रीय जागरण - चिमनलाल मालोत ने समाज सेवा में सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया, खादी कार्य के साथ-साथ उन्होंने समाज में मृत्युभोज का विरोध किया। आप समाज में ठंडा पानी वितरित करने एवं झूठी पतले उठाने का कार्य किया। इन सब कार्यो से मालोत को समाज एवं शासन की नाराजगी झेलनी पड़ी तब मालोत ने महसूस किया कि किसी भी अच्छे कार्य करने के लिए जितना जन समर्थन होना जरूरी है उसी प्रकार कोई भी राष्ट्रीय कार्य करने से पहले जनता में राष्ट्रीय चेतना जगाना भी उतना ही जरूरी है। इसी विचार से मालोत ने बाबा लक्ष्मण दास के साथ संगठन की स्थापना की, तब वाचनालय शुरू किया गया, जो पिपली चौक में रामनारायण जी के मकान में था तथा इसी उद्देश्य को लेकर 1930 ई. शान्त सेवा कुटी नाम से पुस्तकालय की स्थापना की। कुछ मांग कर और कुछ चंदा इकट्ठा करके पुस्तके इकटठी की गयी और राष्ट्रीय विचारधारा वाले अखबार मंगाये जाने लगे। पुस्तकालय में चर्चाएं-सभाएं होती थी। अपने विचारों के प्रचार के लिए 'सेवक' नाम का एक हस्त लिखित पत्रिका भी निकाला जाने लगी। मालोत ने इस कार्य के लिए न केवल अपना पूरा समय बल्कि वसीयत प्राप्त

अपना निजी घर भी अर्पित कर दिया। साथ ही इस समय उनके दैनिक दिनचर्या में भी मुश्किले आयी परन्तु सहयोगी एवं मित्रों के साथ के कारण उदर पूर्ति एवं अन्य कार्यो का निपटारा कर लिया करते थे। ज्यों-ज्यों शान्त सेवा कुटी पुस्तकालय की प्रवृतिया बढ़ने लगी, हरिजनो, निम्न वर्गीय व आदिवासियों की जागृतियाँ बढ़ने लगी, तब उन प्रवृतियो को एक संगठित संस्था का रूप देने को सोचा गया ओर अपने अत्यन्त निकट एवं विश्वास पात्र कुछ साथियों को लेकर 1935 ई. में 'शान्त सेवा-कुटी' नामक संस्था का गठन किया। इसके अध्यक्ष अमृतलाल जी नागर थे। मालोत आजीवन इस संस्था के संस्थापक मंत्री के रूप में कार्य करते रहे। इस संस्था के निम्न उद्देश्य थे -

''संस्था उद्देश्य की पूर्ति के लिए रचनात्मक कार्य करेगी। महात्मा गांधी द्वारा निर्दिष्ट सम्पूर्ण रचनात्मक प्रवृतियों का विकास करना, पुस्तकालय-वाचनालय खोलना, ग्रामोद्योग का विकास करना, अस्पृश्यता भेदभाव मिटाना, खादी का प्रचार करना, अपने उद्देश्य के लिए पुस्तक तथा पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित करना, लेखन तथा भाषण द्वारा प्रचार कार्य करना तथा जनता को अकस्मात आयी हुअी विपत्तियों में साथ देना।'' संस्था के सदस्यों के लिए निम्न योग्यता निर्धारित की गयी जिसमें सदस्यों को उक्त उद्देश्यों को दिल से मानना पड़ेगा शुद्ध खादी वस्त्र पहनना पड़ेगा तथा नियमित 160 तार कातने पड़ेगे, छूआछूत को नही मानेंगे, संस्था को 1 रु. मासिक सहायता आवश्यक रूप देना होगा, इसकी रिपोर्ट हर माह देनी पड़ेगी, यदि 6 माह तक रिपोर्ट नही आने पर सदस्यता से मुक्ति हो जाएगी।

हरिजनोद्धार का कार्य - पुस्तकालय स्थापना के साथ ही मालोत हस्तलिखित पत्र 'सेवक' निकालना शुरू किया, इसके सम्पादक के रूप में गौरी शंकर उपाध्याय, बाबा लक्ष्मणदास, धूलजी भाई व नटवर भाई भट्ट जैसे युवकों ने कार्य किया। इस पत्रिका में सामाजिक जड़ता, सामाजिक बुराइयां समाज को कमजोर करने वाली रस्मो रिवाजों छुआछूत के विरुद्ध लेख लिखे जाने लगे। इन कार्यों से स्वाधीनता संघर्ष की हलचल तेज हो गयी, वही दूसरी तरफ सरकारी दमन चक्र बढ़ गया। गौरी शंकर उपाध्याय को राज्य से निर्वासित कर दिया गया। तब चिमन लाल मालोत ने हरिजन सेवा को अपनी सामाजिक क्रान्ति का आधार बनाया। प्रारम्भ में उन्होंने नगर के हरिजन बालकों को अक्षर ज्ञान कराने की दृष्टि से पढ़ाना आरम्भ किया। हरिजन बस्ती में स्कूल खोल दिया। हरिजनों के स्वास्थ एवं सफाई सम्बन्धी जानकारी देने एवं उसके लिए एक उदाहरण कायम करने की दृष्टि से स्वयं ने हरिजनों के बस्ती के बीच एक झोपड़ी में अपना निवास स्थान बनाया। इस आलोक में निम्न जाति के लोगों को उपर उठाने का कार्य शनैः-शनैः आरम्भ किया, तब नैमा जाति ने मालोत के इस कार्य को काफी गंभीरता से लिया तथा इन्हे जाति से बहिष्कृत कर दिया।

राज्य ने हरिजनों को जो अधिकाशतः नगरपालिका के वेतनभोगी कर्मचारी थे। अनेको प्रकार से भड़काया, ताकि वे अपने बच्चों को मालोत के पास पढ़ने नही भेजे, और अपने मोहल्ले से निकाल दे, परन्तु मालोत ऐसी अडचनो से भागे नही और हरिजन शिक्षा के कार्य को चालु रखा। नाथुलाल हरिजन बताते है कि '1935-45 ई. तक मालोत ने मेरे दादा के घर में विद्यालय चलाया'। मालोत की शिक्षा व प्रेरणा के परिणाम से एक हरिजन युवक कारूलाल ने 'साहित्य रत्न'' (हिन्दी साहित्य संस्थान, प्रयाग) की परीक्षा उर्त्तीण की और विशारद व प्रथमा तक का अध्ययन कई लड़को ने किया जिसमें कारूलाल, कचरूलाल दोनो हरिजन तथा हीरजीभाई और बलदेव आदिवासी थे।

महात्मा गांधी के निर्देशानुसार एवं सामाजिक जड़ता को मिटाने के लिए वागड़ के नेताओं ने न केवल हरिजन समाज का उदार किया अपितु यथार्थ में गले लगाकर अपने परिवार का सदस्य बनाया। इस कार्य में गौरीशंकर उपाध्याय, भूपेन्द्रनाथ त्रिवेदी, धुलजी भाई भावसार, चन्दुलाल गुप्ता एवं चिमनलाल मालोत अग्रणी रहे। जिस युग में शुद्र कहे जाने वाले व्यक्ति की छाया में परहेज किया जाता था, इनकी आवाज कान में पड़ने पर स्नान करना पड़ता था, तथा जिस बस्ती से गुजरने पर सामाजिक बहिष्कार जैसा दण्ड पाने का भय रहता था, ऐसे परिस्थिति मे चिमनलाल मालोत ने न केवल हरिजनो मे शिक्षा का अलख जगाया अपितु समाज सुधार में अग्रणी रहते हुए दो पतियों से परित्यकता और संतानवती एक अनपढ़ हरिजन महिला से अर्न्तजातिय विवाह कर एक नया क्रान्तिकारी कदम उठाया। वागड़ मे मालोत के सामाजिक सुधारक कार्यक्रम की गुंज राजनीतिक स्तर पर पहुँचने लगी। इस समय महात्मा गांधी भी हरिजन सेवक संघ के माध्यम से पूरे भारत में हरिजनो के उदार का कार्य कर रहे थे।

1939 ई. में गांधी के निकटतम सहयोगी आदिवासी एवं हरिजन उत्थान आन्दोलन के प्रमुख कार्यकर्ता श्री ठक्कर बप्पा एवं श्रीमती रामेश्वरी नेहरू ने बांसवाड़ा का दौरा किया तब वे चिमनलाल मालोत एवं शान्त सेवा कुटी के कार्यों को देख अत्यन्त प्रभावित हुए। उन्होंने अपने दौरे की रिपोर्ट गांधीजी को भेजी। जिसमें उन्होंने मालोत की भूरी-भूरी प्रंशसा की। परिणामतः जब 1939-40 ई. में जमनालाल बजाज ने राजस्थान हरिजन सेवक संघ की स्थापना की, तब मालोत को भी सम्मानपूर्वक संघ में लिया गया तब मालोत सम्पूर्ण राजस्थान के राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं से सम्पर्क में आये। बांसवाड़ा में अक्सर ठक्कर बप्पा एवं रामेश्वरी नेहरू का आगमन होता रहता था और वे मालोत को 'महात्मा जी' के नाम से पुकारते थे।

मालोत ने सामाजिक जागृति के साथ अन्य जातियों में हरिजनों के प्रति आदर स्थापित करवाने हेतु चतुर्भज राय मन्दिर में हरिजनो को प्रवेश करवाया। इनके प्रयत्नों का एक सदप्रभाव यह रहा कि बांसवाड़ा में इसाईयत के प्रचार-प्रसार व छोटी जाति धर्म परिवर्तन की जालयोजना से बांसवाड़ा का हरिजन सुरक्षित रहा। मालोत ने शिक्षा के

साथ-साथ हरिजनों व आदिवासियों में शराब छुड़वाने, अंधविश्वास मिटाने एवं रूढ़िवादी परम्पराओं से मुक्ति दिलाने का लक्ष्य भी रखा।

अकाल राहत कार्य - 1934 ई. मे बांसवाड़ा रियासत मे भयंकर अकाल पड़ा, गरीब एवं भूख से पीड़ित आदिवासी काम की तलाश मे ईधर-उधर भटक रहे थे, नगर भी आदिवासियों से अटा पड़ा था। लेकिन राज्य शासन उनके विषय मे मौन व निष्क्रय था। चिमनलाल मालोत आदिवासीयों की इस पीड़ा को सहन नही कर सके और अकाल राहत कार्य प्रारम्भ कर दिया। इस कार्य के लिए मिड़ल स्कूल के किशोर छात्रों का सहयोग लिया और स्कूल से छुटने के बाद यह दल उनके निर्धारित मोहल्लों में 'मुठ्ठी भर आटे का दान' मांगने को निकल पड़ता। प्रारम्भिक दौर मे तो लोग हंसते, लेकिन उद्देश्य समझ मे आने पर मुक्त हस्त से आटे का दान करने लगे। कई लोग तैयार राटियाँ दान करते। रोटियाँ बालको मे बांट दी जाती ओर श्रमिको को मजदूरी मे आटा दिया जाता था और इस प्रकार मालोत ने सिद्धनाथ महादेव के पास जवाहर पुल के पूर्व मे कांगडी नदी का पाल चौड़ा करवाया। यह कार्य दो महिने चला तथा वर्षा ऋतु आरम्भ होने पर बन्द किया गया। 1951 ई. में भी अकाल पड़ने पर मालोत ने शान्त सेवा कुटी मे माध्यम से दुग्ध वितरण का कार्य किया।

महामारी मे मालोत की भूमिका - वागड़ की जनता कच्ची बावड़ियों, नालों में कारण नारू रोग से पीड़ित रहती थी। आजादी से पहले परिवार मे कोई एक न एक सदस्य इस रोग से पीड़ित था। इससे द्रवित होकर मालोत ने एक बार इस रोग से पीड़ित लोगो का व्यापक सर्वेक्षण करवाया और बाहर से चिकित्सक बुलाकर इलाज करवाने की कोशिश की।

1941 ई. मे बांसवाड़ा रियासत के ग्रामीण क्षेत्रों में हैजे का भयंकर प्रकोप हुआ। उस समय नगर मे मात्र एक डिसपेन्सरी थी, गांवो मे चिकित्सा के नाम से कोई व्यवस्था नही थी। आदिवासी इसे दैवी प्रकोप मानकर झाड़-फूक मे विश्वास करने लगे, परिणाम काफी लोग मर गये, गांव के गांव खाली हो गये। कई परिवारों मे लाशों को उठाने वाला भी नही बचा था। राज्य की तरफ से कोई चिकित्सीय व्यवस्था नहीं की गयी, तब मालोत व उनके साथियो ने इस बीड़े को अपने हाथो में लिया। उन्होंने अपने साथियो को हैजे के इंजेक्शन देने का प्रशिक्षण दिलाया और वांछित दवाईयों और रोग के रोक-थाम सम्बन्धी प्रारम्भिक जानकारी दी और टोलिया बनाकर विभिन्न क्षेत्र मे भेज दिया। इस कार्यो के दौरान स्वयं मालोत भी हैजे के चपेट मे आ गये । इन कार्यों से चिमनलाल मालोत की प्रतिष्ठा मे वृद्धि हुई।

राजनीतिक गतिविधियां - बीसवी शताब्दी के 30-40 के दशक का समय वो काल था, जब आजादी की लड़ाई चरम पर थी। रियासती आन्दोलन मे एक तरफ जनता थी, तो दूसरी तरफ अंग्रेज एवं सामन्तवादी ताकते थी। ये ताकते अपनी पूर्ण शक्ति के साथ सामाजिक एवं राजनीतिक जागृति को दबाने मे लगी हुयी थी। यही हाल इस समय

बांसवाड़ा का भी था। चिमन लाल मालोत, मणिशंकर नगर, बाबा लक्ष्मणदास, धूलजी भाई भावसार आदि नेताओ ने बांसवाड़ा मे राजनीतिक जागृति पैदा कर दी थी ओर यहा की प्रजा भी राष्ट्रीय आन्दोलन मे भारत आजादी के साथ रियासती आजादी का सपना भी देखने लगी थी। चिमनलाल मालोत के सामाजिक जागृति व रचनात्मक कार्यक्रमों से तथा प्रजा की दु:खों में नि:स्वार्थ भागीदारी से मालोत की प्रतिष्ठा बढती गयी, इससे शासन को उनसे भय होने लगा इस समय मालोत नगरपालिका के निर्वाचित सदस्य थे। अपनी नाराजगी की सार्वजनिक अभिव्यक्ति देने पर शासन ने मालोत को नगर पालिका की सदस्यता के लिए अयोग्य घोषित कर दिया। मेवाड़ एवं अन्य रियासती की तरह बांसवाड़ा मे 1942 ई. तक कोई राजनीतिक आन्दोलन नहीं हुआ था। जब गांधी जी ने 1942 ई. में भारत छोडो आन्दोलन का ऐलान किया तो रियासत मे भी 'भारतीय नरेशों-अंग्रेजो का साथ छाड़ो' के उद्देश्य को लेकर आन्दोलन हुए। बांसवाड़ा के जन नेताओं ने भी 1942 ई. के भारत छोडो आन्दोलन को प्रत्यक्ष आन्दोलन का रूप नहीं दिया परन्तु रचनात्मक कार्यों द्वारा जन-जागृति का प्रयास तेज कर दिया।

1942 ई. के भारत छोड़ो आन्दोलन के पश्चात जब पूना के आगा खां महल में गांधीजी के सचिव महोदव भाई देसाई की मृत्यु हो गयी तब उनके लिए चिमनलाल मालोत ने नगर मे एक सार्वजनिक शोक सभा आयोजित करने का तय किया। उस समय सरकार की भारत छोड़ो आन्दोलन के कारण रियासत की राजनीतिक गतिविधियों पर कड़ी नजर थी। यद्यपि यह शोक-सभा कोई राजनीतिक सभा नहीं थी फिर भी रियासती शासन लोगों को डरा धमकाकर पूरा प्रयत्न किया कि यह शोक सभा नहीं हो सके। मालोत ने नियत समय पर नगर के केन्द्र में स्थित महालक्ष्मी चौक में अपने वाचनालय के बाहर मैज-कुर्सी निकालकर सभा का आयोजन किया। इस सभा में पुलिस का सख्त पहेरा था, फिर भी सात युवक श्रोता के रूप मे उपस्थित, उसमे मे पूनमचन्द सोनी, कालेखां पुरूषोत्तम त्रिवेदी एवं हिम्मत लाल त्रिवेदी प्रमुख स्वतन्त्रता के पुजारी मौजूद थे।

मालोत को जनता को भड़काने और शान्ति भंग करने का आरोप लगाकर गिरतार कर जेल में डाल दिया गया। उस समय राजनैतिक कैदी का दर्जा नहीं था, तो उन्हे सामान्य कैदियों की तरह रखा गया और व्यवहार भी सामान्य केदियों की तरह किया गया। खाने-पीने की व्यवस्था सामान्य कैदियो से बदत्तर थी, वही विशेष भोजन के नाम पर कांच का चूर्ण मिला कर खाना दिया जाता था। ऐसी स्थिति में मालोत का स्वास्थ्य बिगड़ गया। बाद में राजनीतिक परिस्थितियों के दबाव के कारण रियासत को उन्हें जेल से मुक्त करना पड़ा।

खादी कार्य - बांसवाड़ा राष्ट्रीय चेतना खादी व्रत के माध्यम से आयी। लक्ष्मण दास बाबा की प्रेरणा से देवीशंकर नागर ने 1930 मे 'खादी मन्दिर' खोला लेकिन किन्हीं

कारणों से खादी मन्दिर बन्द हो गया। लेकिन इस कार्य ने पूरे वागड़ ने खादी पहनने की प्रेरणा दे दी। बांसवाड़ा के रचनात्मक कार्यों में लगभग सभी जन नेताओं यथा धूलजी भाई भावसार, मणिशंकर नागर, पूनमचन सोनी, लक्ष्मण दास, चादकरण शाह, चिमन लाल मालोत आदि ने खादी कार्यों द्वारा राष्ट्रीय चेतना का कार्य किया। इससे प्रभावित न केवल आमजन अपितु रियासती लोगों में भी खादी कार्य एवं खादी पहनावे ने खौफ का कार्य किया।

1935 ई. मे जब चिमन लाल मालोत ने शान्त सेवा कुटी की स्थापना की उसके मूल उद्देश्य में खादी प्रचार करना था, तथा संस्था के सदस्यों के लिए यह अनिवार्य था कि वे शुद्ध खादी पहिने तथा 160 तार नियमित कात कर संस्था को देंगे, तथा हर माह इसकी रिपोर्ट दी जाएगी। यदि 6 माह तक खादी कातने की रिर्पोट नहीं देने पर संस्था की सदस्यता से बहाल कर दिया जाएगा। 1944-45 ई. मे मालोत ने बांसवाड़ा नगर की नई आबादी में विशाल पैमाने पर खादी उत्पत्ति केन्द्र प्रारम्भ किया। यहा कताई-बुनाई के अलावा पिंजाई एवं पूणी बनाने का काम भी होता था। नवयुवकों का इस कार्य में प्रति सम्मान पैदा हुआ, परिणामत: खादी कार्य से नव युवकों ने राष्ट्रीय प्रेम की अलख जगी।

प्रजामण्डल की स्थापना - बांसवाड़ा में राष्ट्रीय चेतना का सूत्रपात गोविन्द गिरी के भगत आन्दोलन ने किया था। 20 शताब्दी मे गांधीजी ने रचनात्मक कार्यक्रमों को लेकर चिमनलाल मालोत, धुलजी भाई भावसार आदि जन नेता बांसवाड़ा में जन आन्दोलन को राष्ट्रीय आन्दोलन बदल दिया। निरन्तर सरकारी जुल्मो, कठोर प्रशासनिक कार्यवाहियों, बेगार प्रथा, शासक का कठोर शासन, अन्यायपूर्ण नीतियां, कर्मचारियों की भ्रष्ट कार्यवाहीयां, राष्ट्रीय प्रेमीयों पर सरकारी दमन चक्र तथा देश में चल रहे स्वतन्त्रता आन्दोलन व पडौसी रियासतो में स्थित प्रजामण्डलो का नेतृत्व, शासन के विरुद्ध किये जाने वाले सत्याग्रह आन्दोलन को महसूस कर जनता एवं जन-सेवकों ने एक राजनैतिक संगठन की आवश्यकता महसूस की।1938ई. के हरिपुरा अधिवेशन में बाद कांग्रेस ने रियासती आन्दोलन का समर्थन देकर राजनीतिक संगठन स्थापित करने की स्वतन्त्रता व समर्थन देने की घोषणा की। जिसके तहत राजपुताने की रियासतों में प्रजामण्डलों-प्रजापरिषदों आदि राजनीतिक सगंठनों की स्थापना हुयी। बांसवाड़ा में शान्तसेवा कुटी जैसी सामाजिक संस्था सामाजिक जागृति का कार्य कर रही थी। शान्तसेवा कुटी से इस जागृति के कारण बांसवाड़ा में राजनीतिक जागृति आयी, और राजनीतिक संगठन की आवश्यकता में शान्त सेवा कुटी महत्वपूर्ण योगदान रही। ऐसी स्थिति में 27 मई 1945ई. को बांसवाड़ा के कर्मठ कार्यकर्ताओं ने बांसवाड़ा में प्रजामण्डल की स्थापना की, जिसके अध्यक्ष मणिशंकर नागर एवं धूलजी भाई भावसार मंत्री बने और चिमन मालोत इस संस्था के प्रमुख सदस्य बने।

अनाज आन्दोलन मे भूमिका - बांसवाड़ा मे 1945-46ई. में भयंकर अकाल पड़ा। इस भीषण अकाल के समय राज्य द्वारा किये जा रही अनाज निकासी के विरोध मे 24 फरवरी, 1946 ई. को हजारों व्यक्तियों ने प्रजामण्डल के नेतृत्व तत्कालीन दिवान मोहन सिंह मेहता के निवास पर आन्दोलन किया। सरकार ने दमन का सहारा लिया और प्रजामण्डल पर नगर पालिका सीमा में सभा करने पर रोक लगा। तब प्रजामण्डल ने नगर पालिका की सीमा के बाहर बारेराव वर्तमान में यह आकेट्टाय नाका एवं बोहरों का कब्रिस्तान है, वहां पर 4 मार्च 1946ई. की प्रजामण्डल द्वारा सभा की गयी। 5 मार्च 1946 ई. को प्रात: धुलजी भाई, भूपेन्द्र नाथ त्रिवेदी, शंकर देव, सूर्यकरण गुप्ता को गिरफ्तार कर लिया गया। यह समाचार सारे शहर में फैल गया, सारा शहर इस कार्य से उत्तेजित हो गया। शहर मे धारा 144 लगा दी गयी। सरकार के इस दमन के खिलाफ चिमन लाल मालोत एवं अन्य साथीयों ने धारा 144 तोड़कर जुलुस निकाला एवं हड़ताल करवायी। इस पर पुलिस ने चिमन लाल मालोत एवं अन्य साथियों को गिरफ्तार कर लिया। परिणाम स्वरूप जनता व पुलिस के बीच काफी तनाव बन गया और वातावरण उत्तेजना पूर्ण हो गया। शहर की जनता उग्र हो गयी, मुख्य सचिव के बंगले को घेरकर गिरतार नेताओं की रिहाई की मांग करने लगी। जनता के आन्दोलित होने के कारण सरकारी काम ठप्प हो गया। तीन दिन तक चले जन-आन्दोलन और हड़ताल के आगे सरकार को झुकना पड़ा और गिरतार लोगो को रिहा करना पड़ा। बांसवाड़ा की जनता की यह महान विजय थी। 15 अगस्त 1947 ई. को भारत आजाद हुआ। रियासती विलीनीकरण में बांसवाड़ा प्रथम संयुक्त राजस्थान संघ मे शामिल हो गया। बांसवाड़ा मे इस जन-चेतना आन्दोलनों के परिणाम स्वरूप 1948 मे प्रतिनिधि सरकार बनी। मालोत राजनीतिक गतिविधियों से स्वयं को दूर रखा और मात्र महात्मा गांधी द्वारा निर्देशित रचनात्मक कार्यों में लगे रहे। 1948 ई. के बाद वे पूर्णतया हरिजनोद्धार, सामाजिक उत्थान और हरिजनों की शिक्षा दीक्षा में लग गये। साथ ही शान्त सेवा कुटी के तत्वावधान मे विविध ग्रामोद्योग, कताई-बुनाई, तेल-घाणी, कुम्हार, टेलरिंग, कांरपेंटिग कार्यों द्वारा लोगों को आर्थिक स्वावलम्बन की प्रेरणा देने का कार्य किया। हरिजन पाठशाला के साथ- साथ मालोतों की खिड़की में अपने पेतृक मकान मे महिला पाठशाला स्थापित की। मद्य निषेध, अन्धविश्वासों एवं रूढ़िवादी परम्पराओं से समाज से मुक्ति दिलाने का कार्य आपने जीवन भर किया। 1954 ई. मे प्रौढ़ शिक्षा का प्रारम्भ किया

हरिजन जीवन - चिमनलाल मालोत सार्वजनिक जीवन में प्रवेश हरिजन सेवा से ही किया था। हरिजनोद्धार कार्यक्रम में उन्होंने हरिजन बालको शिक्षित-दीक्षित करने के साथ-साथ आर्थिक स्वावलम्बी भी बनाया। कई बालकों को शिक्षित कर देश-सेवा के लिए योग्य बनाया, इसके लिए उन्हें समाज का कोप भाजक भी बनना पड़ा।

समाज मे यथार्थ मे हरिजनों को गले लगाने की मिसाल को प्रमाणित करने लिए उन्होंने न केवल अपना मकान हरिजनों के मोहल्ले मे बनाया, अपितु उन्होंने दो पतियो से

परित्यक्ता तथा संतानवती एक अनपढ प्रौढ़ हरिजन महिला से अर्न्तजातिय विवाह कर एक नया क्रान्तिकारी कदम उठाया और उसकी पुत्री का विवाह एक संभ्रांत परिवार में करवाया। हरिजनों को समाज मे ऊंचा उठाने के लिए तथा उनके मन से हीनता की भावना को दूर करने के लिए रूप चतुर्भुज राय मन्दिर में हरिजनों को प्रवेश कराया।

भारत की आजादी के बाद चिमनलाल मालोत ने स्वयं को राजनीतिक सत्ता से दूर रख कर मात्र हरिजनोद्धार के कार्यों में संलग्न रखा और वे इस कार्य में इतने रम गये तब 1966 मे वे तत्कालीन नगर पालिका अध्यक्ष दीनकर लाल मेहता के पास गये और उन्होंने अपने लिए स्वीपर का कार्य मांग लिया और करा कि ''मैं सफाई का कार्य करूंगा ओर मुझे वैधानिक रूप दिया जाय''। दिनकर मेहता पेशा-पेश पड़ गये कि कैसे एक वृद्ध एवं प्रतिष्ठित व्यक्ति को यह कार्य दिया जा सकता है। लेकिन वे अपनी इस सेवा के लिए अडिग थे। दिनकर मेहता ने तत्कालीन मुख्यमंत्री मोहनलाल सुखाड़िया को भी मालोत की इस जिद से अवगत कराया, लेकिन उन्होंने यह पद नहीं देने पर भूख-हड़ताल की धमकी दे दी। मालोत ने अपनी स्वतन्त्रता सेनानी की पेंशन की बन्द होने की चिन्ता भी नहीं की और स्वीपर पद हेतु जिद पर अड़े रहे। अन्त में मजबूर होकर दिनकर मेहता ने मालोत को स्वीपर के पद पर नियुक्ति दी और उन्हें गांधी मूर्ति से कुशल बाग के क्षेत्र में काम करने पर लगाया, परन्तु वे दिखावे मात्र के लिए काम नहीं चाहते थे, वास्तविकता में काम करना चाहते थे, आखिर में मजबूर होकर दिनकर मेहता को, मालोत को मुख्य बाजार में काम देना पड़ा, जहां उन्होंने हरिजन कार्य प्रणाली की तरह कई महिनों तक कार्य किया। मालोत हरिजन मोहल्ले से हरिजनों को गांधी मूर्ति पर लाते, प्रार्थना सभा करवाते एवं अपने-अपने काम पर जाने के लिए निर्देश देते। मालोत ने वास्तविकता में अपने कार्य रूप को भंगी जीवन का रूप दिया।

आजीवन हरिजनोद्धार कार्य मे संलग्न रहते मालोत ने विनोबा भावे के भूदान आन्दोलन में शामिल हुए और सर्वोदय सेवक बने और विचार-प्रचार की दृष्टि से 'सर्वोदय' नामक एक मासिक पत्र का प्रकाशन किया, इसके लिए एक छापाखाना भी स्थापित किया। चिमनलाल मालोत का जीवन राष्ट्रीय सेवा के लिए समर्पित था तथा उन्होंने बचपन से ही राष्ट्रीय चेतना का कार्य किया। बांसवाड़ा मे राष्ट्रीय चेतना का प्रार्दुभाव मालोत ने शान्त सेवा कुंटी से की थी। वाचनालय एवं पुस्तकालय स्थापित कर उस जमाने मे राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत पत्रिकाएं मंगवा कर आम जन को राष्ट्रीयता के लिए प्रेरित किया। इन्ही कार्यों के साथ मालोत ने गांधीजी के रचनात्मक कार्यों से वागड़ के आदिवासी एव दलितों के सामाजिक जागृति का कार्य शुरू किया और हरिजनो)ार के लिए आपने जीवन लगा दिया। इन्ही कार्यो को सम्पादित करते हुए उन्होंने मृत्यु से पूर्व वसीयतनामा लिखा जिसमें अपनी राजनीतिक पीड़ित पैंशन से मिलने वाली राशि तक को सार्वजनिक कार्यों में लगा दिया तथा उन्होंने इस वसीयतनामे में अपनी इच्छा जाहिर

की कि ''मेरी मृत्यु के बाद मैरी अर्थी हरिजन लोग भी उठाना चाहे, तो उनको इन्कार नहीं किया जाये और कम से कम एक खांदा हरिजन उठावे, मेरे पीछे कोई मृत्युभोज नही किया जाये।''

इन्हीं संघर्षों एवं समाज सेवा करते-करते 25 नवम्बर 1969 ई. को चिमनलाल मालोत इस दुनिया से चल बसे। अन्तिम समय में उनके प्राण तभी निकले तब उन्हे राष्ट्रीय गीत 'विश्व विजय तिरंगा प्यारा' सुनाया गया।

सन्दर्भ

1. *नवजीवन (समाचार पत्र) , दिनाक-6नवम्बर, 1944 ई. रचनात्मक कार्यक्रम पर लेख।*
2. *श्रीमाल, दीपक, 2004, इतिहास पुरूष मालोत, प्रकाशक-वागड़ ना आम्बा, बांसवाड़ा।*
3. *सामवेदी, चक्रकीर्ति, राजस्थान मे स्वतन्त्रता संग्राम के अमर पुरोधा-धूलजी भाई भावसार, राजस्थान स्वर्ण जंयति प्रकाशन समिति, जयपुर।*
4. *साक्षात्कार-श्री भगवतीलाल मालोत (मित्र चिमनलाल मालोत), दिनाक-24,अगस्त, 2004*
5. *'वसीयत-नामा' स्व. श्री चिमनलाल मालोत सम्बधित पत्र, बांसवाड़ा जन सर्म्पक कार्यालय से प्राप्त।*
6. *'बांसवाड़ा राज्य प्रजामण्डल विधान पत्र', राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बकानेर।*
7. *'हरिजन सेवक- स्व. श्री चिमनलाल मालोत', बांसवाड़ा जन सर्म्पक कार्यालय से प्राप्त।*
8. *'शान्त सेवा कुटी विधान पत्र', बांसवाड़ा जन सर्म्पक कार्यालय से प्राप्त।*
9. *शर्मा, रामगोपाल, बांसवाड़ा राज्य प्रजामण्डल आन्दोलन।*
10. *त्रिवेदी, हिम्मतलाल, बांसवाड़ा-सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनैतिक चेतना का संक्षिप्त इतिहास, प्रकाशक-श्री धूलजी भाई भावसार, बांसवाड़ा*
11. *'यादें-57 वे स्वंतन्त्रता दिवस पर वांगड़ के देशभक्तों और उनकी स्मृतियों का विनम्र निवेदन.....', नवजीवन (समाचार पत्र) , दिनाक-15 अगस्त, 2004, बांसवाड़ा जन सर्म्पक कार्यालय से प्राप्त।*
12. *चौधरी, हेमेन्द्र (2007), वांगड़ मे रचनात्मक कार्यक्रम, चन्द्रशेखर शर्मा, प्रो. कृष्णस्वरूप गुप्ता अभिनन्दन ग्रन्थ (पेज न. 273-276) उदयपुर, अभिनन्दन समारोह समिति।*

राष्ट्रीय चेतना के संवाहक - शंकर दान सामोर

डॉ. (श्रीमती) चन्द्रप्रभा पारीक

उन्नीसवीं सदी में राजस्थान में स्वतंत्र व राष्ट्रीय चेतना का शंखन करने वाले कवि शंकरदान सामोर का जन्म चुरू जिले के बोवसर गांव में 22 नवम्बर 1824 में हुआ था। अंग्रेजों व उनके आश्रित राजाओं, सामन्तों की जन विरोधी घातक नीति इस युग में राजस्थान में सामन्ती व्यवस्था, प्रजापीड़न, व क्रूरता व मानवीय अद्य:पतन की पराकाष्ठा का प्रतीक बन कर रह गयी थी। एक जंगल राज की शुरूआत हो गई जिसमें जनता राजाओं व उनके जागीरदारों का भाग बन गई। गोरे स्वामियों की चाटुकारिता में डूबे राजा व जागीरदार प्रजा को नींबू की तरह निचोड़ने लगे।[1] जिन मेहनतकश लोगों के पश्रिरम पर उनकी विलासिता का तांडव चल रहा था, वे तिहरी गुलामी के बोझ के नीचे दबकर सर्वथा असहाय हो गए। ये शोषक सामन्त इतने विवेकहीन हो चुके थे कि रैयत द्वारा की गई फरियाद को भी उन्होंने अपनी सत्ता के लिये चुनौती समझकर निर्मम दमन का सहारा लिया। सामोर ने तत्कालीन परिस्थिति पर समग्रता से विचार किया। फलत: यह बात उनके सम्मुख दिन के उजाले की भांति स्पष्ट हो गई कि "मीठे ठग"[2] अंग्रेजों की बनिया मनोवृत्ति ही इसके लिये उत्तरदायी है। अपनी वणिक वृत्ति से उन्होंने पूर्ववर्त्ती सभी आक्रान्ताओं को पीछे छोड़ दिया था। इस बात को रेखांकित करते हुए सामोर ने कहा कि अंग्रेज तो चंगेजखां से भी दो कमद आगे थे क्योंकि -

महलज लूटण मोकला चढ्या सुण्या चंगेज।
लूटण झूंपा लालची आया बस इंगरेज॥[3]

विदेशी शासन केक अभिशप से देश को मुक्त कराने हेतु प्राणपण से संचेष्ट सामोर का तेजस्वी रूप 1857 के स्वतंत्रता में अपनी पूर्णता से प्रकट हुआ। वे इस संग्राम की महत्ता को भली-भांति समझते थे। उन्होंने देशवासियों को उद्‌बोधन देते हुए स्पष्ट किया कि इस दुर्लभ अवसर को खो देने पर हिन्द की खोयी आजादी को प्राप्त करने का ऐसा मौका फिर नहीं आएगा। जैसे छलांग भरते समय एक बार हिरण चूक जाता है तो फिर संभल हीं पाता यह छप्पण दृष्टव्य है -

आयौ औसर आज, प्रजा पख पूरण पालण
आयौ औसर आज, गरब गोरां रौ गालण
आयौ औसर आज, विकट रण खाग बजाणी
फाल हिरण चुक्या फटक, पाछौ फा न पावसी
आजाद हिंद करवा अवर, औसर इस्यौ न आवसी।[4]

इस विप्लव में राजस्थान में ब्रिटिश सत्ता को गम्भीर चुनौती देने वाले आऊवा पर ब्रिटिश सत्ता को सर्वाधिक ध्यान देना पड़ा। इसके विरूद्ध आऊवा का सर्वनाश करने के लिए विभिन्न अभियानों एवं प्रतिशोध की भावना से स्पष्ट करते है कि अंग्रेजों की दृष्टि में आऊवा की इस यशस्वी घटना का वर्णन सामोर ने इस प्रकार लिखा है -

हुआ दुखी हिंदउवाण रा रूकी न गोरां राह।
विकट लडरूो बिखौ सझों वाह आऊवा वाह।[5]

आऊवा ठाकुर कुशालसिंह ने 1857 क्रान्ति के समय संघर्ष का नेतृत्व किया उनके बारे में सामोर कहते है -

खेल्यों रण में खाग हूं जचकर जूस्यों जंग।
दियो सरब हित देश रै रंग खुशाला रंग।[6]

अर्थात् देश के लिये सब कुछ न्यौछावर का आऊवा ठाकुर इस जंग में कूद पड़े।

आऊवा की अगुवाई इस अभियान में आलनियावास ठिकाने ने भी काफी साथ दिया। इस क्रम में आलनियावास को अंग्रेजी सेना द्वारा घेर लिया। जब मंडावा ठाकुर आनन्दसिंह शेखावत को इस बात का पता चला तो वह दल बल के साथ आलनियावास की ओर चल पड़ा। शेखावतों ने अंग्रेजी सेना पर पीछे से आक्रमण कर दिया, अंग्रेजों को इस बात से काफी धक्का लगा। आनन्द सिंह द्वारा मौके पर की गई सहायता से आलनियावास आसन्न संकट से मुक्त हुआ।

सामोर ने इस घटना की सराहना करते हुए लिखा[7] -

मोद मंडावै मोकलों ढोल ढमकै पाल।
कवप्व कठे कोठार सूं गोरां घेरण गोल॥
आलनियास अंजसै अजै सरा सरा सेखाण।
गोरां मुख गढ गयौ परौ पायौ सेखां पंण॥

1857 के संग्राम का दुखद पक्ष यह रहा कि सभी देशी रियासतों व ठिकानों ने अपने आपको इससे अलग रखा साथ ही इसे कुचलने में भी अंग्रेजों की भरपूर मदद की। राष्ट्रभक्त शंकरदान का राजाओं के इस निंदनीय कृत्य पर बहुत क्रोध आया। उनकी अपनी रियासत बीकानेर के शासक सरदारसिंह भी इस दुष्कर्म में भागी थे। कवि ने इन सभी देशद्रोहियों की जमकर खबर ली। स्वातंत्र्य योद्धाओं को स्तवन करने वाली उनकी लेखनी ने अंग्रेज समर्थकों की भर्त्सना करने में कोई कसर नहीं छोड़ी।

सरदारसिंह को धिक्कारे हुए कहा[8] -

देख मरै हित देश रै, पंख सचो रजपूत।
सरदारा तानै सदा, कहसी जगत कपूत॥
खास बांधवा खीज, सैण गोरिया गिण सचा।
थूं बावै अेहडा बीज, सैण गोरिया गिण सचा।
थूं बावै अेहडा बीजा, फोग-फोग फल भोगसी॥

चुरू के शिवनाथसिंह को दबाने में अंग्रेजों का साथ देना सामोर की दृष्टि में बीकानेर की कायरता की पराकाष्ठा थी जिस कवि ने मूर्ख मण्डली की उपमा देते हुए कहा[9] –

डफ राजा डफ मुसद्दी डफ ई देश की वांण।
डफ ई डफ भेला हुआ (जद) बाज्यों डफ बीकांण।

अंग्रेजों के साथ संघर्ष करने वाला हर व्यक्ति उनकी कविता का नायक था। इस सन्दर्भ में चुरू की घटना और उससे सम्बन्ध रचित काव्य "चुरू रौ जस" विशेष रूप से उल्लेखनीय है। चुरू ठाकुर शिवनाथसिंह ने स्वतन्त्र रक्षक के लिए अंग्रेजों से संघर्ष किया जिसमें अंग्रेजों का साथ बीकानेर की सेना ने भी दिया। घेराबन्दी के दौरान ठाकुर के पास तोपों के गोलों के लिए सीसे की कमी आ गई तो कई धनाढ् सेठ आगे आए और गोलों के लिए बड़ी मात्रा में चांदी ठाकुर को अर्पित कर दी। चुरू की ओर से खालिस चांदी के गोले दागे जाने का दृश्य देकर शत्रु सेना दंग रह गई और उसके हौंसले पस्त हो गए। सामोर ने इस घटनाक्रम का अत्यन्त प्रभावी चित्रण किया है "चुरू रौ जस" में इसकी प्रस्तुति इस भांति हुई है –

जग जाहर चुरू जठै, काची रही न जेट।
साबस राखी सुतंत्रता, संतां सेठां पेठ॥
बीको फीको पडग्यौ बण गौरा हममीर।
चांदी गोला चालिया आ चुरू री तासीर॥[10]

तोपों से चांदी के गोले चलने की घटना पूरे देश में राजस्थान में घटित हुई। बहल ठाकुर कानसिंह सलेदीसिंद्योत ने अंग्रेजों के साथ जोरदार संघर्ष किया, उनकी प्रशंसा में सामोर ने एक 'धमाल' लिखी है। जो आज भी जनता की जुबां पर है –

ब्रज को कान तो काल कंस को।
ओ तो काल फिरंगी को हद कर ग्यौ।
हर कर ग्यो काल सलेदी को हर कर ग्यौ।
ब्रज को कान महि दधि लूटे ओ तो फौज फिरंगी की हद कर ग्यौ।
हद कर ग्यो कान सलेदी को॥[11]

इस संग्राम में सामोर तांत्या टोपे के प्रत्यक्ष सम्पर्क में आए और कठिन समय में टोपे की उन्होंने सहायता की, वह इस प्रदेश के लिए अत्यन्त गौरव का विषय है। तांत्या के अथक प्रयासों से वे अभिभूत थे। सामो द्वारा रचित गीत में "रचायौ रूलंनी रजपूती रौ आखरी रंग" और "पलकती आकाश बीज कठै ई जावती पड़ै" जैसी पंक्तियाँ अप्रतिम योद्धा तांत्या के सम्बन्ध में कवि की गहन अध्ययन को दर्शाती है। 1857 के विप्लव के आखिरी दौर में चारों ओर से निराश होने के पश्चात् तांत्यां टोपे मदद की आशा में शेखावाटी इलाके में आए। इस समय सामोर ने उनकी यथासंभव भरपूर मदद की। मदद के भरोसे तांत्यां लक्ष्मणगढ़ के किले में घिर गए। वहाँ से किसी तरह निकलने के बाद

कहीं पर भी सहायता न मिलती देखकर सामारे उन्हें अपने पैतृक गांव बोबासर अपने भाई पृथ्वीसिंह सामोर के गढ़ में ले आए। इस पर क्रुद्ध होकर अंग्रेजों ने गढ़ को बारूद्ध से उड़ा दिया। इस प्रकार सामोर ने केवल शब्दों द्वारा ही नहीं वरन् अपने कर्त्तव्य द्वारा भी सच्चे राष्ट्रभक्त होने का प्रमाण दिया। शंकरदान ने अपने वाणी की ज्वाला से राष्ट्रीयता की ऐसी अलख जगायी कि देशभक्ति की भवना अपनी रियासत की सीमाओं से निकलकर जाति, धर्म और प्रान्तीयता का अतिक्रमण करती हुई राष्ट्र के नवविधान की सूचक स्वतंत्रता की शंखध्वनि सुनायी पड़ती है।[12] उनके निधन पर पाबूदान बारहठ फोगा ने लिखा –

सुण्यो निधन सामोर रो चट आयी आ चींत
कुण दकाल कहसी हमै गोठी जेहड़ा गीत
मीठा ठग इण मुलक रा नहचै हुवा नचींत
बीतौ शंकर बाहय मुलंक तणौ डढ़ मीत।

शंकरदान सामोर का सत्य के पुजारी, संस्कृति के रखवाले, वीरता के पजारी, गोरी सत्ता के विद्रोही कवि, क्रान्तिवीर और राष्ट्रीयता की अलख जगाने वाली चेतना के संवाहक थे।

सन्दर्भ

1. *प्रकाश नारायण नाटाणी, राजस्थान का स्वाधीनता आन्दोलन, ग्रन्थ विकास, जयपुर 1998, पृ. 12*
2. *Consideration of India by Willion Bolts 1772 to 1914, p. 88*
3. *परम्परा 'गोरा हट जा' अगस्त 1956 (चौपासनी शोध संस्थान द्वारा प्रकाशित), पृ. 100, 119*
4. *डॉ. आर.पी. व्यास, राजस्थान का स्वाधीनता संग्राम, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, 1997, पृ. 78–79*
5. *डॉ. आर.पी. व्यास, स्वतंत्रता संग्राम में राजस्थान का योगदान, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर, 2004, पृ. 50*
6. *मोहन लाल जिज्ञासु, चारण साहित्य का इतिहास भाग 2, जैन ब्रदर्स, जोधपुर, पृ. 258*
7. *राजस्थानी शोध संस्थान चौपासनी के संग्रह से।*
8. *डॉ. शक्तिदान कविया, राजस्थान साहित्य का अनुशीलन, साहित्य संस्थान, जोधपुर, पृ. 90*
9. *डॉ. भंवरदान सामोर कृत शंकरदान सामोर (राजस्थान) के परिशिष्ट में संग्रहित, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 1995*
10. *राजस्थान शोध संस्थान चौपासनी के संग्रह से*
11. *राजस्थान शोध संस्थान चौपासनी के संग्रह से*
12. *डॉ. अर्चना शर्मा, राजस्थान के स्वतंत्रता संग्राम में चारणों का योगदान (शोध प्रबन्ध)*

19वीं से 20वीं शताब्दी में कोटा दरबार एवं भारतीय सरकार के मध्य शिक्षा सम्बन्धों पर ऐतिहासिक समीक्षा

प्रभावती मालव

हमारे देश में प्राचीनकाल में शिक्षा का अत्यधिक महत्त्व रहा है। उत्तर प्राचीनकाल से शिक्षा का महत्त्व धीरे-धीरे कम होने लगा, यही कारण है कि दसवीं से उन्नीसवीं शताब्दी तक अधिकांश हिन्दू राजा प्राय: निरक्षर थे। उनके मंत्री भी साक्षर ही थे। उस काल में शिक्षा का महत्त्व इसलिए भी कम था क्योंकि राजा के लिए शूरता और मंत्री के लिए प्रपंच-कौशल पर्याप्त गुण माने जाते थे। शासक, स्वयं के अशिक्षित होने के कारण शिक्षा प्रचार पर ध्यान नहीं दिया जाता था। कोटा दरबार के राजराणा जालिमसिंह ने सेना, माल, जकात, कृषि आदि विभागों को अच्छा संगठित किया था और कई बातों में अंग्रेजी ढंग को ग्रहण किया था किन्तु वे अशिक्षित थे।

अत: शिक्षा के महत्त्व को अनुभव नहीं किया। सन् 1874 से पहले राज्य की ओर से कोई पाठशाला नहीं थी। परगनों में शिक्षा का अव्यवस्थित रूप था जिसमें लड़कों को देशी हिन्दी और मामूली हिसाब पढ़ाया जाता था। भारत में शिक्षा प्रचार का सूत्रपात सर्वप्रथम कम्पनी सरकार ने किया था। भारतीय राज्य के प्रथम गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंगज ने कलकत्ता में एक कॉलेज स्थापित करवाया और हिन्दी तथा उर्दू की पुस्तकें लिखवाई गई। लार्ड बैंटिक के शासनकाल में अंग्रेजी भाषा को उच्च शिक्षा का माध्यम बनाया गया। लार्ड मेयो (तत्कालीन वायसराय) ने सन् 1870 में राजपूताने में मेयो कॉलेज का अजमेर में शिलान्यास किया गया और प्रथम अंग्रेजी स्कूल सन् 1869 में अजमेर में ईसाइयों ने स्थापित किया था। अंग्रेजी सरकार की नीति थी कि देशी राज्यों में आधुनिक शिक्षा का प्रचार किया जावे। नवाब फैजअली खाँ उर्दू और फारसी का विद्वान था, अंग्रेजों के सम्पर्क से वह शिक्षा के महत्त्व को भी समझने लग गया था, अत: कोटा राज्य के प्रबन्ध की बागडोर हाथ में लेते ही राज्य की ओर से नवाब ने शिक्षा का प्रचार का कार्य आरम्भ किया।[1]

कोटा नगर में एक लड़कों का स्कूल जिसमें मुख्याध्यापक जिसे आज के सन्दर्भ में प्रधानाचार्य कह सकते हैं, उन्हें सौ रुपये मासिक वेतन मिलता था। अंग्रेजी, उर्दू, फारसी, हिन्दी विषय के दो-दो अध्यापक नियुक्त थे। लड़कियों के स्कूल में दो-पाँच लड़कियां जिन्हें एक अध्यापिका पढ़ाती थी। आरम्भ में शिक्षा का कुल वार्षिक खर्च 3760/- रुपये था। नवाब फैजअली द्वारा खोली गई प्रथम पाठशाला की लगातार उन्नति होती गई। कोटा राज्य में बाराँ, इटावा, घाटोली, कनवास, शेरगढ़, किशनगंज, बड़ौद, कुन्जेड़, सांगोद, खानपुर, सुल्तानपुर, दीगोद, सीसवाली, मांगरोल, अन्ता, कैथून और छावनी में सन् 1893 से पहले विद्यालय खुल चुके थे।[2] मेयो कॉलेज की स्थापना के समय कोटा राज्य ने भारी चन्दा दिया था। कोटा राज्य ने हजारों रुपये खर्च करके एक छात्रालय भी बनवाया था। पीपल्दा के ठाकुर कोटा राज्य के प्रथम मेयो कॉलेज में प्रवेश लेने वाले छात्र थे। सन् 1880 में लड़कों को पारितोषिक वितरण में तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड लिटन ने अपने भाषण में कहा था कि मेयो कॉलेज की शिक्षा का एक यह भी उद्देश्य है कि विद्यार्थी अपने देश और धर्म से प्रेम करना सीखें।[3]

शत्रुशालजी के देहान्त के बाद गोदनशीनी के विषय में भारत सरकार ने अपना निश्चय घोषित कर महाराव उम्मेदसिंह का उत्तराधिकारित्व स्वीकार किया। अब तक उम्मेद सिंह जी को व्यवस्थित रूप से कोई शिक्षा नहीं मिली थी, अत: राजतिलक के बाद इनको शिक्षा प्राप्ति के लिए मेयो कॉलेज में भर्ती किया गया। मेयो कॉलेज में लगभग चार वर्ष तक इन्होंने शिक्षा पाई। इस दौरान अंग्रेजी और हिन्दी का साधारण ज्ञान प्राप्त किया। इसके बाद भारत सरकार ने इनको शासन के कुछ अधिकार दे दिये। इनके पुत्र महाराज कुमार भीमसिंह जी ने भी मेयो कॉलेज में शिक्षा प्राप्त की। सन् 1922 में कोटा छोड़ते समय कर्नल मेकोनजी पॉलिटिकल एजेण्ट ने अपनी विदा दावत का ध न्यवाद देते हुए कहा था कि ''मुझे खेद है कि महाराजकुमार इस समय यहाँ उपस्थित नहीं है, परन्तु उनके विषय में सब ओर से यह सुन कर मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है कि मेयो कॉलेज में उन्होंने अच्छी ख्याति प्राप्त कर ली है। मुझे विश्वास है कि जब दरबार उनको कॉलेज से वापस बुलायेंगे तो उनको शासनकार्य की भी आप स्वयं शिक्षा देंगे।[4] कोटा राजपरिवार में ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण राजपूताने में राजकुमार की मेयो कॉलेज में शिक्षा सम्बन्धी उपलब्धियाँ महत्वपूर्ण थी।

सम्राट द्वारा सम्मान - उम्मेद सिंह जी के राजकार्य से प्रभावित होकर साम्राज्ञी विक्टोरिया ने दिसम्बर सन् 1899 को के.सी.एस.आई. उपाधि से सम्मानित किया।[5] इस उपाधि के उपलक्ष में 03 अप्रेल सन् 1901 को दरबार में कर्नल वाइली ए.जी.जी. ने साम्राज्ञी विक्टोरिया की ओर से कोटा नरेश को उपाधि के चिह्न भेंट करते हुए कहा था कि आपसे जो भी आशा की वह सब प्रकार से पूरी की है। आपकी प्रजा की भलाई में व्यक्तिगत रुचि है, राज्य के शासन को उन्नत करने में सदैव प्रयत्नशील रहे हैं। आपका व्यक्तिगत जीवन निष्कलंक है। इन गुणों के कारण और उच्च वंश के कारण तथा साम्राज्ञी के प्रति राजभक्ति दिखाने के कारण स्वर्गीय साम्राज्ञी ने तथा वायसराय ने आपको इस उपाधि से सम्मानित करने की कृपा की है।[6] 28 जनवरी 1908 को वायसराय लार्ड मिन्टों ने महाराव उम्मेद सिंह जी को कलकत्ता बुलाकर मर्यादापूर्वक स्वागत किया और जी.सी.आई.ई. की उपाधि से कोटा नरेश को अलंकृत किया। महाराव

उम्मेद सिंह जी ने सन् 1901 में महू में पश्चिमी शैली की सैनिक शिक्षा प्राप्त की थी। सन् 1911 में सम्राट ने प्रसन्न होकर कोटा नरेश को ऑनरेरी लेफ्टिनेन्ट कर्नल नियुक्त किया। इस उपाधि के लिए तत्कालीन वायसराय लार्ड हार्डिंग ने सिफारिश की थी।

सन् 1974 में महाराव उम्मेद सिंह जी को जी.बी.ई. की उपाधि प्राप्त हुई एवं साम्राज्य में कोटा नरेश ने बहुत ऊँचा सम्मान प्राप्त किया। महाराव उम्मेद सिंह जी ने भारत में सन् 1901 में चीफ्स कॉलेजों के सुधार के लिए तत्कालीन वायसराय ने रइसों की एक सभा की थी, जिसमें कोटा नरेश सम्मिलित हुये। 1915 में पं. मदन मोहन मालवीय जी ने हिन्दू विश्वविद्यालय के शिलान्यास के उत्सव पर कोटा नरेश को आमंत्रित किया। कोटा दरबार ने एक लाख पचास हजार रुपये इसमें दिये थे।[10] इसी वर्ष वायसराय ने स्त्रियों के मेडिकल कॉलेज का उद्घाटन किया, इस उत्सव में सम्मिलित होने के लिए वायसराय ने कोटा नरेश को आमंत्रित किया था।[11] इसमें कोटा नरेश ने एक लाख रुपये का चन्दा दिया था। सन् 1936 में काशी विश्वविद्यालय ने कोटा नरेश महाराव उम्मेदसिंह जी को एल.एल.डी. की उपाधि से विभूषित करने के लिए सन् 1937 में विश्वविद्यालय ने निमन्त्रित किया एवं उपाधि से अलंकृत किया। उपाधि स्वीकार करते हुये कोटा नरेश ने कहा कि विश्वविद्यालय और इसका सम्पूर्ण श्रेय ऋषिवर पण्डित मालवीय जी को है। लार्ड कर्जन एवं कोटा दरबार 6 नवम्बर 1902 को लार्ड कर्जन पहला वायसराय था जिसने कोटा राज्य का दौरा किया। महाराव की शिष्टाचार दावत में कर्जन ने धन्यवाद देते हुए कहा कि मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि मेरा राजपूताने का दौरा ऐसी रियासत से आरम्भ हुआ है जिसके युवक शासक कार्य का इतिहास इतना सुन्दर है। लार्ड कर्जन कोटा में चार दिन रुके थे। कर्जन ने कहा कि ''मुझे इस बात की बड़ी प्रसन्नता है कि मैं ऐसी रियासत में आया जहां का पुराना इतिहास इतना अच्छा है और जिसका शासन ऐसे सुयोग्य और देशभक्त राजा के हाथ में है। सन् 1900 में कर्जन ने कोटा नरेश को के.सी.एस.सी. की उपाधि भेंट की।[12]

लार्ड लिटन और कोटा दरबार – सन् 1925 में लार्ड लिटन कोटा आये। कोटा में हरबर्ट कॉलेज और भीम केडिट कोर को देखा। उम्मेद भवन में महाराव के द्वारा दी गई दावत में धन्यवाद भाषण में लिटन ने कहा कि इस अर्से में मैंने देख लिया कि जो कुछ मुझसे कहा गया था वह बहुत बहुत सत्य है। अपने शासक की कोटा राज्य की प्रजा बड़ी कृतज्ञ है और उनसे प्रेम करती है। नि:स्वार्थ भाव से जनहित चिन्तन में लगे रहने के कारण कोटा नरेश इस प्रेम और कृतज्ञता के पात्र हैं।[13]

लार्ड रीडिंग – मार्च 1926 में लार्ड रीडिंग कोटा आये और इन्होंने भी केडिट कोर और हरबर्ट कॉलेज को देखा। इन्होंने कोटा नरेश के लिए कहा कि ''आपका प्रजा–प्रेम और हित चिन्तन प्रसिद्ध है। आपके राज्य से बाहर रियासतों से सम्बन्ध रखने वाले मामलों जैसे नरेन्द्र मण्डल और रईसों के कॉलेजों पर भी आपका बड़ा ध्यान है। महासमर (प्रथम विश्व युद्ध) के समय आपने साम्राज्य की भारी सहायता की थी, उल्लेखनीय चन्दा दिया था तथा आत्मोत्सर्ग किया था। आपको जो उपाधियाँ मिली हैं वे इस बात की सूचक है कि सम्राट आपकी व्यक्तिगत सेवाओं का, जो आपने इस रियासत के रईस की हैसियत से की है, कितना आदर करते हैं। ऐसी बहुत कम रियासतें हैं जहाँ की सैनिक परम्परायें आपके राज्य से अधिक अच्छी हो।[14]

लार्ड इर्विन – इर्विन के समय कांग्रेस ने राजनैतिक स्वतंत्रता के लिए घोर आन्दोलन किया था। 27 जनवरी 1929 को इर्विन कोटा आये। परम्परागत शिष्टाचार के अनुकूल वायसराय दरबार से और दरबार वायसराय से मिले। वायसराय ने कहा कि व्यापक प्रेम और अनुग्रह से मैं कोटे में घिर गया हूँ वह अन्यत्र कहीं नहीं मिल सकता। राजा के व्यक्तित्व की उसकी प्रजा पर छाप लग जाती है यह उनमें प्रतिबिम्ब होने लगता है। दरबार जानते हैं कि वर्तमान ज्ञान और विज्ञान का जनता की आवश्यकता के लिए कैसे उपयोग किया जाता है। साथ ही ये उन प्राचीन रिवाजों और परम्पराओं की रक्षा की भी चिन्ता करते हैं जो राजपूत और राजपूताने की जादू भरी विशेषतायें हैं। आपके राज्य के बारह नरेन्द्र मण्डल में जहां अपने साथी नरेशों को नेक सलाह देने के लिए आप सदैव तत्पर रहते हैं या आपके विस्तृत मित्र मण्डल में जहां आप आदर और प्रेम उपार्जित कर चुके हैं, कोटा महाराव के नाम का बड़ा आदर है परन्तु चम्बल नदी के तट पर आपका नाम इससे भी अधिक कीर्ति का परिचायक है। आपके राज्य की शिक्षा की ताजा रिपोर्टों में मैंने पढ़ा है कि हिन्दी तथा दूसरी परीक्षाओं में तमाम राजपूताने के स्कूलों में आपके राज्य का स्थान बहुत ऊँचा है। कल हरबर्ट कॉलेज को देखने से मैंने आपके राज्य की शिक्षा संस्थाओं की उत्तमता की जो चर्चा सुनी थी, उसकी पुष्टि हो गई है। इस क्षेत्र में आपने बतला दिया है कि आधुनिक जीवन में जो शिक्षा का मार्मिक भाग है, उसको आप खूब समझते हैं।[15]

कर्नल बेनर मेन – कोटा राज्य का सर्वोच्च उत्तरदायी शासक पोलिटिकल एजेण्ट रहा। महाराव उम्मेद सिंह जी को शासन संचालन के पूर्ण अधिकार प्राप्त होने पर भी पोलिटिकल एजेण्ट से शासन कार्य में परामर्श किया जाता था। इन्होंने कहा कि कुछ समय पहले मेरे मित्र रायबहादुर मु. शिवप्रताप जी को रायबहादुरी की सनद भेंट करने का जब मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ तब मैंने जिक्र किया था कि उनकी नियुक्ति से अब तक राज्य में शिक्षा की सन्तोषप्रद उन्नति हुई है। गत चार वर्षों में छः ग्राम पाठशालाएं और खुल गई हैं। मैंने अपने दौरे में देखा कि अधिकांश विद्यार्थी महाजनों और अफसरों के पुत्र हैं, परन्तु फिर भी पटेलों तथा सम्पन्न कृषकों के लड़के भी पाठशालाओं में आने लगे हैं। पहले लोग प्रारम्भिक शिक्षा से विमुख थे किन्तु अब लोग अनुभव करने लगे हैं कि नि:शुल्क शिक्षा से लाभ उठाना श्रेयस्कर है।

कोटा राज्य में शिक्षा – सन् 1893 से पहले राजधानी में एक लड़कों का तथा एक लड़कियों का स्कूल था और इलाके में 18 ग्राम पाठशालाएँ थी। सम्पूर्ण राज्य में 1085 विद्यार्थी शिक्षा पाते थे, सब मिलकर 34 अध्यापक थे और 8710 रुपया शिक्षा

विभाग पर व्यय होता था। सन् 1893 में मु. शिवप्रताप जी इस विभाग के अध्यक्ष नियुक्त हुए और उन्होंने बड़ी लगन से शिक्षा प्रचार करना प्रारम्भ किया। इस समय ग्रामीण पाठशालाओं में हाड़ौती लिपि पढ़ाई जाती थी। सन् 1898 में प्रथम बार राज्य के सब स्कूलों में हिन्दी जारी की गई। आरम्भ में कुछ कठिनाई अवश्य हुई परन्तु एक वर्ष बाद ही इसका सुपरिणाम दृष्टिगोचर होने लगा। सन् 1903 में मि.टी.एल.रीड. प्रिन्सिपल गवर्नमेन्ट कॉलेज अजमेर को कोटा दरबार ने अपने राज्य की शिक्षा प्रणाली का निरीक्षण करने के लिए तथा भविष्य के लिए आयोजन तैयार करने के लिए आमंत्रित किया। उसने कोटा राज्य के प्राय: सब स्कूलों को देखकर तथा स्थानीय परिस्थिति का अध्ययन करके शिक्षा के सम्बन्ध में एक रिपोर्ट पेश की जो स्वीकार की गई और तब से मि.रीड. की बताई हुई शिक्षा शैली से इस राज्य में शिक्षा दी जाने लगी। सन् 1906 में स्कूलों की तथा विद्यार्थियों की संख्या इतनी बढ़ गई थी। मु. शिवप्रताप जी के साथ दो इन्सपेक्टर नियुक्त हुये और शिवप्रताप जी डायरेक्टर ऑफ स्कूल्स कहलाने लगे।

कोटा राज्य में अंग्रेजी शिक्षा –1893 से पूर्व राजधानी में केवल एक ही अंग्रेजी विद्यालय था। सन् 1894 में राजपूतों के लिए एक पृथक विद्यालय स्थापित किया गया जिसका नाम नोबल्स स्कूल रखा गया। कर्नल चार्ल्स हरबर्ट कोटा राज्य का पोलिटिकल एजेण्ट रह चुका था एवं महाराव उम्मेद सिंह जी का मित्र था। इसी वर्ष नोबल्स स्कूल, हरबर्ट हाई स्कूल में सम्मिलित कर दिया गया। अनुभव से सिद्ध हुआ कि जाति विशेष के लिए अलग शिक्षा संस्था हितकर नहीं है। मु. शिवप्रताप जी ने विज्ञान की प्रयोगशालाओं को सम्पन्न तथा पुस्तकालय को उन्नत करके इस संस्था को सर्वांग सुन्दर बना दिया। सन् 1921 से हरबर्ट हाई स्कूल इन्टर कॉलेज कहलाने लगा।

कोटा राज्य में स्त्री शिक्षा – बारां में जनता का स्त्री शिक्षा के प्रति विरोध था कि स्कूल में लड़कियों को अक्षर शिक्षा नहीं दी जा सकती थी। सन् 1905 में महारानी जाडेचीजी ने स्त्री शिक्षा के लिए पच्चीस हजार रुपये प्रदान किये जिससे वर्तमान महारानी कन्या पाठशाला की स्थापना हुई।

भारत में शिक्षा प्रचार का सूत्रपात सर्वप्रथम कम्पनी सरकार ने किया था। मि. वारेन हेस्टिंगज को भारतीय राज्य का प्रथम गवर्नर जनरल बनाया गया। उसने कई कॉलेज स्थापित करवाये तथा हिन्दी उर्दू की पुस्तकें लिखवायी। उच्च शिक्षा में अंग्रेजी माध्यम लार्ड बेन्टिक के शासन में रखना निश्चित हुआ। लार्ड मेयो (तत्कालीन वायसराय) ने 1870 में राजपूताने में मेयो कॉलेज का शिलान्यास किया। भारत में 19वीं–20वीं शताब्दी में कोटा राज्य में नवाब फैजअली ने अंग्रेजों के सम्पर्क में आकर शिक्षा के महत्त्व को समझा साथ ही उर्दू, फारसी के साथ–साथ अंग्रेजी भाषा को महत्त्व देने लगा। कम्पनी सरकार ने भारतीय राज्यों में आधुनिक शिक्षा के प्रचार के लिए कोटा राज्य के प्रबन्ध की बागडोर नवाब फैजअली को सम्भला दी। कोटा राज्य में लड़कों एवं

लड़कियों के पृथक विद्यालय खोले। कोटा राज्य ने मेयो कॉलेज की स्थापना, छात्रालय निर्माण, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, नरेन्द्र मण्डल आदि में सराहनीय आर्थिक योगदान दिया। लार्ड लिटन द्वारा मेयो कॉलेज की शिक्षा का यह भी एक उद्देश्य बताया है कि विद्यार्थी अपने देश एवं धर्म से प्रेम करना सीखें। अर्थात् भारतीय सरकार ने अंग्रेजी शिक्षा में भी देशप्रेम और धर्म के महत्त्व को बताया। शत्रुशाल जी के बाद महाराव उम्मेदसिंह जी ने साम्राज्ञी विक्टोरिया से के.सी.एस.आई. की उपाधि प्राप्त की जो राजभक्ति का प्रतीक होने के साथ स्वयं के व्यक्तिगत गुण, शिक्षित होकर शासन के अधिकारों को जानते हुए ऊँचा सम्मान प्राप्त करना था। अर्थात् भारतीय सरकार ने शासन के अधिकार भी प्रत्येक राजभक्ति करने वाले शासक को नहीं दिये बल्कि उच्च शिक्षा प्राप्त, शासन की समझ रखना, प्रजा हितेषी होना, प्रजा प्रेमी आदि गुणों से युक्त होने पर ही ऊँचा सम्मान प्राप्त किया। महाराव उम्मेद सिंह जी को उनकी पश्चिमी शैली की शिक्षा के लिए उन्हें सन् 1914 में आनरेरी लेफ्टिनेन्ट कर्नल नियत किया। सन् 1901 में चीक्स कॉलेजों के सुधार, हिन्दू विश्वविद्यालय के शिलान्यास, स्त्रियों के मेडिकल कॉलेज आदि उत्सवों में सम्मिलित होकर शिक्षा में आर्थिक योगदान दिया। लार्ड कर्जन पहला वायसराय था जिसने कोटा राज्य का दौरा किया। जिसमें कर्जन ने महाराव के शासक कार्य को राजपूताना की कोटा रियासत इतिहास में सुन्दर बताया है। लार्ड लिटन ने कोटा महाराव के लिए कहा कि कोटा राज्य की प्रजा बड़ी कृतज्ञ है और अपने शासक से प्रेम करती है। भारतीय सरकार ने कोटा रियासत के शासकों के नि:स्वार्थ भाव से जनहित में चिन्तन के कारण प्रेम और कृतज्ञता के पात्र बताया है।

लार्ड रीडिंग कोटा आये एवं कोटा नरेशों को कोटा रियासत का रईस बताया उसमें यहाँ के शासकों द्वारा की गई व्यक्तिगत सेवाओं के कारण उपाधियों से नवाजा गया यह बताता है कि भारतीय सरकार ने रियासतों के शासकों को उपाधियों से आकर्षित किया हुआ था। लार्ड इर्विन के 1929 में कोटा आने पर कोटा दरबार में कहा कि दरबार जानते हैं कि वर्तमान ज्ञान और विज्ञान का जनता की आवश्यकता के लिए कैसे उपयोग किया जाता है। राज्य की शिक्षा रिपोर्टों में तमाम राजपूतानों, कोटा राज्य का स्थान परीक्षाओं में बहुत ऊँचा बताया है। कोटा नरेश के लिए कहा गया कि इस क्षेत्र (शिक्षा) में आपने बतला दिया कि आधुनिक जीवन में शिक्षा के मार्मिक भाग को आप खूब समझते हैं। पाठशालाओं में सभी वर्ग के विद्यार्थियों का आने में रुझान बढ़ा। पहले लोग प्रारम्भिक शिक्षा से विमुख थे, बाद में अनुभव करने लगे कि नि:शुल्क शिक्षा से लाभ उठाना श्रेयस्कर है। प्रारम्भिक शिक्षा में नि:शुल्क शिक्षा आज भी विद्यमान है।

भारत सरकार ने कोटा राज्य में शिक्षा के प्रचार के साथ शिक्षा के महत्त्व को कोटा शासकों को समझाया। कोटा के शासक शिक्षा को लेकर सचेत हुए और अपनी आने वाली पीढ़ियों एवं प्रजा के प्रति शिक्षा जागरूकता बढ़ी। कोटा शासकों का भारतीय

सरकार को आर्थिक सहयोग करना यह दर्शाता है कि हमारे शासकों ने भारतीय सरकार के प्रत्येक उस कार्य में सहायता की है जिससे प्रजा व देश को लाभ पहुँचे। प्रजा अंग्रेजी शिक्षा एवं हिन्दी, उर्दू भाषाओं से अपना विकास करने में सक्षमता बढ़ी। प्रजा को अपने शासकों को उपाधियों से अलंकृत होते देख उन्हें भी अच्छे विद्यालयों और कॉलेजों में पढ़ने की इच्छा प्रबल हुई। भारतीय सरकार ने उच्च शिक्षित शासकों को अधिक महत्त्व दिया है यह हमारा ऐतिहासिक रिकार्ड बताता है। क्योंकि उनका मानना था कि उच्च शिक्षित व्यक्ति को शासन के अधिकारों की समझ अधिक होगी। इस शोध प्रपत्र के शोध कार्य से इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि शिक्षा के महत्त्व ने प्रत्येक काल वर्ग में व्यक्ति को सम्मान दिलवाया है। शासन कार्य को भलीभांति समझने की क्षमता पैदा की है। भारतीय सरकार ने अपने लाभ के लिए ही सही किन्तु अपरोक्ष रूप से भारतीय जनता को भी लाभ पहुँचाया है। यहाँ के शासकों ने माना कि राजभक्ति की है किन्तु इनके शिक्षा में आर्थिक योगदान को भुलाया नहीं जा सकता। कोटा राज्य के शासकों की गणना रईसों में होती थी। इस रईसी के कारण प्रत्येक शिक्षा सम्बन्धित एवं अन्य कार्यों में इनको ससम्मान आमंत्रित किया जाता था। कोटा राज्य के भारतीय सरकार के शिक्षा सम्बन्ध बहुत ही महत्वपूर्ण एवं प्रबल रहे।

सन्दर्भ

1. *दफ्तर हिसाब बजट सम्वत् 1940*
2. *मेजर डब्लू. स्ट्रेटन - ए शॉर्ट हिस्ट्री आफ दी कोटा स्टेट, पृ. 35*
3. *महकमा खास, सन् 1937, फौजदारी नं. 15*
4. *एडमिनिस्ट्रेशन रिपोर्ट सम्वत् 1976 पृ. 5*
5. *एडमिनिस्ट्रेशन रिपोर्ट सम्वत् 1956 पृ. 1*
6. *एडमिनिस्ट्रेशन रिपोर्ट सन् 1964 पृ. 1-3*
7. *उपरोक्त, सम्वत् 1958, पृ. 1*
8. *उपरोक्त, सम्वत् 1971, पृ. 2*
9. *उपरोक्त, सम्वत् 1972, पृ. 3*
10. *उपरोक्त, सम्वत् 1972, पृ. 6*
11. *एडमिनिस्ट्रेशन रिपोर्ट सम्वत् 1959 पृ. 6-7*
12. *एडमिनिस्ट्रेशन रिपोर्ट सम्वत् 1981 पृ. 7-11*
13. *एडमिनिस्ट्रेशन रिपोर्ट सम्वत् 1982 पृ. 7*
14. *एडमिनिस्ट्रेशन रिपोर्ट सम्वत् 1985 पृ. 6-7*
15. *एडमिनिस्ट्रेशन रिपोर्ट सम्वत् 1959 पृ. 5-12*
16. *डॉ. जगतनारायण, कोटा राज्य का इतिहास, भाग 2, राजस्थानी ग्रन्थागार, 2008*

अलवर रियासत में राशन व्यवस्था, रिश्वत एवं बेगार प्रकरण 1947 के समाचार-पत्रों के आइने से

डॉ. फूलसिंह सहारिया

राजस्थान की रियासतों में अलवर रियासत भी महत्त्वपूर्ण थी। अलवर रियासत में नरूका शासकों ने 1775 ई. से 1948 ई. तक शासन किया। 1937 ई. में महाराज जयसिंह को देश निकाला दिया गया। 1937 में पेरिस में उनकी मौत हो गई। 1937 में अलवर रियासत के अंतिम शासक तेजसिंह गद्दी पर बैठे। महाराज तेजसिंह के समय द्वितीय विश्वयुद्ध हुआ जिसमें अलवर कीसेना का महत्त्वपूर्ण योगदान था। इसी दौरान न केवल अलवर में बल्कि सम्पूर्ण भारतवर्ष में आजादी का आन्दोलन चल रहा था। अलवर-भरतपुर रियासतों में विशेषकर 1947 में साम्प्रदायिक दंगे चरम सीमा पर थे। कुछ सामाचार पत्र रियासती शासकों के विरुद्ध प्रजामण्डल प्रजापरिषद के माध्यम से जनता की आवाज बने। मीडिया उस समय जनचेतना जाग्रत करने में अपनी अहम भूमिका निभा रहा था। ऐसे समाचार-पत्रों में 'अलवर पत्रिका' एवं 'स्वतंत्र भारत' प्रमुख हैं। अलवर राज्य में 1947 का वर्ष पूरी तरह अव्यवस्था का था। तत्कालीन भारत विभाजन के समय हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिक दंगे आम थे। अलवर राज्य में घटित होने वाली घटनाओं के समाचार प्रकाशित किये गये जिनका अध्ययन एवं विश्लेषण से पता चलता है कि राज्य में अव्यवस्थाओं का तांता लगा हुआ था। एक ओर पुलिस प्रशासन की भ्रष्ट नीति, रिश्वतखोरी, सिविल सप्लाई राशन की अनियमितता, चोरी-डकैती, बेगार व्यवस्था, जागीरदारों की मनमानी, शराबखोरी, अत्याचार, महिलाओं का अपहरण आम बात थी।

(1) सिविल सप्लाई राशन की व्यवस्था

अलवर रियासत में राशन सप्लाई अलवर प्रशासन की ओर से की जाती थी जिसकी निगरानी के लिए केन्द्रीय सिविल सप्लाई कमेटी की स्थापना की गई थी। कमेटी के सदस्यों में 1. भवानी सहाय शर्मा, 2. रामजीलाल अग्रवाल, 3. रामचन्द्र उपाध्याय, 4. इन्द्रलाल मित्तल और 5. मास्टर भोलानाथ थे। सिविल सप्लाई कमेटी ने बड़ी उम्मीद और आश्वासन के साथ काम शुरू किया था कि बुनियादी उसूल कन्ट्रोल की वस्तुओं के सही वितरण तथा प्राप्ति के नियम तय किये जायेंगे। परन्तु रियासती सरकार के कमेटी के निर्णयों में ताजीमी सरदार तथा मिनिस्टर आदि को राशनिंग की स्कीम में रखकर आम जनता में असन्तोष पैदा कर दिया। इसका विरोध करने हेतु कमेटी का

शिष्टमंडल प्राइम मिनिस्टर से मिला। इसका मिनिस्टर पर कोई असर नहीं हुआ बल्कि स्पेशल परमिटों का अधिकार अपने पास रखकर इस व्यवस्था का दुरूपयोग किया गया। नाजिमों ने भी उन्हें बड़े रसूखदारों का साथ दिया। कमेटी के निर्णयानुसार सामग्री - चीनी, मिट्टी का तेल, गुड़, नमक आदि का कोटा भी नहीं मंगवाया। कमेटी की मीटिंग हर हफ्ते होनी चाहिए थी लेकिन नाजिमों ने महिनों तक कोई मीटिंग नहीं बुलाई। ईमानदार योग्य सिविल कमीश्नर पंडित नारायण बिहारी लाल को भी पद से हटा दिया गया। अब कमेटी का कोई औचित्य नहीं रह गया। अत: कमेटी के सदस्यों ने प्राइम मिनिस्टर को प्रजामंडल के माध्यम से अपने इस्तीफा भिजवा दियो गये।[1] इसके पश्चात् सिविल सप्लाई की रियासत के मर्जीदानों ने खूब लूट मचाई और लोगों के हक को बेईमानी से छीना जिसके समाचारों से अखबार भरे पड़े हैं।

अन्तर्कालीन सरकार के स्वास्थ्य मंत्री गजनफर अली खां जो पहले अलवर राज्य के रेवेन्यू मिनिस्टर रह चुका था, जो बड़े दिनों की छुट्टियों मे अलवर आया था। उसे आर्मी मिनिस्टर अलवर ने दो सौ गज फाइन कपड़े का स्पेशल परमिट दिया। आर्मी मिनिस्टर पूर्व में कन्ट्रोल डिपार्टमेंट के मिनिस्टर रह चुके थे। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि अलवर में पहला हिन्दू-मुस्लिम दंगा गजनफर अली खां के समय हुआ था। इस आन्दोलन को भड़काने में इनकी अहम भूमिका रही जिसके कारण उसे अलवर छोड़ना पड़ा। अब उसी व्यक्ति को यहाँ मेहमान तथा जनता के हिस्से का कपड़ा दिया गया जो गलत था।[2] अलवर प्रजामंडल का किसान सम्मेलन गुगडिया में हुआ जिसमें रामजीलाल अग्रवाल ने भाषण में बताया कि राज्य में आम लोगों की सुविधाओं का ध्यान नहीं रखा जाता था। लोग 2-2 पैसे की दवाई के बिना मर रहे थे। सरकार खजाने को फिजूलखर्ची में बर्बाद करती है। साथ ही जनता का कपड़ा, चीनी, तेल को अपनी मर्जीदानों को देते हैं। रियासत में प्रतिमाह 500 गांठ कपड़ा, 400 गांव सूत, 1600 बोरी चीनी और 2600 टीन तेल आता था जो सब मर्जीदानों के पास चला जाता था। गांव वालों को कुछ नहीं मिलता।[3] राशन सामग्री को ब्लैक में बेचा जाता था जैसे प्रतापगढ़ में कोटे का कपड़ा बेचते हुए पकड़ा गया। ब्लैक मार्केट का कपड़ा नाजिम थानागाजी को पेश किया गया जिससे घबराकर दुकानदार भाग खड़े हुए।[4] बानसूर में नाजिम द्वारा 3-3, 4-4 मन गुड़ के परमिट अपने मर्जीदानों को दिया गया था। आम आदमी 4-4 आने के गुड़ के लिए मारे-मारे फिरते थे। चीनी एवं कपड़े के परमिट भी मर्जीदानों को देते थे। यही स्थिति नीमराना, नीमूचाना अकबरपुरा, खैरथल में भी थी।[5]

मालाखेड़ा में जमींदारमंडल बनाया गया जिसके सरदार मिया मसीहउद्दीन उर्फ मसीता था। ये पहले सी.आई.डी. के इन्फार्मर थे। खान बहादुर खां आई.जी.पी. के साथ पुलिस के सर्वे सर्वा भी रहे। चांदोली में इनके द्वारा मवेशी चोरी झगड़े में गड़बड़ की तथा मेजर हार्वे प्राइम मिनिस्टर को परेशान किया। इसको जमीदार मंडल में शामिल करके अलवर कलेक्टर ने सिविल सप्लाई कमेटी का सदस्य बनाया। इसने मालाखेड़ा में जमीदार मंडल स्टोर खोला। यहाँ के नायब नाजिम के इशारे पर भड़ोड़ी के सूरजमल महाजन को अपना साझीदार बनाया जिसके खिलाफ भी रिश्वत का मुकदमा लंबित था। इस जमींदार मंडल में एक भी जमींदार नहीं था और ना ही कोई काश्तकार दिसम्बर 1946 तक इस जमींदार मंडल को रियासती सरकार द्वारा 276 बोरी (746 मन) खांड दी गई जिसे उच्च दामों पर आम जनता में सप्लाई कर दिया गया। यही स्थिति गुड़, तेल और कपड़े थी थी।[6] इस दौरान अलवर रियासत में राशन सप्लाई की अंधेर गर्दी मची हुई थी, जैसा कि यह जान कर आश्चर्य होगा कि अलवर शहर में राशन के बावजूद लोगों को 60,0000 रु. के कीमती कपड़े के स्पेशल पिछले दो माह में दिये जितने पिछले 6 माह मे नहीं दिये गये थे।[7] अलवर में नमक के नाम पर जनता की लूट होने पर समाचार भी प्रकाशित है जैसे कि केन्द्रीय सरकार द्वारा नमक कर हटा लेने पर अलवर में पहले अप्रैल से नमक 27 सेर के भाव से आया जिसे यहाँ 12 सेर के हिसाब से बेचकर आम लोगों को लूटा गया। पड़ौसी राज्यों में यही नमक 15 सेर का मिल रहा था।[8] 12 जुलाई 1947 के स्वतंत्र भारत के अंक में लिखा है कि नमक के लिए लोग तरस रहे हैं। एक ओर राशन कार्डों से चीनी नहीं मिलती, वहीं मर्जीदानों को स्पेशल परमिट पहले ही दे दिये गये थे। लकड़ी सवा दो रु. मन, गुड़ का प्रबन्ध नहीं, शहर में पांच सेर का चारा, चीनी नहीं मिलती है और कमीशनखोरों को सजा भी नहीं दी जाती।[9]

(2) रिश्वत प्रकरण

अलवर के मूलचन्द चौबे के रिश्वत के मामले में नाजिम पद से हटा दिया क्योंकि इसने 25 बोरी गुड़ को थानागाजी के दुकानदार को ब्लैक में बेच दिया था।[10] अलवर रियासत की विभिन्न निजामतों में गुड़ को थानागाजी के दुकानदार को ब्लेक में बेच दिया था।[10] अलवर रियासत की विभिन्न निजामतों में गुड़ के ब्लेक मार्केटिंग बड़े स्तर पर करने के समाचार प्रकाशित हैं। विभिन्न स्थानों पर ब्लेक में 170 बोरी पेहल में, 6 बोरी ततारपुर, 125 बोरी खेड़ली, 1000 मन रामगढ़, 100 मन किशनगढ़, 250 बोरी तिजारा, बानसूर और राजगढ़ में बेचा गया।[11] इन सभी तथ्यों से स्पष्ट होता है कि रियासत में आम लोगों के हक का राशन किस प्रकार जागीरदारों एवं मंत्री आदि उड़ा लेते थे और आसपास के बाजारों में ऊँचे दामों पर ब्लैक में बेच देते थे।

रियासत कालीन समाचार पत्रों में रियासती कर्मचारी और अधिकारियों के रिश्वत प्रकरण बड़ी संख्या में छपे हैं - अलवर सरकार ने चार अफसरों की रिश्वत विरोधी कमेटी बनाई थी जिसके सभापति ठा. बहादुर सिंह खेड़ा को बनाया गया। स्वतंत्र भारत समाचार पत्र में लिखा गया है कि ठा. बहादुर सिंह कमेटी के सभापति के लिए उपयुक्त अफसर नहीं थे क्योंकि जब वे पुन्य के महकमे में थे तो उनके काल में रिश्वत व गबन आम बात रही थी, जिसे ये रोक न सके अब इसमें रहकर रिश्वतखोरी को कैसे रोक

सकेंगे।[12]

अलवर प्रशासन ने ठा. रघुवीर सिंह को मुंसिफ रहते हुए भ्रष्टाचार के जुर्म में नायब नाजिम बनाया गया था। राजसत्ता से जुड़ा होने के कारण उसे पुन: राजगढ़ का नाजिम बनाया गया। परन्तु उसके व्यवहार में कोई तब्दीली नहीं हुई। उसके खिलाफ स्थानीय पत्रों में उसके विरूद्ध रिश्वत की बड़ी शिकायतें मिल रही थी। अत: उसे नाजिम के स्थान पर नायब नाजिम बनाया गया।[13] अलवर में दामोदर नामक व्यक्ति जो सेंट्रल रिकॉर्ड का नकल नवीस था जिसको रिश्वत के जुर्म में बर्खास्त किया गया। दामोदर ने बानसूर के महाजन से 24 घंटे के बाद भी नकल न देने पर 5 रुपये में नकल देने की मांग की। प्राइम मिनिस्टर के सेक्रेटरी भ्रष्टाचार कमेटी के सदस्य के माध्यम से पाँच के नोट पर दस्तखत कर दिये जो कर्मचारी से बरामद हुआ। खेमचन्द्र ने उसे बर्खास्त कर दिया।[14] इसी प्रकार अलवर के मूल चन्द चौबे को राशन की 25 बोरी गुड़ थानागाजी में दुकानदार को ब्लेक मे बेचते पकड़े जाने पर अलवर के नाजिम पद से हटा दिया। किशनगढ़ के थानेदार सोहनलाल तलवार को रिश्वत के मामले में मुआत्तिल किया तथा विभागीय कार्यवाही की गई। उसे ज्यूडिशियरी में सुपुर्द नहीं किया।[15]

(3) बेगार

इन अखबारों में जागीरदारों द्वारा बेगार लेने एवं अत्याचार करने से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण खबरें प्रकाशित हुई जिनमें अनावड़ा (राजगढ़) के जागीरदार ठा. माधोसिंह द्वारा तरह-तरह की लाग-बाग, भेंट, बेगार लेने के साथ किसानों के शोषण की एक किसान द्वारा सम्पादक के माध्यम शिकायतें प्रकाशित की थी कि -

1. जमीन की माल गुजारी के अलावा अनाज में से तीसरे हिस्से के बंटाई अलग से लेते थे।

2. कुआं चलाने पर फी चलस

3. लाग-बाग लेते थे।

4. मक्का की फसल के समय फी लाव 65 मुट्ठी ली जाती थी।

5. एक साल में फी चूलहा 1 रुपया लाग लेते थे।

6. किसानों के अनाज में से 20 सेर अनाज की लाव के हिसाब से ठिकाने के चपरासी को दिलाया जाता था।

7. हर रोज तीन दलित महिलाओं को बेगार में दाना दलने व अनाज पीसने और गोबर थापने को बुलाया जाता था जिसके बदले 1 फसल पर 1 मन अनाज दिया जाता था।

8. कामदार ठिकाना बड़ा दबंग व्यक्ति रखा जाता था जिसे ताकीद है कि किसानों से जितना रुपया ऐंठा जा सके, ऐंठे। उसी में उसकी तरक्की मानी जाती थी।[16]

इसी प्रकार राजगढ़ के पास धमरेड का स्थानीय पटवारी गणपति राम किसानों के साथ ज्यादती करता था। मनमानी तम्बाकू की पैदावार लिख लेता जिससे किसान को उतना ही कस्टम देना पड़ता था।[17] ठिकाना बुर्जा के ठिकानेदार के यहाँ गांव वालों की ओर से एक जोड़ी बैलों के साथ एक आदमी रोजाना बेगार देने हेतु भेजा जाता। वह व्यक्ति वहाँ बेगार देता था। उसे किसी प्रकार की मजदूरी नहीं दी जाती थी।[18] बीजवाड़ चौहान के हरिजनों ने सम्पादक को चिट्ठी लिखी जिसमें बताया कि बीजवाड़ चौहान ठिकानेदार हमसे बेगार कराते हैं, मनमानी करते हैं जबकि बेगार सभी बन्द हो चुकी थी।[19] मौजपुर के हरिजनों ने प्रजामंडल के मंत्री रामजीलाल से मिल कर बताया कि यहाँ के नम्बरदारों द्वारा उनसे बेगार ली जाती है जबकि बदले में उनको मजदूरी भी नहीं दी जाती है।[20] गोविन्दगढ़ में 18 फरवरी, 1948 को ठा. भवानी सिंह आई.जी.पी. अपने साथ सिपाहियों को खाना मंगाने की बेगार के सिलसिले में गये थे। स्थानीय प्रजामंडल के मंत्री बाबू लाल गर्ग को बुलाया गया जिसके बेगार देने से मना करने पर ठा. साहब ने गणेशीलाल थानेदार को बाबूलाल गर्ग को पीटने के आदेश दिये जिसके फलस्वरूप उसे लात, घूसों एवं जूतों से पीटा गया। इसके दोष में ठा. भवानी सिंह को चीफ पुलिस अफसर श्री मलहोत्रा द्वारा मुअत्तिल किया।[21]

दलितों से बेगार तो ली जाती थी परन्तु उच्च जाति के लोगों द्वारा उन पर अत्याचार करने के मामले भी प्रकाशित हुए जैसे 21 फरवरी, 1948 को ठेठर बासना निवासी मुण्डावर के कुछ राजपूतों ने जाट भडोडी के हरिजनों को पीटा और उन पर अत्याचार किये। हरिजनों द्वारा सील गांव की जमीन ठेके पर ली जिसमें फसल खड़ी थी। अमरसिंह नामक राजपूत उनके खेत में ऊँट चरा रहा था। मना करने पर झगड़ा हुआ और अमरसिंह को गांव के राजपूतों द्वारा लाठियों एवं फरसियों से पीटकर जख्मी एवं घायल कर दिया।[22] मोरोड़ी बानसूर का कालूराम पुत्र सरदार गुजर अकेला गांव की चार हजार बीघा जमीन का बिस्वेदार था जो यहाँ की जनता से आठ-दस गुना ज्यादा वसूल करता था और उसके साथ बेगार भी लेता था तथा गांव वालों को परेशान करता था। यदि कोई शिकायत करता तो अनुचित दबाव देने के लिए मुकदमा चला देता। कुछ रिश्तेदार उसके पास रहते थे जो झूठे मुकदमें में झूठी गवाही दे देते थे। सरकारी अफसरों और अहलकारों की आवभगत कर खुश कर देता था।[23]

उपरोक्त घटनाओं के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि तत्कालीन अलवर रियासती सरकार के समय राशन व्यवस्था अच्छी नहीं थी। आम जनता अपने हक का राशन प्राप्त नहीं कर पा रही थी, वहीं राजसत्ता के नजदीक लोग गरीबों के हक का राशन समग्री हड़प लेते थे। सामान ब्लैक कर मोटी रकम प्राप्त करते थे। कई मामलों में ये दबंग लोग रिश्वत प्रकरणों में चिह्नित होने पर भी उच्च पद प्राप्त करने में सफल होते थे। साथ ही रियासती सरकार द्वारा इन पर लगाम लगाने की कठोर कार्यवाही न करना इस व्यवस्था

पर प्रश्नवाचक चिह्न लगाता है।

संदर्भ

1. *बस्ता नं. 417, फा.नं. 2, स्वतंत्र भारत (राष्ट्रीय साप्ताहिक पत्रिका), 1 जनवरी 1947, राजस्थान राजय अभिलेखागार, अलवर*
2. *बस्ता नं. 417, फा.नं. 1, स्वतंत्र भारत (राष्ट्रीय साप्ताहिक पत्रिका), 15 जनवरी 1947, पृ. 8, रा. रा. अभि. अलवर*
3. *बस्ता नं. 417, फा.नं. 2, स्वतंत्र भारत (राष्ट्रीय साप्ताहिक पत्रिका), 1 मार्च 1947, पृ. 2, रा. रा. अभि. अलवर*
4. *बस्ता नं. 417, फा.नं. 2, स्वतंत्र भारत (राष्ट्रीय साप्ताहिक पत्रिका), 1 मार्च, 1947, पृ. 5, रा. रा. अभि. अलवर*
5. *बस्ता नं. 417, फा.नं. 2, स्वतंत्र भारत (राष्ट्रीय साप्ताहिक पत्रिका), 5 मार्च, 1947, पृ. 5, रा. रा. अभि. अलवर*
6. *बस्ता नं. 417, फा.नं. 2, स्वतंत्र भारत (राष्ट्रीय साप्ताहिक पत्रिका), 22 मार्च 1947, पृ. 2, रा. रा. अभि. अलवर*
7. *बस्ता नं. 417, फा.नं. 2, स्वतंत्र भारत (राष्ट्रीय साप्ताहिक पत्रिका), 26 अप्रैल, 1947, पृ. 8, रा. रा. अभि. अलवर*
8. *बस्ता नं. 417, फा.नं. 2, अलवर पत्रिका, 25 मई 1947, पृ. 3, स्वतंत्र भारत, 17 मई, 1947, पृ. 6, रा.रा.अभि. अलवर*
9. *बस्ता नं. 417, फा.नं. 2, स्वतंत्र भारत (राष्ट्रीय साप्ताहिक पत्रिका), 12 जुलाई, 1947, पृ. 1, रा. रा. अभि. अलवर*
10. *बस्ता नं. 417, फा.नं. 2, स्वतंत्र भारत (राष्ट्रीय साप्ताहिक पत्रिका), 12 जुलाई 1947, पृ. 1, रा. रा. अभि. अलवर*
11. *बस्ता नं. 417, फा.नं. 2, स्वतंत्र भारत (राष्ट्रीय साप्ताहिक पत्रिका), 18 अक्टूबर, 1947, पृ. 1, रा. रा. अभि. अलवर*
12. *बस्ता नं. 417, फा.नं. 2, स्वतंत्र भारत (राष्ट्रीय साप्ताहिक पत्रिका), 5 फरवरी 1947, पृ. 3, रा. रा. अभि. अलवर*
13. *बस्ता नं. 417, फा.नं. 2, स्वतंत्र भारत (राष्ट्रीय साप्ताहिक पत्रिका), 12 जुलाई, 1947, पृ. 2, रा. रा. अभि. अलवर*
14. *बस्ता नं. 417, फा.नं. 2, स्वतंत्र भारत (राष्ट्रीय साप्ताहिक पत्रिका), 17 मई, 1947, पृ. 8, रा. रा. अभि. अलवर*
15. *बस्ता नं. 417, फा.नं. 2, स्वतंत्र भारत (राष्ट्रीय साप्ताहिक पत्रिका), 12 जुलाई 1947, पृ. 2, रा. रा. अभि. अलवर*
16. *बस्ता नं. 417, फा.नं. 2, स्वतंत्र भारत (राष्ट्रीय साप्ताहिक पत्रिका), 12 जनवरी 1948, पृ. 2, रा. रा. अभि. अलवर*
17. *बस्ता नं. 417, फा.नं. 2, स्वतंत्र भारत (राष्ट्रीय साप्ताहिक पत्रिका), 1 मार्च 1947, पृ. 7, रा. रा. अभि. अलवर*
18. *बस्ता नं. 417, फा.नं. 2, स्वतंत्र भारत (राष्ट्रीय साप्ताहिक पत्रिका), 1 मार्च 1947, पृ. 7, रा. रा. अभि. अलवर*
19. *बस्ता नं. 417, फा.नं. 2, स्वतंत्र भारत (राष्ट्रीय साप्ताहिक पत्रिका), 24 मई 1947, रा. रा. अभि. अलवर*
20. *बस्ता नं. 417, फा.नं. 5, स्वतंत्र भारत (राष्ट्रीय साप्ताहिक पत्रिका), 23 फरवरी 1948, पृ. 8, रा. रा. अभि. अलवर*
21. *बस्ता नं. 417, फा.नं. 2, स्वतंत्र भारत (राष्ट्रीय साप्ताहिक पत्रिका), 26 अप्रैल, 1947, रा. रा. अभि. अलवर*
22. *बस्ता नं. 417, फा.नं. 2, स्वतंत्र भारत (राष्ट्रीय साप्ताहिक पत्रिका), 23 फरवरी 1948, रा. रा. अभि. अलवर*
23. *बस्ता नं. 417, फा.नं. 5, अलवर पत्रिका, 3 अगस्त 1948, रा. रा. अभि. अलवर*

युग युगीन विलक्षण अजमेर (आधुनिक काल के विशेष संदर्भ में)

डॉ. विधि शर्मा

उत्तरी भारत के इतिहास में अजमेर का सदियों से एक विशिष्ट स्थान रहा है। दिल्ली-गुजरात मार्ग पर स्थित अजमेर की भौगोलिक स्थिति ने इसे विशेष सामरिक महत्व प्रदान किया। अत: कर्नल टॉड इसे 'राजपूताना की कुंजी' के रूप में देखते हैं।[1] अपनी भौगोलिक अवस्थिति के कारण अजमेर 12वीं शताब्दी से निरन्तर सत्ता का केन्द्र बना रहा। किसी शासक द्वारा अजमेर पर आधिपत्य स्थापित किया जाना, उत्तर भारत पर उसके प्रभुत्व का सूचक था। अजमेर शहर की स्थापना के विषय में इतिहासकार एकमत नहीं है। हरबिलास शारदा का मत है कि इसकी स्थापना चौहान राजा अजयपाल या अजयराज द्वारा की गई, जिसका काल छठी या प्रारम्भिक सातवीं शताब्दी ई. माना जाता है।[2] वहीं डॉ. दशरथ शर्मा तथा डॉ. के. सी. जैन आदि का मानना है कि इसकी स्थापना विक्रम संवत 1170 से कुछ समय पूर्व चौहान शासक अजयराज द्वारा की गई।[3] अजमेर जिला गजेटियर के लेखक बी.एन. ढोंढियाल का मत है कि तारागढ़ व अजमेर के आस पास के प्राचीन खण्डहरों को आधार मानते हुए शहर की स्थापना सातवीं शताब्दी ई. में जयराज या जयपाल (पूर्णपाल के उत्तराधिकारी) के समय हुई होगी।[4] तराईन के द्वितीय युद्ध के बाद गौरी के उत्तराधिकारी कुतुबुद्दीन ऐबक ने अजमेर को दिल्ली सल्तनत में शामिल कर लिया। इसके बाद यह कभी दिल्ली सुल्तान, कभी मेवाड़ महाराणा, कभी मांडू के अधीन रहा। अन्तत: 1544 में अफगानों के आधिपत्य में चला गया।[5] अन्तत: 1558 ई. में अफगान अधिकारी हाजी खां को परास्त कर के मुगलों ने अजमेर पर अधिकार कर लिया। इसके साथ ही अजमेर के इतिहास में एक महत्वपूर्ण अध्याय प्रारम्भ हुआ। सूफी सन्त ख्वाजा मुइनुद्दीन हसन चिश्ती, जो सन् 1191 (587 हिजरी) में अजमेर आए थे, की दरगाह पर अकबर बादशाह जनवरी 1562 में पहली बार जियारत के लिए अजमेर आया और तत्पश्चात् उसकी धार्मिक यात्राओं का सिलसिला जारी रहा। सन् 1570-1579 ई. के वर्षों में यह प्रतिवर्ष उर्स के अवसर पर अजमेर आता रहा। उदार विचारों के कारण अजमेर से कुछ ही दूरी पर स्थित पुष्कर भी कई बार गया। इन अजमेर यात्राओं के ऐतिहासिक परिणाम निकले और अजमेर की गिनती भारत के प्रमुख शहरों में होने लगी। मुस्लिम तीर्थ के रूप में अजमेर की ख्याति देश विदेश में फैलने लगी।[6]

अकबर के समय में मुगल साम्राज्य के दस सूबों में से अजमेर भी एक सूबा था, जिसकी प्रान्तीय राजधानी अजमेर शहर थी। इस सूबे में सात सरकारें व नजराना देने वाले राज्य शामिल थे। इन सात सरकारों में से अजमेर और नागौर का शासन प्रबन्ध केन्द्रीय सरकार के अधीन था।[7] सूबे का मुख्यालय होने के कारण यहां अन्य केन्द्रीय अधिकारी भी नियुक्त थे। इस मुख्यालय से मुगल सूबेदार राजपूत रियासतों पर नियत्रंण रख कर उनकी शक्ति का मुगल साम्राज्य के हित में उपयोग करता था। अकबर के समय में अजमेर में तांबे के सिक्के ढाले जाते थे।[8] इन सभी बातों ने मिलकर अजमेर को राजपूताना में मुगल शक्ति का केन्द्र बिन्दु बना दिया। अकबर ने इस शहर को द्वितीय शाही आवास का जो विशेष दर्जा प्रदान किया, वह लम्बे समय तक बना रहा। औरंगजेब ने भी मेवाड़ तथा मारवाड़ के विरुद्ध अपने संघर्ष में अजमेर को अपना मुख्यालय बनाया।[9]

सन् 1720 में सैयद बन्धुओं की मृत्यु के बाद मुगल सत्ता कमजोर पड़ने पर मारवाड़ के शासकों को अजमेर व गुजरात की सूबेदारी मिल गई और अजमेर व्यवहारिक रूप से मारवाड़ का अंग बन गया।[10] किन्तु मारवाड के शासक अभय सिंह व उसके भाई बखतसिंह व उन दोनों के पुत्रों के मध्य हुए आन्तरिक संघर्ष और उसमें मराठों के हस्तक्षेप के परिणामस्वरूप अन्तत: सन् 1756 में मराठों के साथ सम्पन्न संधि के द्वारा अजमेर मराठों के अधिकार में चला गया।[11] सन् 1756 से जून 1818 तक अजमेर मराठा आधिपत्य में रहा। पिण्डारी युद्ध के बाद अजमेर को दौलतराव सिन्धिया व अंग्रेजों के मध्य 25 जून 1818 को सम्पन्न संधि की शर्त के अनुसार मराठों ने अजमेर ईस्ट इण्डिया कम्पनी को सौंप दिया। 28 जुलाई 1818 को मिस्टर एफ. वाइल्डर ने अजमेर के प्रथम अधीक्षक के रूप में अन्तिम मराठा सूबेदार बापू सिन्धिया से प्रभार ग्रहण किया।[12] सन् 1818 के बाद अजमेर का इतिहास इस क्षेत्र में अंग्रेजी प्रशासन का इतिहास है। यद्यपि 1818 की संधियों के परिणामस्वरूप अजमेर सहित लगभग संपूर्ण राजपूताना पर ब्रिटिश प्रभुत्व स्थापित हो गया था किन्तु प्रत्यक्ष रूप से ब्रिटिश शासित प्रदेश होने के कारण अजमेर शेष राजपूताना से पृथक एक विलक्षण स्थिति में रहा। अजमेर की इस विलक्षणता को अग्रांकित बिन्दुओं के रूप में रेखांकित किया जा सकता है-

(अ) रियासती राज्यों के लिए प्रतिमान - ब्रिटिश आधिपत्य में आने के साथ ही अजमेर-मेरवाड़ा में ब्रिटिश प्रणाली पर आधारित आधुनिक प्रशासनिक व्यवस्था की स्थापना हुई। इसे एक पृथक प्रान्त बनाकर अंग्रेजों ने यह प्रयत्न किया कि वे यहां ब्रिटिश भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था के समरूप ढांचा स्थापित कर रियासती राज्यों के शासकों को अपने-अपने राज्यों में अपेक्षित प्रशासनिक परिवर्तन करने के लिए दबाव डाल सकें। राष्ट्रीय अभिलेखागार में उपलब्ध दस्तावेजों से यह बात स्पष्ट रूप में उभरती है कि ब्रिटिश शासकीय मन्तव्य अजमेर प्रशासन को राजपूताना स्थित रियासती राज्यों के लिए एक प्रतिमान के रूप में विकसित करने का था।[13]

(ब) राजपूताना में ब्रिटिश सर्वोच्चता का प्रहरी - राजपूताना के राज्यों पर

प्रभावशाली नियंत्रण तथा ब्रिटिश सर्वोच्चता की स्थापना के उद्देश्य से सन् 1832 में अजमेर में 'एजेन्ट टू द गर्वनर जनरल फॉर द स्टेट्स ऑफ राजपूताना (ए.जी.जी.) एण्ड कमिश्नर ऑफ अजमेर-मेरवाड़ा' पद का सृजन किया गया। राजपूताना के राज्यों के पॉलिटिकल एजेन्ट, ए.जी.जी. के अधीन थे। सभी राज्य अपने प्रतिनिधि, जिन्हें वकील कहा जाता था, अजमेर भेजते थे। इन वकीलों के माध्यम से ए.जी.जी. सरलता से अपनी बात मनवा सकता था।[14] अन्तर्राज्यीय मामलों व विवादों का हल भी वकील कोर्टस् में किया जाता था। चूंकि प्रत्येक राज्य स्वयं को स्वावलम्बी मानता था। अत: इनको 'इन्टरनेशनल वकील कोर्टस्' कहा गया। इस प्रकार ए.जी.जी. कार्यालय तथा 'इन्टरनेशनल वकील कोर्टस्' की स्थापना के परिणामस्वरूप अजमेर राजपूताना में ब्रिटिश सर्वोच्चता का प्रहरी बन गया।[15]

(स) राजपूताना में भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का केन्द्र बिन्दु - कुछ विशेष कारकों ने अजमेर-मेरवाड़ा में राष्ट्रवाद को उभारा एवं यह राजपूताना में राष्ट्रीय आंदोलन का केन्द्र बन गया -

1. अजमेर ब्रिटिश भारत का अंग था। अत: यहां की परिस्थितियां ब्रिटिश भारत से साम्य रखती थी फलत: वहां होने वाली गतिविधियों की प्रतिध्वनि यहां भी होती थी फिर चाहे वह कांग्रेस की स्थापना हो या होमरूल आंदोलन, क्रांतिकारी गतिविधियां हो या गांधीवादी आंदोलन।
2. अपनी साम्राज्यीय आवश्यकताओं के अनुरूप अंग्रेजों ने अजमेर को सन् 1805 में बाम्बे, बडौदा एण्ड सेन्ट्रल इण्डिया मीटर गेज सिस्टम का मुख्यालय बनाया। रेल्वे से जुडे संस्थानों, जैसे रेल्वे वर्कशाप, रेल्वे हॉस्पिटल, रेलवे इन्स्टीट्यूट, रेल्वे वेलफेयर सेंटर तथा बड़ी संख्या में यहां निवास करने वाले रेलवे के प्रशासनिक व तकनीकी कर्मचारियों ने अजमेर में सर्वदेशीय वातावरण तथा शहरीकरण को जन्म दिया एवं सामाजिक गतिशीलता को बढ़ाया।
3. इसाई मिशनरियों तथा सरकार के शिक्षा प्रसार के कार्यो के कारण शेष राजपूताना की तुलना में अजमेर में शिक्षा सुविधाओं का अधिक विकास हुआ, जिसने यहां के सामाजिक जीवन को सकारात्मक रूप से प्रभावित किया तथा राजनैतिक जागरूकता में भी वृद्धि की।
4. दयानन्द आश्रम, परोपकारीणी सभा, आर्य प्रतिनिधि सभा-राजपूताना मालवा, वैदिक यंत्रलाय आदि की उपस्थिति ने अजमेर को राजपूताना में आर्य समाज का मुख्यालय बना दिया। प्रथमत: आर्य समाज की सशक्त उपस्थिति ने यहां राष्ट्रीय चेतना को उभारा और यहां राष्ट्रीय आन्दोलन को हरबिलास शारदा, चांदकरण शारदा जैसे नेतृत्वकर्ता प्रदान किये। द्वितीयत: यहां उदित होते शिक्षित मध्यमवर्ग ने आर्य समाज के मंच से अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करना प्रारम्भ किया।

उक्त सभी कारकों के कारण ब्रिटिश भारत में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नेतृत्व में चल रहे राष्ट्रीय आन्दोलन के हर कदम की गूंज अजमेर-मेरवाड़ा में भी सुनाई दी। दिसम्बर 1885 में बम्बई में राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई। नवम्बर 1887 ई. में ही यहां भी गवर्नमेण्ट कॉलेज, अजमेर के छात्रों ने कांग्रेस समिति की स्थापना की। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में अजमेर-मेरवाड़ा का पहली बार प्रतिनिधित्व जार्ज यूल की अध्यक्षता में हुए प्रयाग अधिवेशन में गोपीनाथ माथुर, किशनलाल तथा हरबिलास शारदा द्वारा किया गया।[16] यह क्षेत्र 1905 के बंग भंग विरोधी स्वदेशी तथा बहिष्कार आंदोलन से भी अछूता न रहा। श्यामजी कृष्ण वर्मा से प्रभावित ब्यावर के सेठ दामोदर दास राठी की कृष्णा मिल स्वदेशी वस्त्रों की मांग को पूर्ण कर रही थी।[17] अजमेर-मेरवाड़ा की खरवा जागीर में 14 मई 1907 को दुकानदारों ने विदेशी चीनी बेचना बन्द कर दिया, विदेशी वस्त्रों की होली जलायी तथा स्वदेशी वस्त्र पहनने की प्रतिज्ञा ली।[18] 1907 में कांग्रेस के विभाजन के बाद भारतीय राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आंदोलन में जो क्रांतिकारी रुझान आया, उससे भी यह क्षेत्र अछूता नहीं रहा, जैसा कि वर्ष 1915 की सशस्त्र क्रांति अथवा लाहौर-दिल्ली षड्यन्त्र केस में खरवा के राव गोपाल सिंह, विजय सिंह पथिक तथा सेठ दामोदर दास राठी की भूमिका से स्पष्ट होता है।

जुलाई 1916 में मदार गेट पर होमरूल लीग की उपसमिति की स्थापना की गई। प्रारम्भिक चरण में 70 सदस्यों ने इसकी सदस्यता गृहण की।[19] वर्ष 1919 से 1922 तक इस क्षेत्र में भी शेष भारत की भांति खिलाफत तथा असहयोग आंदोलन की हलचल व्याप्त रही। अजमेर के एक मुस्लिम तीर्थ होने के कारण बड़ी संख्या में मुस्लिम तीर्थयात्री भारत भर से यहां आते थे, इस तथ्य का फायदा उठाने के लिए 'जमायत उल उलमा ए हिन्द' खिलाफत के प्रश्न को लेकर यहां विशेष रूप से सक्रिय था।[20] आंदोलन के प्रारम्भ के साथ ही अजमेर में भी सरकारी नौकरियों, उपाधियों, विदेशी वस्त्रों तथा सरकारी उत्सवों का बहिष्कार किया गया। कृष्ण गोपाल गर्ग तथा ओंकार लाल बाकलीवाल ने सरकारी नौकरी छोड़ दी, गोरी शंकर भार्गव ने अपने विदेशी वस्त्रों के व्यापार को बन्द कर दिया, चांदकरण शारदा ने अपनी बी.ए., एल.एल.बी. की डिग्रियां विश्वविद्यालय को लौटाते हुए वकालत छोड़ दी।[21] 22 नवम्बर 1921 को प्रिंस ऑफ वेल्स के अजमेर आगमन पर यहां पूर्ण हड़ताल रही।[22] आंदोलन में यहां की महिलाओं, किसानों तथा विद्यार्थियों ने उल्लेखनीय भागीदारी दर्शायी।[23] अजमेर, ब्यावर जैसे शहरी केन्द्रों के अलावा आंदोलन पुष्कर, केकड़ी तथा पीसांगन जैसे आन्तरिक क्षेत्रों में भी फैला।[24] 5 फरवरी 1922 को चौरा-चौरी काण्ड के बाद असहयोग आंदोलन को यकायक वापस लेने से कांग्रेसी नेतृत्व के प्रति मोहभंग की, जो मनस्थिति बनी। उसके परिणामस्वरूप संयुक्त प्रान्त और पंजाब में शिक्षित युवा वर्ग पुन: क्रांतिकारी तरीकों की

ओर आकृष्ट होने लगा। अजमेर-मेरवाड़ा में भी यह रुझान स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है। इस समय पं. ज्वाला प्रसाद, रामसिंह उर्फ हेमचन्द, रामचन्द्र बापट, प्रकाश दत्त, रूद्र दत्त मिश्रा आदि यहां प्रमुख क्रांतिकारियों के रूप में उभरे। ये लोग आनासागर के तट पर गुप्त रूप से एक क्रांतिकारी कार्यालय चलाते थे। सन् 1931 में चन्द्रशेखर आजाद भी यहां आए थे।[25] ज्वाला प्रसाद तथा रामसिंह उर्फ हेमचन्द्र ने 4 अप्रैल 1935 को अजमेर के पुलिस उप अधीक्षक प्राणनाथ डोगरा तथा सब इंस्पेक्टर खलीलुद्दीन पर प्राणघातक हमला किया। जिसमें वे दोनों घायल हुए तथा ज्वाला प्रसाद व हेमचन्द्र की गिरफ्तार कर लिया गया।[26] रामचन्द्र बापट को अजमेर-मेरवाड़ा के तत्कालीन चीफ कमीश्नर ई.सी. गिब्सन पर हमला करने के आरोप में 11 वर्ष की कठोर कारावास की सजा सुनाई गई।[27]

गांधीवादी आंदोलन के द्वितीय चरण के रूप में सविनय अवज्ञा आंदोलन भी अजमेर-मेरवाड़ा में एक महत्वपूर्ण दौर को रेखांकित करता है। इस दौरान यहां सर्वप्रथम ब्यावर तथा फिर अजमेर व रामसर में कृत्रिम रूप से नमक निर्माण कर नमक कानून तोड़ा गया।[28] नमक सत्याग्रह के बाद विदेशी वस्त्रों तथा शराब की दुकानों पर, सरकारी तथा अनुदान प्राप्त शिक्षण संस्थानों पर धरने दिए गए। सविनय अवज्ञा आंदोलन के द्वितीय चरण में गोयल, सावर, बलवाई, मसूदा, बगसूरी, कल्याणपुरा तथा सतना आदि ग्रामीण इस्तेमरारी क्षेत्रों में इस्तेमरारदारों के विरुद्ध चला लगान बंदी आंदोलन विशेष रूप से उल्लेखनीय है।[29] इस आंदोलन के दौरान यहां जेल जाने वालों की संख्या 300 के आसपास थी जो असहयोग आंदोलन के दौरान जेल जाने वालो से तीन गुना से भी अधिक थी।[30] यह आंकड़ा यहां निरन्तर बढती जनचेतना का सूचक है किन्तु अगस्त क्रांति के समय कठोर सरकारी दमन के चलते यहां व्यापक जन सक्रियता का अभाव रहा। 9 अगस्त 1942 को भारत छोड़ो आंदोलन के प्रथम दिन ही यहां के 13 प्रमुख नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया।[31] इसके बाद भी जब तक सभी नेता व कार्यकर्त्ता बंदी नही बना लिए गए गिरफ्तारियाँ जारी रही। फरवरी 1943 तक भारत सुरक्षा अधिनियम के तहत यहां कुल 93 लोग गिरफ्तार किए जा चुके थे।[32] गांधीवादी आंदोलन के दौरान जनसक्रियता में आते उतार चढावों के बाद 15 अगस्त 1947 को राष्ट्र स्वतंत्र हो गया तो सारे भारत की भांति अजमेर में भी यह दिन हर्षोल्लास के साथ मनाया गया।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद अजेमर : स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद अजमेर के संदर्भ में विलक्षण तथ्य यह रहा कि स्वतंत्रता मिलने पर रियासतों के एकीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई और राजपूताना की देशी रियासतों को राजस्थान राज्य के रूप में एकीकृत कर दिया गया किन्तु भौगोलिक दृष्टि से राजस्थान के केन्द्र में स्थित होने के बावजूद अजमेर-मेरवाड़ा ने लगभग अगले 9 वर्षों तक अपने पृथक अस्तित्व को सुरक्षित बनाए रखा। स्वतंत्रता प्राप्ति के तुरन्त बाद इसके प्रशासनिक ढांचे में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। यह भारत शासन अधिनियम 1935 के तहत जारी 8 फरवरी 1947 की

अधिसूचना के अनुसार एक केन्द्र शासित प्रदेश ही बना रहा। जिसका प्रशासन चीफ कमिश्नर तथा उसकी सात सदस्यीय परामर्शदात्री परिषद् द्वारा चलाया जाता था।[33] किन्तु यहां के जनमानस तथा नेतृत्वकर्ताओं के मन में यह बात बैठी हुई थी कि प्रथमत: चूंकि अजमेर-मेरवाड़ा एक ब्रिटिश शासित प्रदेश था अत: भारत संघ में उसे वहीं स्थान व प्रशासन मिलना चाहिए जो अन्य ब्रिटिश प्रान्तों को प्राप्त हुआ है। द्वितीयत: चूंकि यह क्षेत्र किसी ब्रिटिश प्रान्त की सीमा से जुड़ा हुआ नहीं है, अत: इसे किसी ब्रिटिश प्रान्त में विलीन नहीं किया जा सकता अत: इसे स्वायत्तता प्रदान की जाए। चूंकि परामर्शदात्री परिषद् जनमत की प्रतिनिधि थी और चीफ कमिश्नर नौकरशाही के प्रतिनिधि थे। अत: अधिकाधिक स्वायत्तता की परामर्शदात्री परिषद् की मांग के कारण वर्ष 1948-52 के दौरान दोंनो के मध्य संघर्ष और गतिरोध की स्थिति बनी रही एवं प्रशासन बाधित रहा।

वर्ष 1951 में 'पार्ट 'सी' स्टेट्स एक्ट 1951' पारित हुआ जिसके तहत पार्ट 'सी' राज्य के रूप में अजमेर का गठन हुआ।[34] जनवरी 1952 में 30 सदस्यीय विधान सभा का गठन हुआ। श्री हरिभाऊ उपाध्याय के मुख्य मन्त्रीत्व में तीन सदस्यीय मंत्रीमंडल का गठन हुआ।[35] जिसने नवम्बर 1956 को अजमेर के राजस्थान में विलय तक शासन संचालन किया। 29 दिसम्बर 1953 को भारत सरकार के गृह मंत्रालय द्वारा राज्य पुनर्गठन आयोग का गठन किया गया।[36] जिसके समक्ष राजस्थान सरकार ने विलय के पक्ष में तथा अजमेर सरकार ने अजमेर के पृथक अस्तित्व को बनाए रखने के संदर्भ में अपने दावे-प्रतिदावे प्रस्तुत किए।[37] जिनकी जांच के बाद राज्य पुनर्गठन आयोग ने यह निर्णय दिया कि ''अजमेर भौगोलिक रूप से पृथक नहीं है और न ही अब ब्रिटिश प्रहरी की भूमिका निभा रहा है। इसलिए हम राजस्थान सरकार से सहमत है कि अजमेर तथा राजस्थान के मध्य स्थित भाषायी, सांस्कृतिक और भौगोलिक संबंधों का सम्मान किया जाना चाहिए और कुछ अन्य कारणों, उदाहरणार्थ - दोहरे नियन्त्रण की समाप्ति से कानून तथा व्यवस्था की स्थिति में सुधार होगा, से अजमेर के राजस्थान में विलय का प्रस्ताव औचित्यपूर्ण है।[38] राज्य पुनर्गठन अधिनियम 1956 के तहत 1 नवम्बर 1956 को अजमेर को राजस्थान में विलिन कर दिया गया। अजमेर की युगयुगीन विलक्षणता के साथ न्याय करने के लिए अजमेर के तत्कालीन मुख्यमंत्री हरिभाऊ उपाध्याय द्वारा अजमेर को राजस्थान की राजधानी बनाने के भरसक प्रयत्न किए गए, किन्तु अजमेर को मात्र राजस्थान लोकसेवा आयोग, राजस्व मंडल, माध्यमिक शिक्षा बोर्ड जैसी संस्थाओं के साथ ही संतोष करना पड़ा।

संदर्भ

1. *ढौढियाल, बी. एन., राजस्थान डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स-अजमेर, गर्वनमेण्ट ऑफ राजस्थान, जयपुर, अलवर (1966), पृ. 57*
2. *शारदा, हरविलास, अजमेर हिस्टोरिकल एण्ड डिस्क्रिटिव, अजमेर (1941), पृ. 137*

3. शर्मा, दशरथ, लेक्चर्स ऑन राजपूत हिस्ट्री एण्ड कल्चर, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली (1970), पृ. 54, 71, 82
4. ढौढियाल, बी. एन., पूर्वोक्त, पृ. 55
5. अबुल फजल अल्लामी, आइने अकबरी, वाल्यूम 2, अनुवादित एच. एस. जैरट तथा जदुनाथ सरकार, द्वितीय संस्करण (1949), पृ. 273-78
6. ढौढिंयाल, बी. एन. पूर्वोक्त, पृ. 57
7. वही, पृ. 84, 88
8. वही, पृ. 124-126
9. वाटसन सी. सी., राजपूताना डिस्ट्रिक्ट गजेटियर - अजमेर-मेरवाड़ा, वाल्यूम - 1- ए, अजमेर (1904), पृ. 11
10. परिहार, जी. आर., मारवाड एण्ड द मराठाज् (1724-1843), हिन्दी साहित्य मन्दिर, जोधपुर (1968) पृ. 22-24, 40
11. वही, पृ. 84, 88
12. एचिसन, सी. यू., ए. कलेक्शन ऑफ ट्रीटीज, एन्गेजमेंट्स एण्ड सनसद रिलेटिंग टू इण्डिया एण्ड नेबरिंग कन्ट्रीज, वाल्यूम 5 (1932) शिड्यूल 2, पृ. 412
13. फॉरैन पॉलिटिकल, 14 फरवरी 1832, न. 33, फॉरैन पालिटिकल जनरल - ए, अगस्त 1867, न. 46-48, फॉरैन पालिटिकल ए, दिसम्बर 1870 नं. 626-639, नेशनल आर्काइव्स ऑफ इण्डिया (एन.ए.आई.)
14. जैन एम. एस., आधुनिक राजस्थान का इतिहास, जयपुर (1995), पृ. 65-66
15. उपर्युक्त, पृ. 71-72
16. सक्सेना, के. एस., राजस्थान में राजनैतिक जन जागरण, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर (1999), पृ. 39
17. शर्मा, हरिनारायण, राजस्थान में स्वतंत्रता संग्राम के अमर पुरोधा-सेठ दामोदर दास राठी, स्वर्ण जयन्ती समारोह समिति, जयपुर, पृ. 17
18. नाटाणी, प्रकाश नारायण, राजस्थान में स्वतंत्रता संग्राम के अमर पुरोधा राव गोपालसिंह खरवा, राजस्थान स्वर्ण जयन्ती समारोह समिति, जयपुर, पृ. 16
19. फाइल नं. जी - 157-166, ए. आई. सी. सी. पेपर्स, नेहरू मेमोरियल म्यूजियम एण्ड लाइब्रेरी, दिल्ली (एन.एम.एम.एल.)
20. मिनॉल्ट गेल, द खिलाफत मूवमेन्ट, ओ. यू. पी. देहली (1982), पृ. 79
21. चांदकरण शारदा पेपर्स, एन.एम.एम.एल.
22. होम पोलिटिकल (आई)/फोर्टनाइटली मेमोरण्डम (57) ऑन द इन्टरनल सिचुएशन इन अजमेर-मेरवाड़ा फॉर द पीरियड़ एण्डिग 30 नवम्बर 1921, एन.ए.आई.
23. होम पोलिटिकल (डी)/दिसम्बर 1921/फोर्टनाइटली मेमोरण्डम (59)एन.ए.आई.; फाईल नं. जी 1921/ए.आई.सी.सी. पेपर्स, एन.एम.एम.एल.; आर्य मार्तण्ड, 9 अगस्त 1921
24. फाइल नं. 76/चांदकरण शारदा पेपर्स, एन.एम.एम.एल., होम पोलिटिकल (डी) फोर्टनाइटली मेमोरण्डम (38) ऑन द इन्टरनल सिचुएशन इन अजमेर-मेरवाड़ा फार द पीरीयड एण्डिग 28.02.1921, एन.ए.आई.
25. जोशी, सुमनेश, राजस्थान में स्वतंत्रता संग्राम के सेनानी, जयपुर (1972), पृ. 389
26. होम पॉलिटिकल/44/63/1935/ डिटेन्शन ऑफ ज्वाला प्रसाद एज ए स्टेट प्रिजनर अंडर रेग्यूलेशन 3 ऑफ 1818, एन.ए.आई
27. व्यास, इन्द्रा, फ्रीडम मूवमेन्ट इन राजस्थान, जयपुर (2004), पृ. 94, 95
28. राजस्थान संदेश, 26 अप्रेल 1930, पथिक संग्रह, फाईल सं. -12, एन.ए.आई., जयपुर केन्द्र
29. ग्रुप-ए/पैड-10/फाइल नं. 274-275/वीकली एण्ड अदर रिपोर्ट्स ऑन द सिचुएशन अराइजिंग आउट ऑफ सी. डी. एम. इन अजमेर-मेरवाड़ा, राजस्थान स्टेट आर्काइव्स, बीकानेर (आर.एस.ए.बी.)
30. ग्रुप सी/कॉन्फिडेन्शियल/1022/52/पॉलिटिकल सफरर्स/स्टेटमेन्ट ऑफ पालिटिकल प्रिजनर्स एडमिटेड इन सेन्ट्रल जेल इन द मूवमेन्ट ऑफ 1942, आर.एस.ए.बी.
31. व्यास, इन्द्रा, पूर्वोक्त, पृ. 137
32. ग्रुप सी/कॉन्फिडेन्शिल/10/2/52, पूर्वोक्त
33. फाइल नं. 1/42/52 एल.ए./1947-52/चीफ कमीशनर्स ऑफिस अजमेर, आर.एस.ए.बी.
34. फाइल नं. 1/4/52-एल.ए./गवर्नमेन्ट ऑफ अजमेर/लेजिसलेटिव असेम्बली डिपार्टमेन्ट/एनुअल एडमिनिस्ट्रेशन रिपोर्ट 1955, आर.एस.ए.बी.
35. फाइल नं. 1/13-ए/52-एल.ए./गवर्नमेन्ट ऑफ अजमेर/लेजिसलेटिव असेम्बली डिपार्टमेन्ट/पेपर्स रिलेटिंग टू फर्स्ट सेशन ऑफ अजमेर लेजिसलेटिव असेम्बली, आर.एस.ए.बी
36. होम डिपार्टमेन्ट्स रिजोल्यूशन नं. 53/69/53/ पब्लिक, डेटेड 29.12.1953 वाइड रिपोर्ट ऑफ द स्टेट्स रिआर्गनाइजेशन कमीशन 1955, पब्लिकेशन ब्रांच, गवर्नमेन्ट ऑफ इण्डिया, दिल्ली (1956)
37. व्यूज एण्ड सजेशन्स, गवर्नमेण्ट ऑफ राजस्थान टू द स्टेट्स रिआर्गनाइजेशन कमीशन 1954, तथा मेमोरेण्डम सबमिटेड टू द स्टेट्स रिआर्गनाइजेशन कमीशन बाइ द अजमेर स्टेट गवर्नमेन्ट
38. रिपोर्ट ऑफ द स्टेट्स रिआर्गनाइजेशन कमीशन, 1955, पृ. 136

शिक्षा के विकास में अनुकरणीय प्रयास-सेवा मंदिर (1997-2002)

डॉ. कैलाश जोशी

सेवा मंदिर संस्था की स्थापना 1969 से उदयपुर में हुई। जिसमें उदयपुर जिले की 6 तहसीलों के 535 गांवो का चयन किया गया। जो सुदूर आदिवासी क्षेत्र के थे। ये छः तहसीलें बडगांव, गिर्वा, झाड़ोल, खैरवाडा, कोटड़ा, गोगुन्दा थी। जैसा की नाम से ही स्पष्ट है सेवा मंदिर एक सामाजिक सेवा के क्षैत्र में एक गैर सरकारी संस्थान है।[1] विभिन्न क्षेत्रों में कार्य के उपरान्त सेवा मंदिर ने अप्रैल 1995 से शिक्षा के क्षेत्र में अपनी विभिन्न गतिविधियों को आरम्भ करते हुए एक अलग शिक्षा प्रभाग की स्थापना की तथा इस प्रभाग ने अपने निम्न लक्ष्य रखे-

1. संस्था की शिक्षा नीति का क्रियान्वयन करना।
2. अनौपचारिक शैक्षिक कार्यक्रम लागू करना।
3. जन शिक्षण 'निलयम' के नाम से सार्वजनिक पुस्तकालयों की स्थापना।
4. लोक जुम्बिश परियोजना (में मुख्य भूमिका का निर्वहन)।
5. साक्षरता शिविरों का संचालन।
6. अनौपचारिक िाक्षा क्षैत्र में फ्ोध कार्य करना।

संस्था की नई शिक्षा नीति तथा योजना 6-12 वर्ष के बच्चों के लिए -

1. अनौपचारिक शिक्षा केन्द्रों की स्थापना (NFES) (Non Formal Education Center) की जिसमे जन सहभागिता की महत्वपूर्ण भूमिका रही।
2. इन अनौपचारिक शिक्षा केन्द्रों के माध्यम से शिक्षा के विकास हेतु विभिन्न योजनाओं को संचालन के साथ-साथ नवीन स्थानों का चयन, प्रस्तावों का संकलन किया गया।
3. इन केन्द्रों के माध्यम से विभिन्न योजनाओं को बच्चों के साथ जोडा गया।
4. महिला शिक्षा को बढावा दिया गया।
5. ग्राम विकास समिति का निर्वाचन एवं प्रशिक्षण करना।
6. ग्राम समूहों से गतिविधियों के प्रस्ताव प्राप्त कर संस्थान से स्वीकृति प्राप्त करना।
7. अनौपचारिक शिक्षा केन्द्र के स्थान तथा उसे चलाने हेतु सह (पेरा) कर्मचारी का चयन करना।
8. सह (पेरा) कर्मचारी तथा शिक्षक के प्रशिक्षण की व्यवस्था करना।
9. केन्द्र संचालन हेतु आव यक सामग्री की पहुँच केन्द्र तक सुनिश्चित करना।
10. ग्राम विकास समिति हेतु प्रबंधकीय कार्यशाला का आयोजन करना तथा समझौते पर हस्ताक्षर करवाना।
11. केन्द्र हेतु संस्कारित गतिविधी का चयन करना।

योजना में चयनित चार तहसीलों के 9 गाँवों में से 6 गाँवों में वित्तीय वर्ष 97-98 तक सम्पूर्ण सूचना प्राप्त कर ग्राम समूहों का निर्माण कर लिया गया।

क्र.सं.	तहसील	सम्मिलित गाँव
1	कोटडा	रान्दला, वासेला
2	खैरवाडा	गोगाफला, गमेती फला, डामोर फला, नीचला फला
3	झाड़ोल	पारड़ा, निचली बिरोठी
4	गिर्वा	रवा

अनौपचारिक शिक्षा केन्द्र की स्थापना 6-12 आयु वर्ग के उन बच्चों के लिए स्थापित किए गए जो अनामांकित, ड्रापआऊट थे और विभिन्न कारणो से शिक्षा की मुख्यधारा से जुड़ने से वंचित रह गए थे।

शिक्षा का पाठ्यक्रम

उन अनौपचारिक शिक्षा केन्द्रों के लिए पाठ्यक्रम SIERT (राज्य शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण संस्थान) द्वारा तैयार किया गया तथा हिन्दी की पाठ्य पुस्तक को 'दिगन्तर' नामक शैक्षिक संस्था द्वारा तैयार किया गया।

अन्य सहशैक्षिक गतिविधियों को आयोजित किया गया। इनमे प्रमुख शिक्षक पालक बैठक, बाल मेला, प्रवेशोत्सव, बैठक एवं प्रशिक्षण, औपचारिक शिक्षा अनुसंधान हेतु परियोजना कार्य, ग्राम पुस्तकालय के रूप में 'जन शिक्षण निलयम' की स्थापना करना।

लोक जुम्बिश परियोजना में कार्य

राजस्थान में शिक्षा के सार्वजनीकरण हेतु लोक जुम्बिश परियोजना को वर्ष 1992 से प्रारम्भ किया गया। सेवा मंदिर के सहयोग से इसे उदयपुर जिले में झाडोल तहसील के दो संकूल के (मादडी, फलासिया) 46 गांवो में वर्क्ष 1996 से लागू किया गया। जिनमें प्रथम वातावरण निर्माण हेतु, लोक नृत्य, लोक गान, भजन मण्डलियां, पैदल यात्रा का आयोजन किया गया। तत्पश्चात् प्रेरक दल का निर्माण, महिला समूहों का निर्माण एवं प्रशिक्षण, गाँव का नजरी नक्शा निर्माण, अनौपचारिक शिक्षा केन्द्र हेतु स्थान का चयन तथा स्थापना की गई। प्राथमिक शाला एवं शिक्षाकर्मी शाला की स्थापना

करने के साथ प्राथमिक शाला का उच्च प्राथमिक स्तर पर क्रमोन्नत भवन निर्माण हेतु ग्राम स्तर पर समिति गठ़न कर प्रशिक्षण एवं शाला मरम्मत कार्य करवाये गए।

हम पाँच गाँव पाँच – इस योजना के अंतर्गत चयनीत संकुल में शत प्रतिशत नामांकन का प्रयास किया गया। यह नामांकन औपचारिक या अनौपचारिक जो भी हो इस हेतु प्रयास किया गया। अनौपचारिक शिक्षा केन्द्रों ने प्रेरक दलों के सहयोग से अच्छा कार्य किया। दो संकुलों में चयनित 10 गाँवों में से 4 गाँवों ने लगभग 98–99 प्रतिशत का लक्ष्य प्राप्त किया। फलासिया में 24 समूहों में 385 महिलाओं, मादडी में 21 समूहों में 331 महिलाओं को चार दिवसीय आवासीय शिविरों के माध्यम से प्रशिक्षित किया गया। यह शिविर मुख्यत: पंचायती संस्थाओं के लिए महिलाओं की सक्रिय भूमिका पर केन्द्रित था।

सहज शिक्षा कार्यक्रम – सहज शिक्षा केन्द्र एक प्रकार के अनौपचारिक शिक्षा केन्द्र थे। जिन्हें जुलाई 97 से स्थापित किया गया था। मादडी में 55 तथा फलासिया में 43 कुल 98 सहज शिक्षा केन्द्र स्थापित किये गये। जिनमें लगभग 1552 बच्चों को नामांकित किया गया। सहज शिक्षा केन्द्रों हेतु अन्य शैक्षिक गतिविधि आयोजित की गई जिनमें प्रमुख निम्न थे –

- ⋆ इन केन्द्रों के शिक्षकों के प्रशिक्षण में 88 शिक्षकों के साथ लोक जुम्बिश तथा संस्थान के संदर्भ व्यक्ति भी सम्मिलित थे।
- ⋆ सहायक शिक्षण सामग्री को इन केन्द्रों को वितरित किया गया जिनमें प्रमुख किताबें, कापियां, पेन्सिल अन्य सामग्री प्रमुख थी।
- ⋆ ग्रामीण पुस्तकालयों की स्थापना की गई।
- ⋆ महिला शिक्षा के प्रमुख प्रयासों में बालिकाओं को गोद लेने की एक योजना प्रमुख थी जिसके अंतर्गत प्रत्येक केन्द्र के कर्मी ने एक बच्ची को गोद लिया तथा उसे शिक्षा की मुख्यधारा से जोड़ने के लिए विशेष प्रयास किया साथ ही बालिकाओं को स्कूल में प्रवेश दिया गया।
- ⋆ प्रेरक दल, महिला समूह तथा साक्षरता केम्पों के लिए माड्यूल निर्माण कार्यशाला का आयोजन किया गया।
- ⋆ वर्ष 1998–99 में कोटड़ा ब्लॉक के मामेर संकुल में कार्य प्रारम्भ किया गया।
- ⋆ बालवाड़ी तथा आंगनवाड़ी कार्यकर्ताओं के लिए साक्षरता केम्प हेतु समन्वय स्थापित किया गया।

इन औपचारिक शिक्षा केन्द्रों हेतु शिक्षकों का चयन स्थानीय स्तर पर ग्राम समिति द्वारा न्यूनतम आठवी कक्षा उत्तीर्ण की।[2]

वर्ष 1999–2000 में सेवा मंदिर ने 6–14 आयु वर्ग के बच्चों के लिए

अनौपचारिक शिक्षा केन्द्र स्थापित किये। 176 अनौपचारिक शिक्षा केन्द्रों में से 72 राज्य सरकार की सहायता से संचालित थे। किन्तु नामांकन में 18 बच्चों की कमी हुई। नामांकन 3472 से 3454 हो गया। इसका मुख्य कारण राज्य सरकार द्वारा छोटे ढाणी मजरों में राजीव गाँधी पाठशाला की स्थापना थी। ये पाठशालाएं उन स्थानों में खोली गई जहाँ सेवा मंदिर के अनौपचारिक शिक्षा केन्द्र पूर्व से ही संचालित थे।

लोक परम्पराओं का उपयोग – सेवा मंदिर ने शिक्षा विकास हेतु लोक परम्पराओं का उपयोग किया। लोक संस्कृति को लेकर साक्षरता संदेश सेवा साधना क्रान्ति, गति बिम्ब नामक पत्रिकाओं का प्रकाशन करवाया। साथ ही किसान प्रवेशिका नाम से युवा शिक्षा हेतु संदर्भ सामग्री तैयार की। साथ ही गरासिया महिलाओं को नृत्य शिक्षा देकर तैयार किया गया। दो अलग रंगमंचों पर कठपुतली के खेलों का आयोजन भी किया गया।[3]

वर्ष 2001–02 में सेवा मंदिर ने गुणवत्तापूर्ण शिक्षा एवं शिक्षा क्षेत्र में जन आन्दोलन लाने के लिए कार्य किया। बालकों को सीखने के लिए नई शैक्षिक विद्या तैयार करने तथा स्वयं के संस्था के स्तर पर नई उर्जा डालने, क्षमता अभिवृद्धि करने का कार्य किया। खासकर बच्चों में शैक्षिक कौशल का विकास करने एवं संस्था ने अनामांकित तथा ड्रापआउट बच्चों को शिक्षा की मुख्यधारा से जोड़ने के लिए छोटे–छोटे शैक्षिक स्तर तय कर शिक्षा प्रदान करने हेतु कार्य किया ताकि, इससे अधिक अच्छे परिणाम प्राप्त हो सके।

अनौपचारिक शिक्षा केन्द्रों के अध्यापकों के चयन में पुरुष हेतु 8वीं तथा महिला हेतु 5वीं उत्तीर्ण करने का शैक्षिक स्तर तय किया गया। प्रत्येक अनौपचारिक शिक्षा केन्द्र हेतु न्यूनतम 20–25 बच्चों का नामांकन अनिवार्य रखा गया तथा इन केन्द्रों का संचालन न्यूनतम तीन घण्टे करना अनिवार्य था। साथ ही अधिक नामांकन होने पर अतिरिक्त शिक्षक की व्यवस्था भी करने का प्रयास किया गया।

नई शैक्षिक विधा

सेवा मंदिर ने केन्द्र की सहायता से 134 अनौपचारिक केन्द्रों की स्थापना, खैरवाड़ा, झाडोल, बडगांव, ब्लॉक में किया जिसमें शिक्षा भवन सोसाइटी की सहायता ली गई। साथ ही शैक्षिक विधा में भी नवीनता लाने हेतु प्रयास किये गए साथ ही ऐसी शैक्षिक सहायक सामग्री के निर्माण खासकर मॉडल निर्माण पर ध्यान दिया गया जो ग्रामीण क्षैत्र के बच्चों हेतु फायदेमन्द हो। उस हेतु जयपुर की संस्था 'सम्भव' से भी सह सम्बन्ध स्थापित किया तथा गिर्वा में 10 अनौपचारिक शिक्षा केन्द्रों की स्थापना भी की तथा इस हेतु रंगमंच विधा का प्रयोग किया। जिससे देखकर जल्दी सीख सके। साथ ही विद्याभवन सोसाइटी से सहसम्बन्ध स्थापना सेवा मंदिर संस्था हेतु हितकर रहा। इससे संस्था के कार्यक्रमों की नई दिशा तय हुई तथा अनुकूल परिणाम प्राप्त हुए। साथ ही

विभिन्न समस्याओं पर नवीन संस्थागत नीति तय हुई।

साथ ही शिक्षकों को केन्द्रों को संचालित करने हेतु नवीन संदर्भ सामग्री प्रदान की गई। इस वर्ष संस्था ने बच्चो के लिए 21 बाल मेलों का आयोजन किया। जिसमें बच्चे आपस में एक दूसरे से परिचित हुए तथा अन्य सह शैक्षिक गतिविधियों जैसे ड्राईग, पेन्टिग, समस्या समाधान, क्विज का आयोजन भी किया गया। गिर्वा एवं झाडोल ब्लॉक के बच्चों के लिए पश्चिमी सांस्कृतिक केन्द्र ने एक बडा रंगारंग समारोह आयोजित किया।[4]

स्वतन्त्रता आन्दोलन के दौरान महात्मा गांधी के निर्देशानुसार जिस प्रकार प्रजामण्डल एवं निजी शिक्षण संस्थाओं विद्या भवन, विद्यापीठ महिला मण्डल, महिला परिषद आदि ने शिक्षा का प्रसार कर आन्दोलन को नई दिशा दी। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात सेवा मंदिर ने आदिवासी क्षेत्रों में शिक्षा प्रसार एवं विकास हेतु नवीन योजनाएं अपनाकर कार्य कर रहा है। उससे निश्चय ही क्षेत्र के बालक-बालिकाओं को विकास की मुख्यधारा से जुड़ने का अवसर प्राप्त हो रहा है। इससे सरकारी एवं गैर सरकारी प्रतिस्पर्धा भी बढ़ रही है। एवं िाक्षा के क्षेत्र में शिक्षा उन्नयन के प्रयासों की सार्थकता में भी वृद्धि हो रही है।

सन्दर्भ

1. *सेवा मंदिर वार्षिक रिपोर्ट वर्ष 1997-98 मुख्य पृष्ठ*
2. *सेवा मंदिर वार्षिक रिपोर्ट वर्ष 1997-98 पृ. 35-40*
3. *सेवा मंदिर वार्षिक रिपोर्ट वर्ष 1999-2000 पृ. 23-25*
4. *सेवा मंदिर वार्षिक रिपोर्ट वर्ष 2001-2002 पृ. 16-21*

मरु क्षेत्र की परम्परागत हस्तकला-अजरख : एक ऐतिहासिक अध्ययन

डॉ. सुरेश कुमार

पश्चिमी राजस्थान के थार मरुस्थल का एक विशाल भू-भाग बाड़मेर जिलें के अन्तर्गत आता है। बाड़मेर की 270 किलोमीटर सीमा पाकिस्तान से जुड़ी है। इस नगर की स्थापना 13 वीं शताब्दी में बहाडाराव (बढ़राव) द्वारा की गई थी। बहाड़ाराव (बढराव) के नाम पर ही इस नगर का नाम बाड़मेर पड़ा। बहाडाराव द्वारा स्थापित नगर वर्तमान बाड़मेर नगर से 4 मील (6.4 किलोमीटर) उत्तर-पश्चिम की ओर स्थित है। इसे जूना बाड़मेर के नाम से जाना जाता है। वर्तमान आबादी वाले बाड़मेर की स्थापना रावत भीमाजी द्वारा की गई थी।[1] वर्तमान बाड़मेर जिला राजस्थान के संयुक्त राज्यों में, जोधपुर रियासत के सन् 1949 में विलय के पश्चात् अस्तित्व में आया।[2] बाड़मेर राजस्थान के हस्तकला छपाई के मुख्य केन्द्रों में से एक है। यहाँ की हस्तकला छपाई को प्राचीन माना जा सकता है। हस्तकला छपाई का कार्य जूना बाड़मेर में किया जाता है। यहाँ के हस्तकला छपाई कारीगरों का प्रमुख कार्य स्थल आजाद चौक, नाईयों का बास, खत्रियों का निचला बास, नरगासर नाड़ी (नरसागर), राय कॉलोनी एवं फकीरों का तल्ला रहा है।[3]

बाड़मेर हैण्ड ब्लॉक प्रिंटिग वनस्पतिक रंगों की कलात्मक वस्त्र छपाई की ऐसी परम्परागत हस्तकला तकनीक है। जिसके बल एवं कला कौ ाल पर स्थानीय शिल्पी कम से कम रंगों के उपयोग से ही हस्तकला उत्पादन में विविधता उत्पन्न कर देते है। यह हस्तकला दस्तकारों की परम्परागत कला कौशल तकनीक, स्थानीय नरगासर नाड़ी के खास गुणोयुक्त जल तथा मरूस्थलीय पर्यावरण की विशिष्टता की उपादेयता है।[4]

रंगाई छपाई में प्रयुक्त होने वाले ठप्पे रोहिड़े की लकड़ी से बनाये जाते थे। यह लकड़ी वजन में हल्की होने के साथ-साथ इसमें खुदाई भी गहराई तक आसानी से हो जाती थी। इसका निर्माण इसी क्षेत्र के कारीगरों द्वारा किया जाता था।[5]

बाड़मेर छपाई का ही एक ओर केन्द्र बालोतरा था। यह जोधपुर व बाड़मेर के मध्य स्थित है। स्वत्रंता से पूर्व 1941 ई. तक यहाँ के वस्त्रों पर रंगाई-छपाई का कार्य लगभग 400 मुसलमान छीपा ही किया करते थे। तब यह घरेलू उद्योग तक सीमित था। 1947 ई. में भारत-पाक विभाजन के समय अधिकांश मुस्लिम छीपा परिवार पाकिस्तान चले गये। इन मुस्लमान छीपा परिवारों के साथ परम्परागत हस्त शिल्प भी चला गया।

इसके पश्चात अग्रवाल रमेश काका ने रंगाई-छपाई को प्राथमिकता देते हुए कार्य को जारी रखा। सन् 1975 ई. में पहली बार सूती कपड़े पर रंगीन पोपलीन तैयार की, जो बादशाह पोपलीन के नाम से सम्पूर्ण भारत में विख्यात हो गई।[6]

बाड़मेर में वस्त्रों की रंगाई-छपाई करने वाले अधिकांश हस्तशिल्पी खत्री है। खत्री 'क्षत्रिय' का अपभ्रंश शब्द है। खत्री जाति अपने आप को राजा राम के वंशज बताती है। जिसका प्रमाण रघुवंशम् में मिलता है, रघुवंशम् में वर्णित सिंध नामक देश रामचन्द्रजी के द्वारा भरत को दिये जाने का उल्लेख मिलता है।[7] कहा जाता है, कि जब परशुराम ने धरती को क्षत्रिय विहीन करने का संकल्प लिया तो सभी रामवंशीय क्षत्रिय अपनी प्राण रक्षा हेतु हिंगलाज देवी की शरण में गये थे। देवी के आदेशानुसार ये लोग जिनोई धारण कर ब्राह्मण क्षत्रिय बन गये और तभी से ब्राह्मण क्षत्रिय कहलाने लगे और वही बस गये। कांलातर में इन्होंने अस्त्र-शस्त्र त्याग कर रंगाई-छपाई का कार्य अपना लिया। स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व ये खत्री कारीगर अविभाजित पाकिस्तान में सिंध, बलुचिस्तान एवं पंजाब के कुछ क्षेत्रों में बसे हुए थे।

भारत पाकिस्तान विभाजन के समय ये खत्री बाड़मेर एवं इसके आस-पास आकर बस गये ये अपने साथ अपना परम्परागत हस्तशिल्प लेकर आये। इसकी परम्परागत हस्तकला रंगाई-छपाई में मुख्य उत्पादन अजरख एवं लूंगी थी। अजरख हिन्दू कारीगरों (खत्री) द्वारा बनाया जाता था तथा इसका अधिकांश उपयोग मुस्लिम परिवार में किया जाता था।[8]

संस्कृत में अजरख शब्द का अर्थ 'उस कपड़े से है जिसका रंग फीका नही होता है।' अरबी में अजरख का अर्थ नील से है। चूंकि अजरख प्रिंट में नील का प्रयोग होता है।[9] बाड़मेर खत्री कारीगर छपाई करने वाले कपड़े को एक दिन के लिए भिगोकर रखा जाता है। बाकी का कार्य दूसरे दिन पर छोड़ा जाता है। इसलिए इसे अजरख कहते है। [10]

सिन्धी वात के अनुसार - सिंध प्रदेश के एक राजा को अपने बिस्तर पर बिछा कपड़ा इतना पसन्द आया कि उसने अपनी सेविका को इसे एक दिन ओर रखने के लिए कहा। सिंधी बोलचाल भाषा में एक दिन ओर रखने को अजरख कहा जाता है। राजा द्वारा बिस्तर पर बिछे कपड़े के लिए जिस शब्द का प्रयोग किया गया। उसी शब्द के नाम उसे अजरख सम्बोधन मिला। प्राचीन भारतीय सिन्धु घाटी सभ्यता में हमें रंगाई-छपाई के अवशेष प्राप्त होते हैं। सिन्धु घाटी सभ्यता के लोग सिंधु नदी के जल से कृषि कार्य करते थे। सूती वस्त्रों के अवशेषों[11] से निष्कर्ष निकलता है कि सिन्धुवासी कपास उगाना जानते थे। सर्वप्रथम कपास की खेती सिन्धुवासियों ने प्रारम्भ की। खुदाई में प्राप्त कताई बुनाई के उपकरणों (यथा तकली सुई आदि) से पता चलता है कि सिन्धुवासियों का कपड़ा बुनना एक प्रमुख उद्योग रहा होगा। सिन्धुघाटी से प्राप्त रंगे हुए बर्तनों से ज्ञात होता है कि सिन्धुवासी वनस्पति रंगों से परिचित थे।[12] यथासम्भव सिंधुवासी ने कपडे पर

वनस्पति रंगों से रंगाई छपाई का कार्य करना सीख लिया होगा इस तथ्य को नकारा नही जा सकता क्योंकि सिन्धुघाटी सभ्यता के प्राचीन नगर मोहनजोदड़ो से पुजारी राजा की मूर्ति प्राप्त हुई है। इस पुजारी राजा ने एक शालनुमा कपड़ा धारण किया हुआ है। पुरातत्ववेत्ता इसे तिपतिया अलंकरण से युक्त मानते है, लेकिन इस पर जो छपाई दिखाई देती है वह अजरख में ककंड या क्लाउड छपाई कहलाती है। जिसमें फूल एवं पत्तियों की सरंचना बनी होती है। वर्तमान बाड़मेर की अजरख में फूल पत्तियों से युक्त कंकड़ या क्लाउड छपाई होती है।[13] अत: अजरख का सम्बन्ध सिन्धु सभ्यता से स्थापित किया जाये तो अतिशयोक्ति नही होगी। प्राचीन चीन में वुड ब्लॉक पेंटिग के ज्यामितिय सरंचना का प्रथम बार प्रयोग हुआ। ये ब्लॉक पेंटिग धीरे-धीरे सिन्धुघाटी में पहुँच गई।[14]

सिन्धु सभ्यता का विश्व के कई देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध थे। मध्य एशिया, फारस की खाड़ी के देशों, ईरान, बहरीन द्वीप, मैसोपोटामिया, मिश्र, क्रीट के साथ सिन्धुवासियों ने घनिष्ट व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित कर लिये थे।[15] फॉस्टेट कैरो मिश्र की एक कब्र से कपडे का एक टुकड़ा पुरातत्ववेताओं ने प्राप्त किया जिस पर नीले रंग की छपाई थी। इस शिल्प में सिन्धु नदी के चारों तरफ सभ्यता को महारत हासिल थी। क्योकि कपड़े धोने एवं नील उत्पादन के लिए सिन्धु नदी का जल ही उपयोग में आता होगा। यहाँ से यह कपड़ा (अजरख) मिश्र को निर्यात होता होगा। भारतवर्ष ही नील का आदिस्थान रहा है। 80 ई. में सिंध के किनारे एक नगर से नील को बाहर भेजे जाने का उल्लेख एक प्राचीन युनानी लेखक ने किया है।[16] भारत में सबसे प्राचीन अजरख प्रिंट का कपड़ा कच्छ (गुजरात) प्राप्त हुआ है। जो कि लगभग 800 वर्ष पुराना है। यह अजरख प्रिन्ट का कपड़ा इण्डिया एण्ड द वर्ल्ड एंगजीबिशन सी.एम.एस.वी. एस. म्यूजियम मुम्बई में रखा हुआ है।[17]

अजरख हस्तकला छपाई का कार्य करते थे। क्योंकि उस समय कपड़े का कार्य करने वाले कारीगरों की कच्छ में कमी थी। इन्हीं कारीगरों ने कच्छ के अजरख को पीढ़ी दर पीढ़ी आगे बढ़ाया भारत में अजरख का कार्य कच्छ एवं बाड़मेर में अभी भी अपने पारम्पारिक तरीके से हो रहा है।[18] खत्री नोबेल तस्वीर में अजरख प्रिंट 18 वीं शताब्दी का है। जिसमें दो व्यक्ति घुटनों के बल बैठे हैं। उनके कन्धों पर शॉल है जिस पर अजरख प्रिंट स्पष्ट दिखाई देता है।[19]

सिंध के लोग प्राचीन समय से परम्परागत तरीके से अजरख की छपाई का कार्य कर रहे हैं। अजरख सिंधी संस्कृति का प्रतीक समझा जाता है। इसकी पुष्टि सिंधी लोक-गीतों में होती है।

सिंधी लोक गीत

जीये सिंधु जीये, सिन्ध वारा जीयन।
सिंधी टोपी, अजरख वारा जीयन।।

इस लोक-गीत में सिंधी मुसलमानों के मुख्य पहनावें के रूप में अजरख का जिक्र किया गया अजरख उनकी सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन का मुख्य अंग रहा है।[20]

सन् 1947 ई. में भारत पाक विभाजन के समय कई खत्री एवं सिंधी मुसलमान परिवार सिंध से पलायन कर बाड़मेर, चौहटन, रामसर, गड़रा, सीमावर्ती इलाके में आकर बस गये थे। उस समय विस्थापितों की आजीविका के सम्बन्ध में मुख्य समस्या थी। खत्री परिवारों ने अपना पारम्परिक हस्तकला अजरख प्रिंट का कार्य बाड़मेंर में प्रारम्भ किया। धीरे-धीरे अजरख प्रिन्ट ने यहाँ की लोक कहावतों में भी अपना स्थान बना लिया। बाडमेंर का चौहटन कस्बा जो कि भारत-पाकिस्तान का सीमावर्ती क्षेत्र हैं धाट के नाम से जाना जाता है। धाट की लोक-कहावतों के अनुसार-

धाट रो अजरख, मनखां री मनुहार।
मेह वरसे न वरसे, ईया दो आ रो नही दुंकार।।

अर्थ - बारिश हो या न हो धाट क्षेत्र में लोगों की आवभगत एवं अजरख की कोई कमी नही होती है।[21]

आज बाड़मेरी अजरख छपाई का कार्य अपनी विशिष्ट पहचान लिये हुए है। वर्तमान में अजरख छपाई की दो शैलियां प्रचलन में है- अजरख एवं मलीर। अजरख में वनस्पति रंगों का प्रयोग होता है, जो शरीर के लिए हानि रहित होते है। इसको धोने से इसका रंग अधिक खिलता है एवं कपड़ा और अधिक मोटा होता है। मुल रूप से अजरख में लाल एवं नीले रंग का प्रयोग किया जाता है। आजकल कपड़ें की सुन्दरता बढ़ाने के लिए हरा, पीला, केसरिया, काले रंग का भी प्रयोग किया जाता है। इन रंगों को बनाने के लिए हल्दी केसूला, साफूड़ दाड़िम के छिलके, लोहे की जंग, इमली, रतनजोत, मजीठ, हरड, फिटकरी, तथा नील का प्रयोग किया जाता है। अजरख की धुलाई का कार्य आजकल छीपा मुसलमान करते है। मलीर में ललाई लिए हुए कत्थई एवं काले रंग का प्रयोग होता इन दोनों शैलियों में छपाई दोनों तरफ होती है। सीमावर्ती क्षेत्र में सगाई की रस्म पर हिन्दू लोग भी ओढ़नी के रूप में मलीर का प्रयोग करते हैं।[22]

सन्दर्भ

1. *जोसफ डी.सी., गजेटियर ऑफ इण्डिया, राजस्थान बाड़मेर 1962, पृ. 20-41 का संक्षिप्त हिन्दी रूपान्तरण*
2. *पत्रिका इयर बुक 2007, पृ. 735*
3. *राजस्थान में वस्त्र छपाई वस्त्रोद्योग-एक अध्ययन, राष्ट्रीय वस्त्र छपाई हस्तकला संस्थान, नई दिल्ली भाग सं. 04 पृ. 17*
4. *त्रिवेदी पी.आर., समय पर छाप छोड़ती बाडमेरी प्रिन्टकला, देनिक भास्कर, 16 नवम्बर 2000, पृ. 5*

5. *माथुर कमलेश, हस्तशिल्प के विविध आयाम, जैन पब्लिशर्स जयपुर, 1996*
6. *जैन भूरचन्द, बालोतरा नगर पालिका स्मारिका, प्रकाशन 1999, पृ. 9-20*
7. *रघवंशम्, युधाजितश्र संदेशात्स देश सिंधुनामकम्*
   द दौ दत्त प्रभावाय: भरताय भृतप्रज:।। पृ. 15, 87
8. *राजस्थान में वस्त्र छपाई वस्त्रोद्योग-एक अध्ययन, राष्ट्रीय वस्त्र छपाई हस्तकला संस्थान, नई दिल्ली, भाग-4 पृ. 17*
9. *द ट्रीफ ऑफ क्राफ्ट, गाथा, हिस्ट्री ऑफ अजरक, 20 मई 2013*
10. *खत्री उदाराम, खत्रियों का निचला वास बाड़मेर: मौखिक जानकारी*
11. *के.सी. श्रीवास्तव, प्राचीन भारत का इतिहास एवं संस्कृति, पृ. 43*
    दयाराम साहनी को चाँदी के कलश में कपड़े का टुकड़ा मिला,
    मैके ने अनेक वस्तुओं में लिपटे धागे प्राप्त किये।
12. *वही, पृ. 42*
13. *पुजारी राजा की मूर्ति, नेशनल म्यूजियम ऑफ पाकिस्तान-कराची*
14. *डा. बिलगामी नूरजहाँ, सिंध जो अजरख (डिर्पोटमेन्ट ऑफ कल्चरल एंड ट्यूरिज्म गवरमेंन्ट सिंध 1990) पृ.177*
15. *के.सी. वास्तव, प्राचीन भारत का इतिहास एवं संस्कृति, पृ. 44*
16. *डा. बिलगामी नूरजहाँ, सिंध जो अजरख (डिर्पोटमेन्ट ऑफ कल्चरल एंड ट्यूरिज्म गवरमेंन्ट सिंध 1990), पृ.177*
17. *सी.एम.एस.वी.एस म्यूजियम, मुम्बई*
18. *द ट्रीफ ऑफ क्राफ्ट: गाथा, हिस्ट्री ऑफ अजरक, 20 मई 2013*
19. *खत्री नोबेल तस्वीर, खत्री नोबेल आर्ट एण्ड गैलेरी*
20. *मौलाना मीर मोहम्मद, सिंधी लोक-गीत, जीये सिंधु जीये, सिन्ध वारा जीयन*
21. *डॉ.एम.आर गढवीर,अब्बा की बाते, राजस्थानी ग्रंथागार जोधपुर पृ. 36*
22. *डॉ. सन्तोष गढवीर, मालानी क्षेत्र की संस्कृति का आलोचनात्मक विश्लेषण (19वी. शताब्दी से 20 वी. शताब्दी तक), पृ. 112*

सांगानेर : राजस्थान के पारंपरिक ब्लॉक प्रिटिंग का ऐतिहासिक संधान

डॉ. अंजु शर्मा

भौतिक जीवन के संदर्भ में प्रत्येक देश व जाति के परिधान व पहनावों के तकनीकी पक्ष के माध्यम से उनके प्रकार तथा विविधता की कला का ज्ञान सहज ही प्राप्त किया जा सकता है।[1] मनुष्य का शरीर जिस प्रकार आत्मा का वस्त्र है,[2] उसी प्रकार शरीर का वस्त्र परिधान है। भारत में प्राचीनकाल से ही चौसठ कलाओं में पहिनने अर्थात् धारण कला का ज्ञान प्राप्त होता है। वस्त्र को पहनना भी भारत में कला के रूप में भारतीय संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग माना जाता रहा था जो कि 'विद्यते ज्ञायते अनया' ज्ञान के रूप में जाना जाता रहा है, अत: परिधान के लिए वस्त्र-ज्ञान (या विज्ञान) के अंतर्गत प्रकृति से सीधा संबंध रहा है। मोहनजोदड़ो एवं हडप्पा संस्कृति से अनेक तकुओं की फिरकियाँ प्राप्त हुई हैं, जिससे ज्ञात होता है कि वहाँ सूत कातने की परंपरा थी। गरम कपड़े ऊन से बनते थे तथा हल्के कपड़े सूती होते थे।[3] सिंधु घाटी में चाँदी के बर्तन पर चिपका एक सूती वस्त्र मिला था।[4] ऋग्वेद में ऐसे कई शब्द मिलते हैं, जिनके आधार पर तत्कालीन वस्त्रों की जानकारी मिलती है, जैसे करधे को 'तंत्र', कपड़े बुनने वाले को 'तंतुवाय' और सूत को तंतु कहते थे। सामान्य उपयोग के लिए लोग घर में ही वस्त्र तैयार कर लेते थे। बुनाई का काम घरों में स्त्रियाँ ही करती थी, वे पुत्रों के लिए वस्त्र बुनती थी, 'वस्त्र पुत्राय मातरो वयन्ति'।[5] भारत में प्राचीनकाल से यहाँ के बुनकर हथकरघा से अपने वस्त्रों को बुनते थे परंतु आजकल अधिक उत्पादन प्राप्त करने हेतु पावरलूम एवं अन्य अत्याधुनिक मशीनों का प्रयोग होने लगा है जो गरीब बुनकरों की रोजी-रोटी को प्रभावित कर रहे हैं एवं हथकरघों की संख्या धीरे-धीरे कम होती जा रही है। कई बुनाई के केन्द्रों से वहाँ की स्थानीय परम्परागत वस्त्र निर्माण परम्परा समाप्त होती जा रही है।[6] राजस्थान के संदर्भ में देखें तो इस क्षेत्र में प्राप्त प्राचीनतम उदाहरण बैराठ का है, जहाँ एक बौद्ध विहार मठ से एक मिट्टी के बर्तन में सूती कपड़े में बंधे पंचमार्कड सिक्के एवं बर्तन में अन्य इण्डोग्रीक सिक्के भी मिले थे।[7]

12-17वीं शताब्दी तक हमें मुख्यत: मूर्तियों, चित्रों और साहित्य में उल्लेखित नामों से ही संतोष करना पड़ता है। इन स्रोतों के आधार पर राजस्थान के वस्त्र एवं परिधानों का अध्ययन तो संभव है किंतु मूर्त्त उदाहरण के अभाव में हमारी जानकारी अधूरी रह जाती है और इसके लिए हमें प्रतीक्षा करनी पड़ती है, 17वीं शती तक उसके बाद तो मूर्त उदाहरण, ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी के रिकॉर्ड और राजस्थानी वर्णक साहित्य, राजघरानों के रिकॉर्ड आदि मिल जाते हैं, जिनके आधार पर राजस्थान की वस्त्र परम्परा का विस्तृत अध्ययन किया जा सकता है।[8] हाल ही में बालाथल (वल्लभ नगर तहसील उदयपुर) की खुदाई से ईसा पूर्व की प्रथम सहस्राब्दी के वस्त्र की जानकारी मिली है।[9]

राजस्थान अपने बहुरंगी वस्त्रों के लिए प्राचीन काल से ही विख्यात रहा है। यहाँ के वस्त्र वैभव का उल्लेख अनेक मध्यकालीन ग्रंथों में हुआ है और विश्व के कई संग्रहालयों में यहाँ के रंगे-छपे वस्त्र सुरक्षित है। आज का तकनीकी विशेषज्ञ दंग रह जाता है कि कैसे मात्र कुछ फल-फूल, छिलके आदि से राजस्थान के छीपे और रंगरेज-नीलगर ऐसी दुर्लभ रंगते प्राप्त कर लेते हैं। सबसे अधिक विविधता लाल रंग में मिलती है, इसकी रंगतों की गिनती कठिन है। इसीलिए तो कहा जाता है कि-

मारू थारे देश में उपजै तीन रतन,
इक ढोला, दूजी मारवाण, तीजो कसूमल रंग।

'कसूमल' अर्थात् बहुमूल्य लाल रंग। कहा जा सकता है कि राजस्थान का अधिकांश हिस्सा रेगिस्तान है, यहाँ तो हरियाली ही दुर्लभ चीज है, फूल पत्तियाँ कैसे लगे! ऐसी स्थिति में मनुष्य इस रंग विहीन धरती की कमी अपने पहनावे से पूरी करता है। संयोगवश यहाँ की नदियों में कुछ ऐसे रासायनिक तत्व है जिनसे रंग टिकाऊ और चमकीले होते हैं, जिससे रंगाई-छपाई में सुविधा होती है। औद्योगीकरण से पहले घर-घर में चरखे चलते थे, बुनकर करघे पर वस्त्र तैयार करते और लोग अपनी आवश्यकतानुसार उन्हें खरीद लेते थे। इन्हीं में से कुछ बहुत विकसित हुए और उनकी प्रसिद्धि दूर-दूर तक फैल गयी। कई को साहित्यिक कृति में भी स्थान मिला। 'कपड़ा कुतुहल' के कवि प्रयागदास कहते हैं-

टुकड़ी रूपईआ गजतणी सुन्दर रहे न सुहल।
पितम महुगा मोलरी, सो दियौ मुख ल्याय।।[10]

इस दोहे में उल्लिखित 'टुकड़ी' मारवाड़ के देशी कपड़ों में सर्वोत्तम गिनी जाती थी। यह जालौर तथा मारोठ कस्बों में अच्छी बनती थी। मारोठ की टुकड़ी लंबाई चौड़ाई में जालौर से ज्यादा होती है। मजबूती दोनों की प्रसिद्ध है। परन्तु इस कवि के समय में टुकड़ी बहुत महँगे मोल की बनती थी, जैसाकि उसने उपरोक्त दोहे में कहा है।[11] राजस्थान के वस्त्र उद्योग पर यहाँ की जलवायु का पूरा-पूरा प्रभाव है, यहाँ सभी प्रकार के वस्त्र बनाये जाते हैं और देश की वस्त्र आवश्यकताओं की पूर्ति में राजस्थान का विशिष्ट योगदान है। राज्य में स्थानीय उपयोगिता और उपलब्ध तकनीक के समन्वय से पुश्तैनी वस्त्र-छपाई उद्योग भी पनपा हुआ है। राजस्थान के मुख्य छपाई उद्योगों में सांगानेर, बगरू, अकोला (चित्तौडगढ़), कालाडेरा, जयरामपुरा, बस्सी, उदयपुर, जैसलमेर, पीपाड, जोधपुर, पाली, भीलवाडा, आहड़ एवं बालोतरा, बाड़मेर की हाथ की छपाई और पाली जिले का स्क्रीन प्रिन्टींग आदि प्रमुख है।[12] रंगाई-छपाई के क्षेत्र में जयपुर जिले के

दो कस्बों सांगानेर और बगरू को इस काम में विशेष ख्याति मिली है। 18वीं शती की ही एक पुस्तक 'फुटकर कहा' में प्रसिद्ध स्थानों के वर्णन में सांगानेर का नाम भी आता है जो अपने चमकदार और गहरे रंग के लिए मशहूर था।[13] सांगानेर की बसावट जयपुर से भी पुरानी है। अम्बर (आमेर) और सांगानेर के मध्य सवाई जयसिंह ने 18 नवम्बर 1727 ई. को जिस जयपुर का शिलान्यास किया था, उसकी नौ चौकड़ियों में से एक आज भी पुरानी बस्ती कहलाती है। अब तो आमेर (उत्तर में) और सांगानेर (दक्षिण में) इस नगर की पुरानी बस्तियाँ कही जा सकती है। जयपुर तो 18वीं सदी में बना-बसा किंतु सांगानेर 16वीं सदी के अन्तिम चरण में ही आबाद हो गया और पहाड़ियों से घिरे आमेर की तुलना में यह अधिक सुविधाजनक बस्ती थी, यह नदी के किनारे बसा हुआ क्षेत्र था। जयपुर के उत्तर-पश्चिम की पहाड़ियों में से निकलकर आने वाला अमानीशाह का नाला, सांगानेर के पार्श्व में, आकार में बड़े चौड़े पाट का बन जाता है। प्राचीन लेखों में इसे 'सरस्वती नदी' तो कहीं-कहीं दृष्ट-इच्छावती नदी कहा गया है। सांगानेर का कस्बा व्यापार व्यवसाय का अच्छा केन्द्र था।[14] 16वीं सदी के प्रारम्भ में कछवाहा राजकुमार सांगाजी द्वारा सांगानेर कस्बे को बसाया गया। एक शिलालेख में इस नगर का प्राचीन नाम 'संग्रामपुरा' तथा इसके संस्थापक का नाम 'सांगा' बताया गया है। यह साँगा कछुवाहा राजा पृथ्वीराज के 17 पुत्रों में से एक था। 1561 ई. में अकबर के अजमेर दरगाह जाते समय सांगानेर की स्थापना कछुवाहा राजा सांगा ने 16वीं शताब्दी में की थी।[15]

दिल्ली में भारतीय कला प्रदर्शनी 1902-03 में सर जॉर्ज वॉट ने सांगानेर के वस्त्र-उद्योगों पर टिप्पणी की कि ''जहाँ तक सौंदर्यवादी कल्पना और तकनीक का संबंध है, जयपुर में सांगानेर शहर को भारत में कपड़ा छपाई की कला की राजधानी माना जा सकता है।[16] 17वीं शताब्दी तक सांगानेर में वस्त्र-छपाई के संदर्भ में कोई विशेष विवरण प्राप्त नहीं होता है। उस समय तक सांगानेर केवल सादे एवं रंगे हुए वस्त्रों के लिए जाना जाता था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के 16वीं और 17वीं सदी के रिकार्डानुसार सांगानेर में वस्त्रों की सादी बुनाई व रंगाई का काम बहुतायत में होता था।[17] 1703 के दस्तूर अल-अमल रिपोर्ट के अनुसार 18वीं सदी के प्रारम्भ में सांगानेर का वस्त्र उद्योग छपाई केन्द्र के रूप में प्रसिद्ध हो गया था।[18] सवाई जयसिंह ने राजगृह व्यवस्था में संस्थापित कार्यशालाओं के फारसी नाम कारखानें से बदलकर 'गृह' कर दिए जैसे जरगखाने का रत्नगृह, किरकिराक खाने का वस्त्रगृह आदि। जरगखाना, तोषाखाना आदि वस्त्रगृह के अंतर्गत ही थे, इसलिए सबको मिलाकर एक 'कपड़द्वारा' नाम रख दिया गया। अस्तु कपड़द्वारे में 17वीं, 18वीं और 19वीं शताब्दी के विविध वस्त्रों का विपुल संग्रह हो गया था।[19]

मुख्यत: सांगानेर के वस्त्र उद्योग को रंगाई के केन्द्र के रूप में जाना जाता था लेकिन 18वीं सदी में सवाई जयसिंह ने छापाखाना व्यवस्थित किया तथा जिसके परिणामास्वरूप सांगानेर छपाई के केन्द्र के रूप में प्रसिद्ध हुआ।[20] राजस्थान के विभिन्न वस्त्र उद्योगों में सांगानेर का अपना अलग ही महत्व है। यहाँ के वस्त्र उद्योग से उत्पादित वस्त्र ईस्ट इण्डिया कम्पनी के प्रमुख निर्यात वस्तुओं में से एक बन गया था और धीरे-धीरे यह उद्योग यूरोपीय संस्कृति में महत्व का विषय बन गया।[21] 17वीं सदी के अंत में भारत पर मुगल बादशाह औरंगजेब के आक्रमणों एवं बार-बार मराठाओं के हस्तक्षेप के कारण अनेक शिल्पकार (वस्त्र छपाई एवं रंगाई) राजस्थान के पड़ौसी राज्य गुजरात से आकर यहाँ बस गये।[22] कई वस्त्र शिल्पी राजस्थान व उत्तर पश्चिमी भारत के अन्य हिस्सों में व्यवस्थित रोजगार की तलाश में निकल गये।[23]

सांगानेर का क्षेत्र ही एक मात्र ऐसा स्थान जो अनेक जल स्रोतों से घिरा हुआ था, यथा ढूँढ़ नदी, राजबाग की नहर, टोंक नहर, नजका नहर, मतवाली नहर तथा अमानीशाह का नाला। इसमें अमानीशाह का नाला वर्तमान में भी जयपुर शहर में विद्यमान है। पूर्व में इस अमानीशाह के नाले के पानी में वनस्पति रंगों में चटकीलापन लाने वाले खनिज विद्यमान थे।[24] इस नदी के पानी का फायदा यह था कि यहाँ वस्त्रों की धुलाई और रंगाई का कार्य आसानी से हो जाता था। महाराजा सवाई जयसिंह ने आन्ध्र प्रदेश और गुजरात से वस्त्र छपाई के कारीगरों को बुलाया और सांगानेर को वस्त्र छपाई एवं रंगाई के एक उद्योग केन्द्र के रूप में विकसित किया। सवाई राजा जयसिंह ने मालवा से भी कुछ कारीगरों को जयपुर बुलाया क्योंकि सांगानेर के सूती वस्त्र छपाई और मालवा के वस्त्र छपाई का एक अनूठा संयोजन इन रंगरेजों ने विकसित कर लिया था। इस संयोजक परम्परा में मालवा की सुंदरता, सिंरोज की विशेषता और गुजरात की गीतात्मक गुणवत्ता थी।[25] ईस्ट इंण्डिया के रिकॉर्ड से पता चलता है कि 16वीं-17वीं शताब्दी में सिरोंज छपाई का बहुत बड़ा केन्द्र था और यहाँ के छपे कपड़े सारे यूरोपीय देशों को निर्यात किए जाते थे, और वहीं सिंरोज आज उजड़ गया है। वहाँ न तो वह बस्ती रही और ना ही बसने वाले छीपे, पर इनकी कारीगरी अभी भी लंदन के विक्टोरिया संग्रहालय, वाशिंगटन के टैक्सटाइल्स म्यूजियम, भारत कला भवन काशी, राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली, केलिको संग्रहालय, अहमदाबाद में यहाँ के छपे हुए उत्तम वस्त्र सुरक्षित है।[26]

1703-1727 के दस्तूर-अल-अमाल के रिकॉर्ड में वस्त्रों पर लगाए गए करों का भी विस्तृत विवरण मिलता है।[27] हालांकि रंगखाना के कागजातों में रंगाई शब्द का उपयोग छपाई के स्थान पर किया जाता था। सांगानेर में रंगाई और छपाई दोनों ही प्रकार के कार्य किये जाते थे। उदाहरणतया रंगखाना रिकॉर्डस (1727) के एक दस्तावेज में लिखा है कि ''महमूदी रंगवाने दी बूटेपाम'' अर्थात् महमूदी को एक विशेष प्रकार का कपड़ा आशुलोपी वर्ण (उड़ जाने वाले रंग) में रंगने के लिए दिया।[28] अत: यह कहा जा सकता है कि 18वीं शताब्दी के आरम्भ में सांगानेर वस्त्र छपाई एवं रंगाई के केन्द्र के रूप में जाना जाता था क्योंकि इसका नाम दस्तूर-अल-अमाल रिकॉर्डस (1703-1727)

एवं रंगखाना रिकॉर्ड (1727, राजपरिवार के 36 कारखानों में से एक) में प्राप्त होता है। यह वस्त्रों की रंगाई एवं छपाई के कार्यों को देखता था।[29] सांगानेर के अडसट्टा में उल्लेख है कि रंगरेजों ने बयाना जैसे इलाकों से नीला रंग वस्त्र रंगाई के लिए मंगवाया।[30] सांगानेर कस्बे में तीन साल तक नीले रंग के लिए नील की खेती करी गई।[31] यहाँ उत्पादित नील (नीला रंग) की कुछ मात्रा को लंबी दूरी के व्यापारियों को बेचा गया। यह नीला रंग आमेर परगने में भी उत्पादित किया जाता था।[32] कुछ मात्रा में नीले रंग व रेशमी वस्त्रों को आयात भी किया गया था और यह आयात गुजरात व आगरा के काफिलों से किया गया था।[33] जयपुर का रंगखाना रिकॉर्ड सांगानेर में वस्त्र उद्योग में कार्य करने वाले रंगरेजों एवं अन्य कारीगरों के बारे में जानकारी प्रदान करता है। नाथू जयपुर रंगखाना के प्रसिद्ध एवं कुशल रंगरेजों में से एक था।[34] 18वीं शती की एक पुस्तक 'बुद्धिविलास' में जैन कवि बखतराम शाह ने यह लिखा है कि सांगानेर के रंगरेज वस्त्रों की रगाई और डिजायन (जैसे कि लहरिया डिजाईन) के कार्य में महारत थे–

रंगरेज रंगत कहूँ पर सुरंग।
लहरिया जु बांधत् करि उमंग।।[35]

जयपुर के सिटी पैलेस वेशभूषा संग्रह में वि.स. 1856 की एक पगड़ी रंग व डिजाईन का अनूठा उदाहरण पेश करती है। इस पगड़ी के पल्लों (किनारे) पर फूल पत्तियों का बेहतरीन काम किया हुआ है। इस पर ठप्पा अलंकरण द्वारा अच्छी किस्म के रंगों का कार्य किया हुआ है। 18वीं शताब्दी में यह पत्ती का काम एक नए पैटर्न रूप में उभरा था जो कि सांगानेर में होता था।[36]

प्रक्रिया

18वीं शती में सांगानेरी छपाई लठ्ठा या मलमल पर की जाती थी। लठ्ठा अहमदाबाद, पाली और किशनगढ़ से और मलमल जोधपुर से आती थी। वर्तमान में ब्लॉक प्रिंटिंग (हैण्ड ब्लॉक, स्क्रीन प्रिंटिंग एवं मशीन प्रिंटिंग) लठ्ठा, मलमल, साटन–कॉटन, रेयॉन आदि वस्त्रों के विभिन्न प्रकारों पर की जाती है तथा अब व्यापारी अपने अनुसार कहीं से भी कपड़ा खरीद लेते हैं जहाँ से उसे सही माल मिलता है। कपड़े को छपाई के योग्य बनाने के लिए 18–19 वीं शताब्दी में कपड़े की कलफ को हटाने के लिए उसे गोबर या मींगणी के घोल में लगभग 24 घंटे तक भिगोकर रखा जाता था तत्पश्चात् उसे सुखाकर पुन: हरड़ के घोल में भिगोकर रखा जाता था। वर्तमान में चाहे हैण्ड ब्लॉक प्रिंटिंग हो या स्क्रीन प्रिटिंग, एक बड़े से हौज में कैमिकल युक्त गरम पानी में 24 घंटे तक कपड़े को भिगोकर रखा जाता है और यदि सफेद मलमल को डाई करना है तो इसी प्रक्रिया के साथ बुनियादी रंग भी चढ़ा दिया जाता है। सूखने के बाद कपड़ा छपाई के लिए तैयार मान लिया जाता है।[37] 18वीं और 19वीं शताब्दी में कपड़े का कलफ निकालने के पश्चात् तैयार कपड़े पर विभिन्न प्रकार की छपाई की जाती थी और उनके रंगों को गहरा करने के लिए उन्हें महीनों तक दबा कर रखा जाता था ताकि रंग गहरे और आत्मसात हो जायें।[38] वर्तमान में स्क्रीन जाली से छपाई कार्य किया जाता है, यह स्टेंसिल का विकसित रूप है। इस स्क्रीन जाली में कैमिकलयुक्त रंगों को भरकर, रबर के निपीडक (स्क्वीजी) से रंग आगे पीछे खींचा जाता है, तब रंग चित्रित स्थानों को पारकर कपड़े पर पहुँच जायेगा इस प्रकार स्क्रीन की छपाई की जाती है।[39] इस कार्य में एक बार में दो कामदार शामिल होते हैं। हैण्ड ब्लॉक प्रिंटिंग की फैक्ट्री विजिट में मैंने पाया कि लकड़ी की मेजों पर कपड़ा (चादर या साड़ी जिसे छापा जाना है) बिछाकर दो कारीगर मिलकर हैण्ड ब्लॉक को रंगों में डूबोकर छापे लगा रहे हैं। चूंकि इस कार्य में समय और मेहनत ज्यादा लगी होती है अत: इसकी मजदूरी भी ज्यादा है और बाजार में इस उत्पाद की कीमत भी।[40] स्क्रीन प्रिंटिंग में अमूमन एक दिन में 200 बैडशीट एवं हैण्ड ब्लॉक प्रिंटिंग में 20 के करीब बैडशीट की छपाई हो पाती है। वर्तमान में ज्यादातार कामगार बिहार एवं उत्तर प्रदेश से है। जो दिनभर में छपाई से अनुमानत: 600 रुपये तक कमा लेते हैं। स्क्रीन की छपाई का विकास अभी कुछ समय से प्रारम्भ हुआ है परंतु जो उन्नति छपाई के इस साधन की हुई है, वह सराहनीय है। मोटे से मोटा और पतले से पतला कपड़ा बिना विकृत हुए चित्रों और चटकीले गहरे रंगों में छापा जा सकता है। छापा और रंग दो ही चीजें है जो सांगानेर की अपनी विशिष्टता है। 18वीं 19वीं शताब्दी में सांगानेरी प्रिंट में प्राय: काला और लाल रंग ही ज्यादा काम में आते थे, यह रंग बनाना किसी जमाने में गोपनीय था परंतु आज कैमिकल से कोई भी रंग आसानी से तैयार किया जा सकता है। परम्परा से सांगानेर में धाबला, चूनड़ी, दुपट्टा, गमछा, साफा, जाजम, तकिया आदि की छपाई होती है। यहाँ की छापी हुई दाखबेल और चौबून्दी की फरद अत्यधिक चाव से खरीदी जाती थी।[41]

19वीं शती में छपाई रंगों के प्रमुख नाम थे सब्ज, काही, धानी, पिस्तई, माशई, सुरमई, चम्पई आदि।[42] वर्तमान में कैमिकल रंगों के नाम हैं, पिग्मेंट (पाउडर प्रकार में), पर्शियन (बने बनाये पेस्ट प्रकार में) और रिएक्टिव रंग।[43] सांगानेर स्थित रंगाई–छपाई से रोजाना लाखों लीटर डाई वेस्ट पानी निकलकर अमानीशाह नाले या सड़क किनारे फैल रहा है। सरकार को इस पानी का शुद्धिकरण करके शुद्ध पानी बनाने पर विचार करना चाहिए। इस पानी में BOD, COD, TDS, TSS जैसे हानिकारक कैमिकल और कई हैवी मैटल्स होते हैं। यह न सिर्फ पर्यावरण, कृषि और पशु पक्षियों के लिए नुकसानदायक है, बल्कि आसपास के खेतों में होने वाली फसलों का सेवन करने वालों में इससे गम्भीर बीमारियाँ भी हो सकती है।[44] रंगाई उपयोग से निकलने वाले गंदे पानी को कम लागत में रिसाइकल कर फिर से काम में लिया जाता है। इस संबंध में 'दैनिक भास्कर' समाचार पत्र में 9 दिसम्बर 2017 को छपे एक समाचार के अनुसार उच्च न्यायालय ने 3 अगस्त, 2017 में प्रदूषण नियंत्रण के लिए विस्तृत आदेश दिए थे तथा सांगानेर की

कपड़ा रंगाई-छपाई फैक्ट्रियों के बिजली कनेक्शन काटने के आदेश दिए थे।[45] परंतु अब अधिकांश फैक्ट्रियों में 'इटीपी' प्लांट लगा दिए हैं और सीईटीपी प्लांट की स्थापना का सिविल काम पूरा हो गया है।

सारांशत: कहा जा सकता है कि सांगानेरी रंगाई-छपाई का यह उद्योग वर्षों से अपनी समृद्धता का उदाहरण रहा है। देश-विदेश में सांगानेरी प्रिंट की जर्बदस्त माँग होने के कारण स्थानीय, राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय बाजार में इसकी माँग तेजी से बढ़ी। इसी माँग के चलते सांगानेरी प्रिंट का कार्य करने वालों के बीच प्रतिस्पर्धा में भी वृद्धि हुई। मांग के अनुरूप उत्पाद की उपलब्धता के भार ने स्क्रीन प्रिंटिंग यानि सांगानेरी प्रिंट की मशीनी नकल करने वालों के हौसले भी बढाए हैं और तादाद भी। परंतु तीव्र उत्पादन की आवश्यकता ने समृद्ध हैण्ड ब्लॉक प्रिंटिंग का स्थान तेजी से स्क्रीन प्रिंटिंग ने ले लिया है। जिसमें रंगाई के लिए तीव्र कैमिकल्स का प्रयोग भी किया जाता है जो न तो इको फ्रेंडली है और ना ही स्किन फ्रेंडली। सरकार ने सांगानेर प्रिंट उद्योग को बढ़ावा देने के लिए ठोस कदम उठाए हैं। देशभर में हैण्डलूम और क्राफ्ट मेलों का आयोजन किया जाता है, प्रदर्शनी लगाई जाती है, जिसमे कारीगर को अपनी मेहनत का उचित पारिश्रमिक मिल सकें। वर्तमान में सरकार से अनुमोदित स्क्रीन प्रिंटिंग एवं ब्लॉक प्रिंटिंग की लगभग 1500 ईकाइयाँ और हैण्ड ब्लॉक प्रिंटिंग की 125 इकाइयाँ हैं तथा वार्षिक टर्न ओवर 10 करोड़ रुपए के लगभग है। सांगानेर में एक लाख मीटर कपड़ा प्रतिदिन छपता है।

संदर्भ

1. *डॉ. शर्मा, कल्पना, राजस्थान में परिधानों की संस्कृति, (दक्षिणी राजस्थान 1700 ई. 1900 ई. के संदर्भ में), पृ. 217, उदयपुर*
2. *श्रीमद् भागवत गीता, अध्याय 2, श्लोक 22*
3. *डॉ. मोतीचंद्र, प्राचीन भारतीय वेशभूषा, पृ. 22*
4. *मार्शल, जॉन, मोहनजोदड़ो एंड इट्स सिविलाइजेशन, 1973, पृ. 33*
5. *ऋग्वेद 5,6,47*
6. *डॉ. श्रीवास्तव, के.एन, डॉ. गुप्ता मीनाक्षी, परम्परागत भारतीय वस्त्र, पृ. 8*
7. *डॉ. सिंह, चंद्रमणि एवं पोखरणा, प्रेमलता, समय की सीढ़ी पर यों चढ़ा कपड़ा, संदर्भिका, राजस्थान सुजस, सूचना एवं जनसंपर्क विभाग, राजस्थान, जयपुर, पृ. 753*
8. *डॉ. सिंह चंद्रमणि टैक्सटाइल्स एंड कॉस्टयूम्स, फ्रॉम दि महाराजा सवाई मानसिंह-द्वितीय म्यूजियम, सिटी पैलेस, जयपुर 1979, पृ. 21*
9. *संदर्भिका, राजस्थान सुजस, सूचना एवं जनसंपर्क विभाग, राजस्थान, जयपुर, पृ. 753*
10. *कवि प्रयागदास, कपड़ा कुतुहल, दोहा-20*
11. *डॉ. नीरज जयसिंह, डॉ. शर्मा, बी.एल., राजस्थान की सांस्कृतिक परम्परा, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पृ. 225-226*

12. *लाल, ए.बी., वस्त्र उद्योग का ताना-बाना, संदर्भिका, राजस्थान सुजस, सूचना एवं जनसंपर्क विभाग, राजस्थान, जयपुर, पृ. 759*
13. *शरण, पी. (संपादित), डिस्क्रिपटिव केटेलॉग ऑफ नॉन पर्शियन सोर्सेज ऑफ मेडिवल इंडियन हिस्ट्री, देहली, 1965*
14. *डॉ. पाण्डे राम, जयपुर विहंगम सांस्कृतिक विवेचन, पश्चिम क्षेत्र, सांस्कृतिक केन्द्र, उदयपुर शोधक, जयपुर, पृ. 92*
15. *श्याम सिंह (संपादित), कछुवाहों की वंशावली, पृ. 134, जैन के.सी., एन्शियन्ट टाउन्स एण्ड सिटीज ऑफ राजस्थान, पृ. 455-458*
16. *वॉट, जॉज, एण्डियन आर्ट एट देहली 1903, विंग द ऑफिशियल केटेलॉग ऑफ द देहली एक्जीबिशन 1902-03, पृ. 247*
17. *इर्विन जॉन, इण्डियन टैक्सटाइल ट्रेड इन दि सेवनटींथ सेन्चुरी जर्नल : इण्डियन टैक्सटाइल हिस्ट्री भाग 1, पृ. 14*
18. *दस्तूर-अमल रिकॉर्डस, विक्रम संवत् 1760 (1703 ई.) राजस्थान स्टेट आर्काइव्ज संस्थान, भाग 1, पृ. 5-7*
19. *बहुरा गोपाल नारायण, जयपुर का वस्त्र विधान, अतीत का संधान, संदर्भित का राज. सुजस संचय, सूचना, पृ. 742*
20. *गुप्ता, डॉ. मिनाक्षी, सांगानेर ठप्पा छपाई में अलंकरण, पृ. 21*
21. *इर्विन जॉन एवं मार्गेट, हॉल, इण्डियन पैण्डेट एंड प्रिन्टेड फेब्रिक्स, अहमदाबाद म्यूजिमय, 1971*
22. *गुप्ते, वी.ए. जर्नल ऑफ इण्डियन आर्ट, भाग-1, पृ. 129-130*
23. *सिंह चन्द्रमणि, टैक्सटाइल्स एण्ड कॉस्टयूम्स, पृ. 30 एवं 33, जे. इर्विन एंव मार्टिन हाल, इण्डियन पेडेंट एवं प्रिंटेड फेब्रिक्स, पृ. 111*
24. *मिश्र बलदेव प्रसाद, ज्वाला (संपादित) राजस्थान का इतिहास, भाग-2 (टॉड जेम्स कृत), पृ. 560*
25. *सिंह चन्द्रमणि, अ सिटी ऑफ म्यूजिशयन्स-पैंटर्स एण्ड क्राफ्टसमैन हिस्ट्री एण्ड ट्रेडिशन्स, जयपुर 1978, डॉक्यूमेंट 1 एवं 2*
26. *नीरज, जयसिंह, शर्मा, भगवती लाल, राजस्थान की सांस्कृतिक परम्परा, पृ. 231-32*
27. *संदर्भिका, सुजस, डॉ. महर्षि हरि, छापो सांगानेर को, पृ. 750*
28. *दस्तूर-अल-अमाल वि.सं. 1760, राजस्थान स्टेट आर्काइब्ज बीकानेर एवं दस्तूर परगना, फागी रिकार्ड 1703-1727, रंगखाना रिकॉर्डस ऑफ दि इयर, वि.सं. 1784, राजस्थान स्टेट आर्काइव्ज, बीकानेर*
29. *सिंह चन्द्रमणि, टैक्सटाइल्स एवं कॉस्टयूम्स, पृ. XXXIII*
30. *इर्विन, जॉन एवं श्वार्ट्ज, पॉल आर., स्टडीज इन इण्डो यूरोपियन टैक्सटाईल्स हिस्ट्री, अहमदाबाद, पृ. 16, 1966*
31. *अडसट्टा सांगानेर, वि.सं. 1772/1715 से वि.सं. 1828/1771, जिब्रेली, अरबन सेन्टर्स*

एण्ड पॉपूलेशन ड्यूरिंग एटिन्थ नाइन्टींथ सेन्चुरी इन राजस्थान, पृ. 91

32. *प्लैसर्ट, जहाँगीर्ज इण्डिया, पृ. 10–18*
33. *गुप्ता, एस.पी., अग्रेरियन सिस्टम ऑफ ईस्टर्न राजस्थान, पृ. 110–115*
34. *जमाखर्च रंगखाना, बी.एन.–2, वि.सं. 1793/1736*
35. *बरतराम शाह, बुद्धिविलास, दोहा–8*
36. *सिंह चंद्रमणि, टैक्सटाइल्स एण्ड कॉस्टयूम्स, पृ. 30 व 33*
37. *द्रष्टव्य, 17.12.2017, लश्करी स्क्रीन प्रिंटिंग टैक्सटाइल्स, सांगानेर प्रबन्धक–मनीष लश्करी द्वारा उद्धृत जानकारी के आधार पर*
38. *संदर्भिका राजस्थान सुजस, पृ. 750*
39. *द्रष्टव्य, 17.12.2017 लश्करी स्क्रीन प्रिंटिंग टैक्सटाइल्स, सांगानेर, अवगत जानकारी–कामगार–रमेश, घनश्याम दिनांक 17.12.2017*
40. *द्रष्टव्य, 17.12.2017 लश्करी हैण्ड ब्लॉक प्रिंटिंग फैक्ट्री, खत्री नगर, सांगानेर*
41. *रंगखाना रिकॉर्ड, 1727*
42. *संदर्भिका, राजस्थान सुजस, पृ. 750*
43. *द्रष्टव्य 17.12.2017, लश्करी स्क्रीन प्रिंटिंग एव हैण्ड ब्लॉक प्रिटिंग टैक्सटाइल्स*
44. *शांति एजुकेशन सोसायटी ग्रुप ऑफ इंस्टीट्यूट के केमिस्ट्री विभाग के विभागाध्यक्ष डॉ. गौतम सिंह के अनुसार*
45. *हिन्दी समाचार पत्र 'दैनिक भास्कर' 9 दिसम्बर, 2017, पृ. 3*

स्वतन्त्रता संघर्षकालीन कोटा की पत्रकारिता के पुरोधा : श्री अभिन्नहरि

डॉ. अर्चना द्विवेदी

गुलामी में जकड़े राजस्थान का स्वाधीनता संग्राम वास्तव में मानवमुक्ति का यज्ञ था, जिसमें हिन्दी पत्रकारिता के अनेक समाचार पत्रों, पत्रकारों एवं संवाददाताओं ने अपनी आहुतियाँ दी। स्वतन्त्र चेतना का जागरण पण्डित अभिन्नहरि जैसे अधिकतर पत्रकारों का ही अभियान था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए किसान आन्दोलन, असहयोग आन्दोलन, प्रजामण्डल आन्दोलन, भारत छोड़ो आन्दोलन के माध्यम से राजस्थान के राजनीतिक एवं सामाजिक जीवन में जन–जागरण हुआ, जिसमें पत्रकारिता ने उल्लेखनीय योगदान दिया।[1] पत्रों एवं अनेक संचालकों, सम्पादकों, संवाददाताओं ने तरह–तरह के अंकुशों एवं कष्टों को सहकर भी किस प्रकार मिषनरी भावना के साथ कार्य किया एवं लक्ष्य प्राप्ति के लिए बिना विचलित हुए निरन्तर आगे बढ़ते रहे, यह विचारणीय है। इसी का समीचीन एवं समुचित मूल्यांकन करने का प्रयास इस शोध पत्र के माध्यम से कर रही हूँ, जिसमें कोटा के पं. अभिन्नहरि का एक जुझारू पत्रकार के रूप में व्यक्तित्व एवं तित्व को शामिल किया है।

पं. अभिन्नहरि का जन्म 27 सितम्बर सन् 1905 ई. को मांगरोल जिला बाराँ (ननिहाल) में हुआ। पिता श्री रामगोपाल वशिष्ठ एक साधारण किसान एवं माता श्रीमती पन्नी बाई धर्मपरायण गृहिणी थी। आपका बचपन का नाम बद्रीलाल था, जिसे आपने 1930–31 ई. में नमक सत्याग्रह के दौरान अजमेर में 'वियोगीहरि' से प्रेरित होकर 'अभिन्नहरि' रख लिया। इन्होंने मिडिल (आठवीं) तक की पढ़ाई मांगरोल कस्बे में रहकर ही पूरी की। पढ़ाई पूरी करते ही सन् 1920 ई. में आपको अध्यापक की नौकरी मिल गई। तत्पश्चात् कोटा के नार्मल विद्यालय से आपने बी.टी.सी. की परीक्षा उत्तीर्ण की। अध्यापन के साथ–साथ आपने प्रयाग हिन्दी साहित्य सम्मेलन की 'सम्पादन कला विशारद एवं साहित्य रत्न' की परीक्षाऐं उत्तीर्ण की। इसके बाद आपने केवल अंग्रेजी विषय से मैट्रिक परीक्षा पास की। अजमेर एवं इलाहाबाद में स्काउटिंग का विशेष प्रशिक्षण कर स्काउटिंग की प्रतिज्ञा एवं नियमों से राष्ट्रप्रेम की दीक्षा ली, तथापि लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक के घोष 'स्वराज्य' मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है, से प्रेरणा प्राप्त की। मिडिल स्कूल में सैकण्ड मास्टर के रूप में जब आपकी नियुक्ति मांगरोल में हुई, तब आपने 'सेवा समिति' के कार्यों को विस्तार दिया। ग्राम सुधार एवं सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के लिए स्काउट दल को सक्रिय किया। बेगार प्रथा समाप्त

करने, शिकार-हांका में जबरन पकड़कर बेगार के लिए ले जाने वालों को छुड़ाने और जाने वाले को मुआवजा दिलाने, समाज-सुधार एवं रूढ़िवादी परम्पराओं को दूर करने के लिए आन्दोलन किए, यद्यपि छात्र जीवन से ही आप 'सेवा समिति' के सदस्य बन गए थे। स्काउटिंग के माध्यम से भी छात्रों में राष्ट्रसेवा के भाव जगाने का कार्य आप करते रहे। अध्यापनकाल से ही आप राज्य कर्मचारियों के जुल्म-ज्यादतियों के विरुद्ध अपने संवाद विभिन्न समाचार पत्रों में भिजवाते रहे, आपकी कार्यपद्धति की शिकायतों को लेकर आपके तबादले भी होते रहे। सन् 1927 ई. में पिता के स्वर्गवास होने पर आपने स्वतन्त्रता आन्दोलन में सक्रिय रूप से भाग लेने के लिए सन् 1928 ई. में कनवास स्कूल के प्रधानाध्यापक पद से त्यागपत्र दे दिया और सक्रिय भागीदारी निभाने के लिए उज्जैन चले गए एवं वहाँ से 'नमक सत्याग्रह आन्दोलन' के लिए अजमेर में भाग लेने गए। आपके तीन विवाह हुए। पहला विवाह रेलावन की नट्टीबाई से हुआ जिससे तीन बेटियाँ हुई, पर एक भी जीवित न बची। दूसरा विवाह महाराष्ट्र के क्रान्तिकारी जगन्नाथ की बहिन लक्ष्मीबाई से किया। टायफाइड बीमारी से जूझते हुए दूसरी पत्नी का निधन हो गया, सन् 1950 ई. में आपकी पहली पत्नी का भी स्वर्गवास हो गया। सन् 1953 ई. में सत्यवती से आपने तीसरा विवाह किया, जिससे एक पुत्र की प्राप्ति हुई। अभिन्नहरि ने उसका नाम 'मनुहरिविशिष्ठ' रखा। बचपन से ही राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत होकर स्वतन्त्रता आन्दोलन में सक्रिय भागीदारी निभाते हुए कभी आपने अपने परिवारिक जीवन की तरफ ध्यान नही दिया, जिसके चलते आपकी अपनी जमीन भी आपके हाथ से जाती रही। स्वतन्त्रता प्राप्ति की ललक लिए आप अपनी लेखनी से और कभी एक सेनानी के रूप में आजादी की लौ जलाते रहे।

युवावस्था में साहित्यक सम्मेलनों के दौरान गणेशशंकर विद्यार्थी, बालकृष्ण शर्मा (नवीन), बलवन्तसिंह नामधारी तथा भगतसिंह से सम्पर्क से आपके क्रान्तिकारी विचारों को बल मिलता रहा। आप विजयसिंह पथिक एवं पण्डित नयनूराम शर्मा के सहयोगी रहे। आप मथुरालाल शर्मा को अपना राजनीतिक गुरु मानते थे। राजस्थान के स्वाधीनता संघर्ष में पत्रकारिता का जो ऐतिहासिक योगदान रहा है, उसमें पं. अभिन्नहरि जैसे राजनीतिक कार्यकर्ता, स्वतन्त्रता सेनानी, जुझारू पत्रकार एवं सम्पादक के कृतित्व के रूप में देखा जा सकता है। शासकीय सेवा के दौरान ही आपने सन् 1925 ई. में कानपुर में आयोजित कांग्रेस अधिवेशन एवं देशी राज्य प्रजापरिषद की बैठक में भाग लिया। जहाँ आपका परिचय अर्जुनलाल सेठी, विजयसिंह पथिक बाबा नृसिंहदास, राधामोहन गोकुल एवं सत्यभक्त से हुआ। अधिवेशन में हुए सभा-सम्मेलनों एवं भाषणों से प्रेरित होकर मांगरोल में अपने छात्रों एवं स्काउटों से ईश्वरीप्रसाद शर्मा द्वारा लिखित 'शक दुर्दशा' नामक नाटक का मंचन कराया, जिसके फलस्वरूप आपका तबादला कोटा कर दिया गया। कोटा में आपने 'तिलकदल' बनाकर छात्रो में राष्ट्रभावना जागृत करने एवं स्वाधीनता आन्दोलन के लिए युवाओं में जोश भरने का कार्य किया।

जब 1930 ई. में गाँधी जी का सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ हुआ, तब आप भी देश में नमक कानून तोड़कर नमक बनाने और आन्दोलन में गिरतार होने के लिए खण्डवा पहुँचे, वहाँ पर आप पण्डित माखनलाल चतुर्वेदी और नागर जी से मिले। आपकी गिरफ्तारी हुई, किन्तु पोस्ट मास्टर गोविन्द बाबू तथा नागर जी ने आपको छुड़ा लिया। यहाँ से आप नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा आयोजित कवि सम्मेलन की अध्यक्षता करने अजमेर गये। कोटा आकर आप राष्ट्रीय विचारधारा के उत्साहित युवकों का एक 'सत्याग्रही जत्था' तैयार कर अजमेर ले गये। वहाँ अजमेर में आपका सम्पर्क प्रसिद्ध क्रान्तिकारी विजयसिंह पथिक से हुआ। आपके जत्थे को गिरफ्तार कर बाद में सीकर में छोड़ दिया गया। कोटा में सन् 1934 ई. में विजय दषमी के दिन पण्डित नयनूराम शर्मा के साथ मिलकर आपने हाड़ौती प्रजामण्डल की स्थापना की। प्रजामण्डल के लिए लगातार कार्य करते हुए बैठकें बुलवाते, योजनाऐं बनवाते रहे। 19 मई 1939 ई. को प्रजामण्डल का अधिवेशन आपने तमाम साजिषों और हथकण्डो को दरकिनार कर मांगरोल कस्बे में सम्पन्न किया। जनता की अधिक से अधिक भागीदारी के लिए गाँव-गाँव में सम्पर्क करने के लिए पैदल यात्रा की। इस अधिवेशन में स्वयंसेवकों और महिलाओं का दल संगठित किया। कोटा राज्य में अनुत्तरदायी शासन प्रणाली और नौकरशाही की खुली आलोचना की। इस अधिवेशन की चर्चा श्री मोतीलाल जैन ने भी अपने स्मरणों में की है।[2]

आप सन् 1941 ई. में कोटा राज्य प्रजामण्डल के अध्यक्ष बने।[3] आपकी अध्यक्षता में झाला हाउस कोटा के सामने राम तलाई में एक विराट सम्मेलन हुआ। इस अधिवेशन में श्री विजयसिंह पथिक, उज्जैन के श्री शिव शंकर रावल एवं श्री मदनमोहन शर्मा स्वागताध्यक्ष के रूप में शामिल हुए थे। आपने अपने अध्यक्षीय भाषण में आंकड़ों सहित कोटा राज्य की स्थिति की चर्चा की एवं सामन्ती शासन की बुराई कर नौकरशाहों के कुचक्र की निन्दा की। प्रजामण्डल के अध्यक्ष रहते हुए भी आपको कोटा से छबड़ा जाते समय स्टेशन पर गिरतार किया गया और तीन दिन तक गूगोर के किले में बन्द रखा गया। क्रान्तिकारियों का 28 फरवरी 1942 ई. को अजमेर में एक गुप्त सम्मेलन हुआ जिसमें आपने भाग लिया था। कालान्तर में 8-9 अगस्त 1942 ई. को मुम्बई के ग्वालिया टैंक मैदान में आयोजित कांग्रेस के अधिवेशन में कोटा से शामिल होने वाले आप एक मात्र प्रतिनिधि थे। 9 अगस्त 1942 ई. को भारत छोड़ो आन्दोलन ने कोटा शहर में भी गति पकड़ ली। जनमानस रामपुरा कोतवाली और गाँधी चौक में जमा होने लगा। सैलाब बढ़ता देखकर निहत्थे जन समूह पर घोड़े दौड़ाये, भीषण लाठी चार्ज किया। अबोध बालक-बालिकाओं, युवको, महिलाओं और वृद्धों तक को नहीं छोड़ा। पण्डित अभिन्नहरि अस्पताल में घायलो के लिए चिकित्सा व्यवस्था का बन्दोबस्त करा रहे थे

कि वहाँ से आपको भी गिरतार कर रामपुरा कोतवाली में लाया गया।[4] यहाँ पर आई.जी. ने पण्डित जी को भीड़ को समझाने तथा वापिस घर लौटने का दबाव बनाकर हथकड़ी डालकर बाहर लाये। पण्डित जी ने अच्छा अवसर देखकर पूरे जोश के साथ कहा-यह आजादी की आखरी लड़ाई है। कोई कसर मत छोड़ना, करो या मरो। यही देश को गाँधी जी का संदेश है। यहाँ से रात्रि 2.00 बजे अभिन्नहरि, वेणीमाधव, शम्भूदयाल सक्सेना, जोरावर सिंह जैन को कोतवाली के पीछे के रास्ते से सेन्ट्रल जेल भेज दिया गया। 14 अगस्त से आपने जेल में आमरण अनषन शुरू कर दिया। 24 अगस्त को जेल से रिहा कर कोटा दरबार ने अभिन्नहरि जी के सामने वकील रामनारायण द्वारा बताई गई शर्तों को मानने का आश्वासन दिया। उल्लेखनीय यह है कि भारत छोड़ो आन्दोलन के दौरान 14-15 अगस्त 1942 ई. को कोटा शहर पर जनता का राज्य रहा।

स्वतन्त्रता संघर्ष में जन-जागरण एवं जनजागृति का कार्य पत्रकारों ने बखूबी निभाया। अपने लेखन से राष्ट्रीय विचारधारा को न केवल जन-जन में प्रवाहित किया, बल्कि जनता को स्वतन्त्रता संग्राम में भाग लेने के लिए उद्वेलित भी किया। उस समय पत्रकारिता का कार्य करना कठिन था, वाणी व लेखन अभिव्यक्ति पर बन्धन था, संचार माध्यमों का अभाव था, प्रेस पर तरह-तरह के बन्धन थे फिर भी दृढ़ इच्छा शक्ति और उनके जुझारूपन ने स्वतन्त्रता आन्दोलन को जन आन्दोलन बनाने में महती भूमिका अदा की। हाड़ौती में इस कार्य के अगुवा थे पं. अभिन्नहरि। छात्रजीवन में ही आपने विभिन्न समाचार पत्रों में (बंगवासी, अभ्युदय, प्रताप, कर्तव्य, प्रणवीर) देशप्रेम, राष्ट्रभक्ति एवं क्रान्तिकारियों के लेख पढ़े, जिससे देशभक्ति की भावना जागृत हुई। आपने अपने संवाद विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में भेजे। कभी-कभी छद्मनाम से भी राज्य कर्मचारियों उनकी जुल्म-ज्यादतियों के खिलाफ अपने संवाद भिजवाएं। प्रेस और पत्रकारिता का प्रशिक्षण उज्जैन, खण्डवा, आगरा, प्रयाग, कानपुर, बम्बई और दिल्ली से प्राप्त किया। सरकारी सेवा से सन् 1928 में त्याग पत्र देने के पश्चात् आपने पत्रकारिता के माध्यम से स्वतन्त्रता संघर्ष में जन चेतना लाने का वीणा उठाया। उज्जैन में श्री दुर्गाशंकर नागर जी के 'कल्पवृक्ष' समाचार पत्र में एवं श्री माखनलाल चतुर्वेदी के 'कर्मवीर' (खण्डवा) में सम्पादन का कार्य किया। सन् 1930 ई. सविनय अवज्ञा आन्दोलन के दौरान भी आपने अजमेर से 'वशिष्ठ ऋषि' (छद्मनाम) नाम से 'रणभेरी' का प्रकाशन किया। यह दैनिक साइक्लोस्टाइल समाचार पत्र था, जिसे रात के समय पुष्कर की घाटियों में मशाल और दियों की रोशनी में तैयार कर सूर्योदय से पूर्व ही सत्याग्रह शिविर के साथियों में बंटवा दिया जाता था।

इस पत्र में जनता और सत्याग्रहियों का मनोबल बढ़ाने, मातृभूमि को स्वतन्त्र कराने और देश पर मर मिटने के भाव जागृत करने के लिए गीत, आलेख तथा क्रान्तिकारियों के समाचार होते थे। इस पत्र के सिलसिले में आपको गिरफ्तार कर

अजमेर जेल की काल कोठरी में डाल दिया और यातनाऐं दी गई। अजमेर प्रवास के दौरान ही आपने विजयसिंह पथिक के मार्गदर्शन में 'राजस्थान संदेश' पत्र में सह-सम्पादन के रूप में कार्य किया और यहीं पर 'विप्लव' समाचार पत्र के लिए भी आवेदन किया। गिब्सन बम काण्ड में नामजद होने से आप दो वर्ष (1932-34) अज्ञातवास में रहे, पर फिर भी आपने अपनी लेखनी बन्द नहीं की और विभिन्न समाचार पत्रों में, नवल, अभिन्न, प्रलयंकर राजस्थानी युवक आदि छद्म नामों से लेख, कविताऐं एवं जुल्म-ज्यादतियों के समाचार भिजवाते रहे।

सन् 1934-35 में आगरा में ठाकुर देशराज के साथ रहकर 'गणेश' नामक समाचार पत्र में सह सम्पादक के रूप में कार्य किया। इस पत्र में कोटा की गतिविधियों पर आधारित हास्य-परिहास और व्यग्य प्रधान रचनाऐं प्रकाशित होती थी। तत्कालीन कोटा राज्य के षिक्षा निदेषक द्वारा मानहानि का मुकदमा चलाया गया था, जिसके कारण पत्र को शासन के कोप का शिकार होना पड़ा[5], तथापि गणेश पर बून्दी रियासत में प्रवेष पर भी रोक लगा दी थी।[6] तत्पष्चात् सन् 1936-38 तक दिल्ली में प्रकाषित 'दैनिक हिन्दुस्तान' के संयुक्त सम्पादक रहे। आपने स्वतन्त्र रूप से दिल्ली से साप्ताहिक 'अग्रसर' पत्र का प्रकाषन किया।[7] जिसके शीर्ष भाग पर 'सर्वतन्त्र स्वतन्त्र साप्ताहिक अग्रसर' अंकित रहता था। इस पत्र में डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन, पं. अवनीन्द्र कुमार विद्यालंकार, बंकिमचन्द्र चटर्जी सहित देश के शीर्ष नेताओं और स्वतन्त्रता सेनानियों के लेख, कविताऐं प्रकाशित होते थे। आर्थिक संकट के कारण अखबारों का बन्द होना तत्कालीन समय की एक बेहद दारुण कहानी उस समय प्रकाशित होने वाले अधिकतर अखबार कहते हैं, जिसके कारण अखबारों को बीच में ही बन्द करना पड़ा या कुछ दिनों के लिए विराम देना पड़ा या फिर कर्जा लेना पड़ा, और इसी दारुण कहानी का हिस्सा 'अग्रसर' भी बना। जिसके प्रकाशन का शुल्क 25 हजार जमा कराने के लिए आपको अपनी पैतृक ग्यारह बीघा भूमि बेचनी पड़ी और अखबार बन्द करना पड़ा, तत्पश्चात् आप कानपुर में गणेशशंकर विद्यार्थी के पत्र 'प्रताप' में सम्पादन कार्य करने लगे।

भारत छोड़ो आन्दोलन की तैयारी तथा महात्मा गाँधी के निर्देश पर आप सन् 1941 में कोटा लौट आए। 21 मार्च 1942 से 'लोकसेवक' साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन शुरू किया[8] यद्यपि इस पत्र के प्रकाशन से पूर्व जन साधारण को समाचार पत्र के प्रकाशन की जानकारी देने के लिए 'थोड़ा इन्तजार करें' नामक शीर्षक से एक पर्चा छापकर जानकारी दी, तथापि 'लोकसेवक' के प्रकाशन के संघर्ष की कहानी एक वर्ष तक (30 नवम्बर 1940-13 नवम्बर 1941) चलती रही, लगातार अभिन्नहरि जी और राज्य के द्वारा पत्रों का आदान प्रदान चलता रहा, तब जाकर महकमा खास ने हिन्दी साप्ताहिक लोक सेवक एवं इसी नाम की प्रेस चलाने की स्वीकृति लागू कर 'कोटा प्रेस एक्ट' के नियमों की पालना की शर्तों पर दे दी।[9] लोक सेवक का प्रथम अंक दो पृष्ठों का था।

शीर्ष भाग पर गोस्वामी तुलसीदास की प्रसिद्ध चौपाई 'परहित सरिस धर्म नहीं भाई, परपीड़ा सम नहीं अधमाई' छापा था एवं समाचार की प्रसार संख्या 500 भी अंकित की गई। दूसरा अंक 8 पृष्ठों का था एवं चौपाई सम्पादकीय पृष्ठ पर प्रकाशित होने लगी। पत्र के तीसरे अंक 9 अप्रेल 1942 के सम्पादकीय में अभिन्नहरि जी ने लिखा था कि 'लोकसेवक' इसी अटल विश्वास को लेकर जन्मा है। वह मनुष्य-मनुष्य के बीच सामाजिक एकता और स्वतंत्रता का प्रचार करेगा। लोकजीवन को हर तरह उन्नत बनाने की निरन्तर प्रेरणा देगा। .....शान्त क्रान्ति ही उसका श्वास होगा और सत्य तथा न्याय साधन। संसार की कोई शक्ति या संकट उसे लोक सेवा के, पब्लिक की भलाई के, दीनहीनों का साथ देने के सन्मार्ग से विचलित नहीं कर सकेंगे। आपने आव्हान किया कि-

आज जागरण की बेला यह,
'सेवक'! उठो, बढ़ो ललकार,
नव निर्माण विष्व का करके,
बनो विश्वकर्मा साकार।

लोकसेवक के विभिन्न अंको में 'हाड़ौती में सत्याग्रह का बिगुल बजेगा' रियासतों में भी आन्दोलन होगा, कांग्रेस सामूहिक आन्दोलन करेगी, स्वराज हमारा जन्मसिध अधिकार है, गाँधी जी की आँधी राज्यों में भी चलेगी, करो या मरो, अंग्रेजों भारत छोड़ो जैसे लेख एवं सम्पादकीय जनता को जाग्रत करने के लिए प्रकाशित किये जाते रहे। 'पुलिस की ज्यादती' एवं 'महाराव साहब' (17 अगस्त 1942 अंक 21) शीर्षक से समाचार में कोटा में हुई जनक्रान्ति का विस्तृत विवरण इस अंक में प्रकाशित किया गया। यह दोनो समाचार अभिन्नहरि जी की निर्भीक एवं सटीक पत्रकारिता के उदाहरण के रूप में देखे जा सकते हैं। पत्र ने बेवाक, स्वतन्त्र एवं निर्भीकता से राज्य सरकार की भी आलोचना की। लोकसेवक को बन्द कराने के लिए तरह-तरह के हथकण्डे अपनाये जाने लगे, संवाददाताओं को मारा-पीटा जाने लगा, झूठे मुकदमों में फसाने की धमकी दी जाने लगी।

22 मार्च 1943 को पत्र का दूसरा वर्ष शुरू हुआ जिसमें विशेष उल्लेख के रूप में प्रकाशित किया गया कि 'अब तक सालभर में लोकसेवक ने अपनी ओर से एक भी अंक की छुट्टी नहीं की। अगले सप्ताह होली के उपलक्ष्य में अंक नहीं निकलेगा'। यह टिप्पणी समाचार पत्र की नियमितता एवं पाठकों के विश्वास का एक आदर्श उदाहरण है। लोकसेवक अब रजिस्टर्ड हो गया है। सवा साल से इस मुसीबत का जो हिमालय खड़ा हुआ था वह सामने से हट गया, अब तक हमने शिशु लोकसेवक को नजरों से बचाने के लिए हाड़ौती की चहार दीवार से बाहर ना होने दिया। जानबूझकर बदरंग बनाये रखा और चाहको के प्यार-दुलार से मन मसोस कर वंचित रखा। हर तरह के खर्चे, नुकसान और परेशानियाँ सहीं, सरकारी नजर से उभारा, लड़खड़ाते पाँवों से, फूलते दम

से, क्षीण स्वर से ही सही, आज की भयंकर महंगाई में भी जनसेवा में निरन्तर कटिबद्ध रखा और अब? अब लोकसेवक घर बाहर बेखटके आ जा सकेगा। सुस्पष्ट स्वर में अपने पराये के अन्याय अनीति को ललकार सकेगा। जन बल ही इसका आधार है। इस तरह की मार्मिक टिप्पणी अभिन्नहरि 24 मई 1942 ई. वर्ष 2 अंक 2 में देते हैं। 15 अगस्त को स्वाधीनता दिवस आयोजन की सूचना लोकसेवक देश की आजादी से पूर्व ही अपने 6 अगस्त 1945 वर्ष 4 अंक 13 में देता है।

18 दिसम्बर 1950 अंक 8 में लोकसेवक अखिल भारतीय हिन्दी पत्रकार व साहित्य सम्मेलन की विज्ञप्ति कुछ इस प्रकार से प्रकाशित करता है[10] अखिल भारतीय पत्रकार व साहित्य सम्मेलन। कोटा में इसी 26.12.1950 से 29.12.1950 तक श्री जयचन्द विद्यालंकार (अखबार में मुद्रण त्रुटी से चन्द्रगुप्त विद्यालंकार छप गया है) की अध्यक्षता में अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का 38वाँ वार्षिक अधिवेशन और एक सुप्रसिद्ध पत्रकार की अध्यक्षता में 29-30 दिसम्बर को अखिल भारतीय हिन्दी पत्रकार सम्मेलन होने जा रहा है। इसके लिए सब तैयारियाँ की जा रही है। इसी पत्र में जनता अब न सहेगी, आबू रोड़ का जनआन्दोलन, चोर बाजारी बन्द करो नामक लेख बेखाँप प्रकाशित करना अभिन्नहरि जी की पत्रकारिता धर्म एवं संवेदन शीलता को रेखांकित करती है। लोकसेवक के अंको में कवि सुधीन्द्र, नन्द चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा, श्री ज्वाला प्रसाद ज्योतषी, बेरिस्टर श्री आसफअली, मधुव्रत, प्रहलाद पाण्डे, पण्डित अवनीन्द्रकुमार विद्यालंकार एवं बंकिम चन्द्र चटर्जी जैसे लेखकों, कवियों एवं पत्रकारों के लेख एवं कविताएँ प्रकाशित होती थी।

हाड़ौती के जुझारू निर्भीक पत्रकार, स्वतन्त्रता सेनानी, स्वतन्त्रता संघर्ष के सूत्रधार, समाज सुधारक एवं ओजस्वी कवि आदर्शों पर अडिग कर्मयोद्धा पण्डित अभिन्नहरि अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में संघर्षमय जीवन एवं आर्थिक विपन्नता से जूझते हुए 14 मई 1999 को मध्यान्ह करीब 1.00 बजे कोटा के महाराव भीमसिंह चिकित्सालय में लगभग 95 वर्ष की आयु में संघर्ष करते-करते न्याय की आशा में अपना हक पाने की राय देखते-देखते इस लोक से सदा सर्वदा के लिए विदा हो गये। स्वतन्त्रता संघर्षकालीन कोटा की पत्रकारिता के पुरोधा श्री अभिन्नहरि और उनके लोकसेवक समाचार पत्र के संघर्ष ने यहाँ पत्रकारिता के विकास का, जो फलक तैयार किया, उस पर नाथूलाल जैन द्वारा सम्पादित 'दीनबन्धु', शिवदयाल राजावत का 'किसान संदेश' 'चम्बल', हीरालाल जैन तथा महावीर प्रसाद शर्मा का 'जयहिन्द', बद्रीनारायण शास्त्री 'देशभक्त', फतहसिंह द्वारा 'विकास' हनुमान प्रसाद सक्सेना 'भारतेन्दु' (त्रैमासिक साहित्यिक पत्र), राजेन्द्र सक्सेना 'कामना' नाथूलाल जैन और हीरालाल का जैन 'जयहिन्द' बाबूलाल इन्दु का 'निर्भीक' 'धरती के लाल', श्यामनारायण सक्सेना का 'जागृति' शिवप्रताप श्रीवास्तव का 'लोकनिर्माण', सरदार अजीतसिंह का 'आग', डॉ.

बोधराज का 'जनता की आवाज', सीताशरण देवलिया का 'सोशलिस्ट समाचार', महेन्द्रनाथ चतुर्वेदी का 'सर्वोदय' और आज का भारत, विमल कुमार कंजोलिया का 'युगधर्म', कृष्णचन्द्र चतुर्वेदी का 'मातृदूत', अंजनी कुमार भारद्वाज का 'युगपुरुष', हरिकुमार औदीच्य का 'राष्ट्रशक्ति, आदर्श राजस्थान (1946) जैसे पत्र-पत्रिकाओं का उदय हो सका। इस काल की पत्र-पत्रिकाओं ने तरह-तरह के दमन दबावों के बावजूद अपने प्रयास जारी रखे[11] एवं पत्रकारिता के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इसलिए श्री अभिन्नहरि को स्वतन्त्रता संघर्षकालीन कोटा की पत्रकारिता का पुरोधा कहना सार्थक प्रतीत हो रहा है।

सन्दर्भ

1. *डॉ. विष्णु पंकज, भाषायी पत्रकारिता और जन संचार, विवेक पब्लिशिंग हाउस, जयपुर 1991 (प्रथम संस्करण), पृ. 0-178 पर रामस्वरूप जोशी का लेख-हाड़ौती क्षेत्र में पत्रकारिता।*
2. *डॉ. महेन्द्र सिंह खड़गावत (सं.), राजस्थान स्वाधीनता संग्राम के साक्षी, जन-आन्दोलन ग्रन्थमाला, चतुर्थ पुष्प ग्रन्थांक-44, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर 2007, पृ. 13*
3. *डॉ. विनीता परिहार, राजस्थान में प्रजामण्डल आन्दोलन, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2010, पृ. 126*
4. *बी.एल. पानगड़िया, राजस्थान में स्वतन्त्रता संग्राम, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2015, पृ. 78*
5. *(अ) डॉ. मनोहर प्रभाकर, राजस्थान में हिन्दी पत्रकारिता, पंचशील प्रकाशन, जयपुर 1981, पृ. 122*
   (ब) महेन्द्र मधुप, जयपुर राज्य की पत्र-पत्रिकाऐं (अप्रकाशित शोध ग्रन्थ)
   (स) राजस्थान श्रमजीवी पत्रकार संघ परिचय पुस्तिका, 1956, पृ. 61
6. *गणेश आगरा, 9 अगस्त 1935*
7. *(अ) राम स्वरूप जोशी, राजस्थान में स्वतन्त्रता संग्राम के अमर पुरोधा पण्डित अभिन्नहरि, राजस्थान स्वर्ण जयन्ती समारोह समिति, जयपुर 2001, पृ. 28*
   (ब) स्वातन्त्रय स्वर्ण जयन्तिका, कोटा जिला प्रशासन, 1997 के पृ. 74-77 पर श्री घनश्याम वर्मा का लेख-हाड़ौती में स्वतन्त्रता आन्दोलन के अग्रदूत, पं. अभिन्नहरि।
   (स) श्री महेन्द्र मधुप, राजस्थान की साहित्यक पत्र-पत्रिकाऐं नामक शोधग्रन्थ तथा जयपुर राज्य की पत्र-पत्रिकाऐं नामक ग्रन्थ में 'अग्रसर' के कोटा से प्रकाशित होने की जानकारी देते हैं। जो उचित प्रतीत नहीं हो रहा है क्योंकि कोटा रियासत में 'लोक सेवक' से पहले 'कोटा प्रेस एक्ट' नही था जबकि अग्रसर का प्रकाशन सन् 1938 में दिल्ली से प्रारम्भ हो चुका था।
   (द) विजयदत्त श्रीधर (सं.), भारतीय पत्रकारिता कोश (1901-1947), खण्ड-2, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010, पृ. 1011
8. *विजयदत्त श्रीधर (सं.), भारतीय पत्रकारिता कोश (1901-1947), खण्ड-2, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010, पृ. 1062*
9. *राजस्थान राज्य अभिलेखागार शाखा कोटा, कोटा महकमा खास, बस्ता नं. 15 ।।, फाइल नं. 6/18, 6/33, 6/59*
10. *राजस्थान राज्य अभिलेखागार बीकानेर, लोकसेवक (1948) बस्ता नं. 1, क्रम सं. 22 इस फाइल में केवल दो पत्र है- 26 जनवरी 1950 अंक 27 तथा 18 दिसम्बर 1950 अंक-8*
11. *डॉ. प्रकाश पुरोहित, राजस्थान में स्वतन्त्रता संग्रामकालीन पत्रकारिता, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2007, पृ. 151*

सारांश/Summary

The Trial of Bahadur Shah Zafar - Re-examining of Colonial Judicial 'Frameworks : Witnesses, Guarantees and Privileges'

Shaheen Islamuddin

It will be sobvious to state that the 'trial of Bahadur Shah Zafar' after the suppression of the uprising nothing but a farce created by the colonial authorities as by any stretch of imagination the Mughal king could never have been charged with treason or still ridiculous allegation of waging a war against his own nation. But these constitutional and legal niceties seem to have been haughty and ruthless of the military officers who have destroyed the Mughal capital beyond recognition and have perpetuated atrocities on the royal families in the most gruesome manner. They wanted a farce of trial for the British audience which was turning extremely hostile to the aggressive policies of the East India Company and its Directors. But the trial could not have proceeded without creating, planniong and buying the witnesses. These witnesses have to be from the close circle of the King and his household. The confident servants of the Mughal King had coerced, first by acting as a spies and later on deposing themselves against their erstwhile master. These unfortunate souls had no other option but to toe British line, because their entire things including their lives and livelihood depended on these very British officials. We find that after the conclusion of the trial that British officers filled some of their promises provided livelihood and guarantees to the unfortunate victims of circumstances to live their life with meager pension and public humiliation. The paper attempts to examine some of the instances from the trial proceeding of Bahadur Shah Zafar as to see how the witnesses were made to depose before the King and to toe the official line of the colonial masters. By screwing the net and bold of the events belonged to the witnesses' part and highlighting the two important witnesses named Hakim Ahsanullah Khan and Ghulam Abbas who wer the royal servants and had served Mughal emperor's from generations. It can be said that, the trial was very much important episode in the history of the uprising. To prove Bahadur Shah Zafar was important for their stable and longer future ruole. For eradicating him, Hakim Ashanullah Khan and Ghulam Abbas were considered important approvers because of having rich past. Undoubtedly, Bahadur Shah Zafar remained alive in the writing as well as imagination of the post 1857 generation. His picture was constantly depicted as humble and loving person. Howerver, trial resolved the issue of political legitimacy or the question of soverignty by elimination him from India to Rangoon, a place which was unknown to him and he was unknown to it. But, it left a psychological impact on him where people closed to him before the uprising were intentionally and in a very calculative manner was stood in front of him to speak against him. Likewise, the approvers were also not under pressure of British that had turned their life too. British decided to collect evidences from them to full fill their interest and give authenticity to their 'legal drama'.

❊ ❊ ❊

Social Evils and Evolution of Social Reform in Rajputana during Nineteenth Century

Pratyusha Dasgupta

The eighteenth century was very important in history of Rajputana for the treaty with the British. But as per the social history was concerned, there were many severe social problems which had risen at that time. They believed in the various social evils like witch-craft and vodooism which were popularly known as Dakin or Dakan pratha, sati system, female infanticide, Samadhi, traffic in slavery etc. could be evolved till 1832. When the British came to Rajputana, they tried to eradicate these social evils from the civil society. In 1832, Lord William Bentinck, then viceroy of India instructed the political officers stationed at the states of Rajputana to seek the co-operation of the rulers within their own territories in a friendly and confidential manner to take drastic steps in eradicating the social evils prevalent in the area overcame this crisis. Through this research paper it will be discussed the social evils of Rajputana and how the society overcome it.

This paper highlighted the most inhuman practices of Rajputana. When the British people came to India they tried to eradicate such

social evils and custom of our society. The rulers of Rajputana were not happy due to the arbitrary character of the social policy. After that they established the Walterkrit Hitakarni Sabha (The council of help and support) in 1889 with its headquarters at Ajmer. It implements the rules framed by the Sabha, its branches were established in every state by the rulers themselves and tried to abolish the social evils from the society. The British interference in Rajputana resulted in turning point to progressive social reforms.

❊ ❊ ❊

Tourism in Rajasthan : An Overview

Dr. Suman Dhanaka

Tourism in an economic and industrial activity in which many individuals, firms, corporations, organisations and associations are engaged it is economically important as it provide employment, it brings infrastrucrural improvement and it may help regional development. It can flourish best best when it fits into the context of general economic policies and programs designed to lead to the optimum growth of the economy of a country as a whole. It is a sun rise industry of the 21st century of India.

Rajasthan - a culturally strong state of India is a natural choice of tourism. It has a flourishing tourism industry. Its historic forts, palaces, art and culture attracts the domestic and international tourists. Department of tourism of Rajasthan Government organizes multiple fairs and festivals during the year for our tourists. Tourism in Rajasthan plays a positive role in enhancing its economy to a great level along with shedding light on its rich and splendid heritage.

Nine tourist circuits have been developed by Rajasthan Department of Tourism namely - Desert Circuit (Jodhpur-Jaisalmer-Bikaner-Barmer), Mewar Circuit (Udaipur-Rajsamand-Chhittorgarh-Bhilwara), Dundhar Circuit (Jaipur-Dausa-Tonk), Godwar Circuit (Sirohi-Pali-Jalore), Merwara-Marwar Circuit (Ajemr-Nagaur), Brit-Mewat Circuit (Alwar-Bharatpur-Karauli-Dholpur-Sawai Madhopur), Shekhawati Circuit (Sikar-Jhunjhunu-Churu), Hadoti Circuit (Kota-Bundi-Jhalawar), Vagad Circuit (Dungarpur-Banswara) as tourist destinations.

Tourism has come to play a significant role in Rajasthan's economy. Although the sector has huge potential to contibute

significantly towards the state's overall socio-economic development, the same has yet to fully realized. Recognizing this, the state government has formulated a comprehensive tourism policy and taken up several initiatives to harness the untapped potential of tourism. Under tourism promotion policy strategically tourism has emerged as growth engine promoting socio-econims development of the state. Tourism as conserving and augmenting the core that is heritage and culture expressed through legends, buildings, events, art, music and dance. Tourism will be made more participative involving local communities in developing and maintaining their tourism assets and more responsible by ensuring tourist well-being and increasing tourist responsibility towards the host community. Also the sate is striving hard in creating a green channel for tourist investment.

❊ ❊ ❊

राजस्थान रियासत में सामाजिक जागृति में समाचार पत्रों का प्रभाव

डॉ. राधाकिशन

राजपुताना में बीसवीं शताब्दी में हिन्दी एवं उर्दू पत्र-पत्रिकाओं का राजपुताना के राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में विशेष योगदान रहा था। बीसवीं शताब्दी में अंग्रेजी, हिन्दी, मराठी, पंजाबी, गुजराती भाषी समाचार पत्रों के पश्चात् उर्दू समाचार पत्रों का भी महत्वपूर्ण स्थान था। जहां तक राजपुताना के संदर्भ में अध्ययन करते हैं तो हम पाते है कि टोंक, जयपुर, अजमेर एवं अन्य स्थानों से समय-समय पर अनेक पत्र-पत्रिकाओं का संचालन हुआ। यह समाचार पत्र ज्यादातर यहां के राजाओं, नवाबों, ब्रिटिश रेजीडेंसी, एजेंसियां, राजनीतिक, आर्थिक, नौकरशाही, सामाजिक एवं सम-सामयिक घटनाओं के बारे में समसामयिक लेख लिखते थे। प्रेस के ही माध्यम से विभिन्न समाज सुधारक, राजनीतिक नेताओं ने अपने विचारों को आम लोगों तक फैलाने में सफलता प्राप्त की। सरकार की वास्तविक नीति को, उसकी दोहरी चालों की कटु आलोचना को जनता तक पहुंचाने वाला प्रेस ही था। प्रेस को एक महत्वपूर्ण संस्था माना गया है। समाचार पत्र जनता के मध्य रचनात्मक भूमिका निभाते है। 19-20वीं शताब्दी में प्रेस का मुख्य उद्देश्य जन-जागरण था। इस उद्देश्य की प्राप्ति में सक्रिय भूमिका तथा उल्लेखनीय कार्य किए। 'त्यागभूमि' के प्रकाशन के समय राजस्थानी समाज में स्त्रियों की स्थिति बड़ी दयनीय थी। बाल विवाह व अनमेल विवाह, पर्दा-प्रथा, निरक्षरता, बहुपत्नीत्व प्रथा, लड़कियों का क्रय-विक्रय, स्त्रियों के सांपतिक अधिकारों का अभाव एवं विधवाओं की करूण दशा आदि कुरीतियों से स्त्री समाज कुंठित था। 'त्यागभूमि' ने

इस दौर में जहां एक तरफ समाचारों, टिप्पणियों एवं संपादकीय लेखों के माध्यम से नारी उत्पीड़न की विभिन्न घटनाओं को यथासमय उजागर कर उनके प्रति जन भावनाओं को उद्वेलित किया, दूसरी तरफ अपने सकारात्मक रूख के द्वारा स्त्री-स्वाधीनता, उनकी शिक्षा एवं पुनर्विवाह आदि के प्रति जोरदार शब्दों में अपना समर्थन प्रकट कर नारी जागरण के इस कार्य को दिशा दी।

❊ ❊ ❊

जयगढ़ दुर्ग एक स्वर्णिम विरासत

अशोक कुमार यादव

विश्व प्रसिद्ध जयपुर नगर की स्थापना से पूर्ण आमेर कछवाहा राजाओं की राजधानी थी इसका नामकरण भगवान शिव के पर्याय अम्बिकेश्वर या अम्बऋषि से हुआ, मुस्लिम इतिहासकारों के अनुसार इसे अम्बर अथवा अलिक अम्बर कहा गया, लेकिन यह आमर या आम्बेर नाम से जाना जाने लगा आम्बेर में राजप्रसाद एवं दुर्ग-देवालय है, सूर्य श्रृंगार एवं भक्ति का एक संगम, यहां देखने को मिलता है, आमेर का सुदृढ़ दुर्ग जयगढ़ अपनी विशाल काया को पसारे एवं मजबूती से पाव जमाए खड़ा है जिसके चारो ओर मन को मोह लेने वाली हरियाली है।

बरसात में यहां पर अत्यधिक पर्यटक घूमने आते है। आमेर के किले की ऊचाईयों से नीचे देखे तो उत्तर पश्चिम की तलहटी में प्राचीन नगर के ध्वसंत अवशेष बिखरे पड़े, कभी पद्माकर ने आमेर के इस दुर्ग की गरिमा को अपने शब्दों में कहा कि जय जय शक्ति शिलामयी, जय जय गढ़ आमेर, जय जय जयपुर सुरपुर सदर्श जो जाहिर चहुंफेर। यह नगर कोई साधारण नगर नहीं रहा दुर्ग का द्वार शिलादेवी के मंदिर को जाने वाले सीढ़ियों द्वार मार्ग के मध्य से है, किन्तु इसका मुख्य द्वार अधिक आगे जाने पर आता है, कभी यहां मीणा पहरेदारों द्वारा दुर्ग की सुरक्षा की जाती थी, और आज भी मीणा जाति ही के लोग ही इसकी पहरेदारां करते नजर आते है। पहले दुर्ग तक पहुंच पाना बहुत ही मुश्किल था, मगर अब दुर्ग के किसी भी भाग तक पहुंचा जा सकता है। दुर्ग का समय-समय पर जीणोद्धार करवाया जाता रहा है। देश में सर्वाधिक चर्चित जयगढ़ दुर्ग को जयपुर राज्य का ऐसा दुर्ग माना गया है जो रक्षात्मक बना रहा, इस दुर्ग पर कभी भी आक्रमण नहीं किया गया।

कभी रात्रि के समय या वर्षा काल में इस दुर्ग में रहने वाली रानीयां मावटा झील के पास बने उद्यान में घूमने जाया करती थी, वहां से दुर्ग के पिछले भाग से देखे तो आमेर कस्बे की ओर सागर और आथूनी का कुण्ड दिखाई देता है, दुर्ग की बनावट ऐसी है, जैसे पहाड़ी के दुर्ग पर ताज रखा हो, अत्यंत आकर्षक इस दुर्ग को जयपुर राजघराने का

रहस्यमयी स्थल भी कहा गया है, जो कि नगर नियोजन कत्ताओं की सूझबूझ व दूरदर्शिता का प्रतीक है। इस दुर्ग को 'राजपूताना का शौर्य' कहा जाता है। यूं तो राजस्थान के सभी दुर्ग अपनी अजेयता व खूबियों के लिये प्रसिद्ध है, लेकिन जयगढ़ साहस एवं वीरता के इतिहास में अत्यंत प्रसिद्ध रहा है।

आमेर नाम लेते ही मुगलकालीन इतिहास का स्मरण होता चला जाता है, जयगढ़ दुर्ग का निर्माण बादशाह शाहजहां के समकालीन मिर्जा राजा जयसिंह ने शुरू करवाया था। जयगढ़ दुर्ग के परकोटे का निर्माण जयसिंह ने करवाया किंतु दुर्ग का संपूर्ण कार्य सवाई जयसिंह के समय करवाया गया। अत: यह कहा जाता है कि जयगढ़ दुर्ग का निर्माण मिर्जा राजा जयसिंह एवं सवाई जयसिंह दोनों के कार्यकाल में पूर्ण हुआ। जयगढ़ के भीतर जहां ढाळे महल एवं मकानात है वहां ऐसे गुप्त स्थान भी है जहां सवाई जयसिंह की धरोहर सुरक्षित रखी गयी थी, यह दुर्ग सरुक्षात्मक रक्षात्मक दृष्टिकोण से बनवाया गया था, किंतु सवाई जयसिंह ने आवास की व्यवस्था को भी ध्यान में रखा था, यह दुर्ग अत्यंत रहस्यमयी एवं सामंत सौन्दर्य का केन्द्र है।

❊ ❊ ❊

इतिहास के वंशावली लेखन की प्रारम्भिक अवस्था

सुनीता स्वामी

भारतीय इतिहास में वंशावली लेखन परम्परा का स्थान महत्वपूर्ण है। वंशावली लेखन परम्परा व्यक्ति के इतिहास को शुद्ध रूप से सहेज कर रखने की प्रणाली है। यह एक ऐसी परम्परा है। जिसमें वंशावली लेखक हर जाति वर्ग के घर-घर जाकर प्रमुख लोगों की उपस्थिति में संक्षेप में सृष्टि रचना से लेकर उसके पूर्वजों की ऐतिहासिक, सामाजिक, आर्थिक व धार्मिक घटनाओं का वर्णन करते हुए उस व्यक्ति का वंश क्रम हस्तलिखित पोथियों में अंकित करता है। वंशावलियों के अध्ययन में हमें जानकारी मिलती है कि हमारे पूर्वज कौन थे। 16वीं शताब्दी के बाद राजस्थान के ऐतिहासिक गद्य के अनेक रूप देखने को मिलते हैं जैसे कि वंशावली, ख्यात, वात आदि। पुरोहितों द्वारा निर्मित वंशावलियाँ या बहियाँ प्रामाणिक दस्तावेज न्यायिक साक्ष्य के रूप में मान्य है। इसमें पारिवारिक सम्बन्धों के विषय में कागज इत्यादि पर वर्णन किया जाता है। इसका उद्देश्य उनके सदैव रिकॉर्ड के रूप में रखने का होना है। वर्णन में अक्षरों के साथ चिन्हों का भी प्रयोग करते हैं। मौखिक साक्षय से लिखित साक्ष्य अधिक प्रभाव पूर्ण होता है।

निश्चित रूप से बहियाँ या वंशावलियाँ एक न्यायिक दस्तावेज है। भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872 के अनुसार वंशावलियों, बहियों इत्यादि को सुसंगत न्यायिक तथ्य के रूप में स्वीकार किया गया है। वंशावली लेखकों को लोक इतिहासकार भी कह सकते हैं। पुरातन एवं मध्यकालीन भारतीय इतिहास लेखन में वंशावलियाँ सर्वाधिक

महत्वपूर्ण स्त्रोत रही है। वंशावलियों में प्रत्येक जाति व प्रत्येक व्यक्ति के इतिहास का लेखन हुआ है। उनके वंशानुक्रम की जानकारी हमें वंशावलियों में मिलती है। वंशावली लेखन परम्परा की शुरूआत वैदिक ऋषियों द्वारा समाज को सुसंगठित एवं सुव्यवस्थित करने की दृष्टि में की गई थी जो हजारों वर्षों से आज भी अनवरत जारी है। वंशावली लेखन के कार्य में लगे समुदायों को अलग-अलग राज्यों में अनेक नामों से जाना जाता है। इनमें मुख्य रूप से राव, बड़वा, भाट, बस्त्र भट्ट, बारोट, जागा, याज्ञिक, तीर्थ पुरोहित, पण्डे, रानीमंगा, हेलवा पंजीकार एवं राजवंश आदि नाम प्रमुख हैं। इनके पास आज भी लोगों के हजारों साल पुरानी वंशावली का रिकॉर्ड मौजूद है तथा कई लेखकों के पास तो लगभग 1500 साल पुराना लेखा-जोखा मौजूद है।

वंशावली परम्परा के हस्तलिखित ग्रंथों से अनेक ऐतिहासिक पुरूषों का परिचय प्राप्त होता है। वंशावली लेखक एक निश्चित समय तक व्यक्ति के आवास पर ही निवास करके इसका लेखन करता था, इसलिए इसमें समानता दिखाई देती है। आज भी वंशावली लेखक घर-घर जाकर इसका वाचन तो करते ही हैं इसके अलावा वंशावली में पैदा हुए नए सदस्यों के नाम भी जोड़ते हैं। पूजा व कर्मकाण्ड करवाने वाले ब्राह्मण लोगों की वंशावली लिखित रूप से व्यवस्थित रखते हैं। ये वंशावलियाँ कभी-कभी मुकदमों के निपटान में भी सहायक रही है।

***

केसरीसिंह बारहठ : एक क्रान्तिकारी व्यक्तित्व

डॉ. सुमेर

केसरीसिंह बारहठ का जन्म शाहपुरा के ग्राम देवपुरा में 23 नवम्बर 1873 को कृष्णसिंह के घर पर हुआ। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा उदयपुर में हुई उसके पश्चात् वे महाराना फतेहसिंह की सेवा में 1891 ई. तक कार्य करते रहें। इनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर कोटा महाराव उम्मेदसिंह ने इन्हें कोटा बुला लिया तथा भारतीय जातियों के बारे में सूचना एकत्रित करने का कार्य सौंपा जिसे वे 1907 ई. तक करते रहे।[2]

कोटा में रहते हुए उनके विचारों में परिवर्तन आने लगा और उन्हें अंग्रेजों की कुत्सित नीति तथा नौकरशाही के शिंकजे से उन्हें घृणा होने लगी। उन्हें भारतीय समाज की हालात व दासता पर क्षोभ होने लगा क्योंकि उन्हें अपने राष्ट्रीय गौरव पर बड़ा गर्व था। इसकी पूर्ति के लिए उनके विचारों में उग्रता आने लगी उनकी इच्छा थी कि भारतीय नरेशों की सहायता से क्रान्ति की जाय। जब उनका सम्पर्क अर्जुनलाल सेठी, गोपालसिंह खरवा, रासबिहारी बोस और शचीन्द्र सान्याल से हुआ तो वे 'सशस्त्र क्रान्तिकारी तथा ब्रिटिश विरोधी गतिविधियों के सक्रिय सदस्य बन गयें। केसरीसिंह राजस्थान के नवयुग के प्रथम कवि थे। उनके प्रत्येक शब्द में देशभक्ति का भाव था। कवि के अतिरिक्त वे

उच्च कोटि के गद्य लेखक पत्रकार एवं समीक्षक थे। उनमें कवि और कर्मयोगी का अभूतपूर्व मिश्रण था। उन्होंने ए.जी.जी. कर्नल वाल्टर द्वारा स्थापित ''राजपूत हितकारिणी सभा'' को अपना मंच बनाया। उनका मानना था कि नवयुवकों को ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिए जिससे उनमें स्वाभिमान और देशभक्ति की भावना जाग्रत की जा सकें।

केसरीसिंह इस समय गांधीजी के विचारों के सम्पर्क में आये। वे जमनालाल बजाज व सेठीजी के आमंत्रण पर वर्धा पहुंचे। वहां पर उनका रामनारायण चौधरी, कन्हैयालाल, विजयसिह पथिक से मिलना हुआ। उन्होंने 1920 के कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में भाग लिया। वे अब असहयोग आन्दोलन के पक्षधर बन गये। 1927 ई में उनकी धर्मपत्नी, 1938 ई. में अनुज किशोरसिंह और 1939 ई. में जोरावरसिंह चल बसे। उनका शरीर जर्जरित व अस्वस्थ हो गया था किन्तु उनकी निष्ठा, गांधीजी, अहिंसा और असहयोग आन्दोलन में प्रबल थी। 14 अगस्त 1941 ई. को केसरीसिंह का देहान्त हो गया। वे आजन्म संघर्षरत रहे।

***

बीकानेर राज्य में नारी विरुद्ध अपराध तथा दण्ड (1700-1950 ई.)- एक अध्ययन

रामलाल परिहार

प्राचीन काल में भारतीय समाज में स्त्रियों का सम्मान और आदर आदर्शात्मक और मर्यादायुक्त रहा है। वैदिक युग में नारी बुद्धि और ज्ञान में प्रवीण मानी जाती थी। सुलभा, गार्गी, मैत्रेयी जैसी विदूषियों के नाम गर्व से लिये जाते थे। साथ ही इस काल में कुछ पण्डित कवयित्रियां भी प्रसिद्ध थीं जैसे रोमशा, उर्वशी, विश्ववारा, घोषा, लोपा-मुद्रा आदि। प्राचीन भारत में स्त्री को वेदाध्ययन व यज्ञ-सम्पादन करने का पूर्ण अधिकार था और सामाजिक धार्मिक कार्यों में उसकी उपस्थिति अनिवार्य थी। लेकिन उत्तर वैदिक युग में नारी की स्थिति में भेदपरक विकास प्रारम्भ हुआ। वैदिक कर्मकाण्ड की जटिलता बढ़ने तथा याज्ञिक कार्यों में आडम्बर बढ़ने के फलस्वरूप स्त्रियों को याज्ञिक कार्यों से अलग रखने का प्रयास प्रारम्भ हुआ और ऐसी स्थिति उत्पन्न की गई कि उन्हें वेदों के अध्ययन या मंत्रोच्चारण के उपयुक्त नहीं समझा गया। धीरे-धीरे नारी की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और वैयक्तिक सभी स्थितियों पर प्रतिबंध लग गए। वास्तव में क्रमश गौण स्थिति प्राप्त करते हुए वह पिता अथवा अभिभावक के लिए एक समस्या बनती गई। कन्या का जन्म एक पाप समझा जाने लगा। मध्यकाल आते-आते नारी को भोग और क्रय-विक्रय की वस्तु समझा जाने लगा। जिससे समाज में नारी पर तरह-तरह के अत्याचार आरम्भ हुए और उसका शोषण

किया जाने लगा। मध्यकालीन राजपूताना और विशेषकर बीकानेर जैसे राज्य में जहां जीविकोपार्जन हेतु आर्थिक संसाधनों की बहुत कमी थी तथा जीवन जीना कठिन था, ऐसी परिस्थिति में नारी को विक्रय योग्य वस्तु माना गया। परिणामस्वरूप उसके विरूद्ध अनेक अपराधों ने जन्म लिया।

यह सत्य ही कहा गया है कि किसी भी समाज के संगठन का क्या स्वरूप है और उसमें सामाजिक मूल्य क्या है? यह मापदण्ड उस समाज में विद्यमान महिलाओं की स्थिति से ज्ञात किया जा सकता है। राज्य का दृष्टिकोण भी समाज के दृष्टिकोण से अधिक अलग नहीं था। क्योंकि राज्य ने भी इसके विरूद्ध अपराधों पर अधिकतर उदारता से ही विचार किया। परन्तु यह भी महत्वपूर्ण पहलू है कि नारी के पास इन अपराधों के विरूद्ध क्या सामाजिक और विधिक विकल्प खुले थे तथा पुरूष प्रधान समाज में किसी तरह के अपराध किए गए एवं नारी द्वारा किस तरह का विरोध किया गया। किसी भी काल में समाज में नारी विरुद्ध होने वाले अपराधों से हम तत्कालीन समाज में नारी-पुरूष सम्बन्धों और मान्यताओं को समझ सकते हैं। नारी की समाज में निम्नगामी स्थिति के परिणास्वरूप ही बलात्कार, अपहरण, पुनर्विवाह, चामचोरी, गर्भत्याग, वैश्यावृत्ति, क्रय-विक्रय जैसे अपराध जन्म लेते हुए दृष्टिगत होते हैं। बीकानेर राज्य के विभिन्न ऐतिहासिक रिकॉर्ड्स के अध्ययन से महिलाओं के विरूद्ध हुए अपराधों का विवरण मिलता है जिससे तत्कालीन समाज में नारी विरूद्ध अपराध और तत्सम्बन्धी दण्ड के प्रावधानों का आकलन किया जा सकता है।

***

अलवर व भरतपुर रजवाड़ों में जन आन्दोलन (1930-1940 ईसवी)

मो. वसीम

दक्षिण एशिया के इतिहास लेखन में रजवाड़े एवं छोटे राज्य का आख्यान हमेशा हाशिये पर रहा है। आम तौर पर ब्रिटिश भारत पर किये गये अध्ययनों को ही भारतीय रजवाड़ों के ऊपर आरोपित कर सामन्याकरण कर दिया जाता है। परिणाम स्वरूप सभी इन अध्ययनों आमतौर पर समस्त भारत का प्रतिनिधि मान लिया जाता है। इस प्रकार के इतिहास लेखन को हीरासिंह भारतीय इतिहास लेखन की ''उपनिवशवादी पद्धति'' कहते हैं।

राजवाड़ों में जन-आन्दोलनों की शुरूआत असहयोग आन्दोलन के बाद देखने को मिलती है। राजस्थान के राजवाड़े राज्यों में आन्दोलनों का प्रमुख कारण कृषकों का शोषण था। इस समय में राजस्थान के दो रियासतों, अलवर व भरतपुर में जन-आन्दोलन

हुए। ये जन-आन्दोलन आज भी वहां के जन-मानस की स्मृति में 'अलवर तहरीक' व 'भरतपुर तहरीक' के नाम से बसे हुए हैं। अलवर का प्रतिरोध एक ओर जहां राज्य के शोषण के विरूद्ध आम लोगों का विरोध था। वहीं, भरतपुर का विरोध प्रजा प्रिषद के अन्तर्गत शिक्षित स्थानीय लोगों के नेतृत्व में राजा के खिलाफ विरोध था। अलवर में ये जन प्रतिरोध रजवाडों के किसानों द्वारा 1932-33 ई. में महाराजा सवाई जयसिंह के खिलाफ उस समय चलाई गई, तब उसने मालगुजारी अचानक कई गुणा बढ़ा दी तथा कृषकों पर अन्य कर लगा दिये। इसके खिलाफ संघर्ष हुआ।

चौ. यासीन खां ने इस प्रतिरोध में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई व इस प्रतिरोध को सुनियोजित तरीके से नेतृत्व प्रदान किया। वह इस से पहले ही 'ऑल इंडिया मेव पंचायत' का गठन कर चुके थे। इस क्षेत्र में आज भी मीरासी ''बात साहित्य (Baat Literature) में लोक गीतों के माध्यम से यासीन खां के जीवन के पहलू व अलवर के महाराजा के विरूद्ध संघर्ष को प्रदर्शित करते है। ये मेवाती लोक गीत आज भी इस क्षेत्र के जन-मानस के स्मृति में रचे-बसे हैं:-

याका माता-पिता धनवंत, कुंवर जी बंद पढ़ायो।
पढ़गो सारा शास्त्र, पास एल.एल.बी.पायो।

बाद में ये संघर्ष धीरे-धीरे कांग्रेस द्वारा चलाये जा रहे आंदोलन का हिस्सा बन कर, भरतपुर रजवाड़े में कांग्रेस के प्रवेश व प्रसार का माध्यम बना, जैसा कि गांधी जी के सत्याग्रह आंदोलन के सिलसिले में कांफ्रेन्स का आयोजन जगह-जगह पर हुआ। बाद में 1942 में भारत छोड़ो आंदोलन में इस संघर्ष से जुड़े नेताओं ने भाग लिया। वास्तव में भरतपुर आन्दोलन पढ़े-लिखे लोगों का आन्दोलन था, जिसमें रजवाड़े के लोगों की भलाई व विकास के लिए मांग की गई थी, जबकि अलवर आन्दोलन एक किसान आंदोलन था, जो महाराजा अलवर की गलत नीतियों, अवैध टैक्सों द्वारा किसानों का शोषण था। ये इन दोनों रजवाड़ों की स्थिति का एक अन्य पहलू था, जिसके सामने इन दोनों ही रजवाड़ों की सत्ता को आम जन-मानस के सामने झुकना पड़ा।

***

अजमेर की ऐतिहासिकता के भौगोलिक आयाम

बनवारी लाल यादव

इतिहास एवं भूगोल का अन्तर्सम्बन्ध इस बात से सुस्पष्ट होता है कि इतिहास के अनेक शोध कार्यों का प्रथम अध्याय भौगोलिक परिस्थितियों से ही प्रारम्भ होता हैं। भौगोलिक कारकों की इतिहास की दशा एवं दिशा के निर्धारण में अनादि काल से ही महत्वपूर्ण भूमिका रही है। पाषाण काल में मानव में नदी घाटियों के किनारे एवं गुफाओं में आश्रय लिया। इसलिए भूगोल एवं इतिहास को अन्तर्सम्बन्धित करते हुए अध्ययन

करना आवश्यक हो जाता है। वस्तुत: इतिहास का अध्ययन एवं शोध बिना भूगोल के सम्भव नहीं है। इसी कारण भूगोल को इतिहास की आंख माना जाता है। भौगोलिक ज्ञान के बिना किसी भी देश के राजनीतिक एवं सैन्य इतिहास का अध्ययन किया जाना असंभव है। एक इतिहासकार अपने अध्ययन एवं शोध के जिन भू दस्तावेजों का अनुप्रयोग करते हुए इतिहास लेखन करता है। उन दस्तावेजों का सीधा सम्बन्ध भूगोल से ही होता है। जब इतिहास लेखन में एक अध्येता किसी क्षेत्र विशेष की प्राकृतिक संरचना के बारे में लिखता है जो कि मूलत: भूगोल का ही विषय है किन्तु इन भौगोलिक कारकों का इतिहास पर सीधा प्रभाव पड़ता है। राजस्थान के अजमेर क्षेत्र का इतिहास भी भौगोलिक विशेषताओं से घिरा रहा है। अजमेर जिले का नामकरण जिला मुख्यालय अजमेर के नाम पर हुआ है। अजमेर नगर का पुराना नाम अजयमेरू है। अजय का अर्थ होता है जिसे जीता ना जा सके। मेरू का अर्थ होता है पर्वत। अजमेर का प्राचीन दुर्ग तारागढ़ तथा बीठली दुर्ग के नाम से प्रसिद्ध है। यह एक ऊंचे पर्वत पर स्थित है जिसे जीता जाना वास्तव में बहुत दुष्कर कार्य था। इसी पर्वत के कारण इस नगर का नाम अजयमेरू हुआ। कुछ इतिहासकार 12वीं शती के चौहान राजा अजयराज द्वारा अजमेर नगर की स्थापना किये जाने के कारण इस नगर का नाम अजमेर बताते हैं। तारागढ़ में 12 वीं शती से पूर्व के अनेक निर्माण कार्य देखने को मिलते हैं अत: इस नगर की स्थापना अजयराज ने नहीं की। कुछ इतिहासकार मानते हैं कि चौहान पूर्व के उत्तराधिकारी राजा जयराज अथवा जयपाल ने सातवीं शताब्दी में अजमेर नगर की स्थापना की। स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व अजमेर तथा मेरवाड़ा नामक दो जिले ब्रिटिश राज्य के अधीन सीधे केन्द्र शासित प्रदेश के रूप में विद्यमान थे। ई. 1956 तक भी अजमरे मेरवाड़ा केन्द्र शासित प्रदेश के रूप में रहा किन्तु इसके बाद अजमेर के अलग जिला बनाकर उसे राजस्थान प्रदेश में सम्मिलित कर लिया गया। जयपुर जिले का किशनगढ़ भी इस नवीन जिले में शामिल किया गया तथा दो वर्ष बाद देवली कस्बा और उसके पास के तीन गांव टोंक जिले को स्थानान्तरित कर दिये गये। वर्तमान में अजमेर जिला 250° 38° से 260° 58° उत्तरी अक्षाशों तथा 730° 54° से 750° 22° पूर्वी देशान्तरों के मध्य स्थित है। जिले का कुल क्षेत्रफल 8,481 वर्ग किलोमीटर है। इसके पूर्व में जयपुर और टोंक जिले, पश्चिम में पाली, उत्तर में नागौर तथा दक्षिण में भीलवाड़ा जिले हैं। 2001 की जनगणना के अनुसार जिले की कुल जनसंख्या 21,81,670 थी। सन् 1829 में प्रस्तुत रिपोर्ट के अनुसार अजमेर राज्यमें नौ परगने थे- खरवा, मसूदा, पीसांगन, गोविन्दगढ़, सावर, भिनाय, केकड़ी, देवगढ़ और शाहपुरा। अजमेर परगने में 296 गांव थे-218 असली और 78 दाखिली। भिनाय, मसूदा, सावर और पीसांगन स्वतंत्र तालुके थे। ये ठिकानेदार मुगलों के मनसबदार थे। राज्य में कुल 70 ठिकानेदार थे जिसमें 64 राठौड़ थे। दिल्ली-अहमदाबाद के राजमार्ग 8 पर अवस्थित अजमेर मेरवाड़ा के क्षेत्र राजस्थान की हृदयस्थली रहा है। अरावली पर्वत श्रेणी से घिरा हुआ अजमेर मेरवाड़ा 25° 23'30'' अक्षांश और 26°41' एवं 73°47'30'' और 75°27'7'' पूर्वी देशान्तर पर स्थित है। यहां का अजमेर नगर अहमदाबाद से 490 किलोमीटर, बम्बई से 982 किलोमीटर, आगरा से 378 किलोमीटर, तथा दिल्ली से भी 378 किलोमीटर दूर स्थित है। अरावली पर्वतमाला जो गुजरात के ईडर राज्य से शुरू होकर दिल्ली सल्तनत के केन्द्र पर समाप्त होती थी, की तलहटी में दोनों ओर स्थित अजमेर मेरवाड़ा क्षेत्र अपनी सामरिक आवश्यकता, राजनीतिक सत्ता केन्द्र व धार्मिक नगरी होने के कारण आदिकाल से वर्तमान काल तक महत्वपूर्ण रहा है। सामरिक त्रिकोण पर अवस्थित रहने के कारण यह क्षेत्र राजनैतिक संस्थाओं का केन्द्र होने के कारण इससे विभिन्न क्षेत्रों के राजनैतिक केन्द्रों को भी गहराई से प्रभावित किया है व दिल्ली की सत्ता को भी चुनौती दी। पर्यटन के लिहाज से इसमें अजमेर, पुष्कर, मेड़ता व नागौर को मेरवाड़ा सर्किट के नाम से शामिल किया जाता है। अजमेर मेरावाड़ा क्षेत्र उत्तर मुगलकाल में उत्तर में बीकानेर रियासत, पश्चिम में मारवाड़ रियासत व पूर्व में टोंक रियासत की सीमा पर परिबद्ध रहा है।

⁂

वागड़ के संत मावजी का आदिवासियों के उत्थान में योगदान: एक विश्लेषण

दिनेश चन्द्र शर्मा

राजस्थान के डिंगल साहित्य में संत-सुरमाओं की जीवन ज्योति का उर्जस्वी स्वरूप विशेष रूप से अंकित है। वास्तव में शूरवीर एवं संत दोनों ही सत्य के पुजारी लोकहितकारी और जनमनहारी होते है। जिन उदारचेताओं का जीवन इसी उदात्त ढला, उनकी पुनीत स्मृति राजस्थान के जनमानस में शाश्वत रूपेण अंकित हो गई। राजस्थानी भाषा में एक कहावत प्रसिद्ध है 'जात रौ कारण नीं, रात रौ कारण हुवै' अर्थात किसी व्यक्ति की महत्ता का कारण उसकी जाति नहीं बल्कि रात्रि है, जिसमें उसका जन्म हुआ। इस प्रकार मानवता के स्वरूप की यहां सदैव वंदना की गई। राजस्थान में इतिहास में 18वीं सदी का विशेष महत्व है। इस अवधि में उच्चकोटि के सन्त महात्माओं ने अपने ज्ञानालोक द्वारा लोकमानस के अज्ञानान्धकार के शमन का प्रशंसनीय प्रयास किया। ऐसे महान भक्तों में दक्षिणी राजस्थान के बागड़ प्रदेश के कृष्ण भक्त मावजी (संवत 1771-संवत 1801) का महत्वपूर्ण स्थान है। इन्होंने साधना और सदाचार के माध्यम से दिव्यज्ञान प्राप्त कर समाज के दलित वर्ग, निम्न समझी जाने वाली जातियों एवं पतिता नारी के समक्ष भक्ति का सरल, सुगम और सुलभ आदर्श प्रस्तुत किया।

मावजी का जन्म वर्तमान डूंगरपुर जिले की आसपुर तहसील के साबलाग्राम में हुआ था। इनकी प्रमाणिक जन्मतिथि संवत् 1781 माघ शुक्ला 5 बुधवार थी। साम सागर

में मावजी के माता पिता का नाम क्रमश: केसर बाई एवं दालम ऋषि वर्णित है। इनके पिता अशिक्षित थे, किन्तु साधारण खेती एवं ब्राह्मण वृति से आजीविका चलाते थे। उनका परिवार औदीच ब्राह्मण जाति का था, अत: पारिवारिक संस्कार धार्मिक होना स्वभाविक था। मावजी के संस्कार के बाद में जाकर उसी प्रकार के बने और उन्होंने भगवान निष्कंलक की पूजा करना प्रारम्भ कर दिया।

चौपड़ों के अलावा इनके द्वारा रचित ग्रन्थों में आगल वाणियाँ, भूगोल पुराण, कालंगा हरण, ज्ञान रत्नमाला, षट कमल, सुरानंद वाणी प्रमुख है। साथ ही इन्होंने विभिन्न आरतीयाँ, सलोखा स्त्रोत, पद इत्यादि की रचना की है। इन सभी रचनाओं में इनका सामाजिक दर्शन निहित है तथा उस समय की सामाजिक जकड़बन्दियाँ एवं उनके खिलाफ इनके प्रयास उल्लेखित है। मावजी की वाणी में समाजवाद की झलक दृष्टिगोचर होती है। उनके अनुसार हर व्यक्ति के पास आवश्यक वस्तु हो तथा मकान अवश्य ही होना चाहिए। उन्होंने आवश्यक समझा कि समाज में आपस में सहयोग की भावना निरन्तर, पुष्पित एवं फलित होती रहे। आपसी सहयोग के बिना समाज की उन्नति कठिन है। आदिवासी वर्ग तभी ऊपर उठ सकता है, जब सभी आपस में सहिष्णुता एवं सहयोग की भावना से काम करें। आज भी भीलों में आपसी सहयोग की भावना फलित हो रही है। वे मकान बनाने, कुआं खोदने व अन्य सुख-दु:ख में मिल झुल कर कार्य करते है। मावजी के अनुसार किसी गृहस्थी के लिए यह आवश्यक है कि उसके पास मकान, वस्त्र, गाय, घोड़ा, ऊँट, भूमि, बैल हो।

मावजी के समय सामंतशाही शासन व्यवस्था विद्यमान थी और गरीब एवं पिछड़ी प्रजा का अत्यधिक शोषण हो रहा था। उन्होंने शासक वर्ग को प्रजाहित कार्य करने का उपदेश दिया। उनके अनुसार राजा को हसं न्याय करना चाहिए अर्थात् राजा का निर्णय सबके हित में होना चाहिए। राजा को रिश्वत नहीं लेनी चाहिए। प्रजा को सुख देना चाहिए। कर न्याय संगत लेना चाहिए। ब्राह्मण, साधु की सेवा करनी चाहिए। कोई नगर भंग नहीं करना चाहिए। ओछे शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

मावजी के काल में शुद्र वर्ग की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। अस्वास्थ्यकर और घृणित समझे जाने वाले सेवा कार्यों की लक्ष्मण रेखा ने उनके बौद्धिक और शारीरिक सामर्थ्य को बांध दिया था। ऐसी गम्भीर परिस्थितियों में उन्होंने प्रेम व सहिष्णुता, मानवीय अभिगम तथा सर्व धर्म समन्वय की स्थापना करने के लिए निष्कलंक सम्प्रदाय की स्थापना की। उन्होंने हर रूढ़ि, हर आडंबर, हर परम्परागत अनुपयोग रीति पर निर्भयतापूर्वक निर्मम आघात किया। उन्होंने स्पष्ट किया कि आचार, अत्याचार होकर नहीं निभेगा। धन संग्रह नहीं करना। जरूरत से ज्यादा वस्तु का संग्रह नहीं करना। शुद्ध आचरण से जीना। तन,मन एवं वाणी से किसी को दु:ख देने की चेष्टा नहीं करना। किसी की पराधीनता स्वीकारनी नहीं। किसी के प्रति ईर्ष्या नहीं करनी। कन्या से शादी

के बाद उस पराई लड़की को दु:ख नहीं देना। पत्नी को पति व्रत और पति को पत्निव्रत रहना चाहिए। मावजी ने आत्मनियंत्रण पर बल दिया है। विधवा या विधुर को स्वंय पर नियंत्रण रखना चाहिए। व्यक्ति को अपना कर्तव्य पालन करना चाहिए। कभी सुस्ती नहीं रखनी चाहिए। जो हमेशा नियम संयम में रहते हैं। वे दीर्घायु रहते हैं। समय की गति के अनुसार रहना खान-पान अपने योग्य हो।

मर्यादा का कभी उल्लघंन नहीं करना, चोरी नही करना, मद-मांस, अफीम, तम्बाकू एवं अन्य अनेकानेक अभक्ष्य वस्तुओं का सेवन नहीं करना, आपस में लड़ाई झगड़े नहीं करना, जो आँखों देखा है वही कहना, बनावटी बात नहीं कहनी। पाखण्ड आडम्बर से दूर रहना दूसरे के दु:ख को समझना, कभी मांग कर नहीं खाना आदि। वस्तुत: मावजी का प्रादुर्भाव वागड़ प्रदेश के पिछड़ेपन को दूर करने के लिए मानवीय समाज की स्थापना हेतु हुआ था। वास्तविक सत्य को विस्मृत कर पथ भ्रष्ट हुए जनमानस की लम्बी सुषुप्ति से जागृतावस्था में लाकर उचित मार्ग पर अग्रसर होने को प्रेरित करना कोई सरल कार्य नहीं था, किन्तु सत्य की ठोस भूमि पर खेड़े होकर मावजी जैसे महापुरूषों ने इसी सत्य शक्ति के बल पर इतने आत्मविश्वासपूर्ण इस कर्त्तव्य का निर्वहन किया कि तत्कालीन समाज तो इन युग चेतनाओं के सम्मुख नतमस्तक हुआ ही, साथ ही आने वाला प्रत्येक युग उनका ऋणी हो गया। मावजी समाज सुधारक थे जिनकी सामाजिक सुधार की चेतना धाराएँ आज भी प्रवाहित होकर नवजीवन का संदेश दे रही है। मावजी ने वागड़ की भील जनजाति में चेतना का संचार किया। इन्होंने वेणेश्वरधाम को अपना साधना स्थल बनाया और वहीं पर भीलों को उपदेश दिया। इन्हीं की भक्ति का प्रभाव था कि भीलों ने अपनी सामाजिक बुराईयों को दूर किया और वे समाज की मुख्य धारा के निकट पहुंच सके। आज भी संत मावजी को कल्कि भगवान का अवतार मानकर भील जनजाति इन्हें अपना आराध्य देव स्वीकार करती है। इनकी स्मृति में वेणेश्वर धाम में प्रतिवर्ष मेले का आयोजन किया जाता है, जिसे 'आदिवासियों का कुम्भ' कहा जाता है।

***

देवली तहसील के ऐतिहासिक अध्ययन

विशाल कांटिया

देवली तहसील के नगर फोर्ट कस्बे के समीन ही खेड़ा नामक स्थान पर 5000 वर्ष प्राचीन 'खेड़ा सभ्यता' के पुरातात्विक अवशेष प्राप्त हुए हैं खेड़ा नामक इस स्थान पर हजारों वर्ष पूर्व पाषाण युगीन आदिम बस्ती थी। खेड़ा सभ्यता के रूप में बिखरे टिलों के गर्भ में आज भी कलात्मक मूर्तियाँ, विभिन्न रंगों के पत्थर व चूड़िया व अन्य वस्तुए अवशेष के रूप में आज भी दबी पड़ी है।

प्रसिद्ध पुरातत्ववेता जनरल कनिघंम के सहायक पुरातात्विक विद्वान कालाईन ने खेड़ा सभ्यता का सर्वेक्षण किया जहां उन्हें 6000 चांदी के सिक्के प्राप्त हुए हैं। इन सिक्कों पर ब्राहमी लिपि में मालवानालय'' ''जय मालव गणराज्य'' व कई मालव शासकों के नाम अंकित है। सिक्कों की इतनी अधिक मात्रा मिलने से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि प्राचीन काल में खेड़ा मालवों की टकसाल रही होगी। यहां पर 8वीं शताब्दी में निर्मित प्राचीन कलात्मक मूर्तियां भी बहुसंख्यक मात्रा में प्राप्त हुई है। इनमें से अधिकांश मूर्तियां खण्डित हैं प्राचीन खेड़ा स्थल के विषय में मान्यता हैं कि विदेश आक्रमणकारियों व आदिवासी जातियों की बर्बरता के कारण यह प्राचीन नगर उजड़ कर मिट्टी में दब गया। वर्तमान में इस स्थल को पुरातत्व स्थल अधिनियम 1958 के अन्तर्गत राष्ट्रीय महत्व का स्थान घोषित किया जा चुका है।

देवली तहसील का प्राचीन गांव देवली गांव जो मौर्य कालीन बसा हुआ है। इसी देवली गांव में देवले (शिलोलख) अधिक होने के कारण इस गांव का नाम देवली पड़ा। और देवली नगर का नामकरण भी इसी देवली गांव के नाम के आधार पर हुआ हैं राजपूतों के इतिहास वंश भास्कर व वीर विनोद में इस प्राचीन गांव का वर्णन मिलता है।

देवली तहसील का राजमहल ग्राम भी ऐतिहासिक है राजमहल गांव देवली से 12 कि.मी. दूर बनास नदी के किनारे स्थित हैं इस गांव में एक प्राचीन किला है जिसका निर्माण सोलंकी राजपूत शासकों द्वारा करवाया गया था। 16वीं शताब्दी में टोडारायसिंह के राजा रायसिंह का भी राजमहल गांव पर कई वर्षों तक शासन रहा। राजमहल गांव के पास ही बनास डाई व खारी नदियों का संगम होता है। त्रिवेणी नदियों के इसी संगम पर प्राचीन गोकर्णेश्वर बीसलेदव का प्राचीन मन्दिर है। गोकर्णेश्वर मन्दिर प्राचीन भारतीय वास्तुकला की नागर शैली का सर्वोकृष्ट उदाहरण है। इस प्राचीन मन्दिर के विषय में किवदन्ती है कि लंकाधिपति दशानन (रावण) ने यहां पर शिवलिंग की स्थापना की और पत्नी मन्दोदरी के साथ शिव अराधना की थी। वैशाख एवं कार्तिक पूर्णिमा को यहां प्रति वर्ष मेले का आयोजन होता है। जिसमें हजारों श्रद्धालु स्नान करने आते है। जिसका अलग ही धार्मिक महत्व है। प्राकृतिक सुषमायुक्त यह स्थान पर्यटकों एवं प्राकृतिक प्रेमियों के आकर्षण का प्रमुख केन्द्र है।

सन् 1942 में यहां अर्न्तराष्ट्रीय कैदियों को भी रखा गया था इन कैदियों में जर्मनी, जापान, इटेलियन, व जावानीज मुख्य थे। 1.1.1948 को यहां सिन्धी शरणार्थी कैम्प व सन् 1962 में चीनी कैम्प खोला गया जिसमें 3000 चीनीयों को रखा गया। देवली नगर में सन् 1965 में 15 पाकिस्तानी कैदियों को भी रखा गया। सन् 28.5. 1959 को बिनोवा भावे जब देवली आये तो उन्होंने देवली नगर को ''जयप्रकाश नगरी'' कहा था।

भारत में स्वतंत्रता आन्दोलन में देवली के क्रान्तिकारियों का योगदान भी रहा हैं।

जिनमें गोकूल लाल असावा, गोर्वधन मल गोयल, रामस्वरूप कांटिया, व रामलाल सेन, रामचन्द्र गुर्जर हैं जिन्होंने राजस्थानी स्वाधीनता संघर्ष में अपना योगदान देकर देवली नगर का गौरव भी बढ़ाया है। साराक्षत: देवली तहसील अपने ऐतिहासिक व पुरातात्विक ध ार्मिल व सांस्कृतिक महत्व के स्थलों की वजह से महत्वपूर्ण है किन्तु तहसील क्षेत्र की ये सांस्कृतिक ऐतिहासिक, व कलात्मक धरोहर संरक्षण के अभाव में अपना अस्तित्व खो रही है। अत: इन्हें संरक्षण प्रदान कर इनके अस्तित्व को चिरकाल तक सुरक्षित बनाये रखा जा सकता है।

❊ ❊ ❊

मारवाड़ में शकुन परम्परा

निशा

शकुन क्या है तथा मध्यकालीन मारवाड़ के राठौड़ राजाओं में इनका क्या सम्बन्ध है? शकुन परम्परा के सम्पोषक कौन थे तथा राठौड़ इतिहास एवं राजनीति पर इनका प्रभाव पड़ा था, आदि समाज गहन शोध का विषय है। अत: मैने इन्हीं सवालों को ध्यान में रखकर मध्यकालीन शाही राठौड़ जीवन, राजनीति और प्रशासन पर शकुन प्रभाव को जानने का प्रयास किया है। मेरा यह शोध पत्र मारवाड़ में राठौड़ राज्य संकल्पना संस्थापक राव चूण्डा (1383-1423 ई.) से आरम्भ होकर महाराजा मानसिंह (1803-43 ई.) पर जाकर समाप्त होता है।

मारवाड़ी जनमानस में शकुन देखने की परम्परा इतनी ज्यादा प्रचलित है, कि वे घर से बाहर निकलते समय, अच्छा कार्य, कृषि, विवाह, जन्म-मृत्यु आदि सभी कार्यों पर पशु-पक्षियों से लेकर आँख के फड़कने तक से शकुन या घटना का अंदेशा लगाते है। जैसे पुरूष की दाहिनी और स्त्री की बाँयी आँख फड़कना शुभ समझा जाता था। इस प्रकार मारवाड़ी जनसमाज प्रत्येक त्यौहार पर अदा की जाने वाली अनेक-विधियों के माध्यम से शकुन निकालते थे। शकुन मारवाड़ी जनसमाज के दैनिक जीवन का अंग बन गए थे। जिसकी परिपाटी आज तक मारवाड़ी जन समाज में प्रचलित हैं।

अत: कहा जा सकता है कि, शकुन राठौड़ राजाओं के जीवन का अहम अंग बन गए थे। राठौड़ राजाओं ने शकुन के ज्ञाता और संरक्षक बनकर इनको महत्व प्रदान किया था। राठौड़ राजा शकुन निकलवाकर प्रत्येक कार्य करते थे, जिसके कारण कार्य के शुभ-अशुभ परिणामों का अंदाजा लगाया जाता था। शकुनों के बढ़ते राजशी प्रचलन कारण जन-समाज तक ने इनको अपना लिया था। राजाओं के तरह मारवाड़ी लोग भी त्यौहार से लेकर दैनिक कार्यों तक का शकुन निकालते थे।

❊ ❊ ❊

नीमकाथाना में निम्बार्क सम्प्रदाय की छत्तरी के भित्ति चित्र

मनीषा वर्मा

सीकर जिले की नीमकाथाना तहसील के छावनी कस्बे में स्थित छोटी जमात राधावल्लभीय निम्बार्क सम्प्रदाय के साधु सन्यासियों द्वारा बसाया गया था। यह निम्बार्क सम्प्रदाय का प्रमुख केन्द्र था। निम्बार्क सम्प्रदाय के नाम से ही नीमकाथाना कस्बे का नाम नीमकाथाना पड़ा। इसी सम्प्रदाय की ऐतिहासिक छतरी छोटी जमात में स्थित है। इस छतरी का निर्माण कार्य वि.सं. 1846, माह भाद्रपद सुदि दोज, मंगलवार को निमोद गांव के कारीगरों द्वारा किया गया। छतरी का निर्माण एक अष्टभुजकार चबूतरे पर 8 स्तम्भों की सहायता से किया गया है। चबूतरे के ऊपर संगमरमर के आयताकार पत्थर के पदचिन्ह (पगल्ये) स्थापित किये गये है। छतरी के गुम्बद के शीर्ष पर पीतल का आमलक कलश स्थापित किया गया। छतरी के आन्तरिक भागों पर सुन्दर चित्रण किया गया है। चित्र रामायण व महाभारत के महाकाव्यों पर आधारित है। चित्रों के माध्यम से रामायण व महाभारत की विभिन्न कथाओं को रोचकता व सुन्दरता के साथ दर्शाया गया है। मुख्य रूप से यहां युद्ध का चित्रण किया गया है।

राम और रावण को युद्ध के मैदान में आमने-सामने अपनी-अपनी सेना के साथ युद्धरत चित्रित किया गया है। राम की सेना में स्वयं राम, लक्ष्मण, अंगद, सुग्रीव, जामवंत को रावण की सेना पर तीर चलाते हुए चित्रित किया गया है। राम, लक्ष्मण के समीप हनुमान को हाथों में एक ध्वजा लेकर एक घुटने के बल नीचे बैठे हुए चित्रित किया गया है। सेना में अग्रिम पंक्ति में पैदल वानर सैनिकों को युद्ध लड़ते हुए चित्रित किया गया है तथा इनके पीछे राम, लक्ष्मण, अंगद को तीर चलाते हुए दर्शाया गया है। कुछ वानर सैनिकों को मनुष्य रूप में गदा लेकर युद्ध करते हुए चित्रित किया गया है। बहुत से वानर सैनिकों को निहत्थे दुश्मनों पर हमला करते हुए दिखाया गया है।

कृष्ण-शिशुपाल युद्ध दृश्य-इस दृश्य में एक भव्य चार मंजिले महल का चित्रण किया गया है। महल में कुछ महिलाओं को सेना की ओर देखते हुए इस तरह से चित्रित किया गया है मानो किसी का इंतजार कर रही हो। इस महल के ऊपर कुणनपुर लिखा हुआ है। कुणनपुर (कुण्डिनपुर) नगरी का उल्लेख हमें महाभारत से प्राप्त होता है। कृष्ण की पत्नी रुक्मणी कुणनपुर नगरी की वासी थी। रुक्मणी का भाई रुक्मणी का विवाह शिशुपाल से करना चाहता था। इसलिए रुक्मणी से विवाह करने हेतु कृष्ण को शिशुपाल से युद्ध करना पड़ा था। इस युद्ध के लिए प्रस्थान करती हुई सेना का चित्रण किया गया है। इस महल के बाहर एक भारी-भरकम सेना का जमावड़ा है। ये सेना पूरे

लवाजमे हाथी, घोड़ों, ऊंट, बैलगाड़ी, बग्गियों, पदातियों के साथ चित्रित की गयी है। सेना में देवताओं को अपने वाहनों के साथ चित्रित किया गया है। यहां देवराज इन्द्र को अपने वाहन तीन सूण्ड वाले ऐरावत हाथी पर बैठे हुए चित्रित किया गया है। शनिदेव को हाथी पर विराजमान दर्शाया गया है। इनके एक हाथ में चक्र चित्रित किया गया है। हनुमान को उड़ते हुए चित्रित किया गया है। इनके एक हाथ में कंधे के सहारे रखी हुई गदा व दूसरे हाथ में एक छोटा मंदिर चित्रित किया गया है। जिस पर पताका लहरा रही है। गणेश को बग्गी पर, कार्तिकेय को अपने वाहन मयूर पर, महादेव के नंदी पर विराजमान दर्शाया गया है, महादेव के एक हाथ में त्रिशूल दिखायी गई है। दुर्गा को बाघ पर, ब्रह्मा को हंस पर, कृष्ण को रथ पर बैठे हुए दर्शाया गया है। कृष्ण के एक हाथ में सुदर्शन चक्र दर्शाया गया है।

कृष्ण रासलीला का चित्रण - छतरी के भीतर मध्य भाग में सफेद रंग की पृष्ठभूमि पर एक बड़े आकार के फूल चित्रण किया गया है। इसके चारों ओर वृत्ताकार घेरे में कृष्ण को गोपियों के साथ रास रचाते हुए चित्रित किया गया है। इस घेरे में क्रमानुसार कृष्ण, गोपियों को एक के बाद एक, हाथ पकड़ कर घेरा बनाकर नृत्य करते हुए चित्रित किया गया है। गोपियों को घेरदार लहंगा, ओढ़नी, कांचली पहने हुए चित्रित किया गया है। इन्हें गले में हार, लम्बी माला, कानों में झुमके, हाथों में बाजूबंद व चूड़ियां, पैरों में पायल पहने हुए दर्शाया गया है। कृष्ण को लम्बी आस्तीन का लम्बा घेरदार जामा पहने, कंधों पर दुपट्टा डाले हुए चित्रित किया गया है। इन्हें सिर पर मुकुट, गले में लम्बी माला, हाथों में बाजूबंद, पैरों में पायल पहने हुए चित्रित किया गया है।

कालिया मर्दन - इस दृश्य में नदी को दर्शाने के लिये नीले रंग की पृष्ठभूमि चित्रित की गयी है। काले व सफेद रंग से पांच फनों वाले नाग कालिया का चित्रण किया गया है। इस नाग के फनों के ऊपर खड़े होकर कृष्ण को बांसुरी बजाते हुए चित्रित किया गया है। कृष्ण का चित्रण अपेक्षाकृत छोटे रूप में किया गया है। इस नाग के दोनों ओर दो-दो नागिनों को हाथ जोड़कर कृष्ण से नाग को क्षमा करने की विनती करते हुए चित्रित किया गया है। इनके शरीर का कमर से ऊपर का भाग स्त्री के रूप में व नीचे का भाग नाग के रूप में चित्रित किया गया है। इन सभी को पूंछ के बल खड़े हुए चित्रित किया गया है। कल्कि अवतार, वराह अवतार, लक्ष्मी-विष्णु का चित्रण, नरसिंह अवतार, राम दरबार, ढोला-मारू का चित्रण, तमाशे का चित्रण इत्यादि चित्रों को चित्रित किया गया है।

राजदरबार, सामान्य जन जीवन से सम्बन्धित चित्रों का चित्रण (जैसे गाय का दुग्ध निकालती महिलायें आपस में वार्तालाप करते महिला-पुरुष, मनोरंजन करते हुए लोग) किया गया है। पशु-पक्षियों में हाथी का चित्रण व्यापक रूप में दिखायी देता है। इसके साथ ही ऊंट, घोड़ों, मोर, तोतों, कबूतरों का सुन्दर चित्रण भी यहां बहुतायत से

किया गया है। ढोला-मारू, हीर-रांझा से सम्बन्धित चित्र चित्रित किये गये हैं। स्त्री-पुरुषों के वस्त्र व आभूषणों पर स्थानीय व आधुनिक प्रभाव दिखायी देता है। यहां अर्द्धचन्द्राकार मेहराबों का चित्रण किया गया है। लेकिन कई जगह मुगल शैली से प्रभावित ढलवा मेहराबों का चित्रण भी दिखायी देता है। इस छतरी में प्रमुख रूप से हल्के, गहरे नीले, हरे, काले, भूरे, हल्के पीले, गेरूएं (हिरमिच) रंग का प्रयोग बहुतायत से किया गया है। वर्तमान समय में इस छतरी के चित्र तुलनात्मक रूप से धुंधले पड़ गये हैं, फिर भी भीतरी भाग सुरक्षित है। छतरी के बाहरी भागों पर रंग पेंट किया जा चुका है।

❊ ❊ ❊

मध्यकालीन राजस्थान के संत और सामाजिक चेतना : एक समसामयिक विश्लेषण

डॉ. विष्णु प्रसाद शर्मा

सामाजिक मूल्यों में गिरावट वर्तमान की वैश्विक समस्या के रूप में उभर रही है। आये दिन इलेक्ट्रोनिक एवं प्रिन्ट मीडिया से खबरे आती रहती है कि आज फलां-फलां क्षेत्र, कस्बा, शहर, प्रदेश, देश या देश के अन्यत्र नरसंहार, लूट-पाट, दुष्कर्म जैसी अमानवीय घटनाएं घटित हुई है। इस प्रश्न पर हमें गम्भीरता से विचार करना चाहिए कि इसके मूल में क्या है? क्या ऐसा पहले भी होता रहा है या वर्तमान में ही हो रहा है? मेरा मानना है कि सभी युगों में अमानवीय घटनाएँ घटित होती रही हैं परन्तु इसमें बढ़ोतरी सामाजिक मूल्यों में गिरावट को दर्शाती है। मध्यकाल में भारत को विदेशी आक्रान्ताओं ने रौंदा जिसके कारण भारतीय जनमानस में निराशा एवं हताशा का भाव पैदा होने लगा। इस स्थिति से निपटने के लिए समाज के संवेदनशील एवं दूरदृष्टि रखने वाले महापुरूष आगे आये और उन्होंने लोगों को दिशा प्रदान की। इस आंदोलन में राजस्थान भी पीछे नहीं रहा और अनेक संतों जैसे- जाम्भोजी, रामदेवजी, चरणदासजी, गोगाजी, तेजाजी, हड़भूजी, देवजी, मीराबाई, ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती, रज्जबजी, सुन्दरदासजी, पीपाजी, धन्नाजी, रैदासजी, दादूजी एवं अनेक जैन आचार्यों ने सांस्कृतिक एवं सामाजिक मूल्यों की रक्षा तथा पुनर्स्थापना करने में अहम योगदान दिया।

मध्यकालीन संतों के कृतित्व के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि धर्म एवं आध्यात्मिकता यर्थात आधारित है। अर्थात कार्य-कारण का पालन करती है। कार्य-कारण संबंधों के कारण ही धर्म एवं आध्यात्मिकता से विज्ञान से साम्य स्थापित किया जाता है। संतों के व्यक्तित्व में सादगी, तार्किकता, सांसारिक अनासक्ति एवं लोक कल्याण की भावना ही लोकमानस को आकर्षित करती है। इसी का परिणाम है कि मध्यकाल में न केवल पुरूषों अपितु स्त्री संतों ने भी लोगों को प्रभावित किया। परन्तु 21 वीं शताब्दी में

संत समुदाय पर प्रश्न चिन्ह उठ रहे हैं जो निंदनीय है। संत समुदाय के लोगों को ही अपने समाज में आ रहे दोषों के खिलाफ आवाज उठानी चाहिए ताकि कालांतर में समाज एवं संत समुदाय के मध्य विश्वास कायम हो सके।

❊ ❊ ❊

जयपुर रियासत में रेल परिवहन सेवा का सामाजिक व आर्थिक प्रभाव

शिव प्रसाद कुण्डारिया

जयपुर रियासत में रेल का विकास एक महत्वपूर्ण युग था, जिसके फलस्वरूप जयपुर रियासत को विकास के पथ पर एक नई दिशा प्रदान हुई। रेल परिवहन की स्थापना के परिणामस्वरूप कई स्थानों पर जन सामान्य की स्वास्थ्य तथा शैक्षिक समस्याओं को दूर करने हेते रेलवे द्वारा रेलवे अस्पताल तथा रेलवे स्कूलों की स्थापना की गई, लोगों को मुफ्त इलाज तथा शिक्षा मिलने के परिणाम स्वरूप लोगों का सामाजिक स्तर सुधरने लगा। बीमारियों के प्रति जो अंधविश्वास तथा मानसिक संकीर्णताएं थी वे दूर हुई। लोगों में स्वास्थ्य सम्बन्धी सुधार होने से औसत आयु में वृद्धि हुई। विद्यालयों की स्थापना से शैक्षिक जागृति उत्पन्न हुई। परिणामस्वरूप सामाजिक वैचारिक बंधन टूटने लगे।

रेल परिवहन के प्रारम्भ होने से सैकड़ों किलोमीटर की दूरियां जो कई दिनों में तय हो पाती थी अब शीघ्र तय होने लगी जिससे लोगों को आवागमन कम समय में होने लगा। लोगों के आपसी मेल विचार अभिव्यक्ति बढ़ने तथा अपने विचार एक दूसरे के साथ बांटने से विचारों की स्वतंत्रता पर लगे पूर्ण विराम को हटने का अवसर प्रदान हुआ। इस प्रकार रेल परिवहन की स्थापना के फलस्वरूप जयपुर रियासत में सामाजिक स्थिति जो कि विकृत अवस्था में ही अब उसमें सुधार होने लगा फलस्वरूप लोगों की सामाजिक दशा सुधरने लगी।

खनिज उत्पादक के लिये जयपुर रियासत प्रसिद्ध रही है। खेतड़ी और सिंधाना में तांबा, बवाई में निकल और कोबाल्ट, करवट (हिण्डौन) में लौहा पाया जाता था, भूरा संगमरमर रेवाल (अलवर), काला संगमरमर कोटपूतली में पाया जाती थी। इन्हीं खनिज भण्डारों का निर्यात रेल परिवहन द्वारा सुगम बन सका। फलस्वरूप राज्य की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ हुई, जयपुर रियासत में निकलने वाले संगमरमर पर आधारित मूर्तिकला उद्योग, शिल्प कला उद्योग जयपुर की अलग पहचान थी, रेल परिवहन द्वारा इसके व्यापार वाणिज्य को बढ़ावा मिला जिससे राज्य की आय में वृद्धि हुई। जयपुर रियासत में रेल परिवहन का विकास तथा कच्चे माल की उपलब्धता के फलस्वरूप यहां कारखाने

स्थापित किये गये। खनिज पदार्थ राज्य की आय का तो एक साधन थे लेकिन साथ ही इनका उपयोग विज्ञान व तकनीकी हेतु भी किया गया। जयपुर रियासत की लोहे की खानों से रेल उद्योग को बढ़ावा मिला, पटरियां तथा डिब्बे अब लौहे से बनने लगे। इन सब के उपरान्त भी रेल परिवहन के विकास के फलस्वरूप कच्चा माल के आयात व निर्यात होने से व्यापारियों ने राज्य में व्यापार हेतु पूंजी निवेश किया जिससे धीरे-धीरे उद्योगों के विकास की दिशा बदलने लगी। 19वीं शताब्दी के अंत तक जयपुर व अन्य रियासतों में कपास, ऊन कातने के कई कारखाने स्थापित हुये फलस्वरूप राज्य की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ हुई।

❊ ❊ ❊

मेवाड़ की चित्रांकन परम्परा में 'प्रतीक' संयोजन

डॉ. जयश्री रावल

कला का एक आवश्यक पक्ष है, 'प्रतीक'। कलाकार अपनी कृतियों में दो प्रकार से कला को उद्घाटित करता है, एक वास्तविक रूप में और दूसरा काल्पनिक रूप में। किसी वस्तु या घटना का वास्तविक रूप में चित्रांकन नहीं हो पाता तो कलाकार उन्हें संकेतों या प्रतीकों के माध्यम से प्रकट करता है। कलाकार द्वारा सृजित प्रतीक मानव की कल्पना शक्ति का बोध तो करवाते ही हैं साथ ही मानवीय आकांक्षाओं इच्छाओं, आदर्शों आदि का ज्ञान भी होता है। अनुभूति को सीधे प्रकट करने में अभिव्यक्ति अधिक संप्रेषण, समर्थ, सुन्दर और चमत्कार पूर्ण होती है। प्रतीक को अमूर्त वस्तु का मूर्त चिह्न कहा जा सकता है। वह मानवीय अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने का समर्थ माध्यम है।

वेबस्टर्स न्यू ट्वंटिथ सेन्चुरी डिक्शनरी में 'प्रतीक' को कुछ इस प्रकार पारिभाषित किया गया है-प्रतीक एक संकेत है जिसके द्वारा एक व्यक्ति कुछ निष्कर्ष निकालता है। प्रतीक कोई वस्तु है जो कि किसी अन्य वस्तु के लिए या उसके प्रतिनिधि के रूप में प्रयुक्त होती है, विशेष रूप से यह एक वस्तु है जो किसी अमूर्त वस्तु का प्रतिनिधित्व करती है। मॉरिस के अनुसार प्रतीक वह चिह्न है जो इसके निर्वचक के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है जो किसी अन्य चिह्न का जिसका कि वह पर्याय है, का प्रतिस्थापना करता है। विलियम यार्क के कथनानुसार प्रतीक किसी अनुभूति या विचार या दोनों का सूचक बाह्य हो सकते हैं। कला के प्रतीकात्मक या सांकेतिक रूप सरलीकरण, विकृतीकरण, स्थानापन्नीकरण है। प्रतीक मूलत: दो प्रकार के हैं-एक व्यक्ति या कलाकार की अपनी अनुभूतियों एवं भावनाओं के अनुरूप गढ़े हुए या निर्मित प्रतीक और दूसरे परम्परागत प्रतीक।

मेवाड़ की कलाकृतियों में कलाकार ने जीवन को अनन्त सुख की साधना के रूप में स्वीकार कर उसे संयमित साधन के रूप में जीया भी है। फलत: उससे 'भक्ति'

एवं प्रणय के नवीन स्रोत उजागर हुए हैं और कलाकार मेवाड़ के जनजीवन के विविध भावावेशों को अपनी कृतियों में अवतरित करता रहा। मेवाड़ की संस्कृति एवं सामान्य जन जीवन के विविध क्रिया कलापों को आकर्षक व सजीव चित्रण यहां की कला में स्पष्ट परिलक्षित होता है। धार्मिक एवं सामाजिक प्रेरणाओं के माध्यम से जन सामान्य के अभयन्तर भावों को प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करने में यहां की कलाकृतियां सफल हुई हैं। मेवाड़ की चित्रांकन परम्परा में मानवीय और दैविक तत्वों के मध्य जो सम्बन्ध व्यवहार दृष्टिगत होता है वही कला की आत्मा है और वह अपनी अभिव्यक्ति में लक्षण, प्रतीक और बिम्बों का सहारा लेती है। मेवाड़ की चित्रांकन परम्परा में रूपांकित सामान्य जन जीवन के विविध रूप, वेशभूषा, आभूषण एवं अन्य प्राकृतिक उपादान यहां के लोक जीवन के प्रति घनिष्ठ सामीप्य एवं सान्निध्य को उजागर करते हैं।

❊ ❊ ❊

बीकानेर में स्थित सोलहवीं शताब्दी का नमिनाथ जैन मंदिर - एक परिचय

डॉ. राजेश पंवार

बीकानेर के संस्थापक राव बीका जोधपुर के राव जोधा के पुत्र थे। राव बीका ने अपने कुछ साथियों के साथ जांगल प्रदेश की ओर नये राज्य की स्थापना हेतु प्रस्थान किया। उस समय जांगल प्रदेश में लगभग 2364 गांव थे, जिनका आपस में विवाद बना रहता था। इस क्षेत्र की परिस्थितियों ने राव बीका को अपनी ओर आकृष्ट किया।

राव बीका द्वारा स्थापित दुर्ग के दायें तरफ करीब 15 मी. की दूरी पर नमिनाथ मंदिर अवस्थित है, इस मंदिर की लम्बाई चौड़ाई क्रमश: 80 फीट एवं 30 फीट है। इस मंदिर का निर्माण कार्य संवत् 1556 में मंत्रीश्वर वत्सराज के पुत्र दीवान कर्मसिंह ने आरम्भ करवाया। सं. 1570 में यह मंदिर बनकर तैयार हुआ, इसमें जिनेश्वर देव की प्रतिष्ठा की गयी। इस मंदिर पर दो बार विदेशी हमले हुए, पहला हमला मुगल वंश के कामरान ने सं. 1591 में किया और यहां की जैन मूर्तियों को खंडित कर दिया।

मंदिर का निर्माण जैसलमेरी पत्थरों से किया गया है, मंदिर के बाहर एवं भीतर में पत्थर का बेहद बारीक काम किया गया है। मंदिर में गर्भगृह को अष्टाकार स्वरूप में बनाया गया है। मंदिर के गर्भगृह में संगमरमर की मूर्तियां विराजित हैं, गर्भगृह में हवा एवं प्रकाश की समुचित व्यवस्था हेतु दो झरोखे भी बनवाये गये हैं। गर्भगृह के प्रवेश द्वार को गुजराती कला शैली के प्रस्तर से बनवाया गया है। इस प्रवेश द्वार पर जैन तीर्थंकरों के अलावा यक्ष-यक्षिणी की मूर्तियां भी बनायी गयी है। प्रवेश द्वार पर बहुत बारीक काम किया गया है, मंदिर के गुम्बद के भीतर भगवान महावीर के जीवन से सम्बन्धित 16

सुन्दर चित्र बनाये गये हैं। जिनमें महावीर स्वामी के जन्म से निर्वाण तक की यात्रा बतायी गयी है। मंदिर का मुख्य द्वार पूर्वाभिमुखी है। इसके अलावा दो अन्य द्वार भी है जो क्रमश: उत्तर एवं दक्षिण दिशा की ओर खुलते हैं। मंदिर के भीतर पत्थर के खम्भों पर बहुत ही बढ़िया कलाकारी देखने को मिलती है। मंदिर में भोमिया जी की मूर्ति भी है, इस मूर्ति के पीछे मान्यता है कि यह स्वयं कर्मसिंह बच्छावत की मूर्ति है, जो यहां भोमिया जी बनकर मंदिर की रक्षा करते हैं। इस मंदिर के पास ही प्राचीन भांडाशाह मंदिर, लक्ष्मीनारायण मंदिर एवं बीकाजी की टेकरी (समाधि स्थल) अवस्थित है। भांडाशाह मंदिर का निर्माण कार्य सं. 1525 में शुरू हुआ था, इसका निर्माण कार्य सं. 1571 में पूर्ण हुआ, इसे त्रिलोक्यदीपक प्रासाद भी कहा जाता है। यह मंदिर नमिनाथ मंदिर से भी प्राचीन है। इसके अलावा लक्ष्मीनारायण भगवान का मंदिर भी पास ही स्थित है जो कि राव बीका ने बनवाया था। ये मंदिर भी नमिनाथ मंदिर से प्राचीन है। रातीघाटी के नीचे की तरफ बीकाजी की टेकरी है, जहां पर बीकानेर के प्रारम्भिक चार राजाओं की समाधियां बनी हुई हैं। सं. 1598 में मालदेव के सैनिकों ने इसे पुन: क्षतिग्रस्त किया, परन्तु इसमें मूलनायक प्रतिमा को कोई हानि नहीं पहुंची। मंदिर का मुख्य द्वारा पूर्वाभिमुखी हैं। इसके अलावा दो अन्य द्वार भी हैं जो क्रमश: उत्तर एवं दक्षिण दिशा की ओर खुले हैं। मंदिर में यक्ष-यक्षिणी की मूर्तियों के अलावा शुभ एवं लाभ प्रदान करने के लिए संकेत रूपक कई मूर्तियां देखने की मिलती हैं। जिनमें आजानबाहु यक्ष मूर्ति प्रमुख है।

❊ ❊ ❊

सांभर के संस्कृत स्त्रोत

रिंकू जैन

राजस्थान में सांभर का पुरातात्विक दृष्टि से राजस्थान का ही नहीं पूरे देश का प्राचीन एवं बेजोड़ कस्बा है। सांभर का इतिहास वर्षों का है क्योंकि यह बहुत प्राचीन स्थान है द्वापर एवं त्रेता युग से पूर्व असुरकुलगुरू शुक्राचार्य की यह तप:स्थली भी रह चुकी है। सांतवी-आठवीं शताब्दी में पृथ्वीराज चौहान के लगभग आठ पीढ़ी पूर्व के माणिक्यलाल नामक चौहान वंशीय राजा ने शाकम्भरी देवी के आदेश से इस नगरी की 'शाकम्भर' नाम से नींव रखी उसका ही अपभ्रंश रूप सांभर वर्तमान में प्रचलित है। जिसे वीरपुंगव 'पृथ्वीराज चौहान' की राजधानी प्राप्त होने का गौरव प्राप्त है। सांभर के 5 किलोमीटर उत्तर में सांभर दूदू सड़क पर नलियासर के भूगर्भ से प्राप्त प्राचीन सिक्कों, प्रतिमाओं तथा अवशेषों से जो निष्कर्ष निकाला गया है, उसके अनुसार यह स्थल 'तीसरी शताब्दी' में पूरी तरह व्यवस्थित था। उस समय भी यह घनी आबादी का कस्बा था और व्यापारिक लेन-देन, कला-कौशल तथा चहल-पहल के लिए विख्यात था।

सांभर नगरी का वर्तमान स्वरूप प्राचीन काल से लेकर इतिहास की क्रमिक अवस्थाओं में चतुर्थ क्रम का द्योतक है अर्थात् देवासुर संग्राम के समय पौराणिक काल में यह नगर 'देवनगर' था जहां असुरगुरू शुक्राचार्य का आश्रम था। उसके पश्चात् यह 'नलियासर' तत्पश्चात् 'शाकम्भर' और फिर 'सांभर' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। बिजोलिया प्रशिस्ति के अनुसार- वि.सं. 1226 बिजौलिया प्रशस्ति में चहमानों के आदिपुरूष का नाम 'वासुदेव' मिलता है। यह सांभर झील का प्रर्वत्तक था। इसके वंश में सामन्त नामक राजा सांभर का शासनकर्त्ता हुआ था।

❊ ❊ ❊

पर्यटन के क्षेत्र में नागौर के मेलों एवं दर्शनीय स्थलों का योगदान

संतोष कुमार

भौगोलिक दृष्टि से यह राज्य प्राकृतिक सम्पदा से परिपूर्ण्ज्ञ एवं प्रकृति के उपहारों से सुसज्जित रहा है, किन्तु इतना होते हुए भी जब भारत के विकसित राज्यों की गणना की जाती है, तब राजस्थान का नाम कहीं पीछे छूट जाता है। इस राज्य ने कई घटनाओं का देखा है। यह क्षेत्र पर्यटकों के लिए स्वर्ग है। यहाँ अनेक हवेलियाँ और महल है। साथ ही मैले-त्यौहार व उत्सव मनाये जाते है।

नागौर जिले के प्रमुख स्थल यथा-ब्रह्मणी माता, बंशीवाले का मंदिर, लोहारपुरा बड़ेपीर की दरगाह, सुल्तानुत्तारकीन की दरगाह, खींवसर मून्दियाड, जायल, मूण्डवा, लाखोलाव तालाब, मूण्डवा, डेगाना, डीडवाना, पाडामाता (डीडवाना) आदि हैं।

भारत में मेलों और त्यौहारों की प्राचीन परम्परा रही है। विदेशी पर्यटक इन्हें देखने को लालायित रहते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय पर्यटन वर्ष में इनका आयोजन पर्यटकों के रूप में आकर्षक रहा है। जनता का आथित्य और शिष्टता पर्यटकों को आकर्षित करती है। इस प्रकार भारत में पर्यटन का महत्व बहुत है एवं विकास भी बहुत हो रहा है। किसी भी राज्य के आर्थिक विकास में पर्यटन की महत्वपूर्ण आवश्यकता है। पर्यटन के उस क्षेत्र की कला एवं परम्पराओं का सम्पूर्ण विश्व में प्रचार होता है। यहां सामाजिक तथा धार्मिक स्थल यथा किले, मस्जिद, दरगाह, मंदिर, झीले व बावड़ियाँ हैं जो स्थापत्य कला के महत्व को बताते है। मेले एवं त्यौहार हमारी भावनाओं को जगाते हैं और जीवन में उमंग में उत्साह का संचार करते हैं। विश्व में मेलों एवं त्यौहारों का अभिप्राय एक ही है। सामूहिक रूप से जीवन की उमंग और उल्लास की अभिव्यक्ति। मेलों और त्यौहारों से सांस्कृतिक एकता, सामाजिक सद्भाव को बढ़ावा मिलता है।

❊ ❊ ❊

भील आदिवासी के मुख्य पर्व एवं मूल्यांकन

कालूराम मीणा

भारत में भील जनजाति का निवास स्थान मध्यप्रदेश, गुजरात में होने के साथ-साथ राजस्थान राज्य में भी है। जहां के दक्षिणी राजस्थान में फैली हुई अरावली पर्वतमालाओं में स्थापित वन सम्पदा आज भी भील संस्कृति को संरक्षण प्रदान कर रही है। मुख्तया उदयपुर, बांसवाड़ा, डूंगरपुर इत्यादि जिलों में पाये जाते है।

खेतरपाल की पूजा - खेत के प्रहरी-देवता खेतरपाल की पूजा से भीलों की दीवाले की शुरूआत होती है। खेत तथा खेत में इनकी आठों प्रहर रक्षा करने वाले देवता को ये 'खेतरपाल' कहकर बड़ी श्रद्धा और आस्था के साथ पुकारते है।

मटकी फोड़ना - खेतरपाल की अर्चना के पूर्व दिवाली के प्रत्ययूष प्रहर में भील अमंगलों के परिहारे की एक खास रस्म पूरी करते है। (ढोरों के आने-जाने के लिये बना मार्ग) में बोड़ग्या (मटकी) फोड़ते है। मान्यता है कि इस प्रकार करने से ये भूत-प्रेत की सम्पूर्ण बाधाओं से मुक्त हो जाते है।

मवेशी की पूजा - मवेशी की पूजा भील कृषक के जीवन की प्रमुख दिवाली है। इस अवसर पर ये गाय-बैलों के ललाट पर उसके ठीक बीचो बीच कुंकम का तिलक लगाते हैं दीपक से उनकी आरती करते है। जो खुद खाते है, और इन्हें खिलाते है। चोखा, थूली, रोटी, पुऐ आदि इस दिन घर के सभी पशुओं को बड़े स्नेह-पूर्वक खिलाये जाते है। इनकी मान्यता है कि पूजा करने से बैल शीत के आतंक से कम से कम एक मौसम के लिये सुरक्षित हो जाते है।

भील भारत में बड़ी दूर-दूर तक क्षेत्रों में बिखरे हुए है। इनके रहन-सहन, रीति-रिवाज और खान-पान पर महाराष्ट्रीय और राजपूती संस्कृतियों की स्पष्ट झलक है। इस सांस्कृतिक सम्मिश्रण से उत्तर और दक्षिण में एकता स्थापित हुई है तथा एक प्रकार के जीवत तथा उदारवादी सामाजिक सम्बन्धों की स्थापना सम्भव हुई है। भीलों के उत्सव एवं त्यौहार इनकी आस्थाओं, विश्वासों एवं परम्पराओं के परिचायक है। भील लोग इनके माध्यम से अपने देवी-देवताओं के प्रति आस्था व श्रद्धा व्यक्त करते हुए प्रसन्नता का अनुभव करते है। भीलों का धार्मिक जीवन इनकी आस्था एवं विश्वासों से प्रकट होता है, इनके देवरे बहुत कलात्मक होते है। गांव के बाहर भील अपने पूर्वजों की मूर्तियाँ स्थापित करते है। ये काफी कलात्मक होती है। सर्वाधिक प्रचलित रूप मिट्टी से बनी मूतियों का है।

❊ ❊ ❊

राजस्थान में सामन्ती व्यवस्था : एक ऐतिहासिक अध्ययन

अजीत सिंह चौधरी

कर्नल टॉड ने राजस्थान की सामन्ती व्यवस्था की तुलना मध्ययुगीन यूरोपीय सामन्त पद्धति से की है। इस संदर्भ में डॉ. गोपीनाथ शर्मा ने लिखा है कि ''इसमें कोई सन्देह नहीं कि यहां की सामन्त पद्धति और यूरोप की सामन्त प्रणाली में कई साम्यता है, परन्तु राजस्थानी सामन्त प्रथा एक प्रकार की सामाजिक राजनीतिक व्यवस्था का रूप है, जिसमें नेता के रूप में एक राजा रहता है और उसके साथ उसी के वंशज या अन्य जाति के वंशज उसके साथी और सहयोगी बने रहते हैं। यूरोप में एक स्वामी के साथी आश्रित के रूप में रहते थे, जिनकी स्वतंत्र कोई स्थिति नहीं थी। यहां एक प्रकार से राजा के सामन्त उसी या समकक्ष वंश के होने से राज्य में बराबर के हिस्सेदार होते थे।

मुगल सत्ता के संरक्षण का राजपूत शासकों और उनके सामन्तों के आपसी सम्बन्धों पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। मुगलों का प्रश्रय मिलने से सामन्तों के महत्व में कमी आ गई और राजपूत राजाओं ने भी मुगल सम्राट का अनुकरण करते हुए सामन्तों को नियंत्रित करने के प्रयास किए। मुगलों की मनसबदारी प्रथा से प्रेरणा लेकर राजपूत राजाओं ने भी अपने सामन्तों को पद और प्रतिष्ठा के आधार पर विभिन्न श्रेणियों में विभाजित कर दिया। श्रेणियों के आधार पर ही सामन्तों का दरबार में सम्मान, स्थिति, बैठने का स्थान, पेशकश, ताजीम (राजा द्वारा स्वागत) आदि निश्चित होते थे। मारवाड़ में सामन्तों की चार श्रेणियां थी-राजवी, सरदार, मुत्सद्दी और गनायत। राजा के छोटे भाई व निकट सम्बन्धी, राजवी कहलाते थे। उन्हें तीन पीढ़ी तक रेख, चाकरी, हुक्मनामा आदि की रकम राज्य खजाने में जमा नहीं करवानी पड़ती थी। सरदारों की भी चार श्रेणियां थी, जिनमें सिरायत प्रथम थे। सिरायत सरदार दायीं मिसल (रणमल के वंशज) और बायीं मिसल (जोधा के वंशज) में विभाजित थे। सिरायत के सरदारों को दोहरी ताजीम प्राप्त थी अर्थात् जब सरदार राजा के समक्ष उपस्थित होता था तब उसकी उपस्थिति के और प्रस्थान करते समय महाराजा खड़े होकर उसका अभिवादन ग्रहण करते थे। राज्य प्रशासन में कार्य करने के एवज में प्राप्त जागीर के अधिकारी मुत्सद्दी सामन्त थे। गनायत राठौड़ों का राज्य स्थापित होने से पहले से ही मारवाड़ के किसी क्षेत्र के स्वामी थे, जिन्होंने राजा की अधीनता स्वीकार कर ली थी। ऐसे ठिकाने भाटी, कच्छावा, हाड़ा, चौहान, सिसोदिया, तंवर, जाड़ेचा, झाला आदि राजपूतों के थे। मारवाड़ में नये राजा का राजतिलक करने का अधिकार बगड़ी के जैतावत ठाकुर को था। वह अपने अंगूठे को तलवार से चीर कर रक्त से टीका करता था। जोधपुर में मूंधियाड़ के बारठ ठाकुर को राजतिलक के समय वंशावली की उद्घोषणा करने का अधिकार प्राप्त था।

राजस्थान में सामन्ती व्यवस्था आपसी भाईचारे की व्यवस्था थी और उसका स्वरूप एक प्रकार से सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक विशेषताओं से युक्त था। शासक और सामन्त का सम्बन्ध पूर्ण रूप से आश्रितों का न होकर समकक्ष आज्ञाकारी सहयोगियों का था। राज्य पर संकट के समय शासक के लिए मर मिटने को उद्यत रहते तथा वार्षिक कर के रूप में धनराशि का भुगतान करके राज्य की वित्तीय स्थिति को सुदृढ़ करते थे। सामन्त शान्ति काल में उत्सवों और त्योहारों में सम्मिलित होकर दरबार की शोभा बढ़ाते थे। ये विशेषताएं ही सामन्ती व्यवस्था के चिर-स्थायित्व का प्रमुख कारण रही।

❊ ❊ ❊

दुर्ग स्थापत्य का धनी : करौली राज्य

डॉ. गोविन्द पुरी

दुर्ग निर्माण में राजस्थान की स्थापत्य कला का चरम उत्कर्ष देखा जा सकता है। सुदृढ़ प्राचीर, विशाल परकोटा, अभेद्य बुर्जे, किले के चारों तरफ गहरी नहर या परिक्षा किले के भीतर सिलहखाना (शहस्त्रागार) जलाशय अथवा पानी के टांके, अन्य भंडार, किले का गुप्त प्रवेश द्वार तथा सुरंग, राजप्रासाद तथा सैनिकों के आवास-गृह यहां के प्राय: सभी किलों में विद्यमान हैं। किसी भी राज्य की युगीन प्रगति का समुचित अध्ययन बिना स्थापत्य की विविध परतों तथा खण्डहरों का अध्ययन नहीं हो सकता, क्योंकि उनमें राज्य की वास्तविक आत्मा प्रतिबिम्बित होती है। उन्हीं के माध्यम से कला और जीवन का सामंजस्य एक दिव्य प्रकाश के रूप में प्रस्फुटित होता रहा है। इस स्थापत्य की अभिव्ययक्ति गांवों, नगरों, मंदिरों, राजभवनों, दुर्गों, जलाशयों, बावड़ियों, उद्यानों तथा समाधियों के निर्माण द्वारा प्रमाणित होती है। राजपूताने के स्थापत्य का इतिहास उतना ही प्राचीन है जितना मानव इतिहास का युग। राजस्थान गढ़ों और दुर्गों का प्रदेश है। यहां का शायद ही कोई जनपद या अंचल ऐसा हो जहां कोई छोटा-बड़ा दुर्ग या गढ़-गढ़ी न हो तथा जिसे लेकर कभी न कभी किसी न किसी लड़ाई-झगड़े का अनुष्ठान न हुआ हो। दुर्ग-निर्माण की परम्परा हमारे यहां बहुत प्राचीन काल से ही चली आ रही है। शुक्रनीति के अनुसार राज्य के सात अंग माने गये हैं, जिनमें दुर्ग भी एक है।

करौली की चौड़ी, सड़कें, सार्वजनिक नालियाँ, छोटे-बड़े सटे हुए मकान, वेदियाँ आदि उस युग के स्थापत्य के साक्षी है। प्राचीन काल के लेखक मण्डन एवं सदाशिव ने किलो को राज्य का अनिवार्य अंग बताया हैं। इसलिए किलों या दुर्गों की अधिक से अधिक संख्या अपने-अपने अधिकार में रखना एक महत्व की बात मानी जाती थी। करौली राज्य में वैसे तो कई किले व छोटी गढ़ीयाँ काफी संख्या में हैं लेकिन प्रमुख रूप से बयाना, तिमन गढ़, मंडरायल, देवगिरि, ऊटगिरि, बहादुरपुर, सवलगढ़,

सपोटरा, अमरगढ़, रामठरा, दौलतपुरा, ताली, जमूरा, खूडा, इनायती, नारोली, फतेहपुर, काचरोंदा एवं छोटी गढ़िया जैसे ऊमरी, पाचौली, पिपरानी, काटरी, मोठियापुरा, हरनगर, खोहरी, खूगनगर, गोलारा, वीलोनी, नींद आदि प्रमुख है।

❊ ❊ ❊

अभिलेखीय साक्ष्यों में जयपुर रियासत का धार्मिक-सांस्कृतिक जीवन

मुकेश कुमार शर्मा

जयपुर रियासत में सत्रहवीं से उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य की समयावधि के दौरान यहां के शासकों द्वारा शताब्दी के मध्य की समयावधि के दौरान मंदिर निर्माण सम्बन्धी कार्य करवाये जाने के प्रमाण मिले हैं। चामूं में प्राचीन गढ़ के सामने स्थित सीतारामजी के मंदिर शिलालेख संवत् 1803 (1746 ई.) से विदित होता है कि चौमूं के ठाकुर जोधसिंह नाथावत के समय खंडेलवाल महाजनों द्वारा इस मंदिर का निर्माण करवाया। सामोद के समीप महार स्थित लक्ष्मीनाथजी के मंदिर के स्तम्भ लेख संवत् 1713 (1656 ई.) से जानकारी प्राप्त होती है कि महार के प्रतापी व साहसी शासक रावत अखैराम और उनके पुत्र कुंवर हरदैराम ने संभवत: इस मंदिर का निर्माण अथवा जीर्णोद्धार करवाया हो। जयपुर के काणौता के नजदीक स्थित सांभरिया गांव में सीतारामजी के मंदिर शिलालेख संवत् 1792 (1735 ई.) से ज्ञात होता है यहां के ठाकुर चांदसिंह के राज्य में हरनाथसिंह द्वारा 1735 ई. में सीतारामजी के इस मंदिर का निर्माण करवाया गया था। जमुवारामगढ़ स्थित प्राचीन गणेश मंदिर के शिलालेख संवत् 1819 (1762 ई.) से यह महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है कि जयपुर के महाराजा सवाई माधोसिंह प्रथम के शासन काल में उनके सेवक कोतवाल गुलाब राय सिसोदिया तथा नायब भैय्या दूल्हराय द्वारा गणेश जी इस मंदिर का निर्माण करवाया गया। इसी परिपेक्ष्य में करौली के शहर में तालाब के किनारे स्थित शिव मंदिर के शिलालेख संवत् 1824 (1767 ई.) से ज्ञात होता है कि इस मंदिर का निर्माण गुमानसिंह के पुत्र बख्तावरसिंह की बडारण (दासी) अणसी नगोहर ने करवाया था। मनोहपुर (शाहपुरा) स्थित श्री चतुर्भुजजी के मंदिर का शिलालेख संवत् 1674 (1617 ई.) से जानकारी मिलती है कि इस मंदिर की नींव पृथ्वीचंद के समय लगी थी। इस प्रकार अभिलेखीय साक्ष्यों में जयपुर रियासत के धार्मिक-सांस्कृतिक जीवन की झांकी विविध रूपों में देखने को मिलती है। यह अभिलेख शासकीय है जो हमें तत्कालीन धार्मिक-सांस्कृतिक व्यवस्था से अवगत करवाते हैं। इनकी पुष्टि समसामयिक साहित्य के अध्ययन से स्वत: ही हो जाती है।

❊ ❊ ❊

हाड़ौती : बूंदी स्कूल के विशेष संदर्भ में

डॉ. ज्योत्सना श्रीवास्तव

माधोसिंह द्वारा कोटा राज्य की स्थापना वि.सं. 1688 में की गयी। वे बूंदी के राजा रतनसिंह राव के द्वितीय पुत्र थे। अतएव बूंदी व कोटा के शासक परिवारों को एक ही परिवार माना जा सकता है। हालांकि कोटा बूंदी के काफी निकट है परन्तु यहां की चित्रकला पद्धति अपनी विशिष्टता लिये हुए है। कोटा की चित्रकला में न तो बूंदी की चित्रकला जैसा कल्पनात्मक विस्तार है और ना ही वहां की जैसी परिष्कृत शैली। कोटा की चित्रकला बूंदी की चित्रकला की नकल या छाया कही जा सकती है। कल्पनात्मक दृष्टि से भी हाड़ौती स्कूल उतने ही उत्कृष्ट थे जितने सांस्कृतिक दृष्टि से थे। चौहान वंशीय हाड़ाओं का प्रसार और प्रताप बूंदी, कोटा, झालावाड़ क्षेत्र में रहा, इसलिए यह क्षेत्र हाड़ौती कहलाया। बूंदी शैली, कोटा शैली तथा झालावाड़ शैली तथा अन्य ठिकानों की कला को हम हाड़ौती स्कूल के अन्तर्गत रख सकते हैं।

बूंदी शैली 18वीं शताब्दी के प्रथम सोपान में लालकवि ने राजा बुद्धिसिंह (1695-1731 ई.) के लिये 'अलंकार ग्रन्थ' की रचना की। इसमें मेवाड़ का प्रभाव झलकता है। चित्रों में भावनाओं की सरलता प्रकृति की विविधता, पशु-पक्षियों तथा सतरंगे बादलों, जलाशयों का चित्रण, प्रेमालाप मे श्वेत-श्याम चित्र देखने को मिलते हैं। उम्मेदसिंहजी (1748-1771) एक चित्र में श्रीनाथजी की पूजा करते हुए अंकित किये गये हैं। दूसरे चित्र में बिशनसिंह जी नृत्य का आनन्द ले रहे हैं। उम्मेदसिंहजी चित्र में विचार विमर्श कर रहे हैं। नाथद्वारा शैली का प्रभाव भी देखने को यत्र-तत्र मिलता है। पिछवाई के चित्र कपड़े पर श्रीनाथजी की चित्रकारी, श्रीनाथजी के पीछे कपड़े की चित्रकारी, पिछवाई शैली के परिचायक है। विष्णुसिंह (1773-1821) स्वयं कला मर्मज्ञ थे उनके स्वयं के द्वारा रचित श्रृंगार एवं भक्ति परक हजारों पद आज भी हस्तलेखों के रूप में उपलब्ध हैं। बूंदी शैली का अधिकांश विषय कृष्ण चरित्र का चित्रण रहा है।

स्वाभावत: यह कहा जा सकता है कि कोटा की शैली और बूंदी की शैली में कोई फर्क नहीं है लेकिन कोटा शैली में कृष्णलीला को पुष्टमार्गीय भक्ति भावना से ओत प्रोत चित्रित किया गया है। श्रीकृष्ण के जन्म दिवस गहराती हुई यमुना नदी और आसमान पर घुमड़ती घटा के भयावह बादल, दशावतार की झांकी, ग्वाल बालों की लीलायें और माखन चोरी दृश्य को अच्छी तरह से चित्रित किया गया है। भ्रमर गीत गाती हुई गोपियां, उद्धव का ज्ञानोपदेश तथा श्रीकृष्ण व बलराम का मथुरा गमन बड़ा आकर्षक है। पिण्डारियों के क्रोध जनित चेहरे, युद्धरत भावावेश तथा लोककथाओं की संगीतात्मक ध्वनियों को चित्रों में बांधने तथा उन्हें रंगों से चित्रित करने का कोटा शैली के चित्रकारों ने अच्छा प्रयास किया है।

बूंदी की चित्रकला राजस्थान की चित्रकला की एक लोकप्रिय शैली के रूप में विकसित हुई है। अत: जिन ऐतिहासिक पृष्ठभूमियों में चित्रकला ने अपना बचपन और यौवन संजोया, उनका दिग्दर्शन करना भी न्यायोचित जान पड़ता है।

बूंदी चित्र शैली पर मेवाड़, मुगल और दक्षिणी शैलियों का प्रभाव परिलक्षित होता है। मेवाड़ शैली का रंग और आकृतियों में प्रभाव रहा। मुगल प्रभाव से छाया और प्रकाश का समावेश हुआ। दक्षिण शैली के प्रभाव के कारण रात्रि के दृश्य टिम-टिमाते सफेद तारे, पुष्पित पौधे, क्षीण चन्द्रमा बनाये गये। युद्ध के चित्रों में वीरता प्रदर्शन प्रमुख है। बूंदी शैली अपनी विशिष्ट विशेषताओं के कारण राजस्थानी चित्रकला में ही नहीं बल्कि भारतीय चित्रकला में भी अपना प्रमुख महत्व रखती है। इस शैली के चित्र आज भी चित्रकला, कतिपय प्राचीन हवेलियां, मकानों और सरस्वती भण्डार (राजकीय पुस्तकालय) में देखे जा सकते हैं। भारत के कई सरकारी एवं अर्द्ध-सरकारी संग्रहालयों में भी संग्रहित है। प्रमुख संग्रहालयों के नाम इस प्रकार है-इलाहाबाद, प्रिंस ऑफ वैल्स, म्यूजियम, बम्बई और लखनऊ संग्रहालय, बिचेस्टर संग्रहालय, सूरत, सालारजंग संग्रहालय, हैदराबाद इत्यादि। विदेशों के कई संग्रहालय भी इनसे भरे पड़े हैं। इस शैली के प्रमुख चित्रकार थे-मन्ना, रामलाल, मनोहर, सुरतन, अहमद अली, श्री किशन और साधुराम।

❊ ❊ ❊

महाराजा जयसिंह : आधुनिक अलवर के निर्माता

हंसराज सोनी एवं मानसिंह मीणा

जयसिंह का जन्म 14 जून, 1882 को अलवर के विनय विलास में हुआ। 23 मई 1892 को वे राजगद्दी पर विराजमान हुए। महाराजा के अल्पवयस्क होने के कारण राज्य प्रबंध के लिए एक कौंसिल बनाई गई जिसने 1903 ई. तक शासन प्रबंध को संचालित किया। 10 दिसम्बर, 1903 ई. को वायसराय लॉर्ड कर्जन ने उन्हें शासन के पूर्ण अधिकार पूर्ण अधिकार प्राप्त हुए। जयसिंह एक कुशल प्रशासक, न्यायप्रिय और देशभक्त थे। मई 1933 में उन्हें देश निकाला दे दिया गया। अपने निर्वासन की अवधि में 19 मई 1937 को फ्रांस की राजधानी पेरिस में उनका निधन हो गया। जयसिंह के प्रभावशाली व्यक्तित्व, उनके सुधारवादी और प्रगतिशील विचारों के कारण आज भी अलवर का जनमानस उन्हें याद करता है।

महाराजा जयसिंह का समय अलवर रियासत में प्रशासनिक आर्थिक, सामाजिक, शैक्षणिक एवं धार्मिक सुधारों की दृष्टि से अविश्वसनीय समय था। यद्यपि उनके शासनकाल में भाषण, समाचार पत्रों एवं राजनैतिक सभाओं पर पूर्ण प्रतिबंध लगा हुआ था। महाराजा के सुधारवादी दृष्टिकोण के उपरांत भी राज्य के एक विशेष वर्ग में

असंतोष के फलस्वरूप नीमूचाणा एवं मेव आन्दोलन हुआ परन्तु महाराजा जयसिंह ने सदैव प्रजाहित को सर्वोपरि रखा। अपने शासनकाल में उन्होंने सुधारवादी एवं प्रगतिशील दृष्टिकोण को अपनाकर अलवर की शासन व्यवस्था को आधुनिकता की ओर ले जाने का एक बहुत बड़ा कार्य किया, इस आधार पर महाराजा जयसिंह को आधुनिक अलवर का निर्माता कहना सर्वथा उचित होगा।

❊ ❊ ❊

बिजौलिया की स्थापत्य कला मंदिरों के विशेष संदर्भ में

योगराज सिंह पंवार

बिजौलिया व इसका 140 वर्ग मील का क्षेत्र एक पठार है जो समुद्र तट से करीब 2000 फीट की ऊंचाई पर स्थित है ऐसा होने से इस पठार पर रहने वालों पर दूर से किसी की दृष्टि नहीं पड़ती है और न ही कोई सहज ही इस पठार पर चढ़कर आने का साहस जुटा पाता है।

आज जहां बिजौलिया कस्बा बसा हुआ है, इसके संदर्भ में यह मान्तय है कि अगर कोई पठार चढ़कर ऊपर आ जाए तो भी उसको यह कस्बा दिखाई नहीं पड़ता है, चूंकि पूरा कस्बा छोटी-छोटी पहाड़ियों के बीच बसा है। कहते हैं कि अगर कोई व्यक्ति दूर खड़ा रह कर कस्बे पर तीर चलाए तो वो तीर ऊपर से ही निकल जाएगा। जो भी पर्यटक या इतिहासवेत्ता बिजौलिया आया, चौंके बिना नहीं रह पाया। बात ही कुछ ऐसी है। एक छोटा सा कस्बा और इतने भव्य मंदिर। वाह, उसे एक बार तो लगता है कि कहीं वह कल्पना लोक में तो नहीं है। ऐसा कैसे हो सकता है, इतने छोटे से कस्बे में ऐसे कलात्मक और भव्य मंदिर, लेकिन यह एक सच है आज हम जिस बिजौजिया को एक छोटे से गांव के रूप में देख रहे हैं वह भी 'विंध्यावली' के नाम से बड़ी नगरी थी। अत: कोई आश्चर्य की बात नहीं है जो अगर यहां इतने कलात्मक मंदिर हैं। भीलवाड़ा जिले के जनसम्पर्क अधिकारी श्याम सुन्दर जोशी ने इस सन्दर्भ में 3 मार्च, 1991 को राजस्थान पत्रिका में प्रकाशित लेख में लिखा है-''शिल्प सौन्दर्य से परिपूर्ण बिजौलिया के देवालय इतिहास, पुरातत्व, स्थापत्य, पर्यटन एवं जन-मन में रची बसी धार्मिक आस्था के संगम स्थल है जिन्हें पहली बार देखते ही मन में उनके प्रति अदम्य अनुराग उमड़ पड़ता है।''

ऐसा ही मत प्रसिद्ध विद्वान मदन लाल तांगड़ का है, 2 अक्टूबर, 1987, राजस्थान पत्रिका में प्रकाशित लेख के अनुसार ''ये मंदिर अपनी बेजोड़ कला के लिए विख्यात है, प्रथम दृष्टि में ही आकर्षित करने की पूरी क्षमता रखते हैं। स्थापत्य और मूर्ति शिल्प दोनों में ही इन्हें भारत के अन्य मंदिरों की तुलना में रख सकते हैं।'' ऐसे ही

मत उन सभी इतिहासकारों के हैं जिन्होंने भी इन्हें देखा है।

बिजौलिया के मुख्य मंदिर-1. मंदाकिनी के मंदिर, 2. तिस्वां का तिलस्मी मंदिर, 3. महानाल का मंदिर, 4. पार्श्वनाथ मंदिर : तपोपसर्ग कैवल्यधाम, 5. बिजासन माता का मंदिर हैं। अंतत: यह लिखना उचित होगा कि बिजौलिया के ये मंदिर आने वाले समय में इतिहास एवं पुरातत्व की दृष्टि से इस सम्पूर्ण क्षेत्र का एक नया अध्याय लिखेंगे।

❊ ❊ ❊

भरतपुर का गंगा मंदिर - एक ऐतिहासिक एवं कलात्मक विश्लेषण

डॉ. दिलीप कुमार गर्ग

भरतपुर में ऐतिहासिक, धार्मिक, आध्यात्मिक दृष्टि से मंदिरों का निर्माण होता रहा है। उन मंदिरों में एक बहुत ही सुन्दर, नक्काशीयुक्त एवं विशाल मंदिर है-गंगा मंदिर। गंगा मंदिर भरतपुर में हीरादास रोडवेज बस स्टेण्ड से लगभग 3 किमी. तथा रेलवे स्टेशन से किले में होते हुए 2 किमी. की दूरी पर स्थित है। यह मंदिर भौगोलिक दृष्टि से $27^{0}13$ उत्तरी अक्षांश तथा $77^{0}13$ पूर्वी देशांतर है। भरतपुर शहर के मध्य एवं भरतपुर के लोहागढ़ किले के दक्षिण दिशा की ओर गंगा मंदिर स्थित है। यह मंदिर नक्काशी व कलात्मकता से भरपूर है। भरतपुर के जाट शासक श्री बलवंतसिंह ने अपनी इष्टदेवी श्री गंगा माताजी की मूर्ति की स्थापनार्थ वि.सं. 1902 (1845 ई.) में इस विशाल और सुन्दर मंदिर की नींव डलवाई जिसका निर्माण कार्य उसी समय से 90 वर्षों तक चलता रहा। बलवंतसिंह के बाद पांच पीढ़ियों तक गंगा मंदिर का निर्माण कार्य चलता रहा यथा-महाराजा जसवंतसिंह, महाराजा रामसिंह, महाराजा श्रीकृष्णसिंह एवं महाराजा बृजेन्द्रसिंह। महाराजा बृजेन्द्रसिंह के समय इस मंदिर का निर्माण कार्य पूर्ण हुआ और उन्होंने अपने शासन काल में मिती माघ शुक्ला 12 वि.सं. 1993 तदनुसार दिनांक 22 फरवरी 1937 ई. को श्री गंगामाता की मनोहर मूर्ति की स्थापना करवायी। मंदिर निर्माण के बारे में ऐसा कहा जाता है कि जाट राजा बलवंतसिंह के संतान नहीं थी और उस समय अकाल की स्थिति थी। महाराजा को सलाह दी गयी कि आप अपनी इष्टदेवी गंगा माता की पूजा अर्चना कीजिए। महाराजा की इच्छा थी कि मंदिर भव्य एवं विशाल बनना चाहिए तथा महल से सीधे दर्शन होने चाहिए। महाराजा स्वयं सभी धर्मों में विश्वास करते थे। दरबारियों व विद्वान पुरोहितों की सलाह से मंदिर बनाने का निर्णय लिया। मंदिर बनाने के लिए पर्याप्त धन न होने की समस्या थी ऐसी स्थिति में रियासत के कर्मचारियों ने सहयोग दिया व अपने एक माह के वेतन कोष में जमा करवाया।

वर्तमान में गंगा मंदिर देवस्थान विभाग राजस्थान सरकार के अन्तर्गत आता है। मंदिर में एक पुजारी कार्यरत है जो दिन में पांच बार आरती करते हैं। दर्शनार्थी एवं श्रद्धालु प्रतिदिन मंदिर में आते हैं और दर्शनों का आनन्द लेते हैं। मंदिर परिसर काफी लंबा चौड़ा है, जहां पर भरतपुर शहरवासी सुबह सायं टहलते हैं। मंदिर की वास्तुकला एवं सौन्दर्यात्मकता के कारण स्थानीय देशी विदेशी पर्यटक मंदिर आते हैं, जिससे आर्थिक गतिविधियों पर भी सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। मंदिर के चारों ओर लगभग 110 दुकानें हैं, जिनका किराया देवस्थान विभाग को जमा करवाया जाता है। हालांकि कई स्थानों से मंदिर परिसर के कुछ हिस्से मरम्मत की स्थिति में है। इस प्रकार भरतपुर का गंगा मंदिर ऐतिहासिक, धार्मिक एवं कलात्मक दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान है। मंदिर व मस्जिद की नींव एक साथ लगना धार्मिक सौहार्द का प्रतीक है। गंगा मंदिर की उच्चस्तर की वास्तुकला, बारीक कारीगरी, मंदिर की विशालता, साथ ही बाजार हेतु दुकानों का निर्माण इत्यादि भरतपुर के जाट राजाओं की अभिरुचि व योगदान को दर्शाता है। यह गंगा मंदिर हमारी ऐतिहासिक, सांस्कृतिक धरोहर है, जिसे अक्षुण्ण बनाए रखना हम सभी की जिम्मेदारी है। समय समय पर मरम्मत एवं संरक्षण की आवश्यकता है। मेरा यह भी सुझाव है कि मंदिर से संबंधित सभी दस्तावेज मंदिर अथवा देवस्थान विभाग के पास होने चाहिए। उनकी उपलब्धता सभी के लिए आसानी से होनी चाहिए। मंदिर में भी मंदिर का इतिहास कलाओं के बारे में जानकारी देने वाला पोस्टर होना चाहिए जिससे प्रत्येक दर्शनार्थी इतिहास व हमारी विरासत से अवगत हो सके।

❊ ❊ ❊

लोक देवता बाबा रामदेव के साहित्य में आत्म तत्व (आत्म ज्ञान)

तमेघ पंवार

रामदेवरा जैसलमेर जिले में पोकरण तहसील में पोकरण से 10 किलोमीटर उत्तर दिशा की ओर स्थित है। संत श्री बाबा रामदेवजी ने स्वयं इस नगर की स्थापना की थी और बाद में यहां पर जीवित समाधि ले ली थी। आज यह पश्चिमी राजस्थान का सबसे बड़ा धार्मिक स्थल है। लाखों लोग यहां दर्शनार्थी के रूप में आते हैं। यहां हर दिन नवीन संस्कृतियों का मिलन होता है। संत श्री बाबा रामदेवजी एक सिद्ध पुरुष थे जिन्होंने इस नगर को आबाद किया एवं आमजन को भाईचारे व सद्भावना का संदेश दिया।

लोक देवता बाबा रामदेव का विस्तृत लोक साहित्य मौखिक रूप में आज भी गांव-गांव में गाया जाता है। उनके साहित्य में हमें अनेक रूप दिखाई देते है जैसे- ब्रह्म की कल्पना, आत्म तत्व की कल्पना, अवतारवाद, गुरू की महिमा, उपनिषद् दर्शन,

मोक्ष, आत्मा-परमात्मा आदि का समन्वय दिखाई देता है। बाबा रामदेव का सम्पूर्ण साहित्य मौखिक परम्परा का प्रधान है। जिसमें राजस्थानी भाषा अथवा मारवाड़ी की प्रधानता है। यह साहित्य गद्य एवं पद्य दोनों रूप में मिलता है।

बाबा रामदेव के साहित्य में इन तत्वों के साथ-साथ आत्म-तत्व का विस्तृत स्वरूप दिखाई देता है। उनकी व्याख्या के साथ उसका विस्तृत उल्लेख आगे किया जायेगा। ऐसा माना जाता है कि बाबा रामदेव की वाणियों में 24 प्रमाण स्वयं बाबा रामदेव द्वारा गाये गये थे। उस समय शिक्षा के अभाव में उनको संकलित करना मुश्किल था परन्तु बाद में उनके प्रिय भक्त हरजी भाटी ने जन मानस के सामने मौखिक रूप से रखा। बाबा रामदेव ने कहा है कि व्यक्ति छः दर्शन (न्याय, मीमांसा, सांख्य, आदि) का ज्ञान प्राप्त करले परन्तु जब तक आत्म ज्ञान को नहीं पहचानेगा सब कुछ व्यर्थ है। इसी प्रकार उन्होंने बताया कि व्यक्ति कितनी भी कठोर तपस्या करले परन्तु वह भी व्यर्थ है जब तक वह आत्म स्वरूप को नहीं पहचान ले। यदि आत्म स्वरूप को पहचान लिया वह तो स्वतः ही मोक्ष का अधिकारी होगा।

❊ ❊ ❊

अलवर की लोक संस्कृति एवं लोक संगीत

डॉ. राजेश आर्य

अलवर की लोक संस्कृति अपने बहुआयामी स्वरूप के कारण प्राचीन समय से विशिष्ट रही है। मेवात और राठ अंचल में बेटा अलवर राज्य अपनी लोक-धुनों में हमेशा ही मचलता दिखाई दिया है। मीरासी, जोगी, पीर-फकीर, नौटंकी टोलियों ने इस उफान को और अधिक जीवन्त करने का प्रयास किया है। पलाश के दहकते वनों के बीच अलगोजों की धुन और भपंग के स्वरों ने जिस लयबद्धता को जन्म दिया, उसके अवशेष आज भी किस्से कहानियों में गाँव-गाँव गाये जाते हैं। यहां के प्राकृतिक वातावरण ने संस्कृति निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इस दृष्टि से अलवर राज्य में सघन वन, मनोहरी सरिताओं, सुरम्य अरावली की पर्वत श्रृंखलाओं आदि ने ऋषि मुनियों एवं योगियों को तपस्या के लिए उपयुक्त वातावरण प्रदान किया है। उनके प्रभाव से यहां के जन जन में आध्यात्मिकता का विकास हुआ है।

अलवर अंचल प्राचीन समय से ही सांस्कृतिक स्थलों का केन्द्र रहा है। त्रिगर्त (तिजारा), मत्स्य (मांचेड़ी), व्याघ्रराज (राजगढ़), आभानेरी, राजौरगढ़, भर्तृहरि, पाण्डुपोल, तालवृक्ष, रावणदेवरा, कूल के कुण्ड, साहबी नदी का कांठा आदि क्षेत्र महत्वपूर्ण सांस्कृतिक केन्द्र रहे हैं। मत्स्य प्रदेश की ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में सांस्कृतिक पृष्ठभूमि समृद्ध एवं वैभवशाली रही है। यह प्रदेश प्राचीन समय से ही परिवर्तन एवं विकास की

भूमिका निभाता रहा है। महाभारत काल में मत्स्य और विराट नगर प्रमुख सांस्कृतिक केन्द्र थे। संगीत एवं नृत्य कलाओं में अलवर राज्य का योगदान महत्वपूर्ण है।

यहां महाराजा शिवदानसिंह ने संगीत पम्परा को विशेष संरक्षण दिया। उनके दरबार में संगीत में दक्ष अनेक कलाकार थे। ठुमरी, दादरा और गजल जैसी संगीत परम्पराओं को उन्होंने विशेष प्रोत्साहित किया। संगीत की शास्त्रीय परम्परा को महाराजा जयसिंह ने प्रोत्साहित किया। यहां शास्त्रीय संगीत राजकीय संरक्षण में पनपा और लोक संगीत को लोक कलाकारों ने सुरक्षित रखा वहीं मीरासी और जोगियों ने लोकनाट्य परम्परा को आगे बढ़ाने का प्रयास किया है। अलीबख्श के ख्याल, मेवाती रतवाई, राणे-डूम, हीर राँझा, घुड़चढ़ी मेव खाँ इत्यादि यहां के बहु प्रचलित संगीत रूपक गांव-गांव में लोकप्रिय है। गोपीचन्द भर्तृहरि यहां पारसी थियेटर के पर्याय बन गये है। जन मानस में अलवरत रूप से बहने वाली संगीत धारा ने अलवर राज्य की घाटियों खेतों एवं गली मुहल्लों को सजीव बनाए रखा है। अलवर राज्य में संगीत की धारा को दो रूपों में प्रवाहित हुई है।

महाराजा जयसिंह ने नृत्य एवं संगीत के लिए बड़े-बड़े तीन कमरे बनवाये जिनमें अब राजकीय संग्रहालय अवस्थित है। उनके समय संगीत की अनेक सभायें राज्य की ओर से आयोजित की जाती थी। जिनमें अनेक रियासतों के बड़े-बड़े कलाकार भाग लेते थे। महाराजा जयसिंह द्वारा शायरों को भी दरबार में संरक्षण दिया गया।

1943 में अलवर में 'ललित कला परिषद्' की स्थापना हुई। महाराजा तेजसिंह इसके संरक्षक थे। संगीत की शिक्षा के प्रचार-प्रसार हेतु उच्चकोटि के कलाकार अध यापकों को संस्था में नियुक्त किया गया। डॉ रामप्रसाद शास्त्री-वायलिन, सोहनलाल गांगानी-तबला व नृत्य, अहमद खाँ-तबला, रघुवीरशरण-सितार, कन्हैयालाल मारवाड़ी-सितार इत्यादि संगीत के क्षेत्र में दक्ष शिक्षक थे। गोपाल अधिकारी का नाम ध्रुवपद एवं धम्मार गायन में विशेष उल्लेखनीय है।

***

राजस्थान का भौगोलिक पर्यावरण एवं पारम्परिक हस्तकलाएँ

अजय यादव

राजस्थान एक ऐसा प्रदेश है, जहाँ भूगोल और इतिहास एकाकार हो गया है और यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि इस प्रदेश की भौगोलिक परिस्थितियों ने न केवल यहाँ के इतिहास को एक दिशा दी है, अपितु यहाँ के सांस्कृतिक, सामाजिक एवं आर्थिक परिवेश को नियन्त्रित एवं निर्धारित किया है और न केवल भारत अपितु विश्व में इसकी

विशिष्ट पहचान बनाई है। विभिन्न भौगोलिक विशेषताओं के आधार पर भी राजस्थान के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के नाम थे। माही नदी के क्षेत्र को 'काठल' कहा जाता था। प्रतापगढ़-बाँसवाड़ा के बीच के 56 ग्राम समूह को 'छप्पन' का मैदान कहा जाने लगा। मानव सभ्यता के विकास के साथ ही अनेक जातियाँ प्राकृतिक वातावरण के साथ सामंजस्य रखते हुए, उनके स्वच्छन्द अंचलों में निवास करती रही है। पारस्परिक हस्तकलाएँ जनजातिय क्षेत्रों में अधिक पनपी जिसका सीधा संबंध पर्यावरण से तालमेल रहना रहा है। राजस्थान के ग्रामीण परिवेश के लोग बड़े पैमाने पर अपनी संस्कृति से जुड़े हैं। सांस्कृतिक विरासत माहौल में बने सजावटी सामान और पोशाक, शिष्टाचार के पारंपरिक तरीके के निर्बाध बने हुए हैं। परंपरागत लोक हस्तशिल्प ने अद्‌भुत डिजाइनों रूपों और रंगों के शानदार प्रदर्शन प्रस्तुत किया है। हालांकि उपभोक्तावाद की संस्कृति ने स्वतंत्रता के बाद के वर्षों के दौरान पांरपरिक नैतिक और सांस्कृतिक मुल्यों और गाँव के हस्तशिल्पों को अनगिनत नुकसान पहुँचाया है। कलात्मक और उपयोगितावादी गुणों के बीच विरोधाभास हमारे समय के उपभोक्तावादी मनोविज्ञान का परिणाम रहा है, जो कि बाजार संस्कृति को बनाए रखता है। इस कारण हम अपने क्षेत्र की लोकप्रिय संस्कृति और पंरपराओं की बेहतर बारीकियों के बारे में काफी अज्ञानी हैं। इसी उद्देश्य को ध्यान में रख कर राजस्थान की पारम्परिक हस्तकलाओं का अध्ययन वर्तमान परिप्रेक्ष्य में आवश्यक है।

***

राजस्थान में जैन धर्म के साक्ष्य

डॉ. जगदीश नारायण ओझा

पूर्व मध्यकालीन राजस्थान में जैन सूरियों और साधुओं के सतत् प्रयास के फलस्वरूप जैन धर्म का अत्यधिक प्रचार-प्रसार हुआ। बयाना से प्राप्त वि.स. 1100 के एक अभिलेख में जैन श्वेताम्बर सूरि माहेश्वर का उल्लेख हे। चित्तौड़ से प्राप्त वि.सं. 1207 के एक अभिलेख में दिगम्बर सम्प्रदाय के प्रमुख जयकीर्ति का उल्लेख हैं यह तथ्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि राजस्थान के नरेश और पदाधिकारी प्रमुखतया हिन्दू थे। इस काल में अनेक गच्छों की स्थापना हुई और इस क्षेत्र के अनेक प्रमुख नगरादि जैन ध र्म के महत्त्वपूर्ण केन्द्र बने। वर्षावास के अवसर पर इन केन्द्रों में सभाओं और गोष्ठियों का आयोजन होने लगा। जैन विद्वान हरिभद्रसूरि के प्रयासों से चित्तौड़ जैन धर्म के मुख्य केन्द्र के रूप में प्रतिष्ठित हो गया। हरिभद्रसूरि ने अनेकांतजय पताका, धर्मबिन्दु प्रभृति ग्रन्थों की रचना कर उनके माध्यम से जैन सिद्धान्तों को लोकप्रिय बनाने का प्रयास किया। इसके उपरान्त वि.स. 835 में उद्योतनसूरि ने कुवलयमाला और सिद्धर्षिसूरि ने वि.सं. 962 में उपमिति भवप्रपंच कथा की रचना की।

प्रतिहार प्रशासन कालान्तर्गत जैन धर्म की प्रगति हुई। नागभट्ट द्वितीय का जैन साधु यक्षदेव से सम्बन्ध था। वत्सराज के शासनकाल में अनेक जैन उपदेशकों द्वारा जैन धर्म की प्रगति के लिए काम किया गया। उसी समय ओसियां (जोधपुर संभाग) ने महावीर स्वामी का मन्दिर निर्मित हुआ। नागभट द्वितीय के काल में बप्पभट्टि अत्यधिक प्रभावशाली जैन सूरि थे। उन्हें जैन साहित्य में नागभट द्वितीय के मित्र और आध्यात्मिक गुरू के रूप में प्रतिष्ठि किया गया। कक्कुक यद्यपि, ब्राह्मण धर्मानुयायी था तथापि उसने रोहिसकूप में जैन मन्दिर का निर्माण करवाया और इसके प्रबन्ध का उत्तरदायित्व गोष्ठिकों को सौंपा। चौलुक्य शासकों ने भी जैन धर्म को समुचित संरक्षण प्रदान किया। राजस्थान का एक विस्तृत भाग चौलुक्यों के अधीन था। जयसिंह का उत्तराधिकारी कुमारपाल प्रसिद्ध जैन आचार्य हेमचन्द्र सूरि के प्रभाव में जैन धर्म का अत्यन्त उत्साही अनुयायी बन गया था। उसने जैन धर्म के प्रसार के लिए अनेक कदम उठाये। 'द्वयाश्रयमहाकाव्य' से ज्ञात होता है कि पाली क्षेत्र में ब्राह्मणों को यज्ञ में धान की आहुति से सन्तुष्ट होना पड़ता था और साधुओं के लिए अग्नि प्राप्त करना कठिन हो गया था। उसके काल में अनेक जैन धर्मशास्त्र भण्डारों की स्थापना की गई और जैन प्रासादों का निर्माण हुआ। वि.सं. 1200 के एक अभिलेख से विदित है कि उसने जालौर में भी एक जैन मन्दिर का निर्माण करवाया था।

विवेच्यकालीन अभिलेखों में विभिन्न जैन गच्छों का उल्लेख हुआ है। इससे जैन धर्म की लोकप्रियता का द्योतक माना जा सकता है। आबू से प्रारम्भ हुए बड़गच्छ का उल्लेख वि.सं. 1140 और वि.सं. 1215 के अभिलेखों में हुआ है। बड़गच्छ का प्रभाव सिरोही और मारवाड़ क्षेत्र में भी था। यद्यपि खरतरगच्छ का प्रारम्भ गुजरात से हुआ था तथापि राजस्थान में भी इस गच्छ के अनुयायियों की संख्या उल्लेखनीय थी। राजस्थान के अभिलेखों में सारथ-पूर्णिमीय, उपकेश, नागपुरिया, कामयक, पिप्सेल इत्यादि गच्छों का उल्लेख है।

❊ ❊ ❊

RAJASTHAN HISTORY CONGRESS

Receipts and Payments A/c

For the period 01 April to 31st March 2018

Receipts		AMOUNT	Payments	AMOUNT
To Opening Balance		2,54,080.84	By Procedding Exp.	88,765.00
Bank Account	2,13,735.84		By Postage Exp.	1,515.00
Cash Account	40,345.00		By Award Exp.	4,700.00
			By Advertisment	6,500.00
To Proceding Sales		6,911.00	By Bank Charges	63.00
To Annual Membership		57,520.00	By Balance C/d	
To Bank Interest		9,224.00	Bank Account	2,20,282.84
To Life Membership		50,000.00	Cash Account	55,910.00
		3,77,735.84		3,77,735.84

Income & Expenditure A/c

For the Year ending 31st March 2018

EXPENDITURE	AMOUNT	INCOME	AMOUNT
To Procedding Exp.	88,765.00	By Annual Membership	57,520.00
To Advertisment	6,500.00	By Life Membership	50,000.00
To Postage Exp.	1,515.00	By Interest on Saving A/c	9,224.00
To Bank Charges	63.00	By Proceeding Sales	6,911.00
To Award Exp.	4,700.00		
To Income over Expenditure	22,112.00		
	1,23,655.00		1,23,655.00

Balance Sheet as on 31st March 2018

LIABILITIES		AMOUNT	ASSETS	AMOUNT
CAPITAL FUND:-			Current Assets	
Capital Fund	2,33,080.84		Cash & Bank Balance	
Prize Paper Fund	21,000.00		Cash In Hand	55,910.00
Add- Income Over Exp.	22,112.00	2,76,192.84	Bank A/c	2,20,282.84
		2,76,192.84		2,76,192.84

Place:- Jodhpur
Date:- 31/12/2018

Checked and Found Inconformity with the Books of Accounts and Records Produced Before Us.

For:-Rajasthan History Congress
Secretary
Rajasthan History Congress
Jodhpur

For:-VIJAY SINGH & CO.
C.A. Vijay Singh
Proprietor
M.NO 418049

List of Members

Founder Members

Late Dr. A.L. Srivastva
Late Dr. S.P. Srivastva
Late Shri R.S. Kapur
Shri L.P. Vaisya
Late Dr. M.S. Jain
Late Rao Narayan Singh Of Masooda
Late Shri N.R. Khadgawat
Late Dr. Dasharatha Sharma
Late Shri N.N. Acharya
Late Prof. G.N. Sharma
Late Dr. R.P. Vyas

Patrons

Shri G.C.Kanungo, Managing Director, Alcobex Ltd., Jodhpur
Shri S.R. Mehta, Mehta Vanaspati Products, Chittorgarh
Shri Hemendra Singh, Banera, District Bhilwara
Dr. S.S. Bhandawat, Bhandawat Foundation, Manak Chowk, Jodhpur
Dr. Nagendra Singh, Justice, International Court Of Justice, The Hague
United Books Traders, Ratanada, Jodhpur

Life Members

The Bank Of Rajasthan(Ltd.), Jaipur
Principal, Dr. Bhimrao Ambedkar Govt. P.G. College, Nimbahera
Shri K.K. Purohit, Jodhpur
Dr. Manohar Singh Ranawat, Natnagar Sodh Sansthan, Sitamau
Professor Mananori Sato, Faculty Of Economics, Asia University, Tokyo-Iso-(Japan)
Professor D.C.Shukla,'Parijat'c-38,Krishna Nagar,Pali Road, Jodhpur
Shri Om Prakash Mohta House, 29-Srand Road, Calcutta
Shri Mullapudi Timmragugaru,Tanuka{Andhra Pradesh}
Shri Prasanna Mal Mohnot, 67, Mahaveer Nagar, Pali
Shri C.P. Mathur, E-27, Chanakya Place (I), Pankha Rad, New Delhi-110059
Shri Sajjan Singh Ranawat,Udaipur
Dr. V.K.Trivedi, 26, Shanti Nagar, Sirohi
Dr. Arvind Parihar, Dept.Of History, JNV University, Jodhpur
Dr. B.L.Upmanyu, Mahavir Colony, Housing Board Road, Beawar
Dr. Girish Nath Mathur,1 Gh 41,Gayatri Nagar, Hiran Magri, Sector-5,Udaipur
Dr. Ishwar Singh Ranawat, Research Officer,Pratapsodh Pratisthan,Udaipur
Dr. J.K.Ojha,Near Post Office, Kanore, Udaipur
Dr. M.R.Choudhary,Dept.Of History,JNV University, Jodhpur
Dr. Manoramaupadhyaya, 128, Nehru Park, E Road, Sardarpura, Jodhpur
Prof. Meena Gaur,19-Gokul Nagar, Near Bohra Ganesh Temple, Udaipur
Dr.Mohabat Singh Rathore, Research Office,Pratap Sodh Pratisthan, Udaipur
Dr. Mrs. Shashi Arora, B-9, Flat No. 403, Saumya Enclave, Dhurva Marg, Tilak Nagar, Jaipur
Dr. N.K. Upadhayay, Lecturer In History, Govt. College Ajmer, Ajmer
Dr. Pramila Singhvi, Pranjal, Sector 3, Hiran Margi, Udaipur
Dr. S.C. Agarwal, E-108, Shastri Nagar, Ajmer
Prof. S.K. Purohit, Behind Bannath Temple, Sukhanand ki Bagechi, Siwanchi Gate, Jodhpur

Prof. S.P.Vyas, Asop ki Pole, Near Juni Mandi, Jodhpur
Dr. S.S. Bais, C-217, Krishna Nagar, Pali Road,Jodhpur
Prof. Vinita Parihar, B-16, Shatri Nagar, Jodhpur
Dr. Mrs. Digvijay Bhatnagar, E 27, University Qtrs., Durga Nursury Road, Udaipur
Dr. Mrs. Usha Purohit, Lecturer In History, Mahila Mahavidyalaya, Jodhpur
Mr. C.S. Sharma, Lecturer In History, Govt. College, Sheoganj
Mr. Dinesh Rathi, Hariom Bhawan, Bada Bas, Mathania, Jodhpur
Mr. F.K. Kapil, Secretary, Jaya Kapil Poort Nyas, Pakon Ka Bas, Jodhpur
Dr. Raju Ram, V & P Rarod, Via Asop, Jodhpur
Mrs. Kamla Jain, 26, Sharda Nagar, Near Bohra Ganesh Temple, Udaipur
Mrs. Pawan Maru, C/O Manish Agency, Kala Khet, Mandsore, Mandsore (M.P.)
Mrs. Shashi Kala, C-71, Dharam Narayan Ka Hatha, Paota, Jodhpur
Prof. G.S.L. Devra, B-9, Flat No. 403, Saumya Enclave, Dhurva Marg, Tilak Nagar, Jaipur
Prof. V.K. Vashishtha, 195-B, Univrsity Marg, Bapu Nagar, Jaipur
Prof. Nilima Vashishtha, 195-B, Univrsity Marg, Bapu Nagar, Jaipur
Dr. Usha Shah, Govt. College Pali, Pali-Marwar
Dr. Shobhagya Goyal, C/O Ram Goyal, Advocate, H.M. Mohalla, Ghaseti Bazar, Ajmer
Dr.Hukum Chand Jain, 19,Basant Vihar Special, Kota
Prof. K.G. Sharma, Deptt. Of History, University Of Rajasthan, Jaipur
Mrs. Tara Jain, W/O U.C. Jain, G-34, Shastri Nagar, Jodhpur
Dr. Seema Garg, Opp. 107, Vallabhbari, Kota
Dr. Usha Vyas, 1 Gha Sabarmati Clny., Kota
Mrs. Nidhi Sharma, D-299, Ktps, Sakatpura, Kota
Mrs. Seema Gupta, A-9, Gayatri Vihar, Police Line, Kota
Dr. Karuna Joshi, 150, Pwd Quarter, New Colony, Dungarpur
Dr. Shankar Goyal, 41, Sardar Club Scheme, Jodhpur
Dr.Anila Purohit, 'Kamla Kunj', 5th D/76, Hudgo, J.N.Vyas Colony, Bikaner
Dr. Meghna Sharma Paliwal, Asst.Prof. Deptt. Of History, Maharaja Ganga Singh University, Bikaner
Dr. Neelam Sharma, Near Water Works, Old City, Kishangarh
Dr. Satish Kumar Trigunayat, B 48 A, Jawahar Nagar, Bharatpur
Dr. Pushpa Dullar, 52- Arvind Niwas, Banasthali Vidyapeeth, Basasthali
Ms. Urmila Parihar D/O Shri Mool Chand, Behind Adarsh Vidya Mandir, Sheoganj, Sirohi
Dr. Alok Kumar Gupta, Lecturer In History, R-398, Padam Vilas, Bharatpur-321001
Dr. Sharda Sharma, E-47, Khaturia Colony, Bikaner
Dr. Meenakshi Sharma, Shri Ram Swaroop Bohra, 12- Inder Nagar, Sunderwas, Udaipur
Ms Iti Mograkaran Singh Mogra, C/O Phool Chand Mehta, 382/B, Ashok Nagar, Moksh Marg, Udaipur
Dr. Neelam Gaur, Near Govt. Hospital, Von Girls College, Hanumangarh Town
Dr. Anita Kavdia, 202, Kutumb, 17-C, Madhuban, Udaipur
Ms Pratibha, A-342, Chandvardai Nagar, Ajmer
Dr.(Mrs.) Nirmal Kashyap, House No. 30, Type III, MD university, Rohtak
Dr. Sushila Shaktawat, 21 Ghati magri, Penariyon ki Madri, Holi Chowk, Udaipur
Avinash Parek, Savitri Villa, Kishan Hostel, Sardarsaher, Churu
Dr. Aashish Chouhan, Aashish Sadan, Godon Ka Chowk, Jodhpur
Ms Shikha Choudhary Charan Singh Girls Hostel, Tilak Nagar, Bikaner
Dr. Anju Suthar, 3/46, New Officer's Colony, Opp. Police Line, Barmer

Mahendra Chudhary, Stadium Road, Nehru Nagar, Barmer
G.S. Gupta, 4/267,Malviya Nagar, Jaipur-302017
Dr. Dinesh Bhargava, R-399,Padam Villa, 1 G.P. Office, Bharatpur-321001
Sowrabh Sharma, 8-Bapuji Marg, opp.State Motor Garge, 22-Gogam, Jaipur
Kailash Songara, 2 Sa 35, UIT Colony, Pratap Nagar, Jodhpur
Om Prakash Bhati, D-137, Kirti Nagar, P.Mandore Mandi, Jodhpur
Dr. Aruna Soni, 'Aashirwad', Near Ladnun Bus Stand, Naya Bas, Sujangarh
Dr.Mukesh Harsha, Harsho ka Chowk, Bikaner
Dr. Mahendra Purohit, Joshiwada, Bikaner
Dr. V.N. Singh, South Extn. Pawanpuri, Bikaner
Rajshekhar Purohit,3/18, Mukta Prasad Nagar, Bikaner
Dr. Jagdish Narayan Ojha, Barah Guward Ka Chowk, Nahtaniyo ki Saray Ke Pas, Bikaner
Mrs. Champa Agarwal, Sona Devi Sethia Girls' College, Sujangarh
Dr. Prabhat Swami, N.M.P.G. College, Hanumangarh
Gyarsi Swami, Vill.Tedi via Jaswantgarh, T.Ladanun, Nagaur
Ms. Nayna Acharya, 72-Amarnath Bhawan, opp. M.G. Hospital, Jodhpur
Mrs. Sonal Purohit, C/o Sunil Bora, Near Tapi Baori, Nathawaton Ki Gali, Jodhpur
Dr. Nidhi Srivastava, Sona Devi Sethia Girls' College, Sujangarh
Dr. Vikram Singh Gundoj, 160, Teacher's Colony, Chopasani, Jodhpur
Mrs. Santosh Vyas, Principal, Sona Devi Sethia Girls' College, Sujangarh
Ms. Asha Bhargava, Vice-Principal, Sona Devi Sethia Girls' College, Sujangarh
Dr. Anju Jain, w/o Jatan Kumar Jain, Mertawari, Nagaur
Mrs. Darshana Joshi, Rai Bahadur Gali, Daga Chowk, Bikaner
Dr. Pradeep Singh Rathore, Govt. College Dhorimanna, Barmer
Ms Rashami Meena, Asst. Prof.,Department of History, JNV University, Jodhpur
Nand Kishore Bhutra, Jaiselmerion ki Gali, Navchowkiya, Jodhpur
Dr. T.V.Vyas, Nathawaton ki Bari, Near Nyon-ka-Bar, Navchowkiya, Jodhpur
Dr. O.N. Singh, Purohiton ka Bas, Samdari Rly. Station,-344021
Sh. K.R. Choudhary, Kolari Mohalla, Navchokiya, Jodhpur
Dr. Deepa Kaushik, D-5, Mota Campus, Pilani Road, Rajgarh, Churu
Dr. Anil Purohit, 21/143, Chopasni Housing Board, Jodhpur
Dr. Sadhna Meghwal, W/o Dr. B.R. Meghwal, IPS, JH-7, Bhaghat ki Kothi Extn. Scheme, Jodhpur
Dr. Sajjan Poswal, 97-A, Gali No. 3, Krishna Nagar, Bajrang Nagar, Kota
Vijesh Gandhi, Foz-ka-Bada, Dungarpur-314001
Ms Anuradha Srivastava, Govt. Girls College Pali, Pali
Rajni Sharma, C-211, Gautam Marg, Hanuman Nagar, Jaipur
Dr. Pushpa Sharma, 1262/12, Near Durga Temple, Shastri Nagar, Krukhshetra
Dr. Ramji Lal Kohli, Aman Vihar, Behind Gas Godam, Dausa
Dr. Sunita Mehta, C/o Rakesh Mehta, C-3, Sir Pratap Colony, 5-Batti Circle, Ratanada, Jodhpur
Ms Nirmala Meena, 64, Prem Nagar, Jagatpura, Jaipur
Savita Choudhary
Reenu Meena, 85, Bhagwati Nagar 1st ,Kartarpura, Jaipur
Dr. Preeti Sharma, 4, Vivekanand Niwas, Banasthali Vidyapeeth, Banasthali
Dr. Sulekha Shekhawat, opp. Khuchaman College, 13 Venkatesh Nagar, Kuchaman City
Dr. Neekee Chaturvedi, 3-Da-14, Jawahar Nagar, Jaipur-302004
Dr. Manju Gupta, 24/59, Swarn Path, Mansarowar, Jaipur
Dr.(Mrs.) Vibha Upadhayaya, B-38, Prabhu Marg, Tilak Nagar, Jaipur-04

Mrs. Bindu Tiwari, Deptt. Of History, SD Govt. College, Beawar
Dr. D.P. Goswami, 131, Shastri Nagar, Beawar Road, Ajmer
Mrs. Minakshi Deviratam, 2, Virendra Nagar, Near Mandore, Jodhpur
Dr. Ravindra Tailor, 79-B, Munot Nagar, Out Side Nehru Gate, Beawar
Virendra Sharma, 54-A, Jawahar Nagar, Near Glass Factory, Tonk Road, Jaipur
Dr. Anita Surana, D-19-B, Meera Marg, Bani Park, Jaipur-302016
Dr. Anuradha Mathur, H-619, Shalimar, Tijara Road, Alwar
Dr. Smita Mishra, 284- Arya Nagar, Scheme No.1, Alwar-301001
Dr. Rakesh Kumar Sharma, E-327, Ambedkar Nagar, Alwar-301001
Dr. Satyendra Sharma, H-30, Shastri Nagar, Meerut City(U.P.)
Mrs. Meera Ambesh, D-79, Hasan Khan Mewat Nagar, Alwar-301001
Dr. Tafique Hussain, E-26, Civil Line, Shriganganagar-355001
Surendra D.Soni, Lecturer in History, C/o Prem Khandelwal, Advocate, Shiv Mandir, Naya Bas, Churu 331001
Dr. Jyotsana Vyas, Plot no. 150, Patrakar Colony, NPH Road, Jodhpur
Dr. B.N.Benjamin, 934, Faith Cottage, 9th D Road, Sardarpura, Jodhpur
Yogwati Pareek, 2243-A, Sec-3, Faridabad-121004
Dr. Alpanas Dubhashe, III, Ganga Nagar, AB Road, Dewas (M.P.)
Rajesh Panwar, C/o Ambica cosmetics, Shop No. 271, Ganpati Plaza, KEM Road, Bikaner
Sushil Kumar Moyal, Near Ramdeo Temple, Otside Jassusar Gate, Bikaner
Gopal Krishna Vyas, Near Samta Bhawan, Chabili Ghati, Bikaner
Dr. K.R. Motsara, Kamla Sadan, Sir Chotu Ram Marg, Maharaja Jhujarmal Nagar, Hanumangarh Road, Sangaria
Dr. Tamanna Singh, Kamla Sadan, Sir Chotu Ram Marg, Maharaja Jhujarmal Nagar, Hanumangarh Road, Sangaria
Dr. Shilpa Mehta, R-4, AbhayBagh, Sardarpura, Udaipur
Dr. Ambika Dhaka, H.No. 67, Bajrang Niwas, Near Durgapura Ral. Station, Jaipur
Rakesh Kumar Yadava, VPO- Sirohe, The. Khetri, Jhunjunu
Dr. Pranay Dev, 2 D 23, Housing Board Colony, Jhalawar
Sunita Sawmi, Swami Mohalla, Inside Jasussar Gate, Bikaner
Sharmila Swami, 6 B 04, JNV Colony, Bikaner
Dr. Suman Dhakha, 224, Dr. Rajendra Prasad Nagar, Near Rani Sati Nagar, 200 Feet Byepass, Ajmer Road, Jaipur
Dr. Archana Kalra, 56, Pratap Nagar Colony, Near Glass Factory, Tonk Road Jaipur
Shri Harphool Singh, H.No. 67, Bajrang Vihar, Near Durgapura Rly. Station, Jaipur
Dr. Rahul Tripathi, 94/4, Agarwal Farm, Mansarovar, Jaipur
Meena Bhaskar, VPO- Ghassu via Khudi Badi, Sikar
Sukharam, C/o H.R. Choudhary, 23, Lavkus Nagar 1st , Tonk Fatak, Jaipur
Dr. Kulwant Singh Shekhawat, A-17, Marudhar Vihar, Khatipura, Jaipur
Mahendra Jalwaniya, 23/29, Chopasani Housing Board, Jodhpur
Dr. Vishnu Prasad Sharma, Plot no.4, Patel Nagar, Gopalpura Byepass, Jaipur
Dr. Vidhi Sharma, 7, Janakpuri II Exetension, Imli Fhatak, Jaipur
Smt. Rekha Jorwal, ARG-40, Near Collector Residence, Alwar
Dr. Rakhi Yadav, B-2/493, Chitrakoot Scheme, Jaipur
Jayantilal Khandelwal, 634 B, Brkat Nagar, Tonk Fhatak, Jaipur
Dr. Sangeeta Sharma, B-141, Kirti Nagar, Near Gopalpura Byepass, Jaipur
Dr. Anuradha Rathore, A-5, Shastri Nagar, Opp. SBI, Jaipur
Rajesh Arya, Plot no.-147, Shripuram Colony, Gurjar ki Thadi, New Sanganer Road, Jaipur
Dr. Alok Kumar Chaturvedi, 82/139, Near Giri Marg, Mansarovar, Jaipur

Dr. Gyaneshwar Meena, Ganesh Colony, Udai Mode, Gangapur City, Swaimadhopur-322201
Rajeshwari Devi Rathore, HH's Flat No. 5, C Scheme, Tilak Marg, Jaipur
Mrs. Sarika Kaul,408, Ground Floor Lane No. 2 Raja Park, Jaipur - 302004
Dr. Ankan Garg, 41/6 Near Varun Parth, Mansarovar, Jaipur - 302020
Dr. Geeta Singh, 44, Vardhaman Nagar-B, 200 Feet Byepass, Ajmer Road, Jaipur
Ms Twinkle Sharma, Lecturer History, Govt. Lohiya College,
Dr. Kalpana Sharma, 2 CH 14, Sector 5, Shanti Nagar, Hiran Magri, Udaipur
Kamal Singh Kothari, Kothari Sadan, Chacha Nehru Marg, Behind The Fort, Churu-331001
Dr. Tarun Pratap Yadav, 307, Pragati Nagar, Nagla Battu Road, Meerut
Dr. Amrita Choudhary, E-205, Shiv Park, Amba Bari, Jaipur
Dr. Jeewan Singh Kharakwal, 18, Prem Nagar, C Block, Near Arihant Vatike, Roop Sagar Road, Udaipur
Rahul Pareek, Ward No.13, Cheta Kheri, Chhapar, Churu
Dr. Madan Lal Meena, Bagwala Kuwan, P.Hasampur, T.Neem-ka-Thana, Sikar
Dr. Vineet Godhal, Agrasena Colony, Opp. BPRV Mandir, Near Power House, Delhi Darwaja, Kotputli, Jaipur
Bhagwan Singh Sekhawat, 70-71 Shiv Shakti Nagar, Out Side Mahamandir 3rd Pole, Paota, Jodhpur
Bhawani Singh Rajpurohit, In Side Siwanchi Gate, Jodhpur
Dr. Suresh Kumar Choudhary, A-4, Krishna Nagar, New Pali Road, Jodhpur
Bharat Deora, III /B, Sector-2, University Staff Colony, Residency Road, Jodhpur
Lalit Kumar Panwar, III/F-19, Sector-2, University Staff Colony, Residency Road, Jodhpur
Dr. Peeyus Bhadviya, D-16, Adarsh Nagar, University Road, Udaipur
Dr. Harish Chandra, 311, Ashapurna Valley, Near New High Court, Pali Road, Jodhpur
Dr.T.C.Bairawa, 22 Mahaveer Nagar II, Durgapura, Jaipur
Dr. Archna Dwivedi, 2 D 23, Housing Board Colony, Jhalawar
Dr. Kalpana Malik, Sector - 4, Dwarka, New Delhi, New Delhi-110075
Shri Pankaj Chandak,Opp. Soni Building,Nehru Nagar, Barmer
Dr. Pooran Lal Meena,18-C, Pocket- B,Ashok Vihar II,Delhi-110052
Dr.Mamta Yadav,Plot No. A-58-59,Nandpuri Colony, 22 Godown,Hawa Sarak,Jaipur
Dr. Jagruti Upadhayaya,128, Madhukunj,Behind Nehrupark,Sardarpura E Road,Jodhpur
Shri Nitin Goyal,17-C Block, Near Muthagujari School,Rai Singh Nagar,Sriganganagar-335051
Ms Kusum Rathore,76/II/I, Dak Bangalow Campaus,Sirohi
Shri Achala Ram Choudhary,Vill & P. Luni Nadi Dudho,T. Dhorimanna, Disst. Barmer
Dr.Manisha Parmar, 304 'A', Devnandan House, Near Nagar Palika Office, Chandkheda, Ahmedabad-382424
Shri Aidan Singh,310, Kesariya Ji Nagar, Falna-306116
Dr. Shilpi Gupta,702, ramanujan Niwas,Banasthali Vidyapeeth, Banasthali-304022
Dr. N.S. Rao, Department of History, MGSU, Bikaner
Dr. Manjulata Parihar, 2A, Gayatri Nagar, Prabhat Niketan Street, Badgaon, Udaipur
Dr. Balberer Choudhary, 31-32, Vakil Colony, Paota 'C' Road, Behind RTO, Jodhpur
Dr. Sandeep Prajapat, D-188, Saraswati Nagar, Basni-I, Jodhpur
Dr. Sanjeev Kumar, VPP Bakara, Dostt. Jhunjhunun-333001
Dr. Etee Bahadur, B-22, Dukadev Vihar, New Delhi-25
Dr. Hemendra Choudhary, 17-18, Madar Colony, Kalka Mata Road, Udaipur
Pramod Kumar, Village Bhagwan, Ward No. 1, T. Nohar, Hanumangarh
Dr. Rajesh Kumar, Director JP&L, ICHR, 35 Ferozeshah Road, New Delhi

Dr. Suresh Kumar Sandu, Govt. girls College, Ajmer
Dr. Rajendra Singh, Deptt of History, IASE, Deemed to be Universtiy, Sardarsahar
Dr.Mahesh Kumar, 11/MB/488, Indira Gandhi Nagar, Jagatpura, Jaipur
Dr. Someshwar Kumar Singh, 35-36, Zadin Nagar-B, Durga pura, Jaipur
Dr. Yashveer Singh,Near Satyam Dharam Kanta, Old Jhajjar Road, Charhi Dadri-127306
Dr. Kanchan Lawaniya, CAS, Department of History, AMU, Aligarh
Dr. Pankaj Gaur, 9 V I T Quarter, Pratap Nagar, Mayo Link Rooad, Ajmer
Mrs. Praveen Choudhary, 170, Krishna Mandir, 2nd Street, Bhagat ki Kothi, Jodhpur
Dr. Sammer Vyas, C-15, Staff Quarter, VBRIPG College, Udaipur

Members

Falak Nawaz Khan, RCA Hostel Near MBA Department, AMU, Aligarh
Dayaram Meena, V/T/P-Panchayat Samiti Road, Patti Kalan Bamanwas, Sawaimadhopur
Ravina Meena, Room No. 211, Sabarmati Hostel, JNU, Near Vasant Kunj, South Delhi, Delhi-67
Dr.C.P.Pareek, Head Department of History, SRKP Govt. PG College, Kishangarh
Shankar Singh Potila, V & P Shari Ramwala, T. Chohtan, Barmer
Rajendra Kumar Shah, 'Arunodaya', 35 Dadhich Nagar, Mahamandir, Jodhpur
Dr. Prabhawati Malav, 11/17, Swami Vivekanand Nagar, Kota
Deepali Kumari, Moh.Mathuriya (Kamra), P.O.Bihar Sarif, Nalanda-833101
Ms Nisha, House No. 708, Tikri Kalan, New Delhi-110041
Surya Prakash vyas, Rawton ka Bas, Bihari Lal Temple, Indside Sojti Gate, Jodhpur
Virendra Singh Inda, 70, Sultan Nagar, BJS Colony, Jodhpur
Smt. Roshan Gehlot, Chaturawta, Chainpura, Magra Punjala, Mandore
Ramesh Nagora, Subhash Ghat, Pipar City
Dr. Anshu Tyagi, 515, Gangori Bazar, Jaipur
Prof. Daljeet Singh, Punjabi university, Patiala
Dr. Jaspal Kaur Dhanju, Punjabi University, Patiala
Dr.K.S. Dhanju, Punjabi University, Patiala
Dr. Kulbeer Singh Badal, Punjabi University, Patiala
Dr. Shakuntala Vaish, D-246, Devi Marg, Bani Park, Jaipur
Ajeet Singh Choudhary, 51, Mahaveer Extn. Colony, Kartarpura, Jaipur
Ravi, S K govt. girls College, Sikar
Ashish Phogal, Govt. Arts College, Sikar
Rahul Kumar Meena, V Narihalu, T. Kotputali, Jaipur
Manisha Verma, T- r 3 a, Rajastahn University Campus, Jaipur
Dr. Mohammad Farooq Chouhan, Jagmal Well Road, Inside Kasaiyon Ki Bari, Bikaner
Dr. Rajendra Kumar, 5-KH-18, Duplex Colony, Bikaner
Abdul Mohsin Sheikh, Deptt of History, AMU, Aligarh
Mohd. Shahnawaz, Deptt of History, AMU, Aligarh
Syed Sumbul Arif, Deptt of History, AMU, Aligarh
Dr. Sumeshtha, Project Fellow, ICHR, New Delhi
Dr Jitendra Kumar Sharma, LBS Govt. PG College, Kotputali, Jaipur
Dr Mamta Purbia, 9 A, Shree Nagar, Gariyawas, Udaipur
Dr Jaishree Rawal, 727, Bade Purohit Ji ki Haweli, Near Ganesh Ghati Sch. Udaipur
Ms Poonam, 64, Shiv Nagar II, Ramnagariya, Jagatpura, Jaipur
Harlal Singh, VPO Beri, The & Dist. Sikar
Prof. Neelam Kausik, Udaipur
Dr Kailash joshi, Udaipur

Mahipal Yadav, VPO Shukhalawas, T. Kotputali, Jaipur-303105
Dr Kailash Chand Gujar, B-38, Prabhu Marg, Tilak Nagar, Jaipur
Ms Priyanka, Plot No. 55, Shree Gopal Nagar, Gopal pura Bypass, Jaipur
Dr..(Mrs.) Sumer, 7, Anjana Patel Nagar, Airforce, Jodhpur
Dr. Virendra Singh Choudhary, AA-5, Jai Amseg Nagar, Jaipur
Dr. Suman Rathore, Govt. Girls College, Kherwada, Udaipur
Hemraj Chandel, Deptt. Of history, VMOU, Kota
Vijay Kumar Yadav, V Bhojyara, P. Totuli, T. Chakshu, Jaipur
Indra Kumar Meena, V Kandoli, T. Rajgarh, Alwar
Vishal Katiya, C-14, Patel Nagar, Deori, Tonk
Belkesh Kumari, C/o Shree Nath Book Depot, Nawal Garh Road, Sikar
Prabhat Kumar, B-148, Indira Nagar, Jhunjhunu
Bablee Ram Bairwa, Masuriya, Jodhpur
Naresh Kumar Patidar, VPO Chiri, T. Galiyakot
Anil Kumar Dayma, 74, Kailashpuri, Jagatpura, Jaipur
Ravindra Kumar, 74, Kailashpuri, Jagatpura, Jaipur
Mahednra Kumar, VPO Gokulpura, Sikar
Dr. Ekta Vyas, B 3/23, Mahakaal Vanishya Kendra, Nanakheda, Ujjain
Bharat Arya, 508, Vinayak Vihar, Sikar
Ms Seema, 13 A , Matawali Gali, Dheerpur, Delhi
Manoj Kumar,13 A, Matawali Gali, Dheerpur, Delhi
Ms Sunita, 41, Mohan Nagar, Vaishali Nagar, Jaipur
Sanjay Sain, Meera Marg, Kachari Road, Merta City
Dr.Mahipal Singh,
Dr. Zafarullah Khan, Shekhawati Bhawan, 180 Feet Road, Udyog Nagar, Jhotwada, Jaipur
Prince Kumar uttakal, Puratatva aur Sangrahalaya Vibhag, Jaipur
Dr. Someshwar Kumar Singh, 35-36, Zadin Nagar-B, Durga pura, Jaipur
Dr. Zahida Shabnam, C-257, Hans Marg, Malviya Nagar, Jaipur
Dr. Dilip Kumar Garg, A-165, Jawahar Nagar, Bharatpur
Smt. Dipti Agarwal, A-165, Jawahar Nagar, Bharatpur
Panchali Sharma, 2/480, Jawahar Nagar, Bharatpur
Gunjika Dubey, SR 48, Civil Lines,Man Town, Sawaimadhopur
Dr.Deepak Sharma, D-122, Vaishali Nagar, Jaipur
Ms Jasleen Sehgal, Student Fellow, National Museum, New Delhi
Bhavya Sharma, Deptt of History, Kanodiya P G Mahavidyalaya, Jaipur
Dr. Daulat Singh Naruka, Maharishi Arvind University, Jaipur
Ms Hemlata Minj, R S, Indeira Gandhi National Tribal University, Amarkantak, Madya Pradesh
Pratap Singh, Deptt of History, Rajasthan University, Jaipur
Dr. Vikram Singh Amrawat, M D Gram Sewa Mahavidyalaya, Gujrat Vidyapeeth, Sadra, Ahmedabad
Dipti Mathur, A-3, Chitranjan Marg, C-Scheme, Jaipur
Dr. Parneet Jaggi,
Patel Ram Suthar
Vikram Singh Deol,
Dr. Arvind Solania
Chandra Pal Jandu,
Dr. Rajednar Kumar,
Dr. Girish Kumar,
Dr. Naveen Tewari,

Durga Dutt Sharma,
Reeta Raheja,
Dr. Gopiram Sharma,
Dinesh Kumar,
Atme Ram,
syed Shahid Arif, Satujaj Hostel, JNU, New Delhi
Ms Yusra Farooqui, H.No. 2880, Street Bulbule Khana, Kali Majjid, Delhi-110006
Ms Shaheen, F-18, Flattukk Main Gate, Asaf Ali Road, Delhi-110006
Prof. Yakub Ali Khan, Deptt of History, AMU, Aligarh
Dr. Jibraiel, Deptt of History, AMU, Aligarh
Prof. S. K. Bhanot, IB-25, JNV Colony, Bikaner
Dr. Deva Ram, New Housing Board, Pali
Hans Raj, 15- Shastri Colony, Bansur, Alwar
Mansingh Meena, 5, Surya Nagar, Man Town, Sawaimadhopur
Vikash Choudhary, V & P Lalpura Pachar, Viyakalwari, Jaipur
Prof. M.K. Pundhir, Deptt. Of History, AMU, Aligarh
Dr. Manu Jayas, Deptt. Of History, AMU, Aligarh
Dhirendra Kumar, V & P Jarga Basari, Dholpur
Snehlata Sharma, Sanskar Bharti P G College, Bagru, Jaipur
Sudhir Sharma, Sanskar Bharti P G College, Bagru, Jaipur
Dr. Fazila Shahnawaz, Deptt. Of History, AMU, Aligarh
Khalid Ahmed, Deptt of History, AMU, Aligarh
Yograj Singh, 45, Lalghat, Jagdish Mandir, Udaipur
Dr. Rashmi Singh, 276, Dr. Ambedkar Nagar, Near MIG Colony, Indore
Diksha Singh, 6/17, Pandey Khedi Maxsi Road, Ujjain
Mahesh Kumar Kilaniya, S K College, Sikar
Dr. Jalaluddin, S D Govt. College, Beawar
Dr. Ramjilal Swami, Govt. College, Chimanpura
Dr. Seema Verma, B-57, Jai Jawan Colony, Jaipur
Dr. Indra Vishnoi, 25, Civil Lines, Bikaner
Dr. Sunita Meena, Govt. Arts College, Chimanpura
Ekta Goswami, Govt. Arts College, Chimanpura
Mamta Tanwar, D-39, Bani Park, Jaipur
Sarita Bangh, C-204, Manu Marg, Tilak Nagar, Jaipur
Dr. Sarad Gaur, 185, Anand Nagar, Nankakheda, Indore
Zakir Hussain, Govt. P G College, Tonk
Pushkar Singh Bagariya, Govt. Girls College, Hod
Prem Sonwal, Govt. College, Swaimadhopur
Irshad Ahmed, Govt. College, Jhunjhunu
Dr. P.D.Jangid, D 6/66, Chitrakut Yojna, Ajmer Road, Jaipur
Kavita Choudhary, Govt. College, Jhunjhunu
Shipra Sharma, Kanodiya P G College, Jaipur
Dr. A.P. Mahut, 66, Shree Vihar, Durgapura, Jaipur
Shilpi Doodhwal, 23, Girwar Colony, Vaishali Nagar, Jaipur
Anjana Barhat, E-372, Shastri Nagar, Ajmer
Dr.Usha Lamlor, P-27, Gandhi Nagar, Patrakar Colony, Lalgarh, Bikaner
Bhawana Pareek, A-417, Vidhyut Nagar, Jaipur
Dr.Jyotsana Srivastava, 1 F 34 A, Malviya Nagar, Jaipur
Poonam Yadav, Saraswati Hostel UOR, Jaipur
Kalu Ram Meena, X-4020, Gali No. 16, Shanti Mohalla, Delhi
Pooja Patil, Sophiya Collge, Ajmer

Nikita Choudhary,Sophiya Collge, Ajmer
Soniya Rawat, Sophiya Collge, Ajmer
Priyanka Choudhary, Sophiya Collge, Ajmer
Tripti Rathore, Sophiya Collge, Ajmer
Namanjot Sodhi, Sophiya Collge, Ajmer
Akshita Maheshwari, Sophiya Collge, Ajmer
Presis Lotika Das, Sophiya Collge, Ajmer
Chavi Saxena, Opp. ICICI Bank, Rani Sati Road, Chuna Chowk, Jhunjunu
Rajshree Sethi, Govt. College Bhilwara
Dr Sudha Hetwal, A-2, Anand Deep Colony, Ujjain
Rajesh Kumar Meena, V & P Nandari, T. Sichram, Dausa
Rinku Jain, Near Govt. Senior Secondary School, Banasthali
Ms Pratyusha Das Gupta, Shanta Nikunj Hostel, Banasthali Vidyapeeth, Banasthali
Poonam Kumari, E-Block, Narayan City, Kalwal Road, Jaipur
Dr. Vikas Notiyal, 52/40, Mansarovar, Jaipur
Dr. Chetna Mudgal, RDS Girls College, Rewadi, Haryana
Dr. Girija Shankar Sharma, Alakh Sagar Kua, Bikaner
Yashwant Raj, 26 H, Vinoba Bhave Basti, Barkat Nagar, Jaipur
Radha Kishan Meena, Govt. College Mahua
Dharam Raj Meena, Room No. 20, Raman Hostel, University of Rajasthan, Jaipur
Dr. Jyoti Arun, 37, Patrakar Colony, Mansarovar, Jaipur
Dr Anjana Srivastava, Govt. College, Sawaimadhopur
Dr.Phool Singh Sahariya, E/195, Ambedkar Nagar, Alwar
Dr. Nirmala Kumari Meena, L 7 B, University of Rajasthan Campur, Jaipur
Vandana Agrawal, 13/51, Sector-1, Pratap Nagar, Sanganer, Jaipur
Jeegyasa Meena, L 4 C, University of Rajasthan Campur, Jaipur
Dr. Ritu Punia, 271, Mahaveer Nagar - I, Tonk Road, Jaipur
Dr Shobha Singh, 5, Asha Vihar, Ajmer Road, Jaipur
Dr Asha Bagotiya, 32/46, HIG(RHB), Pratap Nagar, Snaganer, Jaipur
Dr Ashish Vyas, F 1, D-96, Maruti Tower, Sindhu Nagar, Murlipura, Jaipur
Dr Aruna Gogania, C-374, Mahesh Nagar, Jaipur
Ms Dolly Jain, Banasthali Vidyapeeth, Banasthali
Om Pal Singh, Govt. College Salambher
Mohd. Wasim, V. Maluka, P. Uttawar, Dist. Palwal, Haryana-121103
Ms Pratha Kalasua, Deptt of History, MLS University, Udaipur
Ms Ruchi Solanki, Deptt of History, MLS University, Udaipur
Ajay Mochi, Gogunda, Udaipur
Dr. Manoj Dadhich, Pecific University, Udaipur
Binita Srivastava, Deptt of History, Delhi University, Delhi
Dr. Manisha Choudhary, Deptt of History, Delhi University, Delhi
Dr.Babulal, Agrawal College, Jaipur
Mukesh Kumar Sharma, Village Alisar, T. Chomu, Jaipur
Sunil Dutt, Bhagwari Kalan, Behror, Alwar
Dr. Govind Singh Solanki, VPO Jhilwara, T. Gadhbor, Rajsamand
Dr. Kanehyalal Choudhary, Vill. Parmantpur, P. Gulabvari via Samod, Jaipur
Dr. Sandeep Kumar Pandey, Bhagwant University, Ajmer
Vijay Patel, 7 Aajna Patel Nagar, Jodhpur
Dr. Govind Puri, VPO Paota, T. Mahua, Dausa
Rohitash Kumar, Govt. P G College Merta
Dr. Aashutosh Pareek, Sanatam Dharam Govt. College, Beawar
Saurabh Kumar Jain, C-22, Indrapuri, Lal Kothi, Jaipur

Dr. Bhanwar Singh Bhati, Barmer
Neelam Panwar, Deptt of History, New Campus, JNVU, Jodhpur
Seema Meena, Deptt of History, New Campus, JNVU, Jodhpur
Mrs. Dimple Prajapat, K-52, Balaji Colony, TV Tower Road, Jodhpur
Neel Kamal Rathore, 231-B, Bhagat ki Kothi, Jodhpur
Mrs. Nirmala Daiya, 6, Rajeev Nagar A, BJS, Jodhpur
Dr. Lata Agrwal, Govt. College, Ajmer
Jitendra Marothiya, Govt. College, Ajmer
Mukesh Yadav, 62 A Shanti Nagar, Jhotwara, Jaipur
Ms Aarti Bhardwaj, 49, Raghu Vihar, Maharani Farm, Durgapura, Jaipur
Dr. Sumit Daiya, Maharaja Mansingh Pustak Prakash, Mehrangarh Fort, Jodhpur
Dr. Suman Dhanaka, 91 A, Tareja block, Adarsh Nagar, Jaipur
Dr. Pankaj Gupta, 111/211, Vijaypath, Mansarovar, Jaipur
Dr. Shakti Singh Shekhawat, 3, Lion Lane, Anjani Marg, Hanuman Nagar Extn. Sirsi Road, Jaipur
Dr. Tejsingh Mawai, H-1-A, Aanu Chaya Colony, Rawatbhata
Dr. Vijaysingh Mawai, Circuit House Road, Sawaimadhopur
Dr. Monika Garg, 11, Satpura, Kota
Rajni Meena, Govt. College Rajgarh, Alwar
Dr. Vijay Khicher, Govt Engineering College, Bharatpur
Kantilal Ninama, MDS University, Ajmer
Dr. pooja Choudhary, CAS, Department of History, AMU, Aligarh
Dr. Reena, Dronacharya Degree College, Kurukshetra, Haryana
Dr.Mahaveer Gupta, 31/42/03, Varun Path, Mansarovar, Jaipur
Dr. Mukesh Chand Sharma, -26 A, Jagatpura, Jaipur
Dr. reetesh Jain, 91/120, Patel Marg, Jaipur
Dr. rahis Khan, P.N. AA 20, Shastri Nagar, Jaipur
Dr. Shahid Ahmed, A-476, Sec. B, Jaipur
Dr. Somesh Singh, 35-36, Jadon Nagar, Durgapura, Jaipur
Dr. Savita Goel, 14, Purohit Ji Ka Bagh, M I Road, Jaipur
Dr. Nidhi Jain, House No. 1341, Azayab Ghar Ka Rasta, Jaipur
Ajay Yadav, House No. 1198, Niwai Mahal Ka Rasta, Rambagh, Jaipur
Muzammid Aayeed,
Veerendra Singh, V & P Knenki Bugaj, The. Manwa, Dausa
Dr. Rishikesh Gurjar, 41, Ganesh Nagar, Moti Dungari, Jaipur
Suresh Kumar Meena, Department of History, University of Rajasthan, Jaipur
Rohan Mathur, 70/89, Patel Marg, Mansarovar, Jaipur
Mohib Kumar Meena, C V Raman Hostel, Room No. 30, UOR, Jaipur
Dr. meenakshi Vijay, S S Jain Subodh P G College, Jaipur
Neetu Singh,
Ekta, 94/4, Agrwal Farm, Mansarovar, Jaipur
Shiv Prasad Kundariya, Plot No. 93 A, Barket Nagar, Tonk Fatak, Jaipur
Dr. Anshul Sharma, D-2, Ganesh Marg, Bapu Nagar, Jaipur
Dr. Rahul Kumar Dhabai, L-6-A, University Maharani College, Jaipur
Dr. Tamegh Panwar, Teacher's Quarters, UOR, Jaipur
Sunita Fozdaar, Department of History, UOR, Jaipur
Swati Jain,
Dr. Rachana Mehta
Mahesh Kumar Jakhar, Village Araniya, via Maharoli, Jaipur
Dr. Radha Kishan, 55, barkat Nagar, tonk Fatak, Jaipur
Dr. Supriya Choudhary,

Bhairu Shyam, A-12, Jai Ambe Nagar, Jaipur
Dr. Sushil Kumar Bairwa, MDS University, Ajmer
Dinesh Chand Sharma, 32, Mangal Vihar, Jaipur
Dr. Aditi Sharma, B-176, Ram Nagar Extn. Hawa Sadak, Jaipur
Dr. Suman Kanwar, 259, Jaswant Nagar, Khatipura, Jaipur
Dr. Monika Gautam, 11, Sudama Nagar, Glass Factory, Jaipur
Dr. Suman Yadav, L-5-A, University Quarters, UOR, Jaipur
Dr. Veenu Pant, Central University Gangtok, Sikkim
Dr. Auira P Lepcha, Central University Gangtok, Sikkim
Deepika Yadav, B-2/421, Chitrakut, Jaipur
Dr. Snajay Kumar, B-2/421, Chitrakut, Jaipur
Dr. Manoj Sharma, Amity University, Jaipur
Dr. Pooja Sirola, A-158, Mahesh Nagar, Jaipur
Santosh Kumar Bhamu, E-170, katariya Colony, Ramnagar, Jaipur
Dr. Anju Sharma
Dr. Asha Kumari Singh, 111, ram Krishana Niwas, Banasthali Vidyapeeth, Banasthali
Dr. Padma Pandel, C-20, Staff Colony, JLN Marg, Jaipur
Ankur Singh, Pariskar College of Global Exellence, Jaipur
Dr. Archana Tiwari, Department of History, UOR, Jaipur
Dr. Rashmi chaTURVEDI,
Dr. Rashmi Gurjar, L-6-A, University, Maharani College, Jaipur
Dr. Suman Rathore, Govt. Girls College, Kherwada, Udaipur
Santosh Kumar, P-12, Mahima Nagar, Vihar
Pushpa Yadav, Village Dantali Pahari, Post Hazipur, Alwar
Parag Gupta, B-31, Bhagwat Bhawan, L N Puri, Jaipur
Nishat Ahmed, 4/12, A G Colony, Bajaj Nagar, Jaipur
Dr. Meena Kumari, 1522 A/13, 2nd Floor, Govindpuri Kalkaji, New Delhi
Dr. Kanika Bhanot, F No G 2, Plot No. C-64, Satyam Housing, Malviya Nagar, Jaipur
Dr. Bela Bhanot, IR 25, JNV Colony, Bikaner
Zeenat Jahan, 293, 3rd Floor, M Nagar, Delhi
Prof. R.P. Bahuguna, E-14, Greenwoods City, Sector-46, Gurgaon, Haryana
Prof. Renu Bahuguna, E-14, Greenwoods City, Sector-46, Gurgaon, Haryana
Dr. Suraj Bhan Bhardwaj, 948, Sector 31, Gurgaon Haryana
Padma Meena, LBS Govt. College, Kotputli, Jaipur
Ramlal Parihar, II D 85-86, JNV Colony, Bikaner
Dr. Rashmi Upadhayaya, Department of History, AMU, Aligarh
Dr. Pankaj Gaur, 9 V I T Quarter, Pratap Nagar, Mayo Link Rooad, Ajmer
Dr. Sunita Gupta, Govt. College Behror, Alwar
Dr. Atul Yadav, Govt. P G College, Ambala Cante, Haryana
Dr. Jagdish Prasad, D/20 A, Om Vihar, Sector III, Uttam Nagar, New Delhi
Dr. Sona Jain,LBS Govt P G College, Kotputali, Jaipur
Krishna Yadav, D/20 A, Om Vihar, Sector III, Uttam Nagar, New Delhi
Dr. Shyam Prasad sharma, Jaswanti Girls P G College, hanumangarh
Prempal Yadav, Govt. College Behror
Priyanka yadav, Govt College, Behror
Prof. K L Mathur
Ajeet Ram Chodhary, 6/A, Laxmi Nagar, Tonk Road, Jaipur
Ritika Kumari Meena, Department of History, MLSU, Udaipur
Jitendra Pathak, House No. 47, Shankar Vatika, Goliyavaas, Prithavi Nagar, Jaipur
Banwari Lal Yadav, Department of History, UOR, Jaipur
Ashok Kumar Yadav, Centre of Meusemology and coins

OBITUARY

We, the all members of Rajasthan History Congress express our heartfelt condolences and pay tribute to the eminent historians who are no more with us. The world of historian will be always highly indebted for their contribution and will forever remember their guidance. We express our grief for the departed souls of: -

Prof. Satish Chandra

Prof. D.N. Asopa

Prof. (Mrs.) S. Bhattacharya

All Members
Rajasthan History Congress